योग । स निमित्तभेदात्त्रिधा भिद्यते॥ काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति॥ तद्यथा—वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षया आत्मप्रदेशपरिस्पन्द काययोग । शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मन प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योग ॥ अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति

योग.॥ । स॥ निमित्त भेदात्॥ त्रिधा॥ भिद्यते॥	=(सो) योग है ॥ वह (योग) कारणकी विशेषतासे तीन प्रकार भेद कियागया है
काययोग॥ वाग्योग॥ मनोयोग॥ इति॥ तद्यथा॥	=काययोग, वचनयोग, मनोयोग इस प्रकार हैं जैसे
वीर्यान्तराय-क्षयोपशम-सद्भावे॥ सति॥ औदारिकादि	=(आत्माके) वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमकी विद्यमानता होनेपर औदारिकादि
सप्त	=सात(औदारिक,औदारिकमिश्र,वैक्रियिक,वैक्रियिकमिश्र,आहारक,आहारकमिश्र,कार्मण)
विध-कायवर्गणा अन्यतम आलम्बन	=प्रकारकी कायवर्गणाओंमेंसे किसी एक(=अन्यतम)(कायवर्गणाके)अवलम्बनकी
अपेक्षया॥ आत्म प्रदेश-परिस्पन्द॥	=अपेक्षासे या सम्बन्धकरि आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना या चलनेरूपहोना
काययोग॥	=सो काययोग है भावार्थ कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चलने रूपहोना ॥
शरीरनामकर्म उदय आपादित-वाग्वर्गणा	=शरीरनामा नामकर्मके उदयकरि उत्पन्न हुई (=आपादित) वचनवर्गणाके
आलम्बने॥ सति॥ वीर्यान्तराय-मति अक्षरादि	=अवलम्बन होनेपर(और)वीर्यान्तरायका अर मतिज्ञानावरणका तथा श्रुतअक्षरादि
आवरण-क्षयोपशम-आपादित-अभ्यन्तर-वाक्	=ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशमकरि प्राप्त हुई (=आपादित) अन्तरंग वचनके
लब्धि-सान्निध्ये॥ वाक्-परिणाम-अभिमुखस्य॥	=बोलनेकी शक्तिकी निकटता होते वचनरूप परिणमनके सन्मुख
आत्मन॥ प्रदेश-परिस्पन्द॥ वाग्योग॥	=आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन सो वचनयोग है भावार्थ-वचनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका सकंप होना सो वाग्योग है
अभ्यन्तर-वीर्यान्तराय-नोइन्द्रिय-आवरण	=अभ्यन्तर वीर्यान्तराय कर्मके और नोइन्द्रियावरण (नामक ज्ञानावरणकर्म) के
क्षयोपशम आत्मक-मनोलब्धि-सन्निधाने॥॥	=क्षयोपशमरूप मनोलब्धिके सामीप्य या निकट होनेपर
बाह्यनिमित्त-मनोवर्गणा-आलम्बने॥ च॥ सति॥	=और (=च) बाह्यकारण मनोवर्गणाके अवलंबन होने पर (=सति)

मन परिणामाभिमुखस्यात्मन प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोग ॥ क्षयेऽपि त्रिविधवर्गणापेक्ष सयोगकेवलिन आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो वेदितव्य ॥

आह अभ्युपगत आहितत्रैविध्यक्रियो योग इति ॥ प्रकृत इदानीं निर्दिश्यता किंलक्षण आस्रव इत्युच्यते । योऽय योगशब्दाभिधेय ससारिण पुरुषस्य—

॥ स आस्रवः ॥ २ ॥

मनः परिणाम-अभिमुखस्य आत्मनः प्रदेश-	=मनो परिणाम के सन्मुख आत्माके प्रदेशोंका
परिस्पन्दः मनोयोगः	=सकम्प होना मनोयोग है भावार्थ-मनकेनिमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चलना मनोयोग है
क्षये अपि सयोगकेवलिनः	=(पूर्वोक्त वीर्यान्तराय तथा ज्ञानावरणकर्मों के) क्षय होने पर भी सयोग केवली के
त्रिविध-वर्गणा अपेक्षः	=तीन प्रकार (मन वचन काय) की वर्गणाओंके संबन्धसे (अर्थात् निमित्तसे)
आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः योगः वेदितव्यः । आह	=आत्माके प्रदेशोंका हलनचलनरूप योग जानना चाहिये ॥ प्रश्न करता है कि
अभ्युपगतः आहित त्रैविध्यक्रियः योगः इति प्रकृतः	=तीन प्रकार (=काय-मन-वचन)की क्रियारूप स्थापित योग जाने गये (=अभ्युपगतः)
इदानीम् निर्दिश्यताम् किंलक्षणः आस्रवः इति उच्यते	=अब विषयप्राप्त आस्रव क्या वस्तु है वा आस्रव किसलक्षण सहित है ऐसे कहा जाता है कि
संसारिणः पुरुषस्य यः अयम् योगशब्द-अभिधेयः	=ससारी जीवके जो यह योगशब्द करि कथन किया गया (=अभिधेय) है
(१)स (२)आस्रव ॥२॥	=स आस्रव भवति ॥ २ ॥

=सो आस्रव है अर्थात् पूर्वोक्त कायिक वाचिक तथा मानसिक क्रिया ही आस्रव है वा पूर्वोक्त योग ही आस्रव है भावार्थ यह योग ही कर्मों के आगमनका द्वाररूप आस्रव है । जिस प्रकार सरोवरमें जलआनेके द्वार (मोरियां) जल आनेके लिये कारण होते हैं वैसे ही आत्माके भी मनोवचनकायरूप योगोंके द्वारा शुभ अशुभ कर्म आते हैं सो उन कर्मोंके आनेमें योग कारण है इसलिये कारणमें कार्यकी संभावना करके योगकोही यहां पर आस्रव कहा है ॥

(१) इस सूत्रका पाठ और अर्थ दोनोंआम्नायोंमें एकसा है(२) सःआस्रवः का शब्दशः अर्थ 'वह आगमन है" अर्थात् वह (पाप)आगमन(कर्मका)है ॥

यथा सरस्सलिलावाहिद्वारं तदाऽस्रवकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योगआस्रव इति व्यपदेशमर्हति॥ आह कर्म द्विविधं पुण्यं पापं चेति। तस्य किमविशेषेण योग आस्रवणहेतुराहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

॥ शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य ॥ ३ ॥

यथा सरस्‌-सलिल-आवाहि-द्वारम्	=जैसे सरोवर (=सरस्) के पानीके चारों ओरसे (=आ) बहने या पहुंचनेका द्वार होता है
तद् आस्रव-कारणत्वात् आस्रवः इति	=वह (द्वार) (जलके) आवनेको निमित्त होनेसे आस्रव ऐसा
आख्यायते तथा योग-प्रणालिकया	=कहा जाता है। तैसे (काय-वचन-मनो) योगरूपी नाली या द्वारकरि
आत्मनः कर्म आस्रवति इति योग आस्रव	=आत्माके कर्म आता है ऐसे योग आस्रव
इति व्यपदेशम् अर्हति	=इसे (उपचार करके) नामको पाता है। (यहां कारणमें कार्यका उपचार है)।
आह कर्म द्विविधम् पुण्यम् पापम् च इति	=(शिष्य) प्रश्न करता है कि कर्म पुन्य और (=च) पाप दो प्रकार है
तस्य किम् अविशेषेण योगः आस्रवणहेतुः	=तिस (कर्म) के आवनेका कारण क्या योग सामान्य है
आहोस्वित् अस्ति कश्चित् प्रतिविशेषः इति	=अथवा कुछ योगविशेष है ऐसे (प्रश्न होने पर)
अत्र उच्यते	=यहां (अग्रिमसूत्रमें) कहा जाता है कि
सूत्र—शुभ[1] पुण्यस्याशुभ पापस्य॥	=शुभः (योगः) पुण्यस्य (आस्रवः) भवति अशुभः (योगः) पापस्य (आस्रवः) भवति
सूत्रार्थ शुभः योगः पुण्यस्य आस्रवः	=शुभ योग पुन्य का आस्रव है
अशुभः योगः पापस्य आस्रवः	=अशुभयोग पापका आस्रव है अर्थात् शुभयोग पुन्यके आस्रवका कारण होता है और अशुभयोग पापके आस्रवका कारण होता है॥ यहां पर भी कारणमें कार्यकी

समावना करके शुभयोगको पुन्यरूप आस्रव कहा है और अशुभयोगको पापरूप आस्रव कहा है यद्यपि शुभयोग और अशुभयोग पुन्य और पाप आस्रवोंके यथासंख्य कारण हैं। भावार्थ-शुभयोग

(१) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह सूत्र दो सूत्रों में विभाजित इस प्रकार है। शुभः पुण्यस्य ॥ ३ ॥ अशुभः पापस्य ॥ ४ ॥

क शुभयोग को वा अशुभ ? प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभ काययोग । अनृतभाषण-परुषासभ्यवचनादिरशुभोवाग्योग । वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोग ॥ततो विपरीत शुभ ॥ कथं योगस्य शुभाशुभत्वं ॥ शुभपरिणाम—

	से पुण्य आस्रव(का आगमन)होता है और अशुभ योगसे पाप आस्रव(का आगमन)होता है
शब्दानुवाद—क (शुभयोगः)(कः) वा (अशुभः) ?	=शुभयोग क्या है अथवा अशुभ (योग) क्या है
प्राण अतिपात- (१)अदत्त-आदान	=प्राणों का घात (=अतिपात) अदत्तका या अदानका ग्रहण (=आदान) अर्थात् जो वस्तु नहीं दी गई उसका लेना भावार्थ चोरी करना
मैथुन आदि (अशुभः) काययोगः) अनृतभाषण	=रतिसेवन (=मैथुन) आदिक अशुभ काययोग है । झूठ बोलना
परुष-असभ्य-वचनादि (अशुभः) (वाग्योगः)	=कठोर (=परुष) अयोग्य या बुरे (=असभ्य) वचनादिक अशुभ वचनयोग है
वधचिन्तन-ईर्ष्या-असूया	=परके घातका चिंतवन, जलन(=ईर्ष्या) गुणोंमें दोषारोपण या नदेखसकनेका भाव(=असूया)
आदि (अशुभः) (मनोयोगः) ततः	=आदिक अशुभ मनोयोग है तिन (अशुभ काययोग)अशुभ वचनयोग, अशुभमनोयोग)से
विपरीतः) शुभः)	=विरुद्ध शुभ (काय-वचन-मनोयोग) है । अर्थात् तहां अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्यादिक शुभकाययोग है-सत्यवचन, हितमित भाषणादि शुभवचनयोग है और अरहंतआदिमें भक्ति, स्तवनविषैं रुचि, शास्त्रआदिविषैं विनय आदिक प्रवृत्तियें ये शुभ मनोयोग हैं॥
कथम् योगस्य) शुभ-अशुभत्वम्)॥ शुभ-परिणाम	=(प्रश्न) योग के कैसे शुभ अशुभपना है । शुभ परिणामकरि

(१) अदत्तादान, इस वाक्यके पदच्छेद अदत्त आदान, और अदत्ता-आदान दोनों हो सकते हैं । अदत्ता (स्त्रीलिंग) न विवाही गई स्त्री, न दीहुई वस्तु (देखो पद्मचन्द्रकोष पृष्ठ १४) इस पिछले अर्थमें अदत्तादान पदच्छेदयुक्त है । अदत्तका अर्थ अदान किया नहीं गयाहै और अदत्ताका अर्थ कुमारी, अविवाहिता भी लिखा है इस अवस्था में अदत्त आदान ऐसा पदच्छेद है ॥ यहां कन्याके अर्थमें नहीं आया है अतः 'अदत्त-आदान' पदच्छेद किया है ।

निर्वृत्तो योग शुभ ॥ अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ ॥ न पुन शुभाशुभकर्मकारणत्वेन ॥ यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात् । शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् ॥ पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । तत्सद्वेद्यादि ॥

निर्वृत्त॥ योग॥ शुभ॥ च॰ अशुभपरिणाम =निष्पन्न या पूरा किया हुआ योग (सो) शुभ है ॥ बहुरि(च) अशुभ परिणामकरि

निर्वृत्त॥ अशुभ॥ न॰ पुन॰ शुभ-अशुभ-कर्म =निष्पन्न योग (सो) अशुभ (योग) है । बहुरि शुभ अशुभ कर्मके

कारणत्वेन॥ । यदि ॰ एवम् ॰ उच्यते =निमित्तपनासे (शुभ अशुभ योग) नहीं है । यदि ऐसा कहा जाय अर्थात् शुभ अशुभ कर्मके निमित्तपनासे शुभ अशुभ योग क्रमसे होते हैं तो

शुभयोग॥ एव॰ न॰ स्यात् शुभ-योगस्य॥ =शुभयोगही विद्यमान न हो (=स्यात् न) क्योंकि शुभयोगके

अपि॰ज्ञानावरणादि-बन्ध हेतुत्व अभ्युपगमात्॥ =भी ज्ञानावरणादि (पापरूप कर्म)का बंधका कारणपना माना है अर्थात् शुभ योगसे भी ज्ञानावरणादि पापरूप कर्मोंका बन्ध होता है तातें (यदि शुभ अशुभ कर्मोंके कारणपनासे शुभ अशुभ योग यथासंख्य माने तो) पापका कारण शुभ-अशुभ योग नहीं ठहरैं

पुनाति। आत्मानम्॥ ॰पूयते॥ अनेन॥ वा॰ =(जो) आत्माको पवित्र करता है अथवा जिसकरि (आत्मा) पवित्र कियाजाता है

इति॰पुण्यम्॥ तत्॥ (॰तत्॥) ॰सद्वेद्य-आदि॥ =ऐसा पुन्य है सो साता वेदनीय आदिक (कर्म) है

(१) "पू" अर्थात् प्रथमा गणका धातु है पू धातु और इनके इसी गणके और धातुओंके अन्तस्वर का ह्रस्व होजाता है सार्वधातुक(प्रत्यय) प्रत्ययोंमें [illegible] ७ अध्याय ३ पाद ८० सूत्र अष्टाध्यायी और क्र्यादि गणका विकरण 'ना' धातु प्रत्यय मि सि-ति इत्यादिके पूर्व जोड़ा जाता है इसलिये पु+ना+ति = पुनाति । (२) यथा यह 'पू' धातुका कर्मणि प्रयोग है 'ते' आत्मने पदका प्रत्यय य'को धातुमें जोड़देनेके पश्चात् जोड़ा जाता है । (३) 'तद्' दकारान्त नपुंसकलिंग सर्वनाम है अर्थ 'यह' ऐसा है इसका प्रथमा एक वचन नपुंसकलिंग तद् या तत् दोनों प्रकारसे बनता है इसलिये तद् और तत् (पदच्छेदके पश्चात्) दोनोंही ठीक हैं । (४) यह शब्द अर्थात् 'सद्वेद्य' नपुंसकलिंग है । आठवां अध्याय (तत्त्वार्थसूत्र)का आठवां सूत्र "सद्वेद्यं" है यहां दो वचन अथवा विभक्ति नपुंसकलिंगमें है । इस अधमानुसार सर्वार्थसिद्धि वृत्तिके पृष्ठ ४०८ में सद्वेद्यम् इति ऐसा वाक्य पाया है ।

पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम् । असद्वेद्यादि ॥

आह किमयमास्रव सर्वसंसारिणां समानफलारम्भहेतुराहोस्वित्कश्चिदस्ति विशेष इत्यत्रोच्यते—

॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

पाति रक्षति आत्मानं शुभात्	=आत्माको शुभसे (दूर) रखता है वा आत्माको शुभसे रक्षा करता है (रक्षति=पाति) अर्थात् जो आत्मा को शुभ रूप नहीं होने देता है
इति पापम् असद्वेद्य-आदि । आह किम्	=ऐसा पाप है वह असाता वेदनीय आदि है । (वह) प्रश्न करता है क्या
अयम् आस्रवः सर्व-संसारिणाम् समान	=यह आस्रव समस्त संसारी (जीव) निके तुल्य
फल आरम्भ-हेतुः आहोस्वित् कश्चित्	=फलके आरम्भका कारण है कि (=आहोस्वित्=अथवा) कुछ
अस्ति विशेषः इति अत्र उच्यते	=विशेष है यहां (अग्रिम सूत्रमें) कहाजाता है कि

(२)सूत्रम्—सकषायाकषाययो साम्परायिकेर्यापथयो ॥ ४ ॥

= सकषायाकषाययो (आत्मनो) साम्परायिकेर्यापथयो (कर्मणो) आस्रवौ यथासंख्यं भवत)

सूत्रार्थः—सकषाय-अकषाययोः आत्मनोः	=कषायसहित और कषायरहित जीवोंके
साम्परायिक-ईर्यापथयोः कर्मणोः आस्रवौ	=साम्परायिक तथा ईर्यापथ कर्मोंके आस्रव
यथासंख्यम् भवत	=यथासंख्य वा अनुक्रमसे अर्थात् पहिलेको पहिला दूसरेको दूसराहोतेहैंअर्थात्

(१) आहोस्वित् (अव्यय)=विकल्प सन्देह प्रश्न आदिमें प्रयुक्त (पद्मचन्द्रकोश पृष्ठ ६५) आहोस्वित् दो अव्ययों (आहो) और (स्वित) से मिलकर बनता है । आहो=प्रश्न-सन्देह विकल्प (पद्मचन्द्रकोश पृष्ठ ६५) स्वित्=स्वित्प्रश्न व वितर्क व अमरकोश नानार्थवर्गः २१, श्लोक २४२ । स्वित=प्रश्न (पद्मचन्द्रकोश पृ०४४४) अर्थात् भिन्न भिन्न आहो और स्वित् का वही अर्थ है जो आहोस्वित्का मिलकर होता है ॥

(२) श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों आम्नायोंमें इस सूत्रका पाठ एकसा है । कहीं कहीं ईर्यापथयोः पाठ है कहीं कहीं "ईर्य्यापथयो" पाठ है । दोनों पाठ ठीक हैं क्योंकि ... ६ । ४ । ५१ सूत्रसे (जिसका विवरण पहले करचुके हैं) य को दोहरा करदिया गया है ॥

स्वामिभेदादास्रवभेद । स्वामिनौ द्वौ ॥ सकषायोऽकषायश्चेति ॥ कषाय क्रोधादि । कषाय इव कषाय । क उपमार्थ ? यथा कषायो नैयग्रोधादि श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव

कषाय सहित जीवकै संसारके कारण रूप कर्मका आसूव होता है। और कषाय रहित जीवकै स्थिति रहित (=ईर्यापथ)कर्मका आसव होता है भावार्थ सकषाय जीवकै तौ ऐसी स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं जिन करि जीव दीर्घकाल संसारमें परिभ्रमण करतेहैं। बहुरि अकषायीजीव(=उपशांतकषायी ग्यारहवां गुणस्थानवर्ती, क्षीणकषायी बारहवां गुणस्थानवर्ती, और सयोग केवली तेरहवां गुणस्थानवर्ती, तिनकै कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ते हैं। एक समय मात्र आसूव आवे है । सो (स्थिति बिना वा स्थिति रहित) तिसही समय झड़जाता है अथवा निर्जराहोजाता है।

स्वामि भेदात् ¦ आसूव-भेदः ¦ स्वामिनौ ¦ द्वौ ¦ =स्वामीके भेदसे आसूवविषै भद है [सूत्रमें] स्वामी दो हैं अर्थात् आसूवके स्वामी दो हैं

सकषायः ¦ अकषाय ¦ च ¦ इति ¦ =कषाय सहित और (=च) कषाय रहित (जीव) हैं ॥ अथवा सकषायी (जीव) और अकषायी (जीव) हैं ॥

कषायः ¦ क्रोध आदिः ¦ कषाय ¦ इव ¦ कषायः ¦ =कषाय क्रोध आदि (=मान-माया-लोभ) हैं। कषाय सरीखे वा सदृश है सो कषाय है

कः ¦ उपमा-अर्थः ¦ यथा ¦ कषायः ¦ =समानताके लिये क्या वस्तु(लीगई)है जैसे कषैला वा कषायले रसवाले अर्थात् लालपीले मिले हुये रंग देनेवाले

नैयग्रोध आदिः ¦ =न्यग्रोध फल (=नैयग्रोध) (बड़ीकाफल-बटफल-बरगदफल)

श्लेष हेतु ¦ तथा ¦ क्रोध-आदिः ¦ अपि ¦ आत्मनः ¦ =(वस्त्रादिकविषै) रंगलगनेका निमित्त है तैसे क्रोधादि भी, आत्माकै

कर्म-श्लेष हेतुत्वात् ¦ कषायः ¦ इव ¦ =कर्म रूप रंग लगनेका हेतुहोनेसे कषाय सरीखे अथवा कषाय समान हैं ॥

कषाय इत्युच्यते ॥ सह कषायेण वर्तत इति सकषाय । न विद्यते कषायो यस्येत्यकषाय । सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ तयो सकषायाकषाययो ॥ सम्पराय संसार तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम् । ईरणमोर्यायोगो गतिरित्यर्थ ।

कषाय ॥ इति * उच्यत ॥ सह कषायेण ॥	=सो कषाय है इस प्रकार कहा जाता है। कषाय करि सहित
वर्तत इति सकषाय न * विद्यत ॥ कषाय ॥ यस्य ॥ इति *	=वर्तता है ऐसा सकषायी है। नहीं है विद्यमान कषाय जिसकें ऐसा
अकषाय ॥ सकषाय ॥ च *	=अकषायी है। बहुरि (=च) कषाय करि सहित है
अकषाय ॥ न * सकषाय अकषायौ ॥	=और (=च) कषायकरि रहित है (ये दोनों) सकषायाकषायी (द्वंद्वसमास में) है
तयो ॥ स- कषाय अकषाययो ॥	=तिन(सकषाय अकषायी)कार्हैसो सकषाय अकषाययोः(ऐसावाक्य तत्पुरुषमेंबनता)है।
सम्पराय ॥ ससार ॥ तत् प्रयोजनम् ॥	=सम्पराय है सा संसार है। उस (संसार) का प्रयोजनवाला
कर्म ॥ साम्परायिकम् ॥	=कर्म साम्परायिक है अर्थात् ससारहै प्रयोजन जिस कर्मका सो साम्परायिक कर्म है॥
(२) ईरणम् ॥ गतिः ॥ ईर्यायोगः ॥ इति * अर्थः ॥	=ईरणम् है सो गति वा गमनहै (वे) योगोका गमन है (=ईर्या) ऐसा तात्पर्य्य है।

(१) विद् धातुपर दिवादि गणोका धातु आत्मनेपदी अकर्मक 'होना' अर्थमें है। अत 'य' य विकरण जोड़कर त आत्मनेपदी वर्तमानकालका प्रत्यय लगाकर विद्+य+त=विद्यते बनाया। (२) ईरणमीर्यायोगो गतिरित्यर्थः (=ईरणम् ईर्यायोग गतिः इति अर्थः) ॥ इस वाक्य का ऊपर जो हमने अनुवाद किया है उससे प्रगट है कि इस वाक्य के पाठ में कुछ गड़बड़ है। सर्वार्थसिद्धि मुद्रितकी दोनों आवृत्तियों में उपर्युक्त एकसा पाठ है। हस्तलिखित दो प्रतियोंके पत्र १२६ और ७२ पर क्रमसे ईरणमोर्यास्त्रियोगो गतिरित्यर्थ ऐसापाठ है तीसरी हस्तलिखित एकप्राचीन प्रतिके पत्र।६पर ईरणमोर्यायोग गतिरित्यर्थः यह पाठ है ईरणमीर्या योगगतिरित्यर्थ (=ईरणम् ईर्या योगगतिः) इन दोनों पाठोंके मिल मेस बात होताहै कि योग शब्दमें प्रथमा विभक्ति लगाकर गति शब्दसे पृथक करदिया है। इसको तत्वार्थ राजवार्तिकमें "ईरणमीर्या योगगतिः" ऐसे छठवीं वार्तिकके रूपमें दिया है जिसका भाष्यकर्ता "ईरणस्यगतिरिवम्। ईरणमीर्या योगगतिरिति यावत्। ऐसा दिया है (इस तत्वार्थराजवार्तिक के पाठ को हम ने मुद्रित और कई प्रतियें हस्तलिखितसे मिलाकर लिखा है ऐसा ही पाठ सर्व पुस्तकों में है) इसका हिन्दी अनुवाद निम्नलिखित प्रकार है।

गति अर्थात् * ईर ॥ भाव ॥ एव ॥	=गमन अर्थवाली (=गत्यर्थात) ईरि(धातु)से(परें)भाव(अर्थ)मेंण्यः(प्रत्ययकरि)
ईर्या ईरणम् योगगतिः इति * यावत् *	=ईर्या (शब्द) बनता है। ईर्या ईरणम् है सा योगों की गति वा योगोंका गमन ऐसे इतना अर्थ हुआ।

तत्वार्थश्लोकवार्तिक पत्र ९४४ के छठय श्लोक में "ईर्यायोगगतिः वाक्य है ईर्या योगगति सैव तया यस्य तदुच्यते कर्मेर्यापथमस्यास्तु शुष्क कुड्येऽश्मवत्स्थितम् ॥ ६ ॥ =ईर्या योगगतिः सा एवम् यथा यस्य तदु उच्यते। कर्म ईर्यापथम् तस्या तु शुष्क कुड्ये अश्मवत् स्थितम् ॥ ६ ॥

ईर्या ॥ योगगतिः ॥	=योगों की हलन चलन रूप क्रिया अर्थात् आत्माके प्रदेशोंका कंपन स्पंद या स्पन्दन सो ईर्या है।
सा ॥ एवम् * यथा * यस्य ॥ तदुच्यते	=सो(=सा)ही(=एवम्)अर्थात् सोयोगोंकाकंपनयास्पंदनजिस(चेतन वाचेतनके)जैसाहैऐसाकहाजाताहै

तद्वारक कर्म ईर्यापथम् । साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे । तयो साम्परायिकेर्यापथयो ॥ यथासख्यमभिसम्बन्ध । सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्ट्यादे साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति ॥ अकषायस्य उपशान्तकषायादे ईर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवति ।

तत्-द्वारकम् ॥ कर्म ॥ ईर्या-पथम् ॥	=तिस (योग की गति) द्वारा आने वाला (=द्वारकं) कर्म है सो ईर्या पथ है
साम्परायिकम् ॥ च ईर्यापथम् ॥ च साम्परायिकेर्यापथे ॥	=बहुरि(=च) साम्परायिक और ईर्यापथ है सो साम्परायिकेर्यापथे(द्वंद्वसमासमें) है
तयोः ॥ साम्परायिक ईर्यापथयोः ॥	=तिसका(सबंधके अर्थमें षष्ठीविभक्तिद्विवचनमें)साम्परायिकेर्यापथयो ऐसा वाक्य हुआ
यथासंख्यम् अभिसम्बन्धः ॥	=(साम्परायिक ईर्यापथका)यथासंख्य(=पहिलेको पहिला दूसरेको दूसरा)संबंध है
सकषायस्य ॥ आत्मनः ॥ मिथ्यादृष्टि आदेः ॥	=कषायसहित आत्माके मिथ्यादृष्टि आदिक प्रथमगुणस्थानसे दशमगुणस्थानतकनिके
साम्परायिकस्य ॥ कर्मणः ॥ आस्रवः ॥ भवति	=ससारके कारणरूप कर्मका आस्रव होता है
अकषायस्य ॥ उपशान्त-कषाय आदेः ॥	=कषाय रहित (आत्मा) के उपशान्त कषाय आदिकके
ईर्यापथस्य ॥ कर्मणः ॥ आस्रवः ॥ भवति	=ईर्यापथ या स्थिति रहित कर्मका आस्रव होता है भावार्थ ऐसा है कि सकषाय जीवके तो ऐसी स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं जिनकरि जीव

भावार्थ उक्त ईर्यापथ आस्रव उपशान्तकषायी क्षीणकषायी सयोगकेवली मुनियोंके होता है सो जिसप्रकारका वह ईर्यापथआस्रव है ऐसाही उसका नाम है।

तु ● कर्म ईर्या पथम् ॥ अस्याः ॥	=और (=तु) इस (ईर्या) का जो कर्म (अर्थात् ईर्याका परिणाम या फल कि आयेहुये कर्मो की स्थिति और अनुभाग बिना तत्काल ही झड़जाती है सो ईर्या पथ है (कैसा है ईर्यापथ)
शुष्क कुड्ये ॥ सिकता ● अश्मवत् ●	=सूखी भीत में सहीक पत्थर के सदृश अर्थात् सूखी भित्तिमें चिरकाल तक भिन्न ही रहता है भावार्थ जैसे सूखी भीत में पत्थर भिन्न ही चिरकाल तक रहता है तैसे ईर्यापथ आस्रवमें भिन्न कर्मो की स्थिति नहीं होती है जितनी कर्मो की वर्गणा आती हैं व उसी समय झड़ जाती हैं

एक बात विशेष यह है कि जिन महाशयोंने सर्वार्थसिद्धिपत्ति और तत्त्वार्थ राजवार्तिक मिलाकर अध्ययन किया होगा उनको ज्ञात होगा कि उक्त ग्रंथके रचयिता श्री पूज्यपाद स्वामी जो अकलंकदेव भट्ट से बहुत पहिले प्रसिद्ध हुए हैं सर्वार्थ सिद्धि की वृत्ति को वार्तिक रूप में तथा [illegible] में [illegible] अनेक स्थानों में ग्रहण किया है। अत स्पष्ट है कि "[illegible]" [illegible] में न होकर "[illegible]" ऐसा पाठ भी है।

(१) दोनों बार की छपी हुई सर्वार्थसिद्धिवृत्तियोंमें मिथ्या दृष्ट्यादे साम्परायिकस्य पाठहै परन्तु तीनहस्तलिखितप्रतियोंमें मिथ्यादृष्ट्यादेःसाम्परायिक ऐसा पाठ है। तत्त्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ मुद्रित २५८ में मिथ्या दृष्ट्यादीनां सूक्ष्म साम्परायान्तानां ऐसा पाठ है। इसमें मिथ्या दृष्ट्यादे साम्परायिकस्य पाठ लिया है क्योंकि मिथ्या दृष्टि गुणस्थान से लेकर साम्पराय दशवें गुणस्थानतक कषाय का अस्तित्व है।

आदावुद्दिष्टस्यास्रवस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाःपंचचतुःपंचपंचविंशतिसङ्ख्याःपूर्वस्य भेदाः॥५

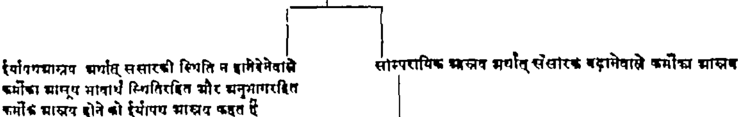
दीर्घकाल संसारमें परिभ्रमण करते हैं बहुरि अकषायी जीव (उपशांत कषाय ग्यारहवां गुणस्थानवर्ती, क्षीणकषायी बारहवां गुणस्थानवर्ती, सयोग केवली तेरहवां गुणस्थानवर्ती तिनके कर्मोंकी स्थिति और अनुभाग नहीं पड़त है जिस समय आस्रव आव है सो स्थिति बिन वा स्थितिरहित तिसही समय झड़ जाते हैं वा निर्जर होजाते हैं ॥

आदौ उद्दिष्टस्य आस्रवस्य भेद प्रतिपादन अर्थम् आह — =प्रथममें या पहिले उपदेश किया हुआ (साम्परायिक) आस्रवके भेद =कहनेके लिये (आचार्य उपर सूत्रमें) कहते हैं कि

(१)सूत्रम्—इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया पच, चतु, पंच, पंचविंशतिसख्या पूर्वस्य भेदा ॥ ५ ॥

= इन्द्रिय-कषाय-अव्रत-क्रिया पञ्च चतुर्-पंच-पंचविंशतिसख्या पूर्वस्य साम्परायिकास्रवस्य यथा-संख्यम् भेदा (भवन्ति)

(१) श्वेताम्बर आम्नायकी भाष्यानुसारिणी तत्त्वार्थ टीका" (सिद्धसेनसूरि रचित) जिसमें बाईस सहस्रसे भी अधिक श्लोक हैं इस सूत्रका यही पाठ है जो हमारे यहां है परन्तु उनकेयहांके "सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें" "अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया पञ्चचतुःपञ्च,पञ्चविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः। ऐसा पाठ है। सब पाठोंका अर्थ एक है ॥



तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम् । साम्परायिकं च ईर्यापथं च साम्परायिकेर्यापथे । तयोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ यथासंख्यमभिसम्बन्धः । सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्ट्यादेः साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति ॥ अकषायस्य उपशान्तकषायादेः ईर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवति ।

तद्-द्वारकम् ॥ कर्म ॥ ईर्या-पथम् ॥	=तिस (योग की गति) द्वारा आने वाला (=द्वारक) कर्म है सो ईर्या पथ है
साम्परायिकम् ॥ च ईर्यापथम् ॥ च साम्परायिकेर्यापथे ॥	=बहुरि(=च) साम्परायिक और ईर्यापथ है सो साम्परायिकेर्यापथे(द्वंद्वसमासमें) है
तयोः ॥ साम्परायिक ईर्यापथयोः ॥	=तिसका(सयंधकेअर्थमेंषष्ठीविभक्तिद्विवचनमें)साम्परायिकेर्यापथयो ऐसा सामान्य हुआ
यथासंख्यम् अभिसम्बन्धः ॥	=(साम्परायिक ईर्यापथका)यथासंख्य(=पहिलेको पहिला दूसरेकोदूसरा)संबंध है
सकषायस्य ॥ आत्मनः ॥ (१) मिथ्यादृष्टि आदेः ॥	=कषायसहितआत्माकेमिथ्यादृष्टिआदिकप्रथमगुणस्थानसेदशमगुणस्थानतकनिके
साम्परायिकस्य ॥ कर्मणः ॥ आस्रवः ॥ भवति	=संसारके कारणरूप कर्मका आस्रव होता है
अकषायस्य ॥ उपशान्त-कषाय आदेः ॥	=कषाय रहित (आत्मा) के उपशान्त कषाय आदिकके
ईर्यापथस्य ॥ कर्मणः ॥ आस्रवः ॥ भवति	=ईर्यापथ या स्थिति रहित कर्मका आस्रव होताहै भावार्थ ऐसाहै कि सकषाय जीवके तो ऐसी स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं जिनकरि जीव

भावार्थ उक्त ईर्यापथ आस्रव उपशान्तकषायी क्षीणकषायी सयोगकेवली मुनियोंके होताहै सो जिसप्रकारका यह ईर्यापथआस्रव है वैसाही उसकानाम है। न ० कर्म ईर्या पथम् ॥ अस्या ॥ =और (=तु) इस (ईर्या) का जो कर्म (अर्थात् ईर्याका परिणाम या फलकि आयेहुये कर्मो की स्थिति और अनुभाग बिना तत्काल ही झड़जाती है सो ईर्या पथ है (कैसा है ईर्यापथ)

शुष्क कुड्ये ॥ चिरम् ॥ अवस्थानम् ॥ =सूखी भीत में सजीव पत्थर के सदृश अर्थात् सूखी भितिमें चिरकाल तक भिन्न ही रहता है भवार्थ जैसे सूखी भीत में पत्थर भिन्न ही चिरकाल तक रहताहै तैसे ईर्यापथ आस्रवमें भिन्नकर्मो की स्थिति नही होतीहै जितनी कर्मो की वर्गणा आती हैं व उसी समय झड़ जाती हैं

एक बात विशेष यह है कि जिन महाशयोंने सर्वार्थसिद्धिवृत्ति और तत्वार्थ राजवार्तिक मिलाकर अध्ययन कियाहोगा उनकोज्ञात होगाकि उक्त ग्रंथके रचयिता श्री पूज्यपाद स्वामी श्री अकलङ्कदेव भट्ट से बहुत पहिले प्रसिद्ध हुए हैं सर्वार्थ सिद्धि की वृत्ति को वार्तिक रूप में तथा वृत्तिरूप में उपरूप अनेक स्थानों में ग्रहण किया है। अत स्पष्ट है कि "वाला" विभक्तिरूप में न होकर " ईरणमीर्या योगगति रित्यर्थः " ऐसा पाठ श्रेष्ठ है।

(१) दानो वार की छपी हुई सर्वार्थसिद्धिवृत्तियोंमें मिथ्या दृष्ट साम्परायिकस्य पाठहै परन्तु कोलहस्तलिखितप्रतियोंमें मिथ्यादृष्ट्यादेःसाम्परायिक एसा पाठ है। तत्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ मुद्रित २४= में मिथ्या दृष्ट्यादीनां सूक्ष्म साम्परायान्तानां ऐसा पाठ है। हमने मिथ्या दृष्ट्यादेः साम्परायिकस्य पाठ लियाहै क्योंकि मिथ्या दृष्टि गुणस्थान से सूक्ष्म साम्पराय दशवें गुणस्थानतक कषाय का अस्तित्व है।

...भूतानां प्राणव्यपरोपणादीनि वद्यन्ते ॥ पञ्चविंशतिक्रिया उच्यन्ते— चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका कर्मप्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया ॥ गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया । संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया । ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः ॥ क्रोधावेशात्प्रादोषिकी क्रिया । प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यम

12

पंच भूतानि[2] प्राणव्यपरोपण आदीनि[2] वक्ष्यन्ते	=पांच भूतहिंसा(=प्राणव्यपरोपण) आदिक(सातवां अध्यायके प्रथम सूत्रमें कहेंगे
पंचविंशतिक्रियाः[3] उच्यन्ते— चैत्य-गुरु-प्रवचन	=पचीस क्रियायें(नीचे,कही जाती है। देव(=चैत्य)गुरु शास्त्र या आगमकी
पूजादि-लक्षणा[3] सम्यक्त्ववर्धिनी[3] क्रिया[3]	पूजादि लक्षण सम्यग्दर्शनके बढानेवाली क्रिया
सम्यक्त्वक्रिया[1]; अन्यदेवता	=सो सम्यक्त्व क्रिया है। (२) अन्य देवता या कुदेव (कुगुरु कुश्रुत)का
स्तवन आदिरूपा[3] मिथ्यात्वहेतुका[3] [1] कर्मप्रवृत्तिः[3]	=स्तवनादिरूपमिथ्यात्वके कारणवाली क्रिया(=कर्म)में अभिरुचि वा लगन(=प्रवृति)
मिथ्यात्वक्रिया[1]; गमन आगमनादि प्रवर्तनं[1] कायादिभिः[3]	=सो मिथ्यात्व क्रिया है। (३) कायादिकोंसे गमनागमनादिरूप प्रवर्तना
प्रयोगक्रिया[1]; संयतस्य[6] सतः[6]	=सो प्रयोग क्रिया है (४) संयमी पुरुषका (=सतः)
अविरतिम्[2] प्रति अभिमुख्यम्[1] समादानक्रिया[1];	=असंयमके सन्मुखपना वा सन्मुख होना सो समादान क्रिया है ॥
ईर्यापथनिमित्त	=(५) गमनकर्मके निमित्तक क्रिया अर्थात् गमन करनेके लिये जो क्रिया
ईर्यापथक्रिया[1]; ताः[1] एताः[1] पञ्च[1] क्रियाः[1] ॥	=सो ईर्यापथ क्रिया है। वे इतनी पांच क्रिया हैं ॥
क्रोध-आवेशात्[5]	=(६)क्रोधके वशसे(जो क्रिया)अर्थात् परको दोष लगानेकी प्रवृत्ति दुष्टस्वभावता
प्रादोषिकी[1] क्रिया[1]; प्रदुष्टस्य[6] सतः[6]	=सो प्रादोषिकी क्रिया है। (७) दुष्टभावका (=सत) अर्थात् दुष्टताका
अभ्युद्यमः[1]	=उद्यम करना (जैसे चोरी इत्यादिका)

(१) 'मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्ति मिथ्यात्वक्रिया' यह पाठ द्वितीय संस्करण सर्वार्थसिद्धि तथा एक प्रतिहस्तलिखितके पत्रे ५८ पर है यही पाठ तत्त्वार्थराजवार्तिकमें है । प्रथमावृत्तिकी सर्वार्थसिद्धि तथा दो हस्तलिखित प्रतियोंमें मिथ्यात्वहेतुका कर्मप्रवृत्ति मिथ्यात्वक्रिया ऐसा पाठ है। दोनों पाठोंका भावार्थ एकसा है अर्थप्रदायकोंने 'मिथ्यात्वकी कारण प्रवृत्ति सो मिथ्यात्व क्रिया है ऐसा अर्थ किया है हमने पिछलापाठ ग्रहणकरके मिथ्यात्वके कारणवाली क्रिया (=कर्म) में अभिरुचि वा लगन (=प्रवृत्ति) ऐसा अनुवाद किया है ॥

अत्र इन्द्रियादीना पंचादिभिर्यथासख्यमभिसंबन्धो वेदितव्य ॥ इन्द्रियाणि पंच । चत्वार कषाया । पचावृतानि ।
पंचविंशतिक्रिया इति ॥ तत्र पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनादीन्युक्तानि ॥ चत्वार कषाया क्रोधादयः ॥

सूत्रार्थ —इन्द्रिय-कषाय-अव्रत-क्रियाः॥ पञ्च चतुर्	=इन्द्रिय, कषाय, अवृत, क्रिया, पांच-चार
पंच-पंचविंशति-संख्याः॥ पूर्वस्य॥	=पांच-पचीस संख्यारूप अथवा गणनावाले पहिले
साम्परायिक आस्रवस्य॥ यथासंख्यम्॰भेदाः॥ भवन्ति।	=साम्परायिक आस्रवके यथासंख्य अर्थात् पहिलेको पहिला, दूसरेको दूसरा, तीसरेको तीसरा, चौथेको चौथा, भेद होते हैं

भावार्थ इन्द्रिय (स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुस्-श्रोत्र) पांच; कषाय (क्रोध मान-माया-लोभ) चार; अव्रत (हिंसा-अनृत वा मिथ्याभाषण, स्तेय वा चोरी अब्रह्म-परिग्रह) पांच; क्रिया (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व प्रयोग-समादान-ईर्यापथ; प्रादोषिकी, कायिकी, आधिकरणिकी, पारितापिकी, प्राणातिपातिकी; दर्शन स्पर्शन प्रात्ययिकी-समन्तानुपातन-अनाभोग; स्वहस्त-निसर्ग-विदारण-आज्ञाव्यापादिकी, अनाकांक्ष; आरंभ-पारिग्राहिकी-माया मिथ्यादर्शन-अप्रत्याख्यान;)पचीस ये उनताळीससाम्परायिकआस्रवकेभेदहैं।

वृत्त्यनुवाद —अत्र॰इन्द्रिय आदीनाम्॥ पंचादिभिः॥	=यहां (इस सूत्रमें)इन्द्रियादिकोंके पांच आदि (सख्याओं)से
यथासंख्यम्॰	=यथासंख्य अर्थात् पहिलेकोपहिला,दूसरेकोदूसरा,तीसरेकोतीसरा,चौथेकोचौथा
अभिसम्बन्धः॥ वदितव्यः॥; इन्द्रियाणि॥॥ पंच॥॥	=सम्बन्ध जानने चाहिये । इन्द्रिय (स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र) पांच हैं
चत्वारः॥ कषायाः॥	=चार (क्रोध-मान वा अहंकार-माया वा कपट, लोभ) कषाय हैं
पंचअवृतानि॥॥	=पांच(हिंसा-मिथ्याभाषण-चोरी-मैथुन परिग्रह अवृत हैं)
पचविंशति-क्रियाः॥ इति॰ । तत्र॰पंचइन्द्रियाणि॥॥	=पचीस(सम्यक्त्व-मिथ्यात्व इत्यादि) क्रिया हैं । तहां पांच इन्द्रिय
स्पर्श-आदीनि॥॥उक्तानि॥॥;चत्वारःकषायाःक्रोधआदयः॥	=स्पर्शादिक(अध्याय २ सूत्र १९में)वर्णन कीगई हैं।चारकषाय क्रोधादिक हैं ॥

...प्राण्यपरोपणादीनि वक्ष्यन्ते ॥ पञ्चविंशतिक्रिया उच्यन्ते– चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका कर्मप्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया ॥ गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया । संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया । ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया । ता एताः पञ्च क्रियाः ॥ क्रोधावेशात्प्रादोषिकी क्रिया । प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यम

१२ पंच-अव्रतानि ॥ प्राणव्यपरोपण-आदीनि ॥ वक्ष्यन्ते	=पांच अव्रत हिंसा (=प्राणव्यपरोपण) आदिक (सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें कहेंगे
पंचविंशतिक्रियाः ॥ उच्यन्ते—चैत्य-गुरु-प्रवचन	=पचीस क्रियायें (नीचे) कही जाती हैं। देव (=चैत्य) गुरु शास्त्र या आगमकी
पूजादि-लक्षणा ॥ सम्यक्त्ववर्धिनी ॥ क्रिया ॥	पूजादि लक्षण सम्यग्दर्शनके बढानेवाली क्रिया
सम्यक्त्वक्रिया ॥, अन्यदेवता-	=सो सम्यक्त्व क्रिया है। (२) अन्य देवता या कुदेव (कुगुरु कुश्रुत)का
स्तवन आदिरूपा ॥ मिथ्यात्वहेतुका ॥ [१] कर्मप्रवृत्तिः ॥	=स्तवनादिरूप मिथ्यात्वके कारणवाली क्रिया (=कर्म) में अभिरुचि या लगन (=प्रवृत्ति)
मिथ्यात्वक्रिया ॥ गमन-आगमनादि प्रवर्तनं ॥ कायादिभिः ॥	=सो मिथ्यात्व क्रिया है। (३) कायादिकोंसे गमनागमनादिरूप प्रवर्तना
प्रयोगक्रिया ॥, संयतस्य ॥ सतः ॥	=सो प्रयोग क्रिया है (४) संयमी पुरुषका (=सतः)
अविरतिम् ॥ प्रति अभिमुख्यम् ॥ समादानक्रिया ॥;	=असंयमके सन्मुखपना या सन्मुख होना सो समादान क्रिया है ॥
ईर्यापथनिमित्त	=(५) गमनकर्मके निमित्तक क्रिया अर्थात् गमन करनेके लिए जो क्रिया
ईर्यापथक्रिया ॥; ताः ॥ एताः ॥ पंच ॥ क्रियाः ॥ ॥	=सो ईर्यापथ क्रिया है। वे इतनी पांच क्रिया हैं ॥
कोप आवेशात् ॥	=(६) कोपके वशसे (जो क्रिया) अर्थात् परको दोष लगानेकी प्रवृत्ति दुष्टस्वभावता
प्रादोषिकी ॥ क्रिया ॥; प्रदुष्टस्य ॥ सतः ॥	=सो प्रादोषिकी क्रिया है। (७) दुष्टभावका (=सतः) अर्थात् दुष्टताका
अभ्युद्यमः ॥	=उद्यम करना (जैसे चोरी इत्यादिका)

(१) 'मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्ति मिथ्यात्वक्रिया' यह पाठ द्वितीय संस्करण सर्वार्थसिद्धि तथा एक प्रतिहस्तलिखितके पत्र ५८ पर है यही पाठ तत्त्वार्थराजवार्तिकमें है। प्रथमावृत्तिकी सर्वार्थसिद्धि तथा दो हस्तलिखित प्रतियोंमें 'मिथ्यात्वहेतुका कर्मप्रवृत्ति मिथ्यात्वक्रिया' ऐसा पाठ है। दोनों पाठोंका भावार्थ एकसा है जयचन्द्ररायजीने 'मिथ्यात्वकी कारण प्रवृत्ति सो मिथ्यात्व क्रिया है' ऐसा अर्थ किया है हमने पिछलापाठ ग्रहणकरके 'मिथ्यात्व के कारणवाली क्रिया (=कर्म) में अभिरुचि या लगन (=प्रवृत्ति) ऐसा अनुवाद किया है।

कायिकी क्रिया। हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकीक्रिया। सत्त्वदुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात्पारितापिकी क्रिया। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरणात्प्राणातिपातिकी क्रिया। ता एताः पञ्चक्रियाः॥ रागार्द्रीकृतत्वात्प्रमादिनो रमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। प्रमादवशात्स्प्रष्टव्यसञ्चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं [1] समन्तानुपातक्रिया।

कायिकी क्रिया। हिंसा उपकरण-	=सो कायिकी क्रिया है। (८) हिंसाके प्रधान साधन उपकरण जैसे शस्त्रादिक का
आदानात् आधिकरणिकी क्रिया। सत्त्व-दुःख उत्पत्ति-	=ग्रहण करनेसे जो हो सो आधिकरणिकी क्रिया है। (९) आत्माको दुःखके उत्पत्तिके
तन्त्रत्वात् पारितापिकी क्रिया। आयु इन्द्रिय-बल-	=कारणपनासे जो होसो पारितापिकी क्रिया है। (१०) आयु-इन्द्रिय-बल
प्राणानाम् वियोगकरणात् प्राणातिपातिकी क्रिया।	=प्राणोंका या उच्छ्वास निःश्वासका वियोग करनेसे होसो प्राणातिपातिकी क्रिया है
ताः एताः पञ्चक्रियाः॥ राग आर्द्रीकृतत्वात् प्रमादिनः	=ये यही पांचक्रिया हैं। (११) प्रमादी (पुरुष)के राग भाव से आर्द्रित होकर
रमणीय रूप आलोकन अभिप्रायः दर्शनक्रिया॥	=रमणीकरूपके देखनेका (=आलोकन) अभिप्राय दर्शन क्रिया है।
प्रमाद-वशात् स्प्रष्टव्य संचेतन	=(१२) प्रमादके वशसे स्पर्शनयोग्य वस्तुमें रागपरिणामसे (=संचेतन)
अनुबन्धः स्पर्शनक्रिया।	=प्रवृत्ति या प्रवर्तना (=अनुबन्धः=सम्बन्ध) सो स्पर्शन क्रिया है
अपूर्व अधिकरण-उत्पादनात्	=(१३) (विषयके) नवीन (=अपूर्व) आधार या कारण उपजावनेसे (जो होसो)
प्रात्ययिकी क्रिया।	=प्रात्ययिकी क्रिया है (प्रत्ययक्रिया है॥
स्त्री-पुरुष-पशु सम्पाति-देशे	=(१४) नारी-नर-पशुके प्रवर्तने (अर्थात् सोवने बैठने चलने फिरने)में
अन्तर्मल उत्सर्गकरणम् समन्तानुपातक्रिया।	=भीतरीमल अर्थात् पसीना मूत्र नाकमैल इत्यादिका फेंकना सो समन्तानुपातक्रिया है।

(1) सर्वार्थसिद्धिपुस्तिक प्रथम संस्करणमें 'समन्तापातन क्रिया' पाठ है द्वितीयावृत्तिमें एकप्रति हस्तलिखितमें पं० जयचन्द्रजीकृत वचनिकामें और श्रुतसागरी सूरि कृत टीकामें 'समन्तानुपातनक्रिया' ऐसा पाठ है। "समन्तानुपातक्रिया" श्वेताम्बर आम्नायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें तथा भाष्यानुसारिणी तत्त्वार्थटीकामें हमारे यहांकी तीन हस्तलिखित प्रतियोंमें पं० पन्नालाल बाकलीवालकी टीकामें तत्त्वार्थराजवार्तिकमें पं० जयचन्द्रजी विरचित वचनिका मुद्रितमें पं० सदासुखजी कृत अर्थप्रकाशिकामें और अन्य अन्य प्रतियोंमें ऐसा पाठ है। 'सा समन्तानुपातिकी' ऐसापाठ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें है इसलिये हमने समन्तानुपात क्रिया यह पाठ लिया है। (2) रूपालोकनाभिप्रायो—स्मरण रहे कि इस वाक्य का पदच्छेद 'रूप-आलो[illegible]

अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एता पचक्रिया ॥ यां परेण निर्वर्त्यां क्रिया स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया । पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञान निसर्गक्रिया । पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया । यथोक्तामाज्ञामावश्यकादि चारित्रमोहोदयात्कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथाप्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया । शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया। ता एता पचक्रिया ॥छेदनभेदनविशसनादिक्रियापरत्वमन्येन वा क्रियमाणे प्रहर्ष प्रारम्भक्रिया

अप्रमृष्ट-अदृष्ट-भूमौ "काय आदि निक्षेपः"	=बिनासोधीहुईवा झाड़ीहुई(=अप्रमृष्ट) और बिनादेखीहुई(=अदृष्ट) पृथिवीमें कायआदिकानिक्षेपण अर्थात् बैठना, सोवना, लेटना, इत्यादि करना,
अनाभोगक्रिया, ताः एता पचक्रिया	=सो अनाभोग क्रिया है । ते एती पांच क्रिया हैं ।
याम् परेण निर्वर्त्याम् क्रियां स्वयम् करोति सा	=(१६) जो दूसरेकरि करने योग्य क्रियाको आप करता है सो
स्वहस्तक्रिया । पाप आदानादि प्रवृत्ति-विशेष	=स्वहस्त क्रिया है । (१७) पापके ग्रहणादिक प्रवृत्तिके विशेषको
अभ्यनुज्ञानम् निसर्गक्रिया । पर-आचरित	=अच्छा जानना सो निसर्ग क्रिया है । (१८) अन्यका आचरण कियाहुआ
स-अवद्यादि प्रकाशनम् विदारणक्रिया ।	=पापसहित कार्यादिकका प्रगट करना सो विदारण क्रिया है ॥
चारित्र-मोहउदयात् यथा उक्ताम् आज्ञाम्	=(१९) चारित्रमोहके उदयसे (परमागममें) ज्योंकी त्यों कहीहुई आज्ञाके
आवश्यकादि-कर्तुम् अशक्नुवतः अन्यथा प्ररूपणात्	=आवश्यकआदिके करनेका(=कर्तुम्) असमर्थहोनेवालाभिन्न प्रकारवर्णनकरनेसे
आज्ञाव्यापादिकी क्रिया । शाठ्य आलस्याभ्याम्	=आज्ञाव्यापादिकीक्रियाहै।(२०)कपट(=शाठ्य)मूर्खता(=शाठ्य)तथाआलस्यसे
प्रवचन उपदिष्ट-विधि-कर्तव्यता अनादरः	=शास्त्रोक्त विधान अथवा रीतिकी कर्तव्यतामें अनादर (करना)
अनाकांक्षक्रिया । ताः एता पंचक्रिया ॥	=सो अनाकांक्ष क्रिया है । ते येती पांच क्रिया हैं ॥
छेदन भेदन-विशसनादि-क्रिया-परत्वम् अन्येन वा	छेदन भेदन मारण आदिक क्रियामें तत्परपणा अथवा अन्यकरि
क्रियमाणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया ।	=कियेहुयेमें आनन्द (मानना) सो प्रारम्भ क्रिया है ।

(१) तीन हस्तलिखित प्रतियोंका पाठ छेदनभेदनविसर्जनादि क्रिया परत्व अन्येनवारम्भे क्रियमाण प्रहर्ष प्रारम्भ क्रिया ऐसा पाठ है तत्त्वार्थराजवार्तिकमें विसर्जनादिके स्थानमें 'विशसनादि' शब्द है ।

परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया । ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वचनं मायाक्रिया । अन्यमिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया । संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया। ता एताः पञ्चक्रियाः ॥ (समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः) एतानीन्द्रियादीनि कार्यकारणभेदाद्भेदमापद्यमानानि साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवद्वाराणि भवन्ति

परिग्रह अविनाश-अर्था पारिग्राहिकी क्रिया ।	=(२२) परिग्रहकी रक्षाके लिये (प्रवर्तना) सो पारिग्राहिकी क्रिया है ।
ज्ञान-दर्शन आदिषु निकृतिः वचनम्	=(२३) ज्ञान-दर्शन-आदिकमें अधर्म (=निकृति) और ठगाई अर्थात् कपटसे प्रवर्तना
मायाक्रिया । अन्यम् मिथ्यादर्शन	=सो माया क्रिया है । (२४) अन्यको अर्थात् किसीको मिथ्यात्वके
क्रिया-करण-कारण आविष्टम् प्रशंसादिभिः	=कार्य करने कराने में लीन हो (=आविष्ट), पढ़ाई आदि करि
दृढयति यथा साधु करोषि इति सा	=दृढ़ करता है जैसे तू भला (=साधु) करता है सो (=सा)
मिथ्यादर्शनक्रिया । संयमघाति कर्म-	=मिथ्या दर्शन क्रिया है । (२५) संयमके घात करनेवाले कर्मके
उदयवशात् अनिवृत्तिः	=उदयके वशसे निवृत्तिरूप नहीं होना अर्थात् संयमरूप नहीं प्रवर्तना या अत्यागरूप प्रवर्तना
अप्रत्याख्यानक्रिया । ताः एताः पञ्चक्रियाः ॥	=सो अप्रत्याख्यान क्रिया है । ते यती पांच क्रिया हैं ॥
(समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः) एतानि	=(पूर्वोक्त सर्वसमुदित पचीस क्रियायें हुई) । ये
इन्द्रिय आदीनि कार्य-कारण भेदात् भेदम्	=इन्द्रिय-कषाय अवृत-क्रिया (=आदीनि) कार्य कारणके भेदसे भेदरूप
आपद्यमानानि साम्परायिकस्य कर्मणः आस्रव	=प्राप्त होकर (=आपद्यमान) साम्परायिक कर्मके आस्रवके
द्वाराणि भवन्ति	=द्वार होते हैं अर्थात् यहां इन्द्रिय-कषाय अवृत तो कारण हैं पचीस क्रिया हैं ये उन (इन्द्रिय-कषाय-अवृत) के निमित्तसे होती हैं इसलिये कार्य हैं । ये दोनों संसारके कारणरूप (=साम्परायिक) कर्मके आस्रवके उपाय हैं ॥

अत्राह योगत्रयस्य सर्वात्मकार्यत्वात्सर्वेषां संसारिणां साधारणस्य ततो बन्धफलानुभवनम्प्रत्यविशेष इत्यत्रोच्यते। नैतदेवम्। यस्मात् सत्यपि प्रत्यात्मसम्भवे तेषां जीवपरिणामेभ्य अनन्तविकल्पेभ्यो विशेषोऽभ्यनुज्ञायते। कथमिति चेदुच्यते—

॥ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अत्र • आह ॥ योगत्रयस्य ॥ सर्व-आत्म –	=यहाँ प्रश्न करता है कि (मन वचन-काय) तीन योगसे सर्व आत्मा के
कार्यत्वात् ॥ सर्वेषाम् ॥ संसारिणाम् ॥ साधारणस्य ॥ ततः •	=कार्यपनासे समस्त संसारी जीवोंके समान रूप है तिससे
बन्धफल-अनुभवनम् ॥ प्रति अविशेषः ॥ इति •	=बन्धका फल भोगनका समान अथवा तुल्य (=अविशेष) है।
अत्र • उच्यते ॥ न • एतद् ॥ एवम् • ।	=(उत्तरमें) यहां कहा जाता है कि इस प्रकार यह नहीं है
यस्मात् • सति ॥ अपि • प्रति-	=इसलिये (मन-वचन काय के योग) प्रत्येक जीवके (साधारण)
आत्मसम्भवे ॥ तेषाम् ॥ जीवपरिणामेभ्यः ॥	=सम्भव होनेपर भी (=सत्यपि) तिन (जीवों) के जीवपरिणामके
अनन्त-विकल्पेभ्यः ॥ विशेषः ॥ अभ्यनुज्ञायते । कथं इतिचेत्	=अनन्त भेद होनेसे विशेष जाना जाता है। प्रश्न (=चेत्) ऐसा कैसे है अर्थात् जीवकेपरिणामके भेदके निमित्तसे बन्धका फलके भोगन में क्या विशेषता है ऐसा प्रश्न होने पर
उच्यते ।	=(अग्रिम सूत्र में) कहाजाता है कि

सूत्रम्—तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

=तीव्रभाव—मन्दभाव-ज्ञातभाव अज्ञातभाव अधिकरण-वीर्यविशेषेभ्य तद् विशेष भवति ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ —तीव्र भाव-	=तीव्र भाव (=उत्कट परिणाम, उग्रपरिणाम, वृद्धिरूप परिणाम)
मंदभाव-	=मन्दभाव (=शिथिल परिणाम अनुत्कट परिणाम)
ज्ञातभाव-	=ज्ञातभाव (=ज्ञानपूर्वक परिणाम, या ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति)
अज्ञातभाव-	=अज्ञातभाव(=अज्ञानपूर्वक परिणाम या अज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति)
अधिकरण-	=अधिकरण (=आधार आसरा अर्थात् जिसके आश्रय पुरुषका प्रयोजन हो)

१) श्वेताम्बर आम्नायके तत्वार्थ में तथा मत शानुसारियों तत्वार्थ टीकामें भावाधिकरणवीर्य के स्थानमें भाववीर्याधिकरण" है। शेष पाठ और अर्थ एक है।

बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामस्तीव्रः । तद्विपरीतो मन्दः । अयं प्राणी हन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवृत्तिर्ज्ञातमित्युच्यते । मदात्प्रमादाद्वाऽनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् । अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं द्रव्यमित्यर्थः ।

वीर्य-विशेषेभ्यः ॥ =और वीर्य (=सामर्थ्य, बल) [इन छह] के विशेषसे या भेदसे

तद् विशेषः ॥ =पूर्वोक्त (=वह अर्थात् साम्परायिक आस्रवके उनतालीस भेदों) में विशेष (अर्थात् न्यूनाधिक तारतम्य) है ॥ (जैसे कि लघु-लघुतर तथा लघुतम ऐसे ही तीव्र-तीव्रतर तथा तीव्रतम हिंसादि) भावार्थ जीव के जैसे २ उग्र परिणाम की, शिथिल परिणामकी, ज्ञानपूर्वक परिणामकी अज्ञानपूर्वक परिणामकी, आधारकी और वीर्य (इन छहों) की न्यूनता और अधिकता होती है वैसे वैसे ही साम्परायिक आस्रवके पूर्वोक्त उनतालीस भेदों में विशेषता होती है ॥

इत्यनुवाद —बाह्य-अभ्यन्तरहेतु-उदीरण-वशात् ॥ =बाह्य अन्तरंग कारणकी उदीरणा [फेंक, बढ़ाव] के वशसे

उद्रिक्तः ॥ परिणामः ॥ तीव्रः ॥ =उग्र या उत्कट परिणाम सो तीव्रभाव है अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर कारणोंसे बढ़ेहुए क्रोधादिक कषायोंकरि तीव्रता वा उग्रतारूप परिणाम सो तीव्र भाव है ।

तद् विपरीतः ॥ मन्दः ॥ =उस [तीव्रभाव] से विरुद्ध [परिणाम] सो मन्दभाव है अर्थात् क्रोधादिक कषायों की शिथिलता से जो परिणाम हो सो मंदभाव है ।

अयम् ॥ प्राणी ॥ हन्तव्यः ॥ इति ॥ ज्ञात्वा - प्रवृत्तिः ॥ =यह जीव हत्या जाय ऐसा मानकर प्रवर्तना सो

ज्ञातम् ॥ इति ॥ उच्यते ॥ मदात् ॥ =ज्ञात [भाव] ऐसा कहा जाता है मादक वस्तु [के वश में होने] से [=मदात्] या अहंकार से [=मदात्]

प्रमादात् ॥ अनवबुध्य + प्रवृत्तिः ॥ अज्ञातम् ॥ =[वा] असावधानताम [=प्रमादात्] बिना जानकर प्रवर्तना सो अज्ञात [भाव] है

अधिक्रियन्ते अस्मिन् ॥ अर्थाः ॥ =आधार किये गये हैं या आश्रय किये गये हैं जिसमें प्रयोजन

इति अधिकरणम् ॥ द्रव्यम् ॥ इति ॥ अर्थः ॥ =सो अधिकरण है द्रव्य है ऐसा तात्पर्य है

द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम् । भावशब्द प्रत्येक परिसमाप्यते—तीव्रभाव, मन्दभाव इत्यादि । एतेभ्यस्तस्यास्रवस्य विशेषा भवति कारणभेदाद्धि कार्यभेद इति॥ अत्राह अधिकरणमित्युक्त, तत्स्वरूपमनिर्ज्ञातमतस्तदुच्यतामिति । तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेणाधिकरणस्वरूपनिर्ज्ञानार्थमाह—

॥ अधिकरण जीवाऽजीवा ॥ ७ ॥

द्रव्यस्य, स्वशक्तिविशेष, वीर्यम्, भावशब्द,
प्रत्येकम्, परिसमाप्यते ।
तीव्रभाव, मन्दभाव, इत्यादि,
एतेभ्य,
तस्य, आस्रवस्य, विशेष, भवति ।

कारण-भेदात्, हि-कार्यभेद, इति ॥ अत्र आह ।
अधिकरणम्, इति उक्तम्, तत्स्वरूपम्, अनिर्ज्ञातम्,
अत तत्, उच्यताम् । इति । तत्र
भेद प्रतिपादन-द्वारेण, अधिकरण स्वरूप-
निर्ज्ञान-अर्थम्, आह ।

(१) सूत्रम्—अधिकरण जीवाऽजीवा

सूत्रार्थ—आस्रवस्य, अधिकरणम्, जीवा, च
अजीवा, भवन्ति ।

=द्रव्यके निजशक्तिका विशेष सो वीर्य है; (इस सूत्रमें) भावशब्द
=पृथक् पृथक् (तीव्र-मन्द ज्ञात अज्ञात) का लगाया जाता है॥
(तब) तीव्रभाव-मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव होते हैं ।
=इन(तीव्रभाव-मंदभाव ज्ञातभाव-अज्ञातभाव अधिकरणतथावीर्यकेविशेष) करि
तिस (साम्परायिक) आस्रवके भेद होजाता है । अर्थात् इन सबके अन्तरसे
साम्परायिक आस्रवका अन्तर है, ये सब जहां जैसे जैसे होते हैं वहां तैसा
=तैसा न्यूनाधिकतालिये हुये साम्परायिक आस्रव भी होता है ।
=कारणके भेदसे ही कार्य भेद होता है । यहां (शिष्य) पूछता है कि
=अधिकरण कहा गया, उस (अधिकरण) का स्वरूप नहीं बताया गया है
=इसलिये (=अब) वह (स्वरूप) कहा जाना चाहिये ॥ तहां (उसअधिकरणके)
=भेदके प्रतिपादन द्वाराकरि अधिकरणके स्वरूपके
=निर्णयके लिये (आचार्य उत्तर सूत्रमें) कहते हैं कि

=(आस्रवस्य) अधिकरण जीव-अजीवा भवन्ति

= आस्रवका आधार वा अधिकरण जीव द्रव्यें और
= अजीव द्रव्यें (दोनों) हैं अर्थात् जीव द्रव्यें और अजीव द्रव्यें दोनोंके आधार आश्रय वा आसरेसे आस्रव होता है अकेले जीवके आश्रयसे आस्रव नहीं होता है । तथा अकेले पुद्गलके आश्रयसे भी आस्रव नहीं होता है जैसे पुरुष बिना स्त्रीके गर्भ नहीं रहसकता है और स्त्री बिना पुरुष भी गर्भ नहीं रख सकता है।

(1) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नायमें इस सूत्र का पाठ और अर्थ एक है ॥

उक्तलक्षणा जीवाऽजीवा ॥ यद्युक्तलक्षणा पुनर्वचनं किमर्थम् । अधिकरणविशेषज्ञापनार्थं पुनर्वचनम् ॥ (१) जीवाऽजीवा अधिकरणमित्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य इत्यर्थः ॥ क पुनरसौ ? हिंसाद्युपकरणभाव इति ॥ स्यादेतन्मूलपदार्थयोर्द्वित्वाज्जीवाजीवा इति द्विवचनं न्यायप्राप्तमिति ॥ तन्न—पर्यायाणामधिकरणत्वात् येन केन चित्पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यमधिकरणम् । न सामान्यमिति बहुवचनं कृतम् ॥ जीवाऽजीवा अधिकरणं कस्य ? आस्रवस्येत्यर्थवशादभिसम्बन्धो भवति ॥ तत्र जीवाधिकरणभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शब्दानुवादः—उक्तलक्षणाः जीवा-अजीवाः ॥	=प्रथम कहेगये हैं लक्षण जिनके ऐसे जीव अजीव हैं ॥
यदि उक्त-लक्षणाः पुनर् वचनम् किम् अर्थम्	=(प्रश्न) जो (जीव-अजीव के) लक्षण कहे गये हैं फिर कथन किस लिये है ॥
अधिकरण-विशेष-ज्ञापन-अर्थम् पुनर्वचनम् ॥	=(उत्तर) अधिकरणका विशेष जनावनके लिये पुनि कथन है ॥
जीव-अजीव-अधिकरणम् इति अयम् विशेषः	=जीव-अजीव-अधिकरण है इस प्रकार यह भेद
ज्ञापयितव्य इति अर्थः । क पुनर् असौ	=जताये जाने योग्य है ऐसा अभिप्राय है। बहुरि वह (असौ) क्या (अधिकरण) है
हिंसा-आदि-उपकरणभाव इति स्यात् एतद्	=हिंसा आदिका उपकरणपना है। यदि यह है अर्थात् यदि जीव अजीव अधिकरण है तो
मूल पदार्थयो द्वित्वात् जीव-अजीवा इति	=जीव अजीव मूल वस्तुओंके द्वित्वसे अर्थात् जीव अजीव दो वस्तुओंके होन से
द्विवचनम् न्याय-प्राप्तम् इति ॥ तत् न	=(इस सूत्रमें बहुवचनके स्थानमें) द्विवचन युक्तियुक्त (न्याय) प्राप्त है। (उत्तर) सो नहीं है ॥
पर्यायाणाम् अधिकरणत्वात् येन केनचित्	=पर्यायोंके अधिकरणपना है अर्थात् जीव अजीवके पर्यायें अधिकरण हैं ॥ जिसतिस
पर्यायेण विशिष्टम् द्रव्यम् अधिकरणम्	=पर्यायकरि युक्त वा भेदवाला अधिकरण (वा) द्रव्य है ।
न सामान्यम् इति बहुवचनम् कृतम्	=नकि अभेदरूप है । ऐसे (इस सूत्रमें जीवाऽजीवाः) बहुवचन किया है ॥
जीवाऽजीवा अधिकरणम् कस्य आस्रवस्य	=(प्रश्न) जीव-अजीव-अधिकरण वा आधार किसका है (उत्तर) आस्रवका है
इति अर्थ वशात् अभिसम्बन्धः भवति ॥	=इस प्रकार अभिप्रायके वशसे सम्बन्ध होता है ।
तत्र जीव-अधिकरण-भेद-प्रतिपत्ति-अर्थम् आह	=वहां जीव अधिकरणके भेद जतावनेके लिये (आचार्य अग्रिम सूत्र में) कहते हैं कि

"(१) जीवाऽजीवाधिकरणं इत्ययं" प्रथमावृत्तिका पाठ है। द्वितीय संस्करणका पाठ "जीवाऽजीवाधिकरणे इत्यय" ऐसा है। दो हस्तलिखित प्रतियों का भी यही पाठ है परन्तु अधिकरण इत्ययं वाक्यके स्थानमें सन्धि करके अधिकरणमित्ययं कर दिया है। एक तीसरी हस्तलिखित प्रतिमें 'जीवाजीवा [illegible]

आद्यंसंरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश. ॥ ८ ॥

आद्य संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश =आद्यं (जोव अधिकरणं) संरम्भ-समारम्भ आरम्भ योग-कृत-कारित अनुमत कषाय विशेष त्रि त्रि त्रि चतु च एकश भेदा भवन्ति ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ आद्यम् [1] जीव अधिकरणम् [1] संरम्भ-	=प्रथम (=आदौभवः=आद्य) जीव-अधिकरण, संरम्भ-
समारम्भ-आरम्भ-विशेषैः [1] त्रि ०	=समारम्भ-आरम्भके विशेष वा भेदकरि तीन और
एकश ० योग-विशेषैः [1] त्रिः ०	=(संरम्भ समारम्भ आरम्भ) एक एकके काय-वचन-मनोयोगके भेद करि तीनतीन
एकशः ० कृत कारित-अनुमत	=(पूर्वोक्तनौमेंसे) एक एकके कृत कारित अनुमोदना के
विशेषैः [1] त्रि ० एकश ०	=विशेषकरि तीन तीन (उपर्युक्त सत्ताईसमेंसे) एक एक के
क्रोध-मान-माया लोभ कषाय-विशेषैः [1]	=क्रोधमान माया लोभ कषाय के विशेषकरि
चतुः ० च ० भेदा [1] भवन्ति ।	=चार चार (ये सब मिलकर एक सौ आठ) भेद भी (=च) होते हैं अर्थात्

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ; प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ; संज्वलन क्रोध मान माया लोभ से पूर्वोक्त प्रत्येक सत्ताईस भेदोंको गुणनेसे ४३२ भेद होते हैं। और यदि अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन भेदोंको न लेकर पूर्वोक्त प्रत्येक सत्ताईस भेदोंको केवल क्रोध-मान-माया-लोभ कषायके सामान्य भेदों से गुणनेसे जीवाधिकरण के १०८ भेद भी होते हैं (इस सूत्र में 'च' शब्दका यही तात्पर्य है) भावार्थ संरम्भ समारम्भ-आरम्भ इन तीनों को मन वचन कायरूप तीनों योगोंसे गुणने से ९ तथा कृत-कारित अनुमोदना इनतीनोंसे गुणनेसे२७ और क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायोंसे गुणनेसे १०८ भेद होते हैं और यदि २७ भेदोंमेंसे प्रत्येक को कषायके १६ भेदों से गुणिये तो ४३२ भेद जीवाधिकरणके होते हैं।

(१) श्वेताम्बर आम्नाय के सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें तथा हमारे यहां एकसा पाठ है। ४३२ भेदों के लिये देखो पृष्ठ २० से २४ तक।

(२) त्रि का अर्थ तीन है परन्तु त्रिः अथवा त्रिष् का अर्थ है तीन वार यह अव्यय है क्रिया विशेषण अव्यय है वा अवयवोंका एक विभाग या भेद है अब त्रिः त्रिः त्रि चतुः=तीन गुणित तीन गुणित तीन गुणित चार=१०८का भाव हुआ।

उक्तलक्षणा जीवाऽजीवाः ॥ यद्युक्तलक्षणाः पुनर्वचनं किमर्थम् । अधिकरणविशेषज्ञापनार्थं पुनर्वचनम् ॥ (१) जीवाऽजीवा अधिकरणमित्ययं विशेषो ज्ञापयितव्य इत्यर्थः ॥ कः पुनरसौ ? हिंसाद्युपकरणभाव इति ॥ स्यादेतन्मूलपदार्थयोर्द्वित्वाज्जीवाजीवा इति द्विवचनं न्यायप्राप्तमिति ॥ तन्न—पर्यायाणामधिकरणत्वात् येन केन चित्पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यमधिकरणम् । न सामान्यमिति बहुवचनं कृतम् ॥ जीवाऽजीवा अधिकरणं कस्य ? आस्रवस्येत्यर्थवशादभिसम्बन्धो भवति ॥ तत्र जीवाधिकरणभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अन्वयार्थः—उक्तलक्षणाः जीवा-अजीवाः ॥	=प्रथम कहेगये हैं लक्षण जिनके ऐसे जीव अजीव हैं ॥
यदि उक्त लक्षणाः पुनर् वचनम् किम् अर्थम्	=(प्रश्न) जो (जीव अजीव के) लक्षण कहे गये हैं फिर कथन किस लिये है ॥
अधिकरण-विशेष-ज्ञापन-अर्थम् पुनर् वचनम् ॥	=(उत्तर) अधिकरणका विशेष जतावनके लिये पुनि कथन है ॥
जीव-अजीव-अधिकरणम् इति अयम् विशेषः	=जीव-अजीव-अधिकरण है इस प्रकार यह भेद
ज्ञापयितव्य इति अर्थः । कः पुनर् असौ	=जताये जाने योग्य है ऐसा अभिप्राय है। बहुरि वह (असौ) क्या (अधिकरण) है
हिंसा-आदि-उपकरणभाव इति स्यात् T एतद्	=हिंसा आदिका उपकरणपना है। यदि यह है अर्थात् यदि जीव अजीव अधिकरण है तो
मूल पदार्थयो द्वित्वात् जीव-अजीवा इति	=जीव अजीव मूल वस्तुओंके द्वित्वसे अर्थात् जीव अजीव दो वस्तुओंके होनेसे
द्विवचनम् न्याय-प्राप्तम् इति ॥ तत् न	=(इस सूत्रमें बहुवचनके स्थानमें) द्विवचन युक्तियुक्त(न्याय)प्राप्त है।(उत्तर) सो नहीं है ॥
पर्यायाणाम् अधिकरणत्वात् येन केनचित्	=पर्यायोंके अधिकरणपना है अर्थात् जीव अजीवके पर्याय अधिकरण हैं॥ जिसकिस
पर्यायेण विशिष्टम् द्रव्यम् अधिकरणम्	=पर्यायकरि युक्त या भेदवाला अधिकरण (वा) द्रव्य है।
न सामान्यम् इति बहुवचनम् कृतम्	=नकि अभेदरूप है। ऐसे (इस सूत्रमें जीवाऽजीवा) बहुवचन किया है॥
जीवाऽजीवा अधिकरणम् कस्य आस्रवस्य	=(प्रश्न) जीव-अजीव-अधिकरण वा आधार किसका है (उत्तर) आस्रवका है
इति अर्थ-वशात् अभिसम्बन्धः भवति ॥	=इस प्रकार अभिप्रायके वशसे सम्बन्ध होता है।
तत्र जीव-अधिकरण-भेद-प्रतिपत्ति-अर्थम् आह T	=तहां जीव अधिकरणके भेद जतावनेके लिये(आचार्य अग्रिम सूत्र में) कहते हैं कि

"(१) जीवाऽजीवाधिकरणम् इत्यर्थः" प्रथमावृत्तिका पाठ है। द्वितीय संस्करणका पाठ 'जीवाजीवाधिकरणम् इत्यय' ऐसा है। दो हस्तलिखित प्रतियों का भी यही पाठ है परन्तु 'अधिकरण इत्ययं' वाक्यके स्थानमें संधि करके 'अधिकरणमित्ययं' कर दिया है। एक तीसरी हस्तलिखित प्रतिमें 'जीवाजीवाधिकरण मित्यर्थ' पाठ है। अर्थात् 'इत्ययं' के स्थान में 'इत्यर्थ' पाठ है इन सब पाठों का एकसा अर्थ है। हमने द्वितीय संस्करणका पाठ लिया है।

एते चत्वार सुजन्तास्त्र्यादिशब्दा यथाक्रममभिसम्बन्ध्यन्ते—संरम्भसमारम्भारम्भास्त्रय । योगास्त्रय । कृत कारितानुमतास्त्रय । कषायाश्चत्वार इति ॥ एतेषां गणनाभ्यावृत्ति सुचा द्योत्यते ॥ एकश इति वीप्सानिर्देश । एकैकं त्र्यादीन् भेदान् नयेदित्यर्थ ॥

एते ॥ चत्वारः ॥ त्र्यादिशब्दाः ॥ सुच् अन्ताः ॥ यथ क्रमम्	=ये चार त्रि त्रि त्रि चतुः (आदि) शब्द सुच् (=स्) प्रत्ययान्त हैं अर्थात् =(वे) अनुक्रमसे (संरम्भ समारम्भ–आरम्भ; काययोग वचनयोग मनो योग, कृत-कारित-अनुमत; क्रोधकषाय, मानकषाय; मायाकषाय; लोभीकषाय के साथ)
अभिसम्बन्ध्यन्ते ।	=लगाये जाते हैं अर्थात् संरम्भ समारम्भ आरम्भ के साथ प्रथम त्रिस लगाया जाता है, योग के साथ दूसरा त्रिस्, कृत कारित–अनुमत के साथ तीसरा त्रिस् और कषाय के साथ चतुर् लगाया जाता है ॥ देखो टिप्पणी(२) पृष्ठ २१ ॥
संरम्भ–समारम्भ–आरम्भाः ॥ त्रय ॥; योगाः ॥ त्रयः ॥;	=(इस प्रकार) संरम्भ–समारम्भ–आरम्भ तीन हुये । (योग तीन हुए । काय वचन मनो)
कृत–कारित–अनुमता ॥ त्रयः ॥; कषाया ॥	=कृत कारित–अनुमोदना तीन हुए । (क्रोध मान, माया–लोभ) कषाय
चत्वारः ॥ इति • एतेषाम् ॥	=चार हुए । इन (संरम्भ–समारम्भ आरम्भ योग, कृत–कारित–अनुमत, और क्रोधकषाय, मानकषाय मायाकषाय लोभ कषायकी)
गणना अभ्यावृत्तिः ॥ सुचा ॥ द्योत्यते ।	=गिनतीकी (=गणना) दुहराना (=अभ्यावृत्ति) सुच् (=स्) प्रत्यय करि प्रगट की गई है (अर्थात्)
एकश इति • वीप्सा–निर्देश ॥	=(इस सूत्रमें) एकश (शब्द) वारवार कहन (=वीप्सा) अर्थमें (=निर्देश) है।
एकैकम् ॥ त्रि –आदीन् ॥ भेदान् ॥ नयेत । इति • अर्थ ॥	=एक एकप्रति तीन आदिक भेदोंको प्राप्तकरना ऐसा अभिप्राय या तात्पर्य्य है॥

प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरम्भः । साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः । प्रक्रम आरम्भः । योगशब्दो व्याख्यातार्थः । कृतवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् । कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम् । अनुमतशब्दः प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थः । अभिहितलक्षणाः कषायाः क्रोधादयः । विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। स प्रत्येकमभिसम्बध्यते-संरम्भविशेषः समारम्भविशेषः इत्यादि ॥ आद्यं जीवाधिकरणमेतैर्विशेषैर्भिद्यत इति वाक्यशेषः

वृत्त्यनुवाद —प्राणव्यपरोपण आदिषु प्रमादवतः	हिंसादिक विषें प्रमादी जीवका
प्रयत्न आवेशः संरम्भः साधन-	=उद्यमरूप परिणाम अथवा उद्यमरूप भाव सो संरम्भ है। (हिंसादिकके)उपायमें
समभ्यासीकरणम् समारम्भः	=अभ्यास करना वा सामिग्री मिलावना सो समारम्भ है ॥
प्रक्रमः आरम्भः	=(हिंसादिकमें) प्रवृत्ति वा प्रवर्तन करना वा लगना सो आरम्भ है ।
योगशब्दः व्याख्यात-अर्थः कृतवचनम्	=योग वह शब्द है जिसका अर्थ (पूर्वमें) कह चुके हैं । कृतशब्द
स्वातन्त्र्य प्रतिपत्ति-अर्थम् कारित-	=स्वयं प्रवर्तनकेलिये वा आपकीप्रवृत्तिके लियेहै आपस्वयं करै सो कृत है।कारित
अभिधानम् पर-प्रयोग अपेक्षम् अनुमतशब्दः	=नाम (=अभिधान) दूसरेकू सम्बधमें कराया जाय सो है ॥ अनुमत शब्द
प्रयोजकस्य मानस परिणाम प्रदर्शन अर्थः	=करने वाले को मनोभाव करि भला जाननेके अर्थमें है।
अभिहित लक्षणाः कषायाः क्रोध-आदयः ॥	=(पहिले) कह चुके है लक्षण जिनके ऐसे कषाय क्रोध-मान-माया लोभ हैं
अर्थः अर्थ अन्तरात् विशिष्यते इति विशेषः	=एक अर्थ (=अर्थ) अन्य अर्थसे जिस प्रकार भिन्न किया जाय ऐसा विशेष है
	अर्थात् एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे जो भेद जनावै वह विशेषशब्दका अर्थ है॥
सः प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते संरम्भविशेषः	=वह (विशेषशब्द) प्रत्येकको लगाया जाता है (जैसे) संरम्भ विशेष,
समारम्भविशेषः इत्यादि	=समारम्भ विशेष, आरम्भ विशेष, योग विशेष, कृतविशेष,
	कारितविशेष अनुमत विशेष, कषाय विशेष ये हैं ।
आद्यम् जीव अधिकरणम् एतैः विशेषैः भिद्यते	=प्रथम जीव-अधिकरण इतने विशेषणों करि भेदरूप किया गया है ॥
इति वाक्यशेषः ॥	=ऐसा (भिद्यतेशब्द) वाक्य शेष है अर्थात् इस सूत्रमें 'विशेषै'शब्द के पश्चात्
	भिद्यते शब्द और जोड़ लेना चाहिये वा और समझ लेना चाहिये ।

[illegible] बारम्बार एक साथ में आते हैं [illegible] 'म्' और शेष [illegible] बनते है। संख्याओंका अन्तिम [illegible] (त्रि) तीनवार [illegible] +स [illegible] अधिक [illegible]

पयनिवासी मगरूपसहाय बड़ी रहा परजेर मौर विभक्त सर्वार्थसिद्धि वृत्ति का शब्दशः हिंदी अनुवाद अध्याय ६ सूत्र ८

आरम्भा अपि षट्त्रिंशत् ।

(१) क्रोधकृतकायसमारम्भ (२) मानकृतकायसमारम्भ (३) मायाकृतकायसमारम्भ (४) लोभकृतकायसमारम्भ
(५) क्रोधकारितकायसमारम्भ (६) मानकारितकायसमारम्भ (७) मायाकारितकायसमारम्भ (८) लोभकारितकायसमारम्भ
(९) क्रोधअनुमतकायसमारम्भ (१०) मानअनुमतकायसमारम्भ (११) मायाअनुमतकायसमारम्भ (१२) लोभअनुमतकायसमारम्भ
(१३) क्रोधकृतवचनसमारम्भ (१४) मानकृतवचनसमारम्भ (१५) मायाकृतवचनसमारम्भ (१६) लोभकृतवचनसमारम्भ
(१७) क्रोधकारितवचनसमारम्भ (१८) मानकारितवचनसमारम्भ (१९) मायाकारितवचनसमारम्भ (२०) लोभकारितवचनसमारम्भ
(२१) क्रोधअनुमतवचनसमारम्भ (२२) मानअनुमतवचनसमारम्भ (२३) मायाअनुमतवचनसमारम्भ (२४) लोभअनुमतवचनसमारम्भ
(२५) क्रोधकृतमनःसमारम्भ (२६) मानकृतमनःसमारम्भ (२७) मायाकृतमनःसमारम्भ (२८) लोभकृतमनःसमारम्भ
(२९) क्रोधकारितमनःसमारम्भ (३०) मानकारितमनःसमारम्भ (३१) मायाकारितमनःसमारम्भ (३२) लोभकारितमनःसमारम्भ
(३३) क्रोधअनुमतमनःसमारम्भ (३४) मानअनुमतमनःसमारम्भ (३५) मायाअनुमतमनःसमारम्भ (३६) लोभअनुमतमनःसमारम्भ

आरम्भा अपि षट्त्रिंशत् ।

आरम्भ भी छत्तीस हैं अर्थात्

(१) क्रोधकृतकायआरम्भ (२) मानकृतकायआरम्भ (३) मायाकृतकायआरम्भ (४) लोभकृतकायआरम्भ
(५) क्रोधकारितकायआरम्भ (६) मानकारितकायआरम्भ (७) मायाकारितकायआरम्भ (८) लोभकारितकायआरम्भ
(९) क्रोधअनुमतकायआरम्भ (१०) मानअनुमतकायआरम्भ (११) मायाअनुमतकायआरम्भ (१२) लोभअनुमतकायआरम्भ
(१३) क्रोधकृतवचनआरम्भ (१४) मानकृतवचनआरम्भ (१५) मायाकृतवचनआरम्भ (१६) लोभकृतवचनआरम्भ
(१७) क्रोधकारितवचनआरम्भ (१८) मानकारितवचनआरम्भ (१९) मायाकारितवचनआरम्भ (२०) लोभकारितवचनआरम्भ
(२१) क्रोधअनुमतवचनआरम्भ (२२) मानअनुमतवचनआरम्भ (२३) मायाअनुमतवचनआरम्भ (२४) लोभअनुमतवचनआरम्भ
(२५) क्रोधकृतमनआरम्भ (२६) मानकृतमनआरम्भ (२७) मायाकृतमनआरम्भ (२८) लोभकृतमनआरम्भ
(२९) क्रोधकारितमनआरम्भ (३०) मानकारितमनआरम्भ (३१) मायाकारितमनआरम्भ (३२) लोभकारितमनआरम्भ
(३३) क्रोधअनुमतमनआरम्भ (३४) मानअनुमतमनआरम्भ (३५) मायाअनुमतमनआरम्भ (३६) लोभअनुमतमनआरम्भ

तद्यथा–क्रोधकृतकायसरम्भ । मानकृतकायसरम्भ । मायाकृतकायसरम्भ । लोभकृतकायसरम्भ । क्रोधकारितकायसरम्भ । मानकारितकायसरम्भ । मायाकारितकायसरम्भ । लोभकारितकायसरम्भ । क्रोधानुमतकायसरम्भ । मानानुमतकायसरम्भ । मायानुमतकायसारम्भ । लोभानुमतकायसरम्भश्चेति द्वादशधा कायसरम्भ ॥ एव वाग्योगे मनोयोगे च द्वादशधा सरम्भ । त एते पिण्डिता षट्त्रिंशत्, तथा समारम्भा अपि षट्त्रिंशत् ।

तद्यथा * क्रोधकृतकायसरम्भ ¦, मानकृतकायसंरम्भ ¦, मायाकृतकायसंरम्भ ¦, लोभकृतकायसरम्भ ¦। क्रोधकारित कायसरम्भः ¦। मानकारितकायसंरम्भः ¦, मायाकारितकायसंरम्भ ¦, लोभकारितकायसरम्भः ¦, क्रोधअनुमतकायसंरम्भः ¦, मानअनुमतकायसंरम्भः ¦, मायाअनुमतकायसरम्भ ¦, च लोभअनुमतकायसरम्भः ¦। इति * द्वादशधा * कायसंरम्भः ¦। एवम् * वाग्योगे ¦ मनोयोगे ¦ च * द्वादशधा * संरम्भः ¦

–जैसे (१) क्रोधकृतकायसंरम्भ मानकृतकायसंरम्भ, –मायाकृतकायसंरम्भ, लोभकृतकायसरम्भ, –क्रोधकारितकायसंरम्भ, मानकारितकायसंरम्भ, =मायाकारितकायसरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भ, –क्रोधअनुमतकायसंरम्भः, मानअनुमतकायसरम्भः । –मायाअनुमतकायसरम्भः, और (=च) लोभअनुमतकायसंरम्भ ॥ –इस प्रकार (=इति) बारह प्रकार कायसरम्भ है । इसप्रकार वचन योगमें –और (=च) मनो योग विषे बारह बारह प्रकार संरम्भ है अर्थात्

(१) क्रोधकृतवचन संरम्भ (२) मानकृतवचनसंरम्भ (३) मायाकृतवचनसरम्भ (४) लोभकृतवचनसंरम्भ
(५) क्रोधकारितवचनसंरम्भ (६) मानकारितवचनसंरम्भ (७) मायाकारितवचनसरम्भ (८) लोभकारितवचनसंरम्भ
(९) क्रोधअनुमतवचनसंरम्भ (१०) मानअनुमतवचनसंरम्भ (११) मायाअनुमतवचनसंरम्भ (१२) लोभअनुमतवचनसंरम्भ
(१३) क्रोधकृतमनःसरम्भ (१४) मानकृतमनसंरम्भ (१५) मायाकृतमनस्संरम्भ (१६) लोभकृतमनस्संरम्भः
(१७) क्रोधकारितमनस्संरम्भ (१८) मानकारितमनस्सरम्भ (१९) मायाकारितमनस्संरम्भ (२०) लोभकारितमनःसंरम्भ
(२१) क्रोधअनुमतमनःसंरम्भ (२२) मानअनुमतमनःसरम्भ (२३) मायाअनुमतमनःसंरम्भ (२४) लोभअनुमतमनःसंरम्भ

त ¦ एते ¦ पिण्डिता ¦ षट्त्रिंशत् ¦ तथा समारम्भा । अपि षट्त्रिंशत् ¦

–वे इतने समुच्चित छत्तीस है । –और समारम्भ भी छत्तीस है अर्थात

(७) प्रत्याख्यानमानकृतकायसंरम्भ (८) संज्वलनमानकृतकायसंरम्भ (९) अनन्तानुबन्धीमायाकृतकायसंरम्भ
(१०) अप्रत्याख्यानमायाकृतकायसंरम्भ (११) प्रत्याख्यानमायाकृतकायसंरम्भ (१२) संज्वलनमायाकृतकायसंरम्भ
(१३) अनन्तानुबन्धीलोभकृतकायसंरम्भ (१४) अप्रत्याख्यानलोभकृतकायसंरम्भ (१५) प्रत्याख्यानलोभकृतकायसंरम्भ
(१६) संज्वलनलोभकृतकायसंरम्भ (१७) अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितकायसंरम्भ (१८) अप्रत्याख्यानक्रोधकारितकायसंरम्भ
(१९) प्रत्याख्यानक्रोधकारितकायसंरम्भ (२०) संज्वलनक्रोधकारितकायसंरम्भ (२१) अनन्तानुबन्धीमानकारितकायसंरम्भ
(२२) अप्रत्याख्यानमानकारितकायसंरम्भ (२३) प्रत्याख्यानमानकारितकायसंरम्भ (२४) संज्वलनमानकारितकायसंरम्भ
(२५) अनन्तानुबन्धीमायाकारितकायसंरम्भ (२६) अप्रत्याख्यानमायाकारितकायसंरम्भ (२७) प्रत्याख्यानमायाकारितकायसंरम्भ
(२८) संज्वलनमायाकारितकायसंरम्भ (२९) अनन्तानुबन्धीलोभकारितकायसंरम्भ (३०) अप्रत्याख्यानलोभकारितकायसंरम्भ
(३१) प्रत्याख्यानलोभकारितकायसंरम्भ (३२) संज्वलनलोभकारितकायसंरम्भ (३३) अनन्तानुबन्धीक्रोधअनुमतकायसंरम्भ
(३४) अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतकायसंरम्भ (३५) प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतकायसंरम्भ (३६) संज्वलनक्रोधअनुमतकायसंरम्भ
(३७) अनन्तानुबन्धीमानअनुमतकायसंरम्भ (३८) अप्रत्याख्यानमानअनुमतकायसंरम्भ (३९) प्रत्याख्यानमानअनुमतकायसंरम्भ
(४०) संज्वलनमानअनुमतकायसंरम्भ (४१) अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतकायसंरम्भ (४२) अप्रत्याख्यानमायाअनुमतकायसंरम्भ
(४३) प्रत्याख्यानमायाअनुमतकायसंरम्भ (४४) संज्वलनमायाअनुमतकायसंरम्भ (४५) अनन्तानुबन्धीलोभअनुमतकायसंरम्भ
(४६) अप्रत्याख्यानलोभअनुमतकायसंरम्भ (४७) प्रत्याख्यानलोभअनुमतकायसंरम्भ (४८) संज्वलनलोभअनुमतकायसंरम्भ

वचनसंरम्भके अडतालीस ॥४८॥ भेद

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतवचनसंरम्भ [२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतवचनसंरम्भ [३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतवचनसंरम्भ
[४] संज्वलनक्रोधकृतवचनसंरंभ [५] अनन्तानुबन्धीमानकृतवचनसंरम्भ [६] अप्रत्याख्यानमानकृतवचनसंरम्भ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतवचनसंरंभ [८] संज्वलनमानकृतवचनसंरम्भ [९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतवचनसंरम्भ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतवचनसंरम्भ [११] प्रत्याख्यानमायाकृतवचनसंरम्भ [१२] संज्वलनमायाकृतवचनसंरम्भ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतवचनसंरम्भ [१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतवचनसंरम्भ [१५] प्रत्याख्यानलोभकृतवचनसंरम्भ

एते सपिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसंख्याः सम्भवन्ति ॥ चशब्दोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनकपायभेदकृतान्तर्भेदसमुच्चयार्थः ॥

एते॥ सपिण्डिता॥ जीवाधिकरण-आस्रवभेदा॥	=इतने जीवाधिकरण आस्रवके भेद समुच्चित होकर
अष्टोत्तर (१) शतसंख्याः॥ सम्भवन्ति। च-शब्द॥	=एक सौ आठ गणनामें हो जाते हैं (इस सूत्रमें) च शब्द
अनन्तानुबन्धी-	=अनंतानुबंधी (क्रोध-मान-माया-लोभ) अर्थात् जिससे अनंत संसारका कारण मिथ्यात्वभाव होता है
अप्रत्याख्यान-	=अप्रत्याख्यान (क्रोध मान-माया-लोभ) अर्थात् जिसके उदयसे एकदेश त्यागरूप श्रावकके व्रत भी किंचिन्मात्र न कर सके (अल्पत्, किंचित्)
प्रत्याख्यान-	=प्रत्याख्यान (क्रोध, मान, माया, लोभ) अर्थात् जिसके उदयसे समस्त महाव्रत रूप त्याग नहीं हो सके अथवा सकल संयम का ग्रहण न करसके
संज्वलन-	=संज्वलन (क्रोध, मान, माया, लोभ) अर्थात् जिसके उदय से संयमी तो रहे परंतु शुद्ध स्वभावमें वा शुद्धोपयोगरूपमें लीन न हो सके
कषाय भेदकृत-अन्तर्भेद-समुच्चय-अर्थः॥	=कषाय सम्बन्धके अन्तरंग भेदोंके संग्रहके लिये है अर्थात् पूर्वोक्त संरम्भ समारम्भ और आरम्भ के १०८ भेदोंको अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोंसे गुणा करनसे जीवाधिकरणके चार सौ बत्तीस ४३२ भेद इस प्रकार हो जाते हैं कि

कायसंरम्भके ४८ भेद ॥

(१) अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतकायसंरम्भ (२) अप्रत्याख्यानक्रोधकृतकायसंरम्भ (३) प्रत्याख्यानक्रोधकृतकायसंरम्भ
(४) संज्वलनक्रोधकृतकायसंरम्भ (५) अनन्तानुबन्धीमानकृतकायसंरम्भ (५) अप्रत्याख्यानमानकृतकायसंरम्भ

(१) सामायिककी जापमाला में एक सौ आठ (१०८) दाने होते हैं सो उपर्युक्त एकसौ आठ (१०८) आरम्भ जनित पापके आस्रवोंको दूर करने के लिये अथवा इन एक सौ आठ आरम्भों को छोड़कर जाप करने के लिये जैनियोंके अभिप्राय से दाने हैं ॥

(७) प्रत्याख्यानमानकृतकायसंरम्भ
(८) सञ्ज्वलनमानकृतकायसंरम्भ
(९) अनन्तानुबन्धीमायाकृतकायसंरम्भ
(१०) अप्रत्याख्यानमायाकृतकायसंरम्भ
(११) प्रत्याख्यानमायाकृतकायसंरम्भ
(१२) संज्वलनमायाकृतकायसंरम्भ
(१३) अनन्तानुबन्धीलोभकृतकायसंरम्भ
(१४) अप्रत्याख्यानलोभकृतकायसंरम्भ
(१५) प्रत्याख्यानलोभकृतकायसंरम्भ
(१६) संज्वलनलोभकृतकायसंरम्भ
(१७) अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितकायसंरम्भ
(१८) अप्रत्याख्यानक्रोधकारितकायसंरम्भ
(१९) प्रत्याख्यानक्रोधकारितकायसंरम्भ
(२०) सज्वलनक्रोधकारितकायसंरम्भ
(२१) अनन्तानुबन्धीमानकारितकायसंरम्भ
(२२) अप्रत्याख्यानमानकारितकायसंरम्भ
(२३) प्रत्याख्यानमानकारितकायसंरम्भ
(२४) सज्वलनमानकारितकायसंरम्भ
(२५) अनन्तानुबन्धीमायाकारितकायसंरम्भ
(२६) अप्रत्याख्यानमायाकारितकायसंरम्भ
(२७) प्रत्याख्यानमायाकारितकायसंरम्भ
(२८) संज्वलनमायाकारितकायसंरम्भ
(२९) अनन्तानुबन्धीलोभकारितकायसंरम्भ
(३०) अप्रत्याख्यानलोभकारितकायसंरम्भ
(३१) प्रत्याख्यानलोभकारितकायसंरम्भ
(३२) सज्वलनलोभकारितकायसंरम्भ
(३३) अनन्तानुबन्धीक्रोधअनुमतकायसंरम्भ
(३४) अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतकायसंरम्भ
(३५) प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतकायसंरम्भ
(३६) संज्वलनक्रोधअनुमतकायसंरम्भ
(३७) अनन्तानुबन्धीमानअनुमतकायसंरम्भ
(३८) अप्रत्याख्यानमानअनुमतकायसंरम्भ
(३९) प्रत्याख्यानमानअनुमतकायसंरम्भ
(४०) सज्वलनमानअनुमतकायसंरम्भ
(४१) अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतकायसंरम्भ
(४२) अप्रत्याख्यानमायाअनुमतकायसंरम्भ
(४३) प्रत्याख्यानमायाअनुमतकायसंरम्भ
(४४) सज्वलनमायाअनुमतकायसंरम्भ
(४५) अनन्तानुबन्धीलोभअनुमतकायसंरम्भ
(४६) अप्रत्याख्यानलोभअनुमतकायसंरम्भ
(४७) प्रत्याख्यानलोभअनुमतकायसंरम्भ
(४८) संज्वलनलोभअनुमतकायसंरम्भ

वचनसंरम्भके अडतालीस ॥४८॥ भेद

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतवचनसंरम्भ
[२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतवचनसंरम्भ
[३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतवचनसंरम्भ
[४] सज्वलनक्रोधकृतवचनसंरम्भ
[५] अनन्तानुबन्धीमानकृतवचनसंरम्भ
[६] अप्रत्याख्यानमानकृतवचनसंरम्भ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतवचनसंरम्भ
[८] सज्वलनमानकृतवचनसंरम्भ
[९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतवचनसंरम्भ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतवचनसंरम्भ
[११] प्रत्याख्यानमायाकृतवचनसंरम्भ
[१२] संज्वलनमायाकृतवचनसंरम्भ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतवचनसंरम्भ
[१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतवचनसंरम्भ
[१५] प्रत्याख्यानलोभकृतवचनसंरम्भ

[१६] संज्वलनलोभकृतवचनसरम्भ
[१७] अनन्तानुबंधीक्रोधकारितवचनसरम्भ
[१८] अप्रत्याख्यान क्रोधकारितवचनसरम्भ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितव नसरम्भ
[२०] संज्वलनक्रोधकारितवचनसंरम्भ
[२१] अनन्तानुबंधीमानकारितवचनसरम्भ
[२२] अप्रत्याख्यानमानकारितवचनसरम्भ
[२३] प्रत्याख्यानमानकारितवचनसरम्भ
[२४] संज्वलनमानकारितवचनसंरम्भ
[२५] अनन्तानुबंधीमायाकारितवचनसंरम्भ
[२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितवचनसरम्भ
[२७] प्रत्याख्यानमायाकारितवचनसंरंभ
[२८] संज्वलनमायाकारितवचनसरम्भ
[२९] अनन्तानुबंधीलोभकारितवचनसंरम्भ
(३०) अप्रत्याख्यानलोभकारितवचनसंरम्भ
[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितवचनसरम्भ
[३२] संज्वलनलोभकारितवचनसरम्भ
[३३] अनन्तानुबन्धीक्रोधअनुमतवचनसंरंभ
[३४] अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतवचनसंरंभ
[३५] प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतवचनसंरंभ
[३६] संज्वलनक्रोधअनुमतवचनसंरंभ
[३७] अनन्तानुबन्धीमानअनुमतवचनसंरंभ
[३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसंरंभ
[३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसंरंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतवचनसंरंभ
[४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतवचनसंरंभ
[४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसंरंभ
[४३] प्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसंरंभ
[४४] संज्वलनमायाअनुमतवचनसंरंभ
[४५] अनन्तानुबन्धीलोभअनुमतवचनसंरंभ
[४६] अप्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसंरंभ
[४७] प्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसंरंभ
[४८] संज्वलनलोभअनुमतवचनसरंभ

मनसंरम्भके अड़तालीस (४८) भेद

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतमनसंरंभ
[२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसरंभ
[३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसंरंभ
[४] संज्वलनक्रोधकृतमनसंरंभ
[५] अनन्तानुबन्धीमानकृतमनसंरंभ
[६] अप्रत्याख्यानमानकृतमनसंरंभ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतमनसंरंभ
[८] संज्वलनमानकृतमनसंरंभ
[९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतमनसंरंभ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतमनसंरंभ
[११] प्रत्याख्यानमायाकृतमनसंरंभ
[१२] संज्वलनमायाकृतमनसरंभ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतमनसरंभ
[१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतमनसंरंभ
[१५] प्रत्याख्यानलोभकृतमनसरंभ
[१६] संज्वलनलोभकृतमनसंरंभ
[१७] अनन्तानुबंधीक्रोधकारितमनसंरंभ
[१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसंरम्भ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसंरंभ
[२०] संज्वलनक्रोधकारितमनसंरंभ
[२१] अनन्तानुबन्धीमानकारितमनसंरंभ
२२ अप्रत्याख्यान मानकारितमनसंरंभ

[२५] अनन्तानुबंधीमायाकारितमनसंरंभ	[२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितमनसंरंभ	[२७] प्रत्याख्यानमायाकारितमनसंरंभ
[२८] संज्वलनमायाकारितमनसंरंभ	[२९] अनन्तानुबंधीलोभकारितमनसंरंभ	[३०] अप्रत्याख्यानलोभकारितमनसंरंभ
[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितमनसंरम्भ	[३२] संज्वलनलोभकारितमनसंरंभ	[३३] अनन्तानुबंधीक्रोधअनुमतमनसंरंभ
[३४] अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतमनसंरंभ	[३५] प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतमनसंरंभ	[३६] संज्वलनक्रोधअनुमतमनसंरंभ
[३७] अनन्तानुबंधीमानअनुमतमनसंरंभ	[३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतमनसंरंभ	[३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतमनसंरंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतमनसंरंभ	[४१] अनन्तानुबंधीमायाअनुमतमनसंरंभ	[४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतमनसंरंभ
[४३] प्रत्याख्यानमायाअनुमतमनसंरंभ	[४४] संज्वलनमायाअनुमतमनसंरंभ	[४५] अनन्तानुबंधीलोभअनुमतमनसंरंभ
[४६] अप्रत्याख्यानलोभअनुमतमनसंरंभ	[४७] प्रत्याख्यानलोभअनुमतमनसंरंभ	[४८] संज्वलनलोभअनुमतमनसंरंभ

(ऐसे तीनों स्थानों क ४८, ४८ ४८, अडतालीस अडतालीस, अडतालीस सरम्भ के १४४ भेद भये)

॥ कायसमारम्भके ४८ भेद ॥

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतकायसमारंभ	[२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतकायसमारंभ	[३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतकायसमारंभ
[४] संज्वलनक्रोधकृतकायसमारंभ	[५] अनन्तानुबन्धीमानकृतकायसमारंभ	[६] अप्रत्याख्यानमानकृतकायसमारंभ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतकायसमारंभ	[८] संज्वलनमानकृतकायसमारंभ	[९] अनन्तानुबंधीमायाकृतकायसमारंभ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतकायसमारंभ	[११] प्रत्याख्यानमायाकृतकायसमारंभ	[१२] संज्वलनमायाकृतकायसमारंभ
[१३] अनन्तानुबंधीलोभकृतकायसमारंभ	[१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतकायसमारंभ	[१५] प्रत्याख्यानलोभकृतकायसमारंभ
[१६] संज्वलनलोभकृतकायसमारंभ	[१७] अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितकायसमारंभ	[१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितकायसमारंभ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितकायसमारंभ	[२०] संज्वलनक्रोधकारितकायसमारंभ	[२१] अनन्तानुबंधीमानकारितकायसमारंभ
[२२] अप्रत्याख्यानमानकारितकायसमारंभ	[२३] प्रत्याख्यानमानकारितकायसमारंभ	[२४] संज्वलनमानकारितकायसमारंभ
[२५] अनन्तानुबंधीमायाकारितकायसमारंभ	[२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितकायसमारंभ	[२७] प्रत्याख्यानमायाकारितकायसमारंभ
[२८] संज्वलनमायाकारितकायसमारंभ	[२९] अनन्तानुबंधीलोभकारितकायसमारंभ	[३०] अप्रत्याख्यानलोभकारितकायसमारंभ

[१६] संज्वलनक्रोधकृतवचनसंरम्भ	[१७] अनन्तानुबन्धीमानकारितवचनसंरम्भ	[१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितवचनसंरम्भ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितवचनसंरम्भ	[२०] संज्वलनक्रोधकारितवचनसंरम्भ	[२१] अनन्तानुबन्धीमानकारितवचनसंरम्भ
[२२] अप्रत्याख्यानमानकारितवचनसंरम्भ	[२३] प्रत्याख्यानमानकारितवचनसंरम्भ	[२४] संज्वलनमानकारितवचनसंरम्भ
[२५] अनन्तानुबन्धीमायाकारितवचनसंरम्भ	[२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितवचनसंरम्भ	[२७] प्रत्याख्यानमायाकारितवचनसंरम्भ
[२८] संज्वलनमायाकारितवचनसंरम्भ	[२९] अनन्तानुबन्धीलोभकारितवचनसंरम्भ	[३०] अप्रत्याख्यानलोभकारितवचनसंरम्भ
[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितवचनसंरम्भ	[३२] संज्वलनलोभकारितवचनसंरम्भ	[३३] अनन्तानुबन्धीक्रोधअनुमतवचनसंरंभ
[३४] अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतवचनसंरंभ	[३५] प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतवचनसंरंभ	[३६] संज्वलनक्रोधअनुमतवचनसंरंभ
[३७] अनन्तानुबन्धीमानअनुमतवचनसंरंभ	[३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसंरंभ	[३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसंरंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतवचनसंरंभ	[४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतवचनसंरंभ	[४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसंरंभ
[४३] प्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसंरंभ	[४४] संज्वलनमायाअनुमतवचनसंरंभ	[४५] अनन्तानुबन्धीलोभअनुमतवचनसंरंभ
[४६] अप्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसंरंभ	[४७] प्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसंरंभ	[४८] संज्वलनलोभअनुमतवचनसंरंभ

मनसंरम्भके अड़तालीस (४८) भेद

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतमनसंरंभ	[२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसंरंभ	[३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसंरंभ
[४] संज्वलनक्रोधकृतमनसंरंभ	[५] अनन्तानुबन्धीमानकृतमनसंरंभ	[६] अप्रत्याख्यानमानकृतमनसंरंभ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतमनसंरंभ	[८] संज्वलनमानकृतमनसंरंभ	[९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतमनसंरंभ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतमनसंरंभ	[११] प्रत्याख्यानमायाकृतमनसंरंभ	[१२] संज्वलनमायाकृतमनसंरंभ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतमनसंरंभ	[१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतमनसंरंभ	[१५] प्रत्याख्यानलोभकृतमनसंरंभ
[१६] संज्वलनलोभकृतमनसंरंभ	[१७] अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितमनसंरंभ	[१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसंरम्भ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसंरंभ	[२०] संज्वलनक्रोधकारितमनसंरंभ	[२१] अनन्तानुबन्धीमानकारितमनसंरंभ
[२२] [illegible]		

[३७] अनन्तानुबंधीमानअनुमतवचनसमारंभ [३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसमारंभ [३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसमारंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतवचनसमारंभ [४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतवचनसमारंभ [४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसमारंभ
[४३] प्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसमारंभ [४४] संज्वलनमायाअनुमतवचनसमारंभ [४५] अनन्तानुबंधीलोभअनुमतवचनसमारंभ
[४६] अप्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसमारंभ [४७] प्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसमारंभ [४८] संज्वलनलोभअनुमतवचनसमारंभ

॥ मनसमारम्भके ४८ भेद ॥

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतमनसमारंभ [२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसमारंभ [३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसमारंभ
[४] संज्वलनक्रोधकृतमनसमारंभ [५] अनन्तानुबन्धीमानकृतमनसमारंभ [६] अप्रत्याख्यानमानकृतमनसमारंभ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतमनसमारंभ [८] संज्वलनमानकृतमनसमारंभ [९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतमनसमारंभ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतमनसमारंभ [११] प्रत्याख्यानमायाकृतमनसमारंभ [१२] संज्वलनमायाकृतमनसमारंभ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतमनसमारंभ [१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतमनसमारंभ [१५] प्रत्याख्यानलोभकृतमनसमारंभ
[१६] संज्वलनलोभकृतमनसमारंभ [१७] अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितमनसमारंभ [१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसमारंभ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसमारंभ [२०] संज्वलनक्रोधकारितमनसमारंभ [२१] अनन्तानुबंधीमानकारितमनसमारंभ
[२२] अप्रत्याख्यानमानकारितमनसमारंभ [२३] प्रत्याख्यानमानकारितमनसमारंभ [२४] संज्वलनमानकारितमनसमारंभ
[२५] अनन्तानुबन्धीमायाकारितमनसमारंभ [२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितमनसमारंभ [२७] प्रत्याख्यानमायाकारितमनसमारंभ
[२८] संज्वलनमायाकारितमनसमारंभ [२९] अनन्तानुबंधीलोभकारितमनसमारंभ [३०] अप्रत्याख्यानलोभकारितमनसमारंभ
[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितमनसमारंभ [३२] संज्वलनलोभकारितमनसमारंभ [३३] अनन्तानुबंधीक्रोधअनुमतमनसमारंभ
[३४] अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतमनसमारंभ [३५] प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतमनसमारंभ [३६] संज्वलनक्रोधअनुमतमनसमारंभ
[३७] अनन्तानुबन्धीमानअनुमतमनसमारंभ [३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतमनसमारंभ [३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतमनसमारंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतमनसमारंभ [४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतमनसमारंभ [४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतमनसमारंभ

[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितकायसमारम्भ	[३२] संज्वलनलोभकारितकायसमारम्भ	[३३] अनन्तानुबन्धीक्रोधअनुमतकायसमारम्भ
[३४] अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतकायसमारम्भ	[३५] प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतकायसमारम्भ	[३६] संज्वलनक्रोधअनुमतकायसमारम्भ
[३७] अनन्तानुबन्धीमानअनुमतकायसमारम्भ	[३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतकायसमारम्भ	[३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतकायसमारम्भ
[४०] संज्वलनमानअनुमतकायसमारम्भ	[४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतकायसमारम्भ	[४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतकायसमारंभ
[४३] प्रत्याख्यानमायाअनुमतकायसमारंभ	[४४] संज्वलनमायाअनुमतकायसमारम	[४५] अनन्तानुबन्धीलोभअनुमतकायसमारंभ
[४६) अप्रत्याख्यानलोभअनुमतकायसमारंभ	[४७] प्रत्याख्यानलोभअनुमतकायसमारंभ	[४८] संज्वलनलोभअनुमतकायसमारंभ

॥ वचन समारम्भ के अड़तालीस (४८) भेद ॥

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतवचनसमारंभ	[२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतवचनसमारम	[३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतवचनसमारंभ
[४] संज्वलनक्रोधकृतवचनसमारंभ	[५] अनन्तानुबन्धीमानकृतवचनसमारंभ	[६] अप्रत्याख्यानमानकृतवचनसमारंभ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतवचनसमारंभ	[८] संज्वलनमानकृतवचनसमारंभ	[९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतवचनसमारम
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतवचनसमारंभ	[११) प्रत्याख्यानमायाकृतवचनसमारभ	[१२] संज्वलनमायाकृतवचनसमारंभ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतवचनसमारम	[१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतवचनसमारम	[१५) प्रत्याख्यानलोभकृतवचनसमारंभ
[१६] संज्वलनलोभकृतवचनसमारम	[१७] अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितवचनसमारंभ	[१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितवचनसमारम
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितवचनसमारंभ	[२०] संज्वलनक्रोधकारितवचनसमारंभ	[२१] अनन्तानुबन्धीमानकारितवचनसमारंभ
[२२] अप्रत्याख्यानमानकारितवचनसमारंभ	[२३] प्रत्याख्यानमानकारितवचनसमारम	[२४] संज्वलनमानकारितवचनसमारम्भ
[२५] अनन्तानुबन्धीमायाकारितवचनसमारम्भ	[२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितवचनसमारम्भ	[२७] प्रत्याख्यानमायाकारितवचनसमारम्भ
[२८] संज्वलनमायाकारितवचनसमारम्भ	[२९] अनन्तानुबन्धीलोभकारितवचनसमारम्भ	[३०] अप्रत्याख्यानलोभकारितवचनसमारम्भ
[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितवचनसमारम्भ	[३२] संज्वलनलोभकारितवचनसमारम्भ	[३३] अनन्तानुबन्धीक्रोधअनुमतवचनसमारंभ
[illegible]	[३५] [illegible]	[३६] [illegible]

[३७] अनन्तानुबंधीमानअनुमतवचनसमारंभ [३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसमारंभ [३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतवचनसमारंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतवचनसमारंभ [४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतवचनसमारंभ [४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसमारंभ
[४३] प्रत्याख्यानमायाअनुमतवचनसमारंभ [४४] संज्वलनमायाअनुमतवचनसमारंभ [४५] अनन्तानुबंधीलोभअनुमतवचनसमारंभ
[४६] अप्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसमारंभ [४७] प्रत्याख्यानलोभअनुमतवचनसमारंभ [४८] संज्वलनलोभअनुमतवचनसमारंभ

॥ मनसमारम्भके ४८ भेद ॥

[१] अनन्तानुबन्धीक्रोधकृतमनसमारंभ [२] अप्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसमारंभ [३] प्रत्याख्यानक्रोधकृतमनसमारंभ
[४] संज्वलनक्रोधकृतमनसमारंभ [५] अनन्तानुबन्धीमानकृतमनसमारंभ [६] अप्रत्याख्यानमानकृतमनसमारंभ
[७] प्रत्याख्यानमानकृतमनसमारंभ [८] संज्वलनमानकृतमनसमारंभ [९] अनन्तानुबन्धीमायाकृतमनसमारंभ
[१०] अप्रत्याख्यानमायाकृतमनसमारंभ [११] प्रत्याख्यानमायाकृतमनसमारंभ [१२] संज्वलनमायाकृतमनसमारंभ
[१३] अनन्तानुबन्धीलोभकृतमनसमारंभ [१४] अप्रत्याख्यानलोभकृतमनसमारंभ [१५] प्रत्याख्यानलोभकृतमनसमारंभ
[१६] संज्वलनलोभकृतमनसमारंभ [१७] अनन्तानुबन्धीक्रोधकारितमनसमारंभ [१८] अप्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसमारंभ
[१९] प्रत्याख्यानक्रोधकारितमनसमारंभ [२०] संज्वलनक्रोधकारितमनसमारंभ [२१] अनन्तानुबंधीमानकारितमनसमारंभ
[२२] अप्रत्याख्यानमानकारितमनसमारंभ [२३] प्रत्याख्यानमानकारितमनसमारंभ [२४] संज्वलनमानकारितमनसमारंभ
[२५] अनन्तानुबंधीमायाकारितमनसमारंभ [२६] अप्रत्याख्यानमायाकारितमनसमारंभ [२७] प्रत्याख्यानमायाकारितमनसमारंभ
[२८] संज्वलनमायाकारितमनसमारंभ [२९] अनन्तानुबंधीलोभकारितमनसमारंभ [३०] अप्रत्याख्यानलोभकारितमनसमारंभ
[३१] प्रत्याख्यानलोभकारितमनसमारंभ [३२] संज्वलनलोभकारितमनसमारंभ [३३] अनन्तानुबंधीक्रोधअनुमतमनसमारंभ
[३४] अप्रत्याख्यानक्रोधअनुमतमनसमारंभ [३५] प्रत्याख्यानक्रोधअनुमतमनसमारंभ [३६] संज्वलनक्रोधअनुमतमनसमारंभ
[३७] अनन्तानुबन्धीमानअनुमतमनसमारंभ [३८] अप्रत्याख्यानमानअनुमतमनसमारंभ [३९] प्रत्याख्यानमानअनुमतमनसमारंभ
[४०] संज्वलनमानअनुमतमनसमारंभ [४१] अनन्तानुबन्धीमायाअनुमतमनसमारंभ [४२] अप्रत्याख्यानमायाअनुमतमनसमारंभ

कश्चित्, अत एव मध्यपुरुषवृत्तान्त बहुधा परमुखेनैव स्याद्वर्तं यत्र कथनापि सामस्त्येन तथापि अल्पपर्योगेणेति नाम्ना

ममावरण इति—अमावरणाभिग्रहे पञ्चैवाकारा भवन्ति, शेषेष्वभिग्रहेषु दण्डकप्रमार्जनादिषु चत्वार इति गाथाऽक्षरार्थः॥१०१॥ भावार्थस्तु 'अभिग्गहेसु पाउरणे कोइ पच्चक्खाति, तस्स पंच—अणाभोग० सहसागार० (महत्तरा०) चोलपट्टागार० सव्वसमाहिवत्तियागार० सेसेसु चोलपट्टगागारो णत्थि, निव्विगतीए अट्ठ नव य आगारा इत्युक्तं, तत्थ दस विगतीओ—खीरं दधि णवणीयं घयं तेल्ल गुडो मधुं मज्ज मंस ओगाहिमग च, तत्थ पंच खीराणि गावीणं महिसीणं अजाण एलियाणं उट्टीणं, उट्टीणं दधिं णत्थि, णवणीतं घतंपि, ते दधिणा विणा णत्थित्ति, दधिणवणीतघताणि चत्तारि, तेल्लाणि चत्तारि तल (तिल) अतसिकुसुंभ सरिसवाण, एताओ विगतीओ, सेसाणि तेल्लाणि निव्विगतीतो, लेवाडाणि पुण होन्ति, दो वियडा—कट्ठणिप्फण्णं उच्छुमाइपिट्ठण य फाणित्ता, दोण्णि गुडा दवगुडो पिंडगुडो य, मधूणि तिण्णि, मच्छियं कोन्तियं भामरं, पोग्गलाणि तिण्णि, जलयर थलयरं खहयरं, अथवा चम्म मंस सोणित, एयाओ णव विगतीतो, ओगाहिमगं दसमं, तावियाए अद्दहियाए एग ओगाहिमगं चलचलेंत पचति सपेण पितियततियं, सेसाणि अ ओगवाहीणं कप्पति, अति णज्जति अह एगेण चेव

१ अभिग्रहेषु प्रावरणं कोऽपि प्रत्याख्याति तस्य पञ्च—अनाभोग सहसा महत्तरा चोलपट्टा० सर्वसमाधि शेषेषु चोलपट्टकाकारो नास्ति निर्विकृतौ अष्टौ नव वाऽऽकाराः। तत्र विकृतयो दश—क्षीरं दधि नवनीत घृत तैल गुडो मधु मद्य मांसं अवगाहिमं च तत्र पञ्च क्षीराणि गवां महिषीणां अजानां एडकानामुष्ट्रीणां उष्ट्रीणां दधि नास्ति नवनीतं घृतमपि ते दध्ना विना (न स्त इति) दधिनवनीतघृतानि चत्वारि तैलानि चत्वारि तिलातसीकुसुम्भसर्षपाणां एता विकृतयः शेषाणि तैलानि निर्विकृतयः लेपकृतानि पुनर्भवन्ति द्वे मद्ये—काष्ठनिष्पन्नं इक्ष्वादिपिष्टेन च फाणितेन द्वौ गुडौ—द्रवगुडः पिण्डगुडश्च, मधूनि त्रीणि—माक्षिकं कौन्तिकं भ्रामरं पुद्गलानि त्रीणि—जलचरं स्थलचरं खचरं च अथवा चर्म मांसं शोणित एता नव विकृतयः अवगाहिमं दशमं तापिकायाम् स्नेहपूर्णायां एकं अवगाहिमं चलचलत् पच्यते प्रथमं द्वितीयं तृतीयं च शेषाणि च योगवाहिनां कल्पन्ते यदि ज्ञायते एकेनैव

तहेव'त्ति गाथार्थः ॥ १५९९ ॥ 'सप्तैकस्थानस्य तु' एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं तत्र सप्ताकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्र— 'एगट्ठाण'मित्यादि एगट्ठाणगं जहा अंगोवंगं ठवियं तेण तहावट्ठितेणेव समुद्दिसियव्वं, आगारा से सत्त, आउंटणपसारणा णत्थि, सेसं जहा एक्कासणए। अष्टैवाचाम्लस्याकारा, इदं च बहुवक्तव्यमितिकृत्वा भेदेन वक्ष्यामः 'गोण्णं णामं तिविधं' मित्यादिना ग्रन्थेन, असम्मोहार्थं तु गाथैव व्याख्यायते, 'पञ्चाभक्तार्थस्य तु' न भक्तार्थोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः, तस्य पंचाकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रं—'सूरे उग्गते' इत्यादि, तस्स पंच आगारा—अणाभोग० सहसा० पारि० महत्तरा० सव्वसमाधि० जति तिविधस्स पच्चक्खाति तो विकिंचणिया कप्पति, जति चतुव्विधस्स पच्चक्खाति पाणं च णत्थि तदा न कप्पति, तस्थ छ आगारा—लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरति, वुत्तत्था एते छप्पि, एतेन षट् पान इत्येतदपि व्याख्यातमेव, 'चरिमे च चत्वार' इत्येतच्चरिमं दुविधं—दिवसचरिमं भवच रिमं वा, दिवसचरिमस्स चत्तारि, अण्णत्थणाभोगेणं सहसाकारेणं महत्तराकारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, भव चरिमं आवज्जीवियं तस्सवि एते चत्तारित्ति गाथार्थः ॥ १६०० ॥ पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे, निर्विकृतौ अष्टौ नव वा आकाराः,

१ एकस्थानकं यथा अङ्गोपाङ्गं स्थापितं तेन तथावस्थितेनैव समुद्देष्टव्यं, आकारास्तस्मिन् सप्त, आकुञ्चनप्रसारणं नास्ति, शेषं यथैकाशनके। तत्र पञ्चाकाराः—अनाभोग सहसा पारि० महत्तराकार सर्वसमाधि यदि त्रिविधं प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकी कल्पते यदि चतुर्विधं प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्पते तत्र षडाकाराः—लेपकृता वा अलेपकृता वा अच्छेन वा बहलेन वा ससिक्थेन वा असिक्थेन वा व्युत्सृजति उक्तार्थाः एते षडपि, चरमं द्विविध—दिवसचरमं भवचरमं च दिवसचरमे चत्वारः अनाभोग सहसा महत्तरा सर्वसमाधि भवचरमं यावज्जीविकं तस्मिन्नेते चत्वारः।

पेच्चक्खाता, आसुकारिसं च दुक्खं आतं अण्णस्स था, ताहे तस्स पसमणणिमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा दिज्जति, एत्थंतरा णाते तहेव विवेगो, सत्तेव च पुरिमार्द्धे-पुरिमार्द्ध प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यानं गृह्यते तत्र सप्त आकारा भवन्ति, इह च इद सूत्रं-'सूरे उग्गते'इत्यादि, षडाकारा गताथाः, नवरं महत्तराकारः सप्तमः, असावपि सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्याने साकारे कृताधिकारे अतएव व्याख्यात इति न प्रतन्यत, एकासने अष्टावेव, एकाशन नाम सकृदुपविष्टपुताचालनेन भोजनं, तत्राष्टावाकारा भवन्ति, इह चदं सूत्रं—

'एकासण'मित्यादि 'अण्णत्थ अणाभोगेणं सहसाकारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरति। (सूत्र)

अणाभोगसहसाकारा तहेव, सागारियं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगतं जति वोलति पडिच्छति, अह थिरं ताहे सज्झायवाघातोत्ति उट्ठेउं अण्णत्थ गंतूणं समुद्दिसति, हत्थं पादं वा सीसं वा(माउंटज्ज)पसारेज्ज वा ण भज्जति, अब्भुट्ठाणारिहो आयरिओ पाहुणगो वा आगतो अब्भुट्ठतव्वं तस्स, एवं समुद्दिट्ठस्स पारिट्ठावणिया जति होज्ज कप्पति, महत्तरागारसमाधि तु

1 प्रत्याख्याता आशुघाति च दुःखं आतङ्कस्य वा तदा तस्य प्रशमनानिमित्तं पार्यते औषधं वा दीयते अत्रान्तरे ज्ञाते तथैव विवेकः। अनाभोगसहसाकारौ तथैव सागारिकोऽर्धसमुद्दिष्टे आगतः यदि व्यतिक्रमिष्यति प्रतीक्ष्यते अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायव्याघात इति उत्थायान्यत्र गत्वा समुद्दिश्यते हस्तं पादं वा शीर्षं वा आकुञ्चयेत् प्रसारयेत् वा न भज्यते अभ्युत्थानार्ह आचार्यः प्राघूर्णको वाऽऽगतोऽभ्युत्थातव्यं तस्य एवं समुद्दिष्टे पारिष्ठापनिकी यदि भवेत् कल्पते महत्तराकारसमाधी तु तथैव।

सहितं गृह्यते, तत्र प्राबेवाकारो, आकारो हि नाम प्रत्याख्यानापवादहेतुः, इह च सूत्र 'सूरे उग्गए णमोक्कारसहियं पच्चक्खाइ' इत्यादि सागारं व्याख्यातमेव, षट् चेति पौरुष्यां तु, इह च पौरुषी नाम-प्रत्याख्यानविशेषस्तस्यां षट् आकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रम्—

पोरुसिं पच्चक्खाति, उग्गते सूरे चउव्विहंपि आहार असण ४ अण्णत्थऽणाभोगेण सहसाकारेण पच्छन्नकालेण दिसामोहेण साधुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेण वोसिरइ ।

अनाभोगसहसाकारसंगतिः पूर्ववत्, प्रच्छन्नकालादीनां त्विद स्वरूपं-पच्छण्णातो दिसा उ रएण रेणुणा पव्वएण वा अण्णएण वा अंतरिते सूरो ण दीसति, पोरुसी पुण्णात्तिकातु पारितो, पच्छा णातं ताहे ठाइतव्व ण भग्ग, अवि भुजति सो भग्ग, एवं सव्वेहिवि, दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हिवि खेत्ते दिसामोहो भवति, सो पुरिमं पच्छिमं दिसं जाणति, एवं सो दिसामोहेण—अइउग्गतंपि सूरं दट्ठुं उस्सूरीभूतंसि मण्णति णाते ठाति, साधुणो भणंति-उग्घाडपोरुसी ताव सो पच्चमितो, पारित्ता जिणति अण्णो वा जिणइ, तेणं से भुजंतस्स कहितं ण पूरितत्ति, ताहे ठाइयव्व, समाधी णाम तेण य पोरुसी

१ प्रच्छन्ना दिशो रजसा रेणुना पर्वतेन वाऽन्येन वाऽन्तरिते सूर्यो न दृश्यते पौरुषी पूर्णेतिकृत्वा पारितवान् पश्चात् ज्ञाते तदा स्थातव्यं न भग्नं यदि भुङ्क्ते तदा भग्न सर्वैरप्येवं दिग्मोहेन कस्यचित् पुरुषस्य कस्मिन्नपि क्षेत्रे दिग्मोहो भवति स पूर्वां पश्चिमां दिशं जानाति एवं स दिग्मोहेन अतिरोद्गतमपि सूर्यं दृष्ट्वा उत्सूर्यीभूतमिति मन्यते ज्ञाते तिष्ठति साधवो भणन्ति- उद्घाटा पौरुषी तावत् स प्रतिनिवृत्तः पारयित्वा जिमति अन्यो वा जिमति तेन तस्य भुञ्जानस्य कथितं न पूरितमिति तदा स्थातव्यं । समाधिर्नाम तेन च पौरुषी

पच्चक्खाते, आसुकारियं च दुक्खं जातं अण्णस्स वा, ताहे तस्स पसमणणिमित्तं पारावियस्स ओसहं वा दिज्जति, एत्थंतरा णाते तहेव विवेगो, सहेव च पुरिमार्द्धे-पुरिमार्द्धे प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यानं गृह्यते तत्र सप्त आकारा भवन्ति, इह च इदं सूत्रं-'सूरे उग्गते'इत्यादि, पञ्चाकारा गतार्थाः, नवरं महत्तराकारः सप्तमः, यद्यपि सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्याने साकारे कृताधिकारे अत्रैव व्याख्यात इति न प्रतन्यते, एकाशने अष्टावेव, एकाशनं नाम सकृदुपविष्टपुताचालनेन भोजनं, तत्रा ष्टावाकारा भवन्ति, इह चेदं सूत्रं—

'एक्कासण'मित्यादि 'अण्णत्थ अणाभोगेणं सहसाकारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भु ट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरति। (सूत्र)

अणाभोगसहसाकारा तहेव, सागारियं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगतं जति वोलति पडिच्छति, अह थिरं ताहे सज्झायवा घातोत्ति उट्ठेउं अण्णत्थ गंतूणं समुद्दिसति, हत्थं पादं वा सीसं वा(आउंटेज्ज)पसारेज्ज वा ण भज्जति, अब्भुट्ठाणारिहो आय रिओ पाहुणगो वा आगतो अब्भुट्ठेतव्वं तस्स, एवं समुद्दिट्ठस्स परिट्ठावणिया जति होज्ज कप्पति, महत्तरागारसमाधि तु

1 प्रत्याख्याता आशुकारि च दुःखं जातमन्यस्य वा तदा तस्य प्रशमनानिमित्तं पार्यते औषधं वा दीयते अत्रान्तरे ज्ञाते तथैव विवेकः। अनाभोग सहसाकारौ तथैव सागारिकेऽर्धसमुद्दिष्टे आगतः यदि व्यतिक्रामति प्रतीक्ष्यते अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायव्याघात इति उत्थायान्यत्र गत्वा समुद्दिशते हस्तं पादं वा शीर्षं वा आकुञ्चयेत् प्रसारयेत् वा न भज्यते, अभ्युत्थानार्ह आचार्यः प्राघूर्णको वाऽऽगतोऽभ्युत्थातव्यं तस्य, एवं समुद्दिष्टे पारिष्ठापनिकी यदि भवेत् कल्पते महत्तराकारसमाधी तु तथैव।

फासिय पालिय चेव, सोहिय तीरियं तहा । किट्टिअमाराहिअ चेव, एरिसयमी पयइयव्वं ॥ १५९१ ॥

स्पृष्टं–प्रत्याख्यानग्रहणकाले विधिना प्राप्तं पालितं चैव–पुनः पुनरुपयोगप्रतिजागरणेन रक्षितं शोभितं–गुर्वादिप्रदानशेषभोजनासेवनेन तीरितं–पूर्णेऽपि कालावधौ किञ्चित्कालावस्थानेन कीर्तितं–भोजनवेलायाममुकं मया प्रत्याख्यातं तत् पूर्णमधुना भोक्ष्य इत्युच्चारणेन आराधितं–तथैव एभिरेव प्रकारैः सम्पूर्णनिष्ठां नीतं यस्मादेवंभूतमेव सदाज्ञापालनादप्रमादाच्च महत्कर्मक्षयकारणं तस्माद् ईदृशि प्रयतितव्यमिति एवंभूत एव प्रत्याख्याने यत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥ १५९२ ॥ साम्प्रतमनन्तरपारम्पर्येण सत्प्रत्याख्यानगुणानाह–

पच्चक्खाणम्मि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं । आसववुच्छेएण तण्हावुच्छेअणं होइ ॥ १५९४ ॥

तण्हावोच्छेदेण य अउलोवसमो भवे मणुस्साणं । अउलोवसमेण पुणो पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥ १५९५ ॥

तत्तो चरित्तधम्मो कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु । तत्तो केवलनाणं तओ अ मुक्खो सयासुक्खो ॥ १५९६ ॥

प्रत्याख्याने कृते–सम्यग्निवृत्तौ कृतायां किम् ?–आश्रवद्वाराणि भवन्ति पिहितानि–तद्विषयप्रतिबद्धानि कर्मबन्धद्वाराणि भवन्ति स्थगितानि, तथाश्रवव्यवच्छेदेन च कर्मबन्धद्वारस्थगनेन च संवरणेनेत्यर्थः, किं ?–तृष्णाव्यवच्छेदनं भवति–तद्विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ १५९४ ॥ तृष्णाव्यवच्छेदेन च तद्विषयाभिलाषनिवृत्त्या च अतुलः–अनन्यसदृशः उपशमो–मध्यस्थपरिणामो भवति मनुष्याणां–जायते पुरुषाणां, पुरुषप्रणीतः पुरुषप्रधानश्च धर्म इति ख्यापनार्थं मनुष्यग्रहणम्, अन्यथा स्त्रीणामपि भवत्येव, अतुलोपशमेन पुनः–अनन्यसदृशमध्यस्थपरिणामेन पुनः

प्रत्याख्यानं—सफलकं भवति—शुद्धं जायते निष्कलङ्कमिति गाथार्थः ॥ १५९५ ॥ ततः प्रत्याख्यानामनुपालितधर्मः स्फुरतीति वाक्यशेषः, कर्मविवेकः—कर्मनिर्जरा ततः—चारित्रधर्मात्, तत्क्षेति द्विरावर्त्यते ततश्च—तस्मात् कर्मविवेकात् 'अपूर्व'मिति क्रमेणापूर्वकरणं भवति, ततः—अपूर्वकरणाच्छ्रेणिक्रमेण केवलज्ञानं, ततश्च—केवलज्ञानात् भवोपग्राहिकर्मक्षयेण मोक्षः सदासौख्यः—अपवर्गो नित्यसुखो भवति, एवमिदं प्रत्याख्यानं सकलकल्याणैककारणं यतो यत्नेन कर्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १५९६ ॥ इदं च प्रत्याख्यानं महोपायैर्भेदाद् द्वादशविधं भवति आकारसमन्वितं वा गृह्यते पाल्यते वा, अत इदमभिधित्सुराह—

नमुक्कारपोरिसीए पुरिमड्ढेगासणेगठाणे य । आयंबिल अभत्तट्ठे चरमे य अभिग्गहे विगई ॥ १५९७ ॥
दो छच्च सत्त अट्ठ सत्तट्ठ य पंच छच्च पाणंमि । चउ पंच अट्ठ नव य पत्तेयं पिंडए नवए ॥ १५९८ ॥
दोच्चेव नमुक्कारे आगारा छच्च पोरिसीए उ । सत्तेव य पुरिमड्ढे एगासणगंमि अट्ठेव ॥ १५९९ ॥
सत्तेगट्ठाणस्स उ अट्ठेवायंबिलंमि आगारा । पंचेव अभत्तट्ठे छप्पाणे चरिमि चत्तारि ॥ १६०० ॥
पंच चउरो अभिग्गहि निव्वीए अट्ठ नव य आगारा । अप्पाउरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥ १६०१ ॥

नमस्कार इत्युपलक्षणात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्धे एकाशने एकस्थाने च आचाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ, किं ?, यथासंख्यमेते आकाराः, द्वौ षट् च सप्त अष्टौ सप्ताष्टौ पञ्च षट् पाने चतुः पञ्च अष्टौ नव प्रत्येकं पिण्डको नवकः इति गाथाद्वयार्थः ॥ १५९७–१५९८ ॥ भावार्थमाह—द्वावेव नमस्कारे आकारौ, इह च नमस्कारग्रहणान्नमस्कार

फासिय पालिय चेव, सोहिय तीरिय तहा । किट्टिअमाराहिअ चेव, एरिसयमी पयइयव्व ॥ १५९३ ॥

स्पृष्टं—प्रत्याख्यानग्रहणकाले विधिना प्राप्तं पालितं चैव—पुनः पुनरुपयोगप्रतिजागरणेन रक्षितं शोभितं—गुर्वादिप्रदानशेषभोजनासेवनेन तीरितं—पूर्णेऽपि कालावधौ किञ्चित्कालावस्थानेन कीर्तितं—भोजनवेलायाममुकं मया प्रत्याख्यातं तत् पूर्णमधुना भोक्ष्य इत्युच्चारणेन आराधितं—तथैव एभिरेव प्रकारैः सम्पूर्णैर्निष्ठां नीतं यस्मादेवंभूतमेव तदाज्ञापालनादप्रमादाच्च महत्कर्मक्षयकारणं तस्माद् ईदृक्षि प्रयतितव्यमिति एवंभूत एव प्रत्याख्याने यत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥ १५९३ ॥ साम्प्रतमनन्तरपारम्पर्येण तत्प्रत्याख्यानगुणानाह—

पच्चक्खाणमि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं । आसववुच्छेएण तण्हावुच्छेअणं होइ ॥ १५९४ ॥

तण्हावोच्छेदेण य अउलोवसमो भवे मणुस्साणं । अउलोवसमेण पुणो पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥ १५९५ ॥

तत्तो चरित्तधम्मो कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु । तत्तो केवलनाणं तओ अ मुक्खो सयासुक्खो ॥ १५९६ ॥

प्रत्याख्याने कृते—सम्यग्निवृत्तौ कृतायां किम् ?—आश्रवद्वाराणि भवन्ति पिहितानि—तद्विषयप्रतिबद्धानि कर्मबन्धद्वाराणि भवन्ति स्थगितानि, तथाहि—आश्रवव्यवच्छेदेन च कर्मबन्धद्वारस्थगनेन च संवरणेनेत्यर्थः, किं ?—तृष्णाव्यवच्छेदनं भवति—तद्विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ १५९४ ॥ तृष्णाव्यवच्छेदेन च तद्विषयाभिलाषनिवृत्त्या च अतुलः—अनन्यसदृशः उपशमो—मध्यस्थपरिणामो भवति मनुष्याणां—आयते पुरुषाणां, पुरुषप्रणीतः पुरुषप्रधानश्च धर्म इति स्थापनार्थं मनुष्यग्रहणम्, अन्यथा स्त्रीणामपि भवत्येव, अतुलोपशमेन पुनः—अनन्यसदृशमध्यस्थपरिणामेन पुनः

प्रत्याख्यानं—एकलक्षणं भवति—शुद्धं आयते निष्कलङ्कमिति गाथार्थः ॥ १५९५ ॥ ततः प्रत्याख्यानाच्छ्रुतचारित्रधर्मः स्फुरतीति वाक्यशेषः, कर्मविवेकः—कर्मनिर्जरा ततः—चारित्रधर्मात्, ततश्चेति क्रियावर्त्तते ततश्च—तस्माच्च कर्मविवेकात् 'अपूर्व'मिति क्रमेणापूर्वकरण भवति, ततः—अपूर्वकरणात्क्षपकश्रेणिक्रमेण केवलज्ञानं, ततश्च—केवलज्ञानात् भवोपग्राहिकर्मक्षयेण मोक्षः सदासौख्यः—अपवर्गो नित्यसुखो भवति, एवमिदं प्रत्याख्यान एकान्तकल्याणैककारणं अतो यत्नेन कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १५९६ ॥ इदं च प्रत्याख्यानं महोपाधिभेदात् द्वादशविधं भवति आकारसमन्वितं वा गृह्यते पाल्यते वा, अत इदमभिधित्सुराह—

नमुक्कारपोरिसीए पुरिमड्ढेगासणेगठाणे य । आयंबिल अभत्तट्ठे चरिमे य अभिग्गहे विगई ॥ १५९७ ॥
दो चेव सत्त अट्ठ सत्तट्ठ य पंच छच्च पाणंमि । चउ पंच अट्ठ नव य पत्तेयं पिंडए नवए ॥ १५९८ ॥
दोच्चेव नमुक्कारे आगारा छच्च पोरिसीए उ । सत्तेव य पुरिमड्ढे एगासणगंमि अट्ठेव ॥ १५९९ ॥
सत्तेगट्ठाणस्स उ अट्ठेवायंबिलंमि आगारा । पंचेव अभत्तट्ठे छप्पाणे चरिमि चत्तारि ॥ १६०० ॥
पंच चउरो अभिग्गहि निव्वीए अट्ठ नव य आगारा । अप्पाउरणे पंच उ हवंति सेसेसु चत्तारि ॥ १६०१ ॥

नमस्कार इत्युपलक्षणात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्द्धे एकाशने एकस्थाने च आचाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ, किं ?, यथासङ्ख्यमेते आकाराः, द्वौ षट् च सप्त अष्टौ सप्ताष्टौ पञ्च षट् पाने चतुः पञ्च अष्टौ नव प्रत्येकं पिण्डको नवक इति गाथाद्वयार्थः ॥ १५९७–१५९८ ॥ भावार्थमाह—द्वावेव नमस्कारे आकारौ, इह च नमस्कारग्रहणान्नमस्कार

फासिय पालिय चेव, सोहिय तीरियं तहा। किट्टिअमाराहिअ चेव, एरिसयमी पयइयव्व ॥ १५९३ ॥

स्पृष्टं—प्रत्याख्यानग्रहणकाले विधिना प्राप्तं पालितं चैव—पुनः पुनरुपयोगप्रतिजागरणेन रक्षितं शोभितं—गुर्वादिप्रदानशेषभोजनासेवनेन तीरितं—पूर्णेऽपि कालावधौ किञ्चित्कालावस्थानेन कीर्तितं—भोजनवेलायाममुक मया प्रत्याख्यातं तत् पूर्णमधुना भोक्ष्य इत्युच्चारणेन आराधितं—उक्तैव एभिरेव प्रकारैः सम्पूर्णैर्निष्ठा नीतं यस्मादेवभूतमेव तदाज्ञापालनात्प्रमादाच्च महत्कर्मक्षयकारणं तस्मात् ईदृशि प्रयतितव्यमिति एवंभूत एव प्रत्याख्याने यत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥ १५९३ ॥ साम्प्रतमनन्तरपारम्पर्येण तत्प्रत्याख्यानगुणानाह—

पच्चक्खाणम्मि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं। आसववुच्छेएण तण्हावुच्छेअण होइ ॥ १५९४ ॥
तण्हावोच्छेदेण य अउलोवसमो भवे मणुस्साणं। अउलोवसमेण पुणो पच्चक्खाण हवइ सुद्धं ॥ १५९५ ॥
तत्तो चरित्तधम्मो कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु। तत्तो केवलनाण तओ अ मुक्खो सयासुक्खो ॥ १५९६ ॥

प्रत्याख्याने कृते—सम्यग्निवृत्तौ कृतायां किम् ?—आश्रवद्वाराणि भवन्ति पिहितानि—तद्विषयप्रतिबद्धानि कर्मबन्धद्वाराणि भवन्ति स्थगितानि, तथावृत्तेः, आश्रवव्यवच्छेदेन च कर्मबन्धद्वारस्थगनेन च तत्करणेनेत्यर्थ, किं ?—तृष्णाव्यवच्छेदनं भवति—तद्विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति गाथार्थः ॥ १५९४ ॥ तृष्णाव्यवच्छेदेन च तद्विषयाभिलाषनिवृत्त्या च अतुलः—अनन्यसदृशः उपशमो—मध्यस्थपरिणामो भवति मनुष्याणां—जायते पुरुषाणां, पुरुषप्रणीतः पुरुषप्रधानश्च धर्म इति ख्यापनार्थं मनुष्यग्रहणम्, अन्यथा स्त्रीणामपि भवत्येव, अतुलोपशमेन पुनः—अनन्यसदृशमध्यस्थपरिणामेन पुनः

'अर्द्ध कुक्षयाः पच्यते अर्द्ध प्रसवाय कल्प्यते' इति, अपरिणताना अज्ञानं च न जायते, एवं तु सामान्यविशेषभेदनिरूपणायां सुखावसेय सुखश्रद्धेय च भवति इति गाथार्थः ॥ १५९० ॥ तथा चाह—

असणं पाणगं चेव, खाइम साइम तहा । एव परूवियमी, सद्दहिउं जे सुह होइ ॥ १५९१ ॥

अशने पानके चैव खादिमे स्वादिमे तथा, एवं प्ररूपिते—सामान्यविशेषभावेनाख्याते, यथावबोधात् श्रद्धातुं सुखं भवति, सुखन श्रद्धा प्रवर्त्तते, उपलक्षणार्थत्वात् दीयते पाल्यते च सुखमिति गाथार्थः ॥ १५९१ ॥ आह—मनसाऽन्यथा समधारिते प्रत्याख्याने त्रिविधस्य प्रत्याख्यान करोमीति वागन्यथा विनिर्गता चतुर्विधस्येति गुरुणाऽपि तथैव दत्तमत्र कः प्रमाणं ?, उच्यत, शिष्यस्य मनोगतो भाव इति, आह च—

अन्नस्थ निवडिए वंजणमि जो खलु मणोगओ भावो । त खलु पच्चक्खाणं न पमाणं वंजणच्छलणा ॥१५९२॥

अन्यत्र निपतिते व्यञ्जने–त्रिविधप्रत्याख्यानचिन्तायां चतुर्विध इत्येवमादौ निपतिते शब्दे यः खलु मनोगतो भावः प्रत्याख्यातुः खलुशब्दो विशेषणे अधिकृतरसयमयोगकरणापहृतचेतसोऽन्यत्र निपतिते न तु तथाविधप्रमादात् यो मनो गतो भाव भावः तत् खलु प्रत्याख्यान प्रमाणं, अनेनापान्तरालगतसूक्ष्मविधान्तरप्रतिषेधमाह, आत्मन एव प्रवर्त्तकत्वात्, व्यवहारदर्शनस्य चाधिकृतत्वात्, अतः न प्रमाण व्यञ्जनं–तच्छिष्याचार्ययोर्वचनं, किमिति ?, छलनाऽसौ व्यञ्जनमात्रं, तदन्यथाभावसद्भावादिति गाथार्थः ॥ १५९२ ॥ इदं च प्रत्याख्यानं प्रधाननिर्जराकारणमिति विधिवदनुपालनीय, तथा चाह—

हेतुत्वेन तदेव स्वादयतीत्यर्थः । विधिवन्निरुक्तं पाठात्, भ्रमति च रौति च भ्रमर इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, साधुरेवायमन्वर्थ इति गाथार्थः ॥ १५८८ ॥ उक्तः पदार्थः, पदविग्रहस्तु समासभाक्पदविषय इति नोक्तः । अधुना चालनामाह—

सव्वोऽवि य आहारो असणं सव्वोऽवि वुच्चई पाणं । सव्वोऽवि खाइमंति य सव्वोऽवि य साइमं होई ॥१५८९॥

यद्यनन्तरोदितपदार्थापेक्षया अशनादीनि ततः सर्वोऽपि चाहारश्चतुर्विधोऽपीत्यर्थः अशनं, सर्वोऽपि चोच्यते पानं सर्वोऽपि च खादिमं सर्व एव स्वादिमं भवति, अन्यथा विशेषात्, तथाहि—यथैवाशनमोदनमण्डकादि क्षुधं शमयति तथैव पानकं द्राक्षाक्षीरपानादि खादिममपि च फलादि स्वादिममपि ताम्बूलपूगफलादि, यथा च पानं प्राणानामुपग्रहे वर्तते एवमशनादीन्यपि, तथा चत्वार्यपि खे मान्ति चत्वार्यपि वा स्वादयन्ति आस्वाद्यन्ते वेति न कश्चिद् विशेषः, तस्मादयुक्तमेव भेद इति गाथार्थः ॥ १५८९ ॥ इयं चालना, प्रत्यवस्थानं तु यद्यपि एतदेव तथापि [तुल्यार्थत्वमाशायपि] रूढितो नीतितः प्रयोजनं संयमोपकारकमस्ति एवं कल्पनायाः, अन्यथा दोषः, तथा चाह—

जइ असणमेव सव्वं पाणग अविवज्जणमि सेसाणं । हवइ य सेसविवेगो तेण विहत्ताणि चउरोऽवि ॥ १५९० ॥

यद्यशनमेव सर्वमाहारजातं गृह्यते ततः शेषापरिभोगेऽपि पानकादिवर्जने—उदकादिपरित्यागे त्रयाणामाहारभेदानां निवृत्तिर्न कृता भवतीति वाक्यशेषः, ततः का नो हानिरिति चेत् ? भवति शेषविवेकः—भवति च शेषाहारभेदपरित्यागः, न्यायोपपन्नत्वात्, प्रेक्षापूर्वकारितया त्यागपालनं न्यायः, स चेह सम्भवति, तेन विभक्तानि चत्वार्यपि अशनादीनि, तदेकभावेऽपि तद्भेदपरित्यागे एतदुपपद्यत एवेति चेत्, सत्यमुपपद्यते दुरवसेयं तु भवति, तस्यैव देशत्यकस्तस्य नेति

इत्यस्य ल्युडन्तस्य अशनं इत्यन्नं भवति, तथा 'पा पाने' इत्यस्य पीयत इति पानमिति, 'खाद भक्षणे' इत्यस्य च कृत्यादिमनप्रत्ययान्तस्य खाद्यत इति खादिमं भवति, एवं 'स्वद स्वर्द आस्वादने' इत्यस्य च स्वाद्यत इति स्वादिमं अथवा स्वार्थे स्वार्थं च, 'अन्यत्रे'ति परिवर्जनार्थं यथा 'अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां, सर्वे योधाः पराङ्मुखा' इति, तथा आभोगनमाभोगः न आभोगोऽनाभोगः, अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः, तेन, अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः, तथा सहसाकरणं सहसाकारः—अति प्रवृत्तियोगादनिवर्तनमित्यर्थः, तेन तं मुक्त्वा—प्रत्युत्प्रतीत्यर्थः । एष पदार्थः, पदविग्रहस्तु समासभाक्पदविषय इति क्वचिदेव भवति न सर्वत्र, स च यथासम्भवं प्रदर्शित एव, चालनाप्रत्यवस्थाने च निर्युक्तिकारः स्वयमेव दर्शयिष्यतीति सूत्रसमुदायार्थः ॥ अधुना सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यैतदेव निरूपयन्नाह—

असण पाणगं चेव, खाइमं साइम तहा । एसो आहारविही, चउव्विहो होइ नायव्वो ॥ १५८७ ॥

आसु खुहं समेई, असण पाणाणुवग्गहे पाण । खे माइ खाइमंति य, साएइ गुणे तओ साई ॥ १५८८ ॥

अशनं—मण्डकौदनादि, पानं चैव—द्राक्षापानादि, खादिमं—फलादि तथा स्वादिमं—गुडताम्बूलपूगफलादि, एष आहार विधिश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ १५८७ ॥ साम्प्रत समयपरिभाषया शब्दार्थनिरूपणायाह—आशु—शीघ्रं क्षुधां—बुभुक्षां शमयतीत्यशनं, तथा प्राणानाम्—इन्द्रियादिलक्षणानां उपग्रहे—उपकारे यद् वर्तत इति गम्यते तत् पानमिति, खमिति—आकाशं तच्च मुखविवरमेव तस्मिन् मातीति खादिमं, स्वादयति गुणान्—रसादीन् संयमगुणान् वा यतस्ततः स्वादिमं,

यास्यतीति । अत्रान्तरेऽध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितस्तस्मादेव प्रतन्यते, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं चानुगमे, स च द्विधा—सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा—निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यते च, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्त्वाभ्यां द्वारगाथाभ्यामवगन्तव्यः, तद्यथा—'उद्देसे णिद्देसे य' इत्यादि, 'किं कतिविध'मित्यादि, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इति, स चावसरप्राप्त एव, युगपच्च सूत्रादयो व्रजन्ति, तथा चोक्तं—"सुत्तं सुत्ताणुगमो सुत्तालावयगतो य णिक्खेवो। सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति णया य समगं तु वच्चंति ॥ १ ॥" अत्राक्षेपपरिहारौ न्यक्षेण सामायिकाध्ययने निरूपितावेव नेह वितन्येते इत्यलं विस्तरेण । तच्चेदं सूत्रं—

सूरे उग्गए णमोक्कारसहितं पच्चक्खाति चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं, अण्णत्थ णाभोगेणं सहसाकारेणं वोसिरामि ।

अस्य व्याख्या—तल्लक्षण—'संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥ १ ॥' तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता निर्दिष्टैव, अधुना पदानि—सूर्ये उद्गते नमस्कारसहितं प्रत्याख्याति, चतुर्विधमपि आहारं अशनं पानं खादिमं स्वादिमं, अन्यत्रानाभोगेन सहसाकारेण व्युत्सृजति । अधुना पदार्थ उच्यते—तत्र 'अश् भोजने'

---

१ सूत्रं सूत्रानुगमः सूत्रालापकगतश्च निक्षेपः । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्नयाश्च युगपदेव व्रजन्ति ॥ १ ॥

इत्यस्य क्षुदन्तस्य भक्ष्यत इत्यशनं भवति, तथा 'पा पाने' इत्यस्य पीयत इति पानमिति, 'खाद भक्षणे'इत्यस्य च खाद्यमानमलभमानस्य खाद्यत इति खादिमं भवति, एवं 'स्वद स्वर्द आस्वादने' इत्यस्य च स्वाद्यत इति स्वादिमं अथवा खाद्यं स्वाद्यं च, 'अन्यत्रे'ति परिवर्जनार्थे यथा 'अन्यत्र द्रोणभीष्माभ्यां, सर्वे योधाः पराङ्मुखा' इति, तथा आभोगनमाभोगः न आभोगोऽनाभोगः, अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः, तेन, अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः, तथा सहसाकरणं सहसाकारः—अति प्रवृत्तियोगादनिवर्तनमित्यर्थः, तेन तं मुक्त्वा—व्युत्सृजतीत्यर्थः। एष पदार्थः, पदविग्रहस्तु समासभाक्पदविषय इति क्वचिदेव भवति न सर्वत्र, स च यथासम्भवं प्रदर्शित एव, चालनाप्रत्यवस्थाने च निर्युक्तिकारः स्वयमेव दर्शयिष्यतीति सूत्रसमुदायार्थः॥ अधुना सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्येदमेव निरूपयन्नाह—

असणं पाणग चेव, खाइमं साइम तहा। एसो आहारविही, चउव्विहो होइ नायव्वो॥ १५८७॥

आसु खुहं समेई, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं। खे माइ खाइमंति य, साएइ गुणे तओ साई॥ १५८८॥

अशनं—मण्डकौदनादि, पानं चैव—द्राक्षापानादि, खादिमं—फलादि तथा स्वादिमं—गुडताम्बूलपूगफलादि, एष आहारविधिश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः॥ १५८७॥ साम्प्रतं समयपरिभाषया शब्दार्थनिरूपणायाह—आशु—शीघ्रं क्षुधां—बुभुक्षां शमयतीत्यशनं, तथा प्राणानाम्—इन्द्रियादिलक्षणानां उपग्रहे—उपकारे यद् वर्तते इति गम्यते तत् पानमिति, खमिति—आकाशं तच्च मुखविवरमेव तस्मिन् माती-ति खादिमं, स्वादयति गुणान्—रसादीन् संयमगुणान् वा यतस्ततः स्वादिमं,

दस एते सवे चात्तालीसं दोसा णिच्चपडिसिद्धा, एते कत्तारे दुर्भिक्षादिसु ण भज्जंतित्ति गाथार्थः ॥ २५० ॥ इदानीं भावशु द्धमाह—रागेण वा—अभिष्वङ्गलक्षणेन द्वेषेण वा—अप्रीतिलक्षणेन, परिणामेन च—इहलोकाद्याशंसालक्षणेन स्तम्भादिना वा वक्ष्यमाणेन न दूषितं—न कलुषितं यत् तु—यदेव तत् खल्विति—तदेव सल्लुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् प्रत्याख्यानं भाववि शुद्धं 'मुणेयव्वं'ति ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः ॥ अवयवत्थो पुण—रागेण एस पूइज्जदित्ति अहवि एवं करेमि तो पुज्जिहामि एवं रागेण करेति, दोसेण तहा करेमि जहा लोगो ममहुत्तो पडति तेण एतस्स ण अहायति एवं दोसेण, परिणामेण णो इहलोगट्ठताए णो परलोगट्ठयाए नो कित्तिअसयण्णसद्दहेतुं वा अण्णपाणवत्थलोभेण सयणासणपरयदेसुं वा, जो एव करेति त भावसुद्धं ॥२५१॥ एभिर्निरन्तरव्यावर्णितैः षड्भिः स्थानैः श्रद्धानादिभिः प्रत्याख्यानं न दूषित—न कलुषित यत् तु—यदेव तत् शुद्ध ज्ञातव्यं । तत्प्रतिपक्षे—अश्रद्धानादौ सति अशुद्धं तु—अशुद्धमेवेति गाथार्थः ॥ २५२ ॥ परिणामेन वा न तद्दूषितमित्युक्त तत्र परिणामं प्रतिपादयन्नाह—स्तम्भात्—मानात्, क्रोधात्—अप्रीतात्, अनाभोगात्—वि स्मृतेः अनापृच्छातः असन्ततेः (चातः) परिणामात् अशुद्धः अपायो वा निमित्त यस्मादेव तस्मात् प्रत्याख्यानचिन्ताया विद्वा

१ दस एते सर्वे द्विचत्वारिंशत् दोषा नित्यं प्रतिषिद्धाः एते कान्तारदुर्भिक्षादिषु न भज्यन्ते इति । २ अवयवार्थः पुना रागेणैष पूज्यते इदमपि एवं करोमि ततः पूजयिष्ये एवं रागेण करोति द्वेषेण तथा करोमि यथा लोको ममावर्तो पतति तेन पाहिवते एव द्वेषेण परिणामेन नेहलोकार्थाय न परलोका र्थाय न कीर्तिवर्णशब्दहेतोर्वा अन्नपानवस्त्रलोभेन शयनासनवस्त्रहेतोर्वा य एवं करोति तद् भावशुद्ध ।

न्प्रमाण निश्चयनप्रदर्शनेनेति गाथार्थः ॥ २५१ ॥ थंभेणे एसो माणिज्जति अहंपि पच्चक्खामि तो माणिज्जामि, कोधेण पडिचोदणाइ अभाडिओ णेच्छति जेमेतुं कोहेण अब्भत्तट्ठं करेति, अणाभोगेण ण याणति किं मम पच्चक्खाणंति जिमिएण सभरितं भग्गं पच्चक्खाणं, अणापुच्छा णाम अणापुच्छाए चेव भुंजति मा वारिज्जिहामि जहा तुमे अब्भत्तट्ठो पच्चक्खादो त्ति, अहवा जेमेमि तो भणिहामि वीसरितत्ति, 'असतति'त्ति णत्थि एत्थ किंचि भोत्तव्वं वरं पच्चक्खातंति परिणामतोऽसुद्धोत्ति दारं । सो पुव्वभणितो इहलोगअसकित्तिमादि, अहवा एसेव थंभादि अघारत्ति, अहं पच्चक्खामि, मा णिब्भुभीहामित्ति, अहवा एए ण पच्चक्खाति । एवं ण कप्पति विदू णाम जाणगो तस्स सुद्धं भवति सो अण्णधा ण करेति जम्हा, कम्हा ?, जाणगो, तम्हा विदू पमाणं, जाणंतो सुद्धं परिहरतित्ति भणितं होति, सो पमाणं, तस्स सुद्धं भयतीत्यर्थः । 'पच्चक्खाण समत्तं' मूलद्वारगाथायाः प्रत्याख्यानमिति द्वारं व्याख्यातं । शेषाणि तु प्रत्याख्यात्रादीनि पञ्च द्वाराणि नामनिष्पन्ननिक्षेपान्तर्गतान्यपि सूत्रानुगमोपरि व्याख्यास्यामः, किमिति ?, अभोच्यते, येन प्रत्याख्यानं सूत्रानुगमेन परमार्थतः समाप्तिं

---

१ दम्भेनैव मान्यते अहमपि प्रत्याख्यामि ततो मानयिष्ये, क्रोधेन प्रतिचोदनया निर्भर्त्सितो नेच्छति जिमितुं क्रोधेनाभक्तार्थं करोति अनाभोगेन न जानाति किं मम प्रत्याख्यानमिति जिमितेन स्मृतं भग्नं प्रत्याख्यानं अनापृच्छा नाम अनापृच्छयैव भुनक्ति मा वारयिष्यति यथा त्वयाऽभक्तार्थः प्रत्याख्यात इति अथवा जेमामि ततो भणिष्यामि विस्मृतमिति असदिति नास्त्यत्र किंचित् भोक्तव्यं वरं प्रत्याख्यातमिति परिणामतोऽशुद्ध इति द्वारं । स पूर्वदर्शित इहलोकाद्या- कीर्तिवर्णादि, अथवैष एव स्तम्भादिरपाय इति अहं प्रत्याख्यामि मा निर्भर्त्सयिष्यमिति अथवैते न प्रत्याख्यान्ति एवं न कल्पते विद्वान्नाम ज्ञायकः तस्य शुद्धं भवति सोऽन्यथा न करोति यस्मात्, कस्मात् ?, ज्ञायकः, तस्माद्विद्वान् प्रमाणं, ज्ञायकः शुद्धं परिहरतीति भणितं भवति, स प्रमाणं ।

दस एते सवे चाताळीसं दोसा णिम्पडिसिद्धा, एते कतारे दुर्भिक्षादिसु ण भज्जंतित्ति गाथार्थः ॥ २५० ॥ इदानीं भावशु द्धमाह—रागेण वा—अभिष्वङ्गलक्षणेन द्वेषेण वा—अप्रीतिलक्षणेन, परिणामेन च—इहलोकाद्याशंसालक्षणेन स्तम्भादिना वा वक्ष्यमाणेन न दूषितं—न कलुषितं यत् तु—यदेव तत् खल्विति—तदेव खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् प्रत्याख्यानं भाववि शुद्धं 'मुणेयव्वं'ति ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः ॥ अवयवत्थो पुण—रागेण एस पूइज्जदित्ति अहंपि एवं करेमि तो पुज्जिहामि एवं रागेण करेति, दोसेण तहा करेमि जहा लोगो ममहुत्तो पडति तेण एतस्स ण अहायति एवं दोसेण, परिणामेण णो इहलोगट्ठताए णो परलोगट्ठयाए नो किंचिजसवण्णसद्दहेतुं वा अण्णपाणवत्थलोभेण सयणासणवत्थहेतुं वा, जो एवं करेति त भावसुद्धं ॥२५१॥ एभिर्निरन्तरव्यावर्णितैः षड्भिः स्थानैः श्रद्धानादिभिः प्रत्याख्यानं न दूषितं—न कलुषितं यत् तु—यदेव तत् शुद्धं ज्ञातव्यं । तत्प्रतिपक्षे—अश्रद्धानादौ सति अशुद्धं तु—अशुद्धमपेति गाथार्थः ॥ २५२ ॥ परिणामेन वा न तद्दूषितमित्युक्त तत्र परिणामं प्रतिपादयन्नाह—स्तम्भात्—मानात्, क्रोधात्—अप्रीतात्, अनाभोगात्—वि स्मृतेः अनापृच्छातः असन्ततेः (तातः) परिणामात् अशुद्धं अपायो वा निमित्तं यस्मादेव तस्मात् प्रत्याख्यानचिन्ताया विद्वा

१ दस एते सर्वे द्विचत्वारिंशद् दोषा निर्मं प्रतिषिद्धाः एते कान्तारदुर्भिक्षादिषु न भज्यन्ते इति । २ अवयवार्थः पुनः रागेण पूज्यते इममपि एवं करोमि ततः पूजयिष्ये एवं रागेण करोति द्वेषेण तथा करोमि यथा लोके ममावर्तो पतति तेनच माप्रियते एवं द्वेषेण परिणामेन नेहलोकार्थाय न परलोका र्थाय न कीर्तिवर्णशब्दहेतोर्वा अन्नपानवस्त्रलोभेन शयनासनवस्त्रहेतोर्वा य एवं करोति तद् भावशुद्धं ।

अणुभासइ गुरुवयणं अक्खरपयवंजणेहिं परिसुद्धं । पंजलिउडो अभिमुहो तं जाणणु भासणासुद्धं ॥२४९॥ (भा०)
कंतारे दुब्भिक्खे आयंके वा महई समुप्पन्ने । जं पालियं न भग्गं तं जाणणु पालणासुद्धं ॥ २५० ॥ (भा०)
रागेण व दोसेण व परिणामेण व न दूसियं जं तु । तं खलु पच्चक्खाणं भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥ २५१ ॥ (भा०)
एएहिं छहिं ठाणेहिं पच्चक्खाण न दूसियं जं तु । तं सुद्धं नायव्वं तप्पडिवक्खे असुद्धं तु ॥ २५२ ॥ (भा०)
थंभा कोहा अणाभोगा अणापुच्छा असंतई । परिणामओ असुद्धो अवाउ जम्हा विउ पमाणं ॥ २५३ ॥ (भा०)

पच्चक्खाण समत्तं

कृतिकर्मणः—वन्दनकस्येत्यर्थः विशुद्धिं—निरवद्यकरणक्रियां प्रयुङ्क्ते यः सः प्रत्याख्यानकाले अन्यूनातिरिक्तां विशुद्धिं मनोवाक्कायगुप्तः सन् प्रत्याख्यातृपरिणामस्तत् प्रत्याख्यानं जानीहि विनयतो—विनयेन शुद्धमिति गाथार्थः ॥ २४८ ॥ अधुनाऽनुभाषणशुद्धं प्रतिपादयन्नाह—कृतकृतिकर्मा प्रत्याख्यानं कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचनं, लघुतरेण शब्देन भणतीत्यर्थः, कथमनुभाषते?—अक्षरपदव्यञ्जनैः परिशुद्धं, अनेनानुभाषणायतमाह, णवरं गुरु भणति वोसिरति, इमोवि भणति—वोसिरामो'त्ति, सेसं गुरुभणितसरिसं भाणितव्वं । किंभूतः सन्?, कृतप्राञ्जलिरभिमुखस्तज्जानीह्यनुभाषणाशुद्धमिति गाथार्थः ॥ २४९ ॥ साम्प्रतमनुपालनाशुद्धमाह—कान्तारे—अरण्ये दुर्भिक्षे—कालविभ्रमे आतङ्के वा—ज्वरादौ महति समुत्पन्ने सति यत् पालितं यन्न भग्नं तज्जानीह्यनुपालनाशुद्धमिति । एत्थ उग्गमदोसा सोलस उप्पायणापवि दोसा सोलस एसणादोसा

---

१ परं गुरुर्भणति—व्युत्सृजति अयमपि भणति व्युत्सृजाम इति शेषं गुरुभणितसदृशं भणितव्यं । २ अत्रोद्गमदोषाः षोडश उत्पादनाया अपि दोषाः षोडश एषणादोषा

भूतैः प्रज्ञप्ता–प्ररूपिता, कैः?–तीर्थकरैः–ऋषभादिभिः, तामहं वक्ष्ये, कथं?–समासेन–सङ्क्षेपेणेति गाथार्थः ॥ २४५ ॥ अधुना षड्विधत्वमुपदर्शयन्नाह—सा पुनः शुद्धिरेयं षड्विधा, तद्यथा श्रद्धानशुद्धिः ज्ञानशुद्धिश्च विनयशुद्धिः अनुभाषणाशुद्धिश्चैव, तथाऽनुपालनाविशुद्धिश्चैव भावशुद्धिर्भवति षष्ठी, पाठान्तरं वा 'सोहीसद्दहण' इत्यादि, तत्र शुद्धिशब्दो द्वारोपलक्षणार्थः, निर्युक्तिगाथा चेयमिति गाथासमासार्थः ॥ १५८६ ॥ अवयवार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्राद्य द्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

पच्चक्खाणं सव्वन्नुदेसियं जं जहिं जया काले । तं जो सद्दहइ नरो तं जाणसु सद्दहणसुद्धं ॥ २४६ ॥ (भा०)

पच्चक्खाण जाणइ कप्पे जं जंमि होइ कायव्वं । मूलगुणे उत्तरगुणे तं जाणसु जाणणासुद्धं ॥ २४७ ॥ (भा०)

प्रत्याख्यानं सर्वज्ञभाषितं–तीर्थकरप्रणीतमित्यर्थः 'य'दिति यत् सप्तविंशतिविधस्यान्यतमं, सप्तविंशतिविधं च पञ्चविधं साधुमूलगुणप्रत्याख्यानं दशविधमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं द्वादशविधं श्रावकप्रत्याख्यानं 'यत्र' जिनकल्पे चतुर्याम पञ्चयाम वा श्रावकधर्मे वा 'यदा' सुभिक्षे दुर्भिक्षे वा पूर्वाह्णे पराह्णे वा काल इति–चरमकाले तत् यः श्रद्धत्ते नरः तत् तदभेदोपचारात् तस्यैव तथापरिणतत्वाज्जानीहि श्रद्धानशुद्धमिति गाथार्थः ॥ २४६ ॥ ज्ञानशुद्धं प्रतिपाद्यते, तत्र—प्रत्याख्यानं जानाति–अवगच्छति कल्पे–जिनकल्पादौ यत् प्रत्याख्यानं यस्मिन् भवति कर्तव्यं मूलगुणोत्तरगुणविषयं तज्जानीहि ज्ञानशुद्धमिति गाथार्थः ॥ २४७ ॥ विनयशुद्धमुच्यते, तत्रेयं गाथा—

किइकम्मस्स विसोहीं पउंजई जो अहीणमइरित्तं । मणवयणकायगुत्तो तं जाणसु विणयओ सुद्धं ॥ २४८ ॥ (भा०)

वा संविग्गअण्णसंभोइयाण जधा एताणि दाणकुलाणि सड्ढगकुलाणि वा, अतरतो संभोइयाणवि उवदिसेज्ज ण दोसो, अह पाणगस्स सण्णाभूमिं वा गतेण सलद्धीभत्तादिगं वा होज्ज ताहे साधूणं-अमुगस्स सलद्धित्ति एव उवदिसेज्जा । उवदेसत्ति गतं । जहासमाही णाम दाणे उवदेसे अ जहासामत्थं, जति तरति आणेउं देति, अह न तरति तो उवावेज्ज वा उवदिसेज्ज वा, जधा जधा साधूणं अप्पणो वा समाधी तधा तधा पवत्तितव्व जहासमाधित्ति पच्चक्खाणिय । अमुमेवार्थमुपदर्शयन्नाह भाष्यकारः—

संविग्गअण्णसंभोइयाण देसेज्ज सड्ढगकुलाइं । अतरंतो वा संभोइयाण देज्जा जहसमाही ॥ २४४ ॥ (भा०)

गतार्था, णेयरमतरंतस्स अण्णसंभोइयस्सवि दातव्वं । साम्प्रतं प्रत्याख्यानशुद्धिः प्रतिपाद्यते, तथा चाह भाष्यकारः—

सोही पच्चक्खाणस्स छव्विहा समणसमयकेऊहिं । पन्नत्ता तित्थयरेहिं तमहं वुच्छं समासेणं ॥ २४५ ॥ (भा०)

सा पुण सद्दहणा जाणणा य विणयाणुभासणा चेव । अणुपालणा विसोही भावविसोही भवे छट्ठा ॥ १५८६ ॥

शोधनं शुद्धिः, सा प्रत्याख्यानस्य-प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य षड्विधा-षट्प्रकारा श्रमणसमयकेतुभिः-साधुसिद्धान्तचिह्न

---

१ संविग्नेभ्योऽन्यसांभोगिकेभ्यो यथैतानि दानकुलानि श्राद्धकुलानि वा अशक्नुवन् सांभोगिकेभ्योऽप्युपदिशेत् दोषः अथ पानकस्य संज्ञाभूमिं वा गतेन संलब्धीभक्तादिकं वा भवेत् तदा साधुभ्योऽमुकस्य संलब्धीकमुपदिशेत् उपदेश इति गतं यथासमाधिनाम दाने उपदेशे च यथासामर्थ्यं यदि शक्नोति आनीय ददाति अथ न शक्नोति तदा दापयेदुपदिशेद्वा, यथा यथा साधूनामात्मनो वा समाधिस्तथा तथा प्रवर्तितव्यं यथासमाधीति प्रत्याख्यातं । २ नेतरमशक्नुवतोऽन्यसांभोगिकस्यापि दातव्यं

छाभ इत्यत आह—न च विरतिपालनाद् वैय्यावृत्यं प्रधानतरमतः सत्यपि च लाभे किं तेनेति गाथार्थः ॥ १५८२ ॥
एव विनेयजनहिताय पराभिप्रायमाशङ्क्य गुरुराह—न 'त्रिविधं' करणकारणानुमतिभेदभिन्न 'त्रिविधेन' मनोवाक्काय
योगत्रयेण 'प्रत्याख्याति' प्रत्याचष्टे प्रक्रान्तमशनादि अतोऽनभ्युपगतोपालम्भचोदकमते, यदर्थमम् अन्यस्मै दानम
शनादेरिति गम्यते, तेन हेतुभूतेन कारणं भुजिक्रियागोचरमन्यदानकरण तच्छुद्धस्य—आशंसादिदोषरहितस्य तथा—
तस्मात् मुनेः—साधोः न भवति तद्भङ्गहेतुः—प्रक्रान्तप्रत्याख्यानभङ्गहेतुः, तथाऽनभ्युपगमादिति गाथार्थः ॥१५८३॥किंच—
स्वयमेव—आत्मनैवानुपालनीयं प्रत्याख्यानमुक्तं निर्युक्तिकारेण, दानोपदेशौ च नेह प्रतिषिद्धौ, तस्मात्मनाऽऽनीय वितरण दान
दानश्राद्धकादिकुलाख्यानं तूपदेश इति, यस्माद् एवं तस्माद् दद्यादुपदिशेद्वा, यथासमाधिना वा यथासामर्थ्येन 'अन्येभ्यो'
बालादिभ्य इति गाथार्थः ॥ १५८४ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह 'कय'इत्यादि, निगदसिद्धा, एत्थ पुण सामायारी—सयं अभुं
जंतोवि साधूणं आणेत्ता भत्तपाणं देज्जा, संतं वीरियं ण निगूहितव्वं अप्पणो, संते वीरिए अण्णो णाऽऽणावेयव्वो, जधा अण्णो
अमुगस्स आणेधु दिंति, तम्हा अप्पणो संते वीरिए आयरियगिलाणबालवुड्ढपाहुणगादीण गच्छस्स वा सणायकुलेहिंतो वा
असण्णातपहिं वा लद्धिसपुण्णो आणेत्ता देज्ज वा दवावेज्ज वा परिचिएसु वा ससड्ढीए वा दवावेज्ज, दाणेत्ति गतं, उवदिसेज्ज

१ अत्र पुनः सामाचारी—स्वयमभुञ्जानोऽपि साधुभ्य आनीय भक्तपाने दद्यात् सद्वीर्यं न निगूहितव्यं आत्मनः सति वीर्येऽन्यो नाऽऽनायितव्यः यथाऽन्यो
अमुकस्मै आनीय ददाति तस्मात् आत्मनः सति वीर्ये आचार्यग्लानबालवृद्धप्राघूर्णकादिभ्यो गच्छस्य वा सज्ञातीयकुलेभ्यो ऽसज्ञातीयेभ्यो वा लब्धिसंपूर्ण
आनीय दद्यात् दापयेद्वा, परिचितेभ्यो वा सश्राद्धया वा दापयेत्, दानमिति गत, उपदिशेद्वा

वा संविग्गअण्णसंभोइयाण कया पवाणि साणकुलाणि सड्ढगकुलाणि वा, अतरतो संभोइयाणवि उवदिसेज्ज ण दोसो, अह पाणगस्स सण्णाभूमिं वा गतेण संखडीभत्तपाविगं वा होज्ज ताहे साधूणं अणुगत्त सत्तविति एवं उवदिसेज्जा । उवदेसत्ति गतं । जहासमाही णाम वामे उवदेसे अ जहासामत्थं, जति तरति आणेउं देति, अह न तरति तो दवावेज्ज वा उवदिसेज्ज वा, जधा जधा साधूणं अप्पणो वा समाधी तधा तधा पयतितव्व जहासमाधित्ति वक्खाणिय । अमुमेवार्थमुपदर्शयन्नाह भाष्यकारः—

संविग्गअण्णसंभोइयाण देसेज्ज सड्ढगकुलाइं । अतरंतो वा संभोइयाण देज्जा जहसमाही ॥ २४४ ॥ (भा०)

गतार्था, णेवरमतरंतस्स अण्णसंभोइयस्सवि दातव्वं । साम्प्रतं प्रत्याख्यानशुद्धिः प्रतिपाद्यते, तथा चाह भाष्यकारः—

सोही पच्चक्खाणस्स छव्विहा समणसमयकेऊहिं । पन्नत्ता तित्थयरेहिं तमहं वुच्छं समासेणं ॥ २४५ ॥ (भा०)

सा पुण सद्दहणा जाणणा य विणयाणुभासणा चेव । अणुपालणा विसोही भावविसोही भवे छट्ठा ॥ १५८१ ॥

शोधन शुद्धिः, सा प्रत्याख्यानस्य—प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य षड्विधा—षट्प्रकारा श्रमणसमयकेतुभिः—साधुसिद्धान्तचिह्न

---

१ संविग्नेभ्योऽन्यसांभोगिकेभ्यो पंचवानि दानकुलानि श्रावककुलानि वा अशक्नुवन् सांभोगिकेभ्योऽप्युपदिशेत दोषः । अथ पानकस्य संज्ञाभूमिं वा गतेन संखडीभक्तमिव वा भवेत् तदा साधुभ्योऽनुकम्प संखडीमेवमुपदिशेत्, उपदेश इति गतं यथासमाधिनाम दाने उपदेशे च यथासामर्थ्यं यदि शक्नोति आनीय ददाति अथ न शक्नोति तदा दापयेदुपदिशेद्वा यथा यथा साधूनामात्मनो वा समाधिस्तथा तथा प्रयतितव्यं यथासमाधीति व्याख्यातं ।

२ नवरमशक्नुवतोऽन्यसांभोगिकायापि दातव्यं

लाभ इत्यत आह—न च विरतिपालनात् चैत्यावृत्यं प्रधानतरमतः सत्यपि च लाभे किं तेनेति गाथार्थः ॥ १५८२ ॥ एवं विनेयजनहिताय पराभिप्रायमाशङ्क्य गुरुराह—न 'त्रिविधं' करणकारणानुमतिभेदभिन्न 'त्रिविधेन' मनोवाक्काय योगत्रयेण 'प्रत्याख्याति' प्रत्याचष्टे प्रक्रान्तमशनादि अतोऽनभ्युपगतोपालम्भश्चोद्यकमते, यस्त्वेवम् अन्यस्मै दानम शनादेरिति गम्यते, तेन हेतुभूतेन कारण भुजिक्रियागोचरमन्यदानकरण तच्छुद्धस्य—आशंसादिदोषरहितस्य ततः— तस्मात् मुनेः—साधोः न भवति तद्भङ्गहेतुः—प्रक्रान्तप्रत्याख्यानभङ्गहेतुः, तथाऽनभ्युपगमादिति गाथार्थः ॥१५८३॥ किंच— स्वयमेव—आत्मनैवानुपालनीयं प्रत्याख्यानमुक्त निर्युक्तिकारेण, दानोपदेशो च नेह प्रतिषिद्धौ, तत्रात्मनाऽऽनीय वितरण दान दानमाचक्षकादिकुलाख्यान तूपदेश इति, यस्मात् एवं तस्मात् दद्यादुपदिशेद्वा, यथासमाधिना वा यथासामर्थ्येन 'अन्येभ्यो' बालादिभ्य इति गाथार्थः ॥ १५८४ ॥ अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह 'कय'इत्यादि, निगदसिद्धा, एत्थ पुण सामायारी—सयं भत्तुं जतोवि साधूणं आणेत्ता भत्तपाण देज्जा, संत वीरियं ण निगूहितव्व अप्पणो, सते वीरिए अण्णो णाऽऽणावेयव्वो, जधा अण्णो अमुगस्स आणेतु दिति, तम्हा अप्पणो संते वीरिए आयरियगिलाणबालवुड्ढपाहुणगादीण गच्छस्स वा संणायकुलेहिंतो वा असण्णातएहिं वा लद्धिसपुण्णो आणेत्ता देज्ज वा दवावेज्ज वा परिचिएसु वा ससढीए वा दवावेज्ज, दाणेत्ति गतं, उवदिसज्ज

---

१ अत्र पुनः सामाचारी—स्वयमभुञ्जानोऽपि साधूभ्य आनीय भक्तपाने दद्यात् सद्वीर्यं न निगूहितव्यमात्मनः, सति वीर्येऽन्यो नाऽऽज्ञापयितव्यः यथाऽन्यो ऽमुकस्मै आनीय ददातु तस्मात् आत्मनः सति वीर्ये आचार्यग्लानबालवृद्धप्राघूर्णकादिभ्यो गच्छस्य वा सज्ञातीयकुलेभ्यो वाऽसज्ञातीयेभ्यो वा लब्धिसंपूर्ण आनीय दद्यात् दापयेद्वा, परिचितेभ्यो वा सश्रद्धया वा दापयेत् , दानमिति गत, उपदिशेद्

भणिय दसविहमेय पचक्खाण गुरूवएसेण । कयपचक्खाणविहिं इत्तो वुच्छं समासेण ॥ १५८० ॥
आह जह जीवघाए पचक्खाए न कारए अन्न । भत्तपाऽऽसणदाणे धुव कारवणे य मणु दोसे ॥ १५८१ ॥
नो कयपचक्खाणो, आयरियाईण दिज्ज असणाई । न य विरईपालणाओ वेयावच्चं पहाणयर ॥ १५८२ ॥
नो तिविहतिविहेण पचक्खइ अन्नदाणकारवण । सुद्धस्स तओ मुणिणो न होइ तब्भगहेउत्ति ॥ १५८३ ॥
सयमेवणुपालणिय दाणुवएसो य नेह पडिसिद्धो । ता दिज्ज उवइसिज्ज व जहा समाहीइ अन्नेसिं ॥ १५८४ ॥
कयपचक्खाणोऽवि य आयरियगिलाणबालवुड्ढाण । दिज्जासणाइ सते लाभे कयवीरियायारो ॥ १५८५ ॥

भणितं दशविधमेतत् प्रत्याख्यान गुरूपदेशेन, कृतं प्रत्याख्यानं येन स तथाविधस्तस्य विधिस्त 'अतः' ऊर्ध्वं वक्ष्ये 'समासेन' सङ्क्षेपेणेति गाथार्थः ॥ १५८० ॥ प्रत्याख्यानाधिकार एवाह परः, किमाह ?—यथा जीवघाते—प्राणातिपाते प्रत्याख्याते सत्यसौ प्रत्याख्याता न कारयत्यन्यमिति—न कारयति जीवघातं अन्यप्राणिनमिति, कुतः ?—भङ्गभयात्—प्रत्याख्यानभङ्गभयादित्यर्थ, भावार्थः—अश्यत इत्यशनम्—ओदनादि तस्य दानम्—अशनदानं तस्मिन्नशनदाने, अशनग्रहणं पा नाद्युपलक्षणार्थं, ततश्चैतदुक्तं भवति—कृतप्रत्याख्यानस्य सतः अन्यस्मै अशनादिदाने ध्रुव कारणमिति—अवश्यं भुजिक्रिया कारणं, अशनादिलाभे सति भोक्तुर्भुजिक्रियासद्भावात्, ततः किमिति चेत्, ननु दोषः—प्रत्याख्यानभङ्गदोष इति गाथार्थः ॥ १५८१ ॥ अतः—'नो कयपचक्खाणो आयरियाईण दिज्ज असणाई' एतदेशमतः न कृतप्रत्याख्यानः पुमानाचार्यादिभ्य आदिशब्दादुपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानक्षुल्लादिपरिग्रहः दद्यात्, किम् ?—अशनादि, स्यादेतत्—एवतो वैयावृत्त्य

अंगुट्ठपिंध करेति, जाव ण मुयामि ताव न जेमेमित्ति, जाव वा गंठिं ण मुयामि, जाव घरं ण पविसामि, जाव सेओ ण णस्सति जाव वा एवतिया उस्सासा पाणियमंचिताए वा जाव एत्तिया थिवुगा उस्साविंदूथिवुगा वा, जाव एस दीवगो जलति ताव अहं ण भुंजामित्ति, न केवलं भत्ते अण्णेसुवि अभिग्गहविसेसेसु संकेत भवति, एव ताव सावयस्स, साधुस्सवि पुण्णे पच्चक्खाणे किं अपच्चक्खाणी अच्छउ ? तम्हा तेणवि कातव्व सङ्केतमिति । व्याख्यात सङ्केतद्वार, साम्प्रतम द्धाद्वारमतिपिपादयिषयाह—

अद्धा पच्चक्खाण ज त कालप्पमाणछेएणं । पुरिमड्ढपोरिसीए मुहुत्तमासद्धमासेहिं ॥ १५७२ ॥

अद्धा—काले प्रत्याख्यानं यत् कालप्रमाणच्छेदेन भवति, पुरिमार्द्धपौरुषीभ्यां मुहूर्त्तमासार्द्धमासैरिति गाथाक्षरार्थः ॥ १५७९ ॥ भावत्थो पुण अद्धा णाम कालो कालो जस्स परिमाण त कालेणावबद्धं कालियपच्चक्खाण, तंजथा णमोक्कार पोरिसि पुरिमड्ढएकासणग अद्धमासमासं, चसद्देन दोण्णि दिवसा मासा वा जाव छम्मासित्ति पच्चक्खाण, एतं अद्धापच्चक्खाणं । गतमद्धाप्रत्याख्यान, इदानीं उपसंहरन्नाह—[ग्र० २१५००]

---

१ अङ्गुष्ठचिह्नं करोति यावन्न मुञ्चामि तावन्न जेमामि यावद्वा ग्रन्थिं न मुञ्चामि यावद्वा गृहं न प्रविशामि यावद्वा स्वेदो न नश्यति यावद्वा एतावन्त उच्छ्वासाः पानीयमञ्चिकायां वा यावदेतावन्तः स्तिबुका अवश्यायबिन्दवो वा यावदेष दीपको ज्वलति तावदहं न भुञ्जे न केवलं भक्तेऽन्येष्वपि अभिग्रहविशेषेषु संकेतं भवति एवं तावत् श्रावकस्य साधोरपि पूर्णे प्रत्याख्याने किमप्रत्याख्यानी तिष्ठतु ? तस्मात् तेनापि कर्त्तव्यं संकेतमिति । २ भावार्थः पुनः अद्धा नाम कालः, कालो यस्य परिमाणं तत् कालेनावबद्धं कालिकप्रत्याख्यान तद्यथा—नमस्कारसहितं पौरुषी पूर्वार्धैकाशनार्धमासमासानि चशब्देन द्वौ दिवसौ मासौ वा यावत् षण्मासाः इति प्रत्याख्यानं एतदद्धाप्रत्याख्यान

सर्वमशनं सर्वं वा पानकं सर्वखाद्यभोज्य—विविधं खाद्यप्रकारं भोज्यप्रकारं च व्युत्सृजति—परित्यजति सर्वभावेन—सर्वप्रकारेण भणितमेतन्निरवशेषं तीर्थकरगणधरैरिति गाथासमासार्थः ॥ १५७७ ॥ वित्थरत्थो पुण जो भोअणस्स सत्तरविधस्स वोसिरति पाणगस्स अणेगविधस्स खंडपाणमादियस्स खाइमस्स अंबाइयस्स सादिमं अणेगविधं मधुमादि एवं सव्वं जाव वोसिरति एतं णिरवसेसं । गतं निरवशेषद्वारम् , इदानीं सङ्केतद्वारविस्तरार्थप्रतिपादनायाह—

अंगुट्ठमुट्ठिगंठीघरसेउस्सासथिबुगजोइक्खे । भणियं सकेयमेयं धीरेहिं अणंतनाणीहिं ॥ १५७८ ॥

अङ्गुष्ठ मुष्टिग्रन्थ्यादिग्रन्थः अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थिगृहस्वेदोच्छ्वासस्तिबुकज्योतिष्कान् तान् चिह्नं कृत्वा यत् क्रियत प्रत्याख्यान तत् भणितम्—उक्त सङ्केतमेतत्, कैः ?—धीरैः—अनन्तज्ञानिभिरिति गाथासमासार्थः ॥ १५७८ ॥ अयेयवत्थो पुण केतं नाम चिंध, सह केतेन सङ्केत, सचिह्नमित्यर्थः,'साधू सावगो वा पुव्वंवि पच्चक्खाणे किंचि चिंधं अभिगिण्हति, जाव एस साधार्थ ण जिमेमित्ति, ताणिमाणि चिह्नानि, अंगुट्ठमुट्ठिगंठिघरसेउस्सासथिबुगदीवताणि, तत्थ ताव सावगो पोरुसीपच्चक्खाइतो ताथे छेत्तं गतो, घरे वा ठितो ण ताव जेमेति, ताथे ण किर वट्टति अपच्चक्खाणस्स अच्छिउं, तदा

1 विस्तरार्थः पुनर्यो भोजनं सप्तदशविधं व्युत्सृजति पानीयमनेकविध खण्डपानीयादि खाद्यमाम्रादि स्वाद्यमनेकविधं मध्वादि एतत् सर्वं व्युत्सृजति एतत् निरवशेष । 2 अथचार्थः पुनः केतं नाम चिह्न साधुः श्रावको वा पूर्वमपि प्रत्याख्याने किञ्चिच्चिह्नं अभिगृह्णाति यावदेवं तावदहं न जेमामि तानी मानि चिह्नानि अङ्गुष्ठः मुष्टिग्रन्थिगृहं स्वेदस्तिबुकज्योतिषा दिवसो दीपः, तत्र तावत् श्रावकः पौरुषीप्रत्याख्यानवान् तदा क्षेत्रं गतः गृहे वा स्थितः न तावत् जमति, तदा किल न वर्ततेऽप्रत्याख्यानेन स्थातुं, तदा

ऊहति, पडिणीएण वा परिसिद्ध होज्जा, दुब्भिक्खं वा वट्टइ हिंडंतस्सवि ण लब्भति, अथवा आणति जधा ण जीवामित्ति ताधे णिरागारं पच्चक्खाति । व्याख्यातमनाकारद्वारम् , अधुना कृतपरिमाणद्वारमधिकृत्याह—

दत्तीहि व कवलेहि व घरेहिं भिक्खाहिं अहव दव्वेहिं । जो भत्तपरिच्चाय करेइ परिमाणकडमेय ॥ १५७६ ॥

दत्तीभिर्वा कवलैर्वा गृहैर्भिक्षाभिरथवा द्रव्यैः—ओदनादिभिराहारायामितमानैर्यो भक्तपरित्यागं करोति 'परिमाणकृतमेत'—ति कृतपरिमाणमेतदिति गाथासमासार्थः ॥ १५७६ ॥ अयमत्थो पुण दत्तीहिं अज्ज मए एगा दत्ती दो वा ३–४–५ दत्ती, किं वा दत्तीए परिमाणं?, थक्कगपि(सित्थगंपि)एक्कसिं छुब्भति एगा दत्ती, डोयलियपि जत्तियाओ वाराओ पक्खाडेति तावतियाओ ताओ दत्तीओ, एव कवले एक्केण २ जाव बत्तीस दोहि ऊणिया कवलेहिं, घरहिं एगादिएहिं २ ३ ४। भिक्खाओ एगादियाओ २ ३ ४, दव्वं अमुगं ओदणे खज्जगविही वा आयंबिल या अमुगं वा कुसणं पयमादियविभासा । गतं कृतपरिमाणद्वारं, अधुना निरवशेषद्वारावयवार्थं अभिधातुकाम आह—

सव्वं असणं सव्वं पाणगं सव्वखज्जभुज्जविहं । वोसिरइ सव्वभावेण एयं भणियं निरवसेसं ॥ १५७७ ॥

---

१ कल्पते प्रत्यनीकेन वा प्रतिषिद्धं भवेत् दुर्भिक्षं वा वर्त्तते हिंडमानेनापि न लभ्यते अथवा जानाति यथा न जीविष्यामीति तदा निराकारं प्रत्याख्याति । २ अयमर्थः पुनर्दत्तिभिः अद्य मया एका दत्तिर्द्वे वा ३ ४ ५ दत्तयः किं वा दत्तेः परिमाणं? सिक्थकमप्येकशः क्षिपति एका दत्तिः दर्वीमपि यावतो वारान् प्रस्फोटयति तावत्यस्ता दत्तयः एवं कवले एकेन यावत् द्वात्रिंशता द्वाभ्यामूना कवलाभ्यां गृहैरेकादिभिः भिक्षा एकादिकाः २ ३ ४ द्रव्यम् अमुकमोदनः खाद्यकविधिर्वा आचामाम्लं वा अमुकं वा द्विदलं पयआदि विभाषा ।

विभासा, अवि थोवं ताथे जे णमोक्कारइत्ता पोरुसिइत्ता वा तेसिं विसज्जेज्जा जे ण वा पारणइत्ता जे वा असहू विभासा, एव गिलाणकज्जेसु अण्णतरे वा कारणे कुलगणसंघकज्जादिविभासा, एवं जो भत्तपरिच्चागं करेति सागारकडमेतंति । गत साकारद्वार, इदानीं निराकारद्वार व्याचिख्यासुराह—

निज्जायकारणमी मयहरगा नो करंति आगार । कंतारविचित्तिदुब्भिक्खयाइ एयं निरागार ॥ १५७५ ॥

निश्चयेन यात—अपगतं कारणं—प्रयोजनं यस्मिन्नसौ निर्यातकारणस्तस्मिन् साधौ महत्तरा—प्रयोजनविशेषास्तत्फला-भावाच्च कुर्वन्त्याकारान् कार्याभावादित्यर्थः, क्व?—कान्तारवृत्तौ दुर्भिक्षतायां च—दुर्भिक्षभावे चेति भावः, अत्र यत् क्रियते तदपभूत प्रत्याख्यान निराकारमिति गाथार्थः ॥ १५७५ ॥ भावत्थो पुण णिज्जातकारणस्स तस्स जधा णत्थि एत्थ किंचिवि विघ्ति ताहे महत्तरगादि आगारे ण करेति, अणाभोगसहसक्कारे करेज्ज, किं निमित्तं?, कट्ठं वा अंगुलिं वा मुधे छुभेज्ज मणाभोगेणं सहसा वा, तेण दो आगारा कज्जंति, त कहिं होज्जा?, कंतारे जधा सिणपल्लिमादीसु, कंतारेसु वित्ती ण

---

१ विभाषा यदि स्तोकं तदा ये नमस्कारसहितकाः पौरुषीका वा तेभ्यो विसर्जयेत् ये न वा पारणकाः ये वाऽसहिष्णवः विभाषा एवं ग्लानकार्येषु अन्यतरस्मिन् वा कार्ये कुलगणसंघकार्यादिविभाषा एव यो भक्तपरित्यागं करोति साकारकृतमेतत् । २ भावार्थः पुनर्निर्यातकारणस्य तस्य यथा नास्ति अत्र काचिद्वृत्तिः तदा महत्तरादीनाकारान् न करोति अनाभोगसहसाकारौ कुर्यात्, किंनिमित्तं? काष्ठं वाऽङ्गुलिं वा मुखे क्षिपेत् अनाभोगेन सहसा वा तेन द्वावाकारौ क्रियते, तत् क भवेत्? कान्तारे यथा श्रमणपल्ल्यादिषु, कान्तारेषु वृत्ति न

पढमसंघयणेण जिणकप्पेण य समं वोच्छिण्णं, तम्हि पुण काले आयरियपज्जंता थेरा तदा करेंता आसत्ति । व्याख्यातं नियमितद्वारं, साम्प्रतं साकारद्वारं व्याचिख्यासुराह—

मयहरगागारेहिं अन्नत्थवि कारणम्मि जायम्मि । जो भत्तपरिचाय करेइ सागारकडमेय ॥ १५७४ ॥

अयं च महानयं च महान् अनयोरतिशयेन महान् महत्तरः, आक्रियन्त इत्याकाराः, प्रभूतेर्वविपाकारत्वात्स्यापनार्थं बहुवचनमतो महत्तराकारैर्हेतुभूतैरन्यत्र वा—अन्यस्मिन्नानाभोगादौ कारणजाते सति भुजिक्रियां करिष्येऽहमित्येवं यो भक्तपरित्यागं करोति साकारकृतमेतदिति गाथार्थः ॥१५७४॥ अवयवत्थो पुण सह आगारेहिं सागारं, आगारा उवरिं सुत्ताणुगमे भण्णिहिंति, तत्थ महत्तरागारेहिं—महल्लपयोयणेहिं, तेण अमत्तट्ठो पच्चक्खातो ताथे आयरिएहिं भण्णति—अमुग गामं गंतव्व, तेण निवेइयं जथा मम अज्ज अब्भत्तट्ठो, जति ताव समत्थो करेतु जातु य, ण तरति अण्णो भत्तट्ठितो अभत्तट्ठिओ वा जो तरति सो वच्चतु, णत्थि अण्णो तस्स वा कज्जस्स असमत्थो ताथे तस्स चेव अभत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जयन्ति, एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अभत्तट्ठितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओएण, एवं वस्सूरत्थमेवि विणस्सति अधव

1 प्रथमसंहननेन जिनकल्पेन च समं व्यवच्छिन्नं तस्मिन् पुनः काले आचार्याः जिनकल्पिकाः स्थविराः तदा कुर्वन्त आसन् । २ अवयवार्थः पुनः सहाकारैः साकारं आकारा उपरि सूत्रानुगमे भणिष्यन्ते तत्र महत्तराकारैः—महत्प्रयोजनैः, तेनाभक्तार्थः प्रत्याख्यातः तदाऽऽचार्यैर्भण्यते—अमुकं ग्रामं गन्तव्यं तेन निवेदितं यथा ममाद्याभक्तार्थः यदि तावत्समर्थः करोतु यातु च न शक्नोति अन्यो भक्तार्थोऽभक्तार्थो वा यः शक्नोति स व्रजतु, नास्त्यन्यस्तस्य वा कार्यस्य असमर्थः तदा तमेवाभक्तार्थिकं गुरवो विसृजन्ति ईदृशस्य तं जेमतोऽनभिलाषस्याभक्तार्थनिर्जरा या सा तस्य भवति गुरुनियोगेन एवमुत्सूरत्वेऽपि विनश्यति अथवा

विभासा, अवि थोवं साधे जे णमोक्कारइत्ता पोरुसिइत्ता वा तेसिं विसज्जेज्जा जे ण वा पारणइत्ता जे वा असहू विभासा, एव गिलाणकज्जेसु अण्णतरे वा कारणे कुलगणसंघकज्जादिविभासा, एस जो भत्तपरिच्चागं करेति सागारकडमेतंति । गतं साकारद्वार, इदानीं निराकारद्वारं व्याचिख्यासुराह—

निज्जायकारणमी मयहरगा नो करंति आगारं । कंतारविसिदुब्भिक्खयाइ एय निरागारं ॥ १५७५ ॥

निश्चयेन यातं—अपगतं कारण—प्रयोजन यस्मिन्नसौ निर्यातकारणस्तस्मिन् साधौ महत्तराः—प्रयोजनविशेषास्तत्फलाभावात्त कुर्वन्त्याकारान् कार्याभावादित्यर्थः, क्व?—कान्तारवृत्तौ दुर्भिक्षतायां च—दुर्भिक्षभावे चेति भावः, अत्र यत् क्रियते तदेवंभूतं प्रत्याख्यान निराकारमिति गाथार्थः ॥ १५७५ ॥ भावत्थो पुण णिज्जातकारणस्स तस्स जधा णत्थि एत्थ किंचिवि वित्ति ताहे महत्तरगादि आगारे ण करेति, अणाभोगसहसक्कारे करेज्ज, किं निमित्तं?, कट्ठ वा अंगुलिं वा मुधे छुहेज्ज अणाभोगेण सहसा वा, तेण दो आगारा कज्जति, त कहिं होज्जा?, कंतारे जथा सिणपल्लिमादीसु, कंतारेसु वित्ती य

---

१ विभाषा यदि स्तोक तदा ये नमस्कारसहितकाः पौरुषीका वा तेषां विसर्जयेद् ये न वा पारणकास्तो ये वाऽसहिष्णवस्तद्विभाषा। एवं ग्लानकार्येषु अन्यतरस्मिन् वा कार्ये कुलगणसंघकार्यादिविभाषा, एव यो भक्तपरित्यागं करोति साकारकृतमेतद् । २ भावार्थः पुनर्निर्यातकारणस्य तस्य यथा नास्ति अत्र काचिद्वृत्तिः तदा महत्तरादीनाकारान् न करोति अनाभोगसहसाकारौ कुर्यात् किंनिमित्त? काष्ठं वाऽङ्गुलिं वा मुखे क्षिपेत् अनाभोगेन सहसा वा तेन द्वावाकारौ क्रियेते, तत् क भवेत्? कान्तारे यथा ... कान्तारेषु वृत्तिश्च

पढमसघतणेण जिणकप्पेण य समं वोच्छिण्णं, तम्हि पुण काले आयरियपज्जंता थेरा तदा करेंता आसयि । व्याख्यातं नियम्नितद्वार, साम्प्रतं साकारद्वारं व्याचिख्यासुराह—

मयहरगागारेहिं अन्नत्थवि कारणंमि जायमि । जो भत्तपरिचाय करेइ सागारकडमेय ॥ १५७४ ॥

अय च महानय च महान् अनयोरतिशयेन महान् महत्तरः, आक्रियन्त इत्याकाराः, प्रभूतैवंविधाकारसद्भावस्थापनार्थं बहुवचनमतो महत्तराकारैर्हेतुभूतैरन्यत्र वा—अन्यस्मिन्नानाभोगादौ कारणजाते सति भुजिक्रियां करिष्येऽहमित्येव यो भक्तपरित्यागं करोति सागारकृतमेतदिति गाथार्थः ॥१५७४॥ अवयवत्थो पुण सह आगारेहिं सागार, आगारा उवरिं सुत्ताणुगम भण्णिहिंति, तस्य महत्तरागारेहिं—महल्लपयोयणेहिं, तेण अभत्तट्ठो पच्चक्खातो ताधे आयरिएहिं भण्णति—अमुग गामं गंतव्य, तेण निवेइय जथा मम अज्ज अब्भत्तट्ठो, जति ताव समत्थो करेतु जातु य, ण तरति अण्णो भत्तट्ठितो अभत्तट्ठिओ वा जो तरति सो वच्चतु, णत्थि अण्णो तस्स वा कज्जस्स असमत्थो ताधे तस्स चेव अभत्तट्ठियस्स गुरु विसज्जयन्ति, एरि तस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अभत्तट्ठितणिज्जरा सा सा से भवति गुरुणिओएण, एवं चरपूरलंभेवि विणस्सति भत्तं

१ प्रथमसंहननेन जिनकल्पेन च समं व्यवच्छिन्नं तस्मिन् पुनः काले आचार्या जिनकल्पिकाः स्थविरास्तदा कुर्वन्त आसन् ।२ अवयवार्थः पुनः सहाकारैः साकारं आकारा उपरि सूत्रानुगमे भविष्यन्ते तत्र महत्तराकारैः—महाप्रयोजनैः तेनाभक्तार्थः प्रत्याख्यातः तदाऽऽचार्यैर्भण्यते—अमुकं ग्रामं गन्तव्यं तेन निवेदितं यथा ममाद्याभक्तार्थः यदि तावत्समर्थः करोतु यातु च न शक्नोति अन्यो भक्तार्थोऽभक्तार्थो वा यः शक्नोति स व्रजतु, नास्त्यन्यस्तस्य वा कार्यस्य असमर्थः तदा तमेवाभक्तार्थिकं गुरवो विसृजन्ति ईदृशस्य तं जेमतोऽनभिलाषस्याभक्तार्थनिर्जरा या सा तस्य भवति गुरुनियोगेन एवमुत्सूरलाभेऽपि विनश्यति भक्तं

च तप' अमुके अमुके–अमुकदिवसे एतावत् षष्ठादि हृष्टेन–नीरुजेन ग्लानेन वा–अनीरुजेन कर्त्तव्यं यावदुच्छ्वासो यावदायुरिति गाथासमासार्थः ॥ १५७१ ॥ एतत् प्रत्याख्यानमुक्तस्वरूपं नियन्त्रितं धीरपुरुषप्रज्ञप्तं–तीर्थकरगणधरप्ररूपितं यद् गृह्णन्ति–प्रतिपद्यन्ते अनगारा–साधवः 'अनिभृतात्मानः' अनिदाना अप्रतिबद्धाः क्षेत्रादिष्विति गाथासमासार्थः ॥ १५७२ ॥ इदं चाधिकृतप्रत्याख्यानं न सर्वकालमेव क्रियते, किं तर्हि ?, चतुर्दशपूर्विजिनकल्पिकेषु प्रथम एव वज्रऋषभनाराचसंहनने,(अधुना तु)एतद् व्यवच्छिन्नमेव, आह–तदा पुनः किं सर्व एव स्थविरादयः कृतवन्तः आहोस्विज्जिनकल्पिकादय एवेति ?, उच्यते, सर्व एव,तथा चाह–स्थविरा अपि तदा(दा)चतुर्दशपूर्व्यादिकाले, अप्रतिबद्धाश्च कृतवन्त इति गाथासमासार्थः ॥१५७३॥ भावत्थो पुण नियंटितं णाम णियमितं, जथा एत्थ कायव्वं, अवस्सं अणवकंखं जथा एत्थ अवस्स कायव्वंति, मासे २ अमुगहिं दिवसहिं चउत्थादि छट्ठादि अट्ठमादि एवतिओ छट्ठेण अट्ठमेण वा, हट्ठो ताव करेति चेव, अति गिलाणो हवति तधावि करति चेव, णवरि ऊसासधरो, एत च पच्चक्खाणं पढमसंघतणी अपडिबद्धा अणिस्सिता इत्थ य परत्थ य, अवधारण मम असमत्थस्स अण्णो काहिति, एव सरीरए अप्पडिबद्धा अणिस्सिता कुव्वंति, एतं पुण चोद्दसपुव्वीसु

1 भावार्थः पुनर्नियन्त्रितं नाम नियमितं यथाऽत्र कर्त्तव्यं अवश्यंभावि अनवकाङ्क्षं यथाऽवश्यं कर्त्तव्यमिति मासे २ अमुष्मिन् दिवसे चतुर्थादि षष्ठादि अष्टमादि एतावत् षष्ठेनाष्टमेन वा, हृष्टस्तावत् करोत्येव यदि ग्लानो भवति तथापि करोत्येव परं उच्छ्वासधरः, एतच्च प्रत्याख्यानं प्रथमसंहननिनोऽप्रतिबद्धा अनिश्रिताः, अत्र चामुत्र च, अवधारणं ममासमर्थस्यान्यः करिष्यति, एवं शरीरेऽप्रतिबद्धा अनिश्रिताः कुर्वन्ति एतत् पुनश्चतुर्दशपूर्विषु

सार्थः ॥ १५६८ ॥ स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्यते तदतिक्रान्ते काल एतत् प्रत्याख्यानं–एवंविधमतिक्रान्तकरणादति
क्रान्तं भवति ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः ॥ १५६९ ॥ भावत्थो पुण पज्जोसवणाए तवं तेहिं चेव कारणेहिं न करेइ,
जो वा न समत्थो उववासस्स गुरुतवस्सिगिलाणकारणेहिं सो अतिकंते करेति, तधेव विभासा। व्याख्यातमतिक्रान्त
द्वारं, अधुना कोटीसहितद्वारं विवृण्वन्नाह—प्रस्थापकश्च–प्रारम्भकश्च दिवसः प्रत्याख्यानस्य निष्ठापकश्च–समाप्तिदिव
सश्च यत्र–प्रत्याख्याने 'समिति' त्ति मिलतः द्वावपि पर्यन्तौ तद् भण्यते कोटीसहितमिति गाथासमासार्थः ॥ १५७० ॥
भावत्थो पुण अस्य पच्चक्खाणस्स कोणो कोणो य मिलति, कथं?–गोसे आवस्सए अभत्तट्ठो गहितो अहोरत्तं अच्छिऊण
पच्छा पुणरवि अभत्तट्ठं करेति, वितियस्स पट्ठवणा पढमस्स निट्ठवणा, एते दोऽवि कोणा एगट्ठा मिलिता, अट्ठमादिसु
दुहतो कोडिसहितं जो चरिमदिवसे तस्सवि एगा कोडी, एवं आयंबिलनिव्वीतियएगासणएगट्ठाणगाणिवि, अथवा इमो
अण्णो विधी–अभत्तट्ठं कतं आयंबिलेण पारितं, पुणरवि अभत्तट्ठं करेति आयंबिलं च, एवं एगासणगादीहिवि संजोगो कातव्वो,
णिव्वीतिगादिसु सव्वेसु सरिसेसु विसरिसेसु य। गतं कोटिसहितद्वारं, इदानीं नियन्त्रितद्वारं व्यक्षेण निरूपयन्नाह—मास २

१ भावार्थः पुनः पर्युषणायां तपस्तैरेव कारणैर्न करोति यो वा न समर्थ उपवासाय गुरुतपस्विग्लानकारणैः सोऽतिक्रान्ते करोति तथैव विभाषा।
२ भावार्थः पुनरस्य प्रत्याख्यानस्य कोणः कोणश्च मिलतः कथं? प्रत्यूषे आवश्यकेऽभक्तार्थो गृहीतः अहोरात्रं स्थित्वा पश्चात् पुनरपि अभक्तार्थं करोति द्वितीयस्य प्रस्थापना प्रथमस्य निष्ठापना एतौ द्वावपि कोणौ एकत्र मिलितौ अष्टमादिषु द्विधातः कोटीसहितं चरमदिवसे (च) तस्याप्येका कोटी एवमाचाम्लनिर्विकृतिकैकाशनैकस्थानकान्यपि अथवाऽयमन्यो विधिः–अभक्तार्थः कृत आचाम्लेन पारयति पुनरभक्तार्थं करोति आचाम्लं च एवं एकाशनादिभिरपि संयोगः कर्तव्यः निर्विकृतिकादिषु सर्वेषु सदृशेषु विसदृशेषु च।

च तप' अमुके अमुके—अमुकदिवसे एतावत् षष्ठादि हृष्टेन—नीरुजेन ग्लानेन वा—अनीरुजेन कर्तव्यं यावदुच्छ्वासो यावदायुरिति गाथासमासार्थः ॥ १५७१ ॥ एतत् प्रत्याख्यानमुक्तस्वरूपं नियन्त्रितं धीरपुरुषप्रज्ञप्तं—तीर्थकरगणधरप्ररूपितं यद् गृह्णन्ति—प्रतिपद्यन्ते अनगारा—साधवः 'अनिभृतात्मानः' अनिदाना अप्रतिबद्धाः क्षेत्रादिष्विति गाथासमासार्थः ॥ १५७२ ॥ इदं चाधिकृतप्रत्याख्यानं न सर्वकालमेव क्रियते, किं तर्हि?, चतुर्दशपूर्विजिनकल्पिकेषु प्रथम एव वज्रऋषभनाराचसंहनने,(अधुना तु)एतद् व्यवच्छिन्नमेव, आह—तदा पुनः किं सर्व एव स्थविरादयः कृतवन्तः आहोस्विज्जिनकल्पिकादय एवेति?, उच्यते, सर्व एव,यथा चाह—स्थविरा अपि तथा(दा)चतुर्दशपूर्व्यादिकाले, अपिशब्दादन्ये च कृतवन्त इति गाथा समासार्थः॥१५७३॥ भावत्थो पुण निर्यटित णाम णियमितं, जथा एत्थ कायव्वं, अवधाऽण्णिच्छण्ण जथा एत्थ अवस्सं कायव्वंति, मासे २ अमुगेहिं दिवसेहिं चउत्थादि छट्ठादि अट्ठमादि एवतिओ छट्ठेण अट्ठमेण वा, हट्ठो ताव करेति चेव, जति गिलाणो हवति तथावि करेति चेव, णवरि ऊसासधरो, एत च पच्चक्खाणं पढमसंघयणी अपडिबद्धा अणिस्सिता इत्थ य परत्थ य, अवधारणं मम असमत्थस्स अण्णो काहिति, एव सरीरए अप्पडिबद्धा अणिस्सिता कुव्वंति, एतं पुण चोद्दसपुव्वीसु

---

१ भावार्थः पुनर्नियन्त्रितं नाम नियमितं यथाऽत्र कर्तव्यं अथवाऽधिकृत यथाऽऽत्मवश कर्तव्यमिति मासे २ अमुष्मिन् दिवसे चतुर्थादि षष्ठादि अष्टमादि एतावत् षष्ठाष्टमेन वा हृष्टावत् करोत्येव यदि ग्लानो भवति तथापि करोत्येव परं उच्छ्वासधरः, एतच्च प्रत्याख्यानं प्रथमसंहनिनोऽप्रतिबद्धा अनिश्रिता अत्र परस्मिंश्च, अवधारणं ममासमर्थस्यान्यः करिष्यति, एवं शरीरेऽप्रतिबद्धा अनिश्रिताः कुर्वन्ति एतच्च पुनश्चतुर्दशपूर्विभिः

सार्थः ॥ १५६८ ॥ स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्यते तदतिक्रान्ते काले एतत् प्रत्याख्यान-एवंविधमविक्रान्तकरणादतिक्रान्तं भवति ज्ञातव्यमिति गाथासमासार्थः ॥ १५६९ ॥ भावत्थो पुण पज्जोसवणाए तवं तेहिं चेव कारणेहिं न करेइ, जो वा न समत्थो उववासस्स गुरुतवस्सिगिलाणकारणेहिं सो अतिकंते करेति, तथेव विभासा । व्याख्यातमतिक्रान्तद्वारं, अधुना कोटीसहितद्वारं विवृण्वन्नाह—प्रस्थापकश्च-प्रारम्भकश्च दिवसः प्रत्याख्यानस्य निष्ठापकश्च-समाप्तिदिवसश्च यत्र-प्रत्याख्याने 'समिति' त्ति मिलतः द्वावपि पर्यन्तौ तद् भण्यते कोटीसहितमिति गाथासमासार्थः ॥ १५७० ॥ भावत्थो पुण जत्थ पच्चक्खाणस्स कोणो कोणो य मिलति, कथं?—गोसे आवस्सए अभत्तट्ठो गहितो अहोरत्तं अच्छिऊण पच्छा पुणरवि अभत्तट्ठं करेति, बितियस्स पट्ठवणा पढमस्स निट्ठवणा, एते दोऽवि कोणा एगट्ठा मिलिता, अट्ठमादिसु दुहतो कोडिसहितं जो चरिमदिवसे तस्सवि एगा कोडी, एवं आयंबिलनिव्वीतियएगासणा एगट्ठाणगाणिवि, अथवा इमो अण्णो विही—अभत्तट्ठं कतं आयंबिलेण पारितं, पुणरवि अभत्तट्ठं करेति आयंबिलं च, एवं एगासणगादीहिवि संजोगो कातव्वो, णिव्वीतिगादिसु सव्वेसु सरिसेसु विसरिसेसु य । गतं कोटिसहितद्वारं, इदानीं नियन्त्रितद्वारं व्यक्षेण निरूपयन्नाह—मास २

---

१ भावार्थः पुनः पर्युषणायां तपस्तैरेव कारणैर्न करोति यो वा न समर्थ उपवासाय गुरुतपस्विग्लानकारणैः सोऽतिक्रान्ते करोति तथैव विभाषा ।
२ भावार्थः पुनर्यत्र प्रत्याख्यानस्य कोणः कोणश्च मिलतः कथं? प्रत्यूषे आवश्यकेऽभक्तार्थो गृहीतः अहोरात्रं स्थित्वा पश्चात् पुनरपि अभक्तार्थं करोति द्वितीयस्य प्रस्थापना प्रथमस्य निष्ठापना एतौ द्वावपि कोणौ एकत्र मिलितौ अष्टमादिषु द्विधातः कोटीसहितं चरमदिवसः (स) तस्याप्येका कोटी एवमाचामाम्लनिर्विकृतिकैकासनैकस्थानकान्यपि अथवाऽयमन्यो विधिः—अभक्तार्थः कृत आचामाम्लेन पारयति पुनरप्यभक्तार्थं करोति आचामाम्लं च एवं एकासनादिभिरपि संयोगः कर्त्तव्यः, निर्विकृतादिषु सर्वेषु सदृशेषु विसदृशेषु च ।

च तप अमुकं अमुके—अमुकदिवसे एवाथत् षष्ठादि हृष्टेन—नीरुजेन ग्लानेन वा—अनीरुजेन कर्तव्यं यावदुच्छ्वासो यावदायुरिति गाथासमासार्थः ॥ १५७१ ॥ एतत् प्रत्याख्यानमुक्तस्वरूपं नियन्त्रितं धीरपुरुषप्रज्ञप्तं—तीर्थकरगणधरप्ररूपितं यद् गृह्णन्ति—प्रतिपद्यन्ते अनगारा—साधवः 'अनिभृतात्मानः' अनिदाना अप्रतिबद्धाः क्षेत्रादिष्विति गाथासमासार्थः ॥ १५७२ ॥ इद चाधिकृतप्रत्याख्यान न सर्वकालमेव क्रियते, किं तर्हि ?, चतुर्दशपूर्विजिनकल्पिकेषु प्रथम एव वज्रऋषभनाराचसंहनने, (अधुना तु)एतद् व्यवच्छिन्नमेव, आह—तदा पुनः किं सर्व एव स्थविरादयः कृतवन्तः आहोस्विज्जिनकल्पिकादय एवेति ?, उच्यते, सर्व एव, तथा चाह—स्थविरा अपि तदा(दा) चतुर्दशपूर्व्यादिकाले, अपिशब्दादन्ये च कृतवन्त इति गाथासमासार्थः ॥१५७३॥ भावत्थो पुण नियंटिव णाम णियमिव, जथा एत्थ कायवं, अथवाऽविच्छिण्ण जथा एत्थ अवस्सं कायवति, मासे २ अमुगेहिं दिवसेहिं चतुत्थादि छट्ठादि अट्ठमादि एवतिओ छट्ठेण अट्ठमेण वा, हट्ठो ताव करेति चेव, जति गिलाणो हवति तथावि करेति चेव, णवरि ऊसासधरो, एत च चवक्खाणं पढमसघतणी अपडिबद्धा अणिस्सिता इत्थ य परत्थ य, अवधारण मम असमत्थस्स अण्णो काहिति, एव सरीरए अप्पडिबद्धा अणिस्सिता कुव्वंति, एतं पुण चोद्दसपुवीसु

1 भावार्थः पुनर्नियन्त्रितं नाम नियमितं यथाऽत्र कर्तव्य अथवाऽच्छिन्नं यथाऽत्रावश्यं कर्तव्यमिति मासे १ अमुष्मिन् दिवसे चतुर्थादि षष्ठादि अष्टमादि एतावत् षष्ठाष्टमेन वा हृष्टस्तावत् करोत्येव, यदि ग्लानो भवति तथापि करोत्येव परं उच्छ्वासधरः एतत् प्रत्याख्यानं प्रथमसंहननिनोऽप्रतिबद्धा अनिश्रिताः, अत्र चामुत्र च अवधारणं ममासमर्थस्यान्यः करिष्यति एवं शरीरेऽप्रतिबद्धा अनिश्रिताः कुर्वन्ति एतत् पुनश्चतुर्दशपूर्विभिः

करणादनागतं ज्ञातव्य भवतीति गाथार्थः ॥१५६७॥ इमो पुण एत्थ भावत्थो—अणागत पच्चक्खाण, जधा अणागते तवं करेज्जा, पज्जोसवणागहण एत्थ विकिट्ठ कीरति, सवजहण्णो अट्ठमं जधा पज्जोसवणाए, तथा चातुम्मासिए छट्ठं पक्खिए अब्भत्तट्ठं अण्णेसु य ण्हाणाणुजाणादिसु तहिं ममं अंतराइयं होज्जा, गुरू—आयरिया तेसिं कातव्वं, ते किं ण करेंति?, असहू होज्जा, अथवा अण्णा काइ आणत्तिगा होज्जा कायविया गामतरादि सेहस्स वा आणेयव सरीरवेयावडिया वा, ताधे सो उववासं करेति गुरुवेयावच्च च ण सक्केति, जो अण्णो दोण्हवि समत्थो सो करेतु, जो वा अण्णो समत्थो उववासस्स सो करेति णत्थि ण वा लभेज्जा न याणेज्ज वा विधिं ताधे सो चेव पुव्व उववास कातूणं पच्छा तद्दिवस भुंजेज्जा, तवसी णाम खमओ तस्स कातव्वं होज्जा, किं तदा ण करेति?, सो तीरं पत्तो पज्जोसवणा उस्सारिता, असहुत्ते वा सयं पाराविओ, ताधे सयं हिंडितुं समत्थो आणि अब्भासे तत्थ वच्चउ, णत्थि ण लहति सेस जधा गुरूणं विभासा, गेलण्ण—जाणति जधा तहिं

---

१ भवं पुनरत्र भावार्थः—अनागतं प्रत्याख्यानं यथाऽनागत तपः कुर्यात् पर्युषणाग्रहणमत्र विकृष्टं क्रियते सर्वजघन्यमष्टमं यथा पर्युषणायां तथा चतुर्मास्यां षष्ठं पाक्षिकेऽभक्तार्थं अन्येषु वा स्नानानुयानादिषु तदा ममान्तरायिकं भविष्यति गुरवः—आचार्यास्तेषां कर्त्तव्यं ते किं न कुर्वन्ति? असहिष्णवो वा स्युः अथवा अन्या का काचिदाज्ञप्तिः कर्त्तव्या भवेत् ग्रामान्तरगमनादिका शैक्षकस्य वाऽऽनेतव्यं शरीरवैयावृत्त्यं वा तदा स उपवासं करोति गुरुवैयावृत्त्यं च न शक्नोति योऽन्यो द्वयोरपि समर्थः स करोतु, अन्यो वा यः समर्थ उपवासाय स करोति नास्ति न वा लभेत न जानीयाद्वा विधिं तदा स चैवोपवासं पूर्वं कृत्वा पश्चात् तद् (पर्व) दिवसे भुञ्जीत तपस्वी नाम क्षपकस्तस्य कर्त्तव्यं भवेत् किं तदा न करोति? स तीरं प्राप्तः पर्युषणा उत्सारिता असहिष्णुर्वा स्वयं पारितवान् तदा स्वयं हिण्डितुं समर्थो यानि समीपे तत्र व्रजतु, नास्ति न लभते शेषं यथा गुरूणां विभाषा ग्लानत्व—जानाति यथा तत्र

दिवसे असहू होति, विज्जेण वा भासितं अमुगं दिवसं कीरहिति, अयवा सयं चेव सो गंडरोगादीहिं तेहिं दिवसेहिं असहू भवतित्ति, सेसविभासा अथा गुरुम्मि, कारणा कुलगणसंघे आयरियगच्छे वा तधेव विभासा, पच्छा सो अणागतकाले काऊणं पच्छा सो जेमेज्जा पज्जोसवणातिसु, तस्स जा किर णिज्जरा पज्जोसवणादीहि तहेव सा अणागते काले भवति। गतमनागतद्वारम्, अधुनाऽतिक्रान्तद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

पज्जोसवणाइ तवं जो खलु न करेइ कारणज्जाए। गुरुवेयावच्चेण तवस्सिगेलन्नयाए वा ॥ १५६८ ॥
सो दाइ तवोकम्मं पडिवज्जइ तं अइच्छिए काले। एयं पच्चक्खाणं अइकंतं होइ नायव्वं ॥ १५६९ ॥
पट्ठवणओ अ दिवसो पच्चक्खाणस्स निट्ठवणओ अ। अहियं समिति दुभिवि तं भणइ कोडिसहियं तु ॥ १५७० ॥
मासे २ अ तवो अमुगो अमुगे दिणम्मि एवइओ। हट्ठेण गिलाणेण व कायव्वो जाव ऊसासो ॥ १५७१ ॥
एयं पच्चक्खाणं नियंटियं धीरपुरिसपन्नत्तं। जं गिण्हतऽणगारा अणिस्सि(स्सि)अप्पा अपडिबद्धा ॥ १५७२ ॥
चउदसपुव्वी जिणकप्पिएसु पढमम्मि चेव संघयणे। एयं विच्छिन्नं खलु थेरावि तया करेसी य ॥ १५७३ ॥

पर्युषणायां तपो यः खलु न करोति कारणजाते सति, तदेव दर्शयति गुरुवैयावृत्त्येन तपस्विग्लानतया वेति गाथासमा

---

१ दिवसेऽसहिष्णुर्भवति वैद्येन वा भाषित अमुष्मिन् दिवसे करिष्यते अथवा स्वयमेव स गण्डरोगादिभिस्तेषु दिवसेषु असहिष्णुर्भवतीति शेषविभाषा यथा गुरौ कारणात् कुलगणसंघेषु आचार्ये गच्छे वा तथैव विभाषा पश्चात्सोऽनागतकाले कृत्वा पश्चात् स जेमेत् पर्युषणादिषु, तस्य या किल निर्जरा पर्युषणादिभिस्तथैव साऽनागते काले भवति।

करणादनागतं ज्ञातव्यं भवतीति गाथार्थः ॥१५९७॥ इमो पुण एत्थ भावत्थो—अणागत पच्चक्खाण, जधा अणागतं तवं करेज्जा, पज्जोसवणागहणं एत्थ किंचिद्धं कीरति, सव्वजहण्णो अट्ठमं जधा पज्जोसवणाए, तथा चातुम्मासिए छट्ठं पक्खिए अब्भत्तट्ठे अण्णेसु य ण्हाणाणुजाणादिसु तहिं ममं अंतराइयं होज्जा, गुरू—आयरिया तेसिं कातव्वं, ते किं ण करेंति?, गिलाइ होज्जा, अथवा अण्णा काइ आणत्तिगा होज्जा कायव्विया गामंतरादि सेहस्स वा आणेयव्व सरीरवेयावडिया वा, ताधे सो उववासं करेति गुरुवेयावच्चं च ण सक्केति, जो अण्णो दोण्हवि समत्थो सो करेतु, जो वा अण्णो समत्थो उववासस्स सो करति णत्थि ण वा लभेज्जा न याणेज्ज वा विधिं ताधे सो चेव पुव्व उववासं काऊणं पच्छा तद्दिवसं भुंजेज्जा, तवसी णाम खमओ तस्स कातव्वं होज्जा, किं तदा ण करेति?, सो तीरं पत्तो पज्जोसवणा उस्सारिता, असहुत्ते वा सयं पारावितो, ताधे सयं हिंडितु समत्थो णत्थि अब्भासे तस्स भत्तं, णत्थि ण लहति सेसं जधा गुरूणं विभासा, गेलण्णं—आणति जधा तहिं

---

१ अयं पुनरत्र भावार्थः—अनागतं प्रत्याख्यानं यथाऽनागतं तपः कुर्यात् पर्युषणाग्रहणमत्र किञ्चित् क्रियते सर्वजघन्यमष्टमं यथा पर्युषणायां, तथा चातुर्मास्ये षष्ठं पाक्षिकेऽभक्तार्थं, अन्येषु च स्नानानुयानादिषु तदा ममान्तरायिकं भविष्यति गुरवः—आचार्यास्तेषां कर्तव्यं ते किं न कुर्वन्ति? ग्लानिर्भवेत् वा स्यात् अथवा अन्या वा काचिदाज्ञप्तिः कर्तव्या भवेत् ग्रामान्तरगमनादिका शैक्षकस्य वाऽन्वेषणं शरीरवैयावृत्त्यं वा तदा स उपवासं करोति गुरुवैयावृत्त्यं च न शक्नोति योऽन्यो द्वयोरपि समर्थः स करोतु, अन्यो वा यः समर्थ उपवासस्य स करोति नास्ति न वा लभेत न जानीयाद्वा विधिं तदा स चैव पूर्वं कृत्वा पश्चात् तद् (वर्ष) दिवसे भुञ्जीत तपस्वी नाम क्षपकस्तस्य कर्तव्यं भवेत् किं तदा न करोति?, स तीरं प्राप्तः पर्युषणा उत्सारिता असहिष्णुतया स्वयं पारितवान् तदा स्वयं हिण्डितुं समर्थो नास्ति समीपे तस्य भक्तं, नास्ति न लभते शेषं यथा गुरूणां विभाषा ग्लानत्वे—आज्ञापयति यथा तत्र

मनाकारं, 'परिमाणकृत'मिति दत्त्यादिकृतपरिमाणमिति भावना 'निरवशेष'मिति समग्राशनादिविषय इति गाथार्थः ॥ १५९४ ॥ 'सङ्केतं चेये'ति केतं–चिह्नमङ्गुष्ठादि सह केतेन सङ्केतं सचिह्नमित्यर्थः, 'अद्धा य'त्ति कालाख्या, अद्धा माश्रित्य पौरुष्यादिकालमानमपीत्यर्थः, 'प्रत्याख्यानं तु दशविधं' प्रत्याख्यानशब्दः सर्वत्रानागतादौ सम्बध्यते, तुशब्द स्यैवकारार्थत्वात् व्यवहितोपन्यासात् दशविधमेव, इह चोपाधिभेदात् स्पष्ट एव भेद इति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति । आह–इदं प्रत्याख्यानं प्राणातिपातादिप्रत्याख्यानवत् किं तावत् स्वयमकरणादिभेदभिन्नमनुपालनीय माहोस्विद न्यथा ?, अन्यथेत्याह–स्वयमेवानुपालनीय, न पुनरन्यकारणे अनुमतौ वा निषेध इति, आह च–'दाणुवदेसे जध समाधि'त्ति अभ्याहारदाने यतिप्रदानोपदेशे च 'यथा समाधिः' यथा समाधानमात्मनोऽप्यपीडया प्रवर्तितव्यमिति वाक्य शेषः, उक्तं च–'भावितजिणवयणाणं ममत्तरहियाण णत्थि हु विसेसो । अप्पाणंमि परंमि य तो वज्जे पीडमुभओवि ॥१॥'त्ति गाथार्थः ॥ १५९५ ॥ साम्प्रतमनन्तरोपन्यस्तदशविधप्रत्याख्यानाद्यभेदावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह–

होही पज्जोसवणा मम य तया अंतराइयं हुज्जा । गुरुवेयावच्चेणं तवस्सिगेलन्नयाए वा ॥ १५९६ ॥

सो दाइ तवोकम्मं पडिवज्जे स अणागए काले । एयं पच्चक्खाणं अणागयं होइ नायव्वं ॥ १५९७ ॥

भविष्यति पर्युषणा मम च तदा अन्तरायं भवेत्, केन हेतुनेत्यत आह–गुरुवैयावृत्त्येन तपस्विग्लानतया वेत्युपल क्षणमिदमिति गाथासमासार्थः ॥ १५९९ ॥ स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्येत तदनागतकाले तत्प्रत्याख्यानमेवम्भूतमनागत

१ भावितजिनवचनानां ममत्वरहितानां नास्त्येव विशेषः । आत्मनि परस्मिंश्च ततो वर्जयेत् पीडामुभयोरपि ॥ १ ॥

त्तरगुणप्रत्याख्यानं, अधुना सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानमुच्यते, तत्रेयं गाथा—'पच्चक्खाणं' गाहा। अथवा देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानं श्रावकाणामेव भवतीति तदधिकार एवोक्तं, सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं तु लेशत उभयसाधारणमपीत्यतस्तदभिधित्सयाऽऽह—

पच्चक्खाणं उत्तरगुणेसु खमणाइयं अणेगविहं। तेण य इहयं पगयं तंपि य इणमो दसविहं तु ॥ १५६३ ॥

अणागयमइक्कंत कोडिसहियं नियंटिअं चेव। सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं ॥ १५६४ ॥

संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं तु दसविहं। सयमेवणुपालणियं, दाणुवएसे जह समाही ॥ १५६५ ॥

व्याख्या—प्रत्याख्यानं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, 'उत्तरगुणेषु' उत्तरगुणविषयं प्रकरणात् साधूनां तावदिदमिति—क्षपणादि, क्षपणग्रहणाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, आदिग्रहणाद्विचित्राभिग्रहपरिग्रहः, 'अनेकविध'मित्यनेकप्रकार, प्रकारश्च वक्ष्यमाणस्तेनात्र कविधेन, चशब्दादुक्तलक्षणेन च, 'अत्रे'ति सामान्येनोत्तरगुणप्रत्याख्याननिरूपणाधिकारे, अथवा चशब्दस्यैवकारार्थत्वात् तेनैव,'अत्रे'ति सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानप्रक्रमे प्रकृतम्—उपयोगोऽधिकार इति पर्यायस्तदपि चेद दशविधं तु-मूला पेक्षया दशविधं दशप्रकारकमेवेति गाथार्थः॥१५६३॥अधुना दशविधमेवोपन्यस्यन्नाह—'अणागत॰'गाथा, अनागतकरणा दनागतं, पर्युषणादावाचार्यादिवैयावृत्त्यकरणान्तरायसद्भावादारत एव तत्तपःकरणमित्यर्थः, एवमतिक्रान्तकरणादतिक्रान्तं, भावना प्राग्वत्। 'कोटिसहित'मिति कोटीभ्यां सहितं कोटिसहितं—मिलितोभयप्रत्याख्यानकोटि, चतुर्थादिकरण मेवेत्यर्थः, 'नियन्त्रित चैव' नितरां यन्त्रितं नियन्त्रितं प्रतिज्ञातदिनादौ ग्लानाद्यन्तरायभावेऽपि नियमात् कर्त्तव्यमिति हृदयं, 'साकारं' आक्रियन्त इत्याकाराः—प्रत्याख्यानापवादहेतवोऽनाभोगादयः सहाकारैः साकार, तथाऽविद्यमानाकार

न तत् गृह्यते, किं तर्हि ?, सर्वायुष्कक्षयलक्षणमिति मरणमेवान्तो मरणान्तः तत्र भवा मारणान्तिकी बहुव्रीहेः (पूर्वपदात्) इति ठञ् (पा० ४–४–६४) संलिख्यतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना–तपोविशेपलक्षणा तस्याः जोषणं–सेवन तस्याराधना–अखण्डकालस्य करणमित्यर्थः, चशब्दः समुच्चयार्थः । एत्थ सामायारी–आसेवितगिहिधम्मेण किल सावगेण पच्छा णिक्खमितवं, एवं सावगधम्मो उज्जमितो होति, ण सक्कति ताधे भत्तपच्चक्खाणकाले संथारसमणेण होतवंति विभासा । आह चकम्–'अपश्चिमा मारणान्तिकी संलेखनाजोषणाऽऽराधना'ऽतिचाररहिता सम्यक् पालनीयेति वाक्यशेषः, अथ के पुनरस्या अतिचारा इति तानुपदर्शयन्नाह–'इमीए समणोवासएणं०' अस्या–अनन्तरोदितसंलेखनासेवनाराध नायाः श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा–इहलोकाशंसाप्रयोगः, इहलोको–मनुष्य लोकस्तस्मिन्नाशंसा–अभिलाषस्तस्याः प्रयोग इति समासः श्रेष्ठी स्याममात्यो वेति, एवं 'परलोकाशंसाप्रयोगः' परलोके–देवलोके, एव जीविताशंसाप्रयोगः, जीवितं–प्राणधारणं तत्राभिलाषप्रयोगः–यदि बहुकालं जीवेयमिति, इयं च वस्त्रमाल्यपुस्तकवाचनादिपूजादर्शनात् बहुपरिवारदर्शनाच्च, लोकश्लाघाश्रवणाच्चैवं मन्यते–जीवितमेव श्रेयः प्रत्याख्या तानशनस्यापि, यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तत इति, 'मरणाशंसाप्रयोगः' न कश्चित् प्रतिपन्नानशनं गवेषयति न सपर्ययाऽऽद्रियते नैव कश्चित् श्लाघते, ततस्तस्यैवंविधश्चित्तपरिणामो जायते–यदि शीघ्रं म्रियेऽहमपुण्यकर्मेति, 'भोगाशंसाप्र योग ' जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्याम् वासुदेवो महामण्डलिकः शुभरूपवानित्यादि । उक्तः श्रावकधर्मः, व्याख्यातं सप्रभेद देशो

1 अत्र सामाचारी–आसेवितगृहिधर्मेण किल श्रावकेण पश्चान्निष्क्रमितव्यम् एवं श्रावकधर्मो मक्तुमतः न शक्नोति तदा भक्तप्रत्याख्यानकाले संस्तार श्रमणेन भवितव्यं विभाषा ।

क्रिया, तत्र निसर्गः—स्वभावः अधिगमस्तु यथावस्थितपदार्थपरिच्छेद इति, आह—मिथ्यात्वमोहनीयकर्मक्षयोपशमादेरिद भवति कथमुच्यते निसर्गेण वेत्यादि ?, उच्यते, स एष क्षयोपशमादिर्निसर्गाधिगमजन्मेति न दोषः, उक्तं च—"ऊसरदेसं दड्डिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छस्स अणुदये उवसमसम्मं लभति जीवो ॥ १ ॥ जीवादीणमधिगमो मिच्छत्तस्स तु खयोवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो पावेइ विसुद्धपरिणामो ॥ २ ॥"त्ति, अलं प्रसङ्गेन, इह भवोदधौ दुष्प्रापां सम्यक्त्वादिभावरत्नावाप्तिं विज्ञायोपलब्धजिनवचनसारेण श्रावकेण निरन्तरमप्रमादपरेणातिचारपरिहारयता भवितव्यमित्यस्यार्थस्योक्तस्यैव विशेषख्यापनायानुक्तशेषस्य चाभिधानायेदमाह ग्रन्थकारः 'पञ्चातिचारविशुद्ध'मित्यादि सूत्रं, इदं च सम्यक्त्वं प्राग्निरूपितशङ्कादिपञ्चातिचारविशुद्धमनुपालनीयमिति शेषः, तथा अणुव्रतगुणव्रतानि—प्राग्निरूपितस्वरूपाणि इहमतिचाररहितान्येवानुपालनीयानि, तथाऽभिग्रहाः—कृतलोचघृतप्रदानादयः शुद्धा—भङ्गाद्यतिचाररहिता एवानुपालनीयाः, अन्ये च प्रतिमादयो विशेषकरणयोगाः सम्यक्परिपालनीयाः, तत्र प्रतिमाः—पूर्वोक्ताः 'दसणवयसामाइय' इत्यादिना ग्रन्थेन, आदिशब्दादनित्यादिभावनापरिग्रहः, तथा अपश्चिमा मारणान्तिकी संलेखनाजोषणाराधना चातिचाररहिता पालनीयेत्यध्याहारः, तत्रैव पश्चिमैवापश्चिमा मरणं—प्राणत्यागलक्षणं, इह यद्यपि प्रतिक्षणमावीचीमरणमस्ति तथाऽपि

---

1 ऊषरदेशं दग्धं च विध्यायति वनदवः प्राप्य । एवं मिथ्यात्वस्यानुदये औपशमिकसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥ १ ॥ जीवादीनामधिगमो मिथ्यात्वस्य क्षयोपशमभावे । अधिगमसम्यक्त्वं जीवः प्राप्नोति विशुद्धपरिणामः ॥ २ ॥

अईयारविसुद्धं अणुव्वयगुणव्वयाइं च अभिग्गहा अन्नेऽवि पडिमादओ विसेसकरणजोगा, अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणाझूसणाराहणया, इमीए समणोवासएण इमे पंच०, तंजहा—इहलोगाससप्पओगे परलोगाससप्पओगे जीवियाससप्पओगे मरणाससप्पओगे कामभोगाससप्पओगे ॥ ११ ॥ (सूत्रं)

अथ पुनः श्रमणोपासकधर्मे पुनःशब्दोऽवधारणार्थः, अत्रैव न शाक्यादिश्रमणोपासकधर्मे, सम्यक्त्वाभावेनाणुव्रताद्यभावादिति, वक्ष्यति च—'एत्थ पुण समणोवासगधम्मे मूलवत्थु संमत्त'मित्यादि, पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपादितस्वरूपाणि त्रीणि गुणव्रतानि उक्तलक्षणान्येव 'यावत्कथिकानी'ति सकृद्गृहीतानि यावज्जीवमपि भावनीयानि, चत्वारीति संख्या 'शिक्षापदव्रतानी'ति शिक्षा—अभ्यासस्तस्य पदानि—स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि, 'इत्वराणी'ति तत्र प्रतिदिवसानुष्ठेये सामायिकदेशावकाशिके पुनः पुनरुच्चार्ये इति भावना, पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ न प्रतिदिवसाचरणीयाविति । आह—अस्य श्रमणोपासकधर्मस्य किं पुनर्मूलवस्त्विति ?, अत्रोच्यते, सम्यक्त्वं, तथा चाह ग्रन्थकार—'एतस्स पुणो समणोवासग०' अस्य पुनः श्रमणोपासकधर्मस्य, पुनःशब्दोऽवधारणार्थः अस्यैव, शाक्यादिश्रमणोपासकधर्मे सम्यक्त्वाभावात् न मूलवस्तु सम्यक्त्वं, यसम्यक्त्वसिद्धाणुव्रतादयो गुणास्तद्भावभावित्वेनेति वस्तु मूलभूतं द्वारभूतं च यद् वस्तु च मूलवस्तु, तथा चोक्तम्—"द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः । द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य, सम्यक्त्वं परिकीर्तितम् ॥१॥" सम्यक्त्व—प्रशमादिलक्षणं, उक्तं च—"प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्व" (तत्त्वा० भाष्ये अ०१सू०२)मिति, कथं पुनरिदं भवत्यत आह—'तन्निसग्गेण०' तत्—वस्तुभूतं सम्यक्त्वं निसर्गेण वाऽधिगमेन वा भवतीति

ष्टोतोत्ति विभाषा । इदमपि च शिक्षापदमतमतिचाररहितमनुपालनीयमिति, अत आह—अतिथिसंविभागस्य—प्रागुक्तनिरुपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—'सचित्तनिक्षेपणं' सचित्तेषु—व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मातृस्थानतः, एवं 'सचित्तपिधानं' सचित्तेन फलादिना पिधानं—स्थगनमिति समासः, भावना प्राग्वत्, 'कालातिक्रम' इति कालस्यातिक्रमः कालातिक्रम इति उचितो यो भिक्षाकालः साधूनां तमतिक्रम्यानागतं वा भुङ्क्तेऽतिक्रान्ते वा, तदा च किं तेन लब्धेनापि कालातिक्रान्तत्वात् तस्य, उक्तं च—"काले दिण्णस्स पहेयणस्स अग्घो ण तीरते काउं । तस्सेव अकालपणामियस्स गेण्हतया णत्थि ॥ १ ॥" 'परव्यपदेश' इत्यात्मव्यतिरक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यपदेश इति समासः, साधोः पोषधोपवासपारणकाले भिक्षायै समुपस्थितस्य प्रकटमन्नादि पश्यतः श्रावकोऽभिधत्ते—परकीयमिदमिति, नास्माकीनमतो न ददामि, किञ्चियाचितो वाऽभिधत्ते—विद्यमान एवामुकस्यदमस्ति, तत्र गत्वा मार्गयत यूयमिति, 'मात्सर्य' इति याचितः कुप्यति सदपि न ददाति, 'परोन्नतिवैमनस्य च मात्सर्य'मिति, एतेन तावद् द्रमकेण याचितेन दत्तं किमहं ततोऽप्यून इति मात्सर्याद् ददाति, कषायकलुषितेनैव चित्तेन ददतो मात्सर्यमिति, व्याख्यातं सातिचारं चतुर्थं शिक्षापदव्रतं, अधुना इत्येष श्रमणोपासकधर्म्मः । आह—कानि पुनरणुव्रतादीनामित्वराणि यावत्कथिकानीति ?, अत्रोच्यते—

इत्थ पुण समणोवासगधम्मे पञ्चाणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं, एयस्स पुणो समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं, तंजहा—तं निसग्गेण वा अभिगमेण वा पञ्च

१ भविष्यतीति विभाषा । २ काले दत्तस्स प्रहेणकस्यार्घो न शक्यते कर्तुम् । तस्यैवाकालप्रणामितस्य ग्राहका न सन्ति ॥ १ ॥

भईयारविसुद्धं अणुव्वयगुणव्वयाइं च अभिग्गहा अन्नेऽवि पडिमादओ विसेसकरणजोगा, अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणाझूसणाराहणया, इमीए समणोवासएण इमे पंच०, तंजहा—इहलोगाससप्पओगे परलोगाससप्पओगे जीवियाससप्पओगे मरणाससप्पओगे कामभोगाससप्पओगे ॥ १२ ॥ (सूत्रं)

अत्र पुनः श्रमणोपासकधर्मे पुनःशब्दोऽवधारणार्थः, अत्रैव न शाक्यादिश्रमणोपासकधर्मे, सम्यक्त्वाभावेनाणुव्रताद्यभावादिति, वक्ष्यति च—'एत्थ पुण समणोवासगधम्मे मूलवत्थुं संमत्त'मित्यादि, पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपादितस्वरूपाणि त्रीणि गुणव्रतानि उक्तलक्षणान्येव 'यावत्कथिकानी'ति सकृद्गृहीतानि यावज्जीवमपि भावनीयानि, चत्वारीति संख्या 'शिक्षापदव्रतानी'ति शिक्षा—अभ्यासस्तस्य पदानि—स्थानानि तान्येव व्रतानि शिक्षापदव्रतानि, 'इत्वराणी'ति तत्र प्रतिदिवसानुष्ठेये सामायिकदेशावकाशिके पुनः पुनरुच्चार्ये इति भावना, पौषधोपवासातिथिसंविभागौ तु प्रतिनियतदिवसानुष्ठेयौ न प्रतिदिवसाचरणीयाविति । आह—अस्य श्रमणोपासकधर्मस्य किं पुनर्मूलवस्त्विति ?, अत्रोच्यते, सम्यक्त्वं, तथा चाह ग्रन्थकारः—'एतस्स पुणो समणोवासग०' अस्य पुनः श्रमणोपासकधर्मस्य, पुनःशब्दोऽवधारणार्थः अस्यैव, शाक्यादिश्रमणोपासकधर्मे सम्यक्त्वाभावात् न मूलवस्तु सम्यक्त्वं, वस त्यस्मिन्नणुव्रतादयो गुणा इति भावसाधित्वेनेति वस्तु मूलभूतं द्वारभूतं च तद् वस्तु च मूलवस्तु, तथा चोक्तम्—"द्वारं मूलं प्रतिष्ठानमाधारो भाजनं निधिः । द्विषट्कस्यास्य धर्मस्य, सम्यक्त्वं परिकीर्तितम् ॥१॥" सम्यक्त्वं—प्रशमादिलक्षणं, उक्तं च—"प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्व"(तत्त्वा० भाष्ये अ० १ सू० २)मिति, कथं पुनरिदं भवत्यत आह—'तन्निसग्गेण०' तत्—वस्तुभूतं सम्यक्त्वं निसर्गेण वाऽधिगमेन वा भवतीति

हीनोऽपि विभाषा । इदमपि च शिक्षापदमसमतिचाररहितमनुपालनीयमिति, अत आह—अतिथिसंविभागस्य—प्रागुनिरूपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—'सचित्तनिक्षेपणं' सचित्तेषु—व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मातृस्थानतः, एवं 'सचित्तपिधानं' सचित्तेन फलादिना पिधानं—स्थगनमिति समासः, भावना प्रागुक्तवत्, 'कालातिक्रम' इति कालस्यातिक्रमः कालातिक्रम इति उचितो यो भिक्षाकालः साधूनां तमतिक्रम्यानागतं वा भुक्तेऽतिक्रान्ते वा, तदा च किं तेन लब्धेनापि कालातिक्रान्तत्वात् तस्य, उक्तं च—"काले दिण्णस्स पहेयणस्स अग्घो ण तीरते काउं । तस्सेव अकालपणामियस्स गेण्हंतया णत्थि ॥ १ ॥" 'परव्यपदेश' इत्यात्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य व्यपदेश इति समासः, साधोः पोषधोपवासपारणकाले भिक्षायै समुपस्थितस्य प्रकटमन्नादि पश्यतः श्रावकोऽभिधत्ते—परकीयमिदमिति, नास्माकीनमतो न ददामि, किञ्चिद्याचितो वाऽभिधत्ते—विद्यमान एवामुकस्येदमस्ति, तत्र गत्वा मार्गयत यूयमिति, 'मात्सर्य' इति याचितः कुप्यति सदपि न ददाति, 'परोन्नतिवैमनस्यं च मात्सर्य'मिति, एतेन तावद् द्रमकेण याचितो दत्तं किमहं ततोऽप्यून इति मात्सर्याद् ददाति, कषायकलुषितेनैव चित्तेन ददतो मात्सर्यमिति, व्याख्यातं सातिचारं चतुर्थं शिक्षापदमतं, अधुना इत्येष श्रमणोपासकधर्म्मः । आह—कानि पुनरणुव्रतादीनामित्वराणि यावत्कथिकानीति?, अभोच्यते—

इत्थ पुण समणोवासगधम्मे पंचाणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं, एयस्स पुणो समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं, तंजहा—तं निसग्गेण वा अभिगमेण वा पंच

१ भविष्यतीति विभाषा । २ काले दत्तस्य प्रहेणकस्यार्घो न शक्यते कर्तुम् । तस्यैवाकालप्रणामितस्य ग्राहका न सन्ति ॥ १ ॥

अण्णो भाण पडिलेहेति, मा अंतराइयदोसा ठवितगदोसा य भविस्संति, सो जति पढमाए पोरुसीए णिमंतेति अस्थि णमोक्कारसहिताइतो तो गेण्हति, अधव णत्थि ण गेण्हति, जं पडिसमयं होति, जति घणं रुगेज्जा ताधे गेण्हति सचिक्खावेज्जति, जो वा उग्घाडाए पोरिसिए पारेति पारणइत्तो अण्णो वा तस्स दिज्जति, पच्छा तेण सावगेण समगं गम्मति, संघाडगो वच्चति, एगो ण वट्टति पेसितुं, साधू पुरओ सावगो मग्गतो, घरं णेऊण आसणेण उवणिमंतिज्जति, जति णिविट्ठगा तो लट्ठयं, अध ण णिवेसति तधावि विणओ पउत्तो, ताधे भत्तं पाणं सयं चेव देति, अधवा भाणं धरेति भज्जा देति, अधवा ठितीओ अच्छति जाव दिण्णं, साधूवि सावसेसं दव्वं गेण्हति, पच्छाकम्मपरिहारणट्ठा, दाऊण वंदितुं विसज्जति, विसज्जेता अणुगच्छति, पच्छा सयं भुंजति, जं च किर साधूण ण दिण्णं तं सावगेण ण भोत्तव्वं, जति पुण साधू णत्थि ताधे देसकालवेलाए दिसालोगो कातव्वो, विसुद्धभावेण चिंतियव्वं—जति साधुणो होंता तो णित्थारितो

१ अन्यो भाजनं प्रतिलेखयति माऽन्तरायिका दोषा स्थापनादोषाश्च च भविष्यन्ति यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते अस्ति नमस्कारसहितका गृह्णन्ते- न च नास्ति न गृह्णन्ते यद्योपरमं भवेत् यदि घनं रुन्ध्यात् तदा गृह्णन्ते संरक्ष्यते यो वोद्घाटपौरुष्यां पारयति पारणकारको वा तस्मै दीयते पश्चात्तेन श्राव- केन समं गम्यते संघाटको व्रजति एको न वर्त्तते प्रेषितुं साधुः पुरतः श्रावकः पृष्ठतः गृहं नीत्वाऽऽसनेन निमन्त्रयति यदि निविष्टा वरं नाथ निविशन्ति तथापि विनयः प्रयुक्तो (भवति) तदा भक्तं पानं वा स्वयमेव ददाति अथवा भाजनं धारयति भार्या ददाति अथवा स्थित एव तिष्ठति यावद्दत्तं साधुरपि सावशेषं द्रव्यं गृह्णाति पश्चात्कर्मपरिहारणाय दत्त्वा वन्दित्वा विसर्जयति विसृज्यानुगच्छति पश्चात् स्वयं भुङ्क्ते यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं न तच्छ्रावकेण भोक्तव्यं, यदि पुनः साधुर्नास्ति तदा देशकालवेलायां दिगालोकः कर्त्तव्यः विशुद्धभावेन चिन्तयितव्यं—यदि साधवोऽभविष्यन् तदा निस्तारितोऽ-

संविभागोऽतिथिसंविभागः, संविभागग्रहणात् पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारमाह, नामशब्दः पूर्ववत्, 'न्यायागताना'मिति न्यायः द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानं स्वस्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकहेयों तेन तादृशा न्यायेनागताना-प्रासानाम्, अनेनान्यायागताना प्रतिषेधमाह, कल्पनीयानामुद्गमादिदोषपरिवर्जितानामनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह, अन्नपानादीनां द्रव्याणाम्, आदिग्रहणात् वस्त्रपात्रौषधभेषजादिपरिग्रहः, अनेनापि हिरण्यादिव्यवच्छेदमाह, 'देशकालश्रद्धासत्कार क्रमयुक्तं' तत्र नानाव्रीहिकोद्रवकङ्गुगोधूमादिनिष्पत्तिभाग् देशः सुभिक्षदुर्भिक्षादिः कालः विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा अभ्युत्थानासनदानवन्दनानुव्रजनादिः सत्कारः पाकस्य पेयादिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः, एभिर्देशादिभिर्युक्तं-समन्वितं, अनेनापि विपक्षव्यवच्छेदमाह, 'परया' प्रधानया भक्त्येति, अनेन फलप्राप्तौ भक्तिकृतमतिशयमाह, आत्मानुग्रहबुद्ध्या न पुनर्यत्यनुग्रहबुद्ध्येति, तथाहि—आत्मपरानुग्रहपरा एव यतयः संयता मूलगुणोत्तरगुणसम्पन्ना साधवस्तेभ्यो दानमिति सूत्राक्षरार्थः। एत्थ सामाचारी—सावगेण पोसहं पारेंतेण णियमा साहूणमदाउं ण पारेयव्वं, अन्नदा पुण अनियमा-दाउं वा पारेति पारितो वा देइत्ति, तम्हा पुव्वं साहूणं दाउं पच्छा पारेतव्वं, कधं ?, जाधे देसकालो ताधे अप्पणो सरीरस्स विभूसं काउं साहुपडिस्सयं गंतुं णिमंतेति, भिक्खं गेण्हधत्ति, साहूण का पडिवत्ती ?, ताधे अण्णो पडलं अण्णो मुहणंतगं

1 अत्र सामाचारी—श्रावकेण पोषधं पारयता नियमात् साधुभ्योऽदत्त्वा न पारयितव्यं अन्यदा पुनरनियमः दत्त्वा वा पारयति पारयित्वा वा ददातीति तस्मात् पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यं कथं ? यदा देशकालस्तदाऽऽत्मनः शरीरस्य विभूषां कृत्वा साधुप्रतिश्रयं गत्वा निमन्त्रयते भिक्षां गृह्णीतेति साधूनां का प्रतिपत्तिः ?—तदाऽन्यः पटलं अन्यो मुखानन्तकं

अण्णो भाणं पडिलेहेति, मा अंतराइयदोसा ठवितगदोसा य भविस्संति, सो जति पढमाए पोरुसीए णिमंतेति अत्थि णमोक्कारसहिताइत्तो सो गेण्हति, अघव णत्थि ण गेण्हति, तं वहितव्वयं होति, जति पुण उग्गेज्झा ताधे गेण्हति संचिक्खावेज्जति, जो वा उग्घाडाए पोरिसिए पारेति पारणइत्तो अण्णो वा तस्स दिज्जति, पच्छा तेण सावगेण समगं गम्मति, संघाडगो वच्चति, एगो ण वट्टति पेसितु, साधू पुरओ सावगो मग्गतो, घरं णेऊण आसणेण उवणिमंतिज्जति, जति णिविट्ठगा तो लट्ठय, अध ण णिवसति तधावि विणयो पउत्तो, ताधे भत्तं पाणं सयं चेव देति, अधवा भाणं धरेति भज्जा देति, अधवा ठितीओ अच्छति जाव दिण्णं, साधूवि सावसेस दव्वं गेण्हति, पच्छाकम्मपरिहारणट्ठा, दातूण वंदितुं विसज्जति, विसज्जेत्ता अणुगच्छति, पच्छा सयं भुंजति, जं च किर साधूण ण दिण्णं तं सावगेण ण भोत्तव्वं, जति पुण साधू णत्थि ताधे दसकालवेलाए दिसालोगो कातव्वो, विसुद्धभावेण चिंतितव्वं–जति साधुणो होंता तो णित्थारितो

1 अन्यो भाजनं प्रतिलिखति मा-अन्तरायिकदोषा भूवन् स्थापनादोषाश्च स यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते अस्ति नमस्कारसहितकः गृह्णाति- अथ च नास्ति न गृह्णाति तदा वोढव्यं भवत् यदि पुनः कल्पते तदा गृह्णाति संरक्षयते यो वोद्घाटपौरुष्यां पारयति पारणकार्थी वा तस्मै दीयते पश्चात्तेन श्राव- केण सम गच्छति संघाटकः व्रजति एको न वर्तते प्रवेष्टुं साधुः पुरतः श्रावकः पृष्ठतः गृहं नीत्वाऽऽसनेन निमन्त्रयति यदि निविष्टाः तदा भव्यं निविशन्ति तथापि विनयः प्रयुक्तः (भवति) तदा भक्तं पानं वा स्वयमेव ददाति अथवा भाजनं धारयति भार्या ददाति अथवा स्थित एव तिष्ठति यावद्दत्तं साधुरपि सावशेषं द्रव्यं गृह्णाति पश्चात्कर्मपरिहरणार्थाय दत्त्वा वन्दित्वा विसर्जयति विसर्ज्यानुगच्छति पश्चात् स्वयं भुङ्क्ते यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं न तच्छ्रावकेण भोक्तव्यं यदि पुनः साधवो न सन्ति तदा दशकालवेलायां दिगवलोकः कर्तव्यः विशुद्धभावेन चिन्तयितव्यं–यदि साधवोऽभविष्यन् तदा निस्तारितोऽ-

धम्मं झाणं झायति, जधा एते साधुगुणा अहं असमत्थो मंदभग्गो धारेतु विभासा। इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यत आह–'पोसधोववासस्स समणो'० पोषधोपवासस्य निरूपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा–अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारौ, इह संस्तीर्यते यः प्रतिपन्नपोषधोपवासेन दर्भकुशकम्बलीवस्त्रादिः स संस्तारः शय्या प्रतीता प्रत्युपेक्षण–गोचरापन्नस्य शय्यादेश्चक्षुषा निरीक्षण न प्रत्युपेक्षणं अप्रत्युपेक्षण दुष्टम्–उद्भ्रान्तचेतसा प्रत्युपेक्षण दुष्प्रत्युपेक्षण ततश्चाप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितौ शय्यासंस्तारौ चेति समासः, सर्वत्र शय्यासंस्तारोपयोगिनः पीठ(फल)कादरपि। शय्या वा संस्तारः शय्यासंस्तारः, इत्येवमन्यत्राक्षरगमनिका कार्येति, उपलक्षणं च शय्यासंस्तारादुपयोगिनः पीठ(फल)कादरपि। एत्थ पुण सामायारी–कतपोसधो णो अप्पडिलेहिया सेज्जं दुरूहति, संथारगं वा दुरुहइ, पोसहसालं वा सेवइ, दब्भवत्थं वा सुद्धवत्थं वा भूमीए संथरति, काइयभूमितो वा आगतो पुणरवि पडिलेहति, अण्णधा तियारो, एवं पीढगादिसुवि विभासा। तथा अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारौ, इह प्रमार्जन–शय्यादेरासेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति, दुष्टम्–अविधिना, शेषं भावितमेव। तथा अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवणभूमावपि, उच्चारप्रस्रवणं निष्ठ्यूतखेलमलाद्युपलक्षणं, शेषं भावितमेव, एवं उच्चारप्रस्रवणभूमावपि, उच्चारप्रस्रवणं निष्ठ्यूतखेलमलाद्युपलक्षण, शेष भावितमेव। तथा पोषधस्य सम्यक्–प्रवचनोक्तेन विधिना निष्प्रकम्पेन चेतसा अननुपालनम्–अनासेवनम्। एत्थं भावना–कतपोसधो

१ धर्मध्यानं ध्यायति यथा साधुगुणानेतानहं मन्दभाग्योऽसमर्थो धारयितुं विभाषा। २ अत्र पुन। सामाचारी–कृतपोषधो नाप्रतिलिख्य शय्यामारोहति संस्तारकं वारोहति पोषधशालां वा सेवते दर्भवस्त्रं वा शुद्धवस्त्रं वा भूमौ संस्तृणाति कायिकीभूमित आगतो वा पुनरपि प्रतिलिखति अन्यथाऽतिचारः एवं पीठकादिष्वपि विभाषा। ३ अत्र भावना कृतपोषधो

अपिरभित्तो आहारे ताव सर्व देसं वा पत्थेति, बिदियदिवसे पारणगस्स वा अप्पणो अट्ठाए आहर्ति कारेइ, करेइ वा इमे २ वत्ति कहे भणिय बद्दइ, सरीरसक्कारे सरीरं पट्टेति, दाढियाउ केसे वा रोमराई वा सिंगाराभिप्पायेण संठवेति, दाहे वा सरीर सिचति, एवं सव्वाणि सरीरविभूसाकरणाणि(ण)परिहरति बंभचेरे, इहलोए परलोए वा भोगे पत्थेति संभा-वेति वा, अथवा सद्दफरिसरसरूवगंधे वा अहिलसति, कइया बंभचेरपोसहो पूरिहिइ, मुच्चा मो बंभचेरेणंति, अव्वावारे सायज्जाणि वावाराणि कतमकत वा चिंतेइ, एवं पचतियारसुद्धो अणुपालेतव्वोत्ति । उक्तं सातिचारं तृतीयशिक्षापदव्रतं, अधुना चतुर्थमुच्यते, तच्चेदं सूत्रम्—

अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुअं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं, अतिहिसंविभागस्स समणो० इमे पंच० न जाणि०—सच्चित्तनिक्खेवणया सच्चित्तपिहणया कालाइक्कमे परववएसे मच्छरिया य १२॥ (सूत्रं)

इह भोजनार्थं भोजनकालोपस्थाय्यतिथिरुच्यते, तत्रात्मार्थं निष्पादिताहारस्य गृहिव्रतिनः मुख्यः साधुरेवातिथिस्तस्य

---

१ [illegible] आहार तावत् सर्वं देशं वा प्रार्थयते द्वितीयदिवसे वाऽऽत्मनः पारणकार्थं आहारं करोति [illegible] इमानि [illegible] शरीरसत्कारे शरीरं [illegible] श्मश्रुकेशान् वा रोमराजिं वा शृङ्गाराभिप्रायेण संस्थापयति [illegible] वा शरीरं सिञ्चति एवं सर्वाणि शरीरविभूषाकरणानि [illegible] ब्रह्मचर्ये इहलोकिकान् पारलौकिकान् वा भोगान् प्रार्थयते संभावयति वा अथवा शब्दस्पर्शरसरूपगन्धान् अभिलषति कदा ब्रह्मचर्यपोषधः पूरयिष्यति [illegible] ब्रह्मचर्येणेति । अव्यापारे सावद्यान् व्यापारान् कृतमकृतं वा चिन्तयति एवं पञ्चातिचारशुद्धोऽनुपालनीयः ।

धम्मं झाणं झायति, अधा एते साधुगुणा अहं असमत्थो मंदभग्गो धारेतुं विभासा । इदमपि हितमनुपालनीयमित्यत आह–'पोसधोववासस्स समणो' ० पोषधोपवासस्य निरूपितशब्दार्थस्य श्रम ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा–अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारो, इह संस्तीर्यते दर्भकुशकम्बलीवस्त्रादिः स संस्तारः शय्या प्रतीता प्रत्युपेक्षण–गोचरापन्नस्य शय्यादेश्चक्षुषा नि पेक्षणं दुष्टम्–उद्भ्रान्तचेतसा प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रत्युपेक्षण ततश्चाप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितो शय्या या संस्तारः शय्यासंस्तारः, इत्येवमन्यत्राक्षरगमनिका कार्येति, उपलक्षण च शय्यासंस्ताराद्युपयोगि पुण सामायारी–कतपोसधो णो अप्पडिलेहिया सज्ज दुरूहति, संथारग वा दुरुहइ, पोसहसालं घ वत्थं वा भूमीए संथरति, काइयभूमितो वा आगतो पुणरवि पडिलेहति, अण्णधा तियारो, तथा अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारो, इह प्रमार्जन–शय्यादेरासेवनकाले वस्त्रोपा प्रमार्जनं शेषं भावितमेव, एवं उच्चारप्रस्रवणभूमावपि, उच्चारप्रस्रवणं निष्ठ्यूतखेलमलाद्युप पोषधस्य सम्यक्–प्रवचनोक्तेन विधिना निष्प्रकम्पेन चेतसा अननुपालनम्–अनासेवनम्

---

१ धर्मध्यानं ध्यायति, यथा साधुगुणानेतानहं मन्दभाग्योऽसमर्थो धारयितुं विभाषा । २ अत्र पुनः सामाचारि संस्तारकं वारोहति पोषधशालां वा सेवते दर्भवस्त्रं वा शुद्धवस्त्रं वा भूमौ संस्तृणाति कायिकीभूमित आगतो व एव पीठकादिष्वपि विभाषा । ३ अत्र भावना कृतपोषधो

अधिरचित्तो आहारे ताव सर्व देसे वा पत्थेति, बितियदिवसे पारणगस्स वा अप्पणो अट्ठाए आहारं करेइ, करेइ वा इमं २ बत्ति करे घणियं पहइ, सरीरसक्कारे सरीर उव्वट्टेति, दाढियाउ केसे वा रोमराई वा सिंगाराभिप्पायेण संठवेति, दाहे वा सरीर सिंचति, एवं सव्वाणि सरीरविभूसाकरणाणि(ण)परिहरति बंभचेरे, इहलोए परलोए वा भोगे पत्थेति संबाधेति वा, अथवा सद्दफरिसरसरूवगंधे वा अहिलसति, कइया बंभचेरपोसहो पूरिहिइ, चइया मो बंभचेरंपति, अवावारे सावज्जाणि वावारेति करमकत्त वा चिंतेइ, एवं पंचतियारसुद्धो अणुपालेतव्वोत्ति। उक्तं सातिचारं तृतीयशिक्षापदव्रतं, अधुना चतुर्थमुच्यते, तथद सूत्रम्—

अतिहिसंविभागो नाम नायागयाण कप्पणिज्जाण अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकम जुअ पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाण दाणं, अतिहिसंविभागस्स समणो० इमे पंच० तंजहा– सचित्तनिक्खेवणया सचित्तपिहणया कालाइक्कमे परववएसे मच्छरिया य १२॥ (सूत्रं)

इह भोजनार्थं भोजनकालोपस्थाप्यतिथिरुच्यते, तत्रात्मार्थं निष्पादिताहारस्य गृहिव्रतिनः मुख्यः साधुरेवातिथिस्तस्य

---

१ अधिरचित्त आहारे यावत् सर्व देशं वा प्रार्थयते द्वितीयदिवसे पारणकाय आत्मनः परमार्थाय आहारं करोति इदं वेदमिदं पेसि कथायामखाम वर्धते शरीरसत्कार शरीरं उद्वर्तयति श्मश्रुकेशान् वा रोमराजिं वा शृङ्गाराभिप्रायेण संस्थापयति निदाघे वा शरीरं सिञ्चति एवं सर्वाणि शरीरविभूषाकरणानि च परिहरति ब्रह्मचर्ये ऐहलौकिकान् पारलौकिकान् वा भोगान् प्रार्थयते संबाधयति वा अथवा शब्दस्पर्शरसरूपगन्धानभिलष्यति कदा ब्रह्मचर्यपोषधः पूर्णो भविष्यति त्यक्ष्यामो ब्रह्मचर्यमिति । अव्यापारे सावद्यान् व्यापारयति कृतमकृतं वा चिन्तयति एवं पञ्चातिचारशुद्धोऽनुपालनीयः।

धम्मं झाणं झायति, जधा एते साधुगुणा अहं असमत्थो मंदभग्गो धारेतु विभासा । इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यत आह–'पोसधोववासस्स समणो'० पोषधोपवासस्य निरूपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा–अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारौ, इह संस्तीर्यते यः प्रतिपन्नपोषधोपवासेन दर्भकुशकम्बलीवस्त्रादिः स संस्तारः शय्या प्रतीता प्रत्युपेक्षण–गोचरापन्नस्य शय्यादेश्चक्षुषा निरीक्षण न प्रत्युपेक्षणं अप्रत्युपेक्षणं दुष्टम्–उद्भ्रान्तचेतसा प्रत्युपेक्षणं दुष्प्रत्युपेक्षण ततश्चाप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितौ शय्यासंस्तारौ चेति समासः, शय्या वा संस्तारः शय्यासंस्तारः, इत्येवमन्यथाक्षरगमनिका कार्येति, उपलक्षणं च शय्यासंस्ताराद्युपयोगिनः पीठ(फल)कादेरपि । एत्थ पुण सामायारी–कतपोसधो णो अप्पडिलेहिया सज्जं दुरूहति, संथारग वा दुरुहइ, पोसहसालं वा सेवइ, दब्भवत्थं वा सुद्धवत्थं वा भूमीए संथरति, काइयभूमितो वा आगतो पुणरवि पडिलेहति, अण्णधातियारो, एवं पीढगादिसुवि विभासा । तथा अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारौ, इह प्रमार्जनं–शय्यादेरासेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति, दुष्टम्–अविधिना प्रमार्जनं शेषं भावितमेव, एवं उच्चारप्रस्रवणभूमावपि, उच्चारप्रस्रवणं निष्ठ्यूतखेलमलाद्युपलक्षणं, शेष भावितमेव । तथा पोषधस्य सम्यक्–प्रवचनोक्तेन विधिना निष्प्रकम्पेन चेतसा अननुपालनम्–अनासेवनम् । एत्थ भावना–कतपोसधो

---

१ धर्मध्यानं ध्यायति, यथा साधुगुणानेतानहं मन्दभाग्योऽसमर्थो धारयितुं विभाषा । २ अत्र पुनः सामाचारी–कृतपोषधो नाप्रतिलिख्य शय्यामारोहति संस्तारकं वारोहति पोषधशालां वा सेवते दर्भवस्त्रं वा शुद्धवस्त्रं वा भूमौ संस्तृणाति कायिकीभूमित आगतो वा पुनरपि प्रतिलिखति अन्यथाऽतिचारः एवं पीठकादिष्वपि विभाषा । ३ अत्र भावना कृतपोषधो

पोषधः ब्रह्मचर्यपोषधः, अत्र चरणीयं चर्य्यं 'भयो यदि' त्यस्मादधिकारात् 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गात्' (पा० ३-१-१००) इति यत्, ब्रह्म–कुशलानुष्ठाने, यथोक्तं–"ब्रह्म वेदा ब्रह्म तपो, ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम् ।" ब्रह्म च तत् चर्यं चेति समासः शेषं पूर्ववत् । तथा अव्यापारपोषधः । एत्थ पुण भावत्थो एस–आहारपोसधो दुविधो–देसे सव्वे य, देसे अमुगा विगती आयंबिलं वा एक्कसिं वा दो वा, सव्वे चतुव्विधोऽवि आहारो अहोरत्तं पच्चक्खातो, सरीरपोषधो ण्हाणुव्वट्टणवण्णगविलेवणपुप्फगंधतंबोलाणं वत्थाभरणाण च परिच्चागो य, सोवि देसे सव्वे य, देसे अमुगं सरीरसक्कारं करेमि अमुगं न करेमित्ति, सव्वे अहोरत्तं, बंभचेरपोषधो देस सव्व य, देसे दिवा रत्तिं एक्कसिं दो वा वारेत्ति, सव्वे अहोरत्तिं बंभचारी भवति, अव्वावारे पोसधो दुविहो देसे सव्वे य, देस अमुगं वावारं ण करेमि, सव्व सयलवावारे हलसगडघरपरक्कमादीओ ण करेति, एत्थ जो देसपोसधं करेति सामाइयं करेति वा ण वा, जो सव्वपोसधं करेति सो नियमा कयसामाइतो, जति ण करेति तो नियमा वंचिज्जति, तं कहिं ?, चेतियघरे साधूमूले वा घरे वा पोसधसालाए वा उम्मुक्कमणिसुवण्णो पढंतो पोत्थगं वा वायंतो

1 अत्र पुनर्भावार्थ एषः–आहारपोषधो द्विविधः–देशतः सर्वतश्च देशे अमुका विकृतिः आचाम्लं वा एकशो द्विर्वा सर्वतश्चतुर्विधोऽप्याहारोऽहोरात्रं प्रत्याख्यातः शरीरपोषधः स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपनपुष्पगन्धताम्बूलानां वस्त्राभरणानां च परित्यागः, सोऽपि देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं शरीरसत्कारं करोम्यमुकं न करोमि सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचर्यपोषधो देशतः सर्वतश्च देशतो दिवा रात्रौ वा एकशो द्विर्वा सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचारी भवति अव्यापारपोषधो द्विविधो देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं व्यापारं न करोमि सर्वतः सकलव्यापारान् हलशकटगृहपराक्रमादिकान् न करोति अत्र यो देशपोषधं करोति सामायिकं करोति वा न वा य सर्वपोषधं करोति स नियमात् कृतसामायिकः यदि न करोति तदा वञ्च्यते तत् क ? चैत्यगृहे साधुमूले वा गृहे वा पोषधशालायां वा उन्मुक्तमणिसुवर्णः पठन् पुस्तकं वा वाचयन्

स्यतो तत्र स्वयं गमनायोगाद् वृतिप्राकारप्रत्यासन्नवर्तिनो बुद्धिपूर्वकं क्षुत्कासितादिशब्दकरणेन समवासितकारणं बोधनं शब्दस्यानुपातनम्—उच्चारणं तादृक् येन परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति, तथा रूपानुपातः—अभिगृहीतदेशाद् बहिः प्रयोजनभावे शब्दमनुच्चारयत एव परेषां समीपानयनार्थं स्वशरीररूपदर्शनं रूपानुपातः, तथा बहिःपुद्गलप्रक्षेपः अभिगृहीतदेशाद् बहिः प्रयोजनभावे परेषां प्रबोधनाय लेष्टुविक्षेपः पुद्गलप्रक्षेप इति भावना, देशावकाशिकमेतदर्थमभिगृह्यते मा भूद् बहिर्गमनागमनादिव्यापारजनितः प्राण्युपमर्द इति, स च स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित् फले विशेषः प्रत्युत गुणः स्वयंगमने ईर्यापथविशुद्धेः परस्य पुनरनिपुणत्वादशुद्धिरिति कृतं प्रसङ्गेन॥ व्याख्यातं द्वितीयं शिक्षापदव्रतं, अधुना तृतीयमुच्यते, तथेदं सूत्रम्—

पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—आहारपोसहे सरीरसक्कारपोसहे बंभचेरपोसहे अव्वावारपोसहे, पोसहोववासस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारए अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारए अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमीओ अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमीओ पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपाल(ण)या ॥ ११ ॥ (सूत्र)

इह पौषधशब्दो रूढ्या पर्वसु वर्तते, पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात् पर्व, धर्मोपचयहेतुत्वादित्यर्थः, पौषधे उपवसनं पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवास इति, अयं च पौषधोपवासश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'आहारपौषधः' आहारः प्रतीतः तद्विषयस्तन्निमित्तं पौषध आहारपौषधः, आहाराभिप्राय धर्मपूरणं पर्वेति भावना, एवं शरीरसत्कार

पोषधः ब्रह्मचर्यपोषधः, अत्र चरणीय चर्य्ये 'अमो यदि' त्यस्मादधिकारात् 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गात्' (पा० ३-१-१००) इति यत्, ब्रह्म—कुशलानुष्ठानं, यथोक्तं—"ब्रह्म वेदा ब्रह्म तपो, ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम् ।" ब्रह्म च तत् चर्यं चेति समासः शेषं पूर्ववत् । तथा अव्यापारपोषधः । एत्थ पुण भावत्थो एस—आहारपोसधो दुविधो—देसे सव्वे य, देसे अमुगा विगती आयंबिलं वा एक्कसिं वा दो वा, सव्वे चतुव्विधोऽवि आहारो अहोरत्तं पच्चक्खातो, सरीरपोषधो ण्हाणुव्वट्टणवण्णगविलेवणपुप्फगंधतंबोलाण वत्थाभरणाणं च परिच्चागो य, सोवि देसे सव्वे य, देसे अमुग सरीरसक्कारं करेमि अमुगं न करेमित्ति, सव्वे अहोरत्तं, बंभचेरपोषधो देसे सव्वे य, देसे दिया रत्तिं एक्कसिं दो वा वारेत्ति, सव्व अहोरत्तिं बंभयारी भवति, अव्वावारे पोसधो दुविहो देसे सव्वे य, देसे अमुगं वावारं ण करेमि, सव्वे सयलवावारे हलसगडघरपरक्कमादीओ ण करेति, एत्थ जो देसपोसधं करेति सामाइयं करेति वा ण वा, जो सव्वपोसधं करेति सो णियमा कयसामाइतो, जति ण करेति तो णियमा वंचिज्जति, तं कहिं ?, चेतियघरे साधुमूले वा घरे वा पोसधसालाए वा उम्मुक्कमणिसुवण्णो पढंतो पोत्थगं वा वायंतो

---

१ अत्र पुनर्भावार्थ एषः—आहारपोषधो द्विविधः—देशतः सर्वतश्च देशे अमुका विकृतिः आचाम्लं वा एकशो द्विर्वा सर्वतश्चतुर्विधोऽप्याहारोऽहोरात्र प्रत्याख्यातः, शरीरपोषधः स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपनपुष्पगन्धताम्बूलानां वस्त्राभरणानां च परित्यागः, सोऽपि देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं शरीरसत्कारं करोम्यमुकं न करोमि सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचर्यपोषधो देशतः सर्वतश्च देशतो दिवा रात्रौ वा एकशो द्विर्वा सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचारी भवति अव्यापारपोषधो द्विविधो देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं व्यापारं न करोमि सर्वतः सकलव्यापारान् हलशकटगृहपराक्रमादिकान् न करोति अत्र यो देशपोषधं करोति सामायिकं करोति वा न वा य सर्वपोषधं करोति स नियमात् कृतसामायिकः यदि न करोति तदा नियमाद्वञ्च्यते तत् क्व ? चैत्यगृहे साधुमूले वा गृहे वा पोषधशालायां वा उन्मुक्तमणिसुवर्णः पठन् पुस्तकं वा वाचयन्

पोषधः ब्रह्मचर्यपोषधः, अत्र चरणीयं चर्य्यं 'अथो यदि'त्यस्मादधिकारात् 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गात्' (पा० ३-१-१००) इति यत्, ब्रह्म–कुशलानुष्ठानं, यथोक्तं–"ब्रह्म वेदा ब्रह्म तपो, ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम् ।" ब्रह्म च तत् चर्यं चेति समासः शेषं पूर्ववत् । तथा अव्यापारपोषधः । एत्थ पुण भावत्थो एस–आहारपोसधो दुविधो–देसे सवे य, देसे अमुगा विगती आयंबिलं वा एक्कसिं वा दो वा, सवे चतुविधोऽवि आहारो अहोरत्तं पच्चक्खातो, सरीरपोषधो ण्हाणुवट्टणवण्णगविलेवणपुप्फगंधतंबोलाण वत्थाभरणाणं च परिच्चागो य, सोवि देसे सवे य, देसे अमुगं सरीरसक्कारं करेमि अमुगं न करेमित्ति, सवे अहोरत्तं, बंभचेरपोषधो देसे सवे य, देसे दिया रत्तिं एक्कसिं दो वा वारेत्ति, सवे अहोरत्तिं बंभयारी भवति, अवावारे पोसधो दुविहो देसे सवे य, देसे अमुगं वावारं ण करेमि, सवे सयलवावारे हलसगडघरपरक्कमादीओ ण करेति, एत्थ जो देसपोसधं करेति सामाइयं करेति वा ण वा, जो सवपोसधं करेति सो णियमा कयसामाइओ, जति ण करेति तो णियमा वंचिज्जति, तं कहिं ?, चेतियघरे साधूमूले वा घरे वा पोसधसालाए वा उम्मुक्कमणिसुवण्णो पढंतो पोत्थगं वा वायंतो

१ अत्र गुरुभावार्थः पुनः–आहारपोषधो द्विविधः–देशतः सर्वतश्च देशे अमुका विकृतिः आचाम्लं वा एकशो द्विशो सर्वतश्चतुर्विधोऽप्याहारोऽहोरात्रं प्रत्याख्यातः शरीरपोषधः स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपनपुष्पगन्धताम्बूलानां वस्त्राभरणानां च परित्यागात्, सोऽपि देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं शरीरसत्कारं करोम्यमुकं न करोमि सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचर्यपोषधो देशतः सर्वतश्च देशतो दिवा रात्रौ वा एकशो द्विशो सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचारी भवति अव्यापारपोषधो द्विविधो देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं व्यापारं न करोमि सर्वतः सकलव्यापारान् हलशकटगृहपराक्रमादिकान् न करोति अत्र यो देशपोषधं करोति सामायिकं करोति वा न वा यः सर्वपोषधं करोति स नियमात् कृतसामायिकः यदि न करोति तदा नियमाद्वञ्च्यते तत् क ? चैत्यगृहे साधुमूले वा गृहे वा पोषधशालायां वा उन्मुक्तमणिसुवर्णः पठन् पुस्तकं वा वाचयन्

त्यतो तत्र स्वयं गमनायोगात् वृत्तिप्राकारप्रत्यासन्नवर्तिनो बुद्धिपूर्वकं क्षुत्कासितादिशब्दकरणेन समवासितकान् बोधयतः शब्दस्यानुपातनम्—उच्चारणं तादृग् येन परकीयश्रवणविवरमनुपतत्यसाविति, तथा रूपानुपातः—अभिगृहीतदेशाद् बहिः प्रयोजनभावे शब्दमनुच्चारयत एव परेषां समीपानयनार्थं स्वशरीररूपदर्शनं रूपानुपातः, तथा बहिः पुद्गलप्रक्षेपः अभिगृहीत देशाद् बहिः प्रयोजनभावे परेषां प्रबोधनाय लेष्टादिक्षेपः पुद्गलप्रक्षेप इति भावना, देशावकाशिकमेतदर्थमभिगृह्यते मा भूद् बहिर्गमनागमनादिव्यापारजनितः प्राण्युपमर्द इति, स च स्वयं कृतोऽन्येन वा कारित इति न कश्चित् फले विशेषः प्रत्युत गुणः स्वयंगमने ईर्यापथविशुद्धेः परस्य पुनरनिपुणत्वादशुद्धिरिति कृतं प्रसङ्गेन ॥ व्याख्यातं सातिचारं द्वितीय शिक्षापदव्रतं, अधुना तृतीयमुच्यते, तत्रेदं सूत्रम्—

पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—आहारपोसहे सरीरसक्कारपोसहे बम्भचेरपोसहे अव्वावारपोसहे, पोसहोववासस्स समणो० इमे पञ्च०, तंजहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारए अपमज्जियदुप्पमज्जिय सिज्जासंथारए अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमीओ अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवण भूमीओ पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपाल(ण)या ॥ ११ ॥ (सूत्र)

इह पौषधशब्दो रूढ्या पर्वसु वर्तते, पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात् पर्व, धर्मोपचयहेतुत्वादित्यर्थः, पौषधे उपव सनं पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधानं चेदं पोषधोपवास इति, अयं च पोषधोपवासश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'आहा रपोषधः' आहारः प्रतीतः तद्विषयस्तन्निमित्तं पोषध आहारपोषधः, आहारनिमित्तं धर्मपूरणं पर्वेति भावना, एवं शरीरसत्कार

पोषधः ब्रह्मचर्यपोषधः, अत्र चरणीयं चर्य्यं 'अथो यदि'त्यस्मादधिकारात् 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गात्' (पा० ३-१-१००) इति यत्, ब्रह्म—कुशलानुष्ठानं, यथोक्तं—"ब्रह्म वेदा ब्रह्म तपो, ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम् ।" ब्रह्म च तत् चर्यं चेति समासः शेषं पूर्ववत् । तथा अव्यापारपोषधः । एत्थ पुण भावत्थो एस—आहारपोसधो दुविधो—देसे सव्व य, देसे अमुगा विगती आयंबिलं वा एकसिं वा दो वा, सव्वे चतुविधोऽवि आहारो अहोरत्तं पच्चक्खातो, सरीरपोसधो ण्हाणुव्वट्टणवण्णगविलेवणपुप्फगंधतंबोलाण वत्थाभरणाणं च परिच्चागो य, सोवि देसे सव्वे य, देसे अमुगं सरीरसक्कारं करेमि अमुगं न करेमित्ति, सव्वे अहोरत्तं, बंभचेरपोसधो देसे सव्वे य, देसे दिवा रत्तिं एक्कसिं दो वा वारेत्ति, सव्वे अहोरत्तिं बंभचारी भवति, अव्वावारे पोसधो दुविहो देसे सव्वे य, देसे अमुगं वावारं ण करेमि, सव्वे सव्वव्वावारे हलसगडघरपरक्कमादीओ ण करेति, एत्थ जो देसपोसधं करेति सामाइयं करेति वा ण वा, जो सव्वपोसधं करेति सो णियमा कयसामाइओ, जति ण करेति तो णियमा वच्चिज्जति, तं कहिं ?, चेतियघरे साधूमूले वा घरे वा पोसधसालाए वा उम्मुक्कमणिसुवण्णो पढंतो पोत्थगं वा वायतो

1 अत्र पुनर्भावार्थ एषः—आहारपोषधो द्विविधः—देशतः सर्वतश्च देशे अमुका विकृतिः आचामाम्लं वा एकशो द्विर्वा सर्वतश्चतुर्विधोऽप्याहारोऽहोरात्रं प्रत्याख्यातः शरीरपोषधः स्नानोद्वर्तनवर्णकविलेपनपुष्पगन्धताम्बूलानां वस्त्राभरणानां च परित्यागात् सोऽपि देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं शरीरसत्कारं करोम्यमुकं न करोमि सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचर्यपोषधो देशतः सर्वतश्च देशतो दिवा रात्रौ वा एकशो द्विर्वा सर्वतोऽहोरात्रं ब्रह्मचारी भवति अव्यापारपोषधो द्विविधो रूपः देशतः सर्वतश्च देशतोऽमुकं व्यापारं न करोमि सर्वतः सर्वव्यापारान् हलशकटगृहपराक्रमादिकान् न करोति अत्र यो देशपोषधं करोति सामायिकं करोति वा न वा यः सर्वपोषधं करोति स नियमात् कृतसामायिकः यदि न करोति तदा नियमाद्वञ्च्यते तत् क ? चैत्यगृहे साधुमूले वा गृहे वा पोषधशालायां वा उन्मुक्तमणिसुवर्णः पठन् पुस्तकं वा वाचयन्

वागृदुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्यासभ्यनिष्ठुरसावद्यवाक्प्रयोग इति, उक्तं च–"कयसामइओ पुव्वं बुद्धीए पेहिऊण भासेज्जा। सइ णिरवज्जं वयणं अण्णह सामाइयं ण भवे ॥ २ ॥" कायदुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापनमिति, उक्तं च–"अणिरिक्खियापमज्जिय थंडिले ठाणमादि सेवेन्तो। हिंसाभावेवि ण सो कयसामइओ पमादाओ ॥ १ ॥" सामायिकस्य स्मृत्यकरणं–सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मरणा स्मृतिः–उपयोगलक्षणा तस्या अकरणम्–अनासेवनमिति, एतदुक्तं भवति–प्रबलप्रमादवान् नैव स्मरत्यस्यां वेलायां मया यत्सामायिकं कर्तव्यं कृतं न कृतमिति वा, स्मृतिमूलं च मोक्षसाधनानुष्ठानमिति, उक्तं च–"ण सरइ पमादजुत्तो जो सामइयं कदा उ कातव्वं। कतमकतं वा तस्स हु कयंपि विफलं तयं णेयं ॥१॥" सामायिकस्यानवस्थितस्य करणं अनवस्थितकरणं, अनवस्थितमल्पकालं वा करणानन्तरमेव त्यजति, यथाकथञ्चिद्वाऽनवस्थितं करोतीति, उक्तं च–"काऊण तक्खणं चिय पारेति करेति वा जधिच्छाए। अणवट्ठियं सामइयं अणादरातो न तं सुद्धं ॥ १ ॥" उक्तं सातिचारं प्रथमं शिक्षापदव्रतमधुना द्वितीयं प्रतिपादयन्नाह–

दिसिव्वयगहियस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासियं, देसावगासियस्स समणो० इमे पञ्च०, तंजहा–आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहिया पुग्गलपक्खेवे ॥ १० ॥ (सूत्र)

---

१ कृतसामायिकः पूर्वं बुद्ध्या प्रेक्ष्य भाषेत। सदा निरवद्यं वचनमन्यथा सामायिकं न भवेत् ॥ १ ॥ २ अनिरीक्षिताप्रमृज्य स्थण्डिले स्थानादि सेवमानः। हिंसाऽभावेऽपि न स कृतसामायिकः प्रमादात् ॥ १ ॥ ३ न स्मरति प्रमादयुक्तो यः सामायिकं तु कदा कर्तव्यम्। कृतमकृतं वा तस्य हु कृतमपि विफलं तकत् ज्ञेयं ॥ १ ॥ ४ कृत्वा तत्क्षणमेव पारयति करोति वा स्वेच्छया। अनवस्थितं सामायिकमनादरात् न तत् शुद्धम् ॥ १ ॥

दिग्व्रतं प्राग् व्याख्यातमेव तद्गृहीतस्य दिक्परिमाणस्य दीर्घकालस्य यावज्जीवसंवत्सरचतुर्मासादिभेदस्य योजनशतादिरूपस्यात् प्रत्यहं तावत्परिमाणस्य गन्तुमशक्यत्वात् प्रतिदिनं—प्रतिदिवसमित्येतच्च प्रहरमुहूर्ताद्युपलक्षणं प्रमाणकरणे—दिवसादिगमनयोग्यदेशस्थापने प्रतिदिनप्रमाणकरणं देशावकाशिकं, दिग्व्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशः—अंशः तस्मिन्नवकाशः—गमनादिचेष्टास्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकं, एतच्चाणुव्रतादिगृहीतदीर्घतरकालावधिविरतेरपि प्रतिदिनसंक्षेपोपलक्षणमिति वृद्धा वर्णयन्ति, अन्यथा तद्विषयसंक्षेपाभावात् भावे वा पृथक्शिक्षापदभावप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेण। एयं च सप्पदिट्ठंतं आयरिया पण्णवयेंति, जधा सप्पस्स पुव्वं से बारसजोयणाणि विसओ आसि, पच्छा विज्जावादिएण ओसारेंतेण जोयणे दिट्ठिविसओ से ठवितो, एवं सावओवि दिसिव्वतागारे बहुयं अवरज्झियाइ, पच्छा देसावगासिएण तंपि ओसारेति। अथवा विसदिट्ठंतो—अगतेण एक्काए अंगुलीए ठवितं, एवं विभासा। इदमपि निरतिचारमनुपालनीयमित्यत आह—'देसा॰' देशावकाशिकस्य—प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—'आनयनप्रयोगः' इह विशिष्टे देशावधि(धि)के भूदेशाभिग्रहे परतः स्वयं गमनायोगाद्यदन्यः सचित्तादिद्रव्यानयने प्रयुज्यते सन्देशकप्रदानादिना त्वयेदमानेयमित्यानयनप्रयोगः, बलात् विनियोज्यः प्रेष्यः तस्य प्रयोगः यथाऽभिगृहीतप्रविचारदेशव्यतिक्रमभयात् त्वयाऽवश्यमेव गत्वा मम गवाद्यानेयमिदं वा तत्र कर्तव्यमित्येवंभूतः प्रेष्यप्रयोगः। तथा शब्दानुपातः स्वगृहवृत्तिप्राकारकादिव्यवच्छिन्नभूदेशाभिग्रहेऽपि बहिः प्रयोजनो

एत्थ च सप्पदिट्ठंतमाचक्खति महाजनम्मि यथा पुव्वं तस्स सप्पस्स द्वादश योजनानि विषय आसीत् पश्चाद्विद्यावादिनाऽपसारयता योजने तस्य दृष्टिविषयः स्थापितः, एवं श्रावकोऽपि दिग्व्रताकारे बहुतरापराध्यान् पश्चात् देशावकाशिकेन तदप्यपसारयति। अथवा विषदृष्टान्तः—अगदेनैकस्यामङ्गुल्यां स्थापितं एवं विभाषा

वाग्दुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्यासभ्यनिष्ठुरसावद्यवाक्प्रयोग इति, उक्तं च–"कयसामइओ पुव्व बुद्धीए पेहिऊण भासेज्जा। सइ निरवज्जं वयणं अण्णह सामाइयं ण भवे ॥ २ ॥" कायदुष्प्रणिधानं कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापनमिति, उक्तं च–"अणिरिक्खियापमज्जिय थंडिल्ले ठाणमादि सेवेन्तो। हिंसाभावेवि ण सो कडसामइओ पमायाओ ॥ १ ॥" सामायिकस्य स्मृत्यकरणं–सामायिकस्य सम्बन्धिनी या स्मरणा स्मृतिः–उपयोगलक्षणा तस्या अकरणम्–अनासेवनमिति, एतदुक्तं भवति–प्रबलप्रमादवान् नैव स्मरत्यस्यां वेलायां मया यत्सामायिकं कर्तव्यं कृतं न कृतमिति वा, स्मृतिमूलं च मोक्षसाधनानुष्ठानमिति, उक्तं च–"ण सरइ पमादजुत्तो जो सामइयं कदा तु कातव्वं। कतमकतं वा तस्स हु कयपि विफलं तयं णेयं ॥ १ ॥" सामायिकस्यानवस्थितस्य करणं अनवस्थितकरणं, अनवस्थितमल्पकालं वा करणानन्तरमेव त्यजति, यथाकथञ्चिद्वाऽनवस्थितं करोतीति, उक्तं च–"कातूण तक्खणं चिय पारेति करेति वा जधिच्छाए। अणवट्ठियं सामइयं अणादरातो न तं सुद्धं ॥ १ ॥" उक्तं सातिचारं प्रथमं शिक्षापदमतमधुना द्वितीयं प्रतिपादयन्नाह–

दिसिव्वयगहियस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासियं, देसावगासियस्स समणो० इमे पञ्च०, तंजहा–आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहिया पुग्गलपक्खेवे ॥ १० ॥ (सूत्र)

---

१ कृतसामायिकः पूर्वं बुद्ध्या प्रेक्ष्य भाषेत। सदा निरवद्यं वचनमन्यथा सामायिकं न भवेत् ॥ १ ॥ २ अनिरीक्ष्याप्रमृज्य स्थण्डिले स्थानादि सेवमानः। हिंसाऽभावेऽपि न स कृतसामायिकः प्रमादात् ॥ १ ॥ ३ न स्मरति प्रमादयुक्तो यः सामायिकं तु कदा कर्तव्यं। कृतमकृतं वा तस्य हु कृतमपि विफलं तकत् ज्ञेयं ॥ १ ॥ ४ कृत्वा तत्क्षणमेव पारयति करोति वा यदृच्छया। अनवस्थितं सामायिकमनादरात् न तत् शुद्धम् ॥ १ ॥

दिग्व्रतं प्राग् व्याख्यातमेव तद्गृहीतस्य दिक्परिमाणस्य दीर्घकालस्य यावज्जीवसंवत्सरचतुर्मासादिभेदस्य योजनशतादिरूपस्यात् प्रत्यहं तावत्परिमाणस्य गन्तुमशक्यत्वात् प्रतिदिनं—प्रतिदिवसमित्येतच्च प्रहरमुहूर्ताद्युपलक्षणं प्रमाणकरणं—दिवसादिगमनयोग्यदेशस्थापनं प्रतिदिनप्रमाणकरणं देशावकाशिकं, दिग्व्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशः—अंशः तस्मिन्नवकाशः—गमनादिचेष्टास्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृत्तं देशावकाशिकं, एतच्चाणुव्रतादिगृहीतदीर्घतरकालावधिविरतेरपि प्रतिदिनसंक्षेपोपलक्षणमिति वृद्धा वर्णयन्ति, अन्यथा तद्विषयसंक्षेपाभावात् भावे वा पृथक्शिक्षापदसाधम्यसङ्गादित्यलं विस्तरेण। एत्थ य सप्पदिट्ठंतं आयरिया पण्णवयंति, जधा सप्पस्स पुव्वं से बारसजोयणाणि विसओ आसि, पच्छा विज्जावादिएण ओसारेंतेण जोयणे दिट्ठिविसओ से ठवितो, एवं सावओवि दिसिव्वतागारे बहुय अवरज्झियाव, पच्छा देसावगासिएणं तंपि ओसारेति। अथवा विसदिट्ठंतो—अगतेण एक्काए अंगुलीए ठवितं, एव विभासा। इदमपि शिक्षाव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यत आह—'देसा॰ देशावकाशिकस्य—प्रागुक्तनिरूपितशब्दार्थस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—'आनयनप्रयोगः' इह विशिष्टे देशावधि(वि)के भूदेशाभिग्रहे परतः स्वयं गमनायोगाद्यदन्यः सचित्तादिद्रव्यानयने प्रयुज्यते सन्देशकप्रदानादिना त्वयेदमानेयमित्यानयनप्रयोगः, बलात् विनियोज्यः प्रेष्यः तस्य प्रयोगः यथाऽभिगृहीतप्रविचारदेशव्यतिक्रमभयात् त्वयाऽवश्यमेव गत्वा मम गवाद्यानेयमिदं वा तत्र कर्तव्यमित्येवंभूतः प्रेष्यप्रयोगः। तथा शब्दानुपातः स्वगृहवृतिप्राकारकादिव्यवच्छिन्नभूदेशाभिग्रहेऽपि बहिः प्रयोजनो

अत्र च सर्पदृष्टान्तमाचार्याः प्रज्ञापयन्ति यथा पूर्वं तस्य सर्पस्य द्वादश योजनानि विषय आसीत् पश्चाद्विद्यावादिनापसारयता योजने दृष्टिविषयः स्थापितः एवं श्रावकोऽपि दिग्व्रताकारे बहुपरमध्यात् पश्चात् देशावकाशिकेन तदप्यपसारयति। अथवा विषदृष्टान्तः—अगदेनैकस्यामङ्गुल्यां स्थापितं एवं विभाषा

स्यम श्रमण इव प्रोक्त न तु श्रमण एवेति यथा समुद्र इव तडाग न तु समुद्र एवेत्यभिप्रायः । तथोपपातो विशेषका, साधुः सर्वार्थसिद्धे उत्पद्यते श्रावकस्त्वच्युते परमोपपातेन जघन्येन तु द्वावपि सौधर्मे एवेति, तथा चोक्त–"अविराधिय-सामण्णस्स साहुणो सावगस्स उ जहण्णो । सोधम्मे उववातो भणिओ तेलोक्कदंसीहिं ॥१॥" तथा स्थितिभेदिका, साधो-रुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्या तु पल्योपमपृथक्त्वमिति, श्रावकस्य तूत्कृष्टा द्वाविंशतिः सागरोपमाणि जघन्या तु पल्योपममिति । तथा गतिभेदिका, व्यवहारतः साधुः पञ्चस्वपि गच्छति, यथा च कुरटोत्कुरटौ नरके गतौ कुणाल-दृष्टान्तेनेति श्रूयते, श्रावकस्तु चतसृषु न सिद्धगतावित्ति, अन्ये च व्याचक्षते–साधुः सुरगतौ मोक्षे च, श्रावकस्तु चत-सृष्वपि । तथा कषायाश्च विशेषकाः, साधुः कषायोदयमाश्रित्य सञ्ज्वलनापेक्षया चतुस्त्रिद्व्येककषायोदयवानकषायोऽपि भवति छद्मस्थवीतरागादिः, श्रावकस्तु द्वादशकषायोदयवान् अष्टकषायोदयवांश्च भवति, यदा द्वादशकषायवांस्तदाऽनन्तानुबन्ध-वर्जा गृह्यन्ते, एते चाविरतस्य विज्ञेया इति, यदा त्वष्टकषायोदयवान् तदाऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायवर्ज्या इति, एते च विरताविरतस्य । तथा बन्धश्च भेदकः, साधुर्मूलप्रकृत्यपेक्षया अष्टविधबन्धको वा सप्तविधब-धको वा षड्विधब-धको वा एकविधबन्धको वा, उक्तं च–"सत्तविधबंधगा हुंति पाणिणो आउवज्जगाणं तु । तह सुहुमसपरागा छव्विहबंधा विणि-द्दिट्ठा ॥ १ ॥ मोहाउयवज्जाणं पगडीण ते उ बधगा भणिया । उवसंतखीणमोहा केवलिणो एगविधबंधा ॥ २ ॥ ते पुण

१ अविराद्धश्रामण्यस्य साधोः श्रावकस्यापि जघन्यतः । सौधर्मे उपपातो भणितस्त्रैलोक्यदर्शिभिः ॥ १ ॥ २ सप्तविधबन्धका भवन्ति प्राणिन आयुर्वर्जानां तु । तथा सूक्ष्मसंपरायाः षड्विधबन्धा विनिर्दिष्टाः ॥ १ ॥ मोहायुर्वर्जानां प्रकृतीनां ते तु बन्धका भणिताः । उपशान्तक्षीणमोहौ केवलिन एकविधबन्धकाः ॥ २ ॥ ते पुन

दुसमयठिईयस्स बंधगा ण पुण संपरागस्स । सेलेसीपडिवण्णा अबंधगा होंति विण्णेया ॥ २ ॥" श्रावकस्तु षड्विध बन्धको वा सप्तविधबन्धको वा । तथा बन्धनाकृतो भेदः, साधुरष्टानां सप्तानां षण्णां वा प्रकृतीनां बन्धकः, श्रावकस्तु नियमादष्टानामिति । तथा प्रतिपत्तिकृतो विशेषः, साधुः पञ्च महाव्रतानि प्रतिपद्यते, श्रावकस्त्वेकमणुव्रतं द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च वा, अथवा साधुः सकृत् सामायिकं प्रतिपद्य सर्वकालं धारयति, श्रावकस्तु पुनः २ प्रतिपद्यत इति । तथाऽति क्रमो विशेषकः, साधोरेकव्रतातिक्रमे पञ्चव्रतातिक्रमः, श्रावकस्य पुनरेकस्यैव, पाठान्तरं वा, किं च—इतरस्य सर्वशब्दं न प्रयुङ्क्ते, मा भूदेशविरतेरप्यभाव इति, आह च—'सामाइयंमि उ कए' 'सव्वंति भाणिऊणं' गाहा, सर्वमित्यभिधाय—सर्व सावद्यं योगं परित्यजामीत्यभिधाय विरतिः खलु यस्य 'सर्वा' निरपेक्षा नास्ति, अनुमतेर्नित्यप्रवृत्तत्वादिति भावना, स एवंभूतः सर्वविरतिवादी 'चुक्कइ'त्ति भ्रश्यति देशविरतिं सर्वविरतिं च प्रत्यक्षमृषावादित्वादित्यभिप्रायः । पर्याप्तं प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमः । इदमपि च शिक्षापदव्रतमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यत आह—'सामाइयस्स समणो' [गाहा], सामायिकस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—मनोदुष्प्रणिधानं, प्रणिधानं—प्रयोगः दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानं मनसो दुष्प्रणिधानं मनोदुष्प्रणिधानं, कृतसामायिकस्य गृहसत्केतिकर्तव्यतासुकृतदुष्कृतपरिचिन्तनमिति, उक्तं च—"सामाइयंति (सु)कातुं घरचिन्तं जो सु-चिंतये सड्ढो । अट्टवसट्टमुवगतो निरत्थयं तस्स सामइयं ॥ १ ॥

१ द्विसमयस्थितिकस्य बन्धका न पुनः सांपरायिकस्य । शैलेशीप्रतिपन्ना अबन्धका भवन्ति विज्ञेयाः ॥ १ ॥ २ सामायिकं(तु) कृत्वा गृहचिन्तां (यः) यस्तु चिन्तयेच्छ्राद्धः । आर्तवशार्तमुपगतो निरर्थकं तस्य सामायिकम् ॥ १ ॥

पंडिक्कमति, पच्छा आलोएत्ता वंदति आयरियादी अधारातिणिया, पुणोवि गुरु वंदित्ता पडिलेहित्ता णिविट्ठो पुच्छति पढति वा, एवं चेतियाइएसुवि, जदा सगिहे पोसधसालाए वा आवासए वा तत्थ णवरि गमणं णत्थि, जो इड्ढीपत्तो(सो) सव्विड्ढीए एति, तेण जणस्स उच्छाहोवि आढिता य साधुणो सुपुरिसपरिग्गहेण, जति सो कयसामाइतो एति ताधे आसहत्थिमादिणा जणेण य अधिकरणं वट्टति, ताधे ण करेति, कयसामाइएण य पादेहिं आगंतव्वं, तेणं ण करेति, आगतो साधुसमीवे करेति, जति सो सावओ तो ण कोइ उट्ठेति, अह अहाभद्दओ ता पूता कता होतुत्ति भण(ण्ण)ति, ताधे पुव्वरइतं आसणं कीरति, आयरिया उट्ठिता य अच्छति, तत्थ उट्ठेंतमणुट्ठेंते दोसा विभासितव्वा, पच्छा सो इड्ढी पत्तो सामाइय करेइ अणेण विधिणा—करेमि भन्ते! सामाइय सावज्जं जोग पच्चक्खामि दुविधं तिविधेण जाव नियमं पज्जुवासामित्ति, एव सामाइयं काउ पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छति, सो य किर सामाइय करेंतो मउडं अवणेति कुंडलाणि णाममुद्दं

1 प्रतिक्रामति पश्चात् आलोच्य वन्दते आचार्यादीन् यथारात्निकं, पुनरपि गुरुं वन्दित्वा प्रतिलिख्य निविष्टः पृच्छति पठति वा, एवं चैत्यादिष्वपि यदा स्वगृहे पौषधशालायां वा आवासके वा तदा नवरं गमनं नास्ति य ऋद्धिप्राप्तः स सर्वर्द्ध्याऽऽयाति तेन जनस्योत्साहः आपि च साधव आदृताः सुपुरुषपरिग्रहेण यदि स कृतसामायिक आयाति तदाऽश्वहस्त्यादिना जनेन चाधिकरणं वर्तते ततो न करोति कृतसामायिकेन च पादाभ्यामागन्तव्यं तेन न करोति आगतः साधुसमीपे करोति यदि स श्रावकस्तदा न कोऽपि अभ्युत्तिष्ठति, अथ यथाभद्रकस्तदाऽस्तो भवत्विति भण्यते तदा पूर्वरचितमासनं क्रियते आचार्या उत्थिताश्च आसते तत्रोत्तिष्ठत्स्वनुत्तिष्ठत्सु च दोषा विभाषितव्याः पश्चात् स ऋद्धिप्राप्तः सामायिकं करोत्यनेन विधिना—करोमि भदन्त! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि द्विविधं त्रिविधेन यावन्नियमं पर्युपासे इति एवं सामायिकं कृत्वा प्रतिक्रान्तो वन्दित्वा पृच्छति, स किल सामायिकं कुर्वन् मुकुटं अपनयति कुण्डले नाममुद्रां

डुक्कतंमोऽपावारगमादी वोसिरति। एसा विधी सामाइयस्स। आह—सावद्ययोगपरिवर्जनाविकमत्वात् सामायिककृतः श्रावको वस्तुतः साधुरेव, स कस्मात् इत्वरं सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानमेव न करोति त्रिविधं त्रिविधेनेति[1], अत्रोच्यते, सामान्येन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्यागारिणोऽसम्भवादारम्भेष्वनुमतेरव्यवच्छिन्नत्वात्,कनकादिषु चाऽस्मीयपरिग्रहाद् निवृत्तेः, अन्यथा सामायिकोत्तरकालमपि तद्ग्रहणप्रसङ्गात्,साधुश्रावकयोश्च प्रपञ्चेन भेदाभिधानात्। तथा चाह ग्रन्थकार—

सिक्खा दुविधा गाहा, उववातठिती गती कसाया य। बंधता वेदेन्ता पडिवज्जाइक्कमे पंच ॥ १ ॥

इह शिक्षाकृतः साधुश्रावकयोर्महान् विशेषः, सा च शिक्षा द्विधा—आसेवनाशिक्षा ग्रहणशिक्षा च, आसेवना—प्रत्युपेक्षणादिक्रियारूपा, शिक्षा—अभ्यासः, तत्रासेवनाशिक्षामधिकृत्य सम्पूर्णामेव चक्रवालसामाचारी सदा पालयति साधुः, श्रावकस्तु न तत्कालमपि सम्पूर्णामपरिज्ञानादसम्भवाच्च, ग्रहणशिक्षां पुनरधिकृत्य साधुः सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरः उत्कृष्टतस्तु बिन्दुसारपर्यन्तं गृह्णातीति, श्रावकस्तु सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरः उत्कृष्टतस्तु षड्जीवनिकायां यावत्सुभयतोऽर्थतस्तु पिण्डैषणां यावत्, नतु तामपि सूत्रतो निरवशेषामर्थत इति। सूत्रप्रामाण्याच्च विशेषः, तथा चोक्तम्—“सामाइयंमि उ कते समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एतेण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ १ ॥” इति, गाथायुग्मं प्राग् व्याख्यातमेव, केवलं तु व्याख्यायते—सामायिके प्राग्निरूपितशब्दार्थे, तुशब्दोऽवधारणार्थः, सामायिक एव कृते न शेषकाले श्रमण इव—साधुरिव श्रावको भवति यस्मात्, एतेन कारणेन बहुशः—अनेकशः सामायिकं कुर्यादि

1 दुप्पणिहाणादि(?) गुणमवि एव विधि सामायिकस्स।

पडिक्कमति, पच्छा आलोएत्ता वंदति आयरियादी जधारातिणिया, पुणोवि गुरुं वंदित्ता पडिलेहित्ता णिविट्ठो पुच्छति पढति वा, एवं चेतियाइएसुवि, जदा सगिहे पोसधसालाए वा आवासए वा तत्थ णवरि गमणं णत्थि, जो इड्ढीपत्तो(सो) सव्विड्ढीए एति, तेण जणस्स उच्छाहोवि आढिता य साधुणो सुपुरिसपरिग्गहेणं, जति सो कयसामाइतो एति ताधे आसहत्थिमादिणा जणेण य अधिकरणं वट्टति, ताधे ण करेति, कयसामाइएण य पादेहिं आगतव्वं, तेण ण करेति, आगतो साधुसमीवे करेति, जति सो सावओ तो ण कोइ उट्ठेति, अह अहाभद्दओ ता पूता कता होतुत्ति भण(ण्ण)ति, ताधे पुव्वरइतं आसणं कीरति, आयरिया उट्ठिता य अच्छंति, तत्थ उट्ठेंतमणुट्ठेंते दोसा विभासितव्वा, पच्छा सो इड्ढी पत्तो सामाइय करेइ अणेण विधिणा—करेमि भन्ते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेण जाव नियमं पज्जु वासामित्ति, एवं सामाइयं काउं पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छति, सो य किर सामाइय करेंतो मउडं अवणेति कुंडलाणि णाममुद्दं

---

१ प्रतिक्रामति पश्चात् आलोच्य वन्दते आचार्यादीन् यथारात्निकं, पुनरपि गुरुं वन्दित्वा प्रतिलिख्य निविष्टः पृच्छति पठति वा एवं चैत्यालयेष्वपि यदा स्वगृहे पौषधशालायां वा आवासके वा तदा नवरं गमनं नास्ति, य ऋद्धिप्राप्तः स सर्वर्द्ध्याऽऽयाति तेन जनस्योत्साहः अपि च साधव आदृताः सुपुरुषपरिग्रहेण, यदि स कृतसामायिक आयाति तदाऽश्वहस्त्यादिना जनेन चाधिकरणं वर्तते ततो न करोति कृतसामायिकेन च पादाभ्यामागन्तव्यं तेन न करोति आगतः साधु समीपे करोति, यदि स श्रावकस्तदा न कोऽपि अभ्युत्तिष्ठति अथ यथाभद्रकस्तदाऽऽदृतो भवत्विति भण्यते तदा पूर्वरचितमासनं क्रियते आचार्या उत्थिताश्च तिष्ठन्ति तथोत्थितमनुत्तिष्ठति च दोषा विभाषितव्याः पश्चात् स ऋद्धिप्राप्तः सामायिकं करोत्यनेन विधिना—करोमि भदन्त! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि द्विविधं त्रिविधेन यावन्नियमं पर्युपासे इति एवं सामायिकं कृत्वा प्रतिक्रान्तो वन्दित्वा पृच्छति स किल सामायिकं कुर्वन् मुकुटं अपनयति कुण्डले नाममुद्रां

पुप्फतंबोलपावारगमादी वोसिरति। एसा विधी सामाइयस्स। आह—सावद्ययोगपरिवर्जनाद्विरूपत्वात् सामायिकस्थं कृतसामायिकः श्रावको वस्तुतः साधुरेव, स कस्माद् इत्वरं सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानमेव न करोति त्रिविधं त्रिविधेनेति?, अत्रोच्यते, सामान्येन सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्यागारिणोऽसम्भवादारम्भेष्वनुमतेरव्यवच्छिन्नत्वात्, कनकादिषु चाऽऽत्मीयपरिग्रहाद् निवृत्तेः, अन्यथा सामायिकोत्तरकालमपि तद्ग्रहणप्रसङ्गात्, साधुश्रावकयोश्च प्रपञ्चेन भेदाभिधानात्। तथा चाह ग्रन्थकारः—

सिक्खा दुविधा गाहा, उववातठिती गती कसाया य। बंधता वेदेन्ता पडिवज्जाइक्कमे पंच ॥ १ ॥

इह शिक्षाकृतः साधुश्रावकयोर्महान् विशेषः, सा च शिक्षा द्विधा—आसेवनाशिक्षा ग्रहणशिक्षा च, आसेवना—प्रत्युपेक्षणादिक्रियारूपा, शिक्षा—अभ्यासः, तत्रासेवनाशिक्षामधिकृत्य सम्पूर्णामेव चक्रवालसामाचारीं सदा पालयति साधुः, श्रावकस्तु न तत्कालमपि सम्पूर्णामपरिज्ञानादसम्भवाच्च, ग्रहणशिक्षां पुनरधिकृत्य साधुः सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरः उत्कृष्टतस्तु बिन्दुसारपर्यन्तं गृह्णातीति, श्रावकस्तु सूत्रतोऽर्थतश्च जघन्येनाष्टौ प्रवचनमातरः उत्कृष्टतस्तु षड्जीवनिकायां यावदुभयतोऽर्थतस्तु पिण्डैषणां यावत्, नतु तामपि सूत्रतो निरवशेषामर्थत इति। सूत्रप्रामाण्याच्च विशेषः, तथा चोक्तम्—"सामाइयंमि तु कते समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एतेण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा॥ १॥" इति, गाथासूत्रं प्राग् व्याख्यातमेव, लेशतस्तु व्याख्यायते—सामायिके प्राग्निरूपितशब्दार्थे, तुशब्दोऽवधारणार्थः, सामायिक एव कृते न शेषकाले श्रमण इव—साधुरिव श्रावको भवति यस्मात्, एतेन कारणेन बहुशः—अनेकशः सामायिकं कुर्यादि

1 पुप्फतंबोलपावारकादि परिहरति एस विधि सामायिकस्स।

पडिक्कमति, पच्छा आलोएत्ता वंदति आयरियादी अधारातिणिया, पुणोवि गुरुं वंदित्ता पडिलेहित्ता णिविट्ठो पुच्छति पढति वा, एवं चेतियाइएसुवि, जदा सगिहे पोसधसालाए वा आवासए वा तत्थ णवरि गमणं णत्थि, जो इड्ढीपत्तो(सो) सव्विड्ढीए एति, तेण अणस्स उच्छाहोवि आढिता य साधुणो सुपुरिसपरिग्गहेणं, जति सो कयसामाइओ एति ताधे आसहत्थिमादिणा जणेण य अधिकरणं वट्टति, ताधे ण करेति, कयसामाइएण य पादेहिं आगतए, तेणं ण करेति, आगतो साधुसमीवे करेति, जति सो सावओ तो ण कोइ उट्ठेति, अह अहाभद्दओ ता पूता कता होतुत्ति भण(ण्ण)ति, ताधे पुव्वरइतं आसणं कीरति, आयरिया उट्ठित्ता य अच्छंति, तत्थ उट्ठेंतमणुट्ठेंते दोसा विभासितव्वा, पच्छा सो इड्ढी पत्तो सामाइयं करेइ अणेण विधिणा—करेमि भन्ते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेण जाव नियमं पज्जु वासामित्ति, एवं सामाइयं काउं पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छति, सो य किर सामाइयं करेंतो मउडं अवणेति कुंडलाणि णाममुद्दं

---

१ प्रतिक्रामति पश्चात् आलोच्य वन्दते आचार्यादीन् यथारात्निकं, पुनरपि गुरुं वन्दित्वा प्रतिलिख्य निविष्टः पृच्छति पठति वा एवं चैत्यादिष्वपि यदा स्वगृहे पौषधशालायां वा आवासके वा तदा नवरं गमनं नास्ति य ऋद्धिप्राप्तः स सर्वर्द्ध्याऽऽयाति तेन जनस्योत्साहः अपि च साधव आदृताः सुपुरुषपरिग्रहेण यदि स कृतसामायिक आयाति तदाश्वहस्त्यादिना जनेन चाधिकरणं वर्तते ततो न करोति कृतसामायिकेन च पादाभ्यामागन्तव्यं तेन न करोति आगतः साधु समीपे करोति यदि स श्रावकस्तदा न कोऽपि अभ्युत्तिष्ठति अथ यथाभद्रकस्तदाऽऽदृतो भवत्विति भण्यते तदा पूर्वरचितमासनं क्रियते आचार्या उत्थिताः तिष्ठन्ति तत्रोत्थितमनुत्थिते च दोषा विभाषितव्याः पश्चात् स ऋद्धिप्राप्तः सामायिकं करोत्यनेन विधिना—करोमि भदन्त! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि द्विविधं त्रिविधेन यावन्नियमं पर्युपासे इति एवं सामायिकं कृत्वा प्रतिक्रान्तो वन्दित्वा पृच्छति स किल सामायिकं कुर्वन् मुकुटं अपनयति कुण्डले नाममुद्रां

सावएण कध कायव्वंति ?, इह सावगो दुविधो—इड्ढीपत्तो अणिड्ढिपत्तो य, जो सो अणिड्ढिपत्तो सो चेतियघरे साधुसमीपे वा घरे वा पोसधसालाए वा जत्थ वा विसमति अच्छते वा निव्वावारो सव्वत्थ करेति तत्थ, चउसु ठाणेसु णियमा कायव्वं—चेतियघरे साधुमूले पोसधसालाए घरे आवासगं करेंतोत्ति, तत्थ जति साधुसगासे करेति तत्थ का विधी ?, जति परं परभयं नत्थि जतिवि य केणइ समं विवादो णत्थि जति कस्सइ ण धरेइ मा तेण अंछवियंछियं कज्जिहिति, जति य धारणगं दट्ठूण न गेण्हति मा भज्जिहित्ति, जति वावारं ण वावारेति, ताधे घरे चेव सामायिकं कातूणं वच्चति, पंचसमिओ तिगुत्तो इरियाउवउत्ते जहा साधू भासाए सावज्जं परिहरंतो एसणाए कट्ठं लेट्ठुं वा पडिलेहिय पमज्जेतु, एव आदाणे णिक्खेवणे, खेलसिंघाणे ण विगिंचति, विगिंचंतो वा पडिलेहेति य पमज्जति य, जत्थ चिट्ठति तत्थवि गुत्तिणिरोध करेति। एताए विधीए गंता तिविधेण णमित्तु साधुणो पच्छा सामाइयं करेति, 'करेमि भन्ते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेणं जाव साधू पज्जुवासामित्ति कातूण, पच्छा इरियावहियाए

1 श्रावकेण कथं कर्तव्यमिति ? इह श्रावको द्विविधः—ऋद्धिप्राप्तोऽनृद्धिप्राप्तश्च, यः सोऽनृद्धिप्राप्तः स चैत्यगृहे साधुसमीपे वा गृहे वा पौषधशालायां वा यत्र वा विश्राम्यति तिष्ठति वा निर्व्यापारः सर्वत्र करोति तत्र चतुर्षु स्थानेषु नियमात् कर्तव्यं—चैत्यगृहे साधुमूले पौषधशालायां गृहे वाऽऽवश्यकं कुर्वन्निति तत्र यदि साधुसकाशे करोति तत्र को विधिः ?—यदि परं परभयं नास्ति यदि च केनापि सार्धं विवादो नास्ति यदि कस्यचित् धारणकं न धारयति मा तेनाकर्षविकर्षं भविष्यतीति यदि धारणकं दृष्ट्वा न गृह्णाति मा भञ्जयिष्यतीति यदि व्यापारं न करोति तदा गृह एव सामायिकं कृत्वा व्रजति पञ्चसमितस्त्रिगुप्त ईर्योपयुक्तो यथा साधुः भाषायां सावद्यं परिहरन् एषणायां लेष्टुं काष्ठं वा प्रतिलेख्य प्रमृज्य एवमादाने निक्षेपे खेलसिंघाणे न त्यजति त्यजन् वा प्रतिलेखयति च प्रमार्जयति च, यत्र तिष्ठति तत्रापि गुप्तिनिरोधं करोति एतेन विधिना गत्वा त्रिविधेन नत्वा साधून् पश्चात् सामायिकं करोति—करोमि भदन्त ! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि द्विविधं त्रिविधेन यावत् साधून् पर्युपासे इति कृत्वा, पश्चात् ऐर्यापथिकी

तृतीयाणुव्रतं, व्याख्यातानि गुणव्रतानि, अधुना शिक्षापदव्रतानि उच्यन्ते, तानि च चत्वारि भवन्ति, तद्यथा—सामायिकं देसावकाशिकं पौषधोपवासः अतिथिसंविभागश्चेति, तत्राद्यशिक्षापदव्रतप्रतिपादनायाह—

सामाइअं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं निरवज्जजोगपडिसेवणं च। सिक्खा दुविहा गाहा उववायठिई गई कसाया य। बंधता वेयंता पडिवज्जाइक्कमे पंच॥ १॥ सामाइअंमि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा॥ २॥ सव्वंति भाणिऊणं विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि। सो सव्वविरइवाई चुक्कइ देसं च सव्वं च॥ ३॥ सामाइयस्स समणो॰ इमे पञ्च॰, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे वइदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइअकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया[1]॥ (सूत्रम्)॥

समो—रागद्वेषवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभः प्राप्तिरिति पर्यायाः, समस्यायः समायः, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्निरुपमसुखहेतुभिरधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, स एव समायः प्रयोजनमस्य क्रियानुष्ठानस्येति सामायिकं समाय एव सामायिकं, नामशब्दोऽलङ्कारार्थः, अवद्य—गर्हितं पापं, सहावद्येन सावद्यः योगो—व्यापारः कायिकादिस्तस्य परिवर्जनं—परित्यागः कालावधिनेति गम्यते, तत्र मा भूत् सावद्ययोगपरिवर्जनमात्रमपायश्च्यापारासेवनशून्यमित्यत आह—निरवद्ययोगप्रतिसेवनं चेति, अत्र सावद्ययोगपरिवर्जनवन्निरवद्ययोगप्रतिसेवनेऽप्यहर्निशं यत्नः कार्य इति दर्शनार्थं चशब्दः परिवर्जनप्रतिसेवनक्रियाद्वयस्य तुल्यकक्षतोद्भावनार्थः। एत्थ पुण सामाचारी—सामाइय

1 अत्र पुनः सामाचारी सामायिकं

सावएण कधं कायव्वंति ?, इह सावगो दुविधो—इड्ढीपत्तो अणिड्ढिपत्तो य, जो सो अणिड्ढिपत्तो सो चेतियघरे साधुसमीपे वा घरे वा पोसधसालाए वा जत्थ वा विसमति अच्छते वा निव्वावारो सव्वत्थ करेति तत्थ, चउसु ठाणेसु णियमा कायव्वं—चेतियघरे साधुमूले पोसधसालाए घरे आवासगं करेंतोत्ति, तत्थ जति साधुसगासे करेति तत्थ का विधी ?, जति परं परभयं नत्थि जतिवि य केणइ समं विवादो णत्थि जति कस्सइ ण धरेइ मा तेण अंचवियच्छियं कज्जिहिति, जति य धारणगं दट्ठूण न गेण्हति मा णिज्जिहिति, जति वावारं ण वावारेति, ताधे घरे चेव सामायिकं कातूणं वच्चति, पंचसमिओ तिगुत्तो ईरियावउत्ते जहा साधू भासाए सावज्जं परिहरंतो एसणाए कट्ठं लेट्ठुं वा पडिलेहितं पमज्जेत्तु, एवं आदाणे णिक्खेवणे, खेलसिंघाणे ण विगिंचति, विगिंचंतो वा पडिलेहेति य पमज्जति य, जत्थ चिट्ठति तत्थवि गुत्तिणिरोधं करेति। एताए विधीए गंता तिविधेण णमित्तु साधुणो पच्छा सामाइयं करेति, 'करेमि भन्ते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि दुविधं तिविधेणं जाव साधू पज्जुवासामित्ति कातूणं, पच्छा ईरियावहियाए

१ श्रावकेन कथं कर्त्तव्यमिति ? इह श्रावको द्विविधः—ऋद्धिप्राप्तोऽनृद्धिप्राप्तश्च, यः सोऽनृद्धिप्राप्तः स चैत्यगृहे साधुसमीपे वा गृहे वा पौषधशालायां वा यत्र वा विश्राम्यति तिष्ठति वा निर्व्यापारः सर्वत्र करोति तत्र चतुर्षु स्थानेषु नियमात् कर्त्तव्यं—चैत्यगृहे साधुमूले पौषधशालायां गृहे वाऽऽवश्यकं कुर्वन्निति तत्र यदि साधुसकाशे करोति तत्र को विधिः ?—यदि परं परभयं नास्ति यदि च केनापि सार्धं विवादो नास्ति यदि कस्यचित् धारयति मा तेनाकर्षविकर्षं भूदिति यदि धारणकं दृष्ट्वा न गृह्णाति मा भीषयेति यदि व्यापारं न करोति तदा गृह एव सामायिकं कृत्वा व्रजति पञ्चसमितस्त्रिगुप्त ईर्यायामुपयुक्तो यथा साधुः भाषायां सावद्यं परिहरन् एषणायां लेष्टुं काष्ठं वा प्रतिलिख्य प्रमृज्य एवमादाने निक्षेपे श्लेष्मसिङ्घाणे न त्यजति त्यजन् वा प्रतिलिखति च प्रमार्ष्टि च, यत्र तिष्ठति तत्रापि गुप्तिनिरोधं करोति एतेन विधिना गत्वा त्रिविधेन नत्वा साधून् पश्चात् सामायिकं करोति—करोमि भदन्त ! सामायिकं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि द्विविधं त्रिविधेन यावत् साधून् पर्युपासे इतिकृत्वा पश्चात् ऐर्यापथिकीं

ध्यानाचरितः समासः, अप्रशस्तं ध्यानं अपध्यानं, इह देवदत्तश्रावककोङ्कणकसाधुप्रभृतयो ज्ञापकं, 'प्रमादाचरितं' प्रमादेनाचरितं इति विग्रहः, प्रमादस्तु मद्यादिः पञ्चधा, तथा चोक्तम्—"मज्जं विसयकसाया विकहा णिद्दा य पंचमी भणिया" अनर्थदण्डत्वं चास्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्ध्या भावनीयं, 'हिंसाप्रदानं' इह हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंसोच्यते, कारणे कार्योपचारात्, तेषां प्रदानमन्यस्मै क्रोधाभिभूतायानभिभूताय वा न कल्पते, प्रदाने ह्यनर्थदण्ड इति, 'पापकर्मोपदेशः' पातयति नरकादाविति पापं तत्प्रधानं कर्म पापकर्म तस्योपदेश इति समासः, यथा—कृष्यादि कुरुत, तथा चोक्तं—"छित्ताणि कसह गोणे दमेह इच्चादि सावगजणस्स । णो कप्पति उवदिसिउं णाणियजिणवयणसारस्स ॥ १ ॥" इदमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यैवातिचाराभिधित्सयाऽऽह—'अणट्ठदंडे'त्यादि, अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—कन्दर्प—कामः तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगः कन्दर्प उच्यते, रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रो मोहोद्दीपको नर्मेति भावः । इह सामाचारी—सावगस्स अट्टहासो न कप्पति, जति णाम हसितव्वं तो ईसिं चेव विहसितव्वंति । कौकुच्यं—कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तः कुचः कुकुचः तद्भावः कौकुच्यं—अनेकप्रकारा मुखनयनोष्ठकरचरणभ्रूविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भाण्डादीनामिव विडम्बनक्रियेत्यर्थः । एत्थ सामायारी—तारिसगाणि भासिउं ण कप्पति जारिसेहिं लोगस्स हासो उप्पज्जति, एवं गतीए ठाणेण वा ठातिउन्ति । मौखर्यं—धार्ष्ट्यप्रायमसत्या

१ क्षेत्राणि कृषत वृषभान् दमयत इत्यादि श्रावकजनस्य । न कल्पते उपदेष्टुं ज्ञातजिनवचनसारस्य ॥ १ ॥ २ श्रावकस्याट्टहासो न कल्पते यदि नाम हसितव्यं तर्हि ईषदेव विहसितव्यमिति । ३ अत्र सामाचारी—तादृशं भाषितुं न कल्पते यादृशेन लोकस्य हास्यमुत्पद्यते एवं गत्या स्थानेन वा स्थातुमिति

सम्मत्तमसाविसमुच्चते, मुहेण वा अरिमारेति, जधा कुमारामच्चेणं सो चारभडो विसज्जितो, रण्णो णिवेदितं, ताए जीविकाए वित्ति दिण्णा, अण्णता रुट्ठेण मारितो कुमारामच्चो । संयुक्ताधिकरणं–अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं–वास्युदूखलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रकादि संयुक्तं–अर्थक्रियाकरणयोग्यं संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । एत्थ समाचारी–सावगेण संजुत्ताणि चेव सगडादीनि न धरेतव्वाणि, एवं वासीपरसुमादिविभासा। 'उपभोगपरिभोगातिरेक' इति उपभोगपरिभोगशब्दार्थो निरुपित एव तदतिरेकः । एत्थवि सामायारी–उवभोगातिरित्तं जदि तेल्लामलए बहुए गेण्हति ततो बहुगा ण्हायगा वच्चंति तस्स लोलियाए, अण्णेवि ण्हायगा ण्हायंति, एत्थ पूतरगाआउक्कायवधो, एवं पुप्फतंबोलमादिविभासा, एवं ण वट्टति, का विधी सावगस्स उवभोगे ण्हाणे ?, घरे ण्हायव्व णत्थि ताहे तेल्लामलएहिं सीसं घंसित्ता सव्वे साडेऊणं ताहे तडागाईतडे णिविट्ठो अंजलिहिं ण्हाति, एव जेसु य पुप्फेसु पुप्फकुंथुगाणि ताणि परिहरति । तकं सातिचारं

---

१ मुखेन वाऽरिमारयति, यथा कुमारामात्येन स चारभटो विसृष्टः राज्ञो निवेदितं तथा जीविका वृत्तिर्दत्ता अन्यदा रुष्टेन मारितः कुमारामात्यः । २ अत्र सामाचारी श्रावकेण संयुक्तानि शकटादीनि न धारणीयानि एवं वासीपरश्वादिविभाषा । ३ अत्रापि सामाचारी–उपभोगातिरिक्ते यदि तैलामलकादीनि बहूनि गृह्णाति ततो बहवः स्नानकास्तस्य लौल्येन स्नान्ति अन्येऽप्यत्र ... अत्र पूतरकाप्कायवधः एवं पुष्पताम्बूलादिविभाषा एवं न वर्तते को विधिः श्रावकस्योपभोगे स्नाने ?–गृहे स्नातव्यं नास्ति तदा तैलामलकैः शीर्षं घृष्ट्वा सर्वाणि शातयित्वा तडागादितीरे निषण्णोऽञ्जलिभिः स्नाति, एवं येषु पुष्पेषु पुष्पकुन्थ्वादीनि परिहरति ।

ध्यानाचरितः समासः, अप्रशस्तं ध्यानं अपध्यानं, इह देवदत्तश्रावककोङ्कुणकसाधुप्रभृतयो ज्ञापकं, 'प्रमादाचरितः' प्रमादेनाचरित इति विग्रहः, प्रमादस्तु मद्यादिः पञ्चधा, तथा चोक्तम्—"मज्जं विसयकसाया विकहा णिद्दा य पचमी भणिया' अनर्थदण्डत्वं चास्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्ध्या भावनीय, 'हिंसाप्रदानं' इह हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंसोच्यते, कारणे कार्योपचारात्, तेषां प्रदानमन्यस्मै क्रोधाभिभूतायानभिभूताय या न कल्पते, प्रदाने त्वनर्थदण्ड इति, 'पापकर्मोपदेशः' पातयति नरकादाविति पापं तत्प्रधानं कर्म पापकर्म तस्योपदेश इति समासः, यथा—कृष्यादि कुरुत, तथा चोक्तं—"छित्ताणि कसध गोणे दमेध इच्चादि सावगजणस्स । णो कप्पति उवदिसिउं आणियजिणवयणसारस्स ॥ १ ॥" इदमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यैवातिचाराभिधित्सयाऽऽह—'अणट्ठदंडे'त्यादि, अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—कन्दर्पः—कामः तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगः कन्दर्प उच्यते, रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रो मोहोद्दीपको नर्मेति भावः । इह सामाचारी—सावगस्स अट्टहासो न कप्पति, जति णाम हसियव्वं तो ईसिं चेव विहसितव्वंति । कौकुच्यं—कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तः कुचः कुकुचः तद्भावः कौकुच्यं—अनेकप्रकारा मुखनयनोष्ठकरचरणभ्रूविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भाण्डादीनामिव विडम्बनक्रियेत्यर्थः । एत्थ सामायारी—तारिसगाणि भासितुं ण कप्पति जारिसेहिं लोगस्स हासो उप्पज्जति, एवं गतीए ठाणेण वा ठासितुन्ति । मौखर्य—धार्ष्ट्यप्रायमसत्या

---

१ क्षेत्राणि कृष वा दमय इत्यादि श्रावकजनस्य । न कल्पते उपदेष्टुं ज्ञातजिनवचनसारस्य ॥ १ ॥ २ श्रावकस्याट्टहासो न कल्पते यदि नाम हसितव्यं तर्हि ईषदेव विहसितव्यमिति । ३ अत्र सामाचारी—तादृशि भाषितुं न कल्पते यादृशैर्लोकस्य हास्यमुत्पद्यते एवं गत्या स्थानेन वा स्थातुमिति

सम्मत्तमसाविस्समुप्पत्ते, मुंडेण या अरिमाणेति, जधा कुमारामच्चेणं सो चारभडो विसज्जितो, रण्णा णिवेदिते, ताए जीविकाए वित्ति दिण्णा, अण्णता रुट्ठेण मारितो कुमारामच्चो । संयुक्ताधिकरणं–अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं–वास्युदूखलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रकादि संयुक्तं–अर्थक्रियाकरणयोग्यं संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । एत्थ समाचारी–सावगेण संजुत्ताणि चेव सगडादीणि न धरेतव्वाणि, एव वासीपरसुमादिविभासा । 'उपभोगपरिभोगातिरेक' इति उपभोगपरिभोगशब्दार्थो निरूपित एव तदतिरेकः । एत्थवि सामायारी–उपभोगातिरित्तं जदि तेल्लामलए बहुए गेण्हति ततो बहुगा ण्हायगा वच्चंति तस्स लोलियाए, अण्णेवि ण्हायगा ण्हायंति, एत्थ पूतरगाआउक्कायवधो, एवं पुप्फतंबोलादिविभासा, एवं ण वट्टति, को विधी सावगस्स उपभोगे ण्हाणे ?, घरे ण्हायव णत्थि ताधे तेल्लामलएहिं सीसं घंसित्ता सव्वे साडेऊण ताहे तलागादितडे निविट्ठो अंजलीहिं ण्हाति, एव जेसु य पुप्फेसु पुप्फकुंथुगाणि ताणि परिहरति । उक्तं सातिचारं

---

१ मुण्डेन वाऽरिमाणयति यथा कुमारामात्येन स चारभटो विसृष्टः राज्ञो निवेदितं तथा जीविका वृत्तिर्दत्ता अन्यदा रुष्टेन मारितः कुमारामात्यः । २ अत्र सामाचारी श्रावकेण संयुक्तानि शकटादीनि न धारणीयानि एवं वासीपरश्वादिविभाषा । ३ अत्रापि सामाचारी–उपभोगातिरिक्तं यदि तैलामलकादीनि बहूनि गृह्णाति ततो बहवः स्नानकरणार्थं तस्य लोभेन अन्येऽपि स्नान्ति अत्र पूतरकाप्कायवधः एवं पुष्पताम्बूलादिविभाषा एवं न वर्तते को विधिः श्रावकस्योपभोगे स्नाने ?–गृहे स्नातव्यं नास्ति तदा तैलामलकैः शीर्षं घृष्ट्वा सर्वाणि शाटयित्वा तडागादितीरे तटे निविष्टोऽञ्जलिभिः स्नाति एवं येषु पुष्पेषु पुष्पकुन्थ्वादीनि परिहरति ।

ध्यानाचरितः समासः, अप्रशस्तं ध्यानं अपध्यानं, इह दयदत्तमायकफोक्कुणकसाधुप्रभृतयो ज्ञापकं, 'प्रमादाचरितं' प्रमादेनाचरित इति विग्रहः, प्रमादस्तु मद्यादिः पञ्चधा, तथा चोक्तम्—"मज्जं विसयकसाया विकहा णिद्दा य पंचमी भणिया" अनर्थदण्डत्वं चास्योक्तशब्दार्थद्वारेण स्वबुद्ध्या भावनीय, 'हिंसाप्रदानं' इह हिंसाहेतुत्वादायुधानलविषादयो हिंसोच्यते, कारणे कार्योपचारात्, तेषां प्रदानमन्यस्मै क्रोधाभिभूतायानभिभूताय वा न कल्पते, प्रदाने त्वनर्थदण्ड इति, 'पापकर्मोपदेशः' पातयति नरकादाविति पापं तत्प्रधानं कर्म पापकर्म तस्योपदेश इति समासः, यथा—कृष्यादि कुरुत, तथा चोक्त—"छित्ताणि कसघ गोणे दमेघ इच्चादि सावगजणस्स । णो कप्पति उवदिसिउं आणियजिणवयणसारस्स ॥ १ ॥" इदमतिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यैवातिचाराभिधित्सयाऽऽह—'अणट्ठदंडे'त्यादि, अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—कन्दर्पः—कामः तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगः कन्दर्प उच्यते, रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रो मोहोद्दीपको नर्मेति भावः । इह सामाचारी—सावगस्स अट्टहासो न कप्पति, जति णाम हसियव्वं तो ईसिं चेव विहसियव्वंति । कौकुच्यं—कुत्सितसंकोचनादिक्रियायुक्तः कुचः कुकुचः तद्भावः कौकुच्यं—अनेकप्रकारा मुखनयनोष्ठकरचरणभ्रूविकारपूर्विका परिहासादिजनिका भाण्डादीनामिव विडम्बनक्रियेत्यर्थः । एत्थ सामायारी—तारिसगाणि भासिउं ण कप्पति जारिसेहिं लोगस्स हासो उप्पज्जति, एवं गतीए ठाणेण वा ठाइतुम्ति। मौखर्य—धार्ष्ट्यप्रायमसत्या

१ क्षेत्राणि कृष गा दमय इत्यादि श्रावकजनस्य । न कल्पते उपदेष्टुं ज्ञातजिनवचनसारस्य ॥ १ ॥ २ श्रावकस्याट्टहासो न कल्पते यदि नाम हसितव्यं तर्हि ईषदेव विहसितव्यमिति । ३ अत्र सामाचारी—तादृशानि भाषितुं न कल्पते यादृशैर्लोकस्य हास्यमुत्पद्यते एवं गत्या स्थानेन वा स्थातुमिति

सम्बद्धमलापित्वमुच्यते, मुंडेण वा अभिमारणेति, जधा कुमारामच्चेणं सो चारभडो विसज्जितो, रण्णा णिवेदितं, ताए जीविकाए वित्ति दिण्णा, अण्णता रुट्ठेण मारितो कुमारामच्चो । संयुक्ताधिकरणं—अधिक्रियते नरकादिष्वनेनेत्यधिकरणं—वास्युदूखलशिलापुत्रकगोधूमयन्त्रकादि संयुक्तं—अर्थक्रियाकरणयोग्यं संयुक्तं च तदधिकरणं चेति समासः । एत्थ समाचारी—सावगेण संजुत्ताणि चेव सगडादीनि न धरेतव्वाणि, एवं वासीपरसुमादिविभासा । 'उपभोगपरिभोगातिरेक' इति उपभोगपरिभोगशब्दार्थो निरूपित एव तदतिरेकः । एत्थवि सामायारी—उवभोगातिरित्तं जदि तेल्लामलए बहुए गेण्हति ततो बहुगा ण्हायगा वच्चंति तस्स लोलियाए, अण्हविण्हायगा ण्हायंति, एत्थ पूतरगाआउक्कायवधो, एवं पुप्फतंबोलमादिविभासा, एवं ण वट्टति, का विधी सावगस्स उवभोगे ण्हाणे ?, घरे ण्हायव्व णत्थि ताधे तेल्लामलएहिं सीसं घंसित्ता सव्वे साडेतूणं ताहे तलागाईतडे निविट्ठो अंजलिहिं ण्हाति, एव जेसु य पुप्फेसु पुप्फकुंथुगाणि ताणि परिहरति । उक्तं सातिचारं

---

१ मुंडेन चाभिमारणमिति यथा कुमारामात्येन स चारभटो विसृष्टः राज्ञो निवेदितं तया जीविका दत्तेति अन्यदा रुष्टेन मारितः कुमारामात्यः । २ अत्र सामाचारी श्रावकेण संयुक्तानि शकटादीनि न धारणीयानि एवं वासीपरश्वादिविभाषा । ३ अत्रापि सामाचारी—उपभोगातिरिक्तं यदि तैलामलकादीनि बहूनि गृह्णाति ततो बहवः स्नानार्थं गच्छन्ति-तस्य लौल्येन अन्येऽस्नापका अपि स्नान्ति अत्र पूतरकाप्कायवधः, एवं पुष्पताम्बूलादिविभाषा एवं न वर्तते को विधिः श्रावकस्योपभोगे स्नाने ?—गृहे स्नातव्यं नास्ति तदा तैलामलकैः शीर्षं घृष्ट्वा सर्वाणि शाटितानि तडागादीनां तटे निविष्टोऽञ्जलिभिः स्नाति, एवं येषु पुष्पेषु पुष्पकुन्थ्वादीनि परिहरति ।

पच्छा रुक्खे छिंदित्तु मुल्लेण जीवति, एवं पणिगादि पडिसिद्धा हवंति, साडीकम्मं—सागडीयत्तणेण जीवति, तत्थ बंधवधमाई दोसा, भाडीकम्मं—सएण भंडोवक्खरेण भाडएण वहइ, परायगं ण कप्पति, अण्णेसिं वा सगडं बलद्दे य न देति, एवमादी कातु ण कप्पति, फोडिकम्मं—उदएणं हलेण वा भूमीफोडणं, दंतवाणिज्जं—पुव्विं चेव पुलिंदाणं मुल्लं देति दंते देज्ञा वत्ति, पच्छा पुलिंदा हत्थी घातेंति, अचिरा सो वाणियओ एहिइत्तिकातुं, एवं धीम्मरगाणं संखमुल्लं देंति, एवमादी ण कप्पति, पुव्वाणीतं किणाति, लक्खवाणिज्जेऽवि एते चेव दोसा—तत्थ किमिया होंति, रसवाणिज्जं—कल्लालत्तणं सुरादि तत्थ पाणे बहु दोसा मारणअक्कोसवधादी तम्हा ण कप्पति, विसवाणिज्जं—विसविक्कयो से ण कप्पति, तेण बहूण जीवाणं विराधणा, केसवाणिज्ज—दासीओ गहाय अण्णत्थ विक्किणाति जत्थ अग्घंति, एत्थवि अणेगे दोसा परवसतादयो, जंतपीलणकम्म—तेलियं जंत उच्छुजन्तं चक्कादि तंपि ण कप्पते, णिल्लछणकम्म—वद्धेउं गोणादि ण कप्पति, दवग्गिदावणताकम्मं—वणदवं देति

---

१ पश्चाद्वृक्षान् छित्वा मूल्येन जीवति एवं पण्याद्याः प्रतिषिद्धा भवन्ति शाकटिककर्म—शाकटिकत्वेन जीवति तत्र बन्धवधादिका दोषाः भाटीकर्म—स्वकीयेन भाण्डोपस्करेण भाटकेन वहति परकीयं न कल्पते अन्येभ्यो वा शकटं बलीवर्दौ च न ददाति एवमादि कर्तुं न कल्पते स्फोटिकर्म—उदरेण हलेन वा भूमिस्फोटनं दन्तवाणिज्यं—पूर्वमेव पुलिन्द्रेभ्यो मूल्यं ददाति दन्तान् ददातेति, पश्चात् पुलिन्द्रा हस्तिनो घातयन्ति अचिरात् स वणिङ् आयास्यतीति कृत्वा एवं धीवराणां शङ्खमूल्यं ददाति एवमादि न कल्पते पूर्वानीतं क्रीणाति लाक्षावाणिज्येऽपि एत एव दोषास्तत्र कृमयो भवन्ति रसवाणिज्यं—कल्यपालत्वं सुरादि तत्र पाने बहवो दोषाः मारणाक्रोशवधादयस्तस्मान्न कल्पते विषवाणिज्यं विषविक्रयस्तन्न कल्पते तेन बहूनां जीवानां विराधना केशवाणिज्य—दासीर्गृहीत्वाऽन्यत्र विक्रीणाति यत्रार्घन्ति अत्राप्यनेके दोषाः परवशत्वादयः, यन्त्रपीडनकर्म—तैलिक यन्त्रं इक्षुयन्त्र चक्रादि तदपि न कल्पते निर्लाञ्छनकर्म—वर्धयितुं गवादीन् न कल्पते, दवाग्निदापनताकर्म वनदवं ददाति

क्षेत्रलक्षणनिमित्तं यथा उत्तरापथे पच्छा दहे तरुणगं तणं चट्ठेति, तत्थ सत्ताणं सतसहस्साण वधो, सरदहतलागपरिसोसणताकम्मं—सरदहतलागादीणि सोसति पच्छा धाधिज्जंति, एवं ण कप्पति, असतीपोसणताकम्मं—असतीओ पोसेति जधा गोल्लविसए जोणीपोसगा दासीण भाडिं गेण्हंति, प्रदर्शनं चैतद् बहुसावद्यानां कर्मणां एवंजातीयानां, न पुनः परिगणनमिति भावार्थः । उक्तं सातिचारं द्वितीयं गुणव्रतं, साम्प्रतं तृतीयमाह—

अणत्थदंडे चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—अवज्झाणायरिए पमत्तायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोवएसे, अणत्थदंडवेरमणस्स समणोवा० इमे पंच० तंजहा—कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोगपरिभोगाइरेगे ८ ॥ (सूत्रम्)

अनर्थदण्डस्त्वयार्थः, अर्थः—प्रयोजनं, गृहस्थस्य क्षेत्रवास्तुधनशरीरपरिजनादिविषयं तदर्थं आरम्भो—भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः, दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः, अर्थेन—प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः स चैष भूतविषयः उपमर्दनलक्षणो दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते, तद्विपरीतोऽनर्थदण्डः—प्रयोजननिरपेक्षः, अनर्थः अप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः, विनैव कारणेन भूतानि दण्डयति सः, यथा कुठारेण प्ररूढस्कन्धशाखादिषु प्रहरति कृकलासपिपीलिकादीन् व्यापादयति कृतसङ्कल्पः, न च तद्व्यापादने किञ्चिदतिशयोपकारि प्रयोजनं येन विना गार्हस्थ्यं प्रतिपालयितु न शक्यते, सोऽयमनर्थदण्डः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—'अपध्यानाचरित' इति अपध्यानेनाचरितः अप-

१ क्षेत्रलक्षणनिमित्तं यथोत्तरापथे पश्चात् ग्रामे दत्तं तृणमुत्थिते तत्र सत्त्वानां शतसहस्राणां वधः सरोह्रदतडागपरिशोषणताकर्म—सरोह्रदतडागादीन् शोषयति धान्यमुप्यते एवं न कल्पते, असतीपोषणताकर्म—असतीः पोषयति यथा गोल्लविषये योनिपोषका दासीनां भाटिं गृह्णन्ति

इमे च अण्णे भोयणतो परिहरति—असणे अणंतकाय अल्लगमूलगादि मसं च, पाणे मंसरसमज्जादि, खादिमे उदुंबरकउंबरवडपिप्पलपिलंखुमादि, सादिमं मधुमादि, अचित्तं च आहारेयव्वं, जदा किर ण होज्ज अचित्तो तो उस्सग्गेण भत्तपच्चक्खातितव्वं ण तरति ताधे अववाएण सचित्तं अणंतकायबहुबीयगवज्जं, कम्मतोऽवि अकम्मा ण तरति जीवितुं ताधे अच्चंतसावज्जाणि परिहरिज्जंति । इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमित्यतस्तस्यैयातिचारानभिधित्सुराह—'भोयणतो समणोवासएणं' भोजनतो यद्व्रतमुक्तं तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—'सचित्ताहारः' सचित्तं चेतना सज्ञानमुपयोगोपधानमिति पर्यायाः, सचित्तश्चासौ आहारश्चेति समासः, सचित्तो वा आहारो यस्य सचित्तमाहारयति इति वा मूलकन्दलीकन्दकार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षे प्रतिबद्धो गुन्दादि पक्वफलानि वा । तथा अपक्वौषधभक्षणत्यमिद प्रतीतं, सचित्तसंमिश्राहार इति वा पाठान्तरं, सचित्तेन समिश्र आहारः सचित्तसमिश्राहारः, यद्यादि पुष्पादि वा संमिश्रं, तथा दुष्पक्वौषधिभक्षणता दुष्पक्काः—अस्विन्ना इत्यर्थः तद्भक्षणता, तथा तुच्छौषधिभक्षणता तुच्छा हि असारा मुद्गफलीप्रभृतयः, अत्र हि महती विराधना अल्पा च तुष्टिः, बहुभिरप्यैहिकोऽप्यपायः सम्भाव्यते । एष

---

१ इदं चान्यद् भोजनतः परिहरति—अशनेऽनन्तकायं आर्द्रकमूलकमपि मांसं च, पाने मांसरसमद्यादि खाद्ये उदुम्बरकाकोदुम्बरवटपिप्पलकादि स्वाद्ये मध्वादि अचित्तं आहर्तव्यं यदा किल न भवेद् अचित्त उत्सर्गेण भक्तं प्रत्याख्यातव्यं न शक्नोति तदाऽपवादेन सचित्त अनन्तकायबहुबीजवर्ज्यं कर्मतोऽप्यकर्मो न शक्नोति जीवितुं तदाऽत्यन्तसावद्यानि परिह्रियन्ते । २ भव

सिंगालावकोदाहरणं–सेसरक्खगो सिंगालो लाति, राया णिग्गच्छति, मज्झण्हे पडिगतो, तथावि खायति, रण्णा कोरपणं पोई फालावितं केचियाओ लाइताओ होज्जति, णवरि फेणो अन्नं किंचि णत्थि, एवं भोअन इति गतं । अमुना कर्मतो यत् भवमुक्तं तदप्यतिचाररहितमनुपालनीयं इत्यतोऽस्यातिचारानभिधित्सुराह—

कम्मओ ण समणोवा० इमाई पन्नरस कम्मादाणाइं जा०, तंजहा–इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे केसवाणिज्जे विसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलायसोसणया असईपोसणया ७ ॥ (सूत्र) ॥

कर्मतो यत् भवमुक्तं णमिति वाक्यालङ्कारे तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनामूनि–वस्तुनि पञ्चदशेतिसङ्ख्या कर्मादानानी त्यागायवजीरनोरायाभावेऽपि तेषामुत्कटज्ञानावरणीयादिकर्महेतुत्वादादानानि कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि । तदर्थस्यादि पूर्ववत्, अङ्गारकर्म–अङ्गारकरणविक्रयक्रिया, एवं वनशकटभाटकस्फोटना दन्तलाक्षारसविषकेशवाणिज्य च यन्त्रपीडननिर्लाञ्छनदवदापनसरोह्रदादिपरिशोषणासतीपोषणास्वपि भावनीयमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयं–'इंगालकम्मं'ति, इंगाला निद्दहितु विक्किणति, तत्थ छण्हं कायाणं वधो तं न कप्पति, वणकम्मं–जो वणं किणति,

1 सिंगालावकोदाहरणं रक्खगो सिंगालो लाति, राया णिग्गच्छति मज्झण्हे पडिगतो, तहावि खायति राया कोउकेणोदरं फालितं किंचिवा खाइज्जतोति चेइया, अन्नो किंचि णत्थि । 2 अङ्गारकर्मेति–अङ्गारान् निर्दह्य विक्रीणाति तत्र षण्णां कायानां वधस्य प्रसङ्गे, वनकर्मं यो वनं क्रीणाति

इमं च अण्णं भोयणतो परिहरति—असणे अणंतकायं अल्लगमूलगादि मंस च, पाणे मसरसमज्जादि, खादिमे उंबरकाउंबरवडपिप्पलपिलंखुमादि, सादिमं मधुमादि, अचित्तं च आहारेयव्वं, जदा किर ण होज्ज अचित्तो तो उस्सग्गेण भत्तपच्चक्खातितव्वं ण तरति ताधे अववाएण सचित्तं अणंतकायवज्जुयीयगयज्जं, कम्मतोऽवि अकम्मा ण तरति जीवितु ताधे अप्पंतसावज्जाणि परिहरिज्जंति । इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमित्यतस्तस्यैवातिचारानभिधित्सुराह—'भोयणतो समणोवासएणं' भोजनतो पञ्चसमुक्त तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—'सचित्ताहारः' सचित्तं चेतना सज्ञानमुपयोगोपधानमिति पर्यायाः, सचित्तश्चासौ आहारश्चेति समासः, सचित्तो वा आहारो यस्य सचित्तमाहारयति इति वा मूलकन्दलीकन्दकार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षे प्रतिबद्धो गुन्दादि पक्वफलानि वा । तथा अपक्वौषधभक्षणतामित्यवतीर्णं, सचित्तसमिश्राहार इति वा पाठान्तरं, सचित्तेन संमिश्र आहारः सचित्तसंमिश्राहारः, वल्ल्यादि पुष्पादि वा संमिश्रं, तथा दुष्पक्वौषधिभक्षणता दुष्पक्वाः—अस्विन्ना इत्यर्थः तद्भक्षणता, तथा तुच्छौषधिभक्षणता तुच्छा हि असारा मुद्गफलीप्रभृतयः, अत्र हि महती विराधना अल्पा च तुष्टिः, बहिभिरप्यैहिकोऽप्यपायः सम्भाव्यते । एत्य

१ इदं चान्यत् भोजनतः परिहरति—अशनेऽनन्तकायं आर्द्रकमूलकादि मांसं च, पाने मांसरसमद्यादि खाद्ये गुम्बरकाकोदुम्बरवटपिप्पलप्लक्षादि स्वाद्ये मध्वादि अचित्तं चाहर्तव्यं, यदा किल न भवेद् अचित्तं तदोत्सर्गेण भक्तं प्रत्याख्यातव्यं न शक्नोति तदाऽपवादेन सचित्तं अनन्तकायबहुबीजकवर्जं कर्मतोऽप्यकर्मा न शक्नोति जीवितुं तदाऽत्यन्तसावद्यानि परिह्रियन्ते । २ भव

सिंगालायकोदाहरणे—सेयरक्खगो सिंगालो खाति, राया णिगच्छति, मग्गण्हे पडिगतो, तधावि खायति, रण्णा कोउयण्णे पोट्टं फालावितं केसियाओ लड्डाओ होज्जत्ति, णवरि फेणो अण्णं किंचि णत्थि, एवं भोजन इति गतं । अधुना कर्मतो यद् मतमुक्तं तदप्यविचाररहितमनुपालनीय इत्यतोऽस्यातिचारानभिधित्सुराह—

कम्मओ ण समणोवा० इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं जा०, तंजहा—इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे केसवाणिज्जे विसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलायसोसणया असईपोसणया ७ ॥ (सूत्र) ॥

कर्मतो यद् मतमुक्तं णमिति वाक्यालङ्कारे तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनामूनि—प्रस्तुतानि पञ्चदशसङ्ख्या कर्मादानानी त्यत्राप्यजीवनोपायाभावेऽपि तेषामुत्कटज्ञानावरणीयादिकर्महेतुत्वादादानानि कर्मादानानि ज्ञातव्यानि न समाचरितव्यानि । तद्यथेत्यादि पूर्ववत्, अङ्गारकर्म—अङ्गारकरणविक्रयक्रिया, एवं वनशकटभाटकस्फोटना दन्तलाक्षारसविषकेशवाणिज्य च यंत्रपीडननिर्लाञ्छनदवदापनसरोह्रदादिपरिशोषणासतीपोषणास्वपि द्रष्टव्यमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयं—'इंगालकम्म'ति, इंगाला निड्डहिउ विक्किणति, तत्थ छण्हं कायाणं वधो तं न कप्पति, वणकम्मं—जो वणं किणति,

1 सिंगालारक्षकः शृगालं क्षेत्ररक्षकः खादति राजा निर्गच्छति मध्याह्ने प्रतिगतः तथापि खादति राज्ञा कौतुकेनोदरं पाटितं कियन्तः खादिता भवेयुरिति नवरं फेनः, अन्यत्किमपि नास्ति । 2 अङ्गारकर्मेति—अङ्गारान् निर्दह्य विक्रीणाति तत्र षण्णां कायानां वधस्तत् न कल्पते वनकर्म यो वनं क्रीणाति

इमं च अण्णं भोयणतो परिहरति—असणे अणंतकायं अल्लगमूलगादि मसं च, पाणे मंसरसमज्जादि, खादिमे उदुंबरकाउंबरवडपिप्पलपिलखुमादि, साइमं मधुमादि, अचित्तं च आहारेयव्वं, जदा किर ण होज्ज अचित्तो तो उस्सग्गेण भत्तं पच्चक्खातिउं ण तरति ताधे अपवादेण सचित्तं अणंतकायबहुबीयगवज्जं, कम्मतोऽपि अकम्मा ण तरति जीवितुं ताधे अच्चंतसावज्जाणि परिहरिज्जंति । इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमित्यतस्तस्यैवातिचारानभिधित्सुराह—'भोयणतो समणोवासएणं' भोजनतो यद्व्रतमुक्तं तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः, तद्यथा—'सचित्ताहार' सचित्तं चेतना सज्ञानमुपयोगोपधानमिति पर्यायाः, सचित्तश्चासौ आहारश्चेति समासः, सचित्तो वा आहारो यस्य सचित्तमाहारयति इति वा मूलकन्दलीकन्दकार्द्रकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्तं पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षे प्रतिबद्धो गुन्दादि पक्वफलानि वा । तथा अपक्वौषधभक्षणतामितः प्रतीतं, सचित्तसंमिश्राहार इति वा पाठान्तरं, सचित्तेन संमिश्र आहारः सचित्तसंमिश्राहारः, पत्रादि पुष्पादि वा संमिश्रं, तथा दुष्पक्वौषधिभक्षणता दुष्पक्वाः—अस्विन्ना इत्यर्थः तद्भक्षणता, तथा तुच्छौषधिभक्षणता तुच्छा हि असारा मुद्गफलीप्रभृतयः, अत्र हि महती विराधना अल्पा च तुष्टिः, बुद्धिमिरप्यैहिकोऽप्यपायः सम्भाव्यते । एत्थ

१ इदं चान्यत् भोजनतः परिहरति—अशनेऽनन्तकायं आर्द्रकमूलकादि मांसं च, पाने मांसरसमद्यादि खाद्ये उदुम्बरकाकोदुम्बरवटपिप्पलफलादि स्वाद्ये मध्वादि अचित्तं चाहरेत्, यदा किल न भवेत् अचित्तं तत्सर्गेण भक्तं प्रत्याख्यातुं न शक्नोति तदाऽपवादेन सचित्तं अनन्तकायबहुबीजकवर्जं, कर्मतोऽप्य कर्मा न शक्नोति जीवितुं तदाऽत्यन्तसावद्यानि परिह्रियन्ते । २ अत

ण गंतव्वं, अण्णोवि ण विसज्जितव्वो, अणाणाए कोवि गतो होज्ज जं पिसुमरियसेसगतेण छट्टं तं ण गेण्हेज्जति। [ग्रं० २१०००] एवं सातिचारं प्रथमं गुणव्रतं अधुना द्वितीयमुच्यते, तत्रेदं सूत्रं—

उवभोगपरिभोगवए दुविहे पन्नत्ते तंजहा—भोअणओ कम्मओ अ । भोअणओ समणोवा० इमे पंच०—सच्चित्ताहारे सच्चित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभ० तुच्छोसहिभक्खणया ७॥

उपभुज्यत इत्युपभोगः, उपशब्दः सकृदर्थे वर्त्तते, सकृद्भोग उपभोगः—अशनपानादि, अथवाऽन्तर्भोगः उपभोगः—आहारादि, उपशब्दोऽत्रान्तर्वचनः, परिभुज्यत इति परिभोगः, परिशब्दोऽत्रावृत्तौ वर्त्तते, पुनः पुनर्भोगः वस्त्रादेः परिभोग इति, अथवा बहिर्भोगः परिभोग एवमेव वसनाऽलङ्कारादेः, अत्र परिशब्दो बहिर्वाचक इति, एतद्विषयं व्रतं—उपभोगपरिभोगव्रतं, एतत् तीर्थकरगणधरैर्द्विविधं प्रज्ञप्तं, तयोरुदाहरणोपन्यासार्थः, भोजनतः कर्मतश्च, तत्र भोजनत उत्सर्गेण निरवद्याहारभोजिना भवितव्यं, कर्मतोऽपि प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानयुक्तेनेत्यक्षरार्थः। इह चेयं सामाचारी—'भोयणतो सावगो उस्सग्गेण फासुग आहार आहारेज्जा, तस्सासति अफासुगमवि सचित्तवज्जं, तस्स असती अणंतकायबहुबीयगाणि परिहरितव्वाणि,

---

१ न गन्तव्यं अन्योऽपि न विसर्जनीयः अनाज्ञया कोऽपि गतो भवेत् विस्मृतक्षेत्रे न गतेन अर्ध्वं तत्र गृह्णीयात् इति। २ भोजनतः श्रावक उत्सर्गेण प्रासुकाहारमाहारेत्, तदभावेऽपि अप्रासुकमपि सचित्तवर्जं, तदभावेऽपि अनन्तकायबहुबीजकानि परिहरन्नपि,

क्षेत्रवृद्धिः [इति]—एकतो योजनशतपरिमाणमभिगृहीतमन्यतो दश योजनानि गृहीतानि तस्यां दिशि समुत्पन्ने कार्ये योजनशतमध्यादपनीयान्यानि दश योजनानि तत्रैव स्वबुद्ध्या प्रक्षिपति, संवर्द्धयत्येकत इत्यर्थः, स्मृतेर्भ्रंशः—अन्तर्धानं स्मृत्यन्तर्धानं किं मया परिगृहीतं कया मर्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमित्यर्थः, स्मृतिमूलं नियमानुष्ठानं, तद्भ्रंशे तु नियमत एव नियमभ्रंश इत्यतिचारः। एत्थ य सामाचारी—उड्ढं जं पमाणं गहितं तस्स उवरिं पव्वतसिहरे रुक्खे वा मक्कडो पक्खी वा सावयस्स वत्थं आभरणं वा गेण्हिउं पमाणातिरेकं उवरिं भूमिं वच्चेज्जा, तत्थ से ण कप्पति गंतुं, जाधे तु पडितं अण्णेण वा आणितं ताधे कप्पति, इमं पुण अट्ठावयउज्जेंतसम्मेयसुपतिट्ठउज्जेंतचित्तकूडअंजणगमंदरादिसु पव्वतेसु भवेज्जा, एवं अधेवि कूवियादिसु विभासा, तिरियं जं पमाणं गहितं तं तिविधेणवि करणेण णातिक्कमितव्वं, खेत्तवुड्ढी एगतो भवेज्जा, एवं अधेवि कूवियादिसु विभासा, तिरियं जं पमाणं गहितं तं तिविधेणवि करणेण णातिक्कमितव्वं, खेत्तवुड्ढी सावगेण ण कायव्वा, कथं ?, सो पुव्वेण भंडं गहाय गतो जाव तं परिमाणं ततो परेण भंडं भग्गतित्तिकातुं अवरेण जाणि जोयणाणि पुव्वदिसाए संछुभति, एसा खेत्तवुड्ढी से ण कप्पति कातुं, सिय अति वोलीणो होज्जा णियत्तियव्वं, विस्सारिते य

1 अत्र च सामाचारी ऊर्ध्वं यत् प्रमाणं गृहीतं तस्योपरि पर्वतशिखरे वृक्षे वा मर्कटः पक्षी वा श्रावकस्य वस्त्रमाभरणं वा गृहीत्वा प्रमाणातिरेकमुपरि भूमिं व्रजेत् तत्र तस्य न कल्पते गन्तुं, यदा तु पतितं अन्येन वा आनीतं तदा कल्पते इदं पुनरष्टापदहेमकुण्डसम्मेतसुप्रतिष्ठोज्जयन्तचित्रकूटाञ्जनमन्दरादिषु पर्वतेषु भवेत् एवमधोऽपि कूपिकादिषु विभाषा तिर्यग् यत् प्रमाणं गृहीतं तत् त्रिविधेनापि करणेन नातिक्रमितव्यम् क्षेत्रवृद्धिः श्रावकेण न कर्तव्या कथं ?, स पूर्वस्यां भाण्डं गृहीत्वा गतो यावत्प्रमाणं ततः परतो भाण्डमर्घतीतिकृत्वाऽपरस्यां यानि योजनानि (तानि) पूर्वस्यां दिशि क्षिपति एषा क्षेत्रवृद्धिस्तस्य न कल्पते कर्तुं, स्यादतिक्रान्तो भवेत् निवर्तितव्यं विस्मृते च

ण गंतव्वं, अण्णोवि ण विसज्जितव्वो, अणाणाए कोवि गतो होज्ज जं विसुमरियवसेणगतेण तस्स तं ण गेण्हेज्जति। [प्र० २१०००] एवं सातिचारं प्रथमं गुणव्रतं अधुना द्वितीयमुच्यते, तत्रेदं सूत्रं—

उपभोगपरिभोगवए दुविहे पन्नत्ते तंजहा—भोअणओ कम्मओ अ । भोअणओ समणोवा० इमे पंच०—सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभ० दुप्पउलिओसहिभक्खणया ७ ॥

उपभुज्यत इत्युपभोगः, उपशब्दः सकृदर्थे वर्तते, सकृद्भोग उपभोगः—अशनपानादि, अथवाऽन्तर्भोग उपभोगः—आहारादि, उपशब्दोऽत्रान्तर्वचनः, परिभुज्यत इति परिभोगः, परिशब्दोऽत्रावृत्तौ वर्तते, पुनः पुनर्भोगः वस्त्रादेः परिभोग इति, अथवा बहिर्भोगः परिभोग एवमेव वसनालङ्कारादेः, अत्र परिशब्दो बहिर्वाचक इति, एतद्विषयं व्रतं—उपभोगपरिभोगव्रतं, एतत् तीर्थकरगणधरैर्द्विविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, भोजनतः कर्मतश्च, तत्र भोजनत उत्सर्गेण निरवद्याहारभोजिना भवितव्यं, कर्मतोऽपि प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानयुक्तेनेत्यक्षरार्थः । इह चेयं सामाचारी—'भोयणतो सावगो उस्सग्गेण फासुगं आहारं आहारेज्जा, तस्सासति अफासुगमवि सचित्तवज्जं, तस्स असती अणंतकायबहुबीयगाणि परिहरितव्वाणि,

---

१ न गन्तव्यं अन्योऽपि न विसर्जयितव्यः, अनाभोगेन कोऽपि गतो भवेत् यद्विस्मृतिवशेन च गतेन तस्य तत् गृह्णीयात् इति । २ भोजनतः श्रावक उत्सर्गेण प्रासुकमाहारमाहारयेत्, तस्मिन्नसति अप्रासुकमपि सचित्तवर्जं, तस्मिन्नसति अनन्तकायबहुबीजकानि परिहर्तव्यानि,

रेतणाणि सावगस्स विक्किणियाणि तेण परिग्गहपरिमाणाइरित्ताइंतिकाउं न गहियाणि, सावगेण णेच्छित, सो पूइतो। इय चातिचाररहितमनुपालनीयं, तथा चाह–'इच्छापरिमाणस्स समणोवासएण०' इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथेति पूर्ववत्, क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः तत्र शस्योत्पत्तिभूमिः क्षेत्रं, तच सेतुकेतुभेदात् द्विभेद, तत्र सेतुक्षेत्रं अरघट्टादिसेच्यं, केतुक्षेत्रं पुनराकाशपतितोदकनिष्पाद्यं, वास्तु–अगारं तदपि त्रिविधं खातमुच्छ्रितं खातोच्छ्रितं च, तत्र खातं–भूमिगृहकादि उच्छ्रितं–प्रासादादि, खातोच्छ्रितं–भूमिगृहस्योपरि प्रासादः, एतेषां क्षेत्रवास्तूनां प्रमाणातिक्रमः, प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घनमित्यर्थः। तथा हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमस्तत्र हिरण्यं–रजतमघटितं घटितं वा अनेकप्रकार द्रम्मादिः, सुवर्णं प्रतीतमेव तदपि घटिताघटितं, एतद्ग्रहणाच्चेन्द्रनीलमरकताद्युप लग्रहः, अक्षरगमनिका पूर्ववदेव, तथा धनधान्यप्रमाणातिक्रमः, तत्र धन–गुडशर्करादि, गोमहिष्यजाविकाकरभतुरगा-द्यन्ये, धान्यं–व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवादि, अक्षरगमनिका प्राग्वदेव, तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः, तत्र द्विपदादीनि–दासीमयूरहंसादीनि, चतुष्पदानि–हस्त्यश्वमहिष्यादीनि, अक्षरगमनिका पूर्ववदेव, तथा कुप्यप्रमाणा तिक्रमः, तत्र कुप्यं–आसनशयनभाण्डककरोटकलोहाद्युपस्कारजातमुच्यते, एतद्ग्रहणाच्च सकलपरिग्रहः, अक्षरगम निका पूर्ववदेव, तान् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमादीन् समाचरन्नतिचरति पञ्चमाणुव्रतमिति। एते च दोषा औपचारिकादि भणिताः। उक्तं सातिचारं पञ्चमाणुव्रतम् इदानीं गुणव्रतानि, साम्प्रतमेतेषामेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि

१ एतानि श्रावकाय विक्रेतुं नीतानि, तेन परिग्रहप्रमाणातिरिक्तानीतिकृत्वा न गृहीतानि श्रावकेण नेष्टं स पूजितः। २ अत्र च दोषा औपचारिकादयो भणितव्याः

गुणव्रतान्यभिधीयन्ते—तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति, तद्यथा—दिग्व्रतं उपभोगपरिमाणं अनर्थदण्डपरिवर्जनमिति, तत्राद्य-गुणव्रतस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह—

दिसिवए तिविहे पन्नत्ते—उड्ढदिसिवए अहोदिसिवए तिरियदिसिवए, दिसिवयस्स समणो० इमे पंच० तंजहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरियदिसिपमाणाइक्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा १॥ (सूत्रं)

दिशो ह्यनेकप्रकाराः शास्त्रे वर्णिताः, तत्र सूर्योपलक्षिता पूर्वा शेषाश्च पूर्वदक्षिणादिक्रमसमनुक्रमेण द्रष्टव्याः, तत्र दिशो भवन्ति दिक्षु वा व्रतमेतावत्सु पूर्वादिदिग्विभागेषु मया गमनाद्यनुष्ठेयं न परत इत्येवंभूतं दिग्व्रतं, एवमोघतः त्रिविधं प्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरैः, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, ऊर्ध्वादिग् ऊर्ध्वं दिग् तत्सम्बन्धि तस्या वा व्रतं ऊर्ध्वं दिग्व्रतं, एतावती दिगूर्ध्वं पर्वताद्यारोहणादवगाहनीया न परत इत्येवंभूतं इति भावना, अधो दिग् अधोदिक् तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रतं अधोदिग्व्रतं—अधोदिग्व्रतम्, एतावती दिगध इन्द्रकूपाद्यवतरणादवगाहनीया न परत इत्येवंभूतमिति हृदयं, तिर्यक् दिशस्तिर्यग्दिग—पूर्वादिकास्तासां सम्बन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्व्रतं, एतावती दिग् पूर्वेणावगाहनीया एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूतमिति भावार्थः। अस्मिंश्च सत्यवगृहीतक्षेत्राद् बहिः स्थावरजङ्गमप्राणिगोचरो दण्डः परित्यक्तो भवतीति गुणः। इदमतिचाररहितमनुपालनीयमतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह—'दिसिवयस्स समणो०' दिग्व्रतस्य उक्तरूपस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमः यावत्प्रमाणं परिगृहीतं तस्यातिलङ्घनमित्यर्थः, एवमन्यत्रापि भावना कार्या, अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रस्य वृद्धिः

रेतणाणि सावगस्स विकिणियाणि सेण परिग्गहपरिमाणाइरित्ताइं तिकाउं न गहियाणि, सायगेण णेच्छित, सो पुट्टो। इद चातिचाररहितमनुपालनीयं, तथा चाह–'इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं०' इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथेति पूर्ववत्, क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः तत्र सस्योत्पत्तिभूमिः क्षेत्रं, तच सेतुकेतुभेदाद् द्विभेदं, तत्र सेतुक्षेत्रं अरघट्टादिसेच्यं, केतुक्षेत्रं पुनराकाशपतितोदकनिष्पाद्यं, वास्तु–अगारं तदपि त्रिविधं खातमुच्छ्रितं खातोच्छ्रितं च, तत्र खात–भूमिगृहकादि उच्छ्रितं–प्रासादादि, खातोच्छ्रित–भूमिगृहस्योपरि प्रासादः, एतेषां क्षेत्रवास्तूनां प्रमाणातिक्रमः, प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घनमित्यर्थः। तथा हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमस्तत्र हिरण्यं–रजतमघटितं घटितं वा अनेकप्रकारं द्रम्मादिः, सुवर्णं प्रतीतमेव तदपि घटितावघटितं, एतद्ग्रहणाचे इन्द्रनीलमरकतादिउपलग्रहः, अक्षरगमनिका पूर्ववदेव, तथा धनधान्यप्रमाणातिक्रमः, तत्र धन–गुडशर्करादि, गोमहिष्यजाविकाकरभतुरगा धन्ये, धान्यं–व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवादि, अक्षरगमनिका प्राग्वदेव, तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः, तत्र द्विपदादीनि–दासीमयूरहंसादीनि, चतुष्पदानि–हस्त्यश्वमहिष्यादीनि, अक्षरगमनिका पूर्ववदेव, तथा कुप्यप्रमाणातिक्रमः, तत्र कुप्यं–आसनशयनभण्डककरोटकलोहाद्युपस्करजातमुच्यते, एतद्ग्रहणाच वस्त्रकम्बलपरिग्रहः, अक्षरगमनिका पूर्ववदेव, तान् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमादीन् समाचरन्नतिचरति पञ्चमाणुव्रतमिति। एत्थ य दोसा जोपवायादि भणितव्वा। उक्तं सातिचारं पञ्चमाणुव्रतम् इत्युक्तान्यणुव्रतानि, साम्प्रतमेतेषामेवाणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि

---

१ रत्तानि श्रावकाय विक्रेतुं वीतानि, तेन परिग्रहप्रमाणातिरिक्तानीतिकृत्वा न गृहीतानि श्रावकेण नेष्टं स पृष्टः २ अत्र च दोषा जीवघातादयो भणितव्याः

गुणव्रतान्यभिधीयन्ते—तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति, तद्यथा—दिग्व्रतं उपभोगपरिमाणं अनर्थदण्डपरिवर्जनमिति, तत्राद्य-गुणव्रतस्वरूपाभिधित्सयाऽऽह—

दिसिवए तिविहे पन्नत्ते—उड्ढदिसिवए अहोदिसिवए तिरियदिसिवए, दिसिवयस्स समणो० इमे पञ्च० तंजहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरियदिसिपमाणाइक्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा ६ ॥ (सूत्र)

दिशो ह्यनेकप्रकाराः शास्त्रे वर्णिताः, तत्र सूर्योपलक्षिता पूर्वा शेषाश्च पूर्वदक्षिणादिकास्तदनुक्रमेण द्रष्टव्याः, तत्र दिशा सम्बन्धि दिक्षु वा व्रतमेतावत्सु पूर्वादिविभागेषु मया गमनाद्यनुष्ठेयं न परत इत्येवंभूतं दिग्व्रतं, एतच्चौघतः त्रिविधं प्रज्ञप्तं तीर्थकरगणधरैः, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, ऊर्ध्वादिग् ऊर्ध्वं दिग् तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रतं ऊर्ध्व दिग्व्रतं, एतावती दिगूर्ध्व पर्वताद्यारोहणादवगाहनीया न परत इत्येवंभूतं इति भावना, अधो दिग् अधोदिक् तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रत अधोदिग्व्रतं—अधोदिग्व्रतम्, एतावती दिगध इन्द्रकूपाद्यवतरणादवगाहनीया न परत इत्येवंभूतमिति हृदयं, तिर्यक् दिशस्तिर्यग् दिशः—पूर्वादिकास्तासां सम्बन्धि तासु वा व्रतं तिर्यग्व्रतं, एतावती दिग् पूर्वेणावगाहनीया एतावती दक्षिणेनेत्यादि, न परत इत्येवंभूतमिति भावार्थः । अस्मिश्च सत्यवगृहीतक्षेत्राद् बहिः स्थावरजङ्गमप्राणिगोचरो दण्डः परित्यक्तो भवतीति गुणः । इदमतिचाररहितमनुपालनीयमतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह—'दिसिवयस्स समणो०' दिग्व्रतस्य उक्तरूपस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद्यथा—ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमः यावत्प्रमाणं परिगृहीतं तस्यातिलङ्घनमित्यर्थः, एवमन्यत्रापि भावना कार्या, अधोदिक्प्रमाणातिक्रमः, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रमः, क्षेत्रस्य वृद्धिः

परशब्देनोच्यते तस्य कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धेन वा विवाहकरणमिति, अवि य–उस्सग्गे णियगावच्चाणवि वरणसंवरणं ण करेति किमंग पुण सण्णेसिं ?, जो वा जत्तियाण आगारं करेइ, तत्तिया कप्पति, सेसा ण कप्पंति, ण वट्टति महती दारिया दिज्जउ गोधणे वा संडो छुपेज्जेति भणिउ। काम्यन्त इति कामाः–शब्दरूपगन्धा भुज्यन्त इति भोगा–रसस्पर्शाः, कामभोगेषु तीव्राभिलाषः, तीव्राभिलाषो नाम तदध्यवसायित्वं, तस्माद्वेदं करोति–समाप्तरतोऽपि योषि मुखोपस्थकर्णकक्षान्तरेष्वतृप्ततया प्रक्षिप्य लिङ्गं मृत इव आस्ते निश्चलो महतीं वेलामिति, दन्तनखोत्पलपत्रकादिभिर्वा मदनमुत्तेजयति, वाजीकरणानि चोपयुङ्क्ते, योषिद्वाच्यदेशं वा मृद्नाति। एतानीत्वरपरिगृहीतगमनादीनि समाचरन्नतिचरति चतुर्थाणुव्रतमिति। एत्थ य आदिल्ला दो अतियारा सदारसंतुट्ठस्स भवंति णो परदारविवज्जगस्स, सेसा पुण दोण्हवि भवन्ति, दोसा पुण इत्तरियपरिगहितागमणे विदिएण सद्धिं वेरं होज्ज मारेज्ज तालेज्ज वा इत्यादयः, एवं सेसेसुवि भाणियव्वा। उक्तं मातिचार चतुर्थाणुव्रतं। अधुना पञ्चमं प्रतिपाद्यते, तत्रेदं सूत्रम्—

अपरिमियपरिग्गहं समणो० इच्छापरिमाणं उवसंपज्जइ, से परिग्गहे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा–सचित्तपरिग्गहे अचित्तपरिग्गहे य, इच्छापरिमाणस्स समणोवा० इमे पंच०–धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरन्नसुवन्नपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे ५ ॥ (सू०)

---

१ अपि च उत्सर्गे निजकापत्यानामपि वरणसंवरणं न करोति किं पुनरन्येषां ? यो वा यावतामाकारं करोति तावन्तः कल्पन्ते शेषा न कल्पन्ते न युज्यते महती दारिका ददातु गोधने वा षण्डः क्षिपत्विति भणितुं। २ अत्र आद्यौ द्वावतिचारौ स्वदारसंतुष्टस्य भवतः न परदारविवर्जकस्य शेषाः पुनर्द्वयोरपि भवन्ति दोषाः पुनरित्वरपरिगृहीतागमने द्वितीयेन सार्धं वैरं भवेत् मारयेत् ताडयेद्वा, एवं शेषेष्वपि भणितव्याः

'अपरिमितपरिग्गहे समणोवासतो पवज्जाति' परिग्रहणं परिग्रहः अपरिमितः—अपरिमाणः तं श्रमणोपासका मस्याख्याति, सचित्तादेः अपरिमाणात् परिग्रहात् विरमतीति भावना, इच्छायाः परिमाणं २ तदुपसम्पद्यते, सचित्तादिगोचरे च्छापरिमाणं करोतीत्यर्थः । स च परिग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथेत्येतत् प्राग्वत्, सह चित्तेन सचित्तं—द्विपदचतुष्पदादि तदेव परिग्रहः अचित्तं—रत्नवस्त्रकुप्यादि तदेव चाचित्तपरिग्रहः । एत्थ य पंचमअणुव्वते णियत्तस्स दोसे नियत्तस्स य गुणे, तत्थोदाहरणम्—लुद्धनंदो कुसीमूलिपं लच्छु धिणत्तो नंदो सावगो पूरतो भंडागारवती ठवितो, अहवावि वाणिणी रतणाणि पिक्खिणति धुत्ताए मरंती, सद्देण भणिता—पतिअपरिक्खओ णत्थि, अण्णस्स णीताणि, ताए भणाति—जं ओग्गं मं देहि, सो परथ देश, सुभक्खो तीए भत्तारो आगतो, पुच्छति—रतणाणि कहिं ?, भणति—विक्कियाणि मए, कहं ?, सा भणइ—गोदुममेइयाए एकक दिन्नं अमुगस्स वाणियगस्स, सो वाणियगो तेण भणिओ—रयणा अप्पेह पूरं वा मोल्लं देहि, गो नेच्छइ, तओ रण्णो मूलं गतो परिसे अग्घे वट्टमाणे एतस्स एतेण पत्थियं दिण्णं, सो विणासितो, एवम पुण ताणि

1 अत्र च पञ्चमाणुव्रते अनिवृत्तस्य दोषा निवृत्तस्य च गुणाः तत्रोदाहरणं—लोभनन्दः कुसीमूलिका लब्धा विनष्टः नन्दः श्रावकः पूरितो भाण्डागारपतिः स्थापितः अथवापि वणिग्भार्या रत्नानि विक्रीणाति धूर्ता म्रियमाणा भर्त्रेव मन्यते—ईदृशपरीक्षको नास्ति अन्यस्य पार्श्वे नीतानि तया मन्यते—यद्योग्यं मह्यं देहि च दत्तं रत्नानि सुभिक्षे तस्या भर्ताऽऽगतः पृच्छति—रत्नानि क्व ? भणति—विक्रीतानि मया कथं ? सा भणति—गोधूममेतिकयैकं दत्तममुकस्मै वणिजे स वणिक् तेन भणित—रत्नान्यर्पय पूर्णं वा मूल्यं देहि स नेच्छति ततो राज्ञो मूलं गतः—ईदृशेऽर्घे वर्तमाने एतस्मै एतेनार्पितं स विनाशितः एवं पुनस्तानि

परखन्देनोच्यते तस्य कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धेन वा विवाहकरणमिति, अंवि य–चस्सगो णियगावच्चाणवि वरणसंवरणं
ण करेति किमंग पुण अण्णेसिं ?, जो वा अत्तियाण आगारं करेइ, तत्तिया कप्पति, सेसा ण कप्पंति, ण वट्टति महती
दारिया दिज्जउ गोवणे वा वच्छो खुवेज्जेति भणित । काम्यन्त इति कामाः–शब्दरूपगन्धा भुज्यन्त इति भोगा–रसस्पर्शाः,
कामभोगेषु तीव्राभिलाषः, तीव्राभिलाषो नाम तदध्यवसायित्वं, तस्माच्चेदं करोति–समाचरतोऽपि योषि मुखोपस्थकर्णकक्षा
न्तरेष्वतृप्ततया प्रक्षिप्य लिङ्गं मृत इव आस्ते निश्चलो महतीं वेलामिति, दन्तनखोत्पलपत्रकादिभिर्वा मदनमुद्दीपयति,
वाजीकरणानि चोपयुङ्क्ते, योषिद्वाच्यदेशं वा मृद्नाति । एतानीत्वरपरिगृहीतागमनादीनि समाचरतस्तिचरति चतुर्थाणु
व्रतमिति । एत्थ य आदिल्ला दो अतियारा सदारसंतुट्ठस्स भवंति णो परदारविवज्जगस्स, सेसा पुण दोण्हवि भवन्ति, दोसा
पुण इत्तरियपरिग्गहितागमणे विदिएण सद्धिं वेरं होज्ज मारेज्ज ताडेज्ज वा इत्यादय', एवं सेसेसुवि भाणियव्वा । उक्तं सातिचारं चतुर्थाणुव्रतं । अधुना पञ्चमं प्रतिपाद्यते, तत्रेद सूत्रम्—

अपरिमियपरिग्गहं समणो॰ इच्छापरिमाणं उवसंपज्जइ, से परिग्गहे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा–सचित्तपरिग्गहे
अचित्तपरिग्गहे य, इच्छापरिमाणस्स समणोवा॰ इमे पंच॰–धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणाइक्कमे
हिरन्नसुवन्नपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे ५ ॥ (सू॰)

१ अपि च स्वस्त्रीं निजकप्रमाणामपि वरणसंवरणं न करोति किं पुनरन्येषां ? यो वा यावन्मात्रमाकारं करोति तावन्मात्राः कल्पन्ते शेषा न कल्पन्ते न पुष्यते महती दारिका रक्षायै गोपने वा वत्सः क्षिपतीति भणितुं । २ अत्र चत्वारो ह्यतिचाराः स्वदारसंतुष्टस्य भवतः न परदारविवर्जकस्य शेषाः पुनर्द्वयोरपि भवन्ति दोषाः पुनरित्वरपरिगृहीतागमने द्वितीयेन सार्धं वैरं भवेत् मारयेत् ताडयेद्वा एवं शेषेष्वपि भणितव्याः।

देवेरत्त दुआणि १, तेहिं भणितं—अम्हे बाळभावे एगंतरं मेधुणं पच्चक्खायं, अण्णदा अम्हाणं किहवि संजोगो जातो, तं च विवरीयं समायरियं, जद्दिवसं एगस्स बंभचेरपोसधो तद्दिवसं बिइयस्स पारणगं, एवं अम्ह परंगयाणि चेव कुमारगाणि, धिज्जातितो संबुद्धो। एते इहलोए गुणा, परलोए पधाणपुरिसत्त देवत्ते पहाणाओ अच्छराओ मणुयत्ते पधाणाओ माणु-साइ–'सदारसंतोसस्स' इत्यादि, स्वदारसन्तोषस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्यास्तद्यथा–इत्वरपरिगृहीतागमनं अपरिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडा परविवाहकरणं कामभोगतीव्राभिलाषः, तत्रेत्वरकालपरिगृहीता भाटिप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं स्ववशीकृतेत्यर्थः, तस्या गमनम्–अभिगमो मैथुनासेवना इत्वरपरिगृहीतागमनं, अपरिगृहीताया गमनं अपरिगृहीतागमनं, अपरिगृहीता नाम वेश्या अन्यसत्कगृहीतभाटी कुलाङ्गना वाऽनाथेति, अनङ्गानि च–कुचकक्षोरुवदनादीनि तेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा, अथवाऽनङ्गो मोहोदयोद्भूतः तीव्रो मैथुनाध्यवसायाख्यः कामो भण्यते तेन तस्मिन् वा क्रीडा कृतकृत्यस्यापि स्वलिङ्गेन आहार्यैः काष्ठ-फलपुस्तकमृत्तिकाचर्मादिघटितप्रजननैर्योषिद्वाच्यप्रदेशासेवनमित्यर्थः, परविवाहकरणमितीह स्वापत्यव्यतिरिक्तमपत्यं

---

१ देवमाति दत्ते ? ताभ्यां भणितं—आवाभ्यां बाल्ये एकान्तरितं मैथुनं प्रत्याख्यातं अन्यदाऽऽवयोः कथमपि संयोगो जातः तच्च विपरीतमाचरित यद्दिवसे एकस्य ब्रह्मचर्यपोषधः तद्दिवसे द्वितीयस्य पारणकमेवमावां गृहगतावेव कुमारौ धिग्जातीकः संबुद्धः। एते ऐहलौकिका गुणाः परलोके प्रधानपुरुषत्वं देवत्वे प्रधाना अप्सरसो मनुजत्वे प्रधाना मानुष्यो विपुलाश्च पञ्चलक्षणा भोगाः प्रियसंप्रयोगा आसन्नसिद्धिगमनं च।

पेचेहिं मित्तेहिं गहिताणि वट्टंति, तेसिं पुव्वसंठितीए संजोगो कतो, अण्णदा सो दारगो ताए गणियाए पुव्वमाताए सह उग्गो, सा से भगिणी धम्म सोतु पव्वइता, ओहीणाणमुप्पण्णं, गणियाघर गता, तेण गणियाए पुत्तो जातो, अज्जा गहाय परियंदाइ, कहं ?, पुत्तोऽसि मे भत्तिज्जओऽसि मे दारगा देवरोऽसि मे भायासि मे, जो तुज्झ पिता सो मज्झ पिया पती य ससुरो य भाता य मे, जा तुज्झ माता सा मे माया भाउज्जाइया सवत्तिणी सासू य, एवं नाऊण दोसे पज्जेयव। एते इहलोए दोसा परलोए पुण णपुंसगत्तविरूवपियविप्पयोगादिदोसा भवन्ति, णियत्तस्स इहलोए परलोए य गुणा, इहलोए कच्छे कुलपुत्तगाणि सड्ढाणि आणदपूरे, एगो य धिज्जातिओ दरिद्दो, सो थूलेसरे उववासेण घरं मग्गति, कोवे (र)! चाउव्वेज्जभत्तस्स मोल्लं देहि, जा पुण्णं करेमि, तेण वाणमंतरेण भणितं—कच्छे सावगाणि कुलपुत्ताणि भज्जपतियाणि, एयाण भत्त करेहि, ते महप्फलं होहिति, दोण्णि वारा भणितो गतो कच्छं, दिण्णं दाणं सावयाणं भत्त दक्खिणं च, भणति—सावग किं तुज्झं तवचरण जेण तुज्झे

१ भ्रातृभगिनीभ्यां गृहीतानि वर्तन्ते, तयोः पूर्वसंस्थित्या संयोगः कृतः अन्यदा स दारकस्तया गणिकया पूर्वमात्रा सह कथं। सा तस्य भगिनी धर्मं श्रुत्वा प्रव-जिता अवधिज्ञानमुत्पन्नं गणिकागृहं गता तेन गणिकायाः पुत्रो जातः, आर्या गृहीत्वा क्रीडयति (रमयति) कथं ? पुत्रोऽसि मे भ्रातृव्योऽसि मे दारक ! देवरोऽसि मे भ्राताऽसि मे यस्तव पिता स मम पिता पतिः श्वशुरो भ्राता च मे या तव माता सा मे माता भ्रातृजाया श्वश्रूः सपत्नी च एवं ज्ञात्वा दोषान् वर्जयितव्यं । एवं इहलोके दोषाः परलोके पुनर्नपुंसकत्वविरूपत्वप्रियविप्रयोगादयो दोषा भवन्ति निवृत्तस्य इहलोके परलोके च गुणाः, इहलोके कच्छे कुलपुत्री आसीत् आनन्दपुरे एकश्च द्विजातीयो दरिद्रः स स्थूलेश्वरं (व्यन्तरं) उपवासेनाराध्य वरं मार्गयति-कुबेर ! चातुर्वेद्यभक्तस्य मूल्यं देहि यथा पुण्यं करोमि तेन व्यन्तरेण कथितं—कच्छे श्रावकौ कुलपुत्रौ भार्यापती, एतयोर्भक्तं देहि तव महत्फलं भविष्यति, द्विर्भणितो गतः कच्छं, दत्तं दानं श्रावकाणां भक्तं दक्षिणा च भणति—श्रावकौ किं युष्माकं तपश्चरणं येन युवां

देवेस्स पुआणि १, तेहिं भणितं—अम्हे बाउभावे एगंतरं मेथुणं पञ्चक्खायं, अण्णदा अम्हाणं किहवि संजोगो जातो, विवरीयं समावडियं, जद्दिवसं एगस्स बंभचेरपोसधो तद्दिवसं बिइयस्स पारणगं, एवं अम्ह परंगताणि चेव कुमारग पिआतितो सयुत्तो । एते इहलोए गुणा, परलोए पधाणपुरिसत्त देवत्ते पहाणातो अच्छराओ मणुयत्ते पधाणाओ म सीतो यिवला य पंचलक्खणा भोगा पियसंपयोगा य आसण्णसिद्धिगमणं चेति । इदं चातिचाररहितमनुपालनीय, तथ चाह–'सदारसंतोसस्स' इत्यादि, स्वदारसन्तोषस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्याः न समाचरितव्यास्तद्यथा–इत्यरपरिगृहीतागमनं अपरिगृहीतागमन अनङ्गक्रीडा परविवाहकरणं कामभोगतीव्राभिलाष', तत्रेत्वरकालपरिगृहीता कालशब्दलोपादित्वरपरिगृहीता, भाटिप्रदानेन कियन्तमपि काल दिवसमासादिकं स्ववशीकृतेत्यर्थः, तस्या गमनम्–अभिगमो मैथुनासेवना इत्वरपरिगृहीतागमनं, अपरिगृहीतायाः गमनं अपरिगृहीतागमनं, अपरिगृहीता नाम वेश्या अन्य-सत्कगृहीतभाटी कुलाङ्गना वाऽनाथेति, अनङ्गानि च–कुचकक्षोरुवदनादीनि तेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा, अथवाऽनङ्गो मोहो-दयोद्भूतः तीव्रो मैथुनाध्यवसायास्यः कामो भण्यते तेन तस्मिन् वा क्रीडा कृतकृत्यस्यापि स्वलिङ्गेन आहार्यैः काष्ठ फलपुस्तकमृत्तिकाचर्मादिघटितप्रजननैर्योषिद्वाच्यप्रदेशासेवनमित्यर्थः, परविवाहकरणमितीह स्वापत्यव्यतिरिक्तमपत्य

१ देवानामपि एवमो ? ताभ्यां भणितं–आवाभ्यां बाल्ये एकान्तरित मैथुनं प्रत्याख्यातं अन्यदाऽऽवयोः कथमपि संयोगो जातः तत्र विपरीतमापतितं यद्दिवसे एकस्य ब्रह्मचर्यपोषधः तद्दिवसे द्वितीयस्य पारणकमेवमावां गृहगतावेव कुमारौ विख्यातौ संवृत्तौ । एते ऐहलौकिका गुणाः, परलोके प्रधानपुरुषत्वं देवत्वे प्रधाना अप्सरसो मनुजत्वे प्रधाना मानुष्यो विपुलाश्च पञ्चलक्षणा भोगाः प्रियसंप्रयोगाश्चासन्नसिद्धिगमनं च ।

एतेहिं मित्तेहिं गहिताणि वड्ढंति, तेसिं पुव्वसंठितीए संजोगो कतो, अण्णदा सो दारगो ताए गणियाए पुव्वमाताए सह लग्गो, सा से भगिणी धम्मं सोतुं पव्वइता, ओहीणाणमुप्पण्णं, गणियाघरं गता, तेण गणियाए पुत्तो जातो, अज्जा गहाय परियंदाइ, कहं ?, पुत्तोऽसि मे भत्तिज्जओऽसि मे दारगा देवरोऽसि मे भायासि मे, जो तुज्झ पिता सो मज्झ पिया पती य ससुरो य भाता य मे, जा तुज्झ माया सा मे माया भाउज्जाइया सवत्तिणी सासू य, एयं नाऊण दोसे पज्जोयव्वं। एते इहलोए दोसा परलोए पुण णपुंसगत्तविरूवपियविप्पयोगादिदोसा भवन्ति, णियत्तस्स इहलोए परलोए य गुणा, इहलोए कच्छे कुलपुत्तगाणि सड्ढाणि आणंदपूरे, एगो य धिज्जातिओ दरिद्दो, सो थूणेसरे उववासेण वरं मग्गति, कोवे (र) [1] चाउव्वेज्जभत्तस्स मोल्लं देहि, जा पुण्णं करेमि, तेण वाणमंतरेण भणितं—कच्छे सावगाणि कुलपुत्ताणि भज्जपतियाणि, एयाण भत्तं करेहि, ते महप्फलं होहितित्ति, दोण्णि धारा भणितो गतो कच्छं, दिण्णं दाणं सावयाण भत्त दक्खिणं च, भणति—साहध किं तुज्झं वयचरणं जेण तुज्झे

1 मत्रैर्मित्रैर्गृहीतं वर्धते, तयोः पूर्वसंस्थित्या संयोगः कृतः, अन्यदा स दारकस्तया गणिकया पूर्वमात्रा सह लग्नः सा तस्य भगिनी धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजिता, अवधिज्ञानमुत्पन्नं गणिकागृहं गता, तेन गणिकायां पुत्रो जातः आर्या गृहीत्वा क्रीडयति (लालयति) कथं ? पुत्रोऽसि मे भ्रातृव्योऽसि मे दारक ! देवरोऽसि मे भ्राताऽसि मे यस्तव पिता स मम पिता पतिः श्वशुरो भ्राता च मे या तव माता सा मे माता भ्रातृजाया श्वश्रूः सपत्नी च एवं ज्ञात्वा दोषान् पर्यवसितव्यम्। एते इहलोके दोषाः परलोके पुनर्नपुंसकत्वविरूपत्वप्रियविप्रयोगादयो दोषा भवन्ति निवृत्तस्येहलोके परलोके च गुणाः इहलोके कच्छे कुलपुत्री श्राद्धो आनन्दपुरे एकश्च धिग्जातीयो दरिद्रः, स स्थूणेश्वरे (व्यन्तरे) उपवासेनाराध्य वरं मार्गयति—कुबेर ! चातुर्वैद्यभक्तस्य मूल्यं देहि यथा पुण्यं करोमि तेन व्यन्तरेण कथितं—कच्छे श्रावकौ कुलपुत्री भार्यापती, एतयोर्भक्तं देहि तव महत्फलं भविष्यति द्विर्भणितो गतः कच्छं, दत्तं दानं श्रावकयोर्भक्तं दक्षिणा च भणति—कथयतं किं युवयोर्व्रतचरणं येन युवां

पुच्छा, सेट्ठो णेच्छति, महिला भणिच्छे णातुं तुण्हिका अच्छति, कतो तुम्हे आणीता ?, ताए सिट्ठं, तेण भणितं—अम्हे चेव तुम्हे पुत्ता, इयरेसिं सिट्ठं मोइया पवइता, एते अणियिसाणं दोसा। बितिय—पूतापयि समं वसेज्जा, जधा गुव्विणीए मज्जाए विसागमणं, पेसितं जधा स भूता जाता, सोऽवि सा पयहरसि जाय वोपणं पत्ता, अण्णा (मण्ण) णगरे दिण्णा सो ण याणति जधा दिण्णाथि, सो पवियतो तम्मि णगरे मा मंडं विणस्सिहितित्ति परिसारस ठितो, तस्स तीए भूताए समं पडितं, तहयि ण याणति, पसे घासारत्ते गतो सणगरं, धूतागमणं, दमूणं विक्खियाणि, निघत्तु ताए मारितो अप्पा, इयरोऽवि पव्वतितो। ततिय—गोट्ठीए सम चेडो अच्छति, तस्स सा माता हिंडति, सुण्हा से णियगपरुत्ति णो छाडइ पतिं, सा तस्स माता देयकुलठितेहिं पुत्तेहिं गच्छती दिट्ठा, तेहिं परिमुत्ता, मातापुत्ताणं पोताणि परिभसिताणि, तीए भण्णति—माहि ताए कीम ते उयरिउ पोत्तं गहितं ?, हा पाव ! किं ते कतं ?, सो णट्ठो पवइतो। चउत्थं—उमत्ताणि गणियाए रक्खिताणि,

---

1 पुत्रिकाः स इभ्यो नेच्छति महेला मनिच्छां नाम्ना तूष्णीका तिष्ठति कुतो पुत्रमानीताः ? तयोक्तं, तेन भणितं—यदयैव युष्माकं पुत्रा एतेषां पितरं, मोचिताः प्रव्रजिताः, एतेऽनिवृत्तानां दोषाः। द्वितीय—दुहित्राऽपि समं वसेत् यथा गर्भिण्या भार्याया विषमदं प्रेषितं यथा ते दुहिता जाता सोऽपि तावद् व्यवहरति यावद्यौवनं प्राप्ता अन्यास्मिन् नगरे दत्ता स न जानाति यथा दत्तेति स प्रवासाय् अन्यनगरे मा भाण्डं विनङ्क्ष्यतीति वर्षारात्रं स्थितः, तत्र तया दुहित्रा समं संयोगो जातः तथापि न जानाति दूरे वर्षारात्रे गतः स्वनगरं दुहित्रागमनं दृष्ट्वा विकल्पितौ निहत्य तया मारित आत्मा इतरोऽपि प्रव्रजितः। तृतीय—गोष्ठ्या समं चेटस्तिष्ठति तस्य सा माता हिण्डते स्नुषा तस्या निजकेति न कथयति पतिं सा तस्य माता देवकुलस्थि-तैः पुत्रैर्गच्छन्ती दृष्टा तैः परिभुक्ता मातृपुत्रयोर्वस्त्रे परावृत्ते, तया भण्यते—मोहिकायाः कथं त्वयोपरितनं वस्त्रं गृहीतं ? हा पाप ! किं त्वया कृतं ? स नष्टः प्रव्रजितः। चतुर्थं—उन्मत्तौ गणिकया रक्षितौ,

ओरालियपरदारगमणे वेउव्वियपरदारगमणे, सदारसंतोसस्स समणोवा० इमे पंच०, तंजहा–अपरिगहि-
यागमणे इत्तरियपरिग्गहियागमणे अणंगकीडा परवीवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे ४ ॥ (सू०)

आत्मव्यतिरिक्तो योऽन्यः स परस्तस्य दाराः–कलत्रं परदारास्तस्मिन् (तेषु)गमनं परदारगमनं, गमनमासेवनरूपतया द्रष्टव्यं, श्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति पूर्ववत्, स्वकीया दाराः–स्वकलत्रमित्यर्थः, तेन (तैः) तस्मिन् (तेषु) वा संतोषः स्वदारसन्तोषः तं वा प्रतिपद्यते, इयमत्र भावना–परदारगमनप्रत्याख्याता यास्वेव परशब्दः प्रवर्त्तते, स्वदारसन्तुष्टस्त्वेकानेकस्वदारव्यतिरिक्ताभ्यः सर्वाभ्य एवेति, सेवन्तः पूर्ववत्, तच परदारगमनं द्विविध प्रज्ञप्तं, तद्यथेति पूर्ववत्, औदारिकपरदारगमनं–स्त्र्यादिपरदारगमन वैक्रियपरदारगमन–देवाङ्गनागमन, तथा चउत्थे अणुवते सामण्णेण अणियत्तस्स दोसा–मातरमवि गच्छेज्जा, उदाहरणं–गिरिणगरे तिण्णि वयंसियाओ, ताओ उज्जेंतं गताओ, चोरेहिं गहिताओ, णेत्तुं पारसकूले विकीताओ, ताण पुत्ता डहरगा घरेसु उज्झियता, तेवि मित्ता जाता, मातासिणेहेण वाणिज्जेणं गता पारसउलं, ताओ य गणियाओ सहदेसियाउत्ति भाडिं देंति, तेवि संपत्तीए ताहिं सयाहिं गया, एगो सावगो, ताहिं यऽप्पणीयाहिं मातमिस्सियाहिं समं

---

१ चतुर्थेऽणुव्रते सामान्येनानिवृत्तस्य दोषा मातरमपि गच्छेत् उदाहरणं–गिरिनगरे तिस्रो वयस्याः ता उज्जयन्तं गताश्चौरैर्गृहीताः, नीत्वा पारसकूले विक्रीताः, तासां पुत्राः क्षुल्लकाः गृहेषु उज्झिताः तेऽपि मित्राणि जाताः, मातृस्नेहेन वाणिज्येन गताः पारसकूलं ताश्च गणिकाः स्वदेशीया इति भाटीं ददति तेऽपि सम्पत्त्या स्वकीयाभ्यः २ (मातुः पार्श्वे) गताः एकः श्रावकः ताभिरात्मीयाभिर्मातृभिर्भाभिः सम–

पेविसति ता ववहारगहिंसादि ण देति, ण य तेसिं आयोगठाणेसु ठाति । इदं चातिचाररहितमनुपालनीयं, तथा चाह 'थूलगे त्यादि स्थूलकाददत्तादानविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातीचारा ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः, तद्यथा—स्तेनाहृतं, स्तेनाः—चौरास्तैराहृतं—आनीतं किञ्चित् कुङ्कुमादि देशान्तरात् स्तेनाहृतं तत् समर्घमिति लोभात् गृह्णतोऽतिचारः, तस्कराः—चौरास्तेषां प्रयोगः—हरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञा तस्करप्रयोगः, तान् प्रयुङ्क्ते—हरत यूयमिति, विरुद्धनृपयोर्यद् राज्यं तस्यातिक्रमः—अतिलङ्घनं विरुद्धराज्यातिक्रमः, न हि ताभ्यां तत्र तदाऽतिक्रमोऽनुज्ञातः, 'कूटतुलाकूटमाने' तुला प्रतीता मानं—कुडवादि, कूटत्वं—न्यूनाधिकत्वं, न्यूनया ददतोऽधिकया गृह्णतोऽतिचारः, तेन—अधिकृतेन प्रतिरूपकं—सदृशं तत्प्रतिरूपकं तस्य विविधमवहरणं व्यवहारः—प्रक्षेपस्तत्प्रतिरूपको व्यवहारः, यथा व्रीह्यादि घृतादिषु पलञ्जीयसादि तस्य प्रक्षेप इतियावत्, तत्प्रतिरूपकेण वा वसादिना व्यवहरणं तत्प्रतिरूपकव्यवहारः, एतानि समाचरन्नतिचरति तृतीयाणुव्रतमिति । दोसो पुण तेणाहडगहिते रायावि हणेज्जा, सामी वा पच्चभिजाणेज्जा ततो बंधेज्ज वा मारेज्ज वा इत्यादयः, दोषा अपि वक्तव्याः । उक्तं सातिचारं तृतीयाणुव्रतं, इदानीं चतुर्थमुपदर्शयन्नाह—

परदारगमण समणो० पच्चक्खाति सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ, से य परदारगमणे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—

---

१ प्रविशन्ति तदा व्यवहारगर्हितादि न ददाति न च तेषामायोगस्थानेषु तिष्ठति । २ दोषाः पुनः स्तेनाहृते गृहीते राजापि हन्यात्, स्वामी वा प्रत्यभिज्ञापयेत् ततो बध्नीयात् मारयेद्वा,

व्याख्या—अदत्तादानं द्विविधं-स्थूलं सूक्ष्मं च, तत्र परिस्थूलविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रतिषिद्धमिति, दुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलं, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं स्थूलकं च तत् अदत्तादानं चेति समासः, तच्छ्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति पूर्ववत्, सेशब्दः मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छब्दार्थः, तच्चादत्तादानं द्विविधं प्रज्ञप्तं-तीर्थंकरगणधरैर्द्विप्रकारं प्ररूपितमित्यर्थः, तद्यथेति पूर्ववत्, सह चित्तेन सचित्तं-द्विपदादिलक्षणं वस्तु तस्य क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुर्न्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानं सचित्तादत्तादानं, आदानमिति ग्रहणं, अचित्तं-वस्त्रकनकरत्नादि तस्यापि क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुर्न्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानमचित्तादत्तादानमिति, अदत्तादाने के दोषाः?, अकरणे वा के गुणाः?, एत्थ इमं चेवोदाहरणम्—जथा एगा गोट्ठी, सावगोऽवि ताए गोट्ठीए, एगत्थ य णगरणं वट्टति, जणे गते गोट्ठीलएहिं एगं पेच्छितं, थेरीए एक्केक्को मोरपुत्तपाएसु पट्टवीए अंकितो, पभाए रण्णो णिवेदितं, राया भणति–कध ते जाणियव्वा?, थेरी भणति–एते पादेसु अंकिता, णगरसमागमे दिट्ठा, दो तिण्णि चत्तारि सव्वा गोट्ठी गहिता, एगो सावगो भणति–ण हरामि ण लंछितो य, तेहिंवि भणितं–ण एस हरति मुक्को, इतरे सासिता, अवि य सावएण गोट्ठिं ण पविसितव्वं, ण किंचिवि पयोयणेण

1 अत्रेदमेवोदाहरणं–यथैका गोष्ठी श्रावकोऽपि तस्यां गोष्ठ्यां एकत्र च प्रकरणं वर्तते जने गते गोष्ठीकैरेकं मुषितं स्थविरयैकैको मयूरपुत्रपादैः प्रतिष्ठायाऽङ्कितः प्रभाते राज्ञो निवेदितं राजा भणति–कथं ते ज्ञातव्याः?, स्थविरा भणति–एते पादेष्वङ्किताः, नगरसमागमे दृष्टाः द्वौ त्रयः सर्वा गोष्ठी गृहीता एकः श्रावको भणति–न मुष्णामि न च लाञ्छितः तैरपि भणितं–नैष मुष्णाति मुक्तः इतरे शासिताः अपि च श्रावकेण गोष्ठ्यां न प्रवेष्टव्यं यत् केनापि प्रयोजनेन

पेविसति ता ववहारगहिंसादि ण देति, ण य तेसिं आयोगठाणेसु ठाति। इदं चातिचाररहितमनुपालनीयं, तथा चाह 'थूलगे त्यादि स्थूलकादत्तादानविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातीचारा ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः, तद्यथा—स्तेनाहृतं, स्तेनाः—चौरास्तैराहृतं—आनीतं किञ्चित् कुङ्कुमादि देशान्तरात् स्तेनाहृतं तत् समर्घमिति लोभात् गृह्णतोऽतिचारः, तस्कराः—चौरास्तेषां प्रयोगः—हरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञा तस्करप्रयोगः, तान् प्रयुङ्क्ते—हरत यूयमिति, विरुद्धनृपयोर्यद्राज्य तस्यातिक्रमः—अतिलङ्घनं विरुद्धराज्यातिक्रमः, न हि ताभ्यां तत्र तदाऽतिक्रमोऽनुज्ञातः, 'कूटतुलाकूटमानं' तुला प्रतीता मानं—कुडवादि, कूटस्य—न्यूनाधिकस्य, न्यूनया ददतोऽधिकया गृह्णतोऽतिचारः, तेन—अधिकृतेन प्रतिरूपकं—सदृशं तत्प्रतिरूपकं तस्य विविधमवहरणं व्यवहारः—प्रक्षेपस्तत्प्रतिरूपको व्यवहारः, यथात्र घटते व्रीह्यादि घृतादिषु वउञ्जीयसादि तस्य प्रक्षेप इतियावत्, तत्प्रतिरूपकेण वा वसादिना व्यवहरणं तत्प्रतिरूपकव्यवहारः, एतानि समाचरन्नतिचरति तृतीयाणुव्रतमिति। दोसो पुण तेणाहडगहिते रायावि हणेज्जा, सामी वा पच्चभिजाणेज्जा ततो दंडेज्ज वा मारेज्ज वा इत्यादयः, शेषा अपि वक्तव्याः। उक्तं सातिचारं तृतीयाणुव्रतं, इदानीं चतुर्थमुपदर्शयन्नाह—

परदारगमण समणो० पच्चक्खाति सदारसंतोस वा पडिवज्जइ, से य परदारगमणे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—

---

१ प्रतिपत्ति तदा व्यवहारमीर्ष्यादि न ददाति न च तेषामायोगस्थानेषु तिष्ठति। २ दोषाः पुनः स्तेनाहृते गृहीते राजाऽपि हन्यात्, स्वामी वा प्रत्यभिजानीयात् ततो दण्डयेत् मारयेद्वा,

— ममावादवेरमणे। इद मातिचाररहितमनुपालनीयम्, तथा चाह–'थूलग–
[illegible] –णोपासकेनामी पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः ज्ञपरिज्ञया

व्याख्या—[illegible] द्विविधं–स्थूलं सूक्ष्मं च, [illegible] –ऽभ्याख्यानं अभिशंसनम्–असदध्यारोपणं, तद्यथा–
[illegible] स्थूलं, विपरीतमितरत्, स्थूलेन [illegible] [illegible] – वा अभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानं, एतदुक्तं
स्यारीति पूर्ववत्, [illegible] [illegible] –न्ति, स्वदारे मन्त्रभेदः स्वदारमन्त्र–
प्रकारं प्रकपितामित्यर्थः, [illegible] पूर्ववत्, [illegible] असद्भूतं लिख्यत इति
स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानं [illegible] एतानि समाचरति
पुन्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानमदत्तादानमिति [illegible] –मेज वा, एवं [illegible]
एत्थ इमं चेयोदाहरणम्–जधा एगा गोट्ठी, सावगोऽवि ताए गोट्ठीए एगस्स य [illegible] आणि [illegible]
पेसितं, थेरीए एक्केक्को मोरपुत्तपाएसु पट्टतीए अंकितो, पभाए रण्णो णिवेदितं राया भणति [illegible] –णो दिता
भणति–एते पादेसु अंकिता, णगरसमागमे दिट्ठा, दो तिण्णि चत्तारि समा गोट्ठी गहिता एगो सावगो [illegible] –णोसेण
लंछितो य, तेहिंपि भणितं–ण एस हरति मुक्को, इतरे सासिता, अविय सायग्रेण गोट्ठिं ण पविसितव्वं जो [illegible]

1 अविरमाणे वा के गुणाः ? अत्रेदमेवोदाहरणं–यथैका गोष्ठी श्रावकोऽपि तस्यां गोष्ठ्यां एकस्य च प्रकारं [illegible] गते [illegible]
स्थविरयैकैको मयूरपुत्रपादैः प्रतिष्ठमानाऽङ्किता प्रभाते राज्ञो निवेदितं, राजा भणति–कथं ते ज्ञातव्याः ? स्थविरा भणति–एते पादेष्वङ्किता [illegible]
दृष्टा द्वौ त्रयः सर्वा गोष्ठी गृहीता एकः श्रावको भणति–न मुष्णामि न च लाञ्छितः तैरपि भणितं–नैष मुष्णाति मुक्तः इतरे शासिताः अपि च श्रावकेण
गोष्ठ्यां न प्रवेष्टव्यं यत् केनापि प्रयोजनेन

कप्पडियसगेण पविसति, ताणं तद्दिवसं पगतं, कप्पडिओ य मग्गति, सीए य पहितवगं लग्गति, ताधे गियगपहिं वाहेति, अण्णातपच्चाए ताधे पुणरवि गंतुं महता रिद्धीए आगतो सयणाण समं मिलितो, परोवदेसेण वयस्साण सव कथेति, ताए अप्पा मारितो। मोसुवतेसे परिपायगो मणुस्सं भणति–किं किलिस्ससि ?, जइ ते अदि रुचति भिसण्णो चेव दव्वं पिढयामि, आहि फिरातयं उच्छिण्णो मग्गाहि, पच्छा काल्लुदेसेहिं मग्गेज्जासि, जाधे य वाउलो अणदाणगहणेण ताधे भणिज्जासि, सो तधेव भणति, जाधे विसयदति ताधे ममं सक्खिं वदिसेज्जसि, एवं करणे व हारितो सिवो(न)द्धावितो य, कूडलेहकरणे भद्दरधी अण्णे य उदाहरणा। उक्तं सातिचारं द्वितीयाणुव्रतं, अधुना तृतीयं प्रतिपादयन्नाह–

थूलगअदत्तादाणं समणो॰, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा–सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे अ। थूलादत्तादाणवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तंजहा–तेनाहडे तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे ३ ॥

---

१ कार्पटिकन्वेष प्रविशति तद्दिवसे प्रहतं कार्पटिकश्च मार्गयति तस्मात् वहमीयं यापयति, तदा निजकपथि व्रजति अज्ञातचर्यया तदा पुनरपि गत्वा महत्या ऋद्ध्या आगतः स्वजनैः समं मिलति परोपदेशेन वयस्यानां कथयति सर्वं तयाऽऽत्मा मारितः। मृषोपदेशे परिव्राजको मनुष्यं भणति–किं क्लाम्यसि ? यदि ते यदि रोचते निषण्ण एव द्रव्यमुपार्जयामि याहि किरातकं (द्रव्यसमूहं) उत्सर्कं मार्गय पश्चात् काल्लोद्देशो मार्गयेः यदा च व्याकुलो ऋणदानग्रहणेन तदा भणेः स तथैव भणति यदा विसंवदति तदा मां साक्षिणमुद्दिशेरिति एवं करणेऽपि धाटितो जितो न दापितश्च, कूटलेखकरणे भद्ररथी अन्ये चोदाहरणानि

ये पससित्तो, एवमादिया गुणा मुसावायवेरमणे । इय चातिचाररहितमनुपालनीयम्, तथा चाह-'थूलगमुसावायवेरमणस्स' व्याख्या—स्थूलकमृषावादविरमणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचाराः ज्ञातव्याः ज्ञपरिज्ञया न समाचरितव्याः, तद्यथेति पूर्ववत्, सहसा-अनालोच्य अभ्याख्यानं सहसाऽभ्याख्यानं अभिशंसनम्-असदध्यारोपणं, तद्यथा-चौरस्त्वं पारदारिको वेत्यादि, रहः-एकान्तस्तत्र भवं रहस्यं तेन तस्मिन् वा अभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानं, एतदुक्तं भवति-एकान्ते मन्त्रयमाणान् वक्ति-एते हीदं चेदं च राजापकारित्वादि मन्त्रयन्ति, स्वदारे मन्त्रभेदः स्वदारमन्त्रभेदः—स्वदारमन्त्र[भेद]प्रकाशनं स्वकलत्रविश्रब्धविशिष्टावस्थामन्त्रितान्यकथनमित्यर्थः, कूटम्-असद्भूतं लिख्यत इति लेखः तस्य करण-क्रिया कूटलेखक्रिया-कूटलेखकरणं अन्यमुद्राक्षरबिम्बस्वरूपलेखकरणमित्यर्थः, एतानि समाचरन्नतिचरति द्वितीयाणुव्रतमिति, तत्रापायाः प्रदर्श्यन्ते, 'सहसऽब्भक्खाणं सत्पुरिसो सुणेज्जा सो वा इतरो वा मारिज्जेज्ज वा, एवं गुणो, वेसिसि मएण अप्पाणं सं वा विरोधेज्जा, एव रहस्सब्भक्खाणेऽवि, सदारमंतभेदे जो अप्पणो भज्जाए सद्धिं आणि रहस्से वोल्लिताणि ताणि अण्णेसिं पगासेति पच्छा सा लज्जिता अप्पाणं परं वा मारेज्जा, तत्थ उदाहरणम्-मधुराषाणिगो दिसीयत्ताए गतो, भज्जा सो आधे ण एति ताधे वारसमे वरिसे अण्णेण समं घडिता, सो आगतो, रत्तिं अन्नायपवेसेण

---

१ च मर्षसिता एवमात्मिका गुणा मृषावादविरमणे । २ सहसाऽभ्याख्यानं सत्पुरुषः शृणुयात् स वेतरो वा मारयेत् एव गुणः ...तीति अपेक्षामात्रं तं वा विरोधयेत् एवं रहोऽभ्याख्यानेऽपि स्वदारमन्त्रभेदे च आत्मनो भार्यया समं यानि रहसि उक्तानि तान्यन्येभ्यः प्रकाशयति पश्चात् सा लज्जिताऽऽत्मानं परं वा मारयेत् तत्रोदाहरणं-मधुरावणिक् दिग्यात्रायै गतः भार्या तस्य यदा नायाति तदा द्वादशे वर्षेऽन्येन समं लिप्ता स आगतः रात्रौ अज्ञातवेषेण

कप्पडियत्तणेण पविसति, ताणं तद्दिवसं पगतं, कप्पडिओ य मग्गति, तीए य वहितव्वं लक्खगादि, ताधे नियत्तावेति याहेति, अण्णातयआए ताधे पुणरवि गंतुं महता रिद्धीए आगतो सयणाण समं मिलितो, परोवदेसेण वयस्साण सव्वं कधेति, ताए अप्पा मारितो। मोसुवतेसे परिव्वायगो मणुस्सं भणति—किं किलिस्ससि !, अहं ते जदि रुच्चति निसण्णो चेव दव्वं विढवायेमि, जाहि किराडयं उम्भिण्णो मग्गाहि, पच्छा कालुद्देसेहिं मग्गेज्जासि, जाधे य वाउलो अणवाणगहणेण ताधे भणिज्जासि, सो तधेव भणति, जाधे विसंवदति ताधे ममं सक्खिं वद्दिसेज्जसि, एवं करणे च हारितो जितो(न)दवावितो य, कूडलेहकरणे भइरधी अण्णे य उदाहरणा। उक्तं सातिचारं द्वितीयाणुव्रतं, अधुना तृतीयं प्रतिपादयन्नाह—

थूलगअदत्तादाण समणो०, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे अ। थूलादत्तादाणवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तंजहा—तेनाहडे तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे ३ ॥

---

१ कार्पटिकत्वेन प्रविशति तयोऽद्दिवसे प्रगते कार्पटिकश्च मार्गयति, तस्याश्च वहनीयं स्थापयति, तदा निवर्तयति वाहयति अज्ञाततया तदा पुनरपि गन्ता महता ऋद्ध्या आगतः स्वजनैः समं मिलति, परोपदेशेन वयस्यानां कथयति सर्वं तयाऽऽत्मा मारितः। मृषोपदेशे परिव्राजको मनुष्यं भणति—किं क्लाम्यसि ?, अहं ते यदि रोचते निषण्ण एव द्रव्यमुपार्जयामि याहि किरातक (द्रव्यसमूहं) उद्घाट्य मार्गय, पश्चात् कालोद्देशे मार्गयसे यदा च व्याकुलो अनर्पणग्रहणेन तदा भणेः, स तथैव भणति यदा विसंवदति तदा मां साक्षिणमुद्दिशेरिति एवं करणेऽपि पराजितो जितो च दापितश्च, कूटलेखकरणे भणितव्या अन्य चोदाहरणानि

णं होज्जा अण्णा जीविता ताधे दुपदो अ सय उक्खिवति उत्तारेति या भारं एवं यहाविज्जति, यइल्लाणं अधा साभाविया ओवि भारातो ऊणओ कीरति, हलसगडेसुवि वेलाए मुयति, आसहत्थीसुवि एस विही, भत्तपाणवोच्छेदो ण कस्सइ कातव्वो, तिव्वछुहो मा मरेज्ज, तधेव अणट्ठाए दोसा परिहरेज्जा, सावेक्खो पुण रोगणिमित्तं वा वायाए वा भणेज्जा– अज्ज ते ण देमित्ति, संतिणिमित्तं वा उववासं कारावेज्जा, सव्वत्थवि जतणा जधा थूलगपाणातिवातस्स अतिचारो ण भवति तथा पवतितव्वं, णिरवेक्खबंधादिसु य लोगोवघातादिया दोसा भाणियव्वा। उक्तं सातिचारं प्रथमाणुव्रतं, अधुना द्वितीयमुच्यते, तत्रेदं सूत्र—

थूलगमुसावाय समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते, तंजहा–कन्नालीए गवालीए भोमालिए नासावहारे कूडसक्खिज्जे। थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा–सहस्स ब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे २॥

अस्य व्याख्या–मृषावादो हि द्विविधः—स्थूलः सूक्ष्मश्च, तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलो, विपरीत

---

१ न भवेदन्या जीविका तदा द्विपदो वं स्वयमुत्क्षिपति उत्तारयति वा भारं एवं वाहयते बलिवर्दानां यथा स्वाभाविकमपि भारात् किञ्चिदूनं क्रियते हलशकटे ष्वपि वेलायां मुञ्चति अश्वहस्त्यादिष्वप्येष एव विधिः भक्तपानव्यवच्छेदो न कस्यापि कर्तव्यः तीव्रक्षुत्पीडा मा मृत तथैवार्थानर्थ दोषान् (तस्मात्) परिहरेत्, सापेक्षः पुनः रोगनिमित्तं वा वाचा वा भणेत्–अद्य तुभ्यं न ददामीति, शान्तिनिमित्तं चोपवासं कारयेत्, सर्वत्रापि यतना यथा स्थूलप्राणातिपातस्यातिचारो न भवति तथा प्रवर्तितव्यं निरपेक्षबन्धादिषु च लोकोपघातादयो दोषा भणितव्याः।

स्थिततरः, तत्र स्थूल एव स्थूलकः २ असौ मृषावादश्चेति समासः, तं श्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति पूर्ववत्, स च मृषावादः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः—पञ्चप्रकारः प्ररूपितस्तीर्थकरगणधरैः, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, कन्याविषयमनृतं अभिन्नकन्यकामेव भिन्नकन्यकां वक्ति विपर्ययो वा, एवं गवानृतं अल्पक्षीरामेव गां बहुक्षीरां वक्ति विपर्ययो वा, एवं भूम्यनृतं परसत्कामेवात्मसत्कां वक्ति, व्यवहारे वा नियुक्तोऽनाभवद्व्यवहारस्यैव कस्यचित् भागाद्यभिभूतो वक्ति—मत्स्येयमाभवतीति, न्यस्यते—निक्षिप्यत इति न्यासः—रूप्यकाद्यर्पणं तस्यापहरणं न्यासापहारः, अदत्तादानरूपत्वादस्य कथं मृषावादत्वमिति ?, उच्यते, अपलपतो मृषावाद इति, कूटसाक्षित्वं उत्कोचमात्सर्याद्यभिभूतः प्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति, अविशिष्टवाद्यनृतत्वान्नैवान्तर्भावो वक्तव्यः । मुसावादे के दोसा ? अकज्जंते वा के गुणा ?, तत्थ दोसा कण्णागे चेव अकण्णगे भणंते भोगंतरायदोसा पदुट्ठा वा आतघातं करेज्ज कारवेज्ज वा, एवं सेसेसुवि भाणियव्वा । णासावहारे य पुरोहितोदाहरणम्—सो जधा णमोक्कारे, गुणे उदाहरणं—कोंकणगसावगो मणुस्सेण भणितो, घोडए पासंते आहणाहित्ति, तेण आहतो मतो य करणं णीतो, पुच्छितो—को ते सक्खी ?, घोडगसामिएण भणियं, एतस्स पुत्तो मे सक्खी, तेण दारएण भणितं—सच्चमेतम्ति, तुट्ठा पूमितो सो, लोगेण

1 मृषावादे के दोषाः ? अक्रियमाणे वा के गुणाः ? तत्र दोषाः कन्यकामेवाकन्यकां भणति भोगान्तरायदोषाः प्रद्विष्टा वाऽऽत्मघातं कुर्यात्कारयेद्वा एवं शेषेष्वपि भणितव्याः । न्यासापहारे च पुरोहितोदाहरणम्—स यथा नमस्कारे, गुणे उदाहरणं—कोङ्कणकश्रावको मनुष्येण भणितः—घोटकं व्रजन्तं आहति इति तेनाहतो मृतश्च करणं नीतः पृष्टः कस्तव साक्षी ? घोटकस्वामिकेन भणितं—एतस्य पुत्रो मे साक्षी तेन दारकेण भणितं—सत्यमेतदिति तुष्टाः (सभ्याः) पूजितः स लोकेन

समुणाला उप्पलपउमोपसोभिता, सा य मगरगाहेहिं दुरवगाहा, ण य ताणि उप्पलादीणि कोइ उच्चिणिउं समत्थो, जो य वञ्झो रण्णा आदिस्सति सो वुच्चति—एत्तो पुक्खरिणीतो पउमाणि आणेहित्ति, ताधे खेमो उट्ठेऊण नमोऽत्थु णं अरहंताणं भणित्तु जदिह निरावराधी तो मे देवता साणेज्झं देंतु, सागारं भत्तं पच्चक्खायित्तुं ओगाढो, देवतासाण्णेज्झेणं मगरपुट्ठी ठितो बहूणि उप्पलपउमाणि गेण्हित्तुत्तिण्णो, रण्णा हरिसितेण खामितो उवगूढो य, पडिपक्खणिग्गहं कातूण भणितो—किं ते वरं देमि ?, तेण णिक्खममाणेणवि पवज्जा चरिता पव्वइतो, एते गुणा पाणातिपातवेरमणे। इदं चातिचाररहितमनुपालनीयं, तथा चाह—'थूलगे'त्यादि, स्थूलकप्राणातिपातविरमणस्य विरतेरित्यर्थः श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचाराः 'जाणियव्वा' ज्ञपरिज्ञया न समाचरितव्याः—न समाचरणीयाः, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, तत्र बन्धनं बन्धः—संयमनं रज्जुदामनकादिभिर्हननं वधः ताडनं कसादिभिः छविः—शरीरं तस्य छेदः—पाटनं करपत्रादिभिः भरणं भारः अतीव भरणं अतिभारः—प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठ्यादिष्वारोपणमित्यर्थः, भक्त—अशनमोदनादि पानं—पेयमुदकादि तस्य च व्यवच्छेदः—निरोधोऽदानमित्यर्थः, एतान् समाचरन्नतिचरति प्रथमाणुव्रत, तदत्रायं तस्य विधिः—

1 समृणाला उत्पलपद्मोपशोभिता सा च मकरग्राहैर्दुरवगाहा न च तान्युत्पलादीनि कोऽप्युच्चेतुं समर्थः यश्च वध्यो राज्ञाऽऽदिश्यते स उच्यते-इतः पुष्करिणीतः पद्मान्यानयेति तदा क्षेम उत्थाय नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भणित्वा यद्यहं निरपराधस्तदा मह्यं देवता सान्निध्यं ददातु साकारं भक्तप्रत्याख्यायावगाढः देवतासान्निध्येन मकरपृष्ठिस्थितो बहून्युत्पलपद्मानि गृहीत्वोत्तीर्णः राज्ञा हर्षेण क्षामितः उपगूढश्च प्रतिपक्षनिग्रहं कृत्वा भणितः-किं ते वरं ददामि ?, तेन निष्क्रममाणेनापि प्रव्रज्या चीर्णा प्रव्रजितः, एते गुणाः प्राणातिपातविरमणे।

बंधो दुविधो–दुप्पदाणं चतुप्पदाणं च, अट्ठाए अणट्ठाए य, अणट्ठाए न वट्टति बंधेउं, अट्ठाए दुविधो–निरवेक्खो सावेक्खो य, णिरवेक्खो णेच्चलं धणितं जं बंधति, सावेक्खो जं दामगंठिणा जं च सक्केति पलीवणगादिसु मुंचितुं छिंदितुं वा तेण संसरपासएण बंधेतव्वं, एवं ताव चतुप्पदाणं, दुपदाणंपि दासो वा दासी वा चोरो वा पुत्तो वा ण पढतगादि जति बज्झति तो सावेक्खाणि बंधितव्वाणि रक्खितव्वाणि य जधा अग्गिभयादिसु ण विणस्संति, ताणि किर दुपदचतुप्पदाणि सावगेण गेण्हितव्वाणि जाणि अबद्धाणि चेव अच्छंति, वहो तधा चेव, वधो णाम तालणा, अणट्ठाए णिरवेक्खो णिद्दयं तालेति, सावेक्खो पुण पुव्वमेव भीतपरिसेण होतव्वं, मा हणणं कारिज्जा, जति करेज्ज ततो मम्मं मोत्तूणं ताधे लताए दोरेण वा एक्कं दो तिण्णि वारे तालेति, छविच्छेदो अणट्ठाए तधेव णिरवेक्खो हत्थपादकण्णणक्कादी णिद्दयताए छिंदति, सावेक्खो गंडं वा अरुयं वा छिंदेज्ज वा डहेज्ज वा, अतिभारो ण आरोवेतव्वो, पुव्वं चेव जा वाहणाए जीविया सा मोत्तव्वा,

1 बन्धो द्विविधो–द्विपदानां चतुष्पदानां च अर्थायानर्थाय च अनर्थाय न वर्तते कर्तुं, अर्थाय द्विविधः–निरपेक्षः सापेक्षश्च निरपेक्षो यन्निश्चलं बध्नाति, सापेक्षो यद्दामग्रन्थिना यच्च शक्नोति प्रदीपनकादिषु मोचयितुं छेत्तुं वा तेन संसारपाशकेन बद्धव्यं, एवं तावत् चतुष्पदानां द्विपदानामपि दासो वा दासी वा चौरो वा पुत्रो वा न पठनादिषु यदि बध्यते तदा सापेक्षाणि बद्धव्यानि रक्षितव्यानि च यथाऽग्निभयादिषु न विनश्यन्ति ते किल द्विपदचतुष्पदाः श्रावकेण ग्रहीतव्या ये अबद्धा एव तिष्ठन्ति, वधोऽपि तथैव, वधो नाम ताडनं अनर्थाय निरपेक्षो निर्दयं ताडयति सापेक्षः पुनः पूर्वमेव भीतपर्षदा भाव्यं यदि कुर्यात् ततो मर्म मुक्त्वा तदा लतया दवरकेण वा एकं द्वौ त्रीन् वारान् ताडयति छविच्छेदोऽनर्थाय तथैव निरपेक्षो हस्तपादकर्णनासिकादि निर्दयतया छिनत्ति, सापेक्षो गण्डं वा अरुर्वा छिन्द्यात् दहेद् वा अतिभारो नारोपयितव्यः पूर्वमेव या वाहनया जीविका सा मोक्तव्या

समुणाला उप्पलपउमोपसोभिता, सा य मगरगाहेहिं दुरवगाहा, ण य ताणि उप्पलादीणि कोइ उचिणिउं समत्थो, जो य वज्झो रण्णा आदिस्सति सो वुच्चति–एत्तो पुक्खरिणीतो पउमाणि आणेहित्ति, ताधे खेमो उट्ठेऊण नमोऽत्थु णं अरहंताणं भणित्तु जदिहं निरावराधी तो मे देवता साणेज्झं देंतु, सागारं भत्तं पच्चक्खायित्तु ओगाढो, देवदासाणेज्झेणं मगरपुट्ठी ठितो बहूणि उप्पलपउमाणि गेण्हितुत्तिण्णो, रण्णा हरिसितेण सामितो उवगूढो य, पडिपक्खणिग्गहं कातूण भणितो–किं ते वरं देमि ?, तेण णिरुंभमाणेणवि पवज्जा चरिता पव्वइतो, एते गुणा पाणातिपातवेरमणे। इदं चातिचाररहितमनुपाल नीय, तथा चाह–'थूलगे'त्यादि, स्थूलकप्राणातिपातविरमणस्य विरतेरित्यर्थ श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचाराः 'जाणियव्वा' ज्ञपरिज्ञया न समाचरितव्याः–न समाचरणीयाः, तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, तत्र बन्धनं बन्धः–संयमनं रज्जुदामनकादि भिर्हननं वधः ताडनं कसादिभिः छविः–शरीरं तस्य छेदः–पाटनं करपत्रादिभिः भरणं भारः अतीव भरणं अतिभारः–प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठ्यादिष्वारोपणमित्यर्थः, भक्त–अशनमोदनादि पानं–पेयमुदकादि तस्य च व्यवच्छेदः–निरोधोऽदानमित्यर्थः, एतान् समाचरन्नतिचरति प्रथमाणुव्रतं, तदत्रायं तस्य विधिः–

1 यमुनाला उत्पलपद्मोपशोभिता सा च मकरग्राहैर्दुरवगाहा न च तान्युत्पलादीनि कोऽप्युच्चेतुं समर्थः यश्च वध्यो राज्ञाऽऽदिश्यते स उच्यते–इतः पुष्करिणीतः पद्मान्यानयेति तदा क्षेम उत्थाय नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भणित्वा यद्यहं निरपराधस्तदा मह्यं देवता सान्निध्यं ददातु साकारं भक्तप्रत्याख्यायावगाढः, देवतासान्निध्येन मकरपृष्ठिस्थितो बहून्युत्पलपद्मानि गृहीत्वोत्तीर्णः, राज्ञा हृष्टेन श्लाघित उपगूढश्च प्रतिपक्षनिग्रहं कृत्वा भणितः–किं ते वरं ददामि ? तेन निरुध्यमानेनापि प्रव्रज्या चीर्णा प्रव्रजितः एते गुणाः प्राणातिपातविरमणे।

बंधो दुविधो-दुप्पदाणं चतुप्पदाणं च, अट्ठाए अणट्ठाए य, अणट्ठाए न वट्टति बंधेतुं, अट्ठाए दुविधो-निरवेक्खो सावेक्खो य, णिरवेक्खो णेच्चलं धणितं जं बंधति, सावेक्खो जं दामगंठिणा जं च सक्केति पलीवणगादिसु मुंचितुं छिंदितुं वा तेण संसरपासएण बंधेतव्वं, एवं ताव चतुप्पदाणं, दुपदाणंपि दासो वा दासी वा चोरो वा पुत्तो वा ण पढंतगादि जति बज्झति तो सावेक्खाणि बंधितव्वाणि रक्खितव्वाणि य जधा अग्गिभयादिसु ण विणस्संति, ताणि किर दुपयचतुप्पयाणि सावगेण गेण्हितव्वाणि जाणि अबद्धाणि चेव अच्छंति, वहो तधा चेव, वधो णाम तालणा, अणट्ठाए णिरवेक्खो णिद्दयं तालेति, सावेक्खो पुण पुव्वमेव भीतपरिसेण होतव्वं, मा हणणं कारिज्जा, जति करेज्ज ततो मम्मं मोत्तूणं ताधे लताए दोरेण वा एक्कं दो तिण्णि वारे तालेति, छविच्छेदो अणट्ठाए तधेव णिरवेक्खो हत्थपादकण्णणासादि णिद्दयताए छिंदति, सावेक्खो गंडं वा अरुयं वा छिंदेज्ज वा डहेज्ज वा, अतिभारो ण आरोवेतव्वो, पुव्वं चेव जा वाहणाए जीविया सा मोत्तव्वा,

---

1 बन्धो द्विविधो-द्विपदानां चतुष्पदानां च अर्थायानर्थाय च अनर्थाय न वर्त्तते बद्धुं अर्थाय द्विविधः-निरपेक्षसापेक्षश्च निरपेक्षो यन्निश्चलं बध्नाति यत्, सापेक्षो दामग्रन्थिना यच्च शक्नोति प्रदीपनकादिषु मोचयितुं छेत्तुं वा तेन संसरणपाशकेन बद्धव्यं एवं तावत् चतुष्पदानां द्विपदानामपि दासो वा दासी वा चौरो वा पुत्रो वा पठनादिषु यदि बध्यते तदा सापेक्षाणि बद्धव्यानि रक्षितव्यानि च यथाऽग्निभयादिषु न विनश्यन्ति, ते किल द्विपदचतुष्पदाः श्रावकेण संग्राह्या ये अबद्धा एव तिष्ठन्ति वधोऽपि तथैव वधो नाम ताडनं अनर्थाय निरपेक्षो निर्दयं ताडयति, सापेक्षः पुनः पूर्वमेव भीतपर्षदा भवितव्यं मा घातं कुर्याः यदि कुर्यात् ततो मर्म मुक्त्वा तदा लतया दवरकेण वा एकशो द्विस्त्रिर्वारान् ताडयति छविच्छेदोऽप्यनर्थाय तथैव निरपेक्षो हस्तपादकर्णनासिकादि निर्दयतया छिनत्ति, सापेक्षो गण्डं वा अरुं वा छिन्द्यात् दहेद्वा अतिभारो नारोपयितव्यः पूर्वमेव वा वाहनेनाजीविका सा मोक्तव्या

य, तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरंभओ, थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तंजहा—बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए १। (सूत्र)॥

अस्य व्याख्या—स्थूलाः—द्वीन्द्रियादयः, स्थूलत्वं चैतेषां सकललौकिकजीवत्वप्रसिद्धेः, एतदपेक्षयैकेन्द्रियाः (णां) सूक्ष्माणाम-भेना(न)जीवत्वसिद्धेरिति, स्थूला एव स्थूलकास्तेषां प्राणाः—इन्द्रियादयः तेषामतिपातः स्थूलप्राणातिपातः तं श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति, तस्माद् विरमत इति भावना । स च प्राणातिपातो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तीर्थकरगणधरैर्द्विविधः प्ररूपित इत्यर्थः, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, सङ्कल्पजश्चारम्भजश्च, सङ्कल्पाज्जातः सङ्कल्पजः, मनसः सङ्कल्पाद् द्वीन्द्रियादिप्राणिनः मांसास्थिचर्मनखवालदन्ताद्यर्थं व्यापादयतो भवति, आरम्भाज्जातः आरम्भजः, तत्रारम्भो—हलदन्ताउलनननखत(खनन) प्रकारस्तस्मिन् शङ्खचन्दणकपिपीलिकाधान्यगृहकारकादिसङ्घट्टनपरितापापद्रावलक्षण इति, तत्र श्रमणोपासकः सङ्कल्पतो यावज्जीवयापि प्रत्याख्याति, न तु यावज्जीवयैव नियमत इति, 'नारम्भज'मिति, तस्यावश्यतयाऽऽरम्भसद्भावादिति, आह—एवं सङ्कल्पतः किमिति सूक्ष्मप्राणातिपातमपि न प्रत्याख्याति ?, उच्यते, एकेन्द्रिया हि प्रायो दुष्परिहाराः सद्मवासिनां सङ्कल्पस्यैव सचित्तपृथ्व्यादिपरिभोगात्, तत्थ पाणातिपाते कज्जमाणे के दोसा ? अकज्जंते के गुणा ?, तत्थ दोसे उदाहरणं कोंकणगो, तस्स भज्जा मया, पुत्तो य से अत्थि, तस्स दारगस्स दाइयभएण दारियं ण लभति, ताधे सो अन्नलक्खेण रमंतो

१ तत्र प्राणातिपाते क्रियमाणे के दोषाः ? अक्रियमाणे च के गुणाः ? तत्र दोषे उदाहरणं कोङ्कणकः तस्य भार्या मृता पुत्रश्च तस्य अस्ति तस्य दारकस्य दायादभयेन दारिकां न लभते तदा सोऽन्यलक्ष्येण रममाणो

विंधति। गुणे उदाहरणं सत्तवदिओ। बितियं उज्जेणीए दारगो, माउवेरिं हरितो छावगवारगो, सूतेण कीतो, सो तेण भणितो– छावगे ऊसासेहि, तेण मुक्का, पुणो भणिओ मारेहित्ति, सो णेच्छति, पच्छा पिट्ठसुमारचो, सो पिट्टिज्जंतो कूवति, पच्छा रण्णा सुतो, सद्दावेतूण पुच्छितो, ताधे साहति, रण्णावि भणिओ णेच्छति, ताधे हत्थिणा तासितो तथावि णेच्छति, पच्छा रण्णा सोसरक्खो ठवितो, अण्णता थेरा समोसढा, तेसिं अंतिए पव्वइतो। ततियं गुणे उदाहरणं–पाडलिपुत्ते नगरे जियसत्तू राया, खेमो से अमच्चो चउविधाए बुद्धीए सपण्णो समणोवासगो सावगगुणसंपण्णो, सो पुण रण्णो हितकारी अण्णेसिं दुट्ठभडभोइयाणं अप्पितो, तस्स विणासणणिमित्तं खेमसंतिए पुरिसे दाणमाणेहिं सक्कारेंति, रण्णो अभिमरए पउंजंति, गहिता य भणंति हम्ममाणा–अम्हे खेमसंगता तेण चेव खेमेण णिवत्ता, खेमो गहितो भणति–अहं सव्वसत्ताणं खेमं करेमि किं पुण रण्णो सरीरस्सत्ति ?, तथावि पच्छो आणत्तो, रण्णो य असोगवणियाए(य) अगाढा पुक्खरिणी उप्पलपउमि

1 विध्यति। गुणे उदाहरणं सप्तपदिकः। द्वितीयं उज्जयिन्यां दारकः मातृवैरेण हृतः शावकदारकः, सूतेन क्रीतः स तेन भणितः–शावकान् मारय तेन मुक्ताः पुनर्भणितो मारयेति स नेच्छति पश्चाद् पिट्टयितुमारब्धः स पिट्यमानः कूजति पश्चाद् राज्ञा श्रुतः, शब्दयित्वा पृष्टः तदा कथयति राज्ञापि भणितो नेच्छति तदा हस्तिना त्रासितः तथापि नेच्छति पश्चाद्राज्ञा शीर्षरक्षकः स्थापितः अन्यदा स्थविराः समवसृतास्तेषामन्तिके प्रव्रजितः। तृतीयमुदाहरणं गुणे–पाटलिपुत्रे नगरे जितशत्रू राजा क्षेमनामा अमात्यश्चतुर्विधया बुद्ध्या संपन्नः श्रमणोपासकः श्रावकगुणसंपन्नः स पुनः राज्ञो हितकारी अन्येषां दुष्टभटभोजिकानामप्रियः तस्य विनाशननिमित्तं क्षेमसत्कान् पुरुषान् दानसन्मानाभ्यां सत्कारयन्ति राज्ञोऽभिमारकान् प्रयुञ्जन्ति गृहीताश्च भणन्ति हन्यमानाः–वयं क्षेमसङ्गताः तेन क्षेमेण नियुक्ताः क्षेमो गृहीतो भणति अहं सर्वसत्त्वानां क्षेमं करोमि किं पुनः राज्ञः शरीरस्येति ? तथापि वध्य आज्ञप्तः राज्ञश्चाशोकवनिकायाम् अगाधा पुष्करिणी उत्पलपद्म–

अ, तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरंभओ, थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तंजहा–बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए १। (सूत्रं)॥

अस्य व्याख्या–स्थूला:–द्वीन्द्रियादय:, स्थूलत्वं चैतेषां सकललौकिकजीवत्वप्रसिद्धे:, एतदपेक्षयैकेन्द्रिया: (णां) सूक्ष्माधिगमेना(न)जीवत्वसिद्धेरिति, स्थूला एव स्थूलकास्तेषां प्राणा:–इन्द्रियादय: तेषामतिपात: स्थूलप्राणातिपात: तं श्रमणोपासक: श्रावक इत्यर्थ: प्रत्याख्याति, तस्माद् विरमत इति भावना । स च प्राणातिपातो द्विविधो भवत:, तीर्थकरगणधरैर्द्विविध: प्ररूपित इत्यर्थ:, 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थ:, संकल्पजश्चारम्भजश्च, संकल्पाज्जात: संकल्पज:, मनस: संकल्पाद् द्वीन्द्रियादिप्राणिन: मांसास्थिचर्मनखवालदन्ताद्यर्थं व्यापादयतो भवति, आरम्भाज्जात: आरम्भज:, तत्रारम्भो–हलदन्ताऽऽखननखत(खनन)प्रकारस्तस्मिन् शङ्खचन्दणकपिपीलिकाधान्यगृहकारकादिसङ्घट्टनपरितापापद्रावलक्षण इति, तत्र श्रमणोपासक: संकल्पतो यावज्जीवयापि प्रत्याख्याति, न तु यावज्जीवयैव नियमत इति, 'नारम्भज'मिति, तस्यावश्यतयाऽऽरम्भसद्भावादिति, आह– एवं संकल्पत: किमिति सूक्ष्मप्राणातिपातमपि न प्रत्याख्याति ?, उच्यते, एकेन्द्रिया हि प्रायो दुष्परिहारा: सद्मवासिना संकल्पेनैव सचित्तपृथ्व्यादिपरिभोगात्, तत्थ पाणातिपाते कज्जमाणे के दोसा ? अकज्जंते के गुणा ?, तत्थ दोसे उदाहरणं कोंकणगो, तस्स भज्जा मया, पुत्तो य से अत्थि, तस्स दारगस्स दाइयभएण दारियं ण लभति, ताहे सो अप्पलक्खेण रमंतो

१ तत्र प्राणातिपाते क्रियमाणे के दोषा: ? अक्रियमाणे च के गुणा: ? तत्र दोषे उदाहरणं कोङ्कणक: तस्य भार्या मृता पुत्रश्च तस्य अस्ति, तस्य दारकस्य दायादभयेन दारिकां न लभते तदा सोऽल्पलक्ष्येण रममाणो

विंधति। गुणे उदाहरणं सत्तवदिमो। बितियं उज्जेणीए दारगो, माळवेहिं हरितो मालवगदारगो, सूतेण कीतो, सो तेण भणितो–साउणे ऊसासेहि, तेण मुक्का, पुणो भणिओ मारेहित्ति, सो णेच्छति, पच्छा पिट्ठिउमारद्धो, सो पिट्टिज्जंतो कूयति, पच्छा रण्णा सुतो, सद्दावेतूण पुच्छितो, ताधे साहति, रण्णावि भणिओ णेच्छति, ताधे हत्थिणा तासितो तधावि णेच्छति, पच्छा रण्णा सीसरक्खो ठयितो, अण्णता थेरा समोसढा, तेसिं अंतिए पव्वइतो। ततियं गुणे उदाहरणं–पाडलिपुत्ते नगरे जियसत्तू राया, खेमो से अमच्चो चउविधाए बुद्धीए सपण्णो समणोवासगो सावगगुणसंपण्णो, सो पुण रण्णो हितत्तिकाउं अण्णेसिं दंडभडभोइयाणं अप्पितो, तस्स विणासणणिमित्तं खेमसंतिए पुरिसे दाणमाणेहिं सक्कारिंति, रण्णो अभिमरए पउंजंति, गहिता य भणंति डज्झमाणा–अम्हे खेमसंगता तेण चेव खेमेण णिउत्ता, खेमो गहितो भणति–अहं सव्वसत्ताणं खेमं करेमि किं पुण रण्णो सरीरस्सत्ति!, तथावि वज्झो आणत्तो, रण्णो य असोगवणियाए(ए) अगाहा पुक्खरिणीसंछण्णपसमि-

1 विध्यति। गुणे उदाहरणं सत्त्ववित्स्थो द्वितीयं उज्जयिन्यां दारको मालवैर्हृतो मालवकदारकः सूदेन क्रीतः स तेन भणितः–शाकुनान् मारय तेन मुक्ताः, पुनर्भणितः–मारयेति स नेच्छति पश्चात्पिट्टयितुमारब्धः स पिट्ट्यमानः कूजति पश्चाद् राज्ञा श्रुतः सद्भाविता पृष्टः तदा कथयति राज्ञापि भणितो नेच्छति तदा हस्तिना त्रासितस्तथापि नेच्छति पश्चाद्राज्ञा शीर्षरक्षकः स्थापितः अन्यदा स्थविराः समवसृतास्तेषामन्तिके प्रव्रजितः। तृतीयमुदाहरणं गुणे–पाटलिपुत्रे नगरे जितशत्रू राजा क्षेमकस्तस्य अमात्यश्चतुर्विधया बुद्ध्या संपन्नः श्रमणोपासकः श्रावकगुणसंपन्नः, स पुना राज्ञो हित इतिकृत्य अन्येषां दण्डभटभोजिकानामप्रियः तस्य विनाशननिमित्तं क्षेमसत्कान् पुरुषान् दानसम्मानाभ्यां सत्कारयन्ति राज्ञोऽभिमारकान् प्रयुञ्जन्ति गृहीताश्च भणन्ति दह्यमाना–वयं क्षेमसत्काः तेनैव क्षेमेण नियुक्ताः क्षेमो गृहीतो भणति अहं सर्वसत्त्वानां क्षेमं करोमि किं पुना राज्ञः शरीरस्येति ? तथापि वध्य आज्ञप्तः राज्ञश्चाशोकवनिकायामगाधा पुष्करिणी मंडपसमि–

धारिया दिट्ठा चोरोत्ति गहिया, परिणीया य, अण्णया य धणुक्खेण रमंति, रायाणिउ तेण पोत्तेण वाहेति, इयरा पोत्त देंति, सा विलग्गा, रण्णा सरिय, मुक्का य पव्वइया, एवं विइगुंछाफलं । परपाषंडानां—सर्वज्ञप्रणीतपाषण्डव्यतिरिक्तानां प्रशंसा प्रशंसनं प्रशंसा स्तुतिरित्यर्थः । परपाषण्डानामोघतस्त्रीणि शतानि त्रिषष्ठ्यधिकानि भवन्ति, यत उक्तम्— "असीयसयं किरियाण अकिरियवाईण होइ चुलसीती । अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाण च बत्तीस ॥ १ ॥ गाहा", इयमपि गाथा विनेयजनानुग्रहार्थं ग्रन्थान्तरप्रतिबद्धाऽपि लेशतो व्याख्यायते—'असियसयं किरियाण'त्ति अशीत्युत्तरं शतं क्रिया-वादिनां, तत्र न कर्त्तारं विना क्रिया सम्भवति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते क्रियावादिनः, ते पुनरा त्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः अनेनोपायेनाशीत्यधिकशतसङ्ख्या विज्ञेयाः, जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षा ख्यान् नव पदार्थान् विरचय्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयो रप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः, पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः, विकल्पार्थश्चाय—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः, कालवादिनः, उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्पः ईश्वरवादिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थो विकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः, एव स्वत इत्यत्यजता लब्धाः पञ्च विकल्पा, परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते, नित्यत्वा

१ दारिका दृष्टा चौर इति गृहीता परिणीता च अन्यदा च धनुःक्रीडया रमन्ते राजानं पोतेन वाहयन्ति इतरा पोतं ददति सा विलग्ना राज्ञा स्मृतं मुक्ता च प्रव्रजिता एवम् विचिकित्साफलं ।

परित्यागेन चैते दश विकल्पाः एवमनित्यत्वेनापि दशैव, एकत्र विंशतिर्जीवपदार्थेन लब्धाः, अजीवादिष्वप्यष्टस्वेवमेव प्रतिपदं विंशतिर्विकल्पानामतो विंशतिर्नवगुणा शतमशीत्युत्तरं क्रियावादिनामिति । 'अकिरियाणं च भवति चुलसीति त्ति अक्रियावादिनां च भवति चतुरशीतिर्भेदा इति, न हि कस्यचिदवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भाव एवावस्थितेरभावादित्येवं वादिनोऽक्रियावादिनः, तथा चाहुरेके—"क्षणिकाः सर्वसंस्काराः, अस्थितानां कुतः क्रिया ?। भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते ॥ १ ॥" इत्यादि, एते चात्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणा अमुनोपायेन चतुरशीतिर्द्रष्टव्याः, एतेषां हि पुण्यापुण्यवर्जितपदार्थसप्तकन्यासस्तथैव जीवस्याधः स्वपरविकल्पभेदद्वयोपन्यासः, असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यभेदौ न स्तः, कालादीनां तु पञ्चानां षष्ठी यदृच्छा न्यस्यते, पश्चाद्विकल्पमेवाभिलापः,—नास्ति जीवः स्वतः कालत इत्येको विकल्पः, एवमीश्वरादिभिरपि यदृच्छावसानैः, सर्वे च षड् विकल्पाः, तथा नास्ति जीवः परतः कालत इति षडेव विकल्पाः, एकत्र द्वादश, एवमजीवादिष्वपि षट्सु प्रतिपदं द्वादश विकल्पाः एकत्र, सप्त द्वादशगुणाश्चतुरशीतिर्विकल्पा नास्तिकानामिति । 'अण्णाणिय सत्तट्ठि'त्ति अज्ञानिकानां सप्तषष्टिर्भेदा इति, तत्र कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं तदेषामस्तीति अज्ञानिकाः, नन्वेवं लघुत्वात् प्रक्रमस्य प्राक् बहुव्रीहिणा भवितव्यं ततश्चाज्ञाना इति स्यात्, नैष दोषः, ज्ञानान्तरमेवाज्ञान मिथ्यादर्शनसहचारित्वात्, ततश्च जातिशब्दत्वाद् गौरखरवदरण्यमित्यादिवदज्ञानिकत्वमिति, अथवा अज्ञानेन चरन्ति तत्प्रयोजना वा अज्ञानिका —असञ्चिन्त्य कृतबन्धवैफल्यादिप्रतिपत्तिलक्षणाः, अमुनोपायेन सप्तषष्टिर्ज्ञातव्याः, तत्र जीवादिनवपदार्थान् पूर्ववत् व्यवस्थाप्य पर्यन्ते चोत्पत्तिमुपन्यस्याधः सप्त सदादयः उपन्यसनीयाः,

दारिया दिट्ठा चोरोत्ति गहिया, परिणीया य, अण्णया य वल्लभुक्केण रमति, रायाणिउ तेण पोत्तेण याहेंति, इयरा पोत्त देंति, सा विलग्गा, रण्णा सरिय, मुक्का य पव्वइया, एवं विउदुगुंछाफलं । परपाषण्डानां—सर्वज्ञप्रणीतपाषण्डव्यतिरिक्तानां प्रशंसा प्रशंसनं प्रशंसा स्तुतिरित्यर्थः । परपाषण्डानामोघतस्त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्यधिकानि भवन्ति, यत उक्तम्—"असीयसय किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीती । अण्णाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीस ॥१॥ गाहा", इयमपि गाथा विनेयजनानुग्रहार्थं ग्रन्थान्तरप्रतिबद्धाऽपि लेशतो व्याख्यायते—'असियसयं किरियाण'ति अशीत्युत्तरं शत क्रियावादिनां, तत्र न कर्त्तारं विना क्रिया सम्भवति तामात्मसमवायिनीं वदन्ति ये तच्छीलाश्च ते क्रियावादिनः, ते पुनरात्माद्यस्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः अनेनोपायेनाशीत्यधिकशतसङ्ख्या विज्ञेयाः, जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरापुण्यापुण्यमोक्षाख्यान् नव पदार्थान् विरच्य परिपाट्या जीवपदार्थस्याधः स्वपरभेदावुपन्यसनीयौ, तयोरधो नित्यानित्यभेदौ, तयोरप्यधः कालेश्वरात्मनियतिस्वभावभेदाः पञ्च न्यसनीयाः, पुनश्चेत्थं विकल्पाः कर्त्तव्याः—अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालत इत्येको विकल्पः, विकल्पार्थश्चाय—विद्यते खल्वयमात्मा स्वेन रूपेण नित्यश्च कालतः, कालवादिनः, उक्तेनैवाभिलापेन द्वितीयो विकल्पः ईश्वरवादिनः, तृतीयो विकल्प आत्मवादिनः 'पुरुष एवेदं सर्व'मित्यादि, नियतिवादिनश्चतुर्थो विकल्पः, पञ्चमविकल्पः स्वभाववादिनः, एवं स्वत इत्यत्यजता लब्धाः पञ्च विकल्पाः, परत इत्यनेनापि पञ्चैव लभ्यन्ते, नित्यत्वा

१ दारिका दृष्टा चौर इति गृहीता परिणीता च अन्यदा च वल्लभिकया रमन्ते राजानस्तं पोतेन वाहयन्ति, इतराः पोतं ददति सा विलग्ना राज्ञा स्मृतं

काले किथा रायगिहे गणियाए पोट्टे उववन्ना, गब्भगता चेव अरइं जणेति, गब्भपाडणेहि य न पडइ, जाया समाणी उज्झिया, सा गंधेण तं वणं वासेति, सेणिओ य तेण पएसेण निग्गच्छइ सामिणो वंदगो, सो खंधावारो तीए गंधं न सहइ, रण्णा पुच्छियं—किमेयंति, कहियं दारियाए गंधो, गंतूण दिट्ठा, भणति—एसेव पढमपुच्छत्ति, गओ सेणिओ, पुच्छियं कहियं भणइ राया—कहिं एसा पच्चणुभविस्सइ सुहं दुक्खं वा ?, सामी भणइ—एएण कालेण वेदियं, सा तव चेव भज्जा भविस्सति अग्गमहिसी, अट्ठ संवच्छराणि जाव तुज्झं रममाणस्स पुट्ठीए हंसोवडीणं काही तं जाणिज्जासि, वंदित्ता गओ, सो य अवहरिओ गंधो, कुलपुत्तएण साहरिया, संवड्ढिया जोव्वणत्था जाया, कोमुइवारे अम्मयाए समं आगया, अभओ सेणिओ (य) पच्छण्णा कोमुइवारं पेच्छंति, तीए दारियाए अंगफासेण अज्झोववण्णो णाममुद्दं दसियाए तीए बंधति, अभयस्स कहियं—णाममुद्दा हारिया, मग्गाहि, तेण मणुस्सा दारेहिं ठविया, एक्केक्कं माणुस्सं पलोएउं नीणिज्जइ, सा

---

१ काले कृत्वा राजगृहे गणिकया गर्भे लग्ना, गर्भगतैवारतिं जनयति गर्भपातनैरपि च न पतति जाता सत्युज्झिता सा गन्धेन तद्वनं वासयति श्रेणिकश्च तेन प्रदेशेन निर्गच्छति स्वामिनो वन्दनाय स स्कन्धावारस्तस्या गन्धं न सहते राज्ञा पृष्टं—किमेतदिति ? कथितं दारिकाया गन्धः गत्वा दृष्टा भणति—एषैव प्रथमपृच्छेति गतः श्रेणिकः पृष्टेऽस्ति वृत्तान्ते कथिते भणति राजा—कैषा प्रत्यनुभविष्यति सुखं दुःखं वा ? स्वामी भणति—एतेन कालेन वेदितं सा तवैव भार्या भविष्यति अग्रमहिषी अष्ट संवत्सरान् यावत्तव रममाणस्य पृष्ठे हंसोड्डीनं करिष्यति तां जानीयाः वन्दित्वा गतः स चापहृतो गन्धः कुलपुत्रकेण संहृता संवृद्धा च यौवनस्था जाता कौमुदीवासरेऽम्बया सममागता अभयः श्रेणिकश्च प्रच्छन्नौ कौमुदीवासरं प्रेक्षेते तस्या दारिकाया अङ्गस्पर्शे नाध्युपपन्नो नाममुद्रां दशायां तस्या बध्नाति अभयाय कथितं—नाममुद्रा हारिता मार्गय तेन मनुष्या द्वारि स्थापिताः एकैकं मनुष्यं प्रलोक्य निष्कास्यते, सा

पमाए घिप्पिहितित्ति, सो य भमंतो त विज्जासाहयं पेच्छइ, तेण पुच्छिओ भणति—विज्जं साहेमि, चोरो भणति—केण दिण्णा ?, सो भणति—सावगेण, चोरेण भणियं—एस दव्वं गेण्हाहि, विज्जं देहि, सो सड्ढो वितिगिच्छति—सिज्झेज्जा न वत्ति, तेण दिण्णा, चोरो चिंतेइ—सावगो कीडियाएवि पावं नेच्छइ, सच्चमेयं, सो साहिउमारद्धो, सिद्धा, इयरो सड्ढो गहिओ, तेण आगासगएण लोओ भेसिओ ताहे सो मुक्को, सड्ढावि दोवि जाया, एवं निव्वितिगिच्छेण होयव्वं, अथवा विद्वज्जुगुप्सा, विद्वांस —साधवः विदितससारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तसङ्गाः तेषां जुगुप्सा—निन्दा, तथाहि—तेऽस्नानात्, प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वात् दुर्गन्धिवपुषो भवन्ति तान् निन्दति—को दोषः स्यात् यदि प्रासुकेन वारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन् भगवन्तः ?, इयमपि न कार्या, देहस्यैव परमार्थतोऽशुचित्वात्, एत्थं उदाहरणं—एक्को सड्ढो पच्चंते वसति, तस्स धूयाविवाहे कहवि साहवो आगया, सा पिउणा, भणिया—पुत्तग ! पडिलाहेहि साहुणो, सा मंडियपसाहिया पडिलाभेति, साहूण जल्लगंधो तीए अग्घाओ, चिंतेइ—अहो अणवज्जो भट्टारगेहिं धम्मो देसिओ जइ फासुएण ण्हाएज्जा ?, को दोसो होज्जा ?, सा तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिकंता

1 प्रमादे गृहीष्यते इति स च भ्राम्यन् तं विद्यासाधकं प्रेक्षते तेन पृष्टो भणति—विद्यां साधयामि चौरो भणति—केन दत्ता ? स भणति—श्रावकेण चौरेण भणितं—इदं द्रव्यं गृहाण विद्यां देहि स श्राद्धो विचिकित्सति सिध्येद् वेति तेन दत्ता चौरश्चिन्तयति—श्रावकः कीटिकाया अपि पापं नेच्छति सत्यमेतत् न साधयितुमारब्धः सिद्धा इतरः श्राद्धो गृहीतः तेनाकाशगतेन लोको भापितः तदा स मुक्तः श्राद्धावपि द्वावपि जातौ एवं निर्विचिकित्सेन भवितव्यं । 2 अत्रोदाहरणं एकः श्राद्धः प्रत्यन्ते वसति तस्य दुहितृविवाहे कथमपि साधव आगताः सा पित्रा भणिता—पुत्रिके ! प्रतिलम्भय साधून् सा मण्डितप्रसाधिता प्रतिलम्भयति साधूनां जल्लगन्धस्तयाऽऽघ्रातः चिन्तयति—अहो अनवद्यो भट्टारकैर्धर्मो देशितः यदि प्रासुकेन स्नायात् को दोषो भवेत् ? सा तस्य स्थानस्यानालोचितप्रतिक्रान्ता

काले किआ रायगिहे गणियाए पोट्टे उववण्णा, गब्भगता चेव अरइं जणेति, गब्भपाडणेहि य न पडइ, जाया समाणी उज्झिया, सा गंधेण तं वणं वासेति, सेणिओ य तेण पएसेण निग्गच्छइ सामिणो वंदगो, सो खंधावारो तीए गंधं न सहइ, रण्णा पुच्छियं—किमेयंति, कहियं दारियाए गंधो, गंतूण दिट्ठा, भणति—एसेव पढमपुच्छत्ति, गओ सेणिओ, पुच्छ दिठ्ठपुव्वंते कहिते भणइ राया—कहिं एसा पच्चणुभविस्सइ सुहं दुक्खं वा ?, सामी भणइ—एएण कालेण वेदियं, सा चेव भज्जा भविस्सति अग्गमहिसी, अट्ठ संवच्छराणि जाव तुज्झं रममाणस्स पुट्ठीए हंसोवलीलं काही तं जाणिज्जासि, वड्ढिया गओ, सो य अवहरिओ गंधो, कुलपुत्तएण साहरिया, संवड्ढिया जोव्वणत्था जाया, कोमुइवारे मम्मयाए समं आगया, अभओ सेणिओ (य) पच्छण्णा कोमुइयारं पेच्छंति, तीए दारियाए अंगफासेण अज्झोववण्णो णाममुद्दं दसियाए तीए बंधति, अभयस्स कहियं—णाममुद्दा हारिया, मग्गाहि, तेण मणुस्सा दारेहिं ठविया, एक्केक्कं माणुस्सं पलोएउं णीणिज्जइ, सा

---

१ काले हृष्टा राजगृहे गणिकाया उदरे उत्पन्ना, गर्भगतैवारतिं जनयति गर्भपातनैरपि च न पतति जाता सत्युज्झिता सा गन्धेन तद्वनं वासयति श्रेणिकश्च तेन प्रदेशेन निर्गच्छति स्वामिनो वन्दनाय स स्कन्धावारस्तस्या गन्धं न सहते राज्ञा पृष्टं—किमेतदिति ? कथितं दारिकाया गन्धः, गत्वा दृष्टा, भणति—एषैव प्रथमपृच्छेति गतः श्रेणिकः पृष्टवान् दृष्टपूर्वे कथिते भणति राजा—क्वैषा प्रत्यनुभविष्यति सुखं दुःखं वा ? स्वामी भणति—एतेन कालेन वेदितं सा तवैव भार्या भविष्यति अग्रमहिषी अष्ट संवत्सरान् यावत् रममाणस्य पृष्ठे हंसोड्डीनं करिष्यति तां जानीयाः वर्धिता गतः स चापहृतो गन्धः। कुलपुत्रकेण संहृता संवृद्धा च यौवनस्था जाता कौमुदीवासरेऽम्बया सममागता अभयः श्रेणिकश्च प्रच्छन्नौ कौमुदीवासरं प्रेक्षेते तस्या दारिकाया अङ्गस्पर्शेन अध्युपपन्नो नाममुद्रां दशिकायां बध्नाति अभयाय कथितं—नाममुद्रा हारिता मार्गय तेन मनुष्या द्वारि स्थापिताः। एकैको मनुष्यः प्रलोक्य निष्काश्यते सा

लेहसालाओ आगया दो पुत्ता पियसि, एगो चिंतेति–पयाओ, मच्छियाओ सकाए तस्स मग्गुलो चाउ आओ, मओ य, बिइओ चिंतेइ–न मम माया मच्छिया देइ जीओ, एते दोसा। काङ्क्षणं काङ्क्षा–सुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः, तथा चोक्तं–'कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो'सा पुनर्द्विभेदा–देशकाङ्क्षा सर्वकाङ्क्षा च, देशकाङ्क्षैकदेशविषया, एकमेव सौगतं दर्शनं काङ्क्षति, चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरित्यतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति, सर्वकाङ्क्षा तु सर्वदर्शनान्यवकाङ्क्षति, अहिंसादिप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिलकणभक्षाक्षपादादिमतानीह लोके च नात्यन्तक्लेश प्रतिपादनपराण्यतः शोभनान्येवेति, अथवैहिकामुष्मिकफलानि काङ्क्षति, प्रतिषिद्धा चेयमर्हद्भिरतः प्रतिषिद्धानुष्ठानादेनां कुर्वतः सम्यक्त्वातिचारो भवति, तस्मादैकान्तिकमव्याबाधमपवर्गं विहायान्यत्र काङ्क्षा न कार्येति, एत्थोदाहरणं, राया कुमारामच्चो य आसेणावहिया अडविं पविट्ठा, छुहापरद्धा वणफलाणि खायंति, पडिनियत्ताण राया चिंतेइ, लड्डुयपूयलग मादीणि सव्वाणि खामि, आगया दोवि जणा, रण्णा सूयारा भणिया–जं लोए पयरइ तं सव्वं सव्वे रंघेहत्ति, उवट्ठवियं च रन्नो, सो राया पेच्छणयदिट्ठंतं करेइ, कप्पडिया बलिएहिं घाडिज्जइ, एवं मिट्ठस्स अवगासो होहितित्ति कणकुंडगमंडगादीणिवि

---

1 लेखशालाया आगतौ द्वौ पुत्रौ पिबतः एकश्चिन्तयति–पूता मक्षिका, सहसा तस्य वल्गुलो वातो भूतः मृतश्च द्वितीयश्चिन्तयति–न मम माता मक्षिका ददाति जीवितः एते दोषाः। 2 अत्रोदाहरणं राजा कुमारामात्यश्चाश्वेनापहृतावटवीं प्रविष्टौ क्षुधापरिगतौ वनफलानि खादतः प्रतिनिवृत्तयो राजा चिन्तयति–लड्डुकपूपादीनि सर्वाणि खादामि, आगतौ द्वावपि जनौ राज्ञा सूदा भणिताः–यल्लोके प्रचरति तत् सर्वं सर्वे रन्धयतेति उपस्थापितं च राज्ञे स राजा प्रेक्षणकदृष्टान्तं करोति कार्पटिका बलिभिर्धाट्यन्ते एवं मिष्टस्यावकाशो भविष्यतीति कणकुण्डकमण्डकादीन्यपि

कडुयाणि, तेहिं सूलेण भग्गो, अमच्चेण पमणविरेयणाणि कयाणि, सो भामागी भोगाण जाओ, इयरो विणट्ठो। विकित्सा मतिविभ्रमा, युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोहः, किमस्य महतस्तपःक्लेशायासस्य सिकताकणकवलनादेरायत्यां मम फलसम्पद् भविष्यति किं वा नेति, उभयथेह क्रियाः फलवत्यो निष्फलाश्च दृश्यन्ते कृषीवलानां, न चेयं शङ्कातो न भिद्यते इत्याशङ्कनीयं, शङ्का हि सकलासकलपदार्थभाक्त्वेन द्रव्यगुणविषया इयं तु क्रियाविषयैव, तत्त्वतस्तु सर्व एते प्रायो मिथ्यात्वमोहनीयोदयतो भवन्तो जीवपरिणामविशेषाः सम्यक्त्वातिचारा उच्यन्ते, न सूक्ष्मेक्षिकाऽत्र कार्येति, इयमपि न कार्या, यतः सर्वज्ञोक्तकुशलानुष्ठानाद् भवत्येव फलप्राप्तिरिति, अत्र चौरोदाहरणं–सावगो नंदीसरवरगमण दिव्वगंधाणं(तं) दयसंपरिमेण मित्तस्स पुच्छणं विज्जाए दाणं साहणं मसाणे चउप्पायं सिक्कगं, हेट्ठा इंगाला खायरो य सूलो, अट्ठसयं वारा परिजवित्ता पाओ सिक्कगस्स छिज्जइ एवं बितिओ तइए चउत्थे य छिण्णे आगासेणं वच्चति, तेण विज्जा गहिया, किण्हचउद्दसिरत्तिं साहेइ मसाणे, चोरो य नगरारक्खियएहिं परिरब्भमाणो तत्थेव अतियओ, ताहे वेढेउं सुसाणे ठिया

1 व्यारिनादि, मैः शूलेन भग्नः अमात्येन वमनविरेचनानि कृतानि स भोगानामाभागी जातः इतरो विनष्टः। २ चौरोदाहरणं श्रावको नन्दीश्वरगमनं दैवगन्धैः दिव्यगन्धाः मित्रस्य पृच्छा विद्याया दानं साधनं श्मशाने चतुष्पादं शिक्यकमधस्तात् अङ्गाराः खादिरश्च शूलः अष्टशतं वारान् परिजप्य पादः शिक्यकस्य छेदने एवं द्वितीयः तृतीयो चतुर्थे च छिन्ने आकाशेन गच्छति तेन विद्या गृहीता कृष्णचतुर्दशीरात्रौ साधयति श्मशाने चौरश्च नगरारक्षकैः परिरभ्यमाणस्तत्रैवातिगतः वेष्टयित्वा श्मशानं (ते) स्थिताः

लेहसालाओ आगया दो पुत्ता पियंति, एगो चिंतेति—एयाओ, मच्छियाओ संकाए तस्स वग्गुलो वाव जाओ, मओ य, बिइओ चिंतेइ—न मम माया मच्छिया देइ जीओ, एते दोसा। काङ्क्षणं काङ्क्षा—सुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः, तथा चोक्तं—'कंखा अन्नन्नदंसणग्गाहो'सा पुनर्द्विभेदा—देशकाङ्क्षा सर्वकाङ्क्षा च, देशकाङ्क्षैकदेशविषया, एकमेव सौगतं दर्शनं काङ्क्षति, चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरित्यतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति, सर्वकाङ्क्षा तु सर्वदर्शनान्येव काङ्क्षति, अहिंसादिप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिलकणभक्षाक्षपादादिमतानीह लोके च नात्यन्तक्लेश प्रतिपादनपराण्यतः शोभनान्येवेति, अथवैहिकामुष्मिकफलानि काङ्क्षति, प्रतिषिद्धा चेयमर्हद्भिरतः प्रतिषिद्धानुष्ठानादेनां कुर्वतः सम्यक्त्वातिचारो भवति, तस्मादैकान्तिकमव्याबाधमपवर्गं विहायान्यत्र काङ्क्षा न कार्येति, एत्थोदाहरणं, राया कुमारामच्चो य आसेणावहिया अडविं पविट्ठा, छुहापरद्धा वणफलाणि खायंति, पडिनियत्ताण राया चिंतेइ, लड्डुयपूयलग मादीणि सव्वाणि खामि, आगया दोवि जणा, रण्णा सूयारा भणिया—जं लोए पयरइ तं सव्वं सव्वे रंधेहत्ति, उवट्ठवियं च रण्णो, सो राया पेच्छणयदिट्ठंतं करेइ, कप्पडिया बलिएहिं घाडिज्जइ, एवं मिट्ठस्स अवगासो होहितित्ति कणकुंडगमंडगादीणिवि

1 लेखशालाया आगतौ द्वौ पुत्रौ पिबतः। एकश्चिन्तयति—एता मक्षिकाः शङ्कया तस्य वल्गुलो जातो मृतश्च द्वितीयश्चिन्तयति—न मह्यं माता मक्षिका ददाति जीविता एते दोषाः। 2 अत्रोदाहरणं राजा कुमारामात्यश्चाश्वेनापहृतावटवीं प्रविष्टौ क्षुधापरिगतौ वनफलानि खादतः, प्रतिनिवृत्तो राजा चिन्तयति—लड्डुकापूपादीनि सर्वाणि खादामि, आगतौ द्वावपि जनौ राज्ञा सूदा भणिताः—यल्लोके प्रचरति तत् सर्वं सर्वे राध्यतेति उपस्थापितं च राज्ञे स राजा प्रेक्षणकदृष्टान्तं करोति, कार्पटिका बलिभिर्बाध्यन्ते एवं मिष्टस्यावकाशो भविष्यतीति कणकुण्डकमण्डकादीन्यपि

णामविशेषा इत्यर्थः, ये सम्यक्त्वमतिचरन्ति, ज्ञातव्याः ज्ञपरिज्ञया न समाचरितव्याः, नासेव्या इति भावार्थः । 'तद्यथे'-त्युदाहरणप्रदर्शनार्थः, शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा परपाषण्डप्रशंसा परपाषण्डसंस्तवश्चेति, तत्र शङ्कनं शङ्का, भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः, किमेवं स्यात् नैवमिति, संशयकरणं शङ्का, सा पुनर्द्विभेदा-देशशङ्का सर्वशङ्का च, देशशङ्का देशविषया, यथा किमयमात्माऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः स्यादथ निष्प्रदेशो निरवयवः स्यादिति, सर्वशङ्का पुनः सकलास्तिकायजात एव किमेवं नैवं स्यादिति । मिथ्यादर्शनं च त्रिविधम्-अभिगृहीतानभिगृहीतसंशयभेदात्, तत्र संशयो मिथ्यात्वमेव, यदाह-"पयमक्खरं च एक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं । सेसं रोयंतोवि हु मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १ ॥" तथा-"सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाज्ञा च(जिनाभिहितं) ॥२॥ एकस्मिन्नप्यर्थे सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः । मिथ्यात्वदर्शनं तत्प्रथमादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥ ३॥ " तस्मात् मुमुक्षुणा व्यपगतशङ्केन सता जिनवचनं सत्यमेव सामान्यतः प्रतिपत्तव्यं, संशयास्पदमपि सत्ये, सर्वज्ञाभिहितत्वात्, तदन्यपदार्थवत्, मतिदौर्बल्यादिदोषात्तु कार्त्स्न्येन सकलपदार्थस्वभावावधारणमशक्यं छद्मस्थेन, यदाह-"न हि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥ १ ॥" इह चोदाहरणं-जो सङ्कं करेइ सो विणस्सति, जहा सो पेज्जायओ, पेज्जाए मासा जे परिभुज्जमाणा ते छूढा, अंधगारए

---

1 पदमक्षरं चैकं यो न रोचयति सूत्रनिर्दिष्टम् । शेषं रोचयन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ २ यः शङ्कां करोति स विनश्यति यथा स पेयापायी, पेयायां माषा ये परिभुज्यमानास्ते क्षिप्ताः अन्धकारे

सो धीवरेहिं वेढिओ तेहिं अणुकंपाए, सो भट्टारगाणं नमोक्कारं करेंतो कालगओ देवो
अण्णया तस्स पोट्टसरणी आया, सो धीवरेहिं वेढिओ तेहिं अणुकंपाए, सो भट्टारगाणं नमोक्कारं करेंतो कालगओ देवो
वेमाणिओ जाओ, ओहिणा तच्चणियसरीरं पेच्छइ, ताहे समूसणेण हत्थेण परिवेसेति, सड्ढाण ओहावणा, आयरियाण
आगमणं, कहणं च, तेहिं भणियं—जाह अगहत्थं गिण्हिऊण भणह—नमो अरहंताणंति, बुज्झ गुज्झगा २, तहिं गंतूण
भणिओ संबुद्धो वंदित्ता लोगस्स कहेइ—जहा नत्थि एत्थ धम्मो तम्हा परिहरेज्जा ॥

अत्राह—इह पुनः को दोषः स्याद् येनेत्थं तेषामशनादिप्रतिषेध इति?, उच्यते, तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं, धर्मबुद्ध्या ददतः सम्यक्त्वलाञ्छना, तथा आरम्भादिदोषश्च, करुणागोचरं पुनरापन्नानामनुकम्पया दद्यादपि, यदुक्तं—"सव्वेहिंपि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं। सत्ताणुकंपणट्ठा दाणं न कहिंचि पडिसिद्धं ॥ १ ॥" तथा च भगवन्तस्तीर्थकरा अपि त्रिभुवनैकनाथाः प्रविव्रजिषवः सांवत्सरिकमनुकम्पया प्रयच्छन्त्येव दानमित्यलं विस्तरेण। प्रकृतमुच्यते—'संमत्तस्स समणोवासएण'मित्यादि सूत्रं, अस्य व्याख्या 'सम्यक्त्वस्य' प्राग्निरूपितस्वरूपस्य श्रमणोपासकेन—श्रावकेण 'एते' परि
वक्ष्यमाणलक्षणाः अथवाऽमी ये प्रकान्ताः पञ्चेति संख्यावाचकः अतिचारा मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयादात्मनोऽशुभाः परि

१ अन्यदा तस्यातीसारो जातः स धीवरैर्वेष्टितस्तैरनुकम्पया स भट्टारकेभ्यो नमस्कारं कुर्वन् कालगतो देवो वैमानिको जातः अवधिना तच्छरीरं
प्रेक्षते तदा समूसणेन हस्तेन परिवेषयति श्राद्धानामपभ्राजना आचार्याणामागमनं कथनं च तैर्भणितं—यात अग्रहस्तं गृहीत्वा भणत—नमोऽर्हद्भ्य इति बुध्यस्व
गुह्यक! २ तैर्गत्वा भणितः संबुद्धो वंदित्वा लोकाय कथयति—यथा नास्त्यत्र धर्मस्तस्मात्परिहरेत ॥ १ ॥ सर्वैरपि जिनैर्जितदुर्जयरागद्वेषमोहैः। सत्त्वानुकम्पार्थं
दानं न कुत्रापि प्रतिषिद्धम् ॥ १ ॥

णाम विसेषा इत्यर्थाः, यैः सम्यक्त्वमतिचरति, ज्ञातव्याः ज्ञपरिज्ञया न समाचरितव्याः, नासेव्या इति भावार्थः । 'तद्यथे'–त्युदाहरणप्रदर्शनार्था, शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा परपाषण्डप्रशंसा परपाषण्डसंस्तवश्चेति, तत्र शङ्कनं शङ्का, भगवदर्हत्प्रणीतेषु पदार्थेषु धर्मास्तिकायादिष्वत्यन्तगहनेषु मतिदौर्बल्यात् सम्यगनवधार्यमाणेषु संशय इत्यर्थः, किमेवं स्यात् नैव–मिति, संशयकरणं शङ्का, सा पुनर्द्विभेदा–देशशङ्का सर्वशङ्का च, देशशङ्का देशविषया, यथा किमयमात्माऽसङ्ख्येयप्रदे–शात्मकः स्यादथ निष्प्रदेशो निरवयवः स्यादिति, सर्वशङ्का पुनः सकलास्तिकायजात एव किमेवं नैवं स्यादिति । मिथ्यादर्शनं च त्रिविधम्–अभिगृहीतानभिगृहीतसंशयभेदात्, तत्र संशयो मिथ्यात्वमेव, यदाह–"पयमक्खरं च एक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं । सेसं रोयंतोवि हु मिच्छद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १ ॥" तथा–"सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाज्ञा च (जिनाभिहितं) ॥१॥ एकस्मिन्नप्यर्थे सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति हि नष्टः । मिथ्यात्वदर्शनं तत्प्रभवादिहेतुर्भवगतीनाम् ॥ २ ॥" तस्मात् मुमुक्षुणा व्यपगतशङ्केन सता जिनवचनं सत्यमेव सामान्यतः प्रतिपत्तव्यं, संशया–स्पदमपि गत्वे, सर्वज्ञाभिहितत्वात्, तदन्यपदार्थवत्, मतिदौर्बल्यादिदोषात्तु कार्त्स्न्येन सकलपदार्थस्वभावावधारणमशक्यं छद्मस्थेन, यदाह–"न हि नामानाभोगश्छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । ज्ञानावरणीयं हि ज्ञानावरणप्रकृति कर्म ॥ १ ॥" इह चोदाहरणं–जो मऊ करेइ सो विणस्सति, जहा सो पेज्जायओ, पेज्जाए मासा जे परिभज्जमाणा ते छुढा, अंधगारए

1 पदमक्षरं चैक वा च रोचते सूत्रनिर्दिष्टम् । शेषं रोचयन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ १ ॥ २ यः शङ्कां करोति स विनश्यति यथा स पेयापायी पेयायां माषा ये परिभज्यमानास्ते क्षिप्ता अन्धकारे

घायाइ पिंविअइ—तस्य थूलगमुसावायं थूलगअदत्तादाण पच्चक्खाति दुविहं तिविहेणं १ थूलगमुसावाय दुविहं तिविहेण अदत्तादाणं पुण दुविहं दुविहेण २ एवं एयकमेण छब्भगा नायव्वा, एय मेहुणपरिग्गहेसु पत्तेय पत्तेयं छ २, सव्वेवि मिलिया अट्ठारस, एते मुसावायं पढमघरगसमुच्चमाणेण लद्धा १८, एवं बीयादिघरेसुवि पत्तेय

इयाणिं सब्भावसावओ, सावओ साहू पुच्छइ, तेहिं कहियं, ताहे दिण्णा धूया, सो सावओ धुयगे घरं करेइ, अण्णया तस्स मायापियरो भत्तं भिक्खुगाण करेंति, ताइं भणंति–अज्ज एक्कसिं पजाहि, सो गओ, भिक्खुएहिं विज्जाए मंतिऊण फलं दिण्णं, ताए पाणमंतीरए अहिट्ठिओ घरं गओ स सावयधूय भणइ–भिक्खुगाणं भत्तं देओ, सा नेच्छइ, दासाणि सयणो य आरद्धो सज्जेउं, साविया आयरियाण गंतुं कहेति, तेहिं जोगपडिभेओ दिण्णो, सो से पाणिएण दिण्णो, सा पाणमंतरी नट्ठा, साभाविओ जाओ पुच्छइ कहं वत्ति ?, कहिए पडिसेहेति, अण्णे भणंति–तीए मयणभिंजाए यमायिओ, सो तो साभाविओ जाओ, भणइ–अम्मापिउछंदेण मणा विराहिउत्ति, तं फिर फासुगं साहूणं दिण्णं, एरिसा केत्तिया आयरिया होहिंति तम्हा परिहरेज्जा। विच्छीकंतारेणं देज्जा, सोरट्ठो सड्ढओ उज्जेणिं पवाइ दुक्काले तच्चण्णिएहिं सम, तस्स परययणं, खीणं भिक्खुएहिं भण्णइ–अम्हएहिं वहाहि परययणं तो दुब्भवि दिज्जिहिति, तेण पडिवण्णं,

---

1 इदानीं सद्भावश्रावकः, श्रावकः साधून् पृच्छति तैः कथितं तदा दत्ता दुहिता स श्रावकः पुत्रगृहं करोति अन्यदा तस्य मातापितरौ भक्तं भिक्षुकाणां कुरुतः तौ भणतः अद्य एकस्मिन् आगच्छ, स गतः भिक्षुकैर्विद्यया मन्त्रयित्वा फलं दत्तं तया पानमन्त्र्याभिष्ठितो गृहं गतः तां श्रावकदुहितरं भणति–भिक्षुकेभ्यो भक्तं देहि सा नेच्छति, दासाः स्वजनश्च आरब्धाः सज्जयितुं श्राविकाऽऽचार्यान् गत्वा कथयति तैः योगप्रतिभेदो दत्तः स तस्यै पानीयेन दत्तः सा पानमन्त्री नष्टा स्वाभाविको जातः पृच्छति–कथं वेति? कथिते प्रतिषेधयति अन्ये भणन्ति–तया मदनबीजेन भावितः स तदा स्वाभाविको जातो भणति–मातापितृच्छन्देन मनाक् विराद्धः इति तच्च प्रासुकं साधुभ्यो दत्तं ईदृशाः कियन्त आचार्या भविष्यन्ति तस्मात् परिहरेत्। वृश्चिककान्तारेण दद्यात्, सौराष्ट्रः श्रावक उज्जयिन्यां याति दुष्काले तच्चणिकैः सम, तस्य पर्यटनं क्षीणं भिक्षुकैर्भण्यते–अस्मदीयं वह पर्यटनं तर्हि युष्मभ्यमपि दीयते इति तेन प्रतिपन्नं

सकेणाइओ पच्छा ठिओ, एवं रायाभिओगेण देंतो नाइक्कमति, केत्तिया एयारिसया होहिंति जे पवइस्सति, तम्हा न दायव्वो । गणाभिओगेण वरुणो रहमुसले निउत्तो, एव कोऽवि सावगो गणाभिओगेण भत्तं दवाविज्जा दिंतोवि सो नाइचरइ धम्मं, बलाभिओगोवि एमेव, देवयाभिओगेण जहा एगो गिहत्थो सावओ जाओ, तेण वाणमंतराणि चिरपरिचियाणि उज्झियाणि, एगा तत्थ वाणमंतरी पओसमावण्णा, गावीरक्खगो पुत्तो तीए वाणमंतरीए गावीहिं सम अवहरिओ, ताहे चइण्णा साहइ तज्जंती—किं मम उज्झसि न वत्ति ?, सावगो भणइ, नवरि मा मम धम्मविराहणा भवतु, सा भणइ—मम अच्चेहि, सो भणइ—जिणपडिमाणं अवसाणे ठाहि, आमं ठामि, तेण ठविया, ताहे दारगो गावीओ आणीयाओ, एरिसा केत्तिया होहिंति तम्हा न दायव्वं, दवाविज्जंतो णातिचरति । गुरुनिग्गहेण भिक्खुउवासगपुत्तो सावग धूयं मग्गति, ताणि न देंति, सो कवडसड्डत्तणेण साधू सेवेति, तस्स भावओ उवगयं, पच्छा साहेइ—एएण कारणेण पुव्वि ढुक्कोमि,

---

१ साकेतागतः पश्चात् स्थितः पूर्वं राजाभियोगेन ददद् नातिक्रामति कियन्त एतादृशो भविष्यन्ति ये प्रव्रजिष्यन्ति तस्मात् दातव्यः । गणाभियोगेन वरुणो रथमुसले नियुक्तः एवं कोऽपि श्रावको गणाभियोगेन भक्तं दाप्यते ददद्पि स नातिचरति धर्मं । बलाभियोगोऽप्येवमेव । देवताभियोगेन यथैको गृहस्थः श्रावको जातः तेन व्यन्तराणि चिरपरिचितानि उज्झितानि । एका तत्र व्यन्तरी प्रद्वेषमापन्ना गोरक्षकः पुत्रस्तया व्यन्तर्या गोभिः सममपहृतः, तदाऽवतीर्णा कथयति तर्जयन्ती—किं मामुज्झसि न वेत्सि ? श्रावको भणति—नवरं मा मे धर्मविराधना भूत् सा भणति—मामर्चय स भणति—जिनप्रतिमानां पार्श्वे तिष्ठ ओं तिष्ठामि तेन स्थापिता दारको गावश्च तदानीताः । ईदृशाः कियन्तो भविष्यन्ति तस्मात् दातव्यं दाप्यमानो नातिचरति । गुरुनिग्रहेण भिक्षुकोपासकपुत्रः श्रावकं दुहितरं याचते न तौ दत्तः । स कपटश्राद्धतया साधून् सेवते तस्य भावेनोपगतं पश्चात् कथयति—एतेन कारणेन पूर्वमागतोऽस्मि

इयाणिं सव्वावसावओ, सावओ साहू पुच्छइ, तेहिं कहियं, ताहे दिण्णा धूया, सो सावओ जुयगं घरं करेइ, अण्णया तस्स मायापियरो भत्तं भिक्खुगाण करेंति, ताइं भणंति—अज्ज एक्कसिं वच्चाहि, सो गओ, भिक्खुएहिं पिज्जाए मंतिऊण फलं दिण्णं, ताए पाणमंतीरए अहिट्ठिओ घरं गओ तं सायय पूय भणइ—भिक्खुगाणं भत्तं देमो, सा नेच्छइ, वासा वि पाणमसरी नट्ठा, सामायिओ जाओ पुच्छइ कहं धत्ति !, कहिए पडिसेहेति, अण्णे भणंति—तीए मयणमिंजाए परिमा केसिया आयरिया होहिंति तम्हा परिहरेज्जा। विधीकंतारेणं देज्जा, सोरट्ठो सड्ढओ उज्जेणिं वच्चइ दुक्काले सचणिय-एहिं समं, तस्स पत्थयण, खीणं भिक्खुएहिं भण्णइ—अम्हएहिं वहाहि पत्थयणं सो तुम्हावि विखिहिति, तेण परिवण्णं,

1 इदानीं मद्यापरावक श्रावकः साधून् पृच्छति तैः कथितं तदा दत्ता दुहिता स श्रावकः पृथग्गृहं करोति अन्यदा तस्य मातापितरौ भक्तं भिक्षुकाणां कुरुतः तौ भणतः अद्यैकदा आगच्छ स गतः, भिक्षुकैर्विद्यया मन्त्रयित्वा फलं दत्तं तया मन्त्रयोऽधिष्ठितो गृहं गतः तां श्रावकदुहितरं भणति—भिक्षुकेभ्यो भक्तं दद्मः, सा नेच्छति यावत् मन्त्रवशा व्याप्ता सामायिकमुपावेश् गता कथयति तैः योगप्रतिभेदो दत्तः स तस्मै पानीयेन दत्तः सा व्यन्तरी नष्टा सामायिको जातः पृच्छति—कथं वेत्ति ? कथिते प्रतिषेधति अन्ये भणन्ति—तया मदनबीजेन वमितः स तदा सामायिको जातो भणति—मातापितृ-प्रयोगेण मयाऽपि निर्वासिता इति, ईदृशा मादृशा साधवो एवं ईदृशाः कियन्त आचार्या भविष्यन्ति तस्मात् परिहरेत्। दुर्भिक्षकान्तारेण दद्यात् सौराष्ट्रः श्रावक उज्जयिनीं व्रजति दुष्काले तच्चनिकैः समं, तस्य शम्बलं क्षीणं, भिक्षुकैर्भण्यते—अस्माभिः सह शम्बलं तर्हि युष्माकमपि दीयते इति तेन प्रतिपन्नं

संकेणाहओ पच्छा ठिओ, एव रायाभिओगेण देंतो णाइक्कमति, केत्तिया एयारिसया होहिंति जे पवइस्सति, तम्हा न दायव्वो। गणाभिओगेण वरुणो रहमुसले निउत्तो एव कोऽवि सावगो गणाभिओगेन भत्त दवाविज्जा दिंतोवि सो णाइचरइ धम्मं, बलाभिओगोवि एमेव देवयाभिओगेण जहा एगो गिहत्थो सावओ जाओ, तेण वाणमंतराणि चिरपरिचियाणि उज्झियाणि, एगा तत्थ वाणमंतरी पओसमावण्णा, गावीरक्खगो पुत्तो तीए वाणमंतरीए गावीहिं समं अवहरिओ, ताहे तइण्णा साहइ तज्जती–किं मम वन्दसि न व त्ति ?, सावगो भणइ, नवरि मा मम धम्मविराहणा भवउ, सा भणइ–मम अच्चेहि, सो भणइ–जिणपडिमाए अवसाणे ठाहि, आम ठामि, तेण ठविया ताहे दारगो गावीओ आणीयाओ, एरिसा केत्तिया होहिंति तम्हा न दायव्व, दवाविज्जतो णातिचरति। गुरुनिग्गहेण भिक्खुउवासगपुत्तो सावगं भूयं मग्गति, ताणि न देंति, सो कवडसड्ढत्तणेण साधू सेवेति, तस्स भावओ उवगयं, पच्छा साहइ–एएण कारणेण पुव्विं ढुक्कोमि,

---

१ शक्रेणाहतः पश्चात् स्थितः एवं राजाभियोगेन ददत् नातिक्रामति कियन्त एतादृशा भविष्यन्ति ये प्रव्रजिष्यन्ति तस्मान्न दातव्यः। गणाभियोगेन वरुणो रथमुसले नियुक्तः एवं कोऽपि श्रावको गणाभियोगेन भक्तं दाप्यते ददद्अपि स नातिचरति धर्मं। बलाभियोगोऽप्येवमेव। देवताभियोगेन यथा एको गृहस्थः श्रावको जातः तेन व्यन्तराणि चिरपरिचितानि त्यक्तानि एका तत्र व्यन्तरी प्रद्वेषमापन्ना गोरक्षकः पुत्रस्तया व्यन्तर्या गोभिः सममपहृतः तदा तर्जयन्ती कथयति–किं मामर्चयसि न वेति ? श्रावको भणति–नवरं मा मे धर्मविराधना भूत् सा भणति–मामर्चय स भणति–जिनप्रतिमाया अवसाने तिष्ठ ओं तिष्ठामि तेन स्थापिता दारको गावश्चानीताः। ईदृशाः कियन्तो भविष्यन्ति तस्मान्न दातव्यं दाप्यमानो नातिचरति। गुरुनिग्रहेण भिक्षुकोपासकपुत्रः श्रावकं भूतं याचते ते न ददति, स कपटश्रावकतया साधून् सेवते तस्य भावेनोपगतं पश्चात् कथयति–एतेन कारणेन पूर्वं ढौकितोऽस्मि

इयाणिं सब्भावसावओ, सावओ साहू पुच्छइ, तेहिं कहियं, ताहे दिण्णा धूया, सो सावओ कुपणं घरं करेइ, अण्णया तस्स मायापियरो भत्तं भिक्खुगाण करेंति, ताइं भणंति—अज्ज एक्कसिं वच्चाहि, सो गओ, भिक्खुएहिं विज्जाए मंतिऊण फलं दिण्णं, ताए पाणमंतीरए अहिट्ठिओ घरं गओ तं सावयधूय भणइ—भिक्खुगाणं भत्तं देमो, सा नेच्छइ, दासाणि सयणो य आरद्धो सज्जेउं, साविया आयरियाण गंतुं कहेति, तेहिं जोगपडिभेओ दिण्णो, सो से पाणिएण दिण्णो, सा पाणमंतरी नट्ठा, साभाविओ जाओ पुच्छइ कहं वत्ति ?, कहिए पडिसेहेति, अण्णे भणंति—तीए मयणमिंसाए धमाविओ, सो तो साभाविओ जाओ, भणइ—अम्मापिउछंदेण मया विवंचिउत्ति, तं किर फासुगं साहूणं दिण्णं, एरिसा केत्तिया आयरिया होहिंति तम्हा परिहरेज्जा । वित्तीकंतारेणं देज्जा, सोरट्ठो सड्ढओ उज्जेणिं वच्चइ दुक्काले तच्चण्णिएहिं समं, तस्स पत्थयणं, खीणं भिक्खुएहिं भण्णइ—अम्हएहिं वहाहि पत्थयणं तो दुक्खवि दिज्जिहिति, तेण पडिवण्णं,

---

1 इदानीं सद्भावश्रावकः श्रावकः साधून् पृच्छति तैः कथितं तदा दत्ता दुहिता स श्रावकः कुप्रणयं करोति अन्यदा तस्य मातापितरौ भक्तं भिक्षुकाणां कुरुतः तौ भणतः—अद्यैकशः आगच्छ, स गतः भिक्षुभिर्विद्यया मन्त्रयित्वा फलं दत्तं तया प्राणमन्त्र्याऽधिष्ठितो गृहं गतः तां श्रावकसुतां भणति—भिक्षुकेभ्यो भक्तं दद्मः सा नेच्छति, दासाः स्वजनश्च आरब्धाः सज्जयितुं, श्राविकाऽऽचार्यान् गत्वा कथयति तैः योगप्रतिभेदो दत्तः स तस्मै पानीयेन दत्तः सा व्यन्तरी नष्टा स्वाभाविको जातः पृच्छति—कथं वेति? कथिते प्रतिषेधयति अन्ये भणन्ति—तया मदनबीजेन धमितः स ततः स्वाभाविको जातो भणति—मातापितृच्छन्देन मया विवञ्चित इति तदिदं प्रासुकं साधुभ्यो दत्तं, ईदृशाः कियन्त आचार्या भविष्यन्ति तस्मात् परिहरेत्। वृत्तिकान्तारेण दद्यात्, सौराष्ट्रः श्रावकः उज्जयिनीं व्रजति दुष्काले तच्चनिकैः समं तस्य पाथेयं क्षीणं भिक्षुकैर्भण्यते—अस्माकीनं वह पाथेयं ततः दुःखमपि दीयते इति तेन प्रतिपन्नं

सक्केणाहओ पच्छा ठिओ, एवं रायाभिओगेण देंतो नाइक्कमति, केत्तिया एयारिसया होहिंति जे पयट्टिस्सति, तम्हा न दायव्वो। गणाभिओगेण वरुणो रहमुसले निउत्तो, एवं कोऽवि सावगो गणाभिओगेण भत्त दयाविज्जा दिंतोवि सो नाइचरइ धम्मं, बलाभिओगोवि एमेव, देवयाभिओगेण जहा एगो गिहत्थो सावओ जाओ, तेण वाणमंतराणि चिरपरिचियाणि वज्जियाणि, एगा तत्थ वाणमंतरी पओसमावण्णा, गावीरक्खगो पुत्तो तीए वाणमंतरीए गावीहिं समं अवहरिओ, ताहे तइण्णा साहइ तज्जंती—किं मम उज्झसि न वत्ति ?, सावगो भणइ, नवरि मा मम धम्मविराहणा भवतु, सा भणइ—मम अच्चेहि, सो भणइ—जिणपडिमाए अवसाणे ठाहि, आम ठामि, तेण ठविया, ताहे दारगो गावीओ आणीयाओ, एरिसा केत्तिया होहिंति तम्हा न दायव्वं, दवाविज्जंतो णातिचरति। गुरुनिग्गहेण भिक्खुउवासगपुत्तो सावगं धूयं मग्गति, ताणि न देंति, सो कवडसड्ढत्तणेण साधू सेवेति, तस्स भावओ उवगयं, पच्छा साहेइ—एएण कारणेण पुव्विं कुकोमि,

1 सक्रेणाहतः पश्चात् स्थितः एवं राजाभियोगेन ददत् नातिक्रामति कियन्त एतादृशो भविष्यन्ति ये प्रवर्तिष्यन्ति तस्मान्न दातव्यः। गणाभियोगेन वरुणो रथमुशले नियुक्तः एवं कोऽपि श्रावको गणाभियोगेन भक्तं दाप्यते ददपि स नातिचरति धर्मं। बलाभियोगोऽप्येवमेव। देवताभियोगेन यथैको गृहस्थः श्रावको जातः तेन व्यन्तराश्चिरपरिचिता वर्जिताः एका तत्र व्यन्तरी प्रद्वेषमापन्ना गोरक्षकः पुत्रस्तस्य (व्यन्तर्या) गोभिः सममपहृतः तदाऽवतीर्णा कथयति तर्जयन्ती—किं मामुज्झसि न वेति ? श्रावको भणति—नवरं मा मे धर्मविराधना भूत् सा भणति—मामर्चय स भणति—जिनप्रतिमायाः पार्श्वे तिष्ठ, ओं तिष्ठामि तेन स्थापिता दारको गावश्च आनीताः ईदृशाः कियन्तो भविष्यन्ति तस्मान्न दातव्यं दाप्यमानो नातिचरति। गुरुनिग्रहेण भिक्षूपासकपुत्रः श्रावकं दुहितरं याचते न तौ दत्तः स कपटश्रावकतया साधून् सेवते तस्य भावेनोपगतं पश्चात् कथयति—एतेन कारणेन पूर्वमागतोऽस्मि

तं सव्वलोगो आढाति, कत्तिओ नाढाति, ताहे से सो गेरुओ पओसमावण्णो छिद्दाणि मग्गति, अण्णया रायाए निमंतिओ पारणए नेच्छति, बहुसो २ राया निमंतेइ ताहे भणइ—जइ नवरं मम कत्तिओ परिवेसेइ तो नवरं जेमेमि, राया भणइ—एवं करेमि, राया समणूसो कत्तियस्स घरं गओ, कत्तिओ भणइ—संदिसह, राया भणति—गेरुयस्स परिवेसेहि, कत्तिओ भणति—न वट्टइ अम्हं, तुम्ह विसयवासित्ति करेमि, चिंतेइ—जइ पव्वइओ होंतो न एवं भवंतं, पच्छा तेण परिवेसियं, सो परिवेसेज्जंतो अंगुलिं चालेति, किह ते?, पच्छा कत्तिओ तेण निव्वेएण पव्वइओ नेगमसहस्सपरिवारो मुणिसुव्वयसमीवे, बारसंगाणि पढिओ, बारस वरिसाणि परियाओ, सोहम्मे कप्पे सक्को जाओ, सो परिव्वायओ तेणा भिओगेण आभिओगिओ एरावणो जाओ, पेच्छिय सक्क पलाओ गहिउ सक्को विलग्गो, दो सीसाणि करेति, सक्कोवि दो जाया, एवं जावइयाणि सीसाणि विउव्वति तावतियाणि सक्को विउव्वति सक्करूवाणि, ताहे नासिउमारद्धो,

---

१ तं सर्वलोक आद्रियते कार्तिको नाद्रियते तदा तस्मै स गैरिकः प्रद्वेषमापन्नश्छिद्राणि मार्गयति अन्यदा राज्ञा निमन्त्रितः पारणके नेच्छति बहुशो २ राजा निमन्त्रयति तदा भणति—यदि परं कार्तिको मां परिवेषयति तर्हि नवरं जेमामि राजा भणति—एवं करोमि राजा समनुष्यः कार्तिकस्य गृहं गतः कार्तिको भणति—संदिश राजा भणति—गैरिकं परिवेषय, कार्तिको भणति—न वर्तते अस्माकं युष्माकं विषयवासीति करोमि चिन्तयति—यदि प्रव्रजितोऽभविष्यं नैवमभविष्यत् पश्चात्तेन परिवेषितं स परिवेष्यमाणोऽङ्गुलिं चालयति कथं त्वम्? पश्चात् कार्तिकस्तेन निर्वेदेन प्रव्रजितो नैगमसहस्रपरिवारो मुनिसुव्रतसमीपे द्वादशाङ्गानि पठितः द्वादश वर्षाणि पर्यायः सौधर्मे कल्पे शक्रो जातः, स परिव्राट् तेनाभियोगेनाभियोगिक ऐरावणो जातः दृष्ट्वा च शक्रं पलायितः गृहीत्वा शक्रो विलग्नः द्वे शीर्षे कृते शक्रोऽपि द्वौ जातौ एवं यावन्ति शीर्षाणि विकुर्वति तावन्ति शक्ररूपाणि विकुर्वति शक्रः तदा नंष्टुमारब्धः

रुद्रविष्णुसुगतादीनि अन्यतीर्थिकपरिगृहीतानि वा(अर्हत्)चैत्यानि—अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथा भौतपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकालादीनि वन्दितुं वा नमस्कर्तुं वा, तत्र वन्दनं—अभिवादनं, नमस्करणं—प्रणामपूर्वकं प्रशस्तध्वनिभिर्गुणोत्कीर्तनं, को दोषः स्यात् ?, अन्येषां तद्भक्तानां मिथ्यात्वाविस्थिरीकरणादिरिति, तथा पूर्वं—आदौ अनालप्तेन सता अन्यतीर्थिकैस्तानेवालप्तुं वा संलप्तुं वा, तत्र सकृत् सम्भाषणमालपनं पौनःपुन्येन संलपनं, को दोषः स्यात् ?, ते हि तप्ततरायोगोलकल्पाः खल्वासनादिक्रियाया नियुक्ता भवन्ति, तत्प्रत्ययः कर्मबन्धः, तथा तेन वा प्रणयेन गृहागमनं कुर्युः, अथ च श्रावकस्य स्वजनपरिजनोऽगृहीतसमयसारस्तैः सह सम्बन्धं यायादित्यादि, प्रथमालसेन त्वसम्भ्रमं लोकापवादभयात् कीदृशस्त्वमित्यादि वाच्यमिति, तथा तेषामन्यतीर्थिकानां अशनं—घृतपूर्णादि पानं—द्राक्षापानादि खादिमं—मधुफलादि स्वादिमं—कक्कोलकलवङ्गादि दातुं वा अनुप्रदातुं वा न कल्पते इति, तत्र सकृद् दानं पुनः पुनरनुप्रदानमिति, किं सर्वथैव न कल्पते इति ?, न, अन्यथा राजाभियोगेनेति—राजाभियोगं मुक्त्वा बलाभियोगं मुक्त्वा देवताभियोगं मुक्त्वा गुरुनिग्रहेण—गुरुनिग्रहं मुक्त्वा वृत्तिकान्तारं मुक्त्वा, एतदुक्तं भवति—राजाभियोगादिना ददुदपि न धर्ममतिक्रामति ।

इह चोदाहरणानि, [1]'कहं रायाभिओगेण देंतो णातिचरति धम्मं ?, तत्रोदाहरणम्—हत्थिणागरे नयरे जियसत्तू राया, कत्तिओ सेट्ठी नेगमसहस्सपढमासणिओ सावगवण्णगो, एवं कालो वच्चइ, तत्थ य परिव्वायगो मासंमासेण खमइ,

१ कथं राजाभियोगेन ददन्नातिचरति धर्मं हस्तिनापुरे नगरे जितशत्रू राजा कार्तिकः श्रेष्ठी निगमसहस्रप्रथमासनिकः श्रावकवर्णकः एवं कालो व्रजति, तत्र च परिव्राजको मासंमासेन क्षपयति

स सव्वलोगो आढाति, कत्तिओ नाढाति, ताहे से सो गेरुओ पओसमावण्णो छिद्दाणि मग्गति, मण्णया रायाए निमंतिओ पारणए नेच्छति, बहुसो २ राया निमंतेइ ताहे भणइ—जइ नवरं मम कत्तिओ परिवेसेइ तो नवरं जेमेमि, राया भणइ—एवं करेमि, राया समणूसो कत्तियस्स घरं गओ, कत्तिओ भणइ—संदिसह, राया भणति—गेरुयस्स परिवेसेहि, कत्तिओ भणति—न वट्टइ अम्हं, तुम्ह विसयवासित्ति करेमि, चिंतेइ—जइ पव्वइओ होतो न एवं भवंतं, पच्छा णेण परिवेसियं, सो परिवेसेज्जंतो अंगुलिं चालेति, किह ते ?, पच्छा कत्तिओ तेण निव्वेएण पव्वइओ नेगमसहस्सपरिवारो मुणिसुव्वयसमीवे, बारसंगाणि पढिओ, बारस वरिसाणि परियाओ, सोहम्मे कप्पे सक्को जाओ, सो परिव्वायओ तेणाभिओगेण आभिओगिओ एरावणो जाओ, वेच्छिय सक्कं पलाओ गहिय सक्को विलग्गो, दो सीसाणि कयाणि, सक्कावि दो जाया, एवं जावइयाणि सीसाणि विउव्वति तावतियाणि सक्को विउव्वति सक्करूवाणि, ताहे नासिउमारद्धो,

---

१ तं सर्वलोक आद्रियते कार्तिको नाद्रियते तदा तस्मै स गैरिकः प्रद्वेषमापन्नश्छिद्राणि मार्गयति अन्यदा राज्ञा निमन्त्रितः पारणके नेच्छति बहुशो २ राजा निमन्त्रयति तदा भणति—यदि परं कार्तिको मां परिवेषयति तर्हि नवरं जेमामि राजा भणति—एवं करोमि राजा समनुष्यः कार्तिकस्य गृहं गतः कार्तिको भणति संदिश राजा भणति—गैरिकं परिवेषय कार्तिको भणति—न वर्ततेऽस्माकं, युष्माकं विषयवासीति करोमि चिन्तयति—यदि प्रव्रजितोऽभविष्यं नैवमभविष्यत् पश्चादनेन परिवेषितं स परिवेष्यमाणोऽङ्गुलिं चालयति कथं तव ? पश्चात् कार्तिकस्तेन निर्वेदेन प्रव्रजितो नैगमसहस्रपरिवारो मुनिसुव्रतसमीपे द्वादशाङ्गानि पठितः द्वादश वर्षाणि पर्यायः सौधर्मे कल्पे शक्रो जातः, स परिव्राड् तेनाभियोगेनाभियोगिक ऐरावणो जातः शक्रं च दृष्ट्वा पलायितः गृहीत्वा शक्रो विलग्नः द्वे शीर्षे कृते शक्रोऽपि द्वौ जातौ एवं यावन्ति शीर्षाणि विकुर्वति तावन्ति शक्ररूपाणि विकुर्वति शक्रः तदा नंष्टुमारब्धः।

छम्मंगा, एवे य थूलगमेहुणपढमघरगमभुषमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छ २, मेळिया छत्तीसं, एते य थ
वादाणपढमघरमभुंषमाणेण लद्धा, बितियाइसुवि घरेसु पत्तेय २ छत्तीसं २, मेळिया दो सया सोळसुत्तरा, ए
थायपढमघरगमभुंषमाणेण लद्धा, बितियाइसुवि पत्तेयं दो दो सया सोळसुत्तरा, सव्वेवि मिळिया दुवाळस
एए य मूलाओ आरब्भ सव्वेवि दो सहस्सा पचसया बाणउया, दुवाळससया छण्णउया २, मिळिया छसहस्सा
असीया, तसत्थ यदुक्त प्राक् 'चउसंजोगाण पुण चउसट्ठिसयाणऽसीयाणि'त्ति, इयाणिं पंचगचारणिया, तत्थ थूलग
थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाइ दुविहंतिविहेण १ पाणातिवायाति २ ७

तथा भावितार्थैवेत्यभिहितमानुषङ्गिकं, प्रकृतं प्रस्तुमः, तत्र यस्मात् श्रावकधर्मस्य तावत् मूलं सम्यक्त्वं तस्मात् तद्गत मेव विधिमभिधातुकाम आह—

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ, नो से कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तएणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं, से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणियकम्माणुवेयणोवसमक्खयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पन्नत्ते, सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा—संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे (सूत्रम्) ॥

अस्य व्याख्या—श्रमणानामुपासकः श्रमणोपासकः श्रावक इत्यर्थः, श्रमणोपासकः 'पूर्वमेव' आदावेव श्रमणोपासको भवन् मिथ्यात्वात्—तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपात् प्रतिक्रामति—निवर्त्तते, न तन्निवृत्तिमात्रमत्राभिप्रेतं, किं तर्हि?, तन्निवृत्तिद्वारेण सम्यक्त्वं—तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं उप—सामीप्येन प्रतिपद्यते, सम्यक्त्वमुपसम्पन्नस्य सतः न 'से' तस्य 'कल्पते' युज्यते 'अद्यप्रभृति' सम्यक्त्वप्रतिपत्तिदिनादारभ्य, किं न कल्पते?—अन्यतीर्थिकान्—चरकपरिव्राजकभिक्षुभौतादीन् अन्यतीर्थिकदेवतानि—

छब्भंगा, एते य थूलगमेहुणपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छ २, मेलिया छत्तीसं, एते य थूलगादत्तादाणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा, बितियाइसुवि घरेसु पत्तेय २ छत्तीसं २, मेलिया दो सया सोलसुत्तरा, एते थूलगमुसावायपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियाइसुवि पत्तेय दो दो सया सोलसुत्तरा, सव्वेवि मिलिया दुवालस सया छण्णउया, एए य मूलाओ आरब्भ सव्वेवि दो सहस्सा पचसया बाणउया, दुवालससया छण्णउया १, मिलिया छसहस्सा चत्तारि सया असीया, ततश्च यदुक्तं प्राक् 'वयसंजोगाण पुण चउसट्ठिसयाणऽसीयाणि'त्ति, इयाणिं पंचगचारणिया, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाइ दुविहंतिविहेण १ पाणातिवायादि २ १ थूलगपरिग्गहं दुविहं दुविहेण २ एवं पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एए थूलगमेहुणपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बीयाइसुवि पत्तेयं २ छ छ, मेलिया छत्तीसं, एते य थूलगादत्तादाणपढमघरगममुचमाणेण लद्धा, बीयादिसुवि पत्तेयं २ छत्तीसं २, मिलिया दो सया सोलसुत्तरा, एए य थूलगमुसावायपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियाइसुवि पत्तेयं २ दो सया सोलसुत्तरा २, मेलिया दुवालस सया छण्णउया, एए य थूलगपाणातिवायपढमघरममुंचमाणेण लद्धा, बितियाइसुवि पत्तेयं २ दुवालस सया छण्णउया, सव्वेवि मेलिया सत्तसहस्सा सत्तसया छाउत्तरा, ततश्च यदुक्तं प्राक् 'सत्तत्तरीसयाइं छहुत्तराइं तु पंचसंजोए' एतद् भावितं, 'उत्तरगुणअविरयमेलियाण जाणाहि सव्वग्गं'ति उत्तरगुणगाही एगो चेव भेओ, अविरयसम्मद्दिट्ठी बितिओ, एएहिं मेलियाण सव्वेसिं पुव्वभणियाण भेयाण जाणाहि सव्वग्गं इमं जातं, परूवणं पडुच्च तं पुण इमं—सोलस चेवेत्यादि

गाथा भाविताऽर्थेत्यभिहितमानुषङ्गिकं, प्रकृतं प्रस्तुमः, तत्र यस्मात् श्रावकधर्मस्य तावत् मूलं सम्यक्त्वं तस्मात् तद्गतमेव विधिमभिधातुकाम आह—

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ, नो से कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तीकंतारेणं, से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणियकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुभे आयपरिणामे पन्नत्ते, सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा—संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे (सूत्रम्) ॥

अस्य व्याख्या—श्रमणानामुपासकः श्रमणोपासकः श्रावक इत्यर्थः, श्रमणोपासकः 'पूर्वमेव' आदावेव श्रमणोपासको भवन् मिथ्यात्वात्—तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपात् प्रतिक्रामति—निवर्तते, न तन्निवृत्तिमात्रमत्राभिप्रेतं, किं तर्हि ?, तन्निवृत्तिद्वारेण सम्यक्त्वं—तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं उप—सामीप्येन प्रतिपद्यते, सम्यक्त्वमुपसम्पन्नस्य सतः न 'से' तस्य 'कल्पते' युज्यते 'अद्यप्रभृति' सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकालादारभ्य, किं न कल्पते ?—अन्यतीर्थिकान्—चरकपरिव्राजकभिक्षुभौतादीन् अन्यतीर्थिकदेवतानि—

एते य थूलगादत्तादाणपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं दुयालस २, सव्वेऽवि मेलिया बावत्तरि, एते य थूलगमुसावायपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसु पत्तेयं बावत्तरि २, सव्वेवि मेलिया चत्तारि सया बत्तीसा, एव थूलगमुसावाओ तिगसंजोएण थूलगादत्तादाणेण सह चारिओ इयाणिं थूलगमेहुणेण सह चारिज्जइ, तत्थ थूलगमुसावायं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १ थूलगमुसावायं थूलगमेहुणं २ ३ थूलगपरिग्गहं पुण दुविहंदुविहेण २ एव पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एए थूलगमेहुणपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं २ छ २ हवंति, सव्वेऽवि मेलिया छत्तीसं, एते य थूलगमुसावादपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छत्तीसं २ हवंति, सव्वेऽवि मेलिया दो सया सोलसुत्तरा, चारिओ तिगसंजोएण थूलगमुसावाओ, इयाणिं थूलगादत्तादाणादि चिंतिज्जइ, तत्थ थूलगादत्तादाणं मेहुणं परिग्गहं च पच्चक्खाइ दुविहंतिविहेण १ थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं २ ३ थूलगपरिग्गहं पुण दुविहंदुविहेण २, एव पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एते य थूलगमेहुणपढमघरममुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छ २, सव्वेऽवि मेलिया छत्तीसं, एते य थूलगादत्तादाणपढमघरगममुंचमाणेण लद्धा, बितियाइसु पत्तेयं छत्तीसं २, सव्वेऽवि मेलिया दो सया सोलसुत्तरा, एते य मूलाओ आरब्भ सव्वेऽवि अट्ठयाला छ सया बत्तीसा चउसया सोलसुत्तरा दो सया य बत्तीसा चउसया सोलसुत्तरा दो सया, एए सव्वेऽवि मेलिया इगवीससयाइं सट्ठाइं भंगाणं भवंति, ततश्च यदुक्तं प्राग्'तिगसंजोगाण दसण्ह भंगसया एक्कवीसई सट्ठा' तदेतद् भावित, इयाणिं चउक्कचारणिया, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १ थूलगपाणातिवायाइ २-२ थूलगमेहुणं पुण दुविहंदुविहेण २, एवं पुव्वक्कमेण छब्भंगा, थूलगपरिग्गहेणवि छ, एएवि मेलिया

दुयालस, एते य मूलगादत्तादाणपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं दुयालस २, सव्वेवि मेलिया बाव-
त्तरि, एते उ मूलगमुसावायपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियासुवि पत्तेयं बावत्तरि २, सव्वेवि मेलिया चत्तारि सया
बत्तीसा, एते य मूलगपाणातिवायपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं चत्तारि २ सया बत्तीसा, सव्वेवि
मेलिया दो सहस्सा पंच सया बाणउया, इयाणिं अण्णो विगप्पो—मूलगपाणाइवायं मूलगमुसावायं मूलगमेहुणं मूलगप-
रिग्गहं च पच्चक्खाति दुविहं दुविहेण २, एवं पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एते उ मूलगमेहुणपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बिति-
यादिसु पत्तेयं २ छ छ सव्वे मेलिया छत्तीसं, एते उ मूलगमुसावायपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छत्तीसं
२, सव्वेवि मेलिया दो सया सोलसुत्तरा, एए मूलगपाणाइवायपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं २ दो
२ सया सोलसुत्तरा, सव्वेवि मेलिया दुयालस सया छन्नउया, इयाणिं अण्णो विगप्पो—मूलगपाणाइवायं मूलगअदत्तादाणं
मूलगमेहुणं मूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १, मूलगपाणातिवातं मूलगादत्तादाणं मूलगमेहुणं २ १ मूलगप-
रिग्गहं च पुण दुविहंदुविहेण २, एवं पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एते य मूलगमेहुणस्स पढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि
छ २, मेलिया छत्तीसं, एते य मूलगादत्तादाणपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छत्तीसं २, सव्वेऽवि मेलिया
दो सया सोलसुत्तरा, एते य मूलगपाणाइवायपढमचरमसमुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं दो दो सया सोलसुत्तरा,
सव्वेऽवि मेलिया दुयालस सया छण्णउया, इदाणिमण्णो विगप्पो—मूलगमुसावायं मूलगादत्तादाणं मूलगमेहुणं मूलगपरि-
ग्गहं च पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १ मूलगमुसावायाति २ १ मूलगपरिग्गहं पुण दुविहंदुविहेण २, एवं पुव्वक्कमेण

एते य थूलगादत्तादाणपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं दुवालस २, सव्वेऽवि मेळिया बावत्तरि, एते य थूलगमुसावायपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसु पत्तेयं बावत्तरि २, सव्वेवि मेळिया चत्तारि सया बत्तीसा, एव थूलगमुसावाओ तिगसंजोएण थूलगादत्तादाणेण सह चारिओ इयाणिं थूलगमेहुणेण सह चारिज्जइ, तत्थ थूलगमुसावायं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं च पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १ थूलगमुसावायं थूलगमेहुणं २ १ थूलगपरिग्गहं पुण दुविहंदुविहेण २ एवं पुणक्कमेण छब्भंगा, एए थूलगमेहुणपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं २ छ २ हवंति, सव्वेऽवि मेळिया दो सया छत्तीसं, एते य थूलगमुसावायपढमघरगमसुचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छत्तीसं २ हवंति, सव्वेऽवि मेळिया दो सया छत्तीसं, एते य थूलगादत्तादाणं मेहुण या सोलसुत्तरा, चारिओ तिगसंजोएण थूलगमुसावाओ, इयाणिं थूलगादत्तादाणादि चिंतिज्जइ, तत्थ थूलगादत्तादाणं मेहुण परिग्गहं च पच्चक्खाइ दुविहंतिविहेण १ थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं २ १ थूलगपरिग्गहं पुण दुविहदुविहेण २, एवं पुणक्कमेण छब्भंगा, एते य थूलगमेहुणपढमघरमसुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं छ २, सव्वेऽवि मेळिया छत्तीसं, एते य थूलगादत्ता दाणपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, बितियाइसु पत्तेयं छत्तीसं २, सव्वेऽवि मेळिया दो सया सोलसुत्तरा, एते य मूलाओ आरब्भ सव्वेऽवि मळयाला छ सया बत्तीसा चउसया सोलसुत्तरा दो सया य बत्तीसा चउसया सोलसुत्तरा दो सया, एए सव्वेऽवि मेळिया इगवीससयाइं सट्ठाइं भगाणं भवंति, तत्थ यवुक्त मागए तिगसंजोगाण दसण्ह भंगसया एक्कवीसाइं सट्ठा' तदेतद् भावितं, इयाणिं चउक्कचारणिया, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १ थूल गपाणातिवायाइ २ १ थूलगमेहुणं पुण दुविहंदुविहेण २, एवं पुणक्कमेण छब्भंगा, थूलगपरिग्गहेणवि छ, एएवि मेळिया

अट्ठारस, एते य थूलगमुसावादपढमघरकमसुंचमाणेण लद्धा, एवं बीयादिसुवि पत्तेयं २ अट्ठारस २ हवंति, सव्वेवि मेलिया अट्ठु-
त्तरं सयं, एवं च थूलगपाणाइवायपढमघरमसुंचमाणेण लद्धा, एवं बीयाइसुवि पत्तेयं २ अट्ठुत्तरं २ सयं हवंति, एए य सव्वेवि
मिलिया छ सयाणि अडयालाणि, एवं थूलगपाणातिपाओ तिगसंजोएण थूलगमुसावाएण सह चारिओ, एवं अदत्तादाणेण
सह चारिज्जति, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पयकूलाइ दुविहतिविहेण १ थूलगपाणाइवायं
थूलगादत्तादाणं २ १ थूलगमेहुणं पुण दुविह दुविहेण २ एव पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एवं थूलगपरिग्गहेणवि छ मेलिया
दुयालस, एते य अदत्तादाणपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, एवं बीयाइसुवि पत्तेयं २ दुयालस २, सव्वेवि मेलिया बावत्तरिं
हवंति, एते य पाणाइवायपढमघरमसुंचमाणेण लद्धा, एते बितियाइसुवि पत्तेयं बावत्तरि २, सव्वेऽवि मिलिया बावत्तरि
सया बत्तीसा हवंति, एवं थूलगपाणाइवाओ तिगसंजोगेण थूलगादत्तादाणेण सह चारिओ, इयाणिं थूलमेहुणेण परिग्ग-
हेण सह चारिज्जइ, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं २ १ पाणातिवायं मेहुणं २ १ परिग्गहं दुविहं दुवि
हेण २ एवं पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एए उ थूलगमेहुणपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं २ छ छ, सव्वेऽपि मेलिया
छत्तीस, एते य थूलगपाणातिवायपढमघरगमसुंचमाणेण लद्धा, बितियादिसु पत्तेयं २ छत्तीसं, सव्वेवि मेलिया सोलसुत्तरा दो स
या। एवं थूलगपाणातिवाओ तिगसंजोएण मेहुणेण सह चारिओ, चारिओ य तिगसंजोएणं पाणातिवाओ, इयाणिं मुसावाओ
चिंतिज्जइ, तत्थ थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पयकूलाति दुविहं तिविहेण १ थूलगमुसावायं थूलगा
दत्तादाणं २ १ थूलगमेहुणं पुण दुविह दुविहेण २ एवं पुव्वक्कमेण छब्भंगा, एवं थूलगपरिग्गहेणवि छ, मेलिया दुयालस,

घायाइ चिंतिज्जइ—तत्थ थूलगमुसावायं थूलगअदत्तादाण पच्चक्खाति दुविहं तिविहेणं १ थूलगमुसावाय दुविहं तिविहेण अदत्तादाणं पुण दुविहं दुविहेण २ एवं पुव्वकमेण छब्भगा नायव्वा, एव मेहुणपरिग्गहेसु पत्तेय पत्तेय छ २, सव्वेवि मिलिया अट्ठारस, एते मुसावायं पढमघरगममुंचमाणेण छव्वा १८, एवं बीयादिघरेसुवि पत्तेय २ अट्ठारस २ भवन्ति, एए सव्वेवि मेलिया अट्ठुत्तरं सयति, चारिओ थूलगमुसावाओ, इयाणिं थूलगादत्तादाणादि चिंतिज्जति, तत्थ थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं वा पच्चक्खाति दुविहतिविहेण १, थूलगअदत्ताणं २ ३ थूलगमेहुणं पुण दुविहं दुविहेण २–२ एवं पुव्वकमेण छब्भगा नायव्वा, एवं थूलगपरिग्गहेणवि छब्भंगा, मेलिया बारस, एए य थूलगअदत्तादाणं पढमघरममुंचमाणेण छव्वा, एवं बितियाइसुवि पत्तेय छ २ हवंति, एते सव्वेवि मेलिया बावत्तरि हवंति, चारित्त थूलगादत्तादाणं, इदाणिं थूलगमेहुणादि चिंतिज्जति, तत्थ थूलगमेहुण थूलगपरिग्गह च पच्चक्खाति दुविधं तिविधेण १ थूलगमेथुणं थूलगपरिग्गह पुण दुविधं दुविधेण २ एव पुव्वकमेण छब्भंगा, एते थूलगमेथुणपढमघरममुंचमाणेण छव्वा, एवं बीयादिसुवि पत्तेयं २ छ २ हवति, सव्वेवि मेलिया छत्तीसं, एते य मूलाओ आरब्भ सव्वेवि चोतालसयं अट्ठुत्तरसयं बावत्तरिं छत्तीस मेलिता तिण्णि सताणि सट्ठाणि हवंति, ततश्च यदुक्तं प्राक् 'दुगसजोगाण एसण्ह तिन्नि सट्ठा सता होंति'त्ति तदेतद् भावित, इदाणिं तिगचारणीयाए थूलगपाणातिवात थूलगमुसावाय थूलगादत्तादाण पच्चक्खाति दुविध तिविधेण १ थूलगपाणातिवात थूलगमुसावाद २ ३ थूलगादत्तादाणं पुण दुविधं दुविधेण २ थूलगपाणातिवायं थूलगमुसावाय २ ३ थूलगादत्तादाण पुण दुविहं एगविहेण ३ एवं पुव्वकमेण छब्भगा, एवं मेहुणपरिग्गहेसुवि पत्तेयं २ छ २, सव्वेवि मेलिया

अट्ठारस, एते य थूलगमुसावायपढमपरकमसुंचमाणेण छद्धा, एवं बीयादिसुवि पत्तेयं २ अट्ठारस २ हवंति, सव्वेवि भेलिया अट्ठुत्तरं सयं, एवं च थूलगपाणाइवायपढमपरमसुंचमाणेण छद्धा, एवं बीयाइसुवि पत्तेयं २ अट्ठुत्तरं २ सयं हवंति, एए य सव्वेवि मिलिया छ सयाणि अडयालाणि, एवं थूलगपाणातिवाओ तिगसंजोएण थूलगमुसावाएण सह चारिओ, एवं अदत्तादाणेण सह चारिज्जति, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पच्चक्खाइ दुविहतिविहेण १ थूलगपाणाइवायं थूलगादत्तादाणं २ १ थूलगमेहुणं पुण दुविहं दुविहेण २ एवं पुव्वकमेण छब्भंगा, एवं थूलगपरिग्गहेणावि छ मेलिया दुवालस, एते य अदत्तादाणपढमपरगमसुंचमाणेण छद्धा, एवं बीयाइसुवि पत्तेयं २ दुवालस २, सव्वेवि मेलिया बावत्तरिं सया बत्तीसा हवंति, एवं थूलगपाणाइवाओ तिगसंजोगेण थूलगादत्तादाणेण सह चारिओ, इयाणिं थूलमेहुणेण परिग्गहेण सह चारिज्जइ, तत्थ थूलगपाणाइवायं थूलगमेहुणं थूलगपरिग्गहं २ १ पाणातिवायं मेहुणं २ १ परिग्गहं दुविहं दुवि हेण २ एवं पुव्वकमेण छब्भंगा, एए उ थूलगमेहुणपढमपरगमसुंचमाणेण छद्धा, बितियादिसुवि पत्तेयं २ छ छ, सव्वेऽपि मेलिया छत्तीसं, एते य थूलगपाणातिवायपढमपरगमसुंचमाणेण छद्धा, बितियादिसु पत्तेयं २ छत्तीसं, सव्वेवि मेलिया सोलसुत्तरा दो स या। एवं थूलगपाणातिवाओ तिगसंजोएण मेहुणेण सह चारिओ, चारिओ य तिगसंजोएणं पाणातिवाओ, इयाणिं मुसावाओ चिंतिज्जइ, तत्थ थूलगमुसावायं थूलगादत्तादाणं थूलगमेहुणं च पच्चक्खाति दुविहं तिविहेण १ थूलगमुसावायं थूलगा दत्तादाण २ १ थूलगमेहुण पुण दुविहं दुविहेण २ एवं पुव्वकमेण छब्भंगा, एवं थूलगपरिग्गहेणावि छ, मेलिया दुवालस,

सय ॥ १ ॥ अहवा अणुव्वए चेव पडुच्च एक्कगादिसंजोगदुवारेण पभूयतरा भेदा निदंसिज्जंति, तत्रेयमेकादिसंयोगपरिमाणप्रदर्शनपराऽन्यकर्तृकी गाथा ॥

पंचण्हमणुवयाणं इक्कगदुगतिगचउक्कपणएहिं । पंचगदसदसपणइक्कगे य संजोग कायव्वा ॥ १ ॥

एतीए वक्खाणं—पंचण्हमणुव्वयाणं पुव्वभणियाणं 'एक्कगदुगतिगचउक्कपणएहिं' चिंतिज्जमाणाणं 'पंचगदसदसपणगएक्कगो य संजोग णायव्वा' एक्केण चिंतिज्जमाणाणं पंच संजोगा, कहं ?, पंचसु घरएसु एगेण पंचेव भवन्ति, दुगेण चिंतिज्जमाणाणं दस चेव, कह ?, पढमबीयघरेण एक्को १ पढमततियघरेण २ पढमचउत्थघरेण ३ पढमपंचमघरेण ४ बितियततियघरेण ५ बीयचउत्थघरेण ६ बीयपंचमघरेण सत्तमो ७ ततियचउत्थघरेण ८ ततियपंचमघरेण ९ चउत्थपंचमघरेण १० ॥ तिगेण चिंतिज्जमाणाणं दस चेव, कहं ?, पढमबितियततियघरेण एक्को १ पढमबितियचउत्थघरेण २ पढमबितियपंचमघरेण ३ पढमतईयचउत्थघरेण ४ पढमततियपंचमघरेण ५ पढमचउत्थपंचमघरेण ६ बितियततियचउत्थघरएण ७ बितियततियपंचमघरेण ८ बितियचउत्थपंचमघरेण ९ ततियचउत्थपंचमघरेण १० । चउक्कगेण चिंतिज्जमाणाणं पंच हवंति, कहं ?, पढमबितियततियचउत्थघरेण एक्को पढमबितियततियपंचमघरेण २ पढमबितियचउत्थपंचमघरेण ३ पढमततियचउत्थपंचमघरेण ४ बितियततियचउत्थपंचमघरेण ५, पंचगेण चिंतिज्जमाणाण एगो चेव भवतित्ति गाथार्थः ॥ १ ॥ एत्थ य एक्कगेण य जे पंच संजोगा दुगेण जे दस इत्यादि, एएसिं चारणीयाएओगेण आगयफलगाहाओ तिण्णि—

वयमिक्कगसंजोगाण हुंति पंचण्ह तीसई भंगा । दुगसंजोगाण दसण्ह तिन्नि सट्ठा सया हुंति ॥ १ ॥

संजोगाण दसण्ह भंगसयं इक्कीसई सद्दा । चउसंजोगाण पुणो चउसट्ठिसयाणिऽसीयाणि ॥ २ ॥
सत्तुत्तरिं सयाइं छसत्तराइं च पंच संजोए । उत्तरगुण अविरयमेलियाण जाणाहि सव्वग्ग ॥ ३ ॥
सोलस चेव सहस्सा अट्ठसया चेव होंति अट्ठहिया । एसो उवासगाणं वयगहणविही समासेणं ॥ ४॥ (प्र०)
व्याख्या—एताश्चतस्रोऽप्य यकृताः सोपयोगा इत्युपन्यस्ताः, एवासिं भावणाविही इमा—तत्र ताव दियं स्थापना,

प्रा०	मू०	अ०	मै०	प०
२।३	२।३	२।३	२।३	२।३
२।२	२।२	२।२	२।२	२।२
२।१	२।१	२।१	२।१	२।१
१।३	१।३	१ ३	१।३	१।३
१।२	१।२	१।२	१।२	१।२
१।१	१।१	१।१	१।१	१।१

थूलगपाणातियातं पच्चक्खाइ दुविहं तिविहेण १ दुविहं दुविहेणं २ दुविहं एक्कविहेणं ३ एग-विहं तिविहेणं ४ एगविहं दुविहेण ५ एगविहं एगविहेण ६, एवं थूलगमुसावायअदत्तादाण मेहुणपरिग्गहेसु, एक्केक्के छभेदा, एए सव्वेवि मिलिया तीसं हवंतित्ति, एतदत्र चतुर्थे भाष्ये 'पय एक्कगसंजोगाण होंती पंचण्ह तीसई भंग'त्ति तदू भावितं, इयाणिं दुगचारणिया—थूलगपाणाइ वायं थूलगमुसावायं पच्चक्खाति दुविहंतिविहेण १ थूलगपाणाइवायं दुविहंतिविहेण थूलगमुसा वाय पुण दुविहं दुविहेण २ थूलगपाणाइवाय २ ३ थूलगमुसावायं पुण दुविहं एगविहेण ३ थूलगपाणाइवाय २ ३ थूलगमुसावायं पुण एगविहंतिविहेण ४ थूलगपाणाइवायं २ ३ थूलगमु-सावायं पुण एगविहं दुविहेण ५ थूलगपाणातिवाय २ ३ थूलगमुसावायं पुण एगविहएगविहेण ६, एवं थूलगअदत्तादा णमेहुणपरिग्गहेसु एक्केक्के छब्भंगा, सव्वेवि मिलिया चउव्वीसं, एए य थूलगपाणाइवाय पढमभंगममुंचमाणेण लद्धा, एवं बिति यादिपएसु पत्तेयं चउव्वीस हवंति, एए य सव्वेवि मिलिया चोयालं सयं, चालिओ थूलगपाणाइवाओ, इयाणिं थूलगमुसा-

सय ॥ ९ ॥ महता मणुव्वए चेव पजुच पकगादिसंयोगदुवारेण पभूयतरा भेया निदंसिज्जंति, तत्रेयमेकादिसंयोगपरिमाणप्रदर्शनपराऽन्यकर्तृकी गाथा ॥

पचण्हमणुवयाण इक्कगदुगतिगचउक्कपणएहिं । पचगदसदसपणइक्कगो य सजोग णायव्वा ॥ १ ॥

पतीए वक्खाणं—पंचण्हमणुव्वयाणं पुव्वभणियाणं 'एक्कगदुगतिगचउक्कपणएहिं' चिंतिज्जमाणाणं 'पंचगदसदसपणगए क्कगो य संजोग णातव्वा' एक्केण चिंतिज्जमाणाणं पंच संजोगा, कहं ?, पचसु घरएसु एगेण पंचेव भवन्ति, दुगण चिंतिज्जमाणाणं दस चेव, कह ?, पढमबीयघरेण एक्को १ पढमततियघरेण २ पढमचउत्थघरेण ३ पढमपंचमघरेण ४ बितियततियघरेण ५ बीयचउत्थघरेण ६ बीयपंचमघरेण सत्तमो ७ ततियचउत्थघरेण ८ ततियपंचमघरेण ९ चउत्थपंचमघरेण १० ॥ तिगेण चिंतिज्जमाणाणं दस चेव, कहं ?, पढमबियततियघरेण एक्को १ पढमबितियचउत्थघरेण २ पढमबितियपंचमघरेण ३ पढमतईयचउत्थघरेण ४ पढमततियपंचमघरेण ५ पढमचउत्थपंचमघरेण ६ बितियततियचउत्थघरएण ७ बितियततियपंचमघरेण ८ बितियचउत्थपंचमघरेण ९ ततियचउत्थपंचमघरेण १० । चउक्कगेण चिंतिज्जमाणाणं पंच हवंति, कहं ?, पढमबितियततियचउत्थघरेण एक्को पढमबितियततियपंचमघरेण २ पढमबितियचउत्थपंचमघरेण ३ पढमततियचउत्थपंचमघरेण ४ बितियततियचउत्थपंचमघरेण ५, पंचगेण चिंतिज्जमाणाण एगो चेव भवतित्तिगाथार्थः ॥ १ ॥ एत्थ य एक्कगेण य जे पंच सजोगा दुगेण जे दस इत्यादि, एएसिं चारणीयापभोगेण आगयफलगाहाओ तिण्णि—

वयमिक्कगसजोगाण हुति पंचण्ह तीसई भंगा । दुगसजोगाण दसण्ह तिन्नि सट्ठा सया हुति ॥ १ ॥

मणेणं वायाए काएण य', एते सत्त भंगा करणेणं, एवं कारवणेणवि एए चेव सत्त भंगा १४, एवं अणुमोयणेणवि सत्त भंगा २१, अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा १ अहवा न करेइ न कारवेइ वयसा, २ अहवा न करेइ न कारवेइ काएण १ अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा वयसा ५ अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा कायेणं ५ अहवा न करेइ न कारवेइ वयसा कायसा १ अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा वयसा कायसा ७, एते करणकारावणेहिं सत्त भंगा ७ एवं करणाणुमोयणेहिवि सत्त भगा ७, एव कारायणाणुमोयणेहिवि सत्त भंगा, एव करणकारावणाणुमोयणेहिवि सत्त भंगा ७, एवेते सत्त सत्त भंगाणं एगूणपण्णास विगप्पा भवन्ति, एत्थ इमो एगूणपन्नासइमो विगप्पो—पाणातिवायं न करेइ न कारवेइ करेंतंपि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं वायाए काएणंति, एस अंतिमविगप्पो पडिमापडिवन्नस्स समणोवासगस्स तिविहंतिविहेणं भवतीति, एव ताव अतीतकाले पडिक्कमंतस्स एगूणपण्णा भवन्ति, एवं पडुप्पण्णेवि काले संवरेंतस्स एगूणपण्णा भवन्ति, एवं अणागएवि काले पच्चक्खायतस्स एगूणपन्नासा भवन्ति, एवमेता एगूणपण्णासा तिण्णि सीयालं सावयसयं भवति—

सीयालं भंगसयं जस्स विसोहीए होति उवलद्धं । सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला उ ॥ १ ॥ एवं पुण पंचहिं अणुव्वएहिं गुणियं सत्तसयाणि पणतीसाणि सावयाणं भवन्ति,—सीयालं भंगसयं विहिपच्चक्खाणभेयपरिमाणं । जोगतियकरणतियकालतियं गुणेऊण ॥ २ ॥ सीयालं भंगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं । सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला य ॥ ३ ॥ सीयालं भंगसयं गिहि-पच्चक्खाणभेयपरिमाणं । तं च विहिणा इमेणं भावेयव्वं पयत्तेणं ॥ ४ ॥ तिण्णि तिया तिण्णि दुया तिण्णिक्का य हुंति जोगेसुं । तिदुएक्कं तिदुएक्कं तिदुएगं चेव करणाइं ॥ ५ ॥ पढमे लब्भइ एगो सेसेसु पएसु तिय तिय तियति । दो नव तिय दो नवगा तिगुणिय सीयाल भंग

णः सप्तम", इह च सम्पूर्णासम्पूर्णोत्तरगुणभेदमनादृत्य सामान्येनैक एव भेदो विवक्षितः, 'अविरयओ चेव अट्ठमओ'त्ति भणितस्त्वेवाष्टम इति अविरतसम्यग्दृष्टिरिति गाथार्थः ॥ १५५९ ॥ इत्थमेते अष्टौ भेदाः प्रदर्शिताः, एत एव विभज्यमाना द्वात्रिंशद् भवन्ति, कथमित्यत आह—'पणग'त्ति पञ्चाणुव्रतानि समुदितान्येव गृह्णाति कश्चित्, तत्रोक्तलक्षणाः षड् भेदा भवन्ति, 'चउक्कं च'त्ति तथाऽणुव्रतचतुष्टयं गृह्णात्यपरस्तत्रापि षडेव, 'तिग'न्ति एवमणुव्रतत्रयं गृह्णात्यन्यस्तत्रापि षडेव, 'दुगं च'त्ति इत्थमणुव्रतद्वयं गृह्णाति, तत्रापि षडेव, 'एक्कं च'त्ति तथाऽन्य एकमेवाणुव्रतं गृह्णाति, तत्रापि षडेव, 'गिण्हइ वयाइ'ति इत्थमनेकधा गृह्णाति व्रतानि, विचित्रत्वात् श्रावकधर्मस्य, एवमेते पञ्च षट्कास्त्रिंशद् भवन्ति, प्रतिपन्नोत्तरगुणेन सहैकत्रिंशत्, तथा चाह—'अहवावि (य) उत्तरगुणे'त्ति अथवोत्तरगुणान्—गुणव्रतादिलक्षणान् गृह्णाति, समुदितान्येव गृह्णाति, केवलसम्यग्दर्शनिना सह द्वात्रिंशद् भवन्ति, तथा चाह—'अहवावि न गिण्हती किंचि'त्ति अथवा न गृह्णाति तानप्युत्तरगुणानिति, केवल सम्यग्दृष्टिरेवेति गाथार्थः ॥ १५६० ॥ इह पुनर्मूलगुणोत्तरगुणानामाधारः सम्यक्त्वं वर्त्तते तथा चाह—'निस्संकियनिक्कंखिय'गाहा, शङ्कादिस्वरूपमुदाहरणद्वारेणोपरिष्टाद् वक्ष्यामः 'वीरवचने' महावीरवर्द्धमानस्वामि-प्रवचने 'एते' अनन्तरोक्ता द्वात्रिंशदुपासकाः—श्रावका भणिताः—उक्ता इति गाथार्थः ॥ १५६१ ॥ एत चेव बत्तीसविविहा करणतियजोगतियकालतिएणं विसेसेज्जमाणा सीयाल समणोवासगसयं भवति, कह ? पाणाइवायं न करेति मणेणं, अथवा पाणातिपातं न करेइ वायाए, अहवा पाणातिपातं न करेइ काएणं ३, अथवा पाणातिपातं न करेति मणेणं वायाए य, अथवा पाणातिपातं न करेति मणेण काएण य, अथवा पाणातिपातं न करेति वायाए काएण य ६, अथवा पाणातिपातं न करेति

मणेणं वायाए काएण य', एते सत्त भंगा करणेणं, एवं कारवणेणवि एए चेव सत्त भंगा १४, एवं अणुमोयणेणवि सत्त भंगा २१, अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा १ अहवा न करेइ न कारवेइ वयसा, २ अहवा न करेइ न कारवेइ काएण ३ अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा वयसा ४ अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा कायेणं ५ अहवा न करेइ न कारवेइ वयसा कायसा ६ अहवा न करेइ न कारवेइ मणसा वयसा कायसा ७, एते करणकारावणेहिं सत्त भंगा ७ एवं करणाणुमोयणेहिवि सत्त भंगा ७, एवं कारायणाणुमोयणेहिवि सत्त भंगा, एवं करणकारावणाणुमोयणेहिवि सत्त भंगा ७, एवेते सत्त सत्त भंगाणं एगूणपण्णासं विगप्पा भवन्ति, एत्थ इमो एगूणपन्नासइमो विगप्पो—पाणातिवायं न करेइ न कारवेइ करेंतंपि अन्नं न समणुजाणइ मणेणं वायाए काएणंति, एस अंतिमविगप्पो पडिमापडिवन्नस्स समणोवासगस्स तिविहंतिविहेणं भवतीति, एव ताव अतीतकाले पडिक्कमंतस्स एगूणपण्णा भवन्ति, एवं पडुपण्णेवि काले संवरेंतस्स एगूणपण्णा भवन्ति, एवं अणागएवि काले पच्चक्खायंतस्स एगूणपन्नासा भवन्ति, एवमेता एगूणपण्णासा तिण्णि सीयालं सयंसतं भवति—

सीयालं भंगसयं जस्स विसोहीए होति उवलद्धं । सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला उ ॥ १ ॥ एवं पुण पंचहिं अणुव्वएहिं गुणियं छच्चसयाणि पन्नतीसाणि सावयाणं भवन्ति,—सीयालं भंगसयं गिहिपच्चक्खाणभेयपरिमाणं । जोगतियकरणतियकालतिएणं गुणेयव्वं ॥ २ ॥ सीयालं भंगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं । सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला य ॥ ३ ॥ सीयालं भंगसयं तिविहं पच्चक्खाणभेयपरिमाणं । तं च विहिणा इमेणं भावेयव्वं पयत्तेणं ॥ ४ ॥ तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्किक्का य हुंति जोगेसु । तिदुएक्कं तिदुएक्कं चेव करणाई ॥ ५ ॥ पढमे लब्भइ एगो सेसेसु पएसु तिय तिय तियति । दो नव तिय दो नवगा तिगुणिय सीयालं भंग

व्याख्या—तत्राभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्य' सकाशात् साधूनामगारिणां च सामाचारी शृणोतीति श्रावक इति, उक्तं च—"यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम्। शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥" श्रावकाणां धर्मः २ तस्य विधिस्तं वक्ष्ये—अभिधास्ये, किंभूतं ?—'धीरपुरुषप्रज्ञप्तं' महासत्त्वमहाबुद्धि तीर्थकरगणधरप्ररूपितमित्यर्थः, यं चरित्वा सुविहिता गृहिणोऽपि सुखान्यैहिकामुष्मिकाणि प्राप्नुवन्तीति गाथार्थः ॥१५५६॥ तत्र—'साभिग्गहा य निरभिग्गहा य' गाहा, अभिगृह्यन्त इत्यभिग्रहाः—प्रतिज्ञाविशेषाः सह अभिग्रहैर्वर्त्तन्त इति साभिग्रहाः, ते पुनरनेकभेदा भवन्ति, तथाहि—दर्शनपूर्वकं देशमूलगुणोत्तरगुणेषु सर्वेष्वेकस्मिंश्च (स्मिन्) वा भवन्त्येव तेषामभिग्रहः, निर्गता—अपेता अभिग्रहा येभ्यस्ते निरभिग्रहा, ते च केवलसम्यग्दर्शनिन एव, यथा कृष्णसत्यकिश्रेणिकादय, इत्थं ओघेन—सामान्येन श्रावका द्विधा भवन्ति, ते पुनर्द्विविधा अपि विभज्यमाना अभिग्रहग्रहणविशेषेण निरूप्यमाणा अष्टविधा भवन्ति ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥१५५७॥ तत्र यथाऽष्टविधा भवन्ति तथोपदर्शयन्नाह—'दुविहतिविहेण' गाहा, इह योऽसौ कश्चनाभिग्रहं गृह्णाति स ह्येवं—'द्विविध'मिति कृतकारितं 'त्रिविधेने'ति मनसा वाचा कायेनेति, एतदुक्तं भवति—स्थूल प्राणातिपातं न करोत्यात्मना न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा कायेनेति प्रथमः, अस्यानुमतिरप्रतिषिद्धा, अपत्यादिपरिग्रह सद्भावात्, तद्व्यापृतिकरणे च तस्यानुमतिप्रसङ्गात्, इतरथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताप्रव्रजितयोरभे दापत्तेरिति भावना, अत्राह—ननु भगवत्यामागमे त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यानमुक्तमगारिणः, तच्च श्रुतोक्तत्वाद्न वद्यमेव, तदिह कस्मान्नोक्तं निर्युक्तिकारेणेति ?, उच्यते, तस्य विशेषविषयत्वात्, तथाहि—किल यः प्रविव्रजिषुरेव प्रतिमां

प्रतिपद्यते पुत्रादिसन्ततिपालनाय स एव त्रिविधं त्रिविधेनेति करोति, तथा विशेष्यं वा किञ्चिद् वस्तु स्वयम्भूरमणम-स्त्यादिकं तथा स्थूलप्राणातिपातादिकं चेत्यादि, न तु सकलसावद्यव्यापारविरमणमधिकृत्येति, ननु च निर्युक्तिकारेण स्थूलप्राणातिपातादावपि त्रिविधंत्रिविधेनेति नोक्तो विकल्पः, 'वीरवयणंमि एए बत्तीस सावया भणिया' इति वचनाद् न्यथा पुनरधिकाः स्युरिति ?, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, किंतु बाहुल्यपक्षमेवाङ्गीकृत्य निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि, यत् पुनः कश्चिदयस्यापि शेषे कदाचिदेव समाचर्यते न सुष्ठु समाचार्यनुपाति तन्नोक्तं, बाहुल्येन तु त्रिविधं त्रिविधेनेत्यादिभिरेव षड्भिर्विकल्पैः सर्वस्यागारिणः सर्वमेव प्रत्याख्यानं भवतीति न कश्चिद् दोष इत्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, 'दुविहं तिविहेण पढमो होति'त्ति 'द्विविध' मिति स्थूलप्राणातिपातं न करोति न कारयति 'त्रिविधेने'ति मनसा वाचा, यदा मनसा कायेन, यद्वा वाचा कायेन, इह च प्रधानोपसर्जनभावविवक्षया भावार्थोऽवसेयः, तत्र यदा मनसा वाचा न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिरहित एव वाचापि हिंसकमब्रुवन्नेव कायेनैव दुश्चेष्टितादिना करोत्यसञ्ज्ञि वत्, यदा तु मनसा कायेन च न करोति न कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव कायेन च दुश्चेष्टितादि परिहरन्नेव मनाभोगाद्वाचैव हिंसक ब्रूते, यदा तु वाचा कायेन च न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिमधिकृत्य करो तीति, अनुमतिस्तु त्रिभिरपि सर्वत्रैवास्तीति भावना, एवं शेषविकल्पा अपि भावनीया इति, 'दुविहं एगविहेणं'ति द्विविधमेकविधेन, 'एक्कविहं चेव तिविहेण'ति एकविधं चैव त्रिविधेनेति गाथार्थः ॥ १५५८ ॥ 'एगविहं दुविहेणं'ति एकविधं द्विविधेन 'एक्कक्कविहेण छट्ठओ होइ' एकविधमेकविधेन षष्ठो भवति भेदः, 'उत्तरगुण सत्तमओ'त्ति प्रतिपन्नोत्तरगु

व्याख्या—तत्राभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात् साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावक इति, उक्तं च—"यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम्। शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥" श्रावकाणां धर्मः २ तस्य विधिस्तं वक्ष्ये—अभिधास्ये, किंभूतं ?—'धीरपुरुषप्रज्ञप्तं' महासत्त्वमहाबुद्धितीर्थकरगणधरप्ररूपितमित्यर्थः, यं चरित्वा सुविहिता गृहिणोऽपि सुखान्यैहिकामुष्मिकाणि प्राप्नुवन्तीति गाथार्थः ॥१५५६॥ तत्र—'साभिग्गहा य निरभिग्गहा य' गाहा, अभिगृह्यन्त इत्यभिग्रहाः—प्रतिज्ञाविशेषाः सह अभिग्रहैर्वर्त्तन्त इति साभिग्रहाः, ते पुनरनेकभेदा भवन्ति, तथाहि—दर्शनपूर्वकं देशमूलगुणोत्तरगुणेषु सर्वेष्वेकस्मिंश्च (स्मिन्) वा भवन्त्येव तथाभिग्रहः, निर्गता—अपेता अभिग्रहा येभ्यस्ते निरभिग्रहाः, ते च केवलसम्यग्दर्शनिन एव, यथा कृष्णसत्यकिश्रेणिकादयः, इत्थं ओघेन—सामान्येन श्रावका द्विधा भवन्ति, ते पुनर्द्विविधा अपि विभज्यमाना अभिग्रहग्रहणविशेषेण निरूप्यमाणा अष्टविधा भवन्ति ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥१५५७॥ तत्र यथाऽष्टविधा भवन्ति तथोपदर्शयन्नाह—'दुविहतिविहेण' गाहा, इह योऽसौ कश्चनाभिग्रहं गृह्णाति स ह्येष—'द्विविध'मिति कृतकारितं 'त्रिविधेने'ति मनसा वाचा कायेनेति, एतदुक्तं भवति—स्थूलप्राणातिपातं न करोत्यात्मना न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा कायेनेति प्रथमः, अस्यानुमतिरप्रतिषिद्धा, अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात्, तद्व्यापृतिकरणे च तस्यानुमतिप्रसङ्गात्, इतरथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताप्रव्रजितयोरभेदापत्तेरिति भावना, अत्राह—ननु भगवत्यामागमे त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यानमुक्तमगारिणः, तच्च श्रुतोक्तत्वादनवद्यमेव, तदिह कस्मान्नोक्तं निर्युक्तिकारेणेति ?, उच्यते, तस्य विशेषविषयत्वात्, तथाहि—किल यः प्रविव्रजिषुरेव प्रतिमां

प्रतिपद्यते पुत्रादिसन्ततिपालनाय स एव त्रिविधं त्रिविधेनेति करोति, तथा विशेष्यं वा किञ्चिद् वस्तु स्वयम्भूरमणस्त्यादिकं तथा स्थूलप्राणातिपातादिकं चेत्यादि, न तु सकलसावद्यव्यापारविरमणमधिकृत्येति, ननु च निर्युक्तिकारेण स्थूलप्राणातिपातादावपि त्रिविधंत्रिविधेनेति नोक्तो विकल्पः, 'सीयालं भंगसयं' इति वचनात् पुनरपि भंगाः स्युरिति ?, अत्रोच्यते, सत्यमेतत्, किंतु बाहुल्यपक्षमेवाङ्गीकृत्य निर्युक्तिकारेणान्यथापि, यत् पुनः कश्चिदवस्थाविशेषे कदाचिदेव समाचर्यते न सुष्ठु समाचार्यनुपाति तल्लोके, बाहुल्येन तु द्विविधं त्रिविधेनेत्यादिभिरेव पङ्भिर्विकल्पैः सर्वस्यागारिणः सर्वमेव प्रत्याख्यानं भवतीति न कश्चिद् दोष इत्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, 'दुविहं तिविहेण भित्तियओ होति'त्ति 'द्विविध' मिति स्थूलप्राणातिपातं न करोति न कारयति 'त्रिविधेने'ति मनसा वाचा, यद्वा मनसा कायेन, यद्वा वाचा कायेन, इह च प्रधानोपसर्जनभावविवक्षया भावार्थोऽवसेयः, तत्र यदा मनसा वाचा न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिरहित एव वाचापि हिंसकमनुवमेव कायेनैव दुश्चेष्टितादिना करोत्यसंज्ञिवत्, यदा तु मनसा कायेन च न करोति न कारयति तदा मनसाभिसन्धिरहित एव कायेन च दुश्चेष्टितादि परिहरन्नेव अनाभोगाद्वाचैव हिंसकं ब्रूते, यदा तु वाचा कायेन च न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिमधिकृत्य करोतीति, अनुमतिस्तु त्रिभिरपि सर्वत्रैवास्तीति भावना, एवं शेषविकल्पा अपि भावनीया इति, 'दुविहं एगविहेणं'ति द्विविधमेकविधेन, 'एक्कविहं चेव तिविहेणं'ति एकविधं चैव त्रिविधेनेति गाथार्थः ॥ १५५८ ॥ 'एगविहं दुविहेणं'ति एकविधं द्विविधेन 'एक्कविहेण छट्ठओ होइ' एकविधमेकविधेन षष्ठो भवति भेदः, 'उत्तरगुण सत्तमओ'त्ति प्रतिपन्नोत्तरगु

व्याख्या—तत्राभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात् साधूनामगारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावक इति, उक्तं च—"यो ह्यभ्युपेतसम्यक्त्वो, यतिभ्यः प्रत्यहं कथाम् । शृणोति धर्मसम्बद्धामसौ श्रावक उच्यते ॥ १ ॥" श्रावकाणां धर्मः २ तस्य विधिरिदं वक्ष्ये—अभिधास्ये, किंभूत ?—'धीरपुरुषप्रज्ञप्त' महासत्त्वमहाबुद्धि तीर्थकरगणधरप्ररूपितमित्यर्थः, यं चरित्वा सुविहिता गृहिणोऽपि सुखान्यैहिकामुष्मिकाणि प्राप्नुवन्तीति गाथार्थः ॥१५५६॥ तत्र—'साभिग्गहा य निरभिग्गहा य' गाहा, अभिगृह्यन्त इत्यभिग्रहाः—प्रतिज्ञाविशेषा सह अभिग्रहैर्वर्तन्त इति साभिग्रहाः, ते पुनरनेकभेदा भवन्ति, तद्यथा—दर्शनपूर्वकं देशमूलगुणोत्तरगुणेषु सर्वेष्वेकस्मिंश्च (स्मिन्) वा भवन्त्येव तेषामभिग्रहः, निर्गता—अपेता अभिग्रहा येभ्यस्ते निरभिग्रहा, ते च केवलसम्यग्दर्शनिन एव, यथा कृष्णसत्यकिश्रेणिकादय, इत्थं ओघेन—सामान्येन श्रावका द्विधा भवन्ति, ते पुनर्द्विविधा अपि विभज्यमाना अभिग्रहग्रहणविशेषेण निरूप्यमाणा अष्टविधा भवन्ति ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥१५५७॥ तत्र यथाऽष्टविधा भवन्ति तथोपदर्शयन्नाह—'दुविहतिविहेण' गाहा, इह योऽसौ कश्चनाभिग्रहं गृह्णाति स ह्येष—'द्विविध'मिति कृतकारितं 'त्रिविधेने'ति मनसा वाचा कायेनेति, एतदुक्तं भवति—स्थूलं प्राणातिपातं न करोत्यात्मना न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा कायेनेति प्रथमः, अस्यानुमतिरप्रतिषिद्धा, अपत्यादिपरिग्रह सद्भावात्, तद्व्यापृतिकरणे च तस्यानुमतिप्रसङ्गाद्, इतरथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताप्रव्रजितयोरभेदापत्तेरिति भावना, अत्राह—ननु भगवत्यामागमे त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यानमुक्तमगारिणः, तच्च सुतोपपत्त्यादन वद्यमेव, तदिह कस्मान्नोक्तं निर्युक्तिकारेणेति ?, उच्यते, तस्य विशेषविषयत्वात्, तथाहि—किल यः प्रविव्रजिषुरेव प्रतिमां

णाश्च, तथा चोक्तम्—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता, एषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" तेषां वधः प्राणवधो [म] जीववधस्तस्मिन्, मृषा वचनं मृषावादस्तस्मिन्, असदभिधान इत्यर्थः, 'अदत्त'त्ति उपलक्षणत्वाददत्तादाने परवस्त्वाहरण इत्यर्थः, 'मेहुण'त्ति मैथुने अब्रह्मसेवने यदुक्तं भवति, 'परिग्गहे चेव त्ति परिग्रहे चैव, एतेषु विषयभूतेषु श्रमणानां—साधूनां मूलगुणाः त्रिविधत्रिविधेन योगत्रयकरणत्रयेण नेतव्याः—अनुसरणीयाः, इयमत्र भावना—श्रमणाः प्राणातिपाताद्विरता त्रिविधं त्रिविधेन तस्य 'तिविध'म्ति न करेति न कारवेइ करंतंपि अण्णं णाणुजाणेति, 'तिविहे'त्ति मणेणं वायाए काएणं, एवमन्यत्रापि योजनीयमिति गाथार्थः ॥ २४१ ॥ इत्थं तावदुपदर्शितं सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानं, अधुना देशमूलगुणप्रत्याख्यानावसरः, तच्च श्रावकाणां भवतीतिकृत्वा विनेयानुग्रहाय तद्धर्मविधिमेवोपवतः प्रतिपिपादयिषुराह—

सावयधम्मस्स विहिं वुच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं । जं चरिऊण सुविहिया गिहिणोवि सुहाइं पाविंति ॥ १५५६ ॥
साभिग्गहा य निरभिग्गहा य ओहेण सावया दुविहा। ते पुण विभज्जमाणा अट्ठविहा हुंति नायव्वा ॥ १५५७ ॥
दुविहतिविहेण पढमो दुविहं दुविहेण बीयओ होइ । दुविहं एगविहेण एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १५५८ ॥
एगविहं दुविहेणं इक्किक्कविहेण छट्ठओ होइ । उत्तरगुण सत्तमओ अविरयओ चेव अट्ठमओ ॥ १५५९ ॥
पणय चउक्कं च तिगं दुग च एगं च गिण्हइ वयाइं । अहवाऽवि उत्तरगुणे अहवाऽवि न गिण्हई किंचि ॥ १५६० ॥
निस्संकियनिक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य । वीरवयणंमि एए बत्तीसं सावया भणिया ॥ १५६१ ॥

नोसुत'त्ति श्रुतप्रत्याख्यानं नोश्रुतप्रत्याख्यानं च 'सुयं दुहा पुव्वमेव नोपुव्व' श्रुतप्रत्याख्यानमपि द्विधा भवति-पूर्वश्रुतप्रत्या
ख्यानं नोपूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं च, 'पुव्वसुय नवमपुव्वं' पूर्वश्रुतप्रत्याख्यानं नवमं पूर्वं, 'नोपुव्वसुय इम चेव' नोपूर्वश्रुतप्रत्या
ख्यानमिदमेव-प्रत्याख्यानाध्ययनमित्येतच्चोपलक्षणमन्यच्चातुरप्रत्याख्यानमहाप्रत्याख्यानादि पूर्वपाठमिति गाथार्थः
॥ २४१ ॥ अधुना नोश्रुतप्रत्याख्यानप्रतिपादनायाह-'नोसुयपच्चक्खाणं' गाहा 'णोसुयपच्चक्खाणं'ति श्रुतप्रत्याख्यानं न
भवतीति नोश्रुतप्रत्याख्यानं, 'मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य' मूलगुणांश्चाधिकृत्योत्तरगुणांश्च, मूलभूता गुणाः २ त एव
प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपत्वात् प्रत्याख्यानं वर्त्तते, उत्तरभूता गुणाः २ त एवाशुद्धपिण्डनिवृत्तिरूपत्वात् प्रत्या
ख्यानं तद्विषयं वा अनागतादि वा दशविधमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं, 'सव्वं देसं'ति मूलगुणप्रत्याख्यानं द्विधा-सर्व
मूलगुणप्रत्याख्यानं देसमूलगुणप्रत्याख्यानं घ, सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानं पञ्च महाव्रतानि, देसमूलगुणप्रत्याख्यानं
पञ्चाणुव्रतानि, इदं चोपलक्षणं वर्त्तते यत उत्तरगुणप्रत्याख्यानमपि द्विधैव-सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं देशोत्तरगुण
प्रत्याख्यानं च, तत्र सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं दशविधमनागतमतिक्रान्तमित्याद्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः, देशोत्तरगुणप्रत्या
ख्यानं सप्तविधं-त्रीणि गुणव्रतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानि, एतान्यप्यूर्ध्वं वक्ष्यामः, पुनरुत्तरगुणप्रत्याख्यानमोघतो
द्विविध-'इत्तरियमावकहियं च' तत्रेत्वरं-साधूनां किञ्चिदभिग्रहादिः श्रावकाणां तु चत्वारि शिक्षाव्रतानि, याव
त्कथिकं तु नियन्त्रितं, यत् कान्तारदुर्भिक्षादिष्वपि न भज्यते, श्रावकाणां तु त्रीणि गुणव्रतानीति गाथार्थः
॥ २४२ ॥ साम्प्रतं स्वरूपतः सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानमुपदर्शयन्नाह-'पाणिवहमुसावाए' गाहा, प्राणा-इन्द्रि

मेर्त्त विकाति, तत्थ साहू अपूरेण बोलेंता निमतिया, तेहिं भत्तं गहियं, मंसं नेच्छंति, सा य रायधूया भणइ—किं तुब्भे न ताव कत्तियमासो पूरइ?, ते भणंति-आवजीवाए कत्तियत्ति, किं वा कहं वा, ताहे ते धम्मकहं कहेंति, मंसदोसे य परिकहेंति; पच्छा संबुद्धा पव्वतिया, एवं तीसे दव्वपच्चक्खाणं, पच्छा भावपच्चक्खाणं जातं, अधुना अदित्साप्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यते, तत्रेदं गाथार्द्धं, अदित्साप्रत्याख्याने 'बंभणसमणा अदिच्छ'त्ति हे ब्राह्मण हे श्रमण अदित्सेति—न मे दातुमिच्छा, न तु नास्ति यद् भवता याचितं, तदक्षादिरत्नेव वस्तुतः प्रतिषेधात्मिकेति प्रत्याख्यानमिति गाथार्थः ॥ २३९ ॥ अधुना प्रतिषेधप्रत्याख्यानव्याचिख्यासयेदं गाथाशकलमाह—'असुग दिजउ मज्झ'गाहा व्याख्या—अमुक घृतादि दीयतां मह्यं, इतरस्त्वाह—नास्ति मे तदिति, न तु दातु नेच्छा, एष इत्थंभूतो भवति प्रतिषेधः, अयमपि वस्तुतः प्रत्याख्यानमेव, प्रतिषेध एव प्रत्याख्यानं २। ॥ २४० ॥ इदानीं भावप्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यते, तत्रेदं गाथार्द्धं 'सेसपयाण य गाहा पच्चक्खाणस्स भावंमि' शेषपदानामागमनोआगमादीनां साक्षादिहानुक्तानां प्रत्याख्यानस्य सम्बन्धिनां गाथा कार्येति योगवाक्यशेषो, इह गाथा प्रतिघोष्यते, निश्चितिरित्यर्थः, 'गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे चे'ति धातुवचनात्, 'भावंमि'त्ति द्वारपरामर्शो, भावप्रत्याख्यानं इति । तदेतत्पर्यायाह—'त दुविहं सुतणोसुय'गाहा, 'तद्'भावप्रत्याख्यानं द्विविधं—द्विप्रकारं 'सुत

1 भक्तं दीयते तत्र भावतोऽभूत् व्यतिक्रमतो निमन्त्रिताः तैर्भक्तं गृहीतं मांसं नेच्छन्ति सा च राजदुहिता भणति—किं युष्माकं न तावत् कार्त्तिकमासः पूर्णः ?, ते भणन्ति—यावज्जीवं कार्त्तिक इति किं वा कथं वा ?, तदा ते धर्मकथां कथयन्ति मांसदोषांश्च परिकथयन्ति पश्चात् संबुद्धा प्रव्रजिता एवं तस्या द्रव्यप्रत्याख्यानं पश्चात् भावप्रत्याख्यानं जातं

मूलगुणाविय दुविहा समणाण चेव सावयाणं च। ते पुण विभज्जमाणा पंचविहा हुंति नायव्वा ॥ १ ॥ (प्र०)
पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव । समणाणं मूलगुणा तिविहंतिविहेण नायव्वा ॥२४३॥ (भा०)

व्याख्या—नामप्रत्याख्यानं स्थापनाप्रत्याख्यानं 'दविए'त्ति द्रव्यप्रत्याख्यानं, 'अदिच्छ'त्ति दातुमिच्छा दित्सा न दित्सा अदित्सा सैव प्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्यानं 'पडिसेहे'त्ति प्रतिषेधप्रत्याख्यानं, 'एवं भावे'त्ति एवं भावप्रत्याख्यानं च, 'एए खलु छब्भेया पच्चक्खाणमि नायव्व'त्ति गाथावक्ष्यं निगदसिद्धमयं गाथासमुदायार्थः। अवयवार्थं तु यथावसरं वक्ष्यामः, तत्र नामस्थापने गतार्थे ॥ २४८ ॥ अधुना द्रव्यप्रत्याख्यानप्रतिपादनायाह—'दव्वनिमित्तं' गाथाशकलम्, अस्य व्याख्या—द्रव्यनिमित्त प्रत्याख्यानं वस्त्रादिद्रव्यार्थमित्यर्थः, यथा केषाञ्चित् साम्प्रतक्षपकाणां, तथा द्रव्ये प्रत्याख्यानं यथा भूम्यादौ व्यवस्थितः करोति, तथा द्रव्यभूतः—अनुपयुक्तः सन् यः करोति तदप्यभीष्टफलरहितत्वात् द्रव्यप्रत्याख्यानमुच्यते, एवमन्यदपि द्रव्यस्य द्रव्याणां द्रव्येण द्रव्यैर्द्रव्येष्विति, क्षुण्णश्चायं मार्गः, 'तत्थ रायसुय'त्ति अत्र कथानकं—एगस्स रण्णो धूया अण्णस्स रण्णो दिण्णा, सो य मओ, ताहे सा पिउणा आणिया, धम्मं पुत्त! करेहि त्ति भणिया, सा पासंडीणं दाणं देति, अण्णया कत्तिओ धम्ममासोत्ति मंसं न खामित्ति पच्चक्खाय, तस्स पारणए अणेगाणि सत्तसहस्साणि मंसत्थाए उवणीयाणि, ताहे

१ एकस्य राज्ञो दुहितान्यस्मै राज्ञे दत्ता स च मृतः तदा सा पित्रानीता धर्मं पुत्रिके! कुर्विति भणिता सा पाखण्डिभ्यो दानं ददाति अन्यदा कार्तिके धर्ममास इति मांसं न खादामीति प्रत्याख्यातं तत्र पारणकेऽनेकानि सत्त्वसहस्राणि (प्राणिनो) मांसार्थमुपनीतानि तदा

भत्ते दिज्जति तत्थ साहू मयूरेण चोलेत्ता निमंतिया, तेहिं भत्तं गहियं, मंसं नेच्छंति, सा य रायधूया भणइ-किं तुब्भे न ताव कत्तियमासो पूरइ, ते भणंति-आवज्जीवाए-कत्तिरत्ति, किं वा कह वा, ताहे ते धम्मकहं कहेंति, मंसदोसे य परि कहेंति, पच्छा संबुद्धा पव्वतिया, एवं तीसे दव्वपच्चक्खाणं, पच्छा भावपच्चक्खाणं जातं, अधुना अदित्साप्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यते, तत्रेदं गाथार्द्धं, अदित्साप्रत्याख्याने 'बंभणसमणा भदिच्छ'त्ति हे ब्राह्मण हे श्रमण अदित्सेति-न मे दातुमिच्छा, न तु नास्ति यद् भवता याचितं, तत्त्वादिदमेव वस्तुतः प्रतिषेधात्मिकेति प्रत्याख्यानमिति गाथार्थः ॥ २३९ ॥ अधुना प्रतिषेधप्रत्याख्यानव्याचिख्यासयेदं गाथाचक्रमाह-'अमुगं दिज्जउ मज्झ'गाहा व्याख्या—अमुक घृतादि दीयतां मह्यं, इतरस्त्वाह-नास्ति मे तदिति, न तु दातुं नेच्छा, एवं इत्थंभूतो भवति प्रतिषेधः, अयमपि वस्तुतः प्रत्याख्यानमेव, प्रतिषेध एव प्रत्याख्यानं २ । ॥ २४० ॥ इदानीं भावप्रत्याख्यानं प्रतिपाद्यते, तत्रेदं गाथार्द्धं 'सेसपयाण य गाहा पच्चक्खाणस्स भावम्मि' शेषपदानामागमनोआगमादीनां साक्षादिहानुक्तानां प्रत्याख्यानस्य सम्बन्धिनां गाथा कार्येति योगवाक्यशेषो, इह गाथा प्रतिष्ठोच्यते, निश्चितिरित्यर्थः, 'गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे चे'ति धातुवचनात्, 'भावम्मि'त्ति द्वारपरामर्शः, भावप्रत्याख्यान इति । तदेतद्दर्शयन्नाह-'त दुविहं सुयणोसुय'गाहा, 'तद्' भावप्रत्याख्यानं द्विविधं-द्विप्रकारं 'सुय

1 तत्र दीयते भक्त भावदोऽन्यूरे स्वामिनाग्यो निमन्त्रिता तैर्भक्तं गृहीतं मांसं नेच्छन्ति सा च राजदुहिता भणति-किं युष्माकं न तावत् कार्त्तिकमासः पूर्णः ?, ते भणन्ति-यावज्जीवं कार्त्तिक इति, किं वा कथं वा ?, तदा ते धर्मकथां कथयन्ति मांसदोषांश्च परिकथयन्ति पश्चात् संबुद्धा प्रव्रजिता एवं तस्या द्रव्यप्रत्याख्यानं पश्चाद् भावप्रत्याख्यानं जातं

मूलगुणावि य दुविहा समणाणं चेव सावयाणं च । ते पुण विभज्जमाणा पंचविहा दुविह नायव्वा ॥ १ ॥ (प्र०)
पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव । समणाणं मूलगुणा तिविहंतिविहेण नायव्वा ॥ २४३॥ (भा०)

व्याख्या—नामप्रत्याख्यानं स्थापनाप्रत्याख्यानं 'दविए'त्ति द्रव्यप्रत्याख्यान, 'अदिच्छ'त्ति दातुमिच्छा दित्सा न दित्सा अदित्सा सैव प्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्यान 'पडिसेहे'त्ति प्रतिषेधप्रत्याख्यानं, 'एवं भावे'त्ति एवं भावप्रत्याख्यानं च, 'एए खलु छब्भेया पच्चक्खाणंमि नायव्व'त्ति गाथादलं निगदसिद्धमयं गाथासमुदायार्थ । अवयवार्थ तु यथावसरं वक्ष्यामः, तत्र नामस्थापने गतार्थे ॥ २४८ ॥ अधुना द्रव्यप्रत्याख्यानप्रतिपादनायाह—'दव्वनिमित्तं' गाथाशकलम्, अस्य व्याख्या-द्रव्य निमित्तं प्रत्याख्यानं वस्त्रादिद्रव्यार्थमित्यर्थः, यथा केषाञ्चित् साम्प्रतक्षपकाणां, तथा द्रव्ये प्रत्याख्यानं यथा भूम्यादौ व्यय स्थितः करोति, तथा द्रव्यभूतः—अनुपयुक्तः सन् यः करोति तदप्यभीष्टफलरहितत्वात् द्रव्यप्रत्याख्यानमुच्यते, तुशब्दात् द्रव्यस्य द्रव्याणां द्रव्येण द्रव्यैर्द्रव्येष्विति, क्षुण्णश्चायं मार्गः, 'तत्थ रायसुय'त्ति अत्र कथानकं—एगस्स रण्णो धूया अण्णस्स रण्णो दिण्णा, सो य मओ, ताहे सा पिउणा आणिया, धम्मं पुत्त ! करेहि त्ति भणिया, सा पासडीणं दाणं देति, अण्णया कत्तिओ धम्ममासोत्ति मंसं न खामित्ति पच्चक्खाय, तत्थ पारणए अणेगाणि सत्तसहस्साणि मंसत्थाए उवणीयाणि, ताहे

१ एकस्य राज्ञो दुहिताऽन्यस्मै राज्ञे दत्ता स च मृतः, तदा सा पित्रानीता धर्मं पुत्रिके ! कुर्विति भणिता सा पाषण्डिभ्यो दानं ददाति अन्यदा कार्तिको धर्ममास इति मांसं न खादामीति प्रत्याख्यातं तत्र पारणकेऽनेकानि सत्त्वसहस्राणि (पशवो) मांसार्थमुपनीतानि तदा

पच्चक्खाणं पच्चक्खाओ पच्चक्खेयं च आणुपुव्वीए । परिसा कहणविही या फलं च आईइ छब्भेया ॥ १५५५ ॥

अस्या व्याख्या—'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रत्याङ्पूर्वस्य ल्युडन्तस्य प्रत्याख्यानं भवति, तत्र प्रत्याख्यायते—निषिध्यते ऽनेन मनोवाक्कायक्रियाजालेन किञ्चिदनिष्टमिति प्रत्याख्यानं क्रियाक्रियावतोः कथञ्चिदभेदात् प्रत्याख्यानक्रियैव प्रत्या स्थाने प्रत्याख्यायतेऽस्मिन् सति वा प्रत्याख्यानं "कृत्यल्युटो बहुल"मिति (पा० ३-३-११३) वचनादन्यथाऽप्यदोषः प्रति आख्यानं प्रत्याख्यानमित्यादौ, तथा प्रत्याख्यातीति प्रत्याख्याता—गुरुर्विनेयश्च, तथा प्रत्याख्यायत इति प्रत्या- ख्येयं—प्रत्याख्यानगोचरं वस्तु, चशब्दः त्रयाणामपि तुल्यकक्षतोद्भावनार्थः, आनुपूर्व्या—परिपाट्या कथनीयमिति वाक्य- शेषः, तथा परिषत् वक्तव्या, किंभूतायाः परिषदः कथनीयमिति, तथा कथनविधिश्च—कथनप्रकारश्च वक्तव्यः, तथा फलं चैहिकामुष्मिकभेदं कथनीयं, आदावेते षड् भेदा इति गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तु यथाऽवसरं भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽर्थप्रतिपिपादयिषयाह—

नामंठवणादविए अइच्छ पडिसेहमेव भावे य । एए खलु छब्भेया पच्चक्खाणंमि नायव्वा ॥ २३८ ॥ (भा०)

दव्वनिमित्तं दव्वे दव्वभूओ य तत्थ रायसुआ । अइच्छापच्चक्खाणं यमणसमणा न(अ) इच्छंति ॥ २३९ ॥ (भा०)

असुगं दिज्जउ मज्झं नत्थि मम तं तु होइ पडिसेहो । सेसपयाण य गाहा पच्चक्खाणस्स भावंमि ॥ २४० ॥ (भा०)

तं दुविहं सुअनोसुअ सुयं दुहा पुव्वमेव नोपुव्वं । पुव्वसुय नवमपुव्वं नोपुव्वसुयं इमं चेव ॥ २४१ ॥ (भा०)

नोसुअपच्चक्खाणं मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । मूले सव्वं देसं इत्तरियं आवकहियं च ॥ २४२ ॥ (भा०)

॥ अथ प्रत्याख्यानाध्ययन ॥

व्याख्यातं कायोत्सर्गाध्ययनं, अधुना प्रत्याख्यानाध्ययनमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने स्खलनविशेषतोऽपराधव्रणविशेषसम्भवे निन्दामात्रेणाशुद्धस्योपतः प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सोक्ता, इह तु गुणधारणा प्रतिपाद्यते, भूयोऽपि मूलगुणोत्तरगुणधारणा कार्येति, सा च मूलगुणोत्तरगुणप्रत्याख्यानरूपेति तदेव निरूप्यते, यद्वा कायोत्सर्गाध्ययने कायोत्सर्गकरणद्वारेण प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपादितः, यथोक्त—'जह करगओ निकंतइ'त्यादि, 'काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्से'त्यादि, इह तु प्रत्याख्यानकरणतः कर्मक्षयोपशमक्षयजं फलं प्रतिपाद्यते, वक्ष्यते च—'इहलोइयपरलोइय दुविह फलं होइ पच्चक्खाणस्स । इहलोए धम्मिलादी दामण्णगमाइ परलोए ॥ १ ॥ पच्चक्खाणमिणं सेविऊण भावेण जिणवरुद्दिट्ठं । पत्ता अणंतजीवा सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ॥ २ ॥' इत्यादि, अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं, चतुर्विंशतिस्तवेऽर्हतां गुणस्तुतिः, सा च दर्शनज्ञानरूपा, एवमिदं त्रितयमुक्तं, अस्य च वितथासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं, तच्च वन्दनपूर्वकमित्यतस्तन्निरूपितं, निवेद्य च भूयः शुभेष्वेव स्थानेषु प्रतीपं क्रमणमासेवनीयमिति तदपि निरूपितं, तथाऽप्यशुद्धस्य सतोऽपराधव्रणस्य चिकित्सा आलोचनादिना कायोत्सर्गपर्यवसान प्रायश्चित्तभेषजेनानन्तराध्ययन उक्ता, इह तु तथाप्यशुद्धस्य प्रत्याख्यानतो भवतीति तन्निरूप्यते, एवमनेकरूपेण सम्बन्धेनायातस्य प्रत्याख्यानाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि सप्रपञ्चं वक्तव्यानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे प्रत्याख्यानाध्ययनमिति प्रत्याख्यानमध्ययनं च, तत्र प्रत्याख्यानमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः—

पच्चक्खाणं पच्चक्खाओ पच्चक्खेय च आणुपुव्वीए । परिसा कहणविही या फलं च आईइ छब्भेया ॥ १५५५ ॥

अस्या व्याख्या—'ख्या प्रकथने' इत्यस्य प्रत्याङ्पूर्वस्य ल्युडन्तस्य प्रत्याख्यानं भवति, तत्र प्रत्याख्यायते—निषिध्यते ऽनेन मनोवाक्कायक्रियाजालेन किञ्चिदनिष्टमिति प्रत्याख्यानं क्रियाक्रियावतोः कथञ्चिदभेदात् प्रत्याख्यानक्रियैव प्रत्या ख्यानं प्रत्याख्यायतेऽस्मिन् सति वा प्रत्याख्यानं "कृत्यल्युटो बहुल"मिति (पा० ३-३-११३) वचनादन्यथाऽप्यदोषः प्रति आख्यानं प्रत्याख्यानमित्यादौ, तथा प्रत्याख्यातीति प्रत्याख्याता—गुरुर्विनेयश्च, तथा प्रत्याख्यायत इति प्रत्या- ख्येयं—प्रत्याख्यानगोचरं वस्तु, चशब्दस्त्रयाणामपि तुल्यकक्षतोद्भावनार्थं, आनुपूर्व्या—परिपाट्या कथनीयमिति वाक्य नेषः, तथा परिषद् वक्तव्या, किंभूतायाः परिषदः कथनीयमिति, तथा कथनविधिश्च—कथनप्रकारश्च वक्तव्यः, तथा फलं चैहिकामुष्मिकभेदं कथनीयं, आद्यायेते षड् भेदा इति गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तु यथाऽवसरं भाष्यकार एव वक्ष्यति, तत्राद्यावयवव्याचार्यप्रतिपिपादयिषयाह—

नामंठवणादविए अइच्छ पडिसेहमेव भावे य । एए खलु छब्भेया पच्चक्खाणमि नायव्वा ॥ २३८ ॥ (भा०)

दव्वनिमित्तं दव्वे दव्वभूओ य तत्थ रायसुआ । अइच्छापच्चक्खाणं पभणसमणा न(अ) इच्छन्ति ॥ २३९ ॥ (भा०)

अमुगं दिज्जउ मज्झं नत्थि मम तं तु होइ पडिसेहो । सेसपयाणं य गाहा पच्चक्खाणस्स भावंमि ॥ २४० ॥ (भा०)

मं दुविहं सुअनोसुअं सुयं दुहा पुव्वमेव नोपुव्वं । पुव्वसुयं नवमपुव्वं नोपुव्वसुयं इमं चेव ॥ २४१ ॥ (भा०)

नोसुअपच्चक्खाणं मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । मूले सव्वं देसं इत्तरियं आवकहियं च ॥ २४२ ॥ (भा०)

तम्हा उ निम्ममेण मुणिणा उवलद्धसुत्तसारेण ।

काउस्सग्गो उग्गो कम्मखयट्ठाय कायव्वो ॥ १५५४ ॥ काउस्सग्गनिज्जुत्ती समत्ता (ग्रन्थाग्र २५३०)

व्याख्या—यथा 'करगतो'त्ति करपत्रं निकृन्तति—छिनत्ति विदारयति दारु—काष्ठं, किं कुर्वन् ?—आगच्छन् पुनश्च व्रजन्नित्यर्थः, 'इय' एवं कृन्तन्ति सुविहिताः—साधवः कायोत्सर्गेण हेतुभूतेन कर्माणि—ज्ञानावरणादीनि, तथाऽन्यत्राप्युक्तं "संवरेण भवे गुत्तो, गुत्तीए संजमुत्तमे। संजमाओ तवो होइ, तवाओ होइ निज्जरा ॥ १ ॥ निज्जराएऽसुभं कम्मं, खिज्जई कमसो सया। आवस्सग(गेण)जुत्तस्स, काउस्सग्गो विसेसओ॥२॥" इत्यादि, अयं गाथार्थः॥२२७॥ अत्राह—किमिदमित्थमित्यत आह 'काउस्सग्गे' गाहा व्याख्या-कायोत्सर्गे सुस्थितस्य सतः यथा भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि 'इय' एवं चित्तनिरोधेन 'भिन्दन्ति' विदारयन्ति मुनिवराः—साधवः अष्टविध—अष्टप्रकारं कर्मसङ्घातं—ज्ञानावरणीयादिलक्षणमिति गाथार्थः ॥ १५५१॥ आह—यदि कायोत्सर्गे सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि ततश्च दृष्टापकारत्वादेयाऽयमनेनेति ?, अत्रोच्यते, सौम्य ! मैवं—'अन्नं इमं' गाहा व्याख्या—अन्यदिदं शरीरं निजकर्मोपात्तमात्ममात्रमशाश्वतम्, अन्यो जीवोऽस्याधिष्ठाता शाश्वतः स्वकृतकर्मफलोपभोक्ता च इदं त्यजत्येव, एवं कृतबुद्धिः सन् दुःखपरिक्लेशकरं छिन्धि ममत्वं शरीरात्, किं च—यदनेनाप्यसारेण कश्चिदर्थः सम्पद्यते पारलौकिकस्ततः सुतरां यत्नः कार्य इति गाथार्थः॥१५५२॥ किं चैवं विभावनीयम्—'जावइया' गाहा व्याख्या—याव

1 संवरेण भवेद्गुप्तो गुप्त्या संयमोत्तमो भवेत्। संयमात्तपो भवति तपसो भवति निर्जरा ॥ १ ॥ निर्जरयाऽशुभं कर्म क्षीयते क्रमशः सदा । आवश्यकेन युक्तस्य कायोत्सर्गो विशेषतः ॥ २ ॥

ज्ञानकुशलजिनप्रणीतधर्मेण विज्ञानम्ः परीक्षासागमस्यासंस्तुतकः दुःखानि शारीरमानसानि संसारे–तिर्यग्नरनारकामरभवानुभवलक्षणे यानि मयाऽनुभूतानि ततः–तेभ्यो दुर्विषहतराण्यमतोऽप्यकृतपुण्यानां नरकेषु–सीमन्तकादिषु अनुपमानि–उपमारहितानि दुःखानि, दुर्विषहत्वमेतेषां शेषगतिसमुत्थदुःखापेक्षयेति गाथार्थः ॥ १५५३ ॥ यतश्चैवं 'तम्हा' किं ?–कायोत्सर्गः–उक्तस्वरूपः तमः–शुभाध्यवसायप्रबलः कर्मक्षयार्थं नतु स्वर्गादिनिमित्तं कर्तव्य इति गाथार्थः ॥१५५४॥ तस्मात् तु निर्ममेन–ममत्वरहितेन मुनिना–साधुना, किम्भूतेन ?–उपलब्धसूत्रसारेण–विज्ञातसूत्रपरमार्थेनेत्यर्थः, उक्तोऽनुगमः, नयाः पूर्ववत् ॥ शिष्यहितायां कायोत्सर्गाध्ययनं समाप्तम् ।

कायोत्सर्गविवरणं कृत्वा यदवाप्तमिह मया पुण्यम् । तेन खलु सर्वसत्त्वाः पञ्चविधं कायमुज्झन्तु ॥ १ ॥

॥ इत्याचार्यश्रीहरिभद्रकृतायां शिष्यहिताख्यायामावश्यकवृत्तौ कायोत्सर्गाध्ययनं समाप्तं ॥

तम्हा उ निम्ममेण मुणिणा उवलद्धसुत्तसारेण ।

काउस्सग्गो उग्गो कम्मखयट्ठाय कायव्वो ॥ १५५४ ॥ काउस्सग्गनिज्जुत्ती समत्ता (ग्रन्थाग्रं २८३१)

व्याख्या—यथा 'करगतो'त्ति करपत्रं निकृन्तति—छिनत्ति विदारयति दारु—काष्ठं, किं कुर्वन्?—आगच्छन् पुनश्च व्रजन्नित्यर्थः, 'इय' एवं कृन्तन्ति सुविहिताः—साधवः कायोत्सर्गेण हेतुभूतेन कर्माणि—ज्ञानावरणादीनि, तथाऽन्यत्राप्युक्तं "संवरेण भवे गुत्तो, गुत्तीए संजमुत्तमे। संजमाओ तवो होइ, तवाओ होइ निज्जरा ॥ १ ॥ निज्जराएऽसुभं कम्मं, खिज्जई कमसो सया। आवस्सग(गेण)जुत्तस्स, काउस्सग्गो विसेसओ॥२॥" इत्यादि, अयं गाथार्थः॥२३॥ अत्राह—किमिदमित्यमित्यत आह 'काउस्सग्गे' गाहा व्याख्या–कायोत्सर्गे सुस्थितस्य सतः यथा भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि 'इय' एवं चित्तनिरोधेन 'भिन्दन्ति' विदारयन्ति मुनिवराः—साधवः अष्टविध—अष्टप्रकारं कर्मसङ्घातं—ज्ञानावरणीयादिलक्षणमिति गाथार्थः ॥ १५५१॥ आह—यदि कायोत्सर्गे सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि ततश्च दृष्टापकारत्वादेवालमनेनेति ?, अत्रोच्यते, सौम्य ! मैवं—'अन्नं इमं' गाहा व्याख्या—अन्यदिदं शरीरं निजकर्मोपात्तमालयमात्रमशाश्वतम्, अन्यो जीवोऽस्याधिष्ठाता शाश्वतः स्वकृतकर्मफलोपभोक्ता च इदं त्यजत्येव, एवं कृतबुद्धिः सन् दुःखपरिक्लेशकरं छिन्द्धि ममत्वं शरीरात्, किं च—यदनेनाप्यसारेण कश्चिदर्थः सम्पद्यते पारलौकिकस्ततः सुतरां यत्नः कार्य इति गाथार्थः॥१५५२॥ किं चैवं विभावनीयम्—'जावइया' गाहा व्याख्या—याव

---

१ संवरेण भवेद्गुप्तो गुप्त्या संयमोत्तमो भवेत्। संयमात्तपो भवति तपसो भवति निर्जरा ॥ १ ॥ निर्जरयाऽशुभं कर्म क्षीयते क्रमशः सदा । आवश्यकेन युक्तस्य कायोत्सर्गो विशेषतः ॥ २ ॥

तवाणवड्ढसत्ताणकम्मा काउस्सग्गे ठिता, सुदंसणस्सवि अहुलेवाणि कीरंतुत्ति वंचे भत्ती वाहितो, सच्चाणवाफ्लेण पुप्फदामं कतो, मुक्को रत्ता पूवतो, ताचे मित्तवतीए पारियं । तथा 'सोदास'त्ति सोदासो राया, जहा नमोक्कारे, 'समायमणे'त्ति कोइ विराहियसामण्णो सग्गो समुप्पण्णो, वहाए मारेत्ति साहू, पडाविया, तेण विद्ध भागओ, इयरवि काउस्सग्गेण ठिया, न पहवइ, पच्छा सं पहूण उवसंतो । एतदैहिकं फलं, 'सिद्धी सग्गो य परलोए'सिद्धि:-मोक्षः स्वर्गो-देवलोकः चतम्प्रात् चकारात्तिस्वादि च परलोके फलमिति गाथार्थः ॥ १५५० ॥ आह-सिद्धिः सकलकर्मक्षयादेवाप्यते, 'कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः' इति वचनात्, स कथं कायोत्सर्गफलमिति ?, उच्यते, कर्मक्षयस्यैव कायोत्सर्गफलत्वात्, परम्पराकारणत्वेन विवक्षितत्वात्, कायोत्सर्गफलत्वमेव कर्मक्षयस्य कथं ?, यत आह भाष्यकारः—

जह करगओ निकिंतइ दारुं इतो पुणोवि वचतो । इय कंतति सुविहिया काउस्सग्गेण कम्माइं ॥ २३७ ॥ (भा०)

काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं । इय भिंदंति सुविहिया अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥ १५५१ ॥

अन्न इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी । दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ १५५२ ॥

जावइया किर दुक्खा संसारे जे मए समणुभूया । इत्तो दुव्विसहतरा नरएसु अणोवमा दुक्खा ॥ १५५३ ॥

---

1 यथावस्थाज्ञातसप्तकर्माणः (श्रमणाः) कायोत्सर्गे स्थिताः सुदर्शनस्यापि मङ्गलानि क्रियन्त इति भक्तिः वाहिता, सत्यवचनेन पुष्पदाम कृतं, मुक्तो राजा पूजितः तदा मित्रवत्या पारितः । सौदास इति सौदासो राजा, यथा नमस्कारे समागमन इति कश्चिद्विराद्धश्रामण्यः स्वर्गे समुत्पन्नः, वधाय मारयति साधून्, पलायिताः, तेन दृष्टा आगताः, इतरेऽपि कायोत्सर्गेण स्थिताः, न प्रभवति । पश्चादुपशान्तः ।

दाराणि थंभेमि, तओ आलग्गे(अङ्गुण्णे)सु नागरेसु आगासत्था भणिस्सामि—जाए परपुरिसो मणेणावि न चिंतिओ सा इत्थिया चालणीए पाणियं छोढूणं गंतूण तिण्णि वारे छटेउं उग्घाडाणि भविस्सति, तओ तुमं थिण्णासित्ता सेसनागरिएहिं पाहिं पच्छा जाएज्जासि, तओ उग्घाडेहिसि, तओ किट्टिही उड्डाहो, पसंसं च पाविहिसि, तहेव कयं पससं च पत्ता, एवं ताव इहलोइय काउस्सग्गफलं, अन्ने भणंति—वाणारसीए सुभद्दाए काउस्सग्गो कओ, एलगच्छुप्पत्ती भाणियव्वा। राया 'उदिओदए'त्ति, उदितोदयस्स रण्णो भज्जा(धम्म) लाभागयं णिधरोहियस्स उवसग्गए य समणजायं, कहाणगं जहा नमोक्कारे। 'सेट्ठिभज्जा य'त्ति चंपाए सुदंसणो सेट्ठिपुत्तो, सो सावगो अट्ठमिचाउद्दसीसु चच्चरे उवासगपडिमं पडिवज्जइ, सो महादेवीए पत्थिज्जमाणो णिच्छइ, अण्णया घोसट्टिआओ देवपडिमत्ति धरथे चेडीए घट्टिउ अतेउर अतिणीओ, देवीए निब्बंधेवि कए नेच्छइ, पउट्टाए कोलाहलो कओ, रण्णा वज्झो आणत्तो, निज्जमाणे भज्जाए से मित्तवतीए सावियाए सुतं,

---

1 द्वाराणि स्थगयिष्यामि ततोऽत्यद्भुतेषु नागरेषु आकाशस्था भणिष्यामि—यया परपुरुषो मनसाऽपि न चिन्तितः सा स्त्री चालिन्यामुदकं क्षिप्त्वा गत्वा त्रीन् वारान् उत्क्षिपति उद्घाटानि भविष्यन्ति ततश्च परीक्ष्य शेषनागरैः सह बहिः पलायिताः तत उद्घाटयिष्यसि ततः रुष्टेरित्युद्घुष्टः प्रशंसां च प्राप्स्यसि तथैव कृतं, प्रशंसां च प्राप्ता एतत्पारलौकिकं कायोत्सर्गफलं अन्ये भणन्ति—वाराणस्यां सुभद्रया कायोत्सर्गः कृतः एलकाक्षोत्पत्तिर्भणितव्या। राजा उदितोदय इति उदितोदयस्य राज्ञः भार्या धर्मश्रमणाय अन्तःपुरस्य श्रमणमुपसर्गवृत्ति कथानकं यथा नमस्कारे। श्रेष्ठिभार्या चेति चम्पायां सुदर्शनः श्रेष्ठिपुत्रः स श्रावकोऽष्टमीचतुर्दश्योश्चत्वरे उपासकप्रतिमां प्रतिपद्यते स महादेव्या प्रार्थ्यमानो नेच्छति अन्यदा पुस्तकमयो देवप्रतिमेति चेट्या उद्वेष्टयित्वा अन्तःपुर प्रवेशितः, देव्या निर्बन्धे कृतेऽपि नेच्छति, प्रद्विष्टया कोलाहलः कृतः, राज्ञा वध्य आज्ञप्तः नीयमानो भार्यया तस्य मित्रवत्या श्राविकया श्रुतं,

तचाणजक्कस्सातवण्णा काउस्सग्गे ठिता, सुदंसणस्सवि महुलंगाणि कीरंतुवि संधे असी वाहितो, सचाफलस्सेव पुप्फदामं कतो, मुक्को रज्जा पूइतो, ताधे मित्तवतीए पारिय। तथा 'सोदास'त्ति सोदासो राया, अहा नमोक्कारे, 'समायंमणे'त्ति ठिया, न पहवइ, पच्छा तं दहूण उवसंतो। एतदैहिकं फलं, 'सिद्धी सग्गो य परलोए'त्ति सिद्धिः-मोक्षः स्वर्गो-देवलोकः सदाम्नात् समर्यतिस्सादि च परलोके फलमिति गाथार्थः॥ १५५०॥ आह-सिद्धिः सकलकर्मक्षयादेवाप्यते, 'कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः' इति वचनात्, स कथं कायोत्सर्गफलमिति?, उच्यते, कर्मक्षयस्यैव कायोत्सर्गफलत्वात्, परम्पराकारणस्येव वियक्षितत्वात्, कायोत्सर्गफलत्वमेव कर्मक्षयस्य कथं?, यत आह भाष्यकारः—

जह करगओ निकिंतइ दारुं इतो पुणोवि वच्चतो। इअ कंतंति सुविहिया काउस्सग्गेण कम्माइं॥ २३७॥ (भा०)

काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं। इय भिंदंति सुविहिया अट्ठविहं कम्मसंघायं॥ १५५१॥

अन्न इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति एव कयबुद्धी। दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ॥ १५५२॥

जावइया किर दुक्खा संसारे जे मए समणुभूया। इत्तो दुव्विसहतरा नरएसु अणोवमा दुक्खा॥ १५५३॥

---

1 तच्चाणवकान्न बालवाय (अमरकाः) कायोत्सर्गे स्थिता सुदर्शनस्यापि अपरा भवन्ति स्कन्धेऽसिः महता सत्तामकेन पुष्पदामीकृता मुक्तो राज्ञा पूजितः तदा मित्रवत्या धारितः। सोदासेनेति सौदासो राजा यथा नमस्कारे समायकमिति कायोत्सर्गेण स्थिता, न प्रभवति। पश्चाद्दृष्ट्वोपशान्तः मारयति मादृश, भावतः प्रवासिता, तेन दृष्टा आगताः, इतरेऽपि कायोत्सर्गेण स्थिताः, न प्रभवति। पश्चाद्दृष्ट्वोपशान्तः

त्सर्गो यथोक्तफलो भवति तस्येति गाथार्थः ॥ १५४८ ॥ तथा–'तिविहाणुवसग्गाणं'गाहा, त्रिविधानां–त्रिप्रकाराणां दिव्यानां–व्यन्तरादिकृतानां मानुषाणां–म्लेच्छादिकृतानां तैरश्चानां–सिंहादिकृतानां सम्यक्–मध्यस्थभावेन अधिसहनायां सत्यां कायोत्सर्गो भवति शुद्धः–अविपरीत इत्यर्थः । ततश्चोपसर्गसहिष्णोः कायोत्सर्गो भवतीति गाथार्थः ॥१५४९॥ द्वारं। साम्प्रतं फलद्वारमभिधीयते, तच्च फलमिहलोकपरलोकापेक्षया द्विधा भवति, तथा चाह ग्रन्थकारः–'इहलोगमि' गाहा व्याख्या–इहलोके यत् कायोत्सर्गफलं तत्र सुभद्रोदाहरणं–कथं ?, [1]वसंतपुर नगरं, तत्थ जियसत्तुराया, जिणदत्तो सेट्ठी संजय सड्ढओ, तस्स सुभद्दा दारिया धुया, अतीवरूवस्सिणी ओरालियसरीरा साविगा य, सो तं असाहंमियाण न देइ, तच्च नियसड्ढेणं चपाओ वाणिज्जागएण दिट्ठा, तीए रूवलोभेण कवडसड्ढओ जाओ, धम्मं सुणेइ, जिणसाहू पूजेइ, अण्णया भावो समुप्पण्णो, आयरियाणं आलोएइ, तेहिवि अणुसासिओ, जिणदत्तेण से भाव नाऊण धूया दिण्णा, वित्तो वियाहो, केच्चिरकालस्सवि सो तं गहाय चंप गओ, नणंदसासुमाइयाओ तवण्णियसड्ढिगाओ त खिंसंति, तओ जुयगं घरं कयं,

[1] वसन्तपुरं नगरं, तत्र जितशत्रू राजा जिनदत्तः श्रेष्ठी संयतश्राद्धः, तस्य सुभद्रा कालिका दुहिताऽतीव रूपिणी उदारशरीरा श्राविका च स ताम् असाधर्मिकाय न ददाति, चम्पानिवासिना वाणिज्यागतेन दृष्टा, तस्या रूपलोभेन कपटश्राद्धो जातः धर्मं शृणोति जिनसाधून् पूजयति अन्यदा भावः समुत्पन्नः आचार्याणां कथयति तैरप्यनुशिष्टः जिनदत्तेन तस्य भावं ज्ञात्वा दुहिता दत्ता वृत्तो विवाहः, कियच्चिरेण कालेन सोऽपि तां गृहीत्वा चम्पां गतः, ननान्दृश्वश्र्वादिकास्तच्चनिकश्राद्धिका निन्दन्ति, ततः पृथग्गृहं कृत

तत्थाणेगे समणा समणीओ य पाउग्गनिमित्तमागच्छंति, तब्भणिगसहिया भवंति, एसा संजयाणं वट्टे रयति, भत्तारो से न पत्तियइत्ति, अण्णया कोई वण्णरूवाइगुणगणनिप्फण्णो तरुणभिक्खू पाउग्गनिमित्तं गओ, तस्स य वाउद्धुयं अच्छिमि कणग पविट्ठं, सुभद्दाए तं जीहाए लिहिऊण अवणीयं, तस्स निडाले तिलओ संकंतो, तेणवि वक्खित्तचित्तेण ण जाणिओ, सो नीसरति ताव तब्भणिगसहिगाहिं अयक्खागयस्स भत्तारस्स स दंसिओ, पेच्छ इमं सीलत्थरसियसंकंतं भज्जाए सगतं तिलगंति, तेणवि चिंतियं—किमिदमेवंपि होज्जा?, अहवा चळयतो विसया अणेगभवब्भत्थया य किंव होइत्ति?, मंद नेहो जाओ, सुभद्दाए कहवि विदिओ एस वुत्तंतो, चिंतियं च णाए—पावयणीओ एस उड्डाहो कहं फेडिव (फेडेमि) त्ति, पवयणदेवयमभिसंधारिऊण रयणीए काउस्सग्गे ठिया, अहासंनिहिया काइ देवया तीए सीलसमायारं णाऊण आगया, भणियं च तीए—किं ते पियं करेमित्ति, तीए भणियं—उड्डाहं फेडेहि, देवयाए भणियं—फेडेमि, पच्चूसे इमाए नयरीए

---

1 तत्कालेन श्रमणाः श्रमण्यश्च भावोत्पत्तिनिमित्तमागच्छन्ति, तद्भक्तिकाश्चो भवन्ति—एषा संयतेषु रतं रचयति, भर्ता तथा च भणतीति, अन्यदा कोऽपि वर्णरूपादिगुणगणपुण्यतरुणभिक्षुः भावोत्पत्तिनिमित्तं गतः, तस्य च वायूद्धुतं रजोऽक्षिणि पतितं, सुभद्रया तज्जिह्वयोत्क्षिप्यापनीतं, तस्य ललाटे तिलकः संक्रान्तः, तेनापि व्याक्षिप्तचित्तेन न ज्ञातः स निस्सरति तावदुपविष्टकाभीषितरूपस्य भर्तुः स दर्शितः पश्येदं निजदारमणसंक्रान्तं भार्यायाः स्वकं तिलकमिति तेनापि चिन्तितं—किमिदमेवमपि भवेत्?, अथवा चञ्चलो विषया अनेकभवाभ्यस्ताश्चेति किं न भवतीति मन्दस्नेहो जातः, सुभद्रया कथमपि ज्ञात एष वृत्तान्तः, चिन्तितं चानया—प्रावचनिक एष उड्डाहः कथं स्फेटयामीति? प्रवचनदेवतामभिसंधार्य रजन्यां कायोत्सर्गे स्थिता, यथासंनिहितया काचिद्देवता तस्याः शीलसमाचारं ज्ञात्वा आगता भणितं च तया—किं ते प्रियं करोमीति, तया भणितं—उड्डाहं स्फेटय देवतया भणितं—स्फेटयामि प्रत्यूषेऽस्यां नगर्यां

त्सर्गो यथोक्तफलो भवति तस्येति गाथार्थः ॥ १५४८ ॥ तथा–'तिविहाणुवसग्गाणं'गाहा, त्रिविधानां–त्रिप्रकाराणां दिव्यानां–व्यन्तरादिकृतानां मानुषाणां–म्लेच्छादिकृतानां तैरश्चानां–सिंहादिकृतानां सम्यक्–मध्यस्थभावेन अतिसहनायां सत्यां कायोत्सर्गो भवति शुद्धः–अविपरीत इत्यर्थः। तदथोपसर्गसहिष्णोः कायोत्सर्गो भवतीति गाथार्थः ॥१५४९॥ द्वारं। साम्प्रतं फलद्वारमभिधीयते, तच्च फलमिहलोकपरलोकापेक्षया द्विधा भवति, तथा चाह ग्रन्थकारः–'इहलोगम्मि' गाहा व्याख्या–इहलोके यत् कायोत्सर्गफलं तत्र सुभद्रोदाहरणं–कथ[1], वसंतपुरं नगरं, तत्थ जियसत्तुराया, जिणदत्तो सेट्ठी संजय सड्ढओ, तस्स सुभद्दा दारिया धुया, अतीवरूवस्सिणी ओरालियसरीरा साविगा य, सो तं असाहम्मियाणं न देइ, तच्च नियसड्ढेणं चंपाओ वाणिज्जागएण दिट्ठा, ताए रूवलोभेण कयवसड्ढओ जाओ, धम्मं सुणेइ, जिणसाहू पूजेइ, अण्णया भावो समुप्पण्णो, आयरियाण आलोएइ, तेहिवि अणुसासिओ, जिणदत्तेण से भावं नाऊण धूया दिण्णा, वित्तो विवाहो, केचिरकालस्सवि सो तं गहाय चंपं गओ, नणंदसासुमाइयाओ तच्चण्णियसड्ढिगाओ त खिंसंति, तओ जुयग घरं कयं,

1 वसन्तपुरं नगरं, तत्र जितशत्रू राजा जिनदत्तः श्रेष्ठी संयतश्राद्धः, तस्य सुभद्रा बालिका दुहिताऽतीव रूपिणी उदारशरीरा श्राविका च स तां साधर्मिकाय न ददाति तच्चनिकश्राद्धेन चम्पातो वाणिज्यागतेन दृष्टा तदा रूपलोभेन कपटश्राद्धो जातः धर्मं शृणोति जिनसाधून् पूजयति अन्यदा भावः समुत्पन्नः आचार्येभ्यः कथयति तैरप्यनुशिष्टः जिनदत्तेन तस्य भावं ज्ञात्वा दुहिता दत्ता वृत्तो विवाहः कियच्चिरेण कालेन सोऽपि तां गृहीत्वा चम्पां गतः, ननन्दृश्वश्र्वादिकास्तच्चनिकभक्तास्तां निन्दन्ति, ततः पृथग्गृहं कृतं,

न्तरत्नमहपरं च, तत्र 'नाभि'त्ति नाभीओ हेट्ठो चोलपट्टो कायव्वो, करयलेत्ति सामण्णेणं हेट्ठा पलंबकरयले 'जाव कोप्परे'त्ति सोऽविय कोप्परेहिं धरेयव्वो, एवंभूतेन कायोत्सर्गः कार्यः, उस्सारिए य-काउस्सग्गे पारिए नमोक्कारेण अवसाणे थुई दायव्वेति गाथार्थः ॥ १५४७ ॥ गतं मासद्वारं, साम्प्रतं फलमिति द्वारं व्याख्यायते, तत्रोक्तदोषरहितोऽपि यस्यायं कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तमुपदर्शयन्नाह—

वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो । देहे य अपडिबद्धो काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥ १५४८ ॥

तिविहाणुवसग्गाणं दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं । सम्ममहियासणाए काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ १५४९ ॥

इहलोगंमि सुभद्दा राया उइओद सिट्ठिभज्जा य । सोदासखग्गथंभण सिद्धी सग्गो य परलोए ॥ १५५० ॥

'वासीचंदनकप्पो'गाहा व्याख्या—वासीचन्दनकल्पः—उपकार्यपकारिणोर्मध्यस्थः, उक्तं च—"जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा य तच्छेइ । संथुणइ जो य निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावा ॥ १ ॥" अनेन परं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति, तथा मरणे-प्राणत्यागलक्षणे जीविते च-प्राणसंधारणलक्षणे चशब्दादिहलोकादौ च समसञ्ज्ञः तुल्यबुद्धिरित्यर्थः, अनेन चात्मानं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति, तथा देहे च-शरीरे चाप्रतिबद्धः चशब्दादुपकरणादौ च, कायो

१ नाभितोऽधस्तात् चोलपट्टकः कर्तव्यः, करतलेति सामान्येन अधस्तात् प्रलम्बकरतलः यावत् कूर्पराभ्यां-सोऽपि च कूर्पराभ्यां धारयितव्यः, उत्सारिते च-कायोत्सर्गे पारिते नमस्कारेणावसाने स्तुतिर्दातव्या । २ चन्दनेन बाहुमालिम्पति वास्या वा तक्षति । संस्तौति यो वा निन्दति महर्षयस्तत्र समभावाः ॥ १ ॥

'पुव्व ठति य गुरुणो' गाहा प्रकटार्था ॥ १५४४ ॥ 'चउरंगुल'त्ति चत्तारि अंगुलाणि पायाणं अंतरं करेयव्वं, मुहपोत्तिं 'उज्जुए'त्ति दाहिणहत्थेण मुहपोत्तिया घेत्तव्वा, वामहत्थे रयहरणं कायव्वं, एतेण विहिणा 'वोसट्ठचत्तदेहो'त्ति पूर्ववत्, काउस्सग्गं करिज्जाहित्ति गाथार्थः ॥ १५४५ ॥ गतं विधिद्वारम्, अधुना दोषावसरः, तत्रेदं गाथाद्वयं-'घोडग'त्यादि—

आसोव्व विसमपायं आवंचिउं ठाइ उस्सग्गे । कंपइ काउस्सग्गे लयव्व खरपवणसंगेणं ॥ १ ॥ खंभे वा कुड्डे वा अवट्ठंभिय ठाइ काउस्सग्गं तु । माले य उत्तमंगं अवट्ठंभिय ठाइ उस्सग्गं ॥ २ ॥ सबरी वसणविरहिया करेहि सागारियं जह ठवेइ । ठइऊण गुज्झदेसं करेहि तो कुणइ उस्सग्गं ॥ ३ ॥ अवणामिउत्तमंगो काउस्सग्गं जहा कुलवहुव्व । नियलियओविव चलणे वित्थारिय अहव मेलविउं ॥ ४ ॥ काऊण चोलपट्टं अविधीए नाभिमंडलस्सुवरिं । हिट्ठा य जाणुमित्तं चिट्ठई लंबुत्तरुस्सग्गं ॥ ५ ॥ उन्नामिऊण य थणे चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं । दंसाइरक्खणट्ठा अहवा अन्नाणदोसेणं ॥ ६ ॥ मेलित्तु पण्हियाओ चलणे वित्थारिऊण बाहिरओ । ठाउस्सग्गं एसो बाहिरउद्धी मुणेयव्वो ॥ ७ ॥ अंगुट्ठे मेलविउं वित्थारिय पण्हियाओ बाहिं तु । ठाउस्सग्गं एसो भणिओ अब्भिंतरुद्धित्ति ॥ ८ ॥ कप्पं वा पट्टं वा पाउणिउं संजइव्व उस्सग्गं । ठाइ य खलिणं व जहा रयहरणं अग्गओ काउं ॥ ९ ॥ भामेइ तहा दिट्ठिं चलचित्तो वायसुव्व उस्सग्गे । छप्पइयाण भएणं कुणई य पट्टं कविट्ठं व ॥ १० ॥ सीसं पकंपमाणो जक्खाइट्ठुव्व कुणइ उस्सग्गं । मूयव्व हुहुयंतो तहेव छिज्जंतमाईसु ॥ ११ ॥ अंगुलिभमुहाओवि य चालंतो तह य कुणइ उस्सग्गं । आलावगगणणट्ठा संठवणत्थं च जोगाणं ॥ १२ ॥ काउस्सग्गंमि ठिओ सुरा जह बुडबुडेइ अव्वत्तं । अणुपेहंतो तह वानरुव्व चालेइ ओट्ठउडे ॥ १३ ॥ एए काउस्सग्गं कुणमाणेण विउणा दोसा उ । सम्मं परिहरियव्वा जिणपडिकुट्ठत्तिकाऊणं ॥ १४ ॥

'नाभीकरयलकुप्पर उस्सारे पारियंमि थुइ'त्ति निर्युक्तिगाथाशकलं लेशतोऽनुष्टकायोत्सर्गीयस्थानप्रदर्शनपरं विध्य

न्वारतंमहपरं च, तत्र 'नाभि'त्ति नाभीओ हेट्ठो चोलपट्टो कायव्वो, करयलेत्ति सामण्णेणं हेट्ठा पलंबकरयले 'जाव कोप्परे'त्ति सोडविय कोप्परेहिं धरेयव्वो, एवंभूतेन कायोत्सर्गः कार्यः, उस्सारिए च-काउस्सग्गे पारिए नमोक्कारेण अवसाणे थुई दायव्वेति गाथार्थः ॥ १५४७ ॥ गतं प्रासङ्गिकं, साम्प्रतं कस्येति द्वारं व्याख्यायते, तथोक्तोपरतितोऽपि यस्यायं कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तमुपदर्शयन्नाह—

वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो । देहे य अपडिबद्धो काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥ १५४८ ॥
तिविहाणुवसग्गाण दिव्वाणं माणुसाण तिरियाण । सम्ममहियासणाए काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ १५४९ ॥
इहलोगंमि सुभद्दा राया उइओद सिट्ठिभज्जा य । सोदासखग्गथंभण सिद्धी सग्गो य परलोए ॥ १५५० ॥

'वासीचंदनकप्पो'गाहा व्याख्या—वासीचन्दनकल्पः—अपकार्युपकारिणोर्मध्यस्थः, उक्तं च—"जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा य तच्छेइ । संथुणइ जो य निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावा ॥ १ ॥" अनेन परं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति, तथा मरणे-प्राणत्यागलक्षणे जीविते च-प्राणधारणलक्षणे चशब्दादिहलोकादौ च समसञ्ज्ञः तुल्यबुद्धिरित्यर्थः, अनेन चात्मानं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति, तथा देहे च-शरीरे चाप्रतिबद्धः चशब्दादुपकरणादौ च, कायो

१ नाभितोऽधस्तात् चोलपट्टकः कर्तव्यः, करतलेति सामान्येन अधस्तात् प्रलम्बकरतलः यावत् कूर्पराभ्याम्—सोऽपि च कूर्पराभ्यां धारयितव्यः, उत्सारिते च—कायोत्सर्गे पारिते नमस्कारेणावसाने स्तुतिर्दातव्या । २ यश्चन्दनेन बाहुमालिम्पति वास्या वा तक्षति । संस्तौति यो वा निन्दति महर्षयस्तत्र समभावाः ॥ १ ॥

रामित्यर्थः, कस्य ?—कूटयाहिनो—बलीवर्दस्य, तस्य च दोषद्वयमित्याह—'अतिभारेणं भज्जति तुत्तयघापहि य मरालो' त्ति अतिभारेण भज्यते यतो विषमवाहिन एवातिभारो भवति, तुत्तयघातैश्च विषमवाहोऽयं पीड्यते, तुत्तगो—प्राजणगो मरालो—गलिरिति गाथार्थः ॥ २३९ ॥ साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनां कुर्वन्नाह—'एमेव बलसमग्गो' गाहा व्याख्या—इयमन्य कर्तृकी सोपयोगा च व्याख्यायते, 'एमेव' मरालबलीवर्दवत् बलसमग्रः सन्(यो)न करोति मायया करणेन सम्यक्—साम र्थ्यानुरूपं कायोत्सर्गं स मूढः मायाप्रत्ययं कर्म प्राप्नोति नियमत एव, तथा कायोत्सर्गक्लेशं च निष्फलं प्राप्नोति, तथाहि—निर्मायस्यापेक्षारहितस्य स्वशक्त्यनुरूपं च कुर्वत एव सर्वमनुष्ठानं सफलं भवतीति गाथार्थः ॥ अधुना मायावतो दोषानुपदर्शयन्नाह—'मायाए उस्सग्गं' गाहा, मायया कायोत्सर्गं शेषं च तपः—अनशनादि अकुर्वतः 'सहिष्णोः' समर्थस्य कश्च तस्मादन्योऽनुभविष्यति ?, किं—स्वकर्म[वि]क्षेपमनिर्जरितं, शेषता चास्य सम्यक्त्वप्राप्त्योत्कृष्टकर्मापेक्षयेति, उक्तं च—"सत्तण्हं पगडीणं अब्भितरओ उ कोडीकोडीए । काऊण सागराणं जइ लहइ चउण्हमण्णयरं ॥ १ ॥" अन्ये पठन्ति—'एमेवय उस्सग्गं' ति, न चायमतिशोभनः पाठ इति गाथार्थः ॥ १५४० ॥ यतश्चैवमतः—'निक्कूडं सविसेसं' गाहा, 'निष्कूटं'—मिस्पशठं 'सविशेष' मिति समबलादन्यस्मात् सकाशात्, न चाहमहमिकया, किं तु वयोऽनुरूपं, स्थाणुरिवोर्ध्वदेहो निष्कम्पः समशत्रुमित्रः कायोत्सर्गं तु तिष्ठेत्, तुशब्दादन्यच्च भिक्षाटनाद्येवंभूतमेवानुतिष्ठत(छेत्) इति गाथार्थः ॥ १५४१ ॥ इदानीं वयो बलं चाधिकृत्य कायोत्सर्गकरणविधिमभिधत्ते—

१ सप्तानां प्रकृतीनामभ्यन्तरे तु कोटीकोट्याः । कृत्वा सागरोपमाणां यदि लभते चतुर्णामन्यतरत् (तर्हि लभते) ॥ १ ॥

तरुणो बलवं तरुणो अ दुब्बलो थेरओ बलसमिद्धो। थेरो अबलो चउसुवि भंगेसु जहाबलं ठाई ॥ १५४२ ॥

तरुणो बलवान् १ तरुणश्च दुर्बलः २ स्थविरो बलसमृद्धः ३ स्थविरो दुर्बलः ४ चतुर्ष्वपि भङ्गेषु यथाबलं तिष्ठति बलानुरूपमित्यर्थः, न त्वभिमानतः, कथमनेनापि वृद्धेन तुल्य इत्यवष्टम्भतोऽपि स्थातव्यम्, उत्तरत्रासमाधानग्लाना द्यधिकरणसम्भवादिति गाथार्थः ॥ १५४२ ॥ गतं समसङ्ख्यशठद्वारं, साम्प्रतं शठद्वारमवसरस्तत्रेयं गाथा—

पयलायइ पडिपुच्छइ कंटयवियारपासवणधम्मे। नियडी गेलन्न वा करेइ सढं हवइ एयं ॥ १५४३ ॥

कायोत्सर्गकरणवेलायां मायया प्रचलयति—निद्रां गच्छति, प्रतिपृच्छति सूत्रमर्थं वा, कण्टकमपनयति, 'वियार'त्ति पुरीषोत्सर्गाय गच्छति, 'पासवणे'त्ति कायिकां व्युत्सृजति, 'धम्मे'त्ति धर्मं कथयति, 'निकृत्या' मायया ग्लानत्वं वा करोति कूटं भवत्येतद्—अनुष्ठानमिति गाथार्थः ॥ १५४३ ॥ गतं शठद्वारम्, अधुना विधिद्वारमाख्यायते, तत्रेयं गाथा—

पुव्वं ठंति य गुरुणो गुरुणा उस्सारियंमि पारेंति। ठायंति सविसेसं तरुणा उ अनूणविरिया उ ॥ १५४४ ॥
चउरंगुल मुहपत्ती उज्जुए डब्बहत्थ रयहरणं। वोसट्ठचत्तदेहो काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥ १५४५ ॥
घोडग लया य खंभे कुड्डे माले अ सबरि वहु नियले। लंबुत्तर थण उद्धी संजय खलिणे य वायसकविट्ठे ॥ १५४६ ॥
सीसुक्कंपिय मूई अंगुलिभमुहा य वारुणी पेहा। नाहीकरयलकुप्पर उस्सारिय पारियंमि थुई ॥ १५४७ ॥

रामित्यर्थः, कस्य ?–कूटवाहिनो–बलीवर्दस्य, तस्य च दोषद्वयमित्याह–'अतिभारेण भज्जति तुत्तयघाएहि य मराळो' त्ति अतिभारेण भज्यते यतो विषमवाहिन एवातिभारो भवति, तुत्तयघातैश्च विषमवाहोऽथ पीड्यते, मुच्चगो–पाइणगो मराळो–गळिरिति गाथार्थः ॥ २१६ ॥ साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनां कुर्वन्नाह–'एमेव बलसमग्गो'गाहा व्याख्या–इयमस्य कर्तृकी सोपयोगा च व्याख्यायते, 'एमेव'मरालबलीवर्दवत् बलसमग्रः सन्(यो)न करोति मायया करणेन सम्यक्–साम- र्थ्यानुरूपं कायोत्सर्गं स मूढः मायाप्रत्ययं कर्म प्राप्नोति नियमत एव, तथा कायोत्सर्गक्लेशं च निष्फलं प्राप्नोति, तथाहि– निर्मायस्यापेक्षारहितस्य स्वशक्त्यनुरूपं च कुर्वत एव सर्वमनुष्ठानं सफलं भवतीति गाथार्थः ॥ अधुना मायावतो दोषानुपदर्शयन्नाह–'मायाए उस्सग्गं'गाहा, मायया कायोत्सर्गं शेषं च तपः–अनशनादि अकुर्वतः 'सहिष्णोः'समर्थस्य कश्च तस्मादन्योऽनुभविष्यति ?, किं–स्वकर्म[वि]शेषमनिर्जरितं, शेषता चास्य सम्यक्त्वप्राप्त्योत्कृष्टकर्मापेक्षयेति, उक्तं च– "सत्तण्ह पगडीणं अब्भिंतरओ उ कोडीकोडीए। काऊण सागराणं जइ लहइ चउण्हमण्णयरं ॥ १ ॥" अन्ये पठन्ति– 'एमेवय उस्सग्गं'ति, न चायमतिशोभनः पाठ इति गाथार्थः॥ १५५० ॥ यतश्चैवमतः–'निक्कूड सविसेसं'गाहा, 'निष्कूट'– मित्यशठ 'सविशेष'मिति समभावादन्यस्मात् सकाशात्, न चाहमहमिकया, किं तु वयोऽनुरूपं, स्थाणुरिवोर्ध्वदेहो निष्कम्पः समशत्रुमित्रः कायोत्सर्गं तु तिष्ठेत्, तुशब्दादन्यच्च भिक्षाटनाद्येवंभूतमेवानुतिष्ठत(ष्ठेत्) इति गाथार्थः ॥ १५५१ ॥ इदानीं वयो बलं चाधिकृत्य कायोत्सर्गकरणविधिमभिधत्ते—

१ सप्तानां प्रकृतीनामभ्यन्तरे तु कोटीकोट्याः। कृत्वा सागरोपमाणां यदि लभते चतुर्णामन्यतरत् (तर्हि लभते) ॥ १ ॥

पायसमा ऊसासा कालपमाणेण हुंति नायव्वा । एय कालपमाणं उस्सग्गेणं तु नायव्वं ॥ १५३९ ॥

'पायसमा ऊसासा काल' गाहा व्याख्या—नवरं पाद:-श्लोकपाद: ॥ १५३९ ॥ व्याख्याता गमनेत्यादिद्वारगाथा, अधुनाऽऽयद्वारगाथागतमष्ठद्वारं व्याख्यायते, इह विज्ञानयता आत्मपरहितेनारमहितमितिकृत्वा स्वबलापेक्षया कायोत्सर्गः कार्यो, अन्यथाकरणेऽनेकदोषप्रसङ्गः, तथा चाह भाष्यकारः—

जो खलु तीसइवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाइसमो। विसमे व कूडवाही निव्विन्नाणे हु से जड्डे ॥ २३५ ॥ (भा०)

समभूमेवि अइभरो उज्जाणे किमुअ कूडवाहिस्स?। अइभारेणं भज्जइ तुत्तयघाएहि अ मरालो॥ २३६॥ (भा०)

एमेव बलसमग्गो न कुणइ मायाइ सम्ममुस्सग्गं । मायावडिअं कम्मं पावइ उस्सग्गकेसं च ॥ १ ॥ (प्र०)

मायाए उस्सग्ग सेसं च तयं अकुव्वओ सदुणो । को अन्नो अणुहोही सकम्मसेसं अणिज्जरियं? ॥ १५४० ॥

निक्कूडं सविसेसं वयाणुरूवं बलाणुरूवं च । खाणुव्व उद्धदेहो काउस्सग्ग तु ठाइज्जा ॥ १५४१ ॥

व्याख्या—यः कश्चित् साधुः, खलुशब्दो विशेषणार्थः, त्रिंशद्वर्षः सन् तरुणश्चाद् बलवानातङ्करहितश्च सप्ततिवर्षेणान्येन वृद्धेन साधुना पारणाइसमो-कायोत्सर्गमारम्भपरिसमाप्त्या तुल्य इत्यर्थः। विषम इव-गर्त्तादाविव कूटवाही बलीवर्द इव निर्विज्ञान एवासौ 'जड' जड्डः, स्वहितपरिज्ञानशून्यत्वात्, तथा चात्महितमेव सम्यक्कायोत्सर्गकरणं स्वकर्मक्षयफलत्वादिति गाथार्थः ॥ २३५ ॥ अधुना दृष्टान्तमेव विवृण्वन्नाह-'समभूमेवि अइभरो'गाहा व्याख्या—समभूमावपि अतिभरविषमवाहित्वात् 'उज्जाणे किमुत कूडवाहिस्स' ऊर्ध्वं यानमस्मिन्निस्युद्यानम्-उदकं तस्मिन्नुद्याने किमुत?, तुत

गोयरचरियाए सुयखधपरियट्टणे अट्ठ चेव, केसिंचि परियट्टणे पचवीस, तथा चाह–'सुयखधपरियट्टणं मंगलत्थं (उज्जोय) काउस्सग्गं काऊण कीरइ'त्ति गाथार्थः ॥ १५२४ ॥ अत्राह चोदकः—'जुज्जइ अकालपढियाइ' गाथा, युज्यते–संगच्छते घटते अकालपठितादिषु कारणेषु सत्सु अकालपठितमादिशब्दात् काले न पठितमित्यादि, तुष्टु च प्रतीच्छितादि–दुष्टविधिना प्रतीच्छितं आदिशब्दात् श्रुतहीलनादिपरिग्रहः, 'समणुण्णसमुद्देसे'त्ति समनुज्ञासमुद्देशयोः, समनुज्ञायां च समुद्देशे च कायोत्सर्गस्य करणं युज्यत एवेति योगः, अतिचारसम्भवादिति गाथार्थः ॥ १५२५ ॥ यत् पुनरुद्दिश्यमानाः श्रुतमनतिमग्नन्ता अपि निर्विषयस्वादपराधमप्राप्ता अपि 'कुणह उस्सग्गं'ति कुरुत कायोत्सर्गं एषः अकृतोऽपि दोषः कायोत्सर्गशोध्यः परिगृह्यते किं मुधा भवन्त !, न चेत् परिगृह्य(ते) न कर्तव्यः तदुद्देशकायोत्सर्ग इति गाथाभिप्रायः ॥ १५२६ ॥ अत्राहाचार्यः–'पायुग्घाई कीरइ' गाहा निगदसिद्धा ॥१५२७॥ 'सुमिणदंसणे राउ'त्ति द्वारं व्याख्यानयन्नाह–'पाणवहमुसावाए' गाहा, सुमिणंमि पाणवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव आसेविए समाणे सयमेगं तु अणूणं उस्सासाणं भविज्जाहि, मेहुणे दिट्ठिविप्परियासियाए सय इत्थीविप्परियासयाए अट्ठसयंति ॥ उक्तं च—"दिट्ठीविप्परियासे सय मेहुणमि थीविपरियासे । ववहारेणट्ठसय अणभिस्सगस्स साहुस्स ॥ १ ॥" गाथार्थः ॥ १५२८ ॥ 'णावाणतिसतार'त्ति द्वारत्रयं व्याचिख्यासुराह–'नावाए उत्तरिउं वहगाई' गाहा, गाथेयमन्यकर्तृकी सोपयोगा च निगदसिद्धा, इदानीमुच्छ्वासमानप्रतिपादनायाह—

---

१ गोचरचर्यायां श्रुतस्कन्धपरावर्तनेऽष्टैव केषाञ्चित् परावर्तने पञ्चविंशतिः, श्रुतस्कन्धपरावर्तनं मङ्गलार्थं कायोत्सर्गं कृत्वा क्रियते । २ स्वप्ने प्राणवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहेष्वासेवितेषु सत्सु शतमेकमन्यूनमुच्छ्वासानां भवेत्, मैथुने दृष्टिविपर्यासे शतं स्त्रीविपर्यासेऽष्टशतमिति.

पायसमा ऊसासा कालपमाणेण हुंति नायव्वा । एय कालपमाणं उस्सग्गेणं तु नायव्वं ॥ १५३९ ॥
'पायसमा उस्सासा काल' गाहा व्याख्या—नवरं पादः-श्लोकपादः ॥ १५३९ ॥ व्याख्याता गमनेत्यादिद्वारगाथा, अधुनाऽऽधद्वारगाथागतमशठद्वारं व्याख्यायते, इह विज्ञानवता शाठ्यरहितेनात्महितमितिकृत्वा स्ववलापेक्षया कायोत्सर्गः कार्यः, अन्यथाकरणेऽनेकदोषप्रसङ्गः, तथा चाह भाष्यकारः—
जो खलु तीसइवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणाइसमो । विसमे व कूडवाही निव्विन्नाणे हु से जड्डे ॥ २१५ ॥ (भा०)
समभूमेवि अइभरो उज्जाणे किमुअ कूडवाहिस्स ? । अइभारेणं भज्जइ तुत्तयघाएहि अ मराओ ॥ २१६ ॥ (भा०)
एमेव बलसमग्गो न कुणइ मायाइ सम्ममुस्सग्गं । मायावडिअं कम्मं पावइ उस्सग्गकेसं च ॥ १ ॥ (प्र०)
मायाए उस्सग्गं सेसं च तयं अकुव्वओ सहुणो । को अन्नो अणुहोही सकम्मसेसं अणिज्जरियं ? ॥ १५४० ॥
निक्कूडं सविसेसं वयाणुरूवं बलाणुरूवं च । खाणुव्व उद्धदेहो काउस्सग्गं तु ठाइज्जा ॥ १५४१ ॥
व्याख्या—यः कश्चित् साधुः, खलुशब्दो विशेषणार्थः, त्रिंशद्वर्षः सन् तरुणत्वात् बलवानाधक्कूरहितश्च सप्ततिवर्षेणान्येन वृद्धेन साधुना पारणाइसमो-कायोत्सर्गप्रारम्भपरिसमाप्त्या तुल्य इत्यर्थः । विषम इव-वहंकादाविव कूटवाही बलीवर्द इव निर्विज्ञान एवासौ 'जड' जड्डः, स्वहितपरिज्ञानशून्यत्वात्, तथा चात्महितमेव सम्यक्कायोत्सर्गकरणं स्वकर्मक्षयफलत्वादिति गाथार्थः ॥ २१५ ॥ अधुना दृष्टान्तमेव विवृण्वन्नाह-'समभूमेवि अइभरो'गाहा व्याख्या—समभूमावपि अतिभरचिरभयादिस्थात् 'उज्जाणे किमुत कूडयाहिस्स' ऊर्ध्वं यानमस्मिन्निस्युद्यानम्-उदकं तस्मिन्नुद्याने किमुत ?, सुत

जुज्जइ अकालपढियाइएसु दुट्ठु व पडिच्छियाईसु । समणुस्ससमुद्देसे काउस्सग्गस्स करणं तु ॥ १५३५ ॥
जं पुण उद्दिसमाणा अणइक्कंताथि कुणइ उस्सग्ग। एस अकओवि दोसो परिधिप्पइ किं मुहा भंते!? ॥१५३६॥
पावुग्घाई कीरइ उस्सग्गो मंगलंति उद्देसो। अणुवहियमंगलाणं मा हुज्ज कोहिंचि णे विग्धं ॥ १५३७ ॥
पाणवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव । सयमेग तु अणूण ऊसासाणं हविज्जाहि ॥ १५३८ ॥
नावा(ए) उत्तरिउं वहमाई तह नई च एमेव । संतारेण चलेण व गंतु पणवीस ऊसासा ॥ १ ॥ (प्र०)

गमणं भिक्षादिनिमित्तमन्यग्रामादौ, आगमणं ततो चेव, इत्थ इरियावहियं पडिक्कमिऊण पंचवीसुस्सासो काउस्सग्गो कायव्वो॥ १५३३ ॥ तथा चामुमेवावयवं विवृण्वन्नाह भाष्यकारः–'भत्ते पाणे सयणासणे' गाहा, भत्तपाणनिमित्तमन्नगामादिगया जइ न ताव वेळेत्ति ता ईरियावहियं पडिक्कमिऊण अच्छंति । आगयावि पुणोऽवि पडिक्कमंति, एवं सयणासणनिमित्तपि, सयणं–संथारगो वसही वा, आसण–पीढगादि, 'अरहंतसमणसेज्जासु'त्ति चेइघरं गया पडिक्कमिऊणं अच्छंति, एव समणसेज्जंमि–साहुवसतिमित्यर्थः, 'उच्चारपासवणे'त्ति उच्चारे वोसिरिए पासवणे य जतिवि हत्थमेत्तं गया

---

1 गमनं भिक्षादिनिमित्तमन्यग्रामादौ आगमनं तत एवेर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य पञ्चविंशत्युच्छ्वासः कायोत्सर्गः कर्तव्यः भक्तपाननिमित्तमन्यग्रामादि गता यदि तावत् वेलेति तदेर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तिष्ठन्ति आगता अपि पुनरपि प्रतिक्राम्यन्ति एवं शयनासननिमित्तमपि शयनं संस्तारको वसतिर्वा आसनं पीठादि 'अर्हच्छ्रमणशय्यासु'ति चैत्यगृहं गताः प्रतिक्रम्य तिष्ठन्ति, एवं श्रमणशय्यास्विति साधुवसतौ 'उच्चारप्रश्रवण'इति उच्चारे व्युत्सृष्टे प्रस्रवणे च यद्यपि हस्तमात्रं गता–

छोडवि आगया पडिक्कमंति, मह मतए वोसिरियं होज्ज ताहे जो तं परिठ्वेति सो पडिक्कमति, सठाणेसु पुण जइ हत्थ सयं नियत्तस्स बाहिं तो पडिक्कमंति, अह अंतो न पडिक्कमंति, पतेसु ठाणेसु काउस्सग्गपरिमाणं पणुवीसं होति ऊसा-निगद्सिद्धा च । 'सुत्ते य त्ति सूत्रद्वारं व्याचिख्यासुराह–'उद्देससमुद्देसे' गाहा व्याख्या—सुत्तस्स उद्देसे समुद्देसे य जो काउस्सग्गो कीरइ तत्थ सत्तावीसमुस्सासा भवंति, अणुण्णवणयाए य, एत्थ जइ असढो सयं चेव पारेइ, अह सढो ताहे आयरिया अट्ठय ऊसासा, 'पट्ठयणपडिक्कमणमाई' पट्ठविओ कज्जनिमित्तं जइ खलइ अट्ठुस्सासं उस्सग्गं करिय गच्छइ, बितियवारं जति तो सोलसमुस्सासं, ततियवारं जइ सो न गच्छति, अण्णो पट्ठविज्जति, ममस्सकज्जे वा देवे वं-दिय पुरओ साहू ठयेत्ता अण्णेण समं गच्छति, कालपडिक्कमणेयि अट्ठुस्सासा, आदिसद्दाओ कालगिण्हण पट्ठवणे य

---

1 मत्रोञ्चारणान्ता प्रतिक्रामन्ति, अथ मात्रके व्युत्सृष्टं भवेत् तदा यस्तं परिष्ठापयेत् स प्रतिक्राम्येत्, स्वस्थानात् पुनर्यदि हस्तशतनिर्गताद्बहि प्रतिक्राम्यन्ति अथान्तर्न प्रतिक्राम्यन्ति एतेषु स्थानेषु कायोत्सर्गपरिमाणं पञ्चविंशतिरुच्छ्वासा इति । सूत्रस्योद्देशे समुद्देशे च यः कायोत्सर्गः क्रियते तत्र सप्तविंशतिरुच्छ्वासा भवन्ति अनुज्ञापने च, अत्र यद्यशठः स्वयमेव पारयति अथ शठस्तदाऽऽचार्यो अष्टोच्छ्वासान्, प्रस्थापनप्रतिक्रमणादौ–प्रस्थापितः कार्ये निमित्तं यदि स्खलति अष्टोच्छ्वासमुत्सर्गं कृत्वा गच्छति द्वितीयवारं यदि तदा षोडशोच्छ्वासं तृतीयवारं यदि तदा न गच्छति अन्यः प्रस्थाप्यते ममत्वकार्ये वा देवान् वन्दित्वा पुरतः साधून् स्थापयित्वाऽन्येन समं गच्छति कालप्रतिक्रमणेऽप्यष्टोच्छ्वासम्, आदिशब्दात् कालग्रहणे प्रस्थापने च

जुज्जइ अकालपढियाइएसु पुट्ठु अ पडिच्छियाईसु । समणुण्णसमुद्देसे काउस्सग्गस्स करण तु ॥ १५१६ ॥
ज पुण उद्दिसमाणा अणइक्कंतावि कुणइ उस्सग्ग। एस अक्कओवि दोसो परिघिप्पइ किं मुहा भते!? ॥१५१६॥
पाबुग्घाई कीरइ उस्सग्गो मगलत्ति उद्देसो। अणुवहियमगलाणं मा हुज्ज कहिंचि णे विग्घं ॥ १५१७ ॥
पाणवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव । सयमेग तु अणूणं ऊसासाणं हविज्जाहि ॥ १५१८ ॥
नावा(ए) उत्तरिउं वहमाई तह नई च एमेव । सतारेण चलेण व गतु पणवीस ऊसासा ॥ १ ॥ (प्र०)

गमणं भिक्षादिनिमित्तमन्यग्रामादौ, आगमणं तत्तो चेव, इत्थ इरियावहियं पडिक्कमिऊण पंचवीसुस्सासो काउस्सग्गो कायव्वो ॥ १५१६ ॥ तथा चामुमेवार्थं विवृण्वन्नाह भाष्यकार —'भत्ते पाणे सयणासणे' गाहा, भत्तपाणनिमित्तमन्नगामा दिगया जइ न ताव वेलेति ता ईरियावहियं पडिक्कमिऊण अच्छंति । आगयावि पुणोऽवि पडिक्कमंति, एवं सयणासणनि मित्तंपि, सयणं—संथारगो वसही वा, आसणं—पीढगादि, 'अरहंतसमणसेज्जासु'त्ति चेइयरं गया पडिक्कमिऊणं अच्छंति, एवं समणसेज्जंमि—साहुवसतिमित्यर्थः, 'उच्चारपासवणे'त्ति उच्चारे वोसिरिए पासवणे य जइवि हत्थमेत्तं गया

---

१ गमनं भिक्षादिनिमित्तमन्यग्रामादौ आगमनं तत एवात्रेर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य पञ्चविंशत्युच्छ्वासः कायोत्सर्गः कर्तव्यः भक्तपाननिमित्तमन्यग्रामादि गता यदि तावत् वेलेति तदेर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तिष्ठन्ति आगता अपि पुनरपि प्रतिक्राम्यन्ति एवं शयनासननिमित्तमपि शयनं संस्तारको वसतिर्वा आसनं पीठादि अर्हच्छ्रमणशय्यास्वि'ति चैत्यगृहं गताः प्रतिक्रम्य तिष्ठन्ति एवं श्रमणशय्यास्विति साधुवसतौ 'उच्चारप्रस्रवण'इति उच्चारे व्युत्सृष्टे प्रस्रवणे च यद्यपि हस्तमात्रं गता—

देसिय राइय पक्खिय चउमासे या तहेव वरिसे य। पएसु हुंति नियया उस्सग्गा अनियया सेसा ॥ १५२९ ॥
साय सयं गोसऽद्धं तिन्नेव सया हवंति पक्खमि। पंच य चाउम्मासे अट्ठसहस्सं च वारिसए ॥ १५३० ॥
चत्तारि दो दुवालस वीसं चत्ता य हुंति उज्जोआ। देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे अ वरिसे य ॥ १५३१ ॥
पणवीसमद्धतेरस सिलोग पन्नत्तरिं च बोद्धव्वा। सयमेगं पणवीसं वे बावन्ना य वारिसिए ॥ १५३२ ॥

निगदसिद्धा, नवरं शेषा–गमनादिविषया इति, साम्प्रतं नियतकायोत्सर्गाणामोघत उच्छ्वासमानं प्रतिपादयन्नाह–'साय सि सायं–प्रदोषः तत्र शतमुच्छ्वासानां भवति, चतुर्भिरुद्योतकरैरिति, भावित एवायमर्थः प्राक्, 'गोसद्ध'ति प्रत्यूषे पञ्चाशदुच्छ्वासा द्योतकरद्वयं भवति, शेषं प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥ १५३० ॥ उच्छ्वासमानं चोपरिष्टाद् वक्ष्यामः 'पायसमा उस्सासा' इत्यादिना। साम्प्रतं दैवसिकादिषूद्योतकरमानमभिधित्सुराह–'चत्तारि'त्तिगाहा भावितार्था ॥ १५३१ ॥ अधुना श्लोकमानमुपदर्शयन्नाह–'पणवीसे'त्तिगाहा निगदसिद्धैव, नवरं चतुर्भिरुच्छ्वासैः श्लोकः परिगृह्यते ॥ १५३२ ॥ इत्युक्ता नियतकायोत्सर्गवक्तव्यता, इदानीमनियतकायोत्सर्गवक्तव्यतावसरः, तत्रेयं गाथा–

गमणागमणविहारे सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ। नावानइसंतारे इरियावहियापडिक्कमणं ॥ १५३३ ॥
भत्ते पाणे सयणासणे य अरिहंतसमणसिज्जासु। उच्चारे पासवणे पणवीसं हुंति उस्सासा ॥ २३४ ॥ भाष्यम् (भा०)
निययाऽऽलयाओ गमणं अन्नत्थ उ सुत्तपोरिसिनिमित्तं। होइ विहारो इत्थवि पणवीस हुंति ऊसासा ॥ १ ॥ (प्र०)
उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुन्नवणियाए। अट्ठेव य ऊसासा पट्ठवण पडिक्कमणमाई ॥ १५३४ ॥

देसिय राइय पक्खिय चउमासे या तहेव वरिसे य। एएसु हुंति नियया उस्सग्गा अनियया सेसा ॥ १५०९ ॥
साय सयं गोसद्धं तिन्नेव सया हवंति पक्खंमि। पंच य चाउम्मासे अट्ठसहस्सं च वारिसए ॥ १५१० ॥
चत्तारि दो दुवालस वीसं चत्ता य हुंति उज्जोआ। देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे अ वरिसे य ॥ १५११ ॥
पणवीसमद्धतेरस सिलोग पन्नत्तरिं च बोद्धव्वा। सयमेगं पणवीसं बे बावन्ना य वारिसिए ॥ १५१२ ॥

निगदसिद्धाः, नवरं चेष्टा-गमनादिविषया इति, साम्प्रतं नियतकायोत्सर्गाणामेव उच्छ्वासमानं प्रतिपादयन्नाह—'साय त्ति साय-प्रदोषः तत्र शतमुच्छ्वासानां भवति, चतुर्भिरुद्योतकरैरिति, भावितं चैतत्प्रमाणं प्राक्, 'गोसद्ध'त्ति प्रत्यूषे पञ्चाशदुच्छ्वासोद्योतकरद्वयं भवति, शेषं प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥ १५१० ॥ उच्छ्वासमानं चोपरिष्टाद् वक्ष्यामः 'पायसमा उस्सासा' इत्यादिना। साम्प्रतं दैवसिकादिषूद्योतकरमानमभिधित्सुराह—'चत्तारि'त्तिगाहा भावितार्था ॥ १५११ ॥ अधुना श्लोकमानमुपदर्शयन्नाह—'पणवीस'त्तिगाहा निगदसिद्धैव, नवरं चतुर्भिरुच्छ्वासैः श्लोकः परिगृह्यते ॥ १५१२ ॥ इत्युक्ता नियतकायोत्सर्गवक्तव्यता, इदानीमनियतकायोत्सर्गवक्तव्यतावसरः, तत्रेयं गाथा—

गमणागमणविहारे सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ। नावानइसंतारे इरियावहियापडिक्कमणं ॥ १५१३ ॥
भत्ते पाण सयणासणे य अरिहंतसमणसिज्जासु। उच्चारे पासवणे पणवीसं हुंति उस्सासा ॥ २५४ ॥ भाष्यम् (भा०)
निययालयाओ गमणं अन्नत्थ उ सुत्तपोरिसिनिमित्तं। होइ विहारो इत्थवि पणवीस हवंति उस्सासा ॥ १ ॥ (प्र०)
उद्देससमुद्देसे सत्तावीसं अणुन्नवणियाए। अट्ठेव य उस्सासा पट्ठवण पडिक्कमणमाई ॥ १५१४ ॥

परेंति, एस णयविगप्पो, अआचार्यो भणति—मत्थएण वंदामि अहंपि तेसिंति, अण्णो भणंति—अहमवि वंदावेमित्ति, तओ अप्पगं गुरूणं निवेदेति चउत्थखामणासुत्तेणं, तथेदं—

इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं अहा कप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा (रयहरणं वा) अक्खरं वा पयं वा गाहं वा सिलोगं वा (सिलोगद्धं वा) अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं (सम्मं) चियत्तेण दिण्णं मए अविणएण पडिच्छियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं (सूत्रम्)

निगदसिद्धं, आयरिआ भणंति—'आयरियसंतियं'ति य अहंकारवज्जणत्थं, किं ममात्थेति, तओ जे विणइया तमणुसट्ठिं बहु मन्नति पंचमखामणासुत्तेण, तथेदं—

इच्छामि खमासमणो ! कयाइं च मे कितिकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवग्गहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ अब्भुट्ठिओऽहं तुब्भण्हं तवतेयसिरीए इमाओ चाउरंत संसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामित्तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वन्दामि (सूत्रं)

निगदसिद्धं, संगहिओ-णाणादीहिं सारिओ-हिए पवत्तिओ वारिओ अहियाओ नियत्तिओ चोइओ-खलणाए पडिचोइओ-

१ करोति एष वचसो विकल्पः। मस्तकेन वन्देऽहमपि तेषामिति अन्ये भणन्ति—अहमपि वन्दामीति अत आत्मानं गुरुभ्यो निवेदयति चतुर्थक्षामणासूत्रेण आचार्या भणन्ति—आचार्यसत्कमिति चाहङ्कारवर्जनार्थं ततो वद विनयितास्तामनुशास्ति बहु मन्यते पञ्चमक्षामणासूत्रेण संगृहीताः—ज्ञानादिभिः सारिताः—हिते प्रवर्तिताः वारितोऽहिताद् निवर्तितः नोदितः स्खलनायां प्रतिनोदितः

हुन्ती य अवत्थं ववहिवन्ति, पच्छा आयरिओ भणइ–'नित्थारगपारग'त्ति नित्थारगपारगा होहत्ति, गुरुणोवि, एवाई वयणाईति वक्कसेसमयं गाथार्थः ॥ १५२९ ॥ एवं सेसाणवि साहूणं खामणावंदणं करेंति, जइ विकालो वाघाओ वा ताहे सत्तण्हं पंचण्हं तिण्ह वा, पच्छा देवसियं पडिक्कमंति, केइ भणंति–सामण्णेण, अन्ने भणंति–खामणाइयं, अण्णे पुरि, दुसगाइयं, सेजदेवयाए य उस्सग्गं करेंति, पडिक्कंताणं गुरूसु वंदिएसु वद्धमाणीओ तिण्णि थुईओ आयरिया भणंति, इमंपि अंजलिमउलियग्गहत्था समत्तीए नमोक्कारं करेंति, पच्छा सेसगावि भणंति, तद्दिवसं नवि सुत्तपोरिसी नवि अत्थ पोरुसी थुईओ भणंति अस्स सत्तियाओ एति, एसा पक्खियपडिक्कमणविही मूलटीकाकारेण भणिया, अण्णे पुण आयरणाणुसारेण भणंति–देवसिए पडिक्कंते खामिए य तओ पढमं गुरू चेव उट्ठित्ता पक्खियं खामेंति जहाराइणियाए, तओ उवविसंति, एव सेसगावि जहाराइणिया खामेत्ता उवविसंति, पच्छा वंदित्ता भणंति–देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं

1 पुनः [illegible] नित्थारकपारगा भवतेति गुरवोऽपि एतानि वचनानीति वाक्यशेषः। एवं शेषाणामपि साधूनां [illegible] यदि विकालो व्याघातो वा तदा सप्तानां पञ्चानां त्रयाणां वा पश्चाद्देवसिकं प्रतिक्रामन्ति केचित् भणन्ति–सामान्येन अन्ये भणन्ति– [illegible] कुर्वन्ति, प्रतिक्रान्तेषु गुरुषु वन्दितेषु (च) वर्धमानाक्षराः स्तुतीर्गुरवो भणन्ति इमामपि अञ्जलि- [illegible] नमस्कारं कुर्वन्ति पश्चाच्छेषा अपि भणन्ति तद्दिवसे नैव सूत्रपौरुषी नैवार्थपौरुषी स्तुतीर्भणन्ति नैव [illegible], एष पाक्षिक [illegible] अन्ये पुनः आचरणानुसारेण भणन्ति–दैवसिके प्रतिक्रान्ते क्षामिते च ततः प्रथमं गुरवश्चैव [illegible] पाक्षिकं क्षामयन्ति [illegible] एवं शेषा अपि यथारात्निकं क्षमयित्वोपविशन्ति [illegible] भणन्ति–दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिकं

करेंति, एस णवविगप्पो, अन्नायार्यो भणति—मत्थएण वदामि अहंपि तेसिंति, अण्णे भणंति—अहमवि वंदावेमिवि, तओ अप्पगं गुरूणं निवेदेंति चउत्थखामणासुत्तेणं, तच्चेदं—

इच्छामि खमासमणो! उवट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं अहा कप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुञ्छणं वा (रयहरणं वा) अक्खरं वा पयं वा गाहं वा सिलोगं वा (सिलोगद्धं वा) अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं (सम्मं) चियत्तेण दिण्णं मए अविणएण पडिच्छियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं (सूत्रम्)

निगदसिद्धं, आयरिआ भणति—'आयरियसंतियं'ति य अहंकारवज्जणत्थं, किं ममात्थेति, तओ जं विणइया तमणु सट्ठिं बहु मन्नति पंचमखामणासुत्तेण, तच्चेदं—

इच्छामि खमासमणो! कयाइं च मे कितिकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवगहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ अब्भुट्ठिओऽहं तुब्भण्हं तवतेयसिरीए इमाओ चाउरंत संसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामित्तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वन्दामि (सूत्र)

निगदसिद्ध, संगहिओ-णाणादीहिं सारिओ-हिए पवत्तिओ वारिओ अहियाओ निवत्तिओ चोइओ-खलणाए पडिचोइओ-

---

१ करोति एष नवमो विकल्पः। मस्तकेन वन्देऽहमपि तेषामिति अन्ये भणन्ति—अहमपि वन्दयामीति तत आत्मानं गुरुभ्यो निवेदयन्ति चतुर्थक्षा-
मणासूत्रेण आचार्या भणन्ति—आचार्यसत्कमिति अहङ्कारवर्जनार्थं ततो यत् विनायितास्तमनुशास्ति बहु मन्यन्ते पञ्चमक्षामणासूत्रेण संगृहीता-ज्ञानादिभिः
सारिताः—हिते प्रवर्तिताः वारितोऽहिताद् निवर्तितः चोदितः स्खलनायां प्रतिचोदितः

पुणो २ अवत्थे उवविसंति, पच्छा आयरिओ भणइ–'नित्थारगपारगा'त्ति
वयणाईति वक्कसेसमयं गाथार्थः ॥ १५२१ ॥ एवं सेसाणवि साहूणं खाम
णाई सत्तण्ह पंचण्हं तिण्हं वा, पच्छा देवसिय पडिक्कमंति, केइ भणंति–खाम
णुस्सग्गाईयं, सेज्जदेवयाए य उस्सग्गं करेंति, पडिक्कंताणं गुरुसु वंदिएसु वद्धमा
इमेवि अंजलिमउलियग्गहत्था समत्तीए नमोक्कारं करेंति, पच्छा सेसगावि भणंति,
पोरुसी पुईओ भणंति अस्स खत्तियाओ पति, एसा पक्खियपडिक्कमणविही मूलटीका
आयरणाणुसारेण भणंति–देवसिए पडिक्कंते खामिए य तओ पढमं गुरू चेव उट्ठित्ता पक्खियं
तओ उवविसंति, एव सेसगावि अहाराइणिया खामेत्ता उवविसंति, पच्छा वंदित्ता भणंति–देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं

1 पुनः पुनरवस्थानुरूपमपि, पश्चादाचार्यो भणति–निस्तारकपारगा भवतेति गुरुष्यामिति एतानि वचनानीति वाक्यशेषः। एवं शेषाणामपि साधूनां
क्षामणकानि कुर्वन्ति अथ निरुक्तो भाषातो वा तत्र क्षामणां पञ्चानां त्रयाणां वा पश्चाद्दैवसिकं प्रतिक्रमणमिति केचित् भणन्ति–क्षामणकेन साधवे भणन्ति–
क्षामणादिक अन्य कायोत्सर्गादिकं पश्चाद्देवताकायोत्सर्गं कुर्वन्ति, प्रतिक्रान्तेषु गुरुषु वन्दितेषु (च) वर्धमानाक्षिका स्तुतीरुच्चैर्भणन्ति इत्येवमपि अञ्जलि-
मुकुलिताग्रहस्ताः समाप्तौ नमस्कारं कुर्वन्ति पश्चाच्छेषा अपि भणन्ति स्तुतिरेव चैव पूर्वपौरुषी चैत्यवन्दना, स्तुतीर्भणन्ति चैव वाक्यमोक्षिताः, एष पाक्षिक-
प्रतिक्रमणविधिर्मूलटीकाकारेण भणितः अथ पुनः आचरणानुसारेण भणन्ति–दैवसिके प्रतिक्रान्ते क्षामिते च ततः प्रथमं गुरुरेवोत्थाय पाक्षिकं क्षमयन्ति
पश्चात्तिष्ठन्ति तत उपविशन्ति एवं शेषा अपि यथारात्निकं क्षमयित्वोपविशन्ति पश्चाद्वन्दित्वा भणन्ति–दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिक

करेंति, एस णवविगप्पो, अन्नाचार्यो भणति—मत्थएण वदामि अहंपि तेसिति, अण्णे भणंति—अहमवि वदावेमित्ति, तओ अप्पग गुरूणं नियेदंति चउत्थखामणासुत्तेण, तचेद—

इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओमि तुब्मण्ह संतिय अहा कप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुञ्छण वा (रयहरण वा) अक्खर वा पय वा गाह वा सिलोग वा (सिलोगद्ध वा) अट्ठ वा हेउ वा पसिण वा वागरण वा तुब्भेहिं (सम्मं) चियत्तेण दिण्ण मए अविणएण पडिच्छिय तस्स मिच्छामि दुक्कड (सूत्रम्)

निगदसिद्धं, आयरिआ भणंति—'आयरियसंतिय'ति य अहंकारवज्जणत्थं, किं ममात्रेति, तओ जं विणइया तमणु सट्ठिं बहु मन्नंति पंचमखामणासुत्तेण, तचेद—

इच्छामि खमासमणो ! कयाइं च मे कितिकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवगहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ अब्भुट्ठिओऽहं तुब्भण्ह तवतेयसिरीए इमाओ चाउरंत संसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामित्तिकट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वन्दामि (सूत्र)

निगदसिद्धं, संगहिओ-णाणादीहिं सारिओ-हिए पवत्तिओ वारिओ अहियाओ नियत्तिओ चोइओ-खलणाए पडिचोइओ-

---

१ करोति एष नवमो विकल्पः । मस्तकेन वन्देऽहमपि तेषामिति अन्ये भणन्ति—अहमपि वन्दापयामीति तत आत्मानं गुरुभ्यो निवेदयन्ति चतुर्थक्षमाश्रमणसूत्रेण आचार्या भणन्ति—आचार्यसत्कमिति अहङ्कारवर्जनार्थं ततो यद् विनायितास्तामनुशास्तिं बहु मन्यन्ते पञ्चमक्षामणासूत्रेण संगृहीताः—ज्ञानादिभिः सारिताः—हिते प्रवर्तिताः वारितोऽहितात् निवर्तितः चोदितः स्खलनायां प्रतिचोदितः

हुंतो २ अवरत्तं वन्दिज्जंति, पच्छा आयरिओ भणइ—'नित्थारगपारग'त्ति नित्थारगपारगा होहत्ति, गुरुणोत्ति, एवं वयणाईति वक्कसेसमयं गाथार्थः ॥ १५२९ ॥ एवं सेसाणवि साहूणं खामणावंदणं करेंति, अह वियालो वाघाओ वा ताहे सत्तण्ह पंचण्ह तिण्ह वा, पच्छा देवसियं पडिक्कमंति, केइ भणंति—सामण्णेणं, अन्ने भणंति—खामणाइयं, अण्णे पुण मुहणंतगाइयं, सेसवंदणाए य उस्सग्गं करेंति, पडिक्कंताणं गुरूसु वंदिएसु वड्ढमाणीओ तिण्णि थुईओ आयरिया भणंति, इमेवि अंजलिमउलियग्गहत्था समत्तीए नमोक्कारं करेंति, पच्छा सेसगावि भणंति, तद्दिवसं नवि सुत्तपोरिसी नवि अत्थ पोरसी 'थुईओ भणंति जस्स जत्तियाओ एंति, एसा पक्खियपडिक्कमणविही मूलटीकाकारेण भणिया, अण्णो पुण आयरणाणुसारेण भणति—देवसिए पडिक्कंते खामिए य तओ पढमं गुरू चेव उट्ठित्ता पक्खियं खामेंति महाराइणियाए, तओ उवविसंति, एवं सेसगावि महाराइणिया खामेत्ता उवविसंति, पच्छा वंदित्ता भणंति—देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं

1 पुनः पुनरवनतमुत्तमाङ्गेन, पश्चादाचार्यो भणति—निस्तारकपारगा भवतेति गुरुणामिति एतानि वचनानीति वाक्यशेषः। एवं शेषाणामपि साधूनां क्षामणावन्दनकं कुर्वन्ति अथ विकालो व्याघातो वा तदा सप्तानां पञ्चानां त्रयाणां वा पश्चाद्दैवसिकं प्रतिक्रामन्ति केचिद् भणन्ति—सामान्येन, अन्ये भणन्ति—क्षामणादिक अन्ये पुनः मुखानन्तकादिकं शेषवन्दनकेन उत्सर्गं कुर्वन्ति, प्रतिक्रान्तेषु गुरुषु वन्दितेषु (च) वर्धमानाः तिस्रः स्तुतीः आचार्या भणन्ति इमेऽपि अञ्जलिमुकुलिताग्रहस्ताः समाप्तौ नमस्कारं कुर्वन्ति पश्चाच्छेषा अपि भणन्ति तद्दिवसे नैव सूत्रपौरुषी नैवार्थपौरुषी, स्तुतीर्भणन्ति येन यावत्य आगच्छन्ति, एष पाक्षिकप्रतिक्रमणविधिर्मूलटीकाकारेण भणितः अपि पुनः आचरणानुसारेण भणन्ति—दैवसिके प्रतिक्रान्ते क्षामिते च ततः प्रथमं गुरुरेवोत्थाय पाक्षिकं क्षामयन्ति यथारात्निकम्, तत उपविशन्ति एवं शेषा अपि यथारात्निकं क्षामयित्वोपविशन्ति पश्चाद्वन्दित्वा भणन्ति—दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिकं

भणिय होति, एस अहण्णेण तिण्णि वक्कोसेणं सबे खामिज्जंति, पच्छा गुरू वट्टेऊणं अहाराइणियाए उद्धट्ठिओ चेव खामति, इयरेवि अहाराइणियाए सवेवि अवणउत्तमंगा भणति–देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं खामेमो पण्णरसण्हं दिवसाणमित्यादि, एवं सेसगावि जहाराइणियाए खामेंति, पच्छा वंदित्ता भणति–देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह, तओ गुरू गुरुसंदिट्ठो वा पक्खियपडिक्कमणं कड्ढति, सेसगा अहासत्तिं काउस्सग्गादिसंठिया धम्मज्झाणोवगया सुणेंति, कहिए मूलुत्तर गुणेहिं जं खंडियं तस्स पायच्छित्तनिमित्तं तिण्णि ऊसाससयाणि काउस्सग्गं करेंति, बारसउज्जोयकरत्ति भणिय होति, पारिए उज्जोयकरे थुई कड्ढति, पच्छा उवविट्ठा मुहणंतगं पडिलेहित्ता वदंति पच्छा रायाण पूसमाणवा मतिक्कंते मंगलिज्जे कज्जे बहुमन्नंति, सपुपरक्कमेण असंखियनियमवतस्स सोभणो कालो गओ अण्णोऽवि एवं चेव उवट्ठिओ, एवं पक्खियविणओवयारं खामेंति बितियखामणासुत्तेणं, तंजहा—

१ क्षामणान्ते पश्चात् गुरवस्तथा यथारात्निकमूर्ध्वस्थित एव क्षमयति, इतरेऽपि यथारात्निकं सर्वेऽप्यवनतोत्तमाङ्गा भणन्ति–दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिकं क्षमयामः पञ्चदशसु दिवसेषु, एवं शेषा अपि यथारात्निकं क्षमयन्ति पश्चाद् वन्दित्वा भणन्ति–दैवसिकं प्रतिक्रान्तं पाक्षिकं प्रतिक्रामयत ततो गुरुसंदिष्टो वा पाक्षिकप्रतिक्रमणं कथयति शेषा यथाशक्ति कायोत्सर्गादिसंस्थिता धर्मध्यानोपगताः शृण्वन्ति कथिते मूलोत्तरगुणेषु यत् खण्डितं तस्य प्रायश्चित्तनिमित्तं त्रीण्युच्छ्वासशतानि कायोत्सर्गं कुर्वन्ति द्वादशोद्योतकरानिति भणितं भवति पारिते उद्योतकरे स्तुतिं कथयन्ति पश्चादुपविष्टा मुखानन्तकं प्रतिलिख्य वन्दन्ते, पश्चात् राज्ञां पुष्यमाणवा अतिक्रान्ते माङ्गलिके कार्ये बहुमन्यन्ते–प्रभुपराक्रमेणासंख्यितनियमवतः शोभनः कालो गतः एवमेवान्योऽपि उपस्थितः, एवं पाक्षिकविनयोपचारं क्षमयन्ति द्वितीयक्षामणासूत्रेण

इच्छामि खमासमणो ! पियं च मे जं मे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायंकाणं अभग्गजोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायरियउवज्झायाणं नाणेण दंसणेण चरित्तेण तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं बहुसुभेण भे दिवसो पोसहो पक्खो वतिक्कंतो, अण्णो य भे कल्लाणेण पज्जुवट्ठिओ सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि (सूत्रम्)

निगदसिद्धं, आयरिआ भणंति–साहूहिं समं जमेयं भणियंति, तओ चेइयवंदावणं साहुवंदावणं च निवेदिउं कामा भणंति—

इच्छामि खमासमणो ! पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता नमंसित्ता तुब्भं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदेवसिया साहुणो दिट्ठा सम(मा)णा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणा वा, राइणिया संपुच्छंति ओमराइणिया वंदंति अज्जा वंदंति अज्जियाओ वंदंति सावया वंदंति सावियाओ वंदंति अहंपि निस्सल्लो निक्कसाओ (तिकट्टु) सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ अहमवि वंदावेमि चेइयाइं (सूत्रम्)

निगदसिद्धं, नवरं समणो–वुड्ढवासी वसमाणो–नवविगप्पविहारी, वुड्ढवासी जंघाबलपरिहीणो णव विभागे खेत्तं काऊण विहरति, नवविगप्पविहारी पुण उउबद्धे अट्ठ मासा मासकप्पेण विहरति, एए अट्ठ विगप्पा, वासावासं एगंमि चेव ठाणे

---

१ आचार्या भणन्ति–साधुभिः समं वन्दनं भणितमिति, ततश्चैत्यवन्दनं साधुवन्दनं च निवेदयितुकामा भणन्ति–नवरं श्रमणो–वृद्धवासी (वसन्)–नवविकल्पविहारी, वृद्धवासी क्षीणजङ्घाबलो नव विभागान् क्षेत्रं कृत्वा विहरति नवविकल्पविहारी पुनः ऋतुबद्धेऽष्टौ मासान् मासकल्पेन विहरति, एते त्वष्ट विकल्पाः [illegible] स्थाने

सामाइयपुव्वयं पडिक्कमंति, तओ वंदणापुव्वयं खामेंति, वंदणं काऊणं तओ सामाइयपुव्वयं काउस्सग्गं करेंति, तत्थ चिंतयंति—कम्मि य निउत्ता वयं गुरूहिं ?, तो तारिसयं तवं पवज्जामो जारिसेण तस्स हाणि न भवति, तओ चिंतेंति—छम्मासखमणं करेमो ?, न सक्केमो, एगदिवसेण ऊणं ?, तहवि न सक्केमो, एवं जाव पंच मासा, तओ चत्तारि तओ तिन्नि तओ दोन्नि, तओ एगं तओ अद्धमासं चउत्थं आयंबिलं एगट्ठाणयं पुरिमड्ढं निव्विगइयं, नमोक्कारसहियं वत्ति, उक्तं च—'चरिमे किं तवं काहं'ति, चरिमे काउस्सग्गे छम्मासमेगूण (दिणादि) हाणी जाव पोरिसि नमो वा, एवं जं समत्था काउं तग्गयभावा हियए करेंति, पच्छा वंदित्ता गुरुसक्खियं पवज्जंति, सव्वे य नमोक्कारइत्तगा समगं उट्ठेंति वोसिरावेंति निसीयंति य, एवं पोरिसिमादिसु विभासा, तओ तिण्णि थुई जहा पुव्वं, मंदरसप्पसद्दगं देंति जहा घरकोइलादी सत्ता न उट्ठेंति, तओ देवे वंदंति, तओ बहुवेलं संदिसावेंति, तओ रयहरणं पडिलेहंति, तओ उवधिं संदिसावेंति पडिलेहंति य,

---

1 सामायिकपूर्वकं प्रतिक्रामन्ति ततो वन्दनकपूर्वकं क्षमयन्ति वन्दनं कृत्वा ततः सामायिकपूर्वकं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति तत्र चिन्तयन्ति—कस्मिंश्च नियुक्ता वयं गुरुभिः तत्तादृशं तपः प्रपद्यामहे यादृशेन तस्य हानिर्न भवति ततश्चिन्तयन्ति—षण्मासक्षपणं कुर्मः ? न शक्नुमः एकदिवसेनोनं ? तथापि न शक्नुमः, एवं यावत् पञ्च मासाः ततश्चत्वारः ततस्त्रीन् ततो द्वौ तत एकं ततोऽर्धमासं चतुर्थभक्तमाचाम्लमेकस्थानकं पूर्वार्धं निर्विकृतिकं नमस्कारसहितं वेति चरमे कायोत्सर्गे षण्मासा एकदिनादिहानिर्यावत् पौरुषी नमस्कारसहितं वा एवं यत् समर्थाः कर्तुं तद्गतभावा हृदि कुर्वन्ति पश्चाद् वन्दित्वा गुरुसाक्षिकं प्रतिपद्यन्ते, सर्वे च नमस्कारसहिते पारकाः समकमुत्तिष्ठन्ति व्युत्सृजन्ति निषीदन्ति च एवं पौरुष्यादिषु विभाषा ततस्तिस्रः स्तुतीर्यथा पूर्वं मन्दस्वरशब्दकं ददति यथा गृहकोकिलाद्याः सत्त्वा नोत्तिष्ठन्ति ततो देवान् वन्दन्ते ततो बहुवेलं संदिशन्ति ततो रजोहरणं प्रतिलिखन्ति तत उपधिं संदिशन्ति प्रतिलिखन्ति च

तेओ वेलाएँ पडिलेहिए काले निवेसंति, अण्णे य भणंति—गुरुसमणंतरं काले निवेसंति, एवं तु पडिक्कमणकाले गुरुणेति जदा पडिक्कमंताणं पुरमवसाणे चेव पडिलेहणवेला भवति, एवं राइयं, इयाणि पक्खियं, तत्थिमो विही—जाहे देवसियं पडिक्कता भवंति निव्वाहगपडिक्कमणेण ताहे गुरू निविसंति, तओ साधू वंदित्ता भणंति—

इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओमि अब्भिंतरपक्खियं खामेउं, पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं ज किंचि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे सलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न जाणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं (सूत्र)

इदं च निगदसिद्धमेव, नवरमन्तरभाषा—आचार्यस्य भाषमाणस्यान्तरे भाषते, उपरिभाषा पूर्वकाले तदेव किञ्चिद् भाषते, समाचार्यो यदभिधत्त तत् प्रतिपादयन्नाह—'अहमवि खामेमि' गाथा व्याख्या—अहमपि खामेमि तुब्भेत्ति

1 [illegible] भवंति पडिलेहण काले निवेसंति अन्ने य भणंति—गुरुसमणंतरं काले निवेसंति, एवं तु पडिक्कमणकाले [illegible] [illegible] भवति । एवं राइयं इयाणीं पक्खियं तत्थ विही—जदा देवसियं पडिक्कंता भवंति [illegible] [illegible] भवंति—अहमवि खमामि तुब्भे [illegible] भणितं भवति, एवं [illegible]

सामाइयपुव्वयं पडिक्कमंति, तओ वंदणापुव्वयं खामेंति, वंदणं काऊणं तओ सामाइयपुव्वयं काउस्सग्गं करेंति, तत्थ चिंतेंति—कम्मि य निउत्ता वयं गुरुहिं ?, तो तारिसयं तवं पवज्जामो जारिसेण तस्स हाणि न भवति, तओ चिंतेंति—छम्मासखमणं करेमो ?, न सक्केमो, एगदिवसेण ऊणं ?, तहवि न सक्केमो, एवं जाव पंच मासा, तओ चत्तारि तओ तिन्नि तओ दोन्नि, तओ एक्कं तओ अद्धमास चउत्थं आयंबिलं एगट्ठाणयं पुरिमड्ढं निव्विगइयं, नमोक्कारसहियं वत्ति, ताहे 'चरिमे किं तवं काहं'त्ति, चरिमे काउस्सग्गे छम्मासमेगूण (दिणादि) हाणी जाव पोरिसि नमो वा, एवं जं समत्था काउं तमसढभावा हियए करेंति, पच्छा वंदित्ता गुरुसक्खियं पवज्जंति, सव्वे य नमोकारइत्तगा समगं उट्ठेंति वोसिरावेंति निसीयंति य, एवं पोरिसिमादिसु विभासा, तओ तिण्णि थुई जहा पुव्व, वंधमाणक्खरसद्दगं देंति जहा घरकोइलादी सत्ता न उट्ठेंति, तओ देवे वंदंति, तओ बहुवेलं संदिसावेंति, तओ रयहरणं पडिलेहंति, तओ उवधिं संदिसावेंति पडिलेहेंति य,

१ सामायिकपूर्वकं प्रतिक्रामन्ति ततो वन्दनकपूर्वकं क्षमयन्ति वन्दनं कृत्वा ततः सामायिकपूर्वकं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति तत्र चिन्तयन्ति—कस्मिंश्च नियुक्ता वयं गुरुभिः तत्सदृशं तपः प्रपद्यामहे यादृशेन तस्य हानिर्न भवति ततश्चिन्तयन्ति—षण्मासक्षपणं कुर्मः ? न शक्नुमः, एकदिवसेनोनं ? तथापि न शक्नुमः एवं यावत् पञ्च मासाः ततश्चत्वारः ततस्त्रयः ततो द्वौ तत एकः ततोऽर्धमासं चतुर्थभक्तमाचाम्लमेकस्थानकं पूर्वार्धं निर्विकृतिकं नमस्कारसहितं वेति चरमे कायोत्सर्गे षण्मासात् एकदिवसादिहानिर्यावत् पौरुषी नमस्कारसहितं वा, एवं यत् समर्थाः कर्तुं तदशठभावा हृदि कुर्वन्ति पश्चाद् वन्दित्वा गुरुसाक्षिकं प्रतिपद्यन्ते सर्वे च नमस्कारसहिते पारकाः समकमुत्तिष्ठन्ति व्युत्सृजन्ति निषीदन्ति च एवं पौरुष्यादिषु विभाषा ततस्तिस्रः स्तुतीर्यथा पूर्वं वर्धमानाक्षरस्वरं ददति यथा गृहकोकिलाद्याः सत्त्वा नोत्तिष्ठन्ति ततो देवान् वन्दन्ते ततो बहुवेलं संदिशन्ति ततो रजोहरणं प्रतिलेखयन्ति तत उपधिं संदिश्य प्रतिलेखयन्ति च

कड्ढेंति, काउस्सग्गे च वत्थुठितिनिमित्तं करेंति, तत्थ य पाओसियपुव्वमाईयं अधिकमकाउस्सग्गपज्जंतमइयारं चिंतेइ, आह—किंनिमित्तं पढमकाउस्सग्गे एव राइयाइयारं ण चिंतेति ?, उच्यते,

निद्दामत्तो न सरइ अइआरं मा य घट्टण ऽण्णोऽन्न । किइअकरणदोसा वा गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥ १५२५॥

निद्दामत्तो—निद्दाभिभूओ न सरइ—न संभरइ सुट्ठु अइयारं मा घट्टणं ऽण्णोऽण्णं अंधयारे वदंतयाणं, किइकिरकरण दोसा वा, अंधयारे अदंसणाओ मंदसद्धा न वंदति, एएण कारणेण गोसे—पच्चूसे आइए तिण्णि काउस्सग्गा भवन्ति, न पुण पाओसिए जहा एक्कोत्ति ॥ १५२५ ॥

एत्थ पढमो चरित्ते दसणसुद्धीऍ बीयओ होइ । सुयनाणस्स य तइओ नवरं चिंतंति तत्थ इमं ॥ १५२६ ॥
तइए निसाइयारं चिंतइ चरमंमि किं तवं काहं ?। छम्मासा एगदिणाइहाणि जा पोरिसि नमो वा ॥ १५२७॥
अहमवि अ न्नामेमी गुरूहिं सम अह य वंदामि। आयरियसतिप निस्थारगा व गुरुणो अ वयणाइं॥१५२८॥

तओ चिंतिऊण अइयारं नमोकारेण पारेत्ता सिद्धाण थुई काऊण पुव्वभणिएण विहिणा वंदित्ता आलोएंति, तमो-

1 कुर्वन्ति कायोत्सर्गं च वस्तुस्थितिनिमित्तं कुर्वन्ति तत्र च प्रादोषिकप्रभातिकं अतिक्रमकायोत्सर्गान्तमतिचारं चिन्तयन्ति । आह—किंनिमित्तं प्रथमकायोत्सर्ग एव रात्रिकातिचारं न चिन्तयन्ति ?,—निद्रामत्तः—निद्राभिभूतो न स्मरति सुष्ठु अतिचारं मा घट्टनमन्योऽन्यं अन्धकारे कृतिकर्मकरणदोषा वा—अन्धकारे मन्दश्रद्धा न वन्दन्ते, एतेन कारणेन प्राभाते आदौ त्रयः कायोत्सर्गा भवन्ति न पुनः प्रादोषिके यथैव इति तदनन्तरम् अनन्तरमेव चारित्र निद्रामपि स्तुतिं कृत्वा पूर्वभणितेन विधिना वन्दित्वाऽऽलोचयन्ति, ततः

'सुकय आणत्तिपिव छोए काऊण'त्ति जहा रण्णो मणुस्सा आणत्तिगाए पेसिया पणामं काऊण गच्छंति, त च काऊण पुणो पणामपुव्वगं निवेदेंति, एवं साहुणोऽवि सामाइयगुरुवंदणपुव्वग चरित्तादिविसोहिं काऊण पुणो सुकयकिति कम्मा सतो गुरुणो निवेदंति—भगवं ! कय ते पेसणं आयविसोहिकारगंति, वंदणं च काऊण पुणो उक्कुडुया आयरिया भिमुहा विणयरतियंजलिपुडा चिट्ठंति, जाव गुरू थुइमंगलं करेंति, ततो पच्छा समत्ताए पढमथुतीए थुई कहिंति विण यत्ति, तओ थुई वद्धुतियाओ कड्ढेंति तिण्णि, अहवा वद्धुतिया थुइओ गुरुथुतिगहणे कए तिण्णित्ति गाथार्थः ॥ १५२४ ॥ तओ पाउसिय करेंति, एवं ताव देवसियं करेंति, गतं देवसियं, राइयं इदाणिं, तत्थिमा विही, पढमं चिय सामाइयं कड्डि ऊण चरित्तविसुद्धिनिमित्तं पणुवीसुस्सासमित्त काउस्सग्ग करेंति, तओ नमोक्कारेण पारित्ता दंसणविसुद्धीनिमित्त चउ वीसत्थयं पढंति, पणुवीसुस्सासमेत्तमेव काउस्सग्गं करेंति, एत्थवि नमोक्कारेण पारेत्ता सुयणाणविसुद्धीनिमित्तं सुयणाणत्थय,

---

१ यथा राज्ञा मनुष्या आज्ञप्ता प्रेषिताः प्रणामं कृत्वा गच्छन्ति तच्च कृत्वा पुनः प्रणामपूर्वकं निवेदयन्ति एवं साधवोऽपि सामायिकगुरुवन्दनपूर्वकं चारित्रादिविशुद्धिं कृत्वा पुनः सुकृतकृतिकर्माणः सन्तो गुरुभ्यो निवेदयन्ति—भगवन्! कृतं तत् प्रेषणमात्मविशुद्धिकारकमिति वन्दनं च कृत्वा पुनरुत्कटुका आचार्याभिमुखा विनयरचिताञ्जलिपुटास्तिष्ठन्ति यावद्गुरवः स्तुतिमङ्गलं कुर्वन्ति ततः पश्चात् समाप्तायां प्रथमस्तुतौ स्तुतीः कथयन्ति विनय इति ततः स्तुतीर्वर्धमानाः कथयन्ति तिस्रोऽथवा वर्धमानाः स्तुतयः। ततः प्रादोषिकं काल कुर्वन्ति एवं यावद्दैवसिकं कुर्वन्ति गतं दैवसिकं, रात्रिकमिदानीं तत्राय विधिः—प्रथममेव सामायिकं कथयित्वा चारित्रविशुद्धिनिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति ततो नमस्कारेण पारयित्वा दर्शनविशुद्धिनिमित्तं चतुर्विंशतिस्तवं पठन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानमेव कायोत्सर्गं कुर्वन्ति अत्रापि नमस्कारेण पारयित्वा श्रुतज्ञानविशुद्धिनिमित्तं श्रुतज्ञानस्तवं

केवेति, काउस्सग्गं च तस्सुद्धिनिमित्तं करेंति, तत्थ य पाभोसियपुण्णमाईये अधिकृत्यकाउस्सग्गपज्जंतमइयारं चिंतेइ, आह—किंनिमित्तं पढमकाउस्सग्गे एव राइयाइयारं ण चिंतेति ?, उच्यते,

निद्दामत्तो न सरइ अइआरं मा य घट्टण ऽण्णोऽन्न । किइअकरणदोसा वा गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥ १५२५॥

निद्दामत्तो—निद्दाभिभूओ न सरइ—न संभरइ सुट्ठु अइयारं मा घट्टणं ऽण्णोऽण्णं अंधयारे मंदसद्धा, किइकरण-दोसा वा, अंधयारे अदंसणाओ मंदसद्धा न वंदंति, एएण कारणेणं गोसे—पच्चूसे आइए तिण्णि काउस्सग्गा भवन्ति, न पुण पाओसिए जहा पओसि ॥ १५२५ ॥

एत्थ पढमो चरित्ते दंसणसुद्धीऍ बीयओ होइ । सुयनाणस्स य तइओ नवरं चिंतंति तत्थ इमं ॥ १५२६ ॥

तइए निसाइयारं चिंतइ चरममि किं तवं काहं ?। छम्मासा एगदिणाइहाणि आ पोरिसि नमो वा ॥ १५२७॥

अहमवि न न्नामेमी गुरुभिंहि सम अहं च वदामि। आयरियसहिय निस्सारगा व गुरुणो अ वयणाइ॥१५२८॥

तओ चिंतिऊण अइयारं नमोक्कारेण पारेत्ता सिद्धाण थुई काऊण पुव्वभणियपण विहिणा वंदित्ता आलोएंति, तओ

1 कर्तव्यं क्षपाम्प्ये वसस्तुर्विधिर्गत कुर्वन्ति, तत्र च प्रादोषिकप्रमाणिकं अधिकृत्यकायोत्सर्गपर्यन्तमतिचारं चिन्तयन्ति । आह—किंनिमित्तं प्रथमकायोत्सर्गे एव रात्रिकमतिचारं न चिन्तयन्ति ?,—निद्रामत्तः—निद्राभिभूतो न स्मरति सुष्ठुतिचारं मा घट्टनमन्योऽन्यं अन्धकारे कृतिकर्मास्मरणात् मन्दश्रद्धा न वन्दन्ते एतेन कारणेन प्रत्यूषे आदौ त्रयः कायोत्सर्गा भवन्ति न पुनः प्रादोषिके यथेह इति तृतीयकायोत्सर्गे निशातिचारं चिन्तयन्ति ततो इत्थं पूर्वभणितेन विधिना वन्दित्वाऽऽलोचयन्ति, तत

धरेति, एत्त पावविगमो, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

तओ अप्पणो गुरूणं निवेदेति [illegible] [illegible]

इच्छामि खमासमणो! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] वा (इच्छाकारेणं वा) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] वा [illegible] वा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

निगदसिद्धं, आयरिओ भणति—'[illegible]' [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], एवमेव—

इच्छामि खमासमणो! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मणसा मत्थएण वन्दामि (धूर्त)

संसारकन्ताराओ साहटु नित्थरिस्सामि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

निगदसिद्धं [illegible]—[illegible] सारिओ—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

---

1 [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

कर्मोन्मूलनात् समस्तमेतत्कमनवेक्ष्येति, नमः सर्वदा—सर्वकालं 'सर्वसिद्धेभ्यः' तीर्थसिद्धादिभेदभिन्नेभ्यः, अथवा सर्वं साध्यं सिद्धं येषां ते तथा तेभ्यः, इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा पुनरासन्नोपकारित्वात् वर्द्धमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिं कुर्वन्ति—'जो देवाणवि देवो जं देवा पंजली' त्यादि, यो भगवान् महावीरः देवानामपि—भवनवासादीनां देवः, पूज्यत्वात्, तथा चाह—यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यन्ति—विनयरचितकरपुटाः सन्तः प्रणमन्ति, तं 'देवदेवमहियं' देवदेवाः—शक्रादयः तैः महितं—पूजितं शिरसा उत्तमाङ्गेनेत्यादरप्रदर्शनार्थमाह, वन्दे, तं कं ?—'महावीरं' 'ईर गतिप्रेरणयो' रित्यस्य विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति—कर्म गमयति याति वा शिवमिति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरः तं, इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः फलप्रदर्शनार्थमिदं पठति—'एकोऽपि नमोक्कारो जिणवरवसहस्से' त्यादि, एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य संसारसागरात्तारयति नरं वा नारीं वा, इयमत्र भावना—सति सम्यग्दर्शने परया भावनया क्रियमाणः एकोऽपि नमस्कारः तथाभूताध्यवसायहेतुर्भवति यथाभूतात् श्रेणिमवाप्य निस्तरति भवोदधिमित्यतः कारणे कार्योपचारादेतदभिधीयते, अन्यथा चारित्रादिवैफल्यं स्यात् । एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचिदन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियमः, 'किइकम्मं' पुणो संडासयं पडिलेहिय उवविसंति, मुहपोत्तियं पडिलेहंति ससीसोवरियं कायं पडिलेहित्ता आयरियस्स वंदणं करेंति' त्ति गाथार्थः ॥ १५२३ ॥ आह—किंनिमित्तमिदं वन्दनकमिति ?, उच्यते—

सुकयं आणत्तिं पिव लोगे काऊण सुकयकिइकम्मं । वड्ढंतिया थुईओ गुरुथुइगहणे कए तिन्नि ॥ १५२४ ॥

सिद्धाणं बुद्धाणं पारगयाणं परंपरगयाणं । लोयग्गमुवगयाणं नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥ १ ॥ जो देवाण वि देवो जं देवा पंजली नमंसंति । तं देवदेवमहिअं सिरसा वंदे महावीरं ॥ २ ॥ इक्कोऽवि नमुक्कारो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स । संसारसागराओ तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३ ॥ उज्जिंतसेलसिहरे दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स । तं धम्मचक्कवट्टिं अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥ ४ ॥ चत्तारि अट्ठ दस दो य वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं । परमट्ठनिट्ठिअट्ठा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ५ ॥ (सूत्र)

अस्य व्याख्या—सितं ध्मातमेषामिति सिद्धा निर्दग्धकर्मेन्धना इत्यर्थस्तेभ्यः सिद्धेभ्यः, ते च सामान्यतो विद्यासिद्धा अपि भवन्त्यत आह—बुद्धेभ्यः, तत्रावगताशेषाविपरीततत्त्वा बुद्धा उच्यन्ते, तत्र केचित् स्वतन्त्रतयैव तेऽपि स्वतीर्थोच्छेदनाय इहागच्छन्ति इत्यभ्युपगम्यन्ते अत आह—'पारगतेभ्यः' पारं—पर्यन्तं संसारस्य प्रयोजनव्रातस्य च गताः पारगतास्तेभ्यः, तेऽपि चानादिसिद्धैकजगत्पतीच्छावशात् केचित् तथाऽभ्युपगम्यन्ते अत आह—'परम्परगतेभ्यः' परम्परया एकेनाभिव्यक्तकार्यादागमात् (कश्चित्) प्रवृत्तोऽन्येनाभिव्यक्तकार्यादन्योऽन्येनाप्यन्य इत्येवंभूतया गताः परंपरगतास्तेभ्यः, आह-प्रथम एव केनाभिव्यक्तकार्यादागमात् प्रवृत्त इति ?, उच्यते, अनादित्वात् सिद्धानां प्रथमस्यानुपपत्तिरिति, अथवा कथञ्चित् कर्मक्षयोपशमात् दर्शनं दर्शनात् ज्ञानं ज्ञानाच्चारित्रमित्येवंभूतया परम्परया गतास्तेभ्यः, तेऽपि च कैश्चित् सर्वलोकापन्ना इष्यन्त इत्यत आह—'लोकाग्रमुपगतेभ्यः' लोकाग्रम्—ईषत्प्राग्भाराख्यं समुपगताः तेभ्यः, आह—कथं पुनरिह सकलकर्मविप्रमुक्तानां लोकाग्रं यावद्गतिर्भवति ?, भावे वा सर्वदैव कस्मान्न भवतीति ?, अत्रोच्यते, पूर्वप्रयोगात् दण्डादिच-

तस्येति किमर्थमिति ?, अत्रोच्यते, तन्निगमनत्वाददोषः, तस्यैवंगुणस्य धर्मस्य सारमुपलभ्य को सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म इति, यतश्चैवमतः 'सिद्धे भो पयओ नमो जिणमये'इत्यादि, सिद्धे-प्रतिष्ठिते प्रख्याते भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रणं पश्यन्तु भवन्तः प्रयतोऽहं-यथाशक्त्योद्यतः प्रकर्षेण यतः, इत्थं परसाक्षिकं भू(कृ)त्वा पुनर्नमस्करोति-'नमो जिनमते' अर्थात् विभक्तिपरिणामो नमो जिनमताय, तथा चास्मिन् सति जिनमते नन्दिः-समृद्धिः सदा-सर्वकालं, क ?-संयमे-चारित्रे, यथोक्तं-'पढमं णाणं तओ दये'त्यादि, किंभूते संयमे ?-देवनागसुवर्णकिन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते, तथा च संयमवन्तः अर्च्यन्त एव देवादिभिः, किंभूते जिनमते ?-लोक्यतेऽनेनेति लोकः-ज्ञानमेव स यत्र प्रतिष्ठितः, तथा जगदिदं ज्ञेयतया, केचित् मनुष्यलोकमेव जगत् मन्यन्ते इत्यत आह-त्रैलोक्यमनुष्यासुरं, आधाराधेयरूपमित्यर्थः, अयमित्थंभूतः श्रुतधर्मो वर्द्धतां-वृद्धिमुपयातु शाश्वतः-द्रव्यार्थादेशाश्रित्या, तथा चोक्तं-'द्रव्यार्थादेशात् इत्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचित् नासीदि'त्यादि, अन्ये पठन्ति-धर्मो वर्द्धतां शाश्वतं इति, अस्मिन् पक्षे क्रियाविशेषणमेतत्, शाश्वतं वर्द्धतां अप्रच्युत्येति भावना, विजयतां कर्मपरप्रवादिविजयेनेति हृदय, तथा धर्मोत्तरं-चारित्रधर्मोत्तरं वर्द्धतु, पुनर्वृद्ध्यभिधानं मोक्षार्थिना प्रत्यहं ज्ञानवृद्धिः कार्येति प्रदर्शनार्थं, तथा च तीर्थकरनामकर्महेतून् प्रतिपादयतोक्तं-"अपुव्वणाणगहणे"त्ति, 'सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए' इत्यादि प्रागवत्, यावद्वोसिरामि । एवं सुत्तं पढित्ता पणुवीसुस्सासमेव काउस्सग्गं करेमि, आह च-'सुयणाणस्स चउत्थो'त्ति, तओ नमोक्कारेण पारित्ता विसुद्धचरणदंसणसुयाइयारा मंगलनिमित्तं चरणदंसणसुयदेसगाणं सिद्धाण थुइं कड्ढंति, भणियं च—'सिद्धाण थुई य'त्ति, सा चेयं स्तुतिः—

श्रुतधर्मस्य प्रोच्यते—'तमतिमिरपटलविध्वंसनस्स सुरगणे'त्यादि, तमः—अज्ञानं तदेव तिमिरं अथवा तमः—बद्धस्पृष्टनिधत्त ज्ञानावरणीयं निकाचितं तिमिरं तस्य पटलं—वृन्दं तमस्तिमिरपटलं तद् विध्वंसयति नाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनः तस्य, तथा चाज्ञाननिरासेनैवास्य प्रवृत्तिः, तथा सुरगणनरेन्द्रमहितस्य, तथा चागममहिमानं पुर्वन्त्येव सुरादयः, तथा सीमां—मर्यादां धारयतीति सीमाधरः, सीम्नि वा धारयतीति तस्येति, तृतीयार्थे षष्ठी, त वन्दे, तस्य वा यत् माहात्म्य तद् वन्दे, अथवा तस्य वन्द इति वन्दनं करोमि, तथाहि—आगमवन्त एव मर्यादां धारयन्ति, किंभूतस्य ?—प्रकर्षेण स्फोटितं मोहजालं—मिथ्यात्वादि येन स तथोच्यते तस्य, तथा चास्मिन् सति विवेकिनो मोहजालविलयमुपयान्त्येव, इत्थं श्रुतधर्ममभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेण प्रमादागोचरतां प्रतिपादयन्नाह—'जाईजरामरणे'त्यादि, जातिः—उत्पत्तिः जरा—वयोहानिः मरणं—प्राणत्यागः शोकः—मानसो दुःखविशेषः, जातिश्च जरा च मरणं च शोकश्चेति द्वन्द्वः, जातिजरामरणशोकान् प्रणाशयति—अपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशनस्तस्य, तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानाज्जात्यादयः प्रणश्यन्त्येव, अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह, कल्यम्—आरोग्यं कल्यमणतीति कल्याणं, कल्यं शब्दयतीत्यर्थः, पुष्कलं—सम्पूर्णं न च तदल्पं किं तु विशालं—विस्तीर्णं सुखं—प्रतीतं कल्याणं पुष्कलं विशालं सुखमावहति—प्रापयतीति कल्याणपुष्कलविशालसुखावहस्तस्य, तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानादुक्तलक्षणमपवर्गसुखमवाप्यत एव, अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्वमाह, कःप्राणी देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य श्रुतधर्मस्य सारं—सामर्थ्यमुपलभ्य—दृष्ट्वा विज्ञाय कुर्यात् प्रमादं सचेतनः ? चारित्रधर्मे प्रमादः कर्त्तुं न युक्त इति हृदयम्, आह—सुरगणनरेन्द्रमहितस्येत्युक्तं पुनर्देवदानवनरेन्द्रगणार्चि

स्येति किमर्थमिति ?, अत्रोच्यते, तन्निगमनत्वाददोषः, तस्यैव गुणस्य धर्मस्य सारमुपलभ्य कः सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म इति, यतश्चैवमतः 'सिद्धे भो पयओ नमो जिणमये' इत्यादि, सिद्धे—प्रतिष्ठिते प्रख्याते भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रणं पश्यन्तु भवन्तः प्रयतोऽहं—यथाशक्त्योद्यतः प्रकर्षेण यतः, इत्थं परसाक्षिकं भू(कृ)त्वा पुनर्नमस्करोति—'नमो जिनमते' अर्थाद् विभक्तिपरिणामो नमो जिनमताय, तथा चास्मिन् सति जिनमते नन्दिः—समृद्धिः सदा—सर्वकालं, क ?—संयमे—चारित्रे, यथोक्तं—'पढमं णाणं तओ दये'त्यादि, किंभूते संयमे ?—देवनागसुवर्णकिन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते, तथा च संयमवन्तः अर्च्यन्त एव देवादिभिः, किंभूते जिनमते ?—लोक्यतेऽनेनेति लोकः—ज्ञानमेव स यत्र प्रतिष्ठितः, तथा जगदिदं ज्ञेयतया, केचित् मनुष्यलोकमेव जगत् मन्यन्ते इत्यत आह—त्रैलोक्यमनुष्यासुरं, आधाराधेयरूपमित्यर्थः, अयमित्थंभूतः श्रुतधर्मो वर्द्धतां—वृद्धिमुपयातु शाश्वतः—द्रव्यार्थादेशान्नित्यः, तथा चोक्तं—'द्रव्यार्थादेशात् इत्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिद् नासीदि'त्यादि, अन्ये पठन्ति—धर्मो वर्द्धतां शाश्वतं इति, अस्मिन् पक्षे क्रियाविशेषणमेतत्, शाश्वतं वर्द्धतां अप्रच्युत्येति भावना, विजयतां कर्मपरप्रवादिविजयेनेति हृदय, तथा धर्मोत्तरं—चारित्रधर्मोत्तरं वर्द्धतु, पुनर्वृद्ध्यभिधानं मोक्षार्थिना प्रत्यहं ज्ञानवृद्धिः कार्येति प्रदर्शनार्थं, तथा च तीर्थकरनामकर्महेतून् प्रतिपादयतोक्तं—"अपुव्वणाणगहणे"त्ति, 'सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए' इत्यादि प्राग्वत्, यावद्वोसिरामि । एवं सुत्तं पढित्ता पणुवीसुस्सासमेव काउस्सग्गं करेमि, आह च—'सुयणाणस्स चउत्थो'त्ति, तओ नमोक्कारेण पारित्ता विसुद्धचरणदंसणसुयाहयारा मंगलनिमित्तं चरणदंसणसुयदेसगाण सिद्धाणं थुइं कड्ढंति, भणियं च—'सिद्धाण थुई य'त्ति, सा चेयं स्तुतिः—

ततश्चावेव कस्मान्न क्रियेते ?, उच्यते, द्रव्यस्तवस्याप्रधानत्वात्, उक्तं च—'दव्वत्थउ भावत्थउ' इत्यादि, अतः श्रावकाः पूज नमस्कारावपि कुर्वन्त्येव, साधवस्तु प्रशस्ताध्यवसायनिमित्तमेवमभिदधति, तथा 'सम्माणवत्तियाए'त्ति सन्मानप्रत्ययं—सन्मान निमित्तं, तत्र स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणं सन्मानः, तथा मानसः प्रीतिविशेष इत्यन्ये, अथ वन्दनपूजनसत्कारसन्माना एव किंनिमित्तमित्यत आह—'बोहिलाभवत्तियाए' बोधिलाभप्रत्ययं—बोधिलाभनिमित्तं प्रेत्य जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभो भण्यते, अथ बोधिलाभ एव किंनिमित्तमित्यत आह 'निरुवसग्गवत्तियाए' निरुपसर्गप्रत्ययं—निरुपसर्गनिमित्तं, निरुप सर्गो—मोक्षः, अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धा(वि)विकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह—'सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं'ति श्रद्धया हेतुभूतया तिष्ठामि कायोत्सर्गं न बलाभियोगा दिना श्रद्धा—निजोऽभिलाषः, एवं मेधया—पटुत्वेन, न जडतया, अन्ये तु व्याचक्षते—मेधयेति मर्यादावर्त्तित्वेन नासमञ्जसत येति, एवं धृत्या—मनःप्रणिधानलक्षणया न पुना रागद्वेषाकुलतया, धारणया—अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया न तच्छून्यतया, अनुप्रेक्षया—अर्हद्गुणानामेव मुहुर्मुहुरविच्युतिरूपेणानुचिन्तनया न तद्वैकल्येन, वर्द्धमानयेति प्रत्येकमभिसम्बध्यते, श्रद्धया वर्द्धमानया एवं मेधयेत्यादि, एवं तिष्ठामि कायोत्सर्गम्, आह—उक्तमेव प्राक्करोमि कायोत्सर्गं साम्प्रतं तिष्ठामीति किमर्थ मिति ?, उच्यते, 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा (पा० ३-३ १३१) इतिकृत्वा करोमि करिष्यामीति क्रियाभिमुख्यमुक्तमिदानीं त्वासन्नतरत्वात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोः कथञ्चिदभेदात् तिष्ठाम्येव, आह—किं सर्वथा ?, नेत्याह—'अन्नत्थूससिएणमित्यादि पूर्ववत् यावद्वोसिरामि'त्ति, एवं च सुत्तं पढित्ता पणवीसूसासपरिमाणं काउस्सग्गं करेति, 'दंसणविसुद्धीय ठाउ'त्ति,

तृतीयस्तं चास्त्रातीचाराऽलोचनविषयमेयमकायोत्सर्गापेक्षयेति, ततो नमोकारेण पारेत्ता सुयणाणपरिवुड्ढिनिमित्तं भतिसयपरि-सोहणत्थं च सुयधम्मस्स भगवओ पराए भत्तीए तप्पस्सगनमोकारपुव्वं थुइं पढति, तंजहा—

पुक्खरवरदीवड्ढे घायइसंडे य जंबुदीवे य। भरहेरवयविदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥ १ ॥ तमतिमिरपडल-विद्धंसणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स। सीमाधरस्स वंदे पप्फोडियमोहजालस्स ॥ २ ॥ जाईजरामरणसोगप-णासणस्स, कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स। को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमाय ?॥ ३ ॥ सिद्धे भो! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे, देवंनागसुवण्णकिण्णरगणस्सब्भूअभाव-च्चिए। लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं, धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥ सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदण० अन्नत्थ०। (सूत्रम्)

अस्य व्याख्या—पुष्कराणि—पद्मानि तैर्वरः—प्रधानः पुष्करवरः २ श्चासौ द्वीपश्चेति समासः, तस्यार्धं मानुषोत्तराचलार्वाग्-वर्त्ति तस्मिन्, तथा धातकीनां खण्डानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपस्तस्मिंश्च, तथा जम्बोपलक्षितस्तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपस्तस्मिंश्च, एतेष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु महत्तरक्षेत्रप्राधान्याङ्गीकरणतः पश्चानुपूर्व्योपन्यस्तेषु यानि भरतैरावतविदेहानि प्राकृतशैल्या त्वेकवचननिर्देशः द्वन्द्वैकवद्भावाद् भरतैरावतविदेह इत्यपि भवति, तत्र धर्मादिकरणाश्नमस्यामि—'दुर्गति-प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते ततः। धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद् धर्म्म इति स्मृतः ॥ १ ॥' स च द्विभेदः—श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च, श्रुतधर्मेणेहाधिकारः, तस्य भरतादिष्वादौ करणशीलास्तीर्थकरा यतस्तेषां स्तुतिरुक्ता, साम्प्रतं

तत्स्वयमेव कस्मान्न क्रियेते ?, उच्यते, सुव्यस्तत्वादप्रधानत्वात्, उक्तं च–'देवस्यच मायस्यच' इत्यादि, अतः श्रावकाः पूज नसत्कारावपि कुर्वन्त्येव, साधवस्तु प्रशस्ताध्यवसायनिमित्तमेवमभिदधति, तथा 'सम्माणवत्तियाए'त्ति सन्मानप्रत्ययं–सन्मान निमित्तं, तत्र स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणं सन्मानः, तथा मानसः प्रीतिविशेष इत्यन्ये, अथ वन्दनपूजनसत्कारसन्माना एव किंनिमित्तमित्यत आह–'बोहिलाभवत्तियाए' बोधिलाभप्रत्ययं–बोधिलाभनिमित्तं प्रेत्य जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभो भण्यते, अथ बोधिलाभ एव किंनिमित्तमित्यत आह 'निरुवसग्गवत्तियाए' निरुपसर्गप्रत्ययं–निरुपसर्गनिमित्तं, निरुप सर्गो–मोक्षः, अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धा(दि)विकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह–'सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं'ति श्रद्धया हेतुभूतया तिष्ठामि कायोत्सर्गं न बलाभियोगा दिना श्रद्धा–निजोऽभिलाषः, एवं मेधया–पटुत्वेन, न जडतया, अन्ये तु व्याचक्षते–मेधयेति मर्यादावर्तित्वेन नासमञ्जसत येति, एवं धृत्या–मनःप्रणिधानलक्षणया न पुना रागद्वेषाकुलतया, धारणया–अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया न तच्छून्यतया, अनुप्रेक्षया–अर्हद्गुणानामेव मुहुर्मुहुरविच्युतिरूपेणानुचिन्तनया न तद्वैकल्येन, वर्द्धमानयेति प्रत्येकमभिसम्बध्यते, श्रद्धया वर्द्धमानया एवं मेधयेत्यादि, एवं तिष्ठामि कायोत्सर्गम्, आह–उक्तमेव प्राक्करोमि कायोत्सर्गं साम्प्रतं तिष्ठामीति किमर्थ मिति ?, उच्यते, 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा (पा० ३ ३ १३१) इतिकृत्वा करोमि करिष्यामीति क्रियाभिमुख्यमुक्तमिदानीं त्वासन्नतरत्वात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोः कथञ्चिदभेदात् तिष्ठाम्येव, आह–किं सर्वथा ?, नेत्याह–'अन्नत्थूससिएणमित्यादि पूर्ववत् यावद्वोसिरामि'त्ति, एवं च सुत्त पढित्ता पणवीसूसासपरिमाणं काउस्सग्गं करेति, 'दंसणविसुद्धीय ठाउ'त्ति,

अस्य व्याख्या—सर्वलोकेऽर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गमिति, तत्र लोक्यते—दृश्यते केवलज्ञानभास्वतेति लोकः—चतुर्दशरज्ज्वात्मकः परिगृह्यते इति, उक्तं च—"धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥ १ ॥" सर्वः खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नः, सर्वश्चासौ लोकश्च २ तस्मिन् सर्वलोके, त्रैलोक्ये इत्यर्थः, तथाहि—अधोलोके चमरादिभवनेषु तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु सन्त्येवार्हच्चैत्यानि ऊर्ध्वलोके सौधर्मादिषु सन्त्येवार्हच्चैत्यानि, तत्राशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः—तीर्थकरास्तेषां चैत्यानि—प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि, इयमत्र भावना—चित्तम्—अन्तःकरणं तस्य भावे कर्मणि वा वर्णदृढादिलक्षणे ष्यञि कृते चैत्यं भवति, तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादनादर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते, तेषां किं ?—करोमीत्युत्तमपुरुषैकवचननिर्देशेनात्माऽभ्युपगमं दर्शयति, किमित्याह—कायः—शरीरं तस्योत्सर्गः—कृताकारस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्याग इत्यर्थः, तं कायोत्सर्गं, आह—कायस्योत्सर्ग इति षष्ठ्या समासः कृतः, अर्हच्चैत्यानामिति प्रागुक्तं, तत् किमर्हच्चैत्यानां कायोत्सर्गं करोति ?, नेत्युच्यते, षष्ठीनिर्दिष्टं तत्पदं पदद्वयमतिक्रम्य मण्डूकप्लुत्या वन्दनप्रत्ययमित्यादिभिः सम्बध्यते, ततोऽर्हच्चैत्यानां वन्दनप्रत्ययं करोमि कायोत्सर्गमिति द्रष्टव्यम्, तत्र वन्दनम्—अभिवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः, तत्प्रत्ययं—तन्निमित्तं, तत्फलं मे कथं नाम कायोत्सर्गादित्यतोऽर्थमित्येवं सर्वत्र भावना कार्या, तथा 'पूयणवत्तियाए' त्ति पूजनप्रत्ययं—पूजानिमित्तं, तत्र पूजनं—गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्चनं, तथा 'सक्कारवत्तियाए' त्ति सत्कारप्रत्ययं—सत्कारनिमित्तं, तत्र प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनं सत्कारः, आह—यदि पूजनसत्कारप्रत्ययः कायोत्सर्गः क्रियते

खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ १ ॥" इत्यादि 'दुरालोइयदुप्पडिक्कंते य उस्सग्गो'त्ति एव सामिया आयरियमादी ततो दुरालोइयं वा होज्जा दुप्पडिक्कंतं वा होज्जा अणाभोगादिकारणेण ततो पुणोवि कयसामाइया चरित्तविसोहणत्थमेव काउस्सग्गं करेंतित्ति गाथार्थः ॥ १५२२ ॥ 'एस चरित्तुस्सग्गो' गाहा व्याख्या—एस चरित्तुस्सग्गोत्ति चरित्तातियारविसुद्धिनिमित्तोत्ति भणियं होइ, अयं च पन्नासुस्सासपरिमाणो ॥१५२३॥ ततो नमोकारेण पारेत्ता विसुद्धचरित्ता विसुद्धदेसयाण दंसणविसुद्धिनिमित्तं नामुक्कित्तणं करेंति, चरित्तं विसोहियमियाणिं दंसणं विसोहिज्जतित्तिकट्टु, तं पुण णामुक्कित्तणमेयं करेंति, 'लोगस्सुज्जोयगरे'त्यादि, अयं चतुर्विंशतिस्तवे न्यक्षेण व्याख्यात इति नेह पुनर्व्याख्यायते, चतुर्विंशतिस्तवं चाभिधाय दर्शनविशुद्धिनिमित्तमेव कायोत्सर्गं चिकीर्षवः पुनरिदं सूत्रं पठन्ति—

सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूअणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं (सूत्र) ॥

---

१ क्षमे सर्वस्याहमपि ॥ १ ॥ एवं क्षमयित्वाऽऽचार्यादीन् ततो दुरालोचितं वा भवेत् दुष्प्रतिक्रान्तं वा भवेत् अनाभोगादिकारणेन ततः पुनरपि कृतसामायिकाश्चारित्रविशोधनार्थमेव कायोत्सर्गं कुर्वन्ति । एष चारित्रोत्सर्गः इति चारित्रातिचारविशुद्धिनिमित्त इति भणितं भवति अयं च पञ्चाशदुच्छ्वासपरिमाणः, ततो नमस्कारेण पारयित्वा विशुद्धचारित्रा विशुद्धदेशकानां दर्शनशुद्धिनिमित्तं नामोत्कीर्तनं कुर्वन्ति चारित्रं विशोधितमिदानीं दर्शनं विशुध्यतीतिकृत्वा तत्पुनर्नामोत्कीर्तनमेतत् कुर्वन्ति ।

आलोइव निंदिव गुरुसयासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरोव भारवहो ॥ २ ॥ तथा—उप्पण्णाणुप्पन्ना माया अणुम ग्गओ निहंतव्वा । आलोयणनिंदणगरहणाहिं ण पुणो सिया बितियं ॥ ३ ॥ तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उव इसति । तं तह अणुचरियव्वं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ४ ॥ 'पडिक्कमण'ति—'आलोइऊण दोसे गुरुणा पडिवण्णपायच्छित्ता उ । सामाइयपुव्वगं समभा(वा)वठिया पडिक्कमंति ॥ १ ॥ सम्ममुवउत्ता पयपएण पडिक्कमणं कडुंति, अणवत्थपसंगभीया, अणवत्थाए पुण उदाहरणं तिल्लहारगकप्पट्ठगोत्ति, 'कितिकम्मं'ति तओ पडिक्कमित्ता खामणानिमित्त पडिक्कंतायसत्तनि वेयणत्थं च वदति, तओ आयरियमादी पडिक्कमणत्थमेव दंसेमाणा खामेंति, उक्तं च—आयरियउवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे य । जे मे केऽवि कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे । सव्व खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥ सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो । सव्वं खमावइत्ता

---

१ आलोच्य निन्दित्वा गुरुसकाशे । भवत्यतिरेकेण लघुरपहृतभर इव भारवाहः ॥ १ ॥ उत्पन्नानुत्पन्ना माया अनुमार्गं निहन्तव्या । आलोचनानिन्दना-गर्हणाभिर्न स्याद् द्वितीयवारम् ॥ ३ ॥ तस्य च प्रायश्चित्तं मार्गविद्गुरुरुपदिशति । तथाऽनुचरितव्यमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन ॥ ४ ॥ आलोच्य दोषान् गुरुणा प्रतिदत्तप्रायश्चित्तास्तु । सामायिकपूर्वं समभावावस्थिताः प्रतिक्रामन्ति ॥ १ ॥ सम्यगुपयुक्ताः पदपदेन प्रतिक्रमणसूत्र कर्षन्त्यनवस्थाप्रसङ्गभीताः अन-वस्थायां तु उदाहरणं तैलहारकपिष्ठ इति । ततः प्रतिक्रम्य क्षामणानिमित्तं प्रतिक्रान्ताः आत्मनिवेदनार्थं च वन्दन्ते तत आचार्यादीन् प्रतिक्रमणार्थमेव दर्शयन्तः क्षमयन्ति । आचार्योपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुलगणांश्च । ये मया केऽपि कषायिताः सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥ १ ॥ सर्वश्रमणसङ्घस्य भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे । सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वस्याहमपि ॥ २ ॥ सर्वस्मिन् जीवराशौ भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः । सर्वं क्षमयित्वा

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्त तदूगत विधिमभिधित्सुराह—'आ देवसिय दुगुणं चिंतइ' गाहा व्याख्या—निगदसिद्धा, नयर चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥१५२१॥'नमोक्कारचउवीसग' गाहा व्याख्या–'नमोक्कारे'ति काउस्सग्गसमत्तीए नमोक्कारेण पारेंति नमो अरहंताणंति, 'चउवीसग'त्ति पुणो जेहिं इमं तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराण उसभादीण चउवीसत्थएणं उक्कित्तणं करेंति, लोगस्सुज्जोयगरेणंति भणियं होति, 'कितिकम्मे'त्ति तओ वंदिउंकामा गुरु संडासयं पडिलेहित्ता उवविसंति, ताहे मुहणंतगं पडिलेहिय ससीसोवरियं कायं पमज्जंति, पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं कितिकम्मं करेंति, वन्दनकमित्यर्थ, उक्त च–"आलोयणवागरणासंपुच्छणपूयणाए सज्झाए । अवराहे य गुरूणं विणओ मूलं च वंदणगं ॥१॥" मित्यादि 'आलोयणं'ति एवं च वंदित्ता उत्थाय उभयकरगहियरओहरणाद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे जहारायणियाए संजयभासाए जहा गुरु सुणेइ तहा पवड्ढमाणसंवेगा भयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयंति, उक्तं च– "विणएण विणयमूलं गरूणापरियपायमूलंमि । आणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥ १ ॥ कयपावोवि मणुस्सो

१ कायोत्सर्गसमाप्तौ नमस्कारेण पारयन्ति नमोऽर्हद्भ्य इति चतुर्विंशतिरिति पुनर्यैरिदं तीर्थं देशितं तेषां तीर्थकराणामृषभादीनां चतुर्विंशतिस्तवेनोत्कीर्तनं कुर्वन्ति लोकस्योद्योतकरेणेति भणितं भवति कृतिकर्मेति ततो वन्दितुकामा गुरुं संदशकान् प्रमार्ज्योपविशन्ति ततो मुखानन्तकं प्रतिलिख्य सशीर्षोपरितनं कायं प्रमार्जयन्ति प्रमृज्य परेण विनयेन त्रिकरणविशुद्धं कृतिकर्म कुर्वन्ति । आलोचनाव्याकरणसंप्रश्नपूजनासु स्वाध्याये । अपराधे च गुरूणां विनयो मूलं च वन्दनकं । एवं च वन्दित्वोत्थायोभयकरगृहीतरजोहरणा अर्धावनतकायाः पूर्वपरिचिन्तितान् दोषान् यथारात्निकं संयतभाषया यथा गुरुः शृणोति तथा प्रवर्धमानसंवेगा भयविप्रमुक्ता आत्मनो विशुद्धिनिमित्तमालोचयन्ति–विनयेन विनयमूलं गुरूणामाचार्यपादमूले । ज्ञापयेत् सुविहितो यथाऽऽत्मानं तथा परमपि ॥ १ ॥ कृतपापोऽपि मनुष्य

आलोइउ निंदिउ गुरुसयासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरोव भारवहो ॥ २ ॥ तथा—उप्पन्नाणुप्पन्ना माया अणुम ग्गओ निहंतव्वा। आलोयणनिंदणगरहणाहिं ण पुणो सिया बितियं ॥ ३ ॥ तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उव इसति। त तह अणुचरियव्वं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ४ ॥ 'पडिक्कमण'त्ति—'आलोइऊण दोसे गुरुणा पडिदिण्णपायच्छित्ता य। सामाइयपुव्वग समभा(वा)वठिया पडिक्कमंति ॥ १ ॥ सम्मगुवउत्ता पयपएण पडिक्कमणं कुव्वंति, अणवत्थपसंगभीया, अणवत्थाए पुण उदाहरणं तिल्लाहारगकप्पडगोत्ति, 'किइकम्मे'त्ति तओ पडिक्कमित्ता खामणानिमित्तं पडिक्कंतायवत्तनि वेयणत्थं च वंदंति, तओ आयरियमादी पडिक्कमणस्सेव दसेमाणा खामेंति, उक्तं च—आयरियउवज्झाए सीसे साहंमिए कुलगणे य। जे मे केऽपि कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे। सव्व खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥ सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो। सव्वं खमावइत्ता

---

१ आलोच्य निन्दित्वा गुरुसकाशे। भवत्यतिरेकेण लघुरपहृतभर इव भारवहः ॥ २ ॥ उत्पन्नानुत्पन्ना माया अनुमार्गं निहन्तव्या। आलोचननिन्दन-गर्हणाभिर्न स्यात् द्वितीयवारम् ॥ ३ ॥ तस्य च प्रायश्चित्तं यन्मार्गविदो गुरव उपदिशन्ति। तथानुचरितव्यमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन ॥ ४ ॥ आलोच्य दोषान् गुरुणा प्रतिदत्तप्रायश्चित्तास्तु। सामायिकपूर्वं समभावावस्थिताः प्रतिक्राम्यन्ति ॥ १ ॥ सम्यगुपयुक्ताः पदंपदेन प्रतिक्रमणमेव कुर्वन्त्यनवस्थाप्रसङ्गभीताः अन-वस्थायां पुनरुदाहरणं तैलाहारकपितुरिति। ततः प्रतिक्रम्य क्षामणानिमित्तं प्रतिक्रान्ताय प्रत्यर्पणाय च वन्दन्ते ततः आचार्यादीन् प्रतिक्रमणायैव दर्श-यन्तः क्षमयन्ति। आचार्योपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुलगणांश्च। ये मया केऽपि कषायिताः सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥ १ ॥ सर्वश्रमणसङ्घस्य भगवते अञ्जलिं कृत्वा शीर्षे। सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वस्याहमपि ॥ २ ॥ सर्वस्मिन् जीवराशौ भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः। सर्वं क्षमयित्वा

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्त तद्गत विधिमभिधित्सुराह—'आ देवसिय मुगुणं चितइ' गाहा व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरं चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥१५२१॥'नमोक्कारचउवीसग' गाहा व्याख्या—'नमोक्कारे'त्ति काउस्सग्गसमत्तीए नमोक्कारेण पारेंति नमो अरहंताणंति, 'चउवीसग'त्ति पुणो जेहिं इम तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराणं उसभादीणं चउवीसत्थएणं उक्कित्तणं करेंति, लोगस्सुज्जोयगरेणंति भणियं होति, 'कितिकम्मे'ति तओ वंदिउकामा गुरु संडासय पडिलेहित्ता उवविसंति, ताहे मुहणंतगं पडिलेहिय ससीसोवरियं काय पमज्जंति, पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं कितिकम्मं करेंति, वन्दनकमित्यर्थः, उक्तं च—"आलोयणवागरणासंपुच्छणपूयणाए सज्झाए। अवराहे य गुरूणं विणओ मूलं च वंदणगं ॥१॥" मित्यादि 'आलोयणं'ति एवं च वंदित्ता उत्थाय उभयकरगहियरओहरणाद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे जहारायणियाए संजयभासाए जहा गुरू सुणेइ तहा पवड्ढमाणसंवेगा भयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयंति, उक्तं च—"विणएण विणयमूलं गंतूणायरियपायमूलंमि। जाणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥१॥ कयपावोवि मणुस्सो

---

१ कायोत्सर्गसमाप्तौ नमस्कारेण पारयंति नमोऽर्हद्भ्य इति चतुर्विंशतिरिति पुनर्यैरिदं तीर्थं देशितं तेषां तीर्थकराणामृषभादीनां चतुर्विंशतिस्तवेनोत्कीर्त्तनं कुर्वन्ति लोकस्योद्योतकरेणेति भणितं भवति कृतिकर्मेति ततो वन्दितुकामा गुरु संदंशकान् प्रमार्ज्योपविशन्ति ततो मुखानन्तकं प्रतिलिख्य सशीर्षमुपरितनं कार्यं प्रमार्जयन्ति प्रमृज्य परेण विनयेन त्रिकरणविशुद्धं कृतिकर्म कुर्वन्ति। आलोचनाव्याकरणसंप्रश्नपूजनासु स्वाध्याये। अपराधे च गुरूणां विनयो मूलं च वन्दनकं। एवं च वन्दित्वोत्थायोभयकरगृहीतरजोहरणा अर्धावनतकायाः पूर्वपरिचिन्तितान् दोषान् यथारात्निकं संयतभाषया यथा गुरुः शृणोति तथा प्रवर्धमानसंवेगा भयविप्रमुक्ता आत्मनो विशुद्धिनिमित्तमालोचयन्ति—विनयेन विनयमूलं गत्वाऽऽचार्यपादमूले। ज्ञापयेत् सुविहितो यथाऽऽत्मानं तथा परमपि ॥ १ ॥ कृतपापोऽपि मनुष्य

आलोइय निंदिय गुरुसगासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरोव्व भारवहो ॥ २ ॥ तथा—उप्पण्णाणुप्पन्ना माया अणुमग्गओ निहंतव्वा। आलोयणनिंदणगरहणाहिं ण पुणो सिया बितियं ॥ ३ ॥ तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविदू गुरू उवइसति। तं तह अणुचरियव्वं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ४ ॥ 'पडिक्कमणं'ति—'आलोइऊण दोसे गुरुणा पडिवण्णपायच्छित्ता उ। सामाइयपुव्वग समभा(या)वठिया पडिक्कमंति ॥ १ ॥ सम्ममुवउत्ता पयपएण पडिक्कमणं करेंति, अणवत्थपसंगभीया, अणवत्थाए पुण उदाहरणं तिल्लहारगकप्पडगोत्ति, 'किइकम्मं'ति ततो पडिक्कमित्ता खामणानिमित्तं पडिक्कमणवत्तनिवेयणत्थं च वदंति, ततो आयरियमादी पडिक्कमणक्कमेण दसेमाणा खामेंति, उक्तं च—आयरियउवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे य। जे मे केऽवि कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे। सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥ सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो। सव्वं खमावइत्ता

---

१ आलोच्य निन्दित्वा गुरुसकाशे। भवत्यतिरेकेण लघुकोऽपहृतभर इव भारवाहः ॥ २ ॥ उत्पन्नानुत्पन्ना माया अनुमार्गं निहन्तव्या। आलोचनानिन्दनागर्हणाभिर्न स्याद् द्वितीयवारम् ॥ ३ ॥ तस्य च प्रायश्चित्तं यन्मार्गविदो गुरव उपदिशन्ति। तत्तथाऽनुचरितव्यमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन ॥ ४ ॥ आलोच्य दोषान् गुरुणा प्रतिपन्नप्रायश्चित्तास्तु। सामायिकपूर्वं समभावावस्थिताः प्रतिक्रामन्ति ॥ १ ॥ सम्यगुपयुक्ताः पदपदेन प्रतिक्रमणसूत्रं कुर्वन्त्यनवस्थाप्रसङ्गभीताः अनवस्थायां पुनरुदाहरणं तैलहारकमिति। ततः प्रतिक्रम्य क्षामणानिमित्तं प्रतिक्रमणनिवेदनार्थं च वन्दन्ते ततः आचार्यादीन् प्रतिक्रमणक्रमेणैव दर्शयन्तः क्षमयन्ति। आचार्योपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुलगणांश्च। ये मया केऽपि कषायिताः सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥ १ ॥ सर्वश्रमणसङ्घस्य भगवतः अञ्जलिं कृत्वा शीर्षे। सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वस्याहमपि ॥ २ ॥ सर्वस्मिन् जीवराशौ भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः। सर्वं क्षमयित्वा

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्त तद्गत विधिमभिधित्सुराह—'आ देवसिय दुगुणं चिंतइ' गाहा व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरं चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥१५२१॥'नमोक्कारचउवीसग' गाहा व्याख्या–'नमोक्कारे'ति काउस्सग्गसमत्तीए नमोक्का रेण पारेंति नमो अरहंताणंति, 'चउवीसग'त्ति पुणो जेहिं इम तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराण उसभादीण चउवीसत्थयण्णं उक्कित्तणं करेंति, लोगस्सुज्जोयगरेणंति भणियं होति, 'कितिकम्मे'ति तओ वंदिउकामा गुरु संडासयं पडिलेहित्ता उवविसंति, ताहे मुहणंतगं पडिलेहिय ससीसोवरियं काय पमज्जंति, पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं कितिकम्मं करेंति, वन्दनकमित्यर्थः, उक्त च–"आलोयणवागरणासंपुच्छणपूयणाए सज्झाए । अवराहे य गुरूणं विणओ मूलं च वंदणगं ॥१॥" मित्यादि 'आलोयणं'ति एवं च वंदित्ता उभय करगहियरओहरणाद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे अहारायणि याए संजयभासाए जहा गुरु सुणेइ तहा पवड्ढमाणसंवेगा भयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयंति, उक्तं च– "विणएण विणयमूलं गंतूणायरियपायमूलंमि । जाणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥ १ ॥ कयपावोवि मणुस्सो

1 कायोत्सर्गसमाप्तौ नमस्कारेण पारयन्ति नमोऽर्हद्भ्य इति चतुर्विंशतिरिति पुनर्यैरिह तीर्थं देशितं तेषां तीर्थंकराणामृषभादीनां चतुर्विंशतिस्तवोत्कीर्तनं कुर्वन्ति लोकस्योद्योतकरेणेति भणितं भवति कृतिकर्मेति ततो वन्दितुकामा गुरुं संदंशकान् प्रमार्ज्योपविशन्ति ततो मुखानन्तकं प्रतिलिख्य सशीर्षोपरितनं कायं प्रमार्जयन्ति प्रमृज्य परेण विनयेन त्रिकरणविशुद्धं कृतिकर्म कुर्वन्ति । आलोचनाव्याकरणसंप्रश्नपूजनासु स्वाध्याये । अपराधे च गुरूणां विनयो मूलं च वन्दनकं । एवं च वन्दित्वोभयोः करगृहीतरजोहरणा अर्धावनतकायाः पूर्वरचितान् दोषान् यथारात्निकं संयतभाषया यथा गुरुः शृणोति तथा प्रवर्धमानसंवेगा भयविप्रमुक्ता आत्मनो विशुद्धिनिमित्तमालोचयन्ति–विनयेन विनयमूलं गत्वाऽऽचार्यपादमूले । ज्ञापयेत् सुविहितो यथाऽऽत्मानं तथा परमपि ॥ १ ॥ कृतपापोऽपि मनुष्य

आलोइय निंदिय गुरुसयासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरोव्व भारवहो ॥ २ ॥ उप्पा-उप्पण्णाणुप्पण्णा माया अणुमग्गओ निहंतव्वा। आलोयणनिंदणगरहणाहिं ण पुणो सिया बितियं ॥ ३ ॥ तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति। तं तह अणुचरियव्वं अणवत्थपसंगभीएण ॥ ४ ॥ 'पडिक्कमणं'ति–'आलोइऊण दोसे गुरुणा पडिदिण्णपायच्छित्ता उ। सामाइयपुव्वग समभा(वा)वठिया पडिक्कमंति ॥ १ ॥ सम्ममुवउत्ता पयंपएण पडिक्कमणं कड्ढंति, अणवत्थपसंगभीया, अणवत्थाए पुण उदाहरण तिलहारगकप्पट्ठगोत्ति, 'कितिकम्मं'ति ततो पडिक्कमित्ता खामणानिमित्तं पडिक्कमणावत्तनिवेयणत्थं च वदंति, ततो आयरियमादी पडिक्कमणत्थमेव वंदेमाणा खामेति, उक्तं च–आयरियउवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे य। जे मे केऽवि कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे। सव्वं खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥ सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो। सव्वं खमावइत्ता

---

१ आलोच्य निन्दित्वा गुरुसकाशे। भवत्यतिलघुकः अपहृतभर इव भारवाहः ॥ २ ॥ उत्पन्नानुत्पन्ना माया अनुमार्गं निहन्तव्या। आलोचननिन्दनगर्हणाभिर्न स्यात् द्वितीयवारम् ॥ ३ ॥ तस्य च प्रायश्चित्तं यन्मार्गविदो गुरव उपदिशन्ति। तत्तथानुचरितव्यमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन ॥ ४ ॥ आलोच्य दोषान् गुरुणा प्रतिदत्तप्रायश्चित्तास्तु। सामायिकपूर्वं समभावावस्थिताः प्रतिक्रमन्ति ॥ १ ॥ सम्यगुपयुक्ताः पदंपदेन प्रतिक्रमणसूत्रं कथयन्त्यनवस्थाप्रसङ्गभीताः अनवस्थायां पुनरुदाहरणं तिलहारकचिकित्सेति। ततः प्रतिक्रम्य क्षामणानिमित्तं प्रतिक्रमणाभ्युत्थाननिवेदनार्थं च वन्दन्ते तत आचार्यादीन् प्रतिक्रमणार्थमेव एवं वन्दकाः क्षमयन्ति। आचार्योपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुलगणांश्च। ये मया केऽपि कषायिताः सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥ १ ॥ सर्वश्रमणसङ्घस्य भगवतः अञ्जलिं कृत्वा शीर्षे। सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वेषामपि ॥ २ ॥ सर्वस्मिन् जीवराशौ भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः। सर्वं क्षमयित्वा

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्त तद्गत विधिमभिधित्सुराह—'आ देवसियं दुगुणं चिंतइ' गाहा व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरं चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥१५२१॥'नमोक्कारचउवीसग' गाहा व्याख्या-'नमोकारे'त्ति काउस्सग्गसमत्तीए नमोक्कारेण पारेंति नमो अरहंताणंति, 'चउवीसग'त्ति पुणो जेहिं इमं तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराणं उसभादीण चउवीसत्थएण उक्कित्तणं करेंति, लोगस्सुज्जोयगरेणंति भणियं होति, 'कितिकम्मे'त्ति तओ वंदिउकामा गुरुं संडासयं पडिलेहित्ता उवविसंति, ताहे मुहणतगं पडिलेहिय ससीसोवरियं कायं पमज्जंति, पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं कितिकम्मं करेंति, वन्दनकमित्यर्थः, उक्तं च—"आलोयणवागरणासंपुच्छणपूयणाए सज्झाए । अवराहे य गुरूणं विणओ मूलं च वंदणगं ॥१॥" मित्यादि 'आलोयणं'ति एवं च वंदित्ता उत्थाय उभयकरगहियरओहरणाद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे अहारायणियाए संजयभासाए जहा गुरू सुणेइ तहा पवड्ढमाणसंवेगा भयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयंति, उक्तं च—"विणएण विणयमूलं गंतूणायरियपायमूलंमि । जाणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥ १ ॥ कयपावोवि मणुस्सो

1 कायोत्सर्गसमाप्तौ नमस्कारेण पारयंति नमोऽर्हद्भ्य इति चतुर्विंशतिरिति पुनर्यैरिदं तीर्थं दर्शितं तेषां तीर्थंकराणामृषभादीनां चतुर्विंशतिस्तवेनोत्कीर्तनं कुर्वन्ति लोकस्योद्योतकरेणेति भणितं भवति कृतिकर्मेति ततो वन्दितुकामा गुरु संदंशकान् प्रमार्ज्योपविशन्ति ततो मुखानन्तकं प्रतिलिख्य सशीर्षोपरितनं कायं प्रमार्जयन्ति प्रमृज्य परेण विनयेन त्रिकरणविशुद्धं कृतिकर्म कुर्वन्ति । आलोचनाव्याकरणसंप्रश्नपूजनासु स्वाध्याये । अपराधे च गुरूणां विनयो मूलं च वन्दनकं । एवं च वन्दित्वोत्थायोभयकरगृहीतरजोहरणा अर्धावनतकायाः पूर्वपरिचिन्तितान् दोषान् यथारात्निक संयतभाषया यथा गुरुः शृणोति तथा प्रवर्धमानसंवेगा भयविप्रमुक्ता आत्मनो विशुद्धिनिमित्तमालोचयन्ति—विनयेन विनयमूलं गत्वाऽऽचार्यपादमूले । ज्ञापयेत् सुविहितो यथाऽऽत्मानं तथा परमपि ॥ १ ॥ कृतपापोऽपि मनुष्य

आलोइय निंदिय गुरुसगासे। होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरोव भारवहो ॥ २ ॥ तथा–उप्पण्णाणुप्पन्ना माया अणुमग्गओ निहंतव्वा । आलोयणनिंदणगरहणाहिं ण पुणो सिया बिइयं ॥ ३ ॥ तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति । तं तह अणुचरियव्वं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ४ ॥ 'पडिक्कमण'त्ति–'आलोइऊण दोसे गुरुणा पडिदिण्णपायच्छित्ता उ । सामाइयपुव्वग समभा(या)वठिया पडिक्कमंति ॥ १ ॥ सम्ममुवउत्ता पयपएण पडिक्कमणं कड्ढंति, अणवत्थपसंगभीया, अणवत्थाए पुण उदाहरणं तिलहारगकप्पट्ठगोत्ति, 'किइकम्मं'ति तओ पडिक्कमित्ता खामणानिमित्तं पडिक्कंतासवयनिवेयणत्थं च वदंति, तओ आयरियमादी पडिक्कमणत्थमेव पवेमाणा खामेंति, उक्तं च–आयरियउवज्झाए सीसे साहम्मिए कुलगणे य । जे मे केऽवि कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥ सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे । सव्व खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयंपि ॥ २ ॥ सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो । सव्वं खमावइत्ता

---

१ आलोच्य निन्दित्वा गुरुसकाशे । भवत्यतिशयेन लघुरपहृतभर इव भारवाहः ॥ २ ॥ उत्पन्नानुत्पन्ना माया अनुमार्गे निहन्तव्या । आलोचनानिन्दनगर्हणाभिर्न पुनः स्याद् द्वितीयवारम् ॥ ३ ॥ तस्य च प्रायश्चित्तं यन्मार्गविदो गुरव उपदिशन्ति । तत्तथाऽनुचरितव्यमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन ॥ ४ ॥ आलोच्य दोषान् गुरुणा प्रतिदत्तप्रायश्चित्तास्तु । सामायिकपूर्वं समभावावस्थिताः प्रतिक्रामन्ति ॥ १ ॥ सम्यगुपयुक्ताः पदपदेन प्रतिक्रमणसूत्रं कथयन्त्यनवस्थाप्रसङ्गभीताः अनवस्थायां पुनरुदाहरणं तिलहारकभिक्षुरिति । ततः प्रतिक्रम्य क्षामणानिमित्तं प्रतिक्रान्ताश्रवनिवेदनार्थं च वन्दन्ते ततः आचार्यादीन् प्रतिक्रमणार्थमेव एवं वन्दमानाः क्षमयन्ति । आचार्योपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुलगणांश्च । ये मया केऽपि कषायिताः सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥ १ ॥ सर्वस्य श्रमणसंघस्य भगवतः अञ्जलिं कृत्वा शीर्षे । सर्वं क्षमयित्वा क्षमे सर्वस्याहमपि ॥ २ ॥ सर्वस्मिन् जीवराशौ भावतो धर्मनिहितनिजचित्तः । सर्वं क्षमयित्वा

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्त तद्गत विधिमभिधित्सुराह—'आ देवसियं पुगुण चिंतइ' गाहा व्याख्या—निगदसिद्धा, नवरं चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥१५२१॥'नमोक्कारचउवीसग' गाहा व्याख्या–'नमोक्कारे'त्ति काउस्सग्गसमत्तीए नमोक्कारेण पारेंति नमो अरहंताणंति, 'चउवीसग'त्ति पुणो जेहिं इमं तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराणं उसभादीणं चउवीसत्थयणं उक्कित्तणं करेंति, लोगस्सुज्जोयगरेणंत्ति भणियं होति, 'कितिकम्मे'त्ति तओ वंदिउंकामा गुरुं संडासयं पडिलेहित्ता उवविसंति, ताहे मुहणंतगं पडिलेहिय ससीसोवरियं कायं पमज्जंति, पमज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं किइकम्मं करेंति, वन्दनकमित्यर्थः, उक्तं च–"आलोयणवागरणासंपुच्छणपूयणाए सज्झाए। अवराहे य गुरूणं विणओ मूलं च वंदणगं॥१॥" मित्यादि 'आलोयणं'ति एवं च वंदित्ता उस्थाय उभयकरगहियरओहरणाअद्धावणयकाया पुव्वपरिचिंतिए दोसे अहारायणियाए संजयभासाए जहा गुरू सुणेइ तहा पवड्ढमाणसंवेगा भयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोयंति, उक्तं च–"विणएण विणयमूलं गंतूणायरियपायमूलंमि। जाणाविज्ज सुविहिओ जह अप्पाणं तह परंपि ॥१॥ कयपावोवि मणुस्सो

1 कायोत्सर्गसमाप्तौ नमस्कारेण पारयंति नमोऽर्हद्भ्य इति चतुर्विंशतिरिति पुनर्यैरिदं तीर्थं दर्शितं तेषां तीर्थंकराणामृषभादीनां चतुर्विंशतिस्तवोत्कीर्तनं कुर्वन्ति लोकस्योद्योतकरेणेति भणितं भवति कृतिकर्मेति ततो वन्दितुकामा गुरुं संदंशकान् प्रमार्ज्योपविशन्ति ततो मुखानन्तकं प्रतिलिख्य सशीर्षोपरितनं कायं प्रमार्जयन्ति प्रमृज्य परेण विनयेन त्रिकरणविशुद्धं कृतिकर्म कुर्वन्ति। आलोचनाव्याकरणसंप्रश्नपूजनासु स्वाध्याये। अपराधे च गुरूणां विनयो मूलं च वन्दनकं। एवं च वन्दित्वोत्थायोभयकरगृहीतरजोहरणा अर्धावनतकायाः पूर्वपरिचिन्तितान् दोषान् यथारत्नाधिकं संयतभाषया यथा गुरुः शृणोति तथा प्रवर्धमानसंवेगा भयविप्रमुक्ता आत्मनो विशुद्धिनिमित्तमालोचयन्ति–विनयेन विनयमूलं गत्वाऽऽचार्यपादमूले। ज्ञापयेत् सुविहितो यथाऽऽत्मानं तथा परमपि ॥ १ ॥ कृतपापोऽपि मनुष्य

सए ठाणे'त्ति एकमन्यथा यस्य यदैव व्यापारपरिसमाप्तिर्भवति स तदैव सामयिकं कृत्वा तिष्ठतीति गाथार्थः ॥ १५१७ ॥ अयं च विधिः केनचित् कारणान्तरेण गुरोर्व्याघाते सति। 'अह पुण निव्वाघाओ' व्याख्या—यदि पुनर्निर्व्याघात एव सर्वे-सामायिक-प्रतिक्रमणे ततः कुर्वन्ति सर्वेऽपि सहैव गुरुणा 'सड्ढादिकहणवाघाते पच्छा गुरु ठंति'त्ति निगदसिद्धमिति गाथार्थः ॥ १५१८ ॥ यदा च पश्चाद् गुरवस्तिष्ठन्ति तदा—'सेसा उ जहासत्ती' गाहा व्याख्या—शेषास्तु साधवो यथाशक्ति-शक्त्यनुरूप यो हि याव तं कालं स्थातु समर्थः 'आपुच्छित्ता गुरु ठंति सट्ठाणे सामायिकं काऊण, किंनिमित्तं?—'सुत्तत्थसरणहेउं' सूत्रार्थस्मरणनिमित्त–'आयरिए ठियम्मि देवसियं' आयरिए पुरओ ठिए तस्स सामाइयावसाणे देवसियं अइयारं चिंतेति, अण्णे भणंति–जाहे आयरिओ सामाइयं कड्ढइ ताहे तेवि तयट्ठिया चेव सामाइयसुत्तमणुपेहंति गुरुणा सह पच्छा देवसियं'ति गाथार्थः ॥ १५१९ ॥ शेषाश्च यथा शक्तिरित्युक्तं, यस्य कायोत्सर्गेण स्थातुं शक्तिरेव नास्ति स किं कुर्यादिति तद्गतं विधिमभिधित्सुराह—'जो हुज्ज उ असमत्थो' गाहा व्याख्या—यः कश्चित् साधुर्भवेदसमर्थः कायोत्सर्गेण स्थातु, स किंभूत इत्याह–बालो वृद्धो ग्लानः 'परितंतो'त्ति परिश्रान्तो गुर्वैयावृत्त्यकरणादिना असावपि विकथादिविरहितः सन् ध्यायेत् सूत्रार्थं 'जा गुरु ठंति'त्ति यावद् गुरवस्तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥ १५२० ॥

---

१ आपृच्छ्य गुरून् तिष्ठन्ति स्वस्थाने सामायिकं कृत्वा किंनिमित्तं? सूत्रार्थस्मरणहेतोः। आचार्ये स्थिते दैवसिक–आचार्ये पुरतः स्थिते तस्य सामायिकावसाने दैवसिकमतिचारं चिन्तयन्ति, अन्ये भणन्ति–यदाऽऽचार्यः सामायिकं कर्षन्ति तदा तेऽपि तदवस्थिता एव सामायिकसूत्रमनुप्रेक्षन्ते गुरुणा सह पश्चाद्दैवसिक

कायोत्सर्गभङ्गो 'दीहडक्को वे'ति सर्पदष्टे चात्मनि परे वा सहसा—अकाण्ड एवोच्चारयतः, तथैव चाक्रियन्त इत्याकारा तैराकारैरभग्नः स्यात् कायोत्सर्ग एवमादिभिरिति गाथार्थः ॥ १५१६ ॥ अधुनौघतः कायोत्सर्गविधिप्रतिपादनायाह—

ते पुण सवूरिए चिय पासवणुच्चारकालभूमीओ । पेहित्ता अत्थमिए ठन्तुस्सग्ग सए ठाणे ॥ १५१७ ॥
जइ पुण निव्वाघाए आवास तो करिंति सव्वेवि । सड्ढाइकहणवाघायययाइ पच्छा गुरू ठंति ॥ १५१८ ॥
सेसा उ जहासत्तिं आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थसरणहेउ आयरिए ठियंमि देवसिय ॥ १५१९ ॥
जो हुज्ज उ असमत्थो बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो । सो विकहाइविरहिओ झाइज्जा जा गुरू ठंति ॥ १५२० ॥
जा देवसिअ दुगुणं चिंतइ गुरू अहिंडओऽचिट्ठ । बहुवावारा इअरे एगगुण ताव चिंतंति ॥ १५२१ ॥
पच्छइयाण य चिट्ठ नाऊण गुरू बहु यहुविहीअ । कालेण तनुचिएणं पारेई थोवचिट्ठोऽवि ॥ (प्र०१) ॥
नमुक्कारचउवीसगकिइकम्मालोअण पडिक्कमण । किइकम्मदुरालोइअ दुप्पडिक्कंते य उस्सग्गो ॥ १५२२ ॥
एस चरित्तुस्सग्गो दंसणसुद्धीइ तइयओ होइ । सुअनाणस्स चउत्थो सिद्धाण थुई अ किइकम्म ॥ १५२३ ॥

व्याख्या—ते पुनः—कायोत्सर्गकर्त्तारः सपूर्व एव दिवसे प्रश्रवणोच्चारकालभूमयः (मीः) प्रत्युपेक्षन्ते, द्वादश प्रश्रवण भूमयः आलयपरिभोगान्तः षट् षट् बहिः, एवमुच्चारभूमयो द्वादश, प्रमाण चासां तिर्यग् जघन्येन हस्तमात्रमधश्चत्वार्यङ्गु लानि यावत् अचेतनं, उत्कृष्टतस्तु स्थण्डिलं द्वादश योजनमानं, न च तेनेहाधिकारः, तिस्रस्तु कालभूमयः—कालमण्डलरूपाः, यावच्चैनमस्य च श्रमणयोगं कुर्वन्ति कालवेलायां तावत् प्रायशोऽस्तमुपयात्येव सविता ततश्च 'अत्थमिए ठंति उस्सग्गं

सए ठाणे'त्ति एकमन्यथा यस्य यदैव व्यापारपरिसमाप्तिर्भवति स तदैव सामयिकं कृत्वा तिष्ठतीति गाथार्थः ॥ १५१७ ॥ अयं च विधिः केनचित् कारणान्तरेण गुरोर्व्याघाते सति। 'अह पुण निव्वाघाओ' व्याख्या—यदि पुनर्निर्व्याघात एव सर्वे- षामावश्यक-प्रतिक्रमणं ततः कुर्वन्ति सर्वेऽपि सहैव गुरुणा 'सड्ढाविकहणवाघाते पच्छा गुरु ठंति'त्ति निगदसिद्धमिति गाथार्थ ॥ १५१८ ॥ यदा च पश्चात् गुरवस्तिष्ठन्ति तदा—'सेसा उ जहासत्ती' गाहा व्याख्या—शेषास्तु साधवो यथा शक्ति-शक्त्यनुरूपं यो हि यावन्तं कालं स्थातुं समर्थः 'आपुच्छित्ता गुरु ठंति सट्ठाणे सामायिकं काऊण, किंनिमित्तं ?–'सुत्त त्थसरणहेउ' सूत्रार्थस्मरणनिमित्तं–'आयरिए ठियंमि देवसियं' आयरिए पुरओ ठिए तस्स सामाइयावसाणे देवसियं अइ यार चिंतेंति, अण्णे भणंति–जाहे आयरिओ सामाइयं कड्ढइ ताहे तेवि तयट्ठिया चेव सामाइयसुत्तमणुपेहंति गुरुणा सह पच्छा देवसियं'ति गाथार्थः ॥ १५१९ ॥ शेपाश्च यथा शक्तिरित्युक्तं, यस्य कायोत्सर्गेण स्थातुं शक्तिरेव नास्ति स किं कुर्यादिति तद्गत विधिमभिधित्सुराह—'जो हुज्ज उ असमत्थो' गाहा व्याख्या—यः कश्चित् साधुर्भवेदसमर्थः कायो- त्सर्गेण स्थातुं, स किंभूत इत्याह–बालो वृद्धो ग्लानः 'परितंतो'त्ति परिश्रान्तो गुर्व्वैयावृत्त्यकरणादिना असावपि विकथादिविरहितः सन् ध्यायेत् सूत्रार्थं 'जा गुरु ठंति'त्ति यावद् गुरवस्तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥ १५२० ॥

---

१ आयरिए गुरुम् ठिअम्मि सट्ठाणे सामायिक कृत्वा, किंनिमित्त ?, सूत्रार्थस्मरणहेतोः। आचार्ये स्थिते दैवसिकं—आचार्ये पुरतः स्थिते तस्य सामा- यिकावसाने दैवसिकमतिचारं चिन्तयन्ति, अन्ये भणन्ति–यदाऽऽचार्यः सामायिकं कर्षयन्ति तदा तेऽपि तदवस्थिता एव सामायिकसूत्रमनुप्रेक्षन्ते गुरुणा सह दैवसिकं

पीत्यर्थः, 'किमुत चेष्टा उ'त्ति किं पुनश्चेष्टाकायोत्सर्गकारी, स तु सुतरां न निरुणद्धि इत्यर्थः, किमित्यत आह—'उज्झमरणं निरोहे'त्ति सद्योमरणं निरोधे उच्छ्वासस्य, ततश्च 'सुहुमुस्सासं तु जयणाए'त्ति सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चति, नोल्बणं, मा भूत् सत्त्वघात इति गाथार्थः ॥ १५१० ॥ अधुना 'कासिते'त्यादिसूत्रार्थप्रविकटयिषयेदमाह—'कासखुयजंभिए' गाहा व्याख्या—इह कायोत्सर्गे कासक्षुतजृम्भितादीनि यतनया क्रियन्ते, किमिति ?—'मा हु सत्थमणिलोऽणिलस्स तिव्वुण्हो'त्ति मा शस्त्रं भविष्यति कासितादिसमुद्भवोऽनिलो—वायुरनिलस्य—बाह्यस्य वायोः, किंभूतः ?—तीव्रोष्णः, बाह्यानिलापेक्षया अत्युष्ण इत्यर्थः । न च न क्रियन्ते न च निरुध्यन्त एव न 'असमाही य निरोहे'त्ति (सर्वथारोधे) असमाधिश्च चशब्दात् मरणमपि सम्भाव्यते कासितादिनिरोधे सति, 'मा मसगाई'त्ति मा मशकादयश्च कासितादिसमुद्भवपवनश्लेष्माभिहता मरिष्यन्ति जृम्भिते च वदनप्रवेशं करिष्यन्ति ततो हस्तोऽग्रतो दीयत इति यतनेयमिति गाथार्थः ॥ १५११ ॥ आह—निःश्वसितेनेति सूत्रावयवो न व्याख्यायते इति किमत्र कारणम् ?, उच्यते, उच्छ्वसितेन तुल्ययोगक्षेमत्वादिति, इदानीम् 'उद्गारितेने'त्यादिसूत्रावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—वातनिसर्गः—उत्कस्वरूप उद्गारोऽपि, तत्रायं विधिः—यतना शब्दस्य क्रियते न निसृष्टं मुच्यत इति, 'नेव य निरोहो'त्ति नैव च निरोधः क्रियते, असमाधिभावादेव, उद्गारे वा हस्तोऽन्तरे दीयत इति 'भमलीमुच्छासु य निवेसो' मा सहसापतितस्यात्मविराधना भविष्यतीति गाथार्थः ॥ १५१२ ॥ साम्प्रतं 'सूक्ष्मैरङ्गसञ्चारै'रित्यादिसूत्रावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—वीर्यसयोगतया कारणेन सञ्चाराः सूक्ष्मबादरा देहे अवश्यभाविनो, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमक्षयज आत्मपरिणामो भण्यते योगास्तु—मनोवाक्कायास्तत्र वीर्यसयोग-

तथैवातिचाराः सूक्ष्मबादरा भवन्ति न केवलात् वीर्यादिति देह एव च भवति नादेहस्य, तत्र बही रोमोद्गमादय आदि शब्दात्कम्पमहः 'अन्तो खेलानिलादीया' अन्तः—मध्ये श्लेष्मानिलादयो चिचर तीत्यर्थः, इति गाथार्थः ॥१५१३॥ अधुना 'सूक्ष्मैर्दृष्टिसञ्चारै'रिति सूत्रावयव व्याख्यानयति—अवलोकनमालोकस्तस्मिन्नवलोके चलं अवलोकचलं दर्शनलालसमित्यर्थः, किं ?—चक्षुः—नयन, यतश्चैवमतो मनोवद्—अन्तःकरणमिव तच्चक्षुर्दुष्कर स्थिरं कर्तुं, न शक्यत इत्यर्थः, यतो रूपैस्तदाक्षिप्यत स्वभावतो वा—स्वभावेन वा नैसर्गिकेण स्वय चलति, आत्मनैव चलतीति गाथार्थः ॥१५१४॥ यस्मादेवं तस्मात् न करोति निमेष(रोध)मत्र कायोत्सर्गकारी, किमिति ?,—'तदुपओगे ण झाण झाएज्ज'त्ति तत्र—निर्निमेषयत्ने च उपयोगत्वेन सता मा न ध्यानं ध्यायेत् अभिप्रेतमिति, 'एगनिस तु पवन्नो झायइ साहू अणिमिसच्छोऽवि' एकरात्रिकीं तु प्रतिमां प्रतिपन्नो महासत्त्वो ध्यायति समर्थः अनिमेषाक्षोऽपि—अनिमिषे अक्षिणी यस्य सः अनिमिषाक्षः निश्चलनयन इति गाथार्थः ॥१५१५॥ अधुना एवमादिभिराकारैरित्यादिसूत्रावयवव्याचिख्यासयाह—'अगणि'त्ति यदा ज्योतिः स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहणं कुर्वतो न कायोत्सर्गभङ्गः, आह—नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहण न करोति ? येन तद्भङ्गो न भवति, उच्यते, नात्र नमस्कारपारणमेवाविशिष्ट कायोत्सर्गमान क्रियते, किं तु यो यत्परिमाणो यत्र कायोत्सर्ग उक्तस्तत ऊर्ध्व परिसमाप्तेऽपि तस्मिन्नमस्कारमपठतो भङ्ग इत्यादि, अपरिसमाप्तेऽपि च पठतो भङ्ग एव, स चात्र न भवतीति, एव सर्वत्र भावनीय, 'छिंदिज्ज व'त्ति मार्जारीमूषकादिभिर्वा पुरतो यायात्, अत्राप्यग्रतः सरतो न कायोत्सर्गभङ्गः, 'बोहियखोभाइ'त्ति बोधिका —स्तेनकास्तेभ्य क्षोभ —सम्भ्रमः, आदिशब्दाद्राजादिक्षोभः परिगृह्यते, तत्रास्थानेऽप्युच्चारयतो(ऽनुच्चारयतो)ना न

पीत्यर्थः, 'किमुत चेष्टा उ'त्ति किं पुनश्चेष्टाकायोत्सर्गकारी, स तु सुतरां न निरुणद्धि इत्यर्थः, किमित्यत आह–'सज्जमरणं निरोहे'त्ति सद्योमरण निरोधे उच्छ्वासस्य, ततश्च 'सुहुमुस्सासं तु जयणाए'त्ति सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चति, नोत्स्वणं, मा भूत् सत्त्वघात इति गाथार्थः ॥ १५१० ॥ अधुना 'कासिते'त्यादिसूत्रार्थप्रविकटिपयेदमाह—'कासखुयजंभिए' गाहा व्याख्या—इह कायोत्सर्गे कासक्षुतजृम्भितादीनि यतनया क्रियन्ते, किमिति ?–'मा हु सत्थमणिलोऽणिलस्स तिव्वुण्हो'त्ति मा शस्त्रं भविष्यति कासितादिसमुद्भवोऽनिलो–वायुरनिलस्य–बाह्यस्य वायोः, किंभूतः ?–तीव्रोष्णः, बाह्यानि छापेक्षया अत्युष्ण इत्यर्थः । न च न क्रियन्ते न च निरुध्यन्त एव न 'असमाही य निरोहे'त्ति (सर्वथारोधे) असमाधिश्च चशब्दात् मरणमपि सम्भाव्यते कासितादिनिरोधे सति, 'मा मसगाई'त्ति मा मशकादयश्च कासितादिसमुद्भवपवनश्चे प्याभिहता मरिष्यन्ति जृम्भिते च वदनमवेश करिष्यन्ति ततो हस्तोऽग्रतो दीयत इति यतनेयमिति गाथार्थः ॥ १५११ ॥ आह–निःश्वसितेनेति सूत्रावयवो न व्याख्यायते इति किमत्र कारणम् ?, उच्यते, उच्छ्वसितेन तुल्ययोगक्षेमत्वादिति, इदानीम् 'उड्डुगारितेने'त्यादिसूत्रावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—वातनिसर्गः–उक्तस्वरूप उड्डुगारोऽपि, तत्राय विधिः–यतना पवनस्य क्रियते न निसृष्टं मुच्यत इति, 'नेव य निरोहो'त्ति नैव च निरोधः क्रियते, असमाधिभावादेव, उड्डुगारे वा हस्तोऽन्तरे दीयत इति 'भमलीमुच्छासु य निवेसो' मा सहसापतितस्यात्मविराधना भविष्यतीति गाथार्थः ॥ १५१२ ॥ साम्प्रतं 'सुहुमेहिंअंगसंचालेहिं'इत्यादिसूत्रावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—वीर्यसयोगतया कारणेन सञ्चाराः सूक्ष्मबादरा तदे अवश्यंभाविनो, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमक्षयजं खल्वात्मपरिणामो भण्यते योगास्तु–मनोवाक्कायास्तत्र वीर्यसयोग-

द्विधा, तत्समपीत्यर्थः । तत्र द्रव्यशुद्धिः कल्पादिना, भावशुद्धिः प्रायश्चित्तादिनाऽऽत्मन एव, द्रव्यशल्यं कण्टक-शिलीमुखफलादि, भावशल्यं तु मायादि, सर्वं ज्ञानावरणीयादि कर्म पापं वर्तते, किमिति ?—भ्राम्यते येन कारणेन तेन कर्मणा जीवः संसारे—तिर्यग्नारकामरभवानुभवलक्षणे, यथा च दग्धरज्जुकल्पेन भवोपग्राहिणाऽल्पेनापि सता केवलिनो-ऽपि न मुक्तिमासादयन्तीति दारुणं संसारभ्रमणनिमित्तं कर्मेति गाथार्थः ॥ १५०९ ॥ साम्प्रतम् 'अन्नत्थोससिएणं' इत्यस्य विवृणोति—

उस्सासं न निरुंभइ आभिग्गहिओवि किमुअ चिट्ठा उ ?। सज्जमरण निरोहे सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥ १५१० ॥
उड्डुअजंभिए मा हु सत्थमणिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो। असमाही य निरोहे मा मसगाई अओ हत्थो ॥१५११॥
वायनिसग्गुड्डोए जयणासद्दस्स नेव य निरोहो। उड्डोए वा हत्थो भमलीमुच्छासु अ निवेसो ॥ १५१२ ॥
वीरियसजोगयाए संचारा सुहुमबायरा देहे। बाहिं रोमचाई अंतो खेलाणिलाईया ॥ १५१३ ॥
आ(अप)लोअचलं चक्खू मणुव्व तं दुक्करं थिरं काउं। रूवेहिं तय खिप्पइ सभावओ वा सय चलइ ॥ १५१४ ॥
न कुणइ निमेसजुत्तं तत्युवओगे ण झाण झाइज्जा। एगनिसिं तु पवन्नो झायइ साहू अणिमिसच्छोऽवि ॥१५१५॥
अगणीओ छिंदिज्ज व बोहियखोभाइ दीहडक्को वा। आगारेहिं अभग्गो उस्सग्गो एवमाईहिं ॥ १५१६ ॥

व्याख्या—प्रकटः श्वास उच्छ्वासः तं 'न निरुंभइ'त्ति न निरुणद्धि, 'आभिग्गहिओवि' अभिगृह्यत इति अभिग्रहः अभि-ग्रहेण निर्वृत्त आभिग्रहिक—कायोत्सर्गस्तदव्यतिरेकात् तत्कर्ताऽप्याभिग्रहिको भण्यते, असावप्यसिमत्कायोत्सर्गकार्य

इत्थ(च) गाथायुगलं यथा सामायिकाध्ययने व्याख्यातं तथैव द्रष्टव्यमिति, साम्प्रतं 'तस्योत्तरीकरणेने'ति सूत्रावयवं विवृण्वन्नाह—

खंडियविराहियाणं मूलगुणाणं सउत्तरगुणाणं । उत्तरकरणं कीरइ जह सगडरहंगगेहाणं ॥ १५०७ ॥
पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं तु भण्णई तेणं । पाएण वावि चित्तं विसोहए तेण पच्छित्तं ॥ १५०८ ॥
दव्वे भावे य दुहा सोही सल्लं च इक्कमिक्कं तु । सव्वं पावं कम्मं भामिज्जइ जेण संसारे ॥ १५०९ ॥

व्याख्या—'खण्डितविराधितानां' खण्डिताः—सर्वथा भग्ना विराधिताः—देशतो भग्ना मूलगुणानां—प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणां सह उत्तरगुणैः—पिण्डविशुद्ध्यादिभिर्वर्तत इति सोत्तरगुणास्तेषामुत्तरकरणं क्रियते, आलोचनादिना पुनः संस्करणमित्यर्थः, दृष्टान्तमाह—यथा शकटरथाङ्गगेहानां—गन्त्रीचक्रगृहाणामित्यर्थः, तथा च शकटानां खण्डितविराधितानां अक्षावलकादिनोत्तरकरणं क्रियत इति गाथार्थः ॥ १५०७ ॥ अधुना 'प्रायश्चित्तकरणेने'ति सूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह—'पावं' गाहा, व्याख्या—पापं—कर्मोच्यते तत् पापं छिनत्ति यस्मात् कारणात् प्राकृतशैल्या 'पायच्छित्तं'ति भण्यते, तेन कारणेन, संस्कृते तु पापं छिनत्तीति पापच्छिदुच्यते, प्रायसो वा चित्तं—जीवं शोधयति—कर्ममलिनं विमलीकरोति तेन कारणेन प्रायश्चित्तमुच्यते, प्रायो वा—बाहुल्येन चित्तं स्वेन स्वरूपेण अस्मिन् सतीति प्रायश्चित्तं, प्रायोग्रहणं संवरादेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थः ॥ १५०८ ॥ अधुना 'विशोधिकरणे'त्यादिसूत्रावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—'दव्वे भावे य दुहा सोही' गाहा—द्रव्यतो भावतश्च द्विविधा विशुद्धिः, शल्यं च, 'एक्कमेक्कं तु'त्ति एकैकं शुद्धिरपि द्रव्यभावभेदेन

आइमकाउस्सग्गे पडिक्कमणे ताव काउ सामइयं। तो किं करेइ बीयं तइअं च पुणोऽवि उस्सग्गे ? ॥ १५०२ ॥
समभावंमि ठियप्पा उस्सग्ग करिय तो पडिक्कमइ। एमेव य समभावे ठियस्स तइयं तु उस्सग्गे ॥ १५०३ ॥
सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु। संतगुणकित्तणेसु अ न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ १५०४ ॥

व्याख्या—'आदिमकायोत्सर्गे' इति प्रथमकायोत्सर्गे कृत्वा सामायिकमिति योगः 'पडिक्कमणे ताव चितियं काउं सामाइय'मिति योगः, ता किं करेइ तइयं च सामाइय पुणोऽवि उस्सग्गो' यः प्रतिक्रान्तोपरीति गाथार्थः ॥ १५०२ ॥ चालना चेयम्, अत्रोच्यते—'समभावंमि' गाहा व्याख्या—इह समभावस्थितस्य भावप्रतिक्रमणं भवति नान्यथा, ततश्च समभावे–रागद्वेषमध्यवर्तिनि स्थित आत्मा यस्यासौ स्थितात्मा, 'उस्सग्गं काउ (करिय) तो पडिक्कमति' दिवसातिचारपरिज्ञानाय कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोरतिचारं निवेद्य तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं समभावपूर्वकमेव प्रपद्य ततः प्रतिक्रामति, 'एमेव य समभावे ठियस्स तइयं तु उस्सग्ग' एवमेव च समभावे व्यवस्थितस्य सतश्चारित्रशुद्धिरपि भवतीतिकृत्वा तृतीयं सामायिकं कायोत्सर्गे प्रतिक्रान्तोत्तरकालभाविनि क्रियत इति गाथार्थः ॥ १५०३ ॥ प्रत्यवस्थानमिदम्–'सज्झायझाण' गाहा व्याख्या निगदसिद्धा, इदानीं 'जो मे देवसिओ अइयारो कओ' इत्यादि सूत्रमथो व्याख्यास्यामस्तत्रादावन्तरस्य 'तस्स मिच्छामि दुक्कड'मिति सूत्रावयवस्य व्याचिख्यासुराह—

मित्ति मिउमद्दवत्ते छत्ति अ दोसाण छायणे होइ। मित्ति य मेराइ ठिओ दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥ १५०५ ॥
कत्ति कडं मे पावं डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं। एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥ १५०६ ॥

कादौ विषये 'आलोए देसिए य अतिचारे'त्ति अवलोकयेत्—निरीक्षेत दैवसिकानतिचारान्—अविधिमत्युपेक्षितामत्युपेक्षिता दीनिति, ततः 'सव्वे समणाइत्ता' सर्वानतिचारान् मुखवस्त्रिकामत्युपेक्षणादारभ्य यावत् कायोत्सर्गावस्थानमत्रान्तरे च इति 'समाणइत्ता' समाप्य मुखावलोकनेन समाप्तिं नीत्वा एतावन्त एव इति, नातः परमतिचारोऽस्ति ततो 'हृदये' चेतसि दोषान्—प्रतिपिच्छकरणादिलक्षणान् आलोचनीयानित्यर्थः, स्थापयेदिति गाथार्थः ॥ १४९९ ॥ कृत्वा हृदये दोषान् यथाक्रममिति प्रतिसेवनानुलोम्येन आलोचनानुलोम्येन च, प्रतिसेवनानुलोम्य नाम ये यथाऽऽसेविता इति, आलोचनानुलोम्य तु पूर्वं लघव आलोच्यन्ते पश्चाद् गुरव इति, 'जा न ताव पारेति'त्ति यावन्न तावत् पारयति गुरुर्नमस्कारेण, 'ताव सुहुमाणु पाणु'त्ति तावदिति कालावधारण, सूक्ष्मप्राणापानः, सूक्ष्मोच्छ्वासनिश्वास इत्यर्थः, किं ?—'धम्मं सुक्कं च झाएज्जा' धर्मध्यानं प्रतिक्रमणाध्ययनोक्तस्वरूपं शुक्लं ध्यानं च ध्यायेदिति गाथार्थः ॥ १५०० ॥ एव—

देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे तहेव वरिसे य । इक्किके तिन्नि गमा नायव्वा पंचसेएसु ॥ १५०१ ॥

व्याख्या—'देवसिय'त्ति दैवसिके प्रतिक्रमणे दिवसेन निर्वृत्त दैवसिकं, 'राइय'त्ति रात्रिके, 'पक्खिए'त्ति पाक्षिक 'चाउम्मासे'त्ति चातुर्मासिके तथैव 'वरिसि'त्ति तथैव वार्षिके च, वर्षेण निर्वृत्तं वार्षिकं—सांवत्सरिकमिति भावना, एक कस्मिन् प्रतिक्रमणे दैवसिकादौ त्रयो गमा ज्ञातव्याः, पञ्चस्वेतेषु दैवसिकादिषु, कथं त्रयो गमाः ?, सामायिक कृत्वा कायोत्सर्गकरणं, सामायिकमेव कृत्वा प्रतिक्रमणं, सामायिकमेव कृत्वा पुनः कायोत्सर्गम्, इह च यस्माद् दिवसादि दीर्घं दिवसप्रधान च तस्माद् दैवसिकमादाविति गाथार्थ ॥ १५०१ ॥ अत्राह चोदकः—

आइमकाउस्सग्गे पडिक्कमणे ताव काउ सामइयं । तो किं करेइ बीयं तइअं च पुणोऽवि उस्सग्गे? ॥ १५०२ ॥
समभावंमि ठियप्पा उस्सग्ग करिय तो पडिक्कमइ । एमेव य समभावे ठियस्स तइय तु उस्सग्गे ॥ १५०३ ॥
सज्झायझाणतवओसहेसु उवएसथुइपयाणेसु । संतगुणकित्तणेसु अ न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥ १५०४ ॥

व्याख्या—'आदिमकायोत्सर्गे' इति प्रथमकायोत्सर्गं कृत्वा सामायिकमिति योगः 'पडिक्कमणे ताव चितियं कार्ड सामाइयं'ति योगः, ता किं करेइ तइयं च सामाइय पुणोऽवि उस्सग्गो' यः प्रतिक्रान्तोपरीति गाथार्थः ॥ १५०२ ॥ चालना चेयम्, अत्रोच्यते—'समभावंमि' गाहा व्याख्या—इह समभावस्थितस्य भावप्रतिक्रमणं भवति नान्यथा, ततश्च सम भावे–रागद्वेषमध्यवर्तिनि स्थित आत्मा यस्यासौ स्थितात्मा, 'उस्सग्ग काउ (करिय) तो पडिक्कमति' दिवसातिचारपरिज्ञानाय कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोरतिचारं निवेद्य तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं समभावपूर्वकमेव प्रपद्य ततः प्रतिक्रामति, 'एमेव य समभावे ठियस्स तइय तु उस्सग्ग' एवमेव च समभावे व्यवस्थितस्य सतश्चारित्रशुद्धिरपि भवतीतिकृत्वा तृतीयं सामायिक कायोत्सर्गे प्रतिक्रान्तोत्तरकालभाविनि क्रियत इति गाथार्थः ॥ १५०३ ॥ प्रत्ययस्थानमिदम्–'सज्झायझाण' गाहा व्याख्या निगदसिद्धा, इदानीं 'जो मे देवसिओ अइयारो कओ' इत्यादि सूत्रमथो व्याख्यातत्वादनादृत्य 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'ति सूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह—

मित्ति मिउमद्दवत्ते छत्ति अ दोसाण छायणे होइ। मित्ति य मेराइ ठिओ दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥ १५०५ ॥
कत्ति कडं मे पावं डत्ति य डेवेमि तं उवसमेणं। एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥ १५०६ ॥

सन् निरेजकायो–निष्प्रकम्पदेह इति भावना, निरुद्धवाक्प्रसरः–मौनव्ययस्थितः सन् आनीते सुसमेकमना–एकाग्रचित्त, सन् कोऽसौ ?–मुनिः–साधुः, किं ?–दैवसिकातिचारं आदिशब्दाद्रात्रिकमह इति गाथार्थः ॥ ततः किमित्याह–यस्माद् कारणात् सम्यग्–अशठभावेन गुरुजनप्रकाशनेन–गुरुजननिवेदनेनेति हृदयं, तुशब्दात् तदादिष्टप्रायश्चित्तकरणेन च शोधयत्यात्मानमसौ, अतिचारमलिनं क्षालयतीत्यर्थः, तच्चातिचारपरिज्ञानमविकल कायोत्सर्गव्यवस्थितस्य भवत्यतः कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति, किंच–यस्माज्जिनैर्भगवद्भिरयं कायोत्सर्गो भणित–उक्त, तस्मात् कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति गाथार्थः ॥ १–२ ॥ यतश्चैवमतः 'काउस्सग्गं मुक्खपहदेसिय'ति मोक्षपन्थास्तीर्थकर एव भण्यते तत्प्रदर्शकत्वात्, कारणे कार्योपचारात्, तेन मोक्षपथेन देशित –उपदिष्टः मोक्षपथदेशितस्त, 'जाणिऊण'त्ति दिवसाद्यतिचारपरिज्ञानोपायतया विज्ञाय ततो धीराः–साधवः, दिवसातिचारज्ञानार्थमित्युपलक्षणं रात्र्यतिचारज्ञानार्थमपि, 'ठायंति उस्सग्ग'ति तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमित्यर्थः, ततश्च कायोत्सर्गस्थान कार्यमेव, सप्रयोजनत्वात्, तथाविधवैयावृत्यवदिति गाथार्थः ॥१४९७॥

साम्प्रत यदुक्त 'दिवसातिचारज्ञानार्थ'मिति, तत्रौघतो विषयद्वारेण तमतिचारमुपदर्शयन्नाह—

सयणासणण्णपाणे चेइय जइ सेज्ज काय उच्चारे । समिती भावणगुत्ती वितहायरणमि अइयारो ॥ १४९८ ॥

व्याख्या—शयनीयवितथाचरणे सत्यतिचारः, एतदुक्तं भवति–सस्तारकादेरविधिना ग्रहणादौ अतिचार इति, 'आसण'त्ति आसनवितथाचरणे सत्यतिचारः पीठकादेरविधिना ग्रहणादतिचार इति भावना, 'अण्णपाण'त्ति अन्नपानवितथाचरणे सत्यतिचारः अन्नपानस्याविधिना ग्रहणाद्यतिचार इत्यर्थः, 'चेतिय'त्ति चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचारः, चैत्यविषय

वितथाचरणमविधिना वन्दन अकरणे चेत्यादि, 'अइ'त्ति यतिविपथाचरणे सत्यतिचारः, यतिविषये च वितथाचरणं यथार्हं विनयाद्यकरणमिति, 'सेज्ज'त्ति शय्यावितथाचरणे सत्यतिचारः, शय्या वसतिरुच्यते, तद्विषयं वितथाचरणमविधिना प्रमार्जनादौ स्त्र्यादिसंसक्तायां वा वसत इत्यादि, 'काय' इति कायिकवितथाचरणे सत्यतिचारः, वितथाचरण चास्थण्डिले कायिक व्युत्सृजतः स्थण्डिले वाऽप्रत्युपेक्षितादावित्यादि, 'उच्चारे'त्ति उच्चारवितथाचरणे सत्यतिचारः उच्चारः–पुरीषं भण्यते वितथाचरण चैतद्विषयं यथा कायिकाया, 'समिति'त्ति समितिवितथाचरणे सत्यतिचारः, समितयश्चेर्यासमिति-प्रमुखाः पञ्च यथा प्रतिक्रमणे, वितथाचरणं चासामविधिनाऽऽसेवनेऽनासेवने चेत्यादि, 'भावने'त्ति भावनावितथाचरणे सत्यतिचारः, भावनाश्चानित्यत्वादिगोचरा द्वादश, तथा चोक्तम्–'भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे। अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवसंवरविधिश्च ॥ १ ॥ निर्जरणलोकविस्तरधर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च। बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः ॥ २ ॥" अथवा पञ्चविंशतिभावना यथा प्रतिक्रमणे, वितथाचरणं चासामविधिसेवनेनेत्यादि, 'गुत्ति'त्ति गुप्ति-वितथाचरणे सत्यतिचारः, तत्र मनोगुप्तिप्रमुखास्तिस्रो गुप्तयः यथा प्रतिक्रमणे, वितथाचरणमपि गुप्तिविषयं यथा समिति-ष्विति गाथार्थः ॥१४९८॥ इत्थं सामान्येन विचरद्वारेणातिचारमभिधायाधुना कायोत्सर्गगतस्य मुनेः क्रियामभिधित्सुराह—

गोसमुहणंतगाई आलोए देसिए य अइयारे। सव्वे समाणइत्ता हियए दोसे ठविज्जाहि ॥ १४९९ ॥
काउं हियए दोसे जहक्कमं जा न ताव पारेइ। ताव सुहुमाणुपाणू धम्मं सुक्कं च झाइज्जा ॥ १५०० ॥

गोसः प्रत्यूषो भण्यते, 'मुहणंतग' मुखवस्त्रिका आदिशब्दाच्छेषोपकरणग्रहः, ततश्चैतदुक्तं भवति–गोसादारभ्य मुखवस्त्रि

सन् निरेजकायो—निष्प्रकम्पदेह इति भावना, निरुद्धवाक्प्रसरः—मौनव्यवस्थित सन् जानीते सुसमेकमना—एकाग्रचित्त, सन् कोऽसौ ?—मुनिः—साधुः, किं ?—दैवसिकातिचारं आदिशब्दाद्रात्रिकमह इति गाथार्थः ॥ ततः किमित्याह—यस्मात् कारणात् सम्यग्—अशठभावेन गुरुजनप्रकाशनेन—गुरुजननिवेदनेनेति हृदयं, गुरुसकाशात् तदादिष्टप्रायश्चित्तकरणेन च शोधयत्यात्मानमसौ, अतिचारमलिनं क्षालयतीत्यर्थः, तच्चातिचारपरिज्ञानमविकलं कायोत्सर्गव्यवस्थितस्य भवत्यतः कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति, किंच—यस्माज्जिनैर्भगवद्भिरयं कायोत्सर्गो भणित—उक्त', तस्मात् कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति गाथार्थ ॥ १—२ ॥ यतश्चैवमतः 'काउस्सग्गं मुक्खपहदेसियं'ति मोक्षपन्थास्तीर्थकर एव भण्यते तत्प्रदर्शकत्वात्, कारणे कार्योपचारात्, तेन मोक्षपथेन देशित —उपदिष्टः मोक्षपथदेशितस्त, 'जाणिऊण'त्ति दिवसाद्यतिचारपरिज्ञानोपायतया विज्ञाय ततो धीराः—साधवः, दिवसातिचारज्ञानार्थमित्युपलक्षणं रात्र्यतिचारज्ञानार्थमपि, 'ठायंति उस्सग्गं'ति तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमित्यर्थः, ततश्च कायोत्सर्गस्थानं कार्यमेव, सप्रयोजनत्वात्, यथाविधवैयावृत्त्यवदिति गाथार्थः ॥१४९७॥ साम्प्रतं यदुक्तं 'दिवसातिचारज्ञानार्थ'मिति, तत्रौघतो विषयद्वारेण तमतिचारमुपदर्शयन्नाह—

सयणासणन्नपाणे चेइय जइ सेज्ज काय उच्चारे । समितीभावणगुत्ती वितहायरणंमि अइयारो ॥ १४९८ ॥

व्याख्या—शयनीयवितथाचरणे सत्यतिचारः, एतदुक्तं भवति—संस्तारकादेरविधिना ग्रहणादौ अतिचार इति, 'आसण'त्ति आसनवितथाचरणे सत्यतिचारः पीठकादेरविधिना ग्रहणाद्यतिचार इति भावना, 'अण्णपाण'त्ति अन्नपानवितथाचरणे सत्यतिचारः अन्नपानस्याविधिना ग्रहणाद्यतिचार इत्यर्थः, 'चेतिय'त्ति चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचारः, चैत्यविषय

मम कायोत्सर्गः, कियन्तं कालं यावदित्याह—'जाव अरहंताणं भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि' यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि, यावदिति कालावधारणं, अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेषामर्हतां भगः—ऐश्वर्यादिलक्षणः स विद्यते येषां ते भगवन्तस्तेषां भगवतां सम्बन्धिना नमस्कारेण 'नमो अरहंताणं' इत्यनेन न पारयामि—न पारं गच्छामि, तावत् किमित्याह—'ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि' त्ति तावच्छब्देन कालनिर्देशमाह, कायं—देहं स्थानेन—ऊर्ध्वस्थानेन तथा मौनेन—वाग्निरोधलक्षणेन, तथा ध्यानेन शुभेन, 'अप्पाणं' ति प्राकृतशैल्या आत्मीयं, अन्ये न पठन्त्येवैनमालापकं, व्युत्सृजामि—परित्यजामि, इयमत्र भावना—कायं स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासद्वारेण व्युत्सृजामि, नमस्कारपाठं यावत् प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगतस्तिष्ठामीति, ततश्च कायोत्सर्गपरिसमाप्तौ नमस्कारमपठतस्तद्भङ्ग एव प्रष्टव्य इत्येष तावत् समासार्थः, अवयवार्थं तु भाष्यकारो वक्ष्यति, तत्रेच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गमित्याद्य सूत्रावयवमधिकृत्याह—कायोत्सर्गस्थानं न कार्यं, प्रयोजनरहितत्वात्, तथाविधपर्यटनवदिति, अत्रोच्यते, प्रयोजनरहितत्वमसिद्धं, यतः—

काउस्सग्गंमि ठिओ निरेयकाओ निरुद्धवइपसरो। जाणइ सुहमेगमणो मुणि देवसियाइअइयारं॥ १ ॥ (प्र०)
परिजाणिऊण य जओ सम्म गुरुजणपगासणेण तु। सोहेइ अप्पगं सो जम्हा य जिणेहिं सो भणिओ॥ २॥(प्र०)
काउस्सग्गं मुक्खपहदेसियं जाणिऊण तो धीरा। दिवसाइयारजाणणट्ठयाइ ठायंति उस्सग्गं॥ १५९७॥

व्याख्या—इह च सम्यग्गाथाद्वयमपर्यन्तकं तथापि सोपयोगमितिकृत्वा व्याख्यायते, कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे स्थितः

मित्यर्थः तस्याः करणं तेन हेतुभूतेन, विशुद्धिकरण च विशल्यकरणद्वारेण भवस्यत आह–'विसल्लीकरणेणं' विगतानि शल्यानि–मायादीनि यस्यासौ विशल्यस्तस्य करणं विशल्यकरण तेन हेतुभूतेन, 'पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं' पापाना संसारनिबन्धनानां कर्मणा–ज्ञानावरणीयादीना निर्घातार्थं–निर्घातननिमित्तं व्यापत्तिनिमित्तमित्यर्थ किं !–'तिष्ठामि कायोत्सर्गं' कायस्योत्सर्गः–कायपरित्याग इत्यर्थः त, एतदुक्तं भवति–अनेकार्थत्वात् धातूना तिष्ठामीति–करोमि कायोत्सर्गं, व्यापारवतः कायस्य परित्यागमिति भावना, किं सर्वथा ! नेत्याह–'अन्नत्थूससिएणं'ति अन्यत्रोच्छ्वसितेन, उच्छ्वसित मुक्त्वा योऽन्यो व्यापारस्तेन व्यापारवत इत्यर्थः, एवं सर्वत्र भावनीय, तत्रोर्ध्व प्रबलं वा श्वसितमुच्छ्वसित तेन, 'नीससिएण'ति अधःश्वसितं निःश्वसित तेन निःश्वसितेन, 'खासिएणं'ति कासित प्रतीतं, 'छीएणं'ति क्षुत प्रतीतमेव तेन तदपि, 'जंभाइएणं'ति जृम्भितेन, विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते, 'उड्डुएण'ति उद्गारितं प्रतीतं, 'वायनिसग्गेण'ति अपानेन पवननिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते तेन, 'भमलीए'त्ति भ्रमल्या, इयमाकस्मिकी शरीरभ्रमिलक्षणा प्रतीतैव 'पित्तमुच्छाए' पित्तमूर्च्छयाऽपि, पित्तप्राबल्यात् मनाग् मूर्च्छा भवति, 'सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं' सूक्ष्मैरङ्गसञ्चारैर्लक्ष्याललक्ष्यैर्गात्रविचलनप्रकारै रोमोद्गमादिभिः, 'सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं' सूक्ष्मैः खेलसञ्चारैर्यस्मात् सयोगिवीर्यसद्द्रव्यतया ते खल्वन्तर्भवन्ति 'सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं' सूक्ष्मैर्दृष्टिसञ्चारैः–निमेषादिभिः, 'एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो' एवमादिभिरित्यादिशब्दं यस्यामः, आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना, सर्वथा कायोत्सर्गापवादप्रकारा इत्यर्थः, तैराकारैर्विद्यमानैरपि न भग्नोऽभग्नः, भग्नः सर्वथा नाशितः, न विराधितोऽविराधितो, विराधितो देशभग्नोऽभिधीयते, भवेत्

मम कायोत्सर्गः, कियन्तं कालं यावदित्याह—'जाव अरहंताणं भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि' यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि, यावदिति कालावधारणं, अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तेषामर्हतां भगः—ऐश्वर्यादिलक्षणः स विद्यते येषां ते भगवन्तस्तेषां भगवतां सम्बन्धिना नमस्कारेण 'नमो अरहंताणं' इत्यनेन न पारयामि—न पारं गच्छामि, तावत् किमित्याह—'ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि' त्ति तावच्छब्देन कालनिर्देशमाह, कायं—देहं स्थानेन—ऊर्ध्वस्थानेन तथा मौनेन—वाग्निरोधलक्षणेन, तथा ध्यानेन शुभेन, 'अप्पाणं' ति प्राकृतशैल्या आत्मीयं, अन्ये न पठन्त्येवैनमालापकं, व्युत्सृजामि—परित्यजामि, इयमत्र भावना—कायं स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासद्वारेण व्युत्सृजामि, नमस्कारपाठं यावत् प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगतस्तिष्ठामीति, तथा च कायोत्सर्गपरिसमाप्तौ नमस्कारमपठतस्तद्भङ्ग एव द्रष्टव्य इत्येष तावत् समासार्थः, अवयवार्थं तु भाष्यकारो वक्ष्यति, तत्रेच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गमित्याद्य सूत्रावयवमधिकृत्याह—कायोत्सर्गस्थानं न कार्यं, प्रयोजनरहितत्वात्, तथाविधपर्यटनवदिति, अत्रोच्यते, प्रयोजनरहितत्वमसिद्धं, यतः—

काउस्सग्गंमि ठिओ निरेयकाओ निरुद्धवइपसरो। जाणइ सुहमेगमणो मुणि देवसियाइअइयारं ॥ १ ॥ (प्र०)
परिजाणिऊण य जओ सम्मं गुरुजणपगासणेण तु। सोहेइ अप्पगं सो जम्हा य जिणेहिं सो भणिओ ॥ २ ॥ (प्र०)
काउस्सग्गं मुक्खपहदेसियं जाणिऊण तो धीरा। दिवसाइयारजाणणट्ठयाइ ठायंति उस्सग्गं ॥ १५९७ ॥

व्याख्या—इह च सम्बद्धगाथाद्वयमन्यकर्तृकं तथापि सोपयोगमितिकृत्वा व्याख्यायते, कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे स्थितः

अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसर, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादिमपञ्चो वक्तव्यः यावत् तच्चेदं सूत्रं–'करेमि भंते! सामाइयमित्यादि यावत् अप्पाणं वोसिरामि' अस्य संहितादिलक्षणा व्याख्या यथा सामायिकाध्ययने तथा मन्तव्या पुनरभिधाने च प्रयोजनं वक्ष्यामः, इदमपरं सूत्रं—

इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सूत्रम्)

अस्य व्याख्या—तल्लक्षणं चेदं–संहितेत्यादि, तत्र इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मे दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादि संहिता, पदानि तु इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादीनि, पदार्थस्तु 'इषु इच्छाया'मित्यस्यो त्तमपुरुषस्यैकवचनान्तस्य 'इषुगमियमां छः' इति (पा०७-३-७७) छत्वे इच्छामि भवति, इच्छामि–अभिलषामि स्थातुमिति 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य स्थातुमिति भवति, 'कायोत्सर्ग'मिति 'चिञ् चयने' अस्य घञन्तस्य 'निवासचिति(चिति)शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति (पा० ३-३-४१) चीयते इति कायः देह इत्यर्थः 'सृज विसर्गे' इत्यस्य उत्पूर्वस्य

मपि उत्सर्ग इति भवति, शेषपदार्थो यथा प्रतिक्रमणे तथैव, पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवति नान्येषामिति, तत्र इच्छामि स्थातुं, क?—कायोत्सर्गं—कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः तमिति, शेषपदविग्रहो यथा प्रतिक्रमणे, एवं चालना प्रत्यवस्थानं च यथासम्भवमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः । तथेदमन्यत् सूत्रं—

तस्सुत्तरीकरणेण पायच्छित्तकरणेण विसोहीकरणेण विसल्लीकरणेण पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्ग अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएण खासिएण छीएण जंभाइएण उड्डुएण वायनिसग्गेण भमलिए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताण भगवंताण नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेण झाणेण अप्पाण वोसिरामि ॥ (सूत्रम्) ॥

अस्य व्याख्या—'तस्योत्तरीकरणेन' 'तस्से'ति तस्य—अनन्तरं प्रस्तुतस्य श्रामण्ययोगसङ्घातस्य कथञ्चित् प्रमादात् खण्डितस्य विराधितस्य वोत्तरीकरणेन हेतुभूतेन 'ठामि काउस्सग्ग'मिति योगः, तत्रोत्तरकरणं पुनः संस्कारद्वारेणोपरिकरणमुच्यते, उत्तर च तत् करणं च इत्युत्तरकरणं अनुत्तरमुत्तरं क्रियत इत्युत्तरीकरणं, कृतिः—करणमिति, तच्च प्रायश्चित्तद्वारेण भवति अत आह—'पायच्छित्तकरणेण' प्रायश्चित्तशब्दार्थं वक्ष्यामः तस्य करणं प्रायश्चित्तकरणं तेन, अथवा सामायिकादीनि प्रतिक्रमणावसानानि विशुद्धौ कर्तव्याया मूलकरणं, इदं पुनरुत्तरकरणमतस्तेनोत्तरकरणेन—प्रायश्चित्तकरणेनेति, क्रिया पूर्ववत्, प्रायश्चित्तकरणं च विशुद्धिद्वारेण भवत्यत आह—'विसोहीकरणेण' विशोधनं विशुद्धिः अपराधमलिनस्यात्मनः प्रक्षालन-

अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादिप्रपञ्चो वक्तव्यः यावत् तच्चेदं सूत्रं—'करेमि भंते! सामाइयमित्यादि यावत् अप्पाणं वोसिरामि' अस्य संहितादिलक्षणा व्याख्या यथा सामायिकाध्ययने तथा मन्तव्या पुनरभिधाने च प्रयोजनं वक्ष्यामः, इदमपरं सूत्र—

इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सूत्रम्)

अस्य व्याख्या—तल्लक्षणं चेदं—संहितेत्यादि, तत्र इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मे दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादि संहिता, पदानि तु इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादीनि, पदार्थस्तु 'इषु इच्छाया'मित्यस्यो त्तमपुरुषस्यैकवचनान्तस्य 'इषुगमियमां छः' इति (पा० ७-३-७७) छत्वे इच्छामि भवति, इच्छामि—अभिलषामि स्थातुमिति 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य स्थातुमिति भवति, 'कायोत्सर्ग'मिति 'चिञ् चयने' अस्य घञन्तस्य 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः इति (पा० ३-३ ४१) चीयते इति कायः देह इत्यर्थः 'सृज विसर्गे' इत्यस्य उत्पूर्वस्य

यत्रि चत्सर्ग इति भवति, शेषपदार्थो यथा प्रतिक्रमणे तथैव, पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवति नान्येषामिति, तत्र इच्छामि स्थातुं, क ?—कायोत्सर्गे—कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः तमिति, शेषपदविग्रहो यथा प्रतिक्रमणे, एव चालना प्रत्यवस्थानं च यथासम्भवमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः । तथेदमन्यत्सूत्रं—

तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलिए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥ (सूत्रम्) ॥

अस्य व्याख्या—'तस्योत्तरीकरणेन' 'तस्ये'ति तस्य—अनन्तरं प्रस्तुतस्य श्रामण्ययोगसङ्घातस्य कथञ्चित् प्रमादात् खण्डितस्य विराधितस्य वोत्तरीकरणेन हेतुभूतेन 'ठामि काउस्सग्ग'मिति योगः, तत्रोत्तरकरणं पुनः संस्कारद्वारेणोपरिकरणमुच्यते, उत्तर च तत् करणं च इत्युत्तरकरणं अनुत्तरमुत्तरं क्रियत इत्युत्तरीकरणं, कृतिः—करणमिति, तच्च प्रायश्चित्तद्वारेण भवति अत आह—'पायच्छित्तकरणेणं' प्रायश्चित्तशब्दार्थं वक्ष्यामः तस्य करणं प्रायश्चित्तकरणं तेन, अथवा सामायिकादीनि प्रतिक्रमणावसानानि विशुद्धौ कर्त्तव्यायां मूलकरणं, इदं पुनरुत्तरकरणमतस्तेनोत्तरकरणेन—प्रायश्चित्तकरणेनेति, क्रिया पूर्ववत्, प्रायश्चित्तकरणं च विशुद्धिद्वारेण भवत्यत आह—'विसोहीकरणेणं' विशोधनं विशुद्धिः अपराधमलिनस्यात्मनः प्रक्षालन

अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः, स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादिप्रपञ्चो वक्तव्यः यावत् तच्चेदं सूत्र–'करेमि भंते! सामाइयमित्यादि यावत् अप्पाणं वोसिरामि' अस्य संहितादिलक्षणा व्याख्या यथा सामायिकाध्ययने तथा मन्तव्या पुनरभिधाने च प्रयोजनं वक्ष्यामः, इदमपरं सूत्र—

इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवनिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ (सूत्रम्)

अस्य व्याख्या—तल्लक्षणं चेदं–संहितेत्यादि, तत्र इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मे दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादि संहिता, पदानि तु इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादीनि, पदार्थस्तु 'इषु इच्छाया'मित्यस्यो त्तमपुरुषस्यैकवचनान्तस्य 'इषुगमियमां छः' इति (पा० ७-३-७७) छत्वे इच्छामि भवति, इच्छामि–अभिलषामि स्थातुमिति 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य स्थातुमिति भवति, 'कायोत्सर्ग'मिति 'चिञ् चयने' अस्य घञन्तस्य 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति (पा० ३ ३ ४१) चीयते इति कायः देह इत्यर्थः 'सृज विसर्गे' इत्यस्य उत्पूर्वस्य

अखदिरो वा' यथा खदिरो भवति द्रुम एव, द्रुमस्तु खदिरः अखदिरो वा—धवादिरित्ययं गाथार्थः ॥ १४८८ ॥ अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयमतिक्रान्तगाथावयवाक्षेपद्वारेणान्यथा व्याचक्षते, यदुक्तं 'चित्तं चिय तं न तं झाणंती' त्येतदसत्, कथं ?, यदि ते 'चित्त झाणं एव झाणमवि चित्तमायत्तं' सामान्येन 'तेन र चित्तं झाणं' किमुच्यते 'चित्तं चिय न झाणं'ति 'अह नेय झाणमक्ष ते' चित्तात्, अत्र पाठान्तरेणोत्तरगाथा 'नियमा चित्तं झाणं झाणं चित्त न यावि भइयव्वं' यतोऽन्यकादि चित्तं न ध्यानमिति, 'अह खदिरो' इत्यादि निदर्शनं पूर्ववत्, अलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः, प्रकृतश्च द्वितीयः उच्छ्रिताभिधानः कायोत्सर्गभेद इति, स च व्याख्यात एव, नवरं तत्र ध्यानचतुष्टयाध्यायी लेश्यापरिगतो वदितव्य इति, अथेदानीं तृतीयः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते—निगदसिद्धैव, अधुना चतुर्थः कायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते तत्रेयं गाथा—निगदसिद्धैव, नवरं कारणिक एव ग्लानस्थविरादिर्निषण्णकारी वेदितव्यः, वक्ष्यते च—'भतरतो उ' इत्यादि, अधुना पञ्चमः कायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते, तत्रेयं गाथा—निगदसिद्धा, नवरं प्रकरणान्निषण्णः स धर्मादीनि न ध्यायतीत्यवगन्तव्यम्, अधुना षष्ठः कायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते, तत्रेय गाथा—निगदसिद्धा, अधुना सप्तमः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते, इह च—निगदसिद्धा, नवर कारणिक एव ग्लानस्थविरादिर्यो निषण्णोऽपि कर्त्तुमसमर्थः स निप(ष)ण्णकारी गृह्यते, साम्प्रतमष्टमः कायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते, निगदसिद्धा, इहापि च प्रकरणान्निप(ष)ण्ण', स च धर्मादीनि न ध्यायतीत्यवगन्तव्यम्, अधुना नवमः कायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते, इद च—'अट्ट रुद्द च दुये' गाहा निगदसिद्धा। 'भतरंतो' गाहा निगदसिद्धैव, नवरं 'कारणियसङ्घवि य निसण्णो'त्ति यो हि गुरुवैयापृत्त्यादिना व्यापृत कारणिक स समर्थोऽपि निषण्ण करोतीति ॥१४९५-१४९६॥ इत्थं तावत् कायोत्सर्ग उक्तः,

त्रिविधे ध्याने सति पूर्वं यदुक्त चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानं 'अन्तोमुहुत्तकाल चित्तस्सेगग्गया भवति झाणं'ति वचनात् तत्कथमिदं तदुक्तं-'भंगियसुय गुणंतो वट्टइ तिविहेवि झाणंमि' तदेतत् परस्परविरुद्धं कथयतस्त्रिविधे ध्याने सति आपन्नमनेकविषयं ध्यानमिति, तथा च मनसा किञ्चिद्ध्यायति वाचाऽभिधत्ते कायेन क्रियां करोतीति अनेकाग्रता, आचार्य इदमनादृत्य सामान्येनैकाग्रं चित्तं इदि कृत्वा काकाऽऽह-'चित्तं चिय त न तं झाणं' यदनेकाग्रं तच्चित्तमेव न ध्यानमिति गाथार्थः ॥१४८५॥ आह-उक्तन्यायादनेकाग्रं त्रिविधे ध्यानं तस्य तर्हि ध्यानत्वानुपपत्तिः, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, तथाहि-आ०-'मणसहिएण' मनःसहितेनैव कायेन करोति, यदिति सम्बध्यते, उपयुक्तो यत् करोतीत्यर्थः, वाचा भाषते यच्च मनःसहितया, तदेव भावकरणं वर्तते, भावकरणं च ध्यानं, मनोरहितं तु द्रव्यकरणं भवति, तदयं तदुक्तं भवति-इहानेकाग्रतैव नास्ति सर्वेषामेव मनःप्रभृतीनामेकविषयत्वात्, तथाहि-स यत् मनसा ध्यायति तदेव वाचाऽभिधत्ते तत्रैव च कायक्रियेति गाथार्थः ॥१४८६॥ इत्थं प्रतिपादिते सत्यपरस्त्वाह-'जइ ते चित्तं झाणं'यदि ते-तव चित्तं ध्यानं 'अन्तोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं'ति वचनात्, एवं ध्यानमपि चित्तमापन्नं, ततश्च कायिकवाचिकध्यानासम्भव इत्यभिप्रायः, तेन किल चित्तमेव ध्यानं नान्यदिति हृदय, अथ नैवमिष्यते-मा भूत्, कायिकवाचिके ध्याने न भविष्यत इति, इत्थं तर्हि ध्यानमन्यत्ते-तव चित्तादिति गम्यते, यस्मात्तावस्य ध्यानं चित्तमिति गाथार्थः॥१४८७॥ अत्र चाचार्य आह-अभ्युपगमाददोषः, तथाहि-'नियमा चित्तं झाणं' नियमात्-नियमेन उक्तलक्षणं चित्तं ध्यानमेव, 'झाण चित्त न यावि भइयव्वं' ध्यानं तु चित्त न चाप्येवं भक्तव्यं-विकल्पनीयं, अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-'अह खइरो होइ दुमो दुमो य खइरो

शुभं ध्यायति ध्यानं नाशुभमिति गाथार्थः ॥ १४८१ ॥ किंच—'अचिरोववन्नगाणं' 'न चिरोपपन्नका अचिरोपपन्नकाः तेषामचिरोपपन्नकानामचिरजातानामित्यर्थः, मुच्छियाव्वत्तमत्तसुत्ताणं—मूर्च्छितानामभिघातादिना अव्यक्तानाम्—अव्यक्तचेतसां मत्तानां मदिरादिना सुप्तानां निद्रया, इहाव्यक्तानामिति यदुक्तं तत्राव्यक्तचेतसः अव्यक्ताः, तत् पुनरव्यक्तं कीदृगित्याह—'भोहाडियमव्वत्तं च होइ पायेण चित्तं तु' 'भोहाडिय'न्ति स्थगितं विषादिना तिरस्कृतस्वभावं अव्यक्तं च—अव्यक्तमेव चशब्दोऽवधारणे भवति प्रायश्चित्तमपि, प्रायोग्रहणादन्यथाऽपि सम्भवमाहेति गाथार्थः ॥ १४८२ ॥ स्यादेतत्—एवंभूतस्यापि चेतसो ध्यानताऽस्तु को विरोध इति ?, अत्रोच्यते, नैतदेव, यस्मात्—आलम्बने छमं २ गाढमालम्बने लग्नं २ एकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थितमित्यर्थः, चित्त—अन्तःकरणं उक्तं—भणितं, निरेजन—निष्प्रकम्पं ध्यानं, यतश्चैवमतः शेष—यदस्मादन्यत् तन्न भवति ध्यानं, किंभूतं ?—'मउयमवत्तं भमन्तं वा' मृदु—भावनायामकठोरं अव्यक्त पूर्वोक्त भ्रमन्त्या—अनवस्थितं चेति गाथार्थः ॥१४८३॥ आह—यदि मृद्वादि चित्तं ध्यानं न भवति वस्तुतः अव्यक्तत्वात् तत् कथमस्य पश्चादपि व्यक्ततेति ?, अत्रोच्यते—'उम्हासेसोवि' उष्मावशेषो मनागपि उष्ममात्र इत्यर्थः, शिखी—अभिभूत्वा दग्धे घन—ग्राह्यकाष्ठादिः सन् पुनर्ज्वलति, 'इय' एवं अव्यक्तं चित्तं मदिरादिसम्पर्कादिना भूत्वा व्यक्तं पुनर्भवत्यविरोध इति गाथार्थः ॥ १४८४ ॥ इत्थं प्रासङ्गिकं कियदप्युक्तं, अधुना प्रक्रान्तवस्तुशुद्धिः क्रियते, किंच प्रक्रान्तं ?, कायिकादि त्रिविधं ध्यानं, यत उक्तं—'भंगियसुय गुणतो वट्टइ तिविहेऽवि झाणंमि' इत्यादि, एवं च व्यवस्थिते 'अन्तोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया भवति झाणं' यदुक्तमस्मात् विनेयस्य विरोधशङ्कया सम्मोहः स्यादतस्तदपनोदाय शङ्कामाह—'पुव्वं च जं तदुत्तं' ननु

अट्ट रुद्द च दुवे झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो । एसो काउस्सग्गो दव्वुसिओ भावउ निसन्नो ॥ १४८९ ॥
धम्मं सुक्कं च दुवे झायइ झाणाइ जो निसन्नो अ । एसो काउस्सग्गो निसनुसिओ होइ नायव्वो ॥ १४९० ॥
धम्मं सुक्कं च दुवे नवि झायइ नवि य अट्टरुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो निसण्णओ होइ नायव्वो ॥ १४९१ ॥
अट्ट रुद्द च दुवे झायइ झाणाइँ जो निसन्नो य । एसो काउस्सग्गो निसन्नगनिसन्नओ नामं ॥ १४९२ ॥
धम्मं सुक्कं च दुवे झायइ झाणाइँ जो निवन्नो उ । एसो काउस्सग्गो निवनुसिओ होइ णायव्वो ॥ १४९३ ॥
धम्मं सुक्कं च दुवे नवि झायइ नवि य अट्टरुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो निवण्णओ होइ नायव्वो ॥ १४९४ ॥
अट्ट रुद्द च दुवे झायइ झाणाइँ जो निवन्नो उ । एसो काउस्सग्गो निवन्नगनिवन्नओ नाम ॥ १४९५ ॥
अतरंतो उ निसन्नो करिज्ज तहवि य सहू निवन्नो उ । संबाहुवस्सए वा कारणिपसहूवि य निसन्नो ॥ १४९६ ॥

धर्मं च शुक्लं च प्राक्प्रतिपादितस्वरूपे ते एव द्वे ध्यायति ध्याने यः कश्चित् स्थितः सन् एष कायोत्सर्गः उत्सृतोत्सृतो भवति ज्ञातव्यः, पश्चादिह शरीरमुत्सृत भावोऽपि धर्मशुक्लध्यायित्वादुत्सृत एवेति गाथार्थः ॥ गतः खल्वेको भेदोऽधुना द्वितीयः प्रतिपाद्यते—'धम्मं सुक्कं' धर्मं शुक्लं च द्वे नापि ध्यायति नापि आर्त्तरौद्रे एष कायोत्सर्गो द्रव्योत्सृतो भवतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ १४७९–१४८० ॥ आह—कस्यां पुनरवस्थाया न शुभं ध्यानं ध्यायति नाप्यशुभमिति ?, अत्रो च्यते—'पयलायंत' प्रचलायमान ईषत् स्वपन्नित्यर्थः, 'सुसुत्त'त्ति सुष्ठु सुप्तः स खलु नैव शुभं ध्यायति ध्यानं—धर्मशुक्ल- लक्षणं अशुभं वा—आर्त्तरौद्रलक्षणं न व्यापारितं कचिद्वस्तुनि चित्तं येन सोऽव्यापारितचित्तः जाग्रदपि एवमेव—नैव

शुभं ध्यायति ध्यानं नाशुभमिति गाथार्थः ॥ १४८२ ॥ किंच—'अविरोवयमाणं' 'न विरोपयन्ति अविरोपयकाः तेषामविरोपयकानामविरजातानामित्यर्थः, मूर्च्छितमव्यक्तमत्तसुप्तानां—मूर्च्छितानामभिघातादिना अव्यक्तानाम्—अव्यक्तचेतसां मत्तानां मदिरादिना सुप्तानां निद्रया, इहाव्यक्तानामिति यदुक्तं तत्राव्यक्तचेतसः अव्यक्ताः, तत् पुनरव्यक्तं कीदृगित्याह—'ओहाडियमपत्तं च होइ पाएण चित्तं तु' 'ओहाडिय'म्ति स्थगितं विषादिना तिरस्कृतस्वभावं अव्यक्तं च—अव्यक्तमेव चशब्दोऽवधारणे भवति प्रायश्चित्तमपि, प्रायोग्रहणादन्यथाऽपि सम्भवमाहेति गाथार्थः ॥ १४८२ ॥ स्यादेतत्—एवंभूतस्यापि चेतसो ध्यानताऽस्तु को विरोध इति ?, अत्रोच्यते, नैतदेवं, यस्मात्—माकम्पने छद्म २ गात्रमात्रपतक्षेत्रमत दीप—यदस्मादन्यत् तच भवति ध्यान, किंभूत ?—'मउयमवत्त भमन्त वा' मृदु—भावनायामकठोरं अव्यक्त पूर्वोक्तभमन्ता—भनवस्थित चेति गाथार्थः॥१४८३॥ आह—यदि मृद्वादि चित्तं ध्यानं न भवति वस्तुतः अव्यक्तत्वात् तत् कथमस्य पश्चादपि व्यक्तेति ?, अत्रोच्यते—'उम्हासेसोवि'उष्मावक्षेपो मनागपि उष्यमाण इत्यर्थः, शिखी—अग्निर्भूत्वा छदेधन—प्राप्तकाष्ठादिः सन् पुनर्ज्वलति,'इय' एवं अव्यक्तं चित्तं मदिरादिसम्पर्कादिना भूत्वा व्यक्तं पुनर्भवत्यभिषवितिगाथार्थः ॥ १४८४ ॥ इत्थं मासङ्गिकं विषदप्युक्त, अधुना प्रक्रान्तवस्तुशुद्धिः क्रियते, किंच प्रक्रान्तं?, कायिकादि त्रिविधं ध्यान, यत उक्तं—'भणियसुय गुणतो पहइ तिविहेऽपि झाणमि' इत्यादि, एवं च व्यवस्थिते 'अन्तोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया भवति झाण' यदुक्तमस्माद् विनेयस्य विरोधशङ्कया सम्मोहः स्यादतस्तदपनोदाय प्रज्ञामाह—'पुव्वं च जं तदुत्तं' ननु

'तहेयंपि' तथा एतदपि अधिकृतं वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥ १४७३ ॥ अधुना स्वरूपतः कायिकं मानसं च ध्यानमावेदयन्नाह—'मा मे एजउ काउ'त्ति एजतु—कम्पतां 'कायो' देह इति, एवं अचलत एकाग्रतया स्थितस्येति भावना, किं ?, कायेन निर्वृत्तं कायिकं भवति ध्यानं, एवमेव मानसं निरुद्धमनसो भवति ध्यानमिति गाथार्थः ॥ १४७४ ॥ इत्थं प्रतिपादिते सत्याह चोदकः—'जइ कायमणनिरोहे' ननु यथा कायमनसोर्निरोधे ध्यानं प्रतिपादितं भवता 'वायाइ जुज्जइ न एव'त्ति वाचि युज्यते नैवेति, कदाचिदप्रवृत्तस्यैव निरोधाभावात्, तथाहि—न कायमनसी यथा सदा प्रवृत्ते तथा वागिति 'तम्हा वती उ झाणं न होइ' तस्माद् वाग् ध्यानं न भवत्येव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् व्यवहितप्रयोगाच्च, 'को वा विसेसोऽत्थ'त्ति को वा विशेषोऽत्र ? येनेत्थमपि व्यवस्थिते सति वाग् ध्यानं भवतीति गाथार्थः ॥ १४७५ ॥ इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याह गुरुः—'मा मे चलउ'त्ति मा मे चलतु—कम्पतामितिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः तं च दर्शयिष्यामः, तनुः—शरीरमिति—एवं चलनक्रियानिरोधेन यथा तद् ध्यानं कायिकं 'निरेइणो' निरेजिनो—निष्प्रकम्पस्य भवति 'अवज्जभासविवज्जिस्स वाइयं झाणमेवं तु' अवद्यभाषाविवर्जिनो—दुष्टवाक्यपरिहर्तुरित्यर्थः, वाचिकं ध्यानमेव यथा कायिकं, तुशब्दोऽवधारणार्थ इति गाथार्थः ॥ १४७६ ॥ साम्प्रतं स्वरूपत एव वाचिकध्यानमुपदर्शयन्नाह—'एवंविहा गिरा' एवंविधेति निरवद्या गी'—वागुच्यते 'मे'त्ति मया वक्तव्या 'एरिस'त्ति ईदृशी सावद्या न वक्तव्या, एवमेकाग्रतया विचारितवाक्यस्य सतो भाषमाणस्य वाचिकं ध्यानमिति गाथार्थः ॥ १४७७ ॥ एवं तावद् व्यवहारतो भेदेन त्रिविधमपि ध्यानमावेदितं, अधुनैकदैव एकत्रैव त्रिविधमपि दर्शयति—'मणसा वावारंतो' मनसा—मन्तःकरणेनोपयुक्तः सन् व्यापारयन् कायं—देहं वाचं—भारतीं च 'तप्परी

णामो' तत्परिणामो विवक्षितश्रुतपरीणामः, अथवा तत्परिणामो—योगत्रयपरिणामः स तथाविधः शान्तो योगत्रयपरिणामो यस्यासौ तत्परिणामः, भक्तिकश्रुत—दृष्टिवादान्तर्गतमन्यद् वा तथाविधं 'गुणतो'त्ति गुणयन् वर्त्तते त्रिविधेऽपि ध्याने मनोवाक्कायव्यापारलक्षणे इति गाथार्थः ॥ १४७८ ॥ व्यवसितमानुषङ्गिकं, साम्प्रतं भेदपरिमाणं प्रतिपादयताऽथ उच्छ्रितोच्छ्रितादिभेदो यो नवधा कायोत्सर्ग उपन्यस्तः स यथायोगं व्याख्यायत इति, तत्र—

धम्मं सुक्कं च दुवे झायइ झाणाइँ जो ठिओ संतो । एसो काउस्सग्गो उसिउसिओ होइ नायव्वो ॥ १४७९ ॥

धम्मं सुक्कं च दुवे नवि झायइ नवि य अट्टरुद्दाइं । एसो काउस्सग्गो दव्वुसिओ होइ नायव्वो ॥ १४८० ॥

पयलायंत सुसुत्तो नेव सुहं झाइ झाणमसुहं वा । अव्वावारियचित्तो जागरमाणोवि एमेव ॥ १४८१ ॥

अचिरोववन्नगाणं मुच्छियअव्वत्तमत्तसुत्ताणं । ओहाडियमव्वत्तं च होइ पाएण चित्तंति ॥ १४८२ ॥

गाढालंबणलग्गं चित्तं वुत्तं निरेयणं झाणं । सेसं न होइ झाणं मउअमवत्तं भमंतं वा ॥ १४८३ ॥

उस्सासेसोवि किही होउ छद्दिपणो पुणो जलइ । इय अवत्तं चित्तं होउं वत्तं पुणो होइ ॥ १४८४ ॥

पुव्वं च जं तदुत्तं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं । आयवमणेगग्गं चित्तं चिय तं न तं झाणं ॥ १४८५ ॥

भा० मणसहिएण उ काएण कुणइ वायाइ भासई जं च । एयं च भावकरणं मणरहियं दव्वकरणं च ॥ १४८६ ॥

चो० जइ ते चित्तं झाणं एयं झाणमवि चित्तमायत्तं । तेन र चित्तं झाणं अह नेवं झाणमन्नं ते ॥ १४८७ ॥

आ० नियमा चित्तं झाणं झाणं चित्तं न यावि भइयव्वं । जह खइरो होइ दुमो दुमो य खइरो अखइरो वा ॥१४८८॥

'तहेयंपि' तथा एतदपि अधिकृतं वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥ १४७३ ॥ अधुना स्वरूपतः कायिकं मानसं च ध्यानमावेदयन्नाह—'मा मे एजउ काउ'त्ति एजतु—कम्पतां 'कायो' देह इति, एवं अचलस्य एकाग्रतया स्थितस्येति भावना, किं ?, कायेन निर्वृत्तं कायिकं भवति ध्यानं, एवमेव मानसं निरुद्धमनसो भवति ध्यानमिति गाथार्थः ॥ १४७४ ॥ इत्थं प्रतिपादिते सत्याह चोदकः—'जइ कायमणनिरोहे' ननु यथा कायमनसोर्निरोधे ध्यानं प्रतिपादितं भवता 'वायाइ जुज्जइ न एव'ति वाचि युज्यते नैवेति, कदाचिदप्रवृत्तस्यैव निरोधाभावात्, तथाहि—न कायमनसी यथा सदा प्रवृत्ते तथा वागिति 'तम्हा वती उ झाण न होइ' तस्माद् वाग् ध्यानं न भवत्येव, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् व्यवहितप्रयोगाच्च, 'को वा विसेसोऽस्स'त्ति को वा विशेषोऽस्य ? येनेत्थमपि व्यवस्थिते सति वाग् ध्यानं भवतीति गाथार्थः ॥ १४७५ ॥ इत्थ चोदकेनोक्ते सत्याह गुरुः—'मा मे चलउ'त्ति मा मे चलतु—कम्पतामितिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः तं च दर्शयिष्यामः, तनुः—शरीरमिति—एवं चलनक्रियानिरोधेन यथा तद् ध्यानं कायिकं 'निरेइणो' निरेजिनो—निष्प्रकम्पस्य भवति 'अजयाभासविवज्जिस्स वाइयं झाणमेयं तु' अयताभाषाविवर्जिनो—दुष्टवाक्परिहर्तुरित्यर्थः, वाचिकं ध्यानमेव यथा कायिकं, तुशब्दोऽवधारणार्थ इति गाथार्थः ॥ १४७६ ॥ साम्प्रतं स्वरूपत एव वाचिकध्यानमुपदर्शयन्नाह—'एवंविहा गिरा' एवंविधेति निरवद्या गी—र्वागुच्यते 'मे'त्ति मया वक्तव्या 'एरिस'त्ति ईदृशी सावद्या न वक्तव्या, एवमेकाग्रतया विचारितवाक्यस्य सतो भाषमाणस्य वाचिकं ध्यानमिति गाथार्थः ॥ १४७७ ॥ एवं तावद् व्यवहारतो भेदेन त्रिविधमपि ध्यानमावेदितं, अधुनैकदैव एकमेव त्रिविधमपि दर्श्यते—'मणसा वावारंतो' मनसा—अन्तःकरणेनोपयुक्तः सन् व्यापारयन् कायं—देहं वाचं—भारतीं च 'तप्परी

तीर्थकरा गणधराश्च, वक्ष्यते च–'भणिअसुतं सुणेतो वट्टति विविहेवि झाणंमि'त्ति गाथार्थः ॥ १४७० ॥ परान्युपगतध्यानसाम्यप्रदर्शनेनानभ्युपगतयोरपि ध्यानतां प्रदर्शयन्नाह—'अह एगग्गं' गाहा, हे आयुष्मन्! यद्प्येकाग्रं चित्तं कस्मिंश्चिद् वस्तुनि धारयतो वा स्थिरतया देहस्यापिविधिपयत् ध्यानं इति 'निरुंभओ वावि'त्ति निरुन्धानस्य वा तदपि योगनिरोध इव केवलिनः किमित्याह–ध्यानं भवति मानसं यथा ननु तथा इतरयोरपि प्रयोर्वाक्कायायोः, एवमेव–एकाग्रधारणादिनैव प्रकारेण तल्लक्षणयोगाद् ध्यानं भवतीति गाथार्थः ॥ १४७१ ॥ इत्थं त्रिविधे ध्याने सति यस्य यदोत्कटत्वं तस्य तदेतरसद्भावेऽपि प्राधान्याद् व्यपदेश इति, लोकलोकोत्तरानुगतश्चायं न्यायो वर्तते, तथा चाह—'देसिय' गाहा, देशयतीति देशिकः–अग्रयायी देशिकेन दर्शितो मार्गः–पन्था यस्य स तथोच्यते व्रजन्–गच्छन् नरपती–राजा लभते शब्दं–प्राप्नोति शब्दं, किंभूतमित्याह–'रायत्ति एस वच्चति' राजा एष व्रजतीति, न चासौ केवलः, प्रभूतलोकानुगतत्वात्, न च तदन्यव्यपदेशः, तेषामप्राधान्यात्, तथा चाह–'सेसा अणुगामिणो तस्स'त्ति शेषाः–अमात्यादयः अनुगामिनः अनुयातारस्तस्य–राज्ञ इत्यतः प्राधान्याद्राजेतिव्यपदेश इति गाथार्थः ॥१४७२॥ अयं लोकानुगतो न्यायः, अयं पुनर्लोकोत्तरानुगतः–'पढमिल्लु' प्रथम एव प्रथमिल्लुकः, प्राथम्यं चास्य सम्यग्दर्शनाख्यप्रथमगुणघातित्वात् तस्य प्रथमिल्लुकस्य उदये, कस्य?, क्रोधस्य अनन्तानुबन्धिन इत्यर्थः 'इतरेवि तिण्णि तत्थऽत्थि' शेषा अपि त्रयः–अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनाख्यास्तत्र–जीवद्रव्ये सन्ति, न घातीत्याद्यपेक्षया तत्सद्भावः प्रतिपाद्यते, यत आह—'न य ते ण सति तहियं'न च ते–अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणादयो न सन्ति, किंतु सन्त्येव, न च प्राधान्यं तेषामतो न व्यपदेशः, आद्यस्यैव व्यपदेशः,–

न भवति जिणदिट्ठं झाणं तिविहेवि जोगंमि' तदेतन्न भवति यत् परेणाभ्यधायि, कुतः ?, यस्मात्रि नैर्दिष्टं ध्यानं त्रिविधेऽपि योगे–मनोवाक्कायव्यापारलक्षण इति गाथार्थः ॥ १४५७ ॥ किं तु ?, कस्यचित् कदाचित् प्राधान्यमाश्रित्य भेदेन व्यपदेशः प्रवर्त्तते, तथा चामुमेव न्यायं प्रदर्शयन्नाह–'वायाईधाऊणं' वातादिधातूनां आदिशब्दात् पित्तश्लेष्मणोर्यो यदा भवत्युत्कटः–प्रचुरो धातुः कुपित इति स प्रोच्यत उत्कटत्वेन प्राधान्यात्, 'न य इतरे तत्थ दो नत्थि'त्ति न चेतरौ तत्र द्वौ न स्त इति गाथार्थः ॥ १४५८ ॥ 'एमेव य जोगाणं' एवमेव च योगानां–मनोवाक्कायानां त्रयाणामपि यो यदा उत्कटो योगस्तस्य योगस्य तदा–तस्मिन् काले निर्देशः, 'इयरे तत्थेक्क दो व णवा' इतरस्तत्रैको भवति द्वौ वा भवतः, न वा भवत्यत्र, इयमत्र भावना–केवलिनः वाचि उत्कटाया कायोऽप्यस्ति अस्मदादीनां तु मनः कायो न चेति, केवलिनः शैलेश्यवस्थायां काययोगनिरोधकाले स एव केवल इति, अनेन च शुभयोगोत्कटत्वं तथा निरोधश्च द्वयमिति(मपि) ध्यानमित्यावेदित[व्य]मिति गाथार्थ ॥१४५९॥ यत्र य उत्कटो योगः तस्यैवेतरसद्भावेऽपि प्राधान्यात् सामान्येन ध्यान[स्य]मभिधायाधुना विशेषेण त्रिप्रकारमप्युपदर्शयन्नाह– 'काएवि य' कायेऽपि च अध्यात्मं अधि आत्मनि वर्त्तत इति अध्यात्मं ध्यानमित्यर्थः, एकाग्रतया एजनादिनिरोधात्, 'वायाए'त्ति तथा वाचि अध्यात्मं एकाग्रतयैवायतभाषानिरोधात्,'मणसस्स चेव जह होइ'त्ति मनसश्चैव यथा भवत्यध्यात्म एव कायेऽपि वाचि चेत्यर्थः, एवं भेदेनाभिधायाधुनैकदापि दर्शयन्नाह–कायवाङ्मनोयुक्तं त्रिविधं अध्यात्ममाख्यातवन्त

तीर्थकरा गणधराश्च, पठ्यते च–'भंगिअसुतं गुणंतो वट्टति तिविहेवि झाणंमि'त्ति गाथार्थः ॥ १४७० ॥ पराभ्युपगतध्यानसाम्यप्रदर्शनेनानभ्युपगतयोरपि ध्यानतां प्रदर्शयन्नाह—'मइ पगगं' गाहा, हे आयुष्मन् ! यद्येकाग्रं चित्तं कश्चिद् वस्तुनि धारयतो वा स्थिरतया देहव्यापिविषवत् एकं इति 'निरुंभओ वावि'त्ति निरुन्धानस्य वा तदपि योगनिरोध इव केवलिनः किमित्याह–ध्यानं भवति मानसं यथा ननु तथा इतरयोरपि द्वयोर्वाक्काययोः, एवमेव–एकाग्रधारणादिनैव प्रकारेण सल्लक्षणयोगाद् ध्यान भवतीति गाथार्थः ॥ १४७१ ॥ इत्थं त्रिविधे ध्याने सति यस्य यदोत्कटत्वं तस्य तदेतरसद्भावेऽपि प्राधान्याद् व्यपदेश इति, लोकलोकोत्तरानुगतश्चायं न्यायो वर्तते, तथा चाह—'देसिय' गाहा, देशयतीति देशिकः–अग्रयायी देशिकेन दर्शितो मार्गः–पन्था यस्य स तथोच्यते व्रजन्–गच्छन् नरपती–राजा लभते शब्दं–प्राप्नोति शब्द, किंभूतमित्याह–'रायत्ति एस वच्चति' राजा एष व्रजतीति, न चासौ केवलः, प्रभूतलोकानुगतत्वात्, न च तदन्यव्यपदेशः, तेषामप्राधान्यात्, तथा चाह–'सेसा अणुगामिणो तस्स'त्ति शेषाः–अमात्यादयः अनुगामिनः अनुयायिनस्तस्य–राज्ञ इत्यतः प्राधान्याद्राजेतिव्यपदेश इति गाथार्थः ॥१४७२॥ अयं लोकानुगतो न्यायः, अयं पुनर्लोकोत्तरानुगतः–'पढमिल्लु' प्रथम एव प्रथमिल्लुकः, प्राथम्यं चास्य सम्यग्दर्शनाख्यप्रथमगुणघातित्वात् तस्य प्रथमिल्लुकस्य उदये, कस्य, क्रोधस्य अनन्तानुबन्धिन इत्यर्थः 'इतरेवि तिण्णि तत्यत्थि' शेषा अपि त्रयः–अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनादयस्तत्र–जीवद्रव्ये सन्ति, न चातीताद्यपेक्षया तत्सद्भावः प्रतिपाद्यते, यत आह—'न य ते ण संति तहिय' न च ते–अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणादयो न सन्ति, किंतु सन्त्येव, न च प्राधान्य तेषामतो न व्यपदेशः, आद्यस्यैव व्यपदेशः,

न भवति जिणदिट्ठं झाणं तिविहेवि जोगंमि' तदेतन्न भवति यत् परेणाभ्यधायि, कुतः ?, यस्मान्नि नैर्दिष्टं ध्यानं त्रिविधेऽपि योगे–मनोवाक्कायव्यापारलक्षण इति गाथार्थः ॥ १४६७ ॥ किं तु ?, कस्यचित् कदाचित् प्राधान्यमाश्रित्य भेदेन व्यपदेशः प्रवर्त्तते, तथा चामुमेव न्यायं प्रदर्शयन्नाह–'वायाईधाऊणं' वातादिधातूना आदिशब्दात् पित्तश्लेष्मणोर्यो यदा भवत्युत्कटः–प्रचुरो धातुः कुपित इति स प्रोच्यत उत्कटत्वेन प्राधान्यात्, 'न य इतरे तत्थ दो नत्थि'त्ति न चेतरौ तत्र द्वौ न स्त इति गाथार्थः ॥ १४६८ ॥ 'एमेव य जोगाणं' एवमेव च योगानां–मनोवाक्कायानां त्रयाणामपि यो यदा उत्कटो योगस्तस्य योगस्य तदा–तस्मिन् काले निर्देशः, 'इयरे तत्थेक्क दो व णवा' इतरस्तत्रैको भवति द्वौ वा भवत , न वा भवत्यथ, इयमत्र भावना–केवलिनः वाचि उत्कटाया कायोऽप्यस्ति अस्मदादीनां तु मनः कायो न वेति केवलिनः शैलेश्यवस्थायां काययोगनिरोधकाले स एव केवल इति, अनेन च शुभयोगोत्कटत्वं तथा निरोधश्च द्वयमिति(मपि) ध्यानमित्यावेदित[व्य]मिति गाथार्थः॥१४६९॥इत्थं च उत्कटो योगः तस्यैवेतरसद्भावेऽपि प्राधान्यात् सामान्येन ध्यान[त्व]मभिधायाधुना विशेषेण त्रिप्रकारमप्युपदर्शयन्नाह— 'काएवि य' कायेऽपि च अध्यात्मं अधि आत्मनि वर्त्तत इति अध्यात्मं ध्यानमित्यर्थ, एकाग्रतया एजनादिनिरोधात्, 'वायाए'त्ति तथा वाचि अध्यात्मं एकाग्रतयैवायतभाषानिरोधात्,'मणस्स चेव जह होइ'त्ति मनसश्चैव यथा भवत्यध्यात्मं एव कायेऽपि वाचि चेत्यर्थः, एवं भेदेनाभिधायाधुनैकादायपि दर्शयन्नाह–कायवाङ्मनोयुक्तं त्रिविध अध्यात्ममाख्यातवन्त

इत्यानुप्रेक्षा ध्यानादौ ध्यानोपरमे भवतीतिकृत्वा भेदेनोपन्यस्तेति गाथार्थः ॥ १४६२ ॥ इह ध्यायति च शुभं ध्यानमित्युक्तं, तत्र किमिदं ध्यानमित्यत आह—'अंतोमुहुत्तकालं' द्विघटिको मुहूर्तः भिन्नो मुहूर्तोऽन्तर्मुहूर्त इत्युच्यते, अन्तर्मुहूर्तकालं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानं 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान'(तत्त्वार्थे अ० सूत्र९२७) मितिकृत्वा, तत् पुनरार्तं रौद्रं धर्मं शुक्लं च शास्त्यमित्येषां च स्वरूपं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने प्रतिपादितं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥१४६२–१४६३॥ 'तस्थ च दो भाइला' गाथा निगदसिद्धा । साम्प्रतं यथाभूतो यत्र यथावस्थितो यच्च ध्यायति तदेतदभिधित्सुराह—'संवरियासवदार त्ति संवृतानि–स्थगितानि आश्रवद्वाराणि–प्राणातिपातादीनि येन स तथाविधः, क्व ध्यायति ?–'अव्वाबाधे अकंटए देसे'त्ति' अव्याबाधे–गान्धर्वादिलक्षणभावबाधाधाविकले अकण्टके–पाषाणकण्टकादिद्रव्यकण्टकरहित 'देसे' भूभागे, कथं व्यवस्थितो ध्यायति ?–'काऊण थिरं ठाण ठिवो निसण्णो निवण्णो वा' कृत्वा स्थिरं–निष्कम्पं [अव]स्थान–अवस्थितिविशेषलक्षणं स्थितो निषण्णो निवण्णो वेति प्रकटार्थं, चेतन–पुरुषादि अचेतनं–प्रतिमादि वस्तु अवलम्ब्य–विषयीकृत्वा(त्य) घनं–दृढं मनसा–अन्तःकरणेन यत् ध्यायति, किं ? तदाह–'झायति सुयमत्थं वा' ध्यायतीति सम्बध्यते, सूत्रं–गणधरादिभिर्बद्धं अर्थं वा–तद्गोचरं, किंभूतमर्थमत आह–'दवियं तप्पज्जवे वावि' द्रव्यं तत्पर्यायान् वा, इह च यदा सूत्रं ध्यायति तदा तदेव स्वगतधर्मरालोचयति, न स्वर्थं, यदा स्वर्थं न तदा सूत्रमिति गाथार्थः ॥ १४६४–१४६६ ॥ अधुना प्रागुक्तचोद्यपरिहारायाह—तत्र भणेत्–ब्रूयात् कश्चित्, किं ब्रूयादित्याह–'झाणं खो माणसो परीणामो' ध्यानं यो मानस परीणामः, 'ध्यै चिन्तायां'मित्यस्य चिन्तार्थत्वात्, इत्यमाशङ्क्योत्तरमाह–'तं

वायाईवाऊण जो जाहे होइ वक्सो धाऊ। कुविओसि सो पयुपइ न य इअरे तत्थ दो नत्थि ॥ १४६८ ॥
एमेव य जोगाण तिण्हवि जो जाहि उक्कडो जोगो। तस्स तहिं निद्देसो इअरे तत्थिक्क दो व नया ॥ १४६९ ॥
काएवि य अज्झप्प वायाइ मणस्स चेव जह होइ। कायवयमणोजुत्त तिविहं अज्झप्पमाहंसु ॥ १४७० ॥
जइ एगग्ग चित्त धारयओ वा निरुमओ वावि। झाण होइ नणु तहा इअरेसुवि दोसु एमेव ॥ १४७१ ॥
देसियरंसियमग्गो वच्चतो नरवई लहइ सद्द। रायत्ति एस वच्चइ सेसा अणुगामिणो तस्स ॥ १४७२ ॥
पढमिल्लुअस्स उदए कोहस्सिअरे वि तिन्नि तत्थत्थि। नय ते ण सति तहिय न य पाहन्न तहेयमि ॥ १४७३ ॥
मा मे एजउ काउस्सि अचलओ काइअ हवइ झाण। एमेव य माणसिय निरुद्धमणसो हवइ झाण ॥ १४७४ ॥
जह कायमणनिरोहे झाण वायाइ जुज्जइ न एव। तम्हा वई उ झाण न होइ को वा विसेसुत्थ ? ॥ १४७५ ॥
मा मे चलउत्ति तणू जह त झाणं निरेइणो होइ। अजयाभासविवज्जस्स वाइअ झाणमेव तु ॥ १४७६ ॥
एवविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसा न वत्तव्वा। इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइय झाण ॥ १४७७ ॥
मणसा वावारतो काय वायं च तप्परीणामो। भगिमसुभ गुणतो वहइ तिविहपि झाणमि ॥ १४७८ ॥

'देहमतिजड्डसुद्धी'ति देहजाड्यशुद्धिः—श्लेष्मादिप्रहाणतः मतिजाड्यशुद्धिः तथावस्थितस्योपयोगविशेषतः, 'सुहदुक्खतितिक्खय'त्ति सुखदुःखतितिक्षा सुखदुःखातिसहनमित्यर्थः, 'अणुप्पेहा' अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा च तथाऽवस्थितस्य भवति, तथा 'झायइ य सुह झाण' ध्यायति च शुभं ध्यानं धर्मशुक्ललक्षणं, एकाग्रः—एकचित्तः शेषव्यापाराभावात् कायोत्सर्गे इति,

त्वानुप्रेक्षा ध्यानादौ ध्यानोपरमे भवतीतिकृत्वा भेदेनोपन्यस्तेति गाथार्थः ॥ १४६२ ॥ इह ध्यायति च शुभं ध्यानमि त्युक्तं, तत्र किमिदं ध्यानमित्यत आह—'अंतोमुहुत्तकालं' द्विघटिको मुहूर्त्तः भिन्नो मुहूर्त्तोऽन्तर्मुहूर्त्तं इत्युच्यते, अन्तर्मु हूर्त्तकालं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानं 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान'(तत्त्वार्थे अ० सूत्र ९२७) मितिकृत्वा, तत् पुनरार्त्तं रौद्रं धर्मं शुक्लं च ज्ञातव्यमित्येषां च स्वरूपं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने प्रतिपादितं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥१४६२–१४६३॥ 'तत्थ उ दो भाइला' गाथा निगदसिद्धा । साम्प्रत यथाभूतो यत्र यथावस्थितो यच्च ध्यायति तदेतदभिधित्सुराह— 'संवरियासवदार त्ति संवृतानि—स्थगितानि आश्रवद्वाराणि—प्राणातिपातादीनि येन स तथाविधः, क्व ध्यायति ?– 'अव्वाबाहे अकंटए देसे'त्ति' अव्याबाधे—गान्धर्वादिलक्षणभावव्याबाधारहिते अकण्टके—पाषाणकण्टकादिद्रव्यकण्टक- रहिते 'देशे' भूभागे, कथं व्यवस्थितो ध्यायति ?–'काऊण थिरं ठाणं ठिओ निसण्णो निवण्णो वा' कृत्वा स्थिरं—निष्कम्पं [अव]स्थान—अवस्थितिविशेषलक्षणं स्थितो निषण्णो निवण्णो वेति प्रकटार्थं, चेतन—पुरुषादि अचेतनं—प्रतिमादि वस्तु अवलम्ब्य—विषयीकृत्या(त्य) घन—दृढ मनसा—अन्तःकरणेन यत् ध्यायति, किं ? तदाह—'झायति सुयमत्थं वा' ध्यायतीति सम्बध्यते, सूत्र—गणधरादिभिरुक्तं अर्थं वा—तद्गोचरं, किंभूतमर्थमत आह—'दवियं तप्पज्जवे वावि' द्रव्यं तत्पर्यायान् वा, इह च यदा सूत्रं ध्यायति तदा तदेव स्वगतधर्मराशोपयति, न त्वर्थं, यदा त्वर्थं न तदा सूत्रमिति गाथार्थः ॥ १४६४–१४६६ ॥ अधुना प्रागुक्तचोद्यपरिहारायाह—तत्र भणेत्—ब्रूयात् कश्चित्, किं ब्रूयादित्याह—'झाणं जो माणसो परीणामो' ध्यानं यो मानसः परीणामः, 'ध्यै चिन्तायां'मित्यस्य चिन्तार्थत्वात्, इत्थमाशङ्क्योत्तरमाह—'तं

‘अट्ठविहंपि य कम्मं’ अष्टविधं—अष्टप्रकारमपि, चशब्दो विशेषणार्थः तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, अट्ठविहंपि य कम्म अरिभूतं च, ततश्चायमर्थः—यस्मात् ज्ञानावरणीयादि अरिभूतं—शत्रुभूतं वर्तते भवनिबन्धनत्वाच्छब्दादचेतनं च तेन कारणेन तज्जयार्थं—कर्मजयनिमित्तं ‘अब्भुट्ठिया उ’त्ति आभिमुख्येन उत्थिता एव एकान्तगर्वविफला अपि तपो द्वादश प्रकारं संयमं च सप्तदशप्रकारं कुर्वन्ति निर्ग्रन्थाः—साधव इत्यतः कर्मक्षयार्थमेव तदभिभवनाय कायोत्सर्गः कार्य एवेति गाथार्थः ॥ १४५६ ॥ तथा चाह—तस्स कसाया इति ‘तस्य’ प्रक्रान्तशत्रुसैन्यस्य कषायाः प्राग्निरूपितशब्दार्थाश्चत्वारः क्रोधादयो नायकाः—प्रधानाः, ‘काउस्सग्गमभग्गं करेंति तो तज्जयट्ठाए’त्ति कायोत्सर्गं—अभिभवकायोत्सर्गं अभग्नं—अपीडितं कुर्वन्ति साधवस्ततस्तज्जयार्थं—कर्मजयनिमित्तं तपःसंयमवदिति गाथार्थः ॥ १४५७ ॥ गतं मूलद्वारगाथायां विधानमार्गणाद्वारम्, अधुना कालपरिमाणद्वारावसरः, तत्रेयं गाथा—संवत्सरमुत्कृष्टं कालप्रमाणं, तथा च बाहुबलिना संवत्सरं कायोत्सर्गः कृत इति, ‘अन्तोमुहुत्त च’ अभिभवकायोत्सर्गे अन्त्यं—जघन्यं कालपरिमाणं, चेष्टाकायोत्सर्गस्य तु कालपरिमाणमनेकभेदभिन्नं ‘उवरि वोच्छं’ति उपरिष्टाद् वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ १४५८ ॥ उक्तं तावदोघतः कालपरिमाणद्वारं, अधुना भेदपरिमाणद्वारमधिकृत्याह—

उस्सिउस्सिओ अ तह उस्सिओ अ उस्सियनिसन्नओ चेव। निसन्नुस्सिओ निसन्नो निस्सन्नगनिसन्नओ चेव १४५९॥
निवणुस्सिओ निवन्नो निवन्ननिवन्नगो अ नायव्वो। एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥ १४६० ॥
उस्सिअनिसन्नग निवन्नगे य इक्किक्कगम्मि उ पयम्मि। दव्वेण य भावेण य चउक्कभयणा उ कायव्वा ॥ १४६१ ॥

उस्सिअउस्सिओ' उच्छ्रितोच्छ्रितः उत्सृतश्च उत्सृतनिषण्णश्चैव निषण्णोत्सृतः निषण्णो निषण्णनिषण्णश्चैवेति गाथार्थः ॥ निसण्णुस्सिओ निवन्नो निषण्णोत्सृतः निष(व)ण्णः निषण्ण निषण्णश्च ज्ञातव्यः, एतेषां तु पदानां प्रत्येकं प्ररूपणा तस्य इति गाथासमासार्थः, अवयवार्थं तु उपरिष्टाद्वक्ष्यामः 'उस्सिय' उत्सृतो निषण्णः निषण्णनिषण्णेषु एकैकस्मिन्नेव पदे 'दव्वेण य भावेण य चउक्कभयणा उ कायव्वा' द्रव्यत उत्सृत ऊर्ध्वस्थानस्थः भावत उत्सृत धर्मध्यानशुक्लध्यायी, अन्यस्तु द्रव्यत उत्सृत ऊर्ध्वस्थानस्थः न भावतः उत्सृतः ध्यानचतुष्टयरहितः कृष्णादिलेश्यागतपरिणाम इत्यर्थः, अन्यस्तु न द्रव्यत उत्सृतः नोर्ध्वस्थानस्थः भावत उत्सृतः, शुक्लध्यायी अन्यस्तु न द्रव्यतो नापि भावत इत्ययं मतीतार्थ एवमन्यपदचतुर्भङ्गिका अपि वक्तव्याः ॥ १४५०–१४५१ ॥ इत्थ सामान्येन भेदपरिमाणे दर्शिते तस्याह चोदकः, ननु कार्योत्सर्गकरणे कः पुनर्गुण इत्याहाचार्यः–

देहमइजड्डसुद्धी सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा। झायइ य सुहं झाणं एयग्गो काउसग्गमि ॥ १४५२ ॥

अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं। तं पुण अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं च नायव्वं ॥ १४५३ ॥

तत्थ य दो आइल्ला झाणा संसारवद्धणा भणिया।
दुन्नि य विमुक्खहेऊ तेसिऽहिगारो न इयरेसिं ॥ १४५४ ॥

सपरिग्गहसपदारा अब्भासाई अकट्टए दस। काऊण थिरं ठाणं ठिओ निसन्नो निवन्नो वा ॥ १४५५ ॥

चेयणमचेयणं वा वत्थुं अवलंबिउं घणं मणसा। झायइ सुभमत्थं वा दवियं तप्पज्जए वावि ॥ १४५६ ॥

तत्थ उ भणिज्ज कोई झाणं जो माणसो परीणामो। तं न हवइ जिणदिट्ठं झाणं तिविहेवि जोगंमि ॥ १४५७ ॥

'अट्ठविहंपि य कम्मं' अष्टविधं—अष्टप्रकारमपि, चशब्दो विशेषणार्थः तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, अट्ठविहंपि य कम्म
अरिभूतं च, ततश्चायमर्थः—यस्मात् ज्ञानावरणीयादि अरिभूत—शत्रुभूत वर्त्तते भवनिबन्धनत्वाच्चशब्दात्चेतन च तन
कारणेन तज्जयार्थं—कर्मजयनिमित्तं 'अब्भुट्ठिया उ'त्ति आभिमुख्येन उत्थिता एव एकान्तगर्वविकला अपि तपो द्वादश
प्रकारं संयमं च सप्तदशप्रकार कुर्वन्ति निर्ग्रन्थाः—साधव इत्यतः कर्मक्षयार्थमेव तदभिभवनाय कायोत्सर्गः कार्य
एवेति गाथार्थः ॥ १४५६ ॥ तथा चाह—तस्स कसाया इति 'तस्य' प्रक्रान्तशत्रुसैन्यस्य कषायाः प्रागुक्त
पितशब्दार्थाश्चत्वारः क्रोधादयो नायकाः—प्रधानाः, 'काउस्सग्गमभग्ग करेंति तो तज्जयट्ठाए'त्ति काउस्सग्गं—
अभिभवकायोत्सर्गं अभग्न—अपीडितं कुर्वन्ति साधवस्ततस्तज्जयार्थं—कर्मजयनिमित्तं तपःसंयमवदिति गाथार्थः
॥ १४५७ ॥ गत मूलद्वारगाथाया विधानमार्गणाद्वारम्, अधुना कालपरिमाणद्वारावसरः, तत्रेय गाथा—
संवत्सरमुत्कृष्टं कालप्रमाणं, तथा च बाहुबलिना संवत्सरं कायोत्सर्गः कृत इति, 'अन्तोमुहुत्त च' अभिभवकाया
त्सर्गे जघन्यं—जघन्यं कालपरिमाणं, चेष्टाकायोत्सर्गस्य तु कालपरिमाणमनेकभेदभिन्नं 'उवरि वोच्छ'ति उपरिष्टाद्
वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥ १४५८ ॥ उक्तं तावदोघतः कालपरिमाणद्वारं, अधुना भेदपरिमाणद्वारमधिकृत्याह—
उसिउस्सिओ अ तह उस्सिओ अ उस्सियनिसण्णओ चेव। निसन्नुस्सिओ निसन्नो निसन्नगनिसन्नओ चेव १४५९॥
निवणुस्सिओ निवन्नो निवन्ननिवन्नगो अ नायव्वो। एएसिं तु पयाण पत्तेय परूवण वुच्छ ॥ १४६० ॥
उस्सिअनिसन्नग निवन्नगे य इक्किक्कंमि उ पयंमि। दव्वेण य भावेण य चउक्कभयणा उ कायव्वा ॥ १४६१ ॥

उस्सग्ग विउस्सरणुज्झणा य अवगिरण छड्डुण विवेगो। वज्जण चयणुम्मुअणा परिसाडण साडणा चेव ॥१४५१॥
उस्सग्गे निक्खेवो चउक्कओ छक्कओ अ कायव्वो । निक्खेवं काऊणं परूवणा तस्स कायव्वा ॥ १ ॥

सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो ।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ ॥ १४५२ ॥

'नामठवणादविए' अर्थमधिकृत्य निगदसिद्धा, विशेषार्थं तु प्रतिद्वारं प्रपञ्चेन वक्ष्यामः, तत्रापि नामस्थापने गतार्थे, द्रव्योत्सर्गाभिधित्सया पुनराह—'दव्वुज्झणा उ जं खेण' द्रव्योज्झना तु द्रव्योत्सर्गः स्वयमेव 'जं'ति यद् द्रव्यमनेषणीयं 'अवकिरति'त्ति योग अवकिरति—उत्सृजति 'खेणे'ति येन करणभूतेन पात्रादिनोत्सृजति,'जत्थ'त्ति यत्र द्रव्ये उत्सृजति द्रव्यभूतो वा—अनुपयुक्तो वा उत्सृजति एष द्रव्योत्सर्गोऽभिधीयते । क्षेत्रोत्सर्ग उच्यते 'जं जत्थ वावि खेत्ते'त्ति यत्क्षेत्रं दक्षिणदेशादुत्सृजति यत्र वाऽपि क्षेत्रे उत्सर्गो व्यावर्ण्यते एष क्षेत्रोत्सर्गः, कालोत्सर्ग उच्यते—'जं जच्चिर जम्मि वा काले'त्ति यत्कालमुत्सृजति यथा भोजनमधिकृत्य रजनीं साधवः 'जच्चिरं'ति यावन्तं कालमुत्सर्गः, यस्मिन् वा काले उत्सर्गो व्यावर्ण्यते एष कालोत्सर्ग इति गाथार्थ ॥ १४५८ ॥ भावोत्सर्गप्रतिपादनायाह—

'भावे पसत्थमियरं' 'भावे'त्ति द्वारपरामर्शः, भावोत्सर्गो द्विधा—प्रशस्तं—शोभनं वस्त्वधिकृत्य 'इयर'ति अप्रशस्तमशोभन च, तथा यत भावेनोत्सर्जनीयवस्तुगतेन खरादिना 'अवकिरति अम्हु' उत्सृजति यत् तत्र भावेनोत्सर्ग इति तृतीयासमास , तत्र असंयम प्रशस्ते भावोत्सर्गे त्यजति, अप्रशस्ते तु संयमं त्यजतीति गाथार्थः ॥ १४५९ ॥ यदुक्तं येन वा

एको काओ दुहा जाओ' एकः कायः—क्षीरकायः द्विधा जातः, घटद्वये न्यासात्, तत्र एकस्तिष्ठति, एको मारितः, जीवन् मृतेन मारितस्तदेतच्चेति—ब्रूहि हे मानव ! केन कारणेन !, कथानकं यथा प्रतिक्रमणाध्ययन परिहरणायामिति गाथार्थः, भारकायश्चात्र क्षीरभृतकुम्भद्वयोपेता कापोती भण्यते, भारश्चासौ कायश्च भारकायः, अण्णे भणंति—भारकायः कापोत्येवोच्यते इति ॥ १४४५ ॥ भावकायप्रतिपादनायाह—

'दुगतिगचउरो' द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च वा भावा—औदयिकादयः प्रभूता वाऽन्येऽपि 'यत्र' सचेतनाचेतने वस्तुनि विद्यन्ते स भवति भावकायः, भावानां कायो भावकाय इति, 'जीवमजीवे विभासा उ' जीवाजीवयोर्विभाषा सत्यागमानुसारेण कार्येति गाथार्थः ॥ १४४६ ॥ मूलद्वारगाथायां कायमधिकृत्य गत निक्षेपद्वारम्, अधुनैकार्थिकान्युच्यन्ते, तत्र गाथा—काय शरीर देहः बोन्दी चय उपचयश्च सङ्घात उच्छ्रयः समुच्छ्रयश्च कलेवरं भस्त्रा तनुः पाणुरिति गाथार्थः ॥ २११ ॥ मूलद्वारगाथाया कायमधिकृत्योक्तान्येकार्थिकानि, अधुना उत्सर्गमधिकृत्य निक्षेपः एकार्थिकानि चोच्यन्ते, तत्र निक्षेपमधिकृत्याह—

नामठवणादविए खित्ते काले तहेव भावे य। एसो उस्सग्गस्स उ निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १४४७ ॥
दव्वुज्झणा उ जं जेण जत्थ अवकिरइ दव्वभूओ वा। जं जस्स वावि खित्ते जं जहियं जंमि वा काले ॥ १४४८ ॥
भावे पसत्थमियरं जेण व भावेण अवकिरइ जं तु। अस्संजमं पसत्थे अपसत्थे संजमं चयइ ॥ १४४९ ॥
खरफरुसाइसचेयणमचेयणं दुरभिगंधविरसाई। दवियमवि चयइ दोसेण जेण भावुज्झणा सा उ ॥ १४५० ॥

उस्सग्ग विउस्सरणुज्झणा य अवगिरण छड्डण विवेगो। वज्जण चयणुम्मुयणा परिसाडण साडणा चेव ॥१५५१॥
उस्सग्गे निक्खेवो चउक्कओ छक्कओ अ कायव्वो। निक्खेव काऊणं परूवणा तस्स कायव्वा ॥ १ ॥

सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ ॥ १५५२ ॥

'नामठवणादविए' अर्थमधिकृत्य निगदसिद्धा, विशेषार्थं तु प्रतिद्वारं अपश्चेन वक्ष्यामः, तत्रापि नामस्थापने गतार्थे, द्रव्योत्सर्गाभिधित्सया पुनराह—'दव्वुज्झणा उ जं जेण' द्रव्योज्झना तु द्रव्योत्सर्गः स्वयमेव 'ज'न्ति यद् द्रव्यमनेषणीयं 'अवकिरति'त्ति योगः अवकिरति—उत्सृजति 'जेणे'ति येन करणभूतेन पात्रादिनोत्सृजति,'जत्थ'त्ति यत्र द्रव्ये उत्सृजति द्रव्यभूतो वा—अनुपयुक्तो वा उत्सृजति एष द्रव्योत्सर्गोऽभिधीयते। क्षेत्रोत्सर्ग उच्यते 'जं जत्थ वावि खेत्ते'त्ति यत्क्षेत्रं दक्षिणदेशाद्युत्सृजति यत्र वाऽपि क्षेत्रे उत्सर्गो व्यावर्ण्यते एष क्षेत्रोत्सर्गः, कालोत्सर्ग उच्यते—'जं जचिर जम्मि वा काले'त्ति यत्कालमुत्सृजति यथा भोजनमधिकृत्य रजनी तामसः 'जच्चिरं'ति यावन्तं कालमुत्सर्गो, यस्मिन् वा काले उत्सर्गो व्यावर्ण्यते एष कालोत्सर्ग इति गाथार्थः ॥ १५४८ ॥ भावोत्सर्गप्रतिपादनायाह—

'भावे पसत्थमियरं' 'भावे'त्ति द्वारपरामर्शः, भावोत्सर्गो द्विधा—प्रशस्तं—शोभन वस्त्वधिकृत्य 'इयरं'ति अप्रशस्तमशोभनं च, तथा येन भावेनोत्सर्जनीयवस्तुगतेन खरादिना 'अवकिरति अन्नु' उत्सृजति यद् तत्र भावेनोत्सर्ग इति तृतीयासमासः, तत्र असंयम प्रशस्ते भावोत्सर्गे त्यजति, अप्रशस्ते तु संयमं त्यजतीति गाथार्थः ॥ १५४९ ॥ यदुक्तं येन वा

एक्को काओ दुहा जाओ' एकः कायः—क्षीरकायः द्विधा जातः, घटद्वये न्यासात्, तत्र एकस्मिन्नुति, एको मारितः, जीवन् मृतेन मारितस्तदेतच्छ्रेषि—ब्रूहि हे मानव ! केन कारणेन ?, कथानकं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने परिहरणायामिति गाथार्थः, भारकायश्चात्र क्षीरमृतकुम्भद्वयोपेता कापोती भण्यते, भारश्चासौ कायश्च भारकायः, अण्णे भणति—भारकायः कापोत्येवोच्यते इति ॥ १४४५ ॥ भावकायप्रतिपादनायाह—

'चुगतिगचउरो' द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च वा भावा—औदयिकादयः प्रभूता वाऽन्येऽपि 'यत्र' सचेतनाचेतने वस्तुनि विद्यन्ते स भवति भावकायः, भावानां कायो भावकाय इति, 'जीवमजीवे विभासा उ' जीवाजीवयोर्विभाषा सत्यागमानुसारेण कार्येति गाथार्थः ॥ १४४६ ॥ मूलद्वारगाथायां कायमधिकृत्य गतं निक्षेपद्वारम्, अधुनैकार्थिकान्युच्यन्ते, तत्र गाथा— कायः शरीरं देहः बोन्दी चय उपचयश्च सङ्घात उच्छ्रयः समुच्छ्रयश्च कडेवर भस्त्रा तनुः पाणुरिति गाथार्थः ॥ २११ ॥ मूलद्वारगाथायां कायमधिकृत्योक्तान्येकार्थिकानि, अधुना उत्सर्गमधिकृत्य निक्षेपः एकार्थिकानि चोच्यन्त, तत्र निक्षेपमधिकृत्याह—

नामठवणादविए खित्ते काले तहेव भावे य । एसो उस्सग्गस्स उ निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १४४७ ॥
दव्वुज्झणा उ ज जेण जत्थ अवकिरइ दव्वभूओ वा । जं जस्स वावि खित्ते ज जहिर जंमि वा काले ॥ १४४८ ॥
भावे पसत्थमियर जेण व भावेण अवकिरइ ज तु । अस्संजम पसत्थे अपसत्थे सजम चयइ ॥ १४४९ ॥
खरफरुसाइसचेयणमचेयणं दुरभिगधविरसाई । दवियमवि चयइ दोसेण जेण भाउज्झणा सा उ ॥ १४५० ॥

चमिति, एतदुक्तं भवति—वर्तमानभवे स्थितः पुरस्कृतभवं पश्चात्कृतभवं च आयुष्कर्म सूक्ष्मतया स्पृशति, प्रकृतेना स्थितिरिति गाथार्थः ॥ १४४२ ॥ अधुना मातृकाकायः प्रतिपाद्यते, [मातृकेऽपि] मातृकापदानि 'उप्पण्णेति वे'त्यादीनि तत्समूहो मातृकाकायः, अन्योऽपि तथाविधपदसमूहो वर्ष्य इति, तथा चाह भाष्यकारः—'माउयपय'त्ति मातृकापदमिति 'णेमं' 'णेमं'ति चिह्नं, अपरमन्योऽपि यः पदसमूहः—पदसङ्घातः स पदकायो भण्यते मातृकापदकाय इति भावना, विशिष्टः पदसमूहः, किं०!—'वे एगपए बहू मत्था' यस्मिन्नेकपदे बहवः अर्थास्तेषां पदानां यः समूह इति, पाठान्तरं वा 'अस्सेकपदे बहू मत्थ'त्ति गाथार्थः ॥ १४४३ ॥ संग्रहकायप्रतिपादनायाह—'संगहकाओ णेगा' संग्रहणं संग्रहः स एव कायः, स किंविशिष्टः ? इत्याह—'णेगावि जस्य एगवयणेण घेप्पंति'त्ति प्रभूता अपि यत्रैकवचनेन विषयन्तो गृह्यन्ते, यथा शालिर्ग्रामः सेना जातो वसति निविशति, यथासंख्यं, प्रभूतेष्वपि स्तम्बेषु सत्सु जात शालिरिति व्यपदेशः, प्रभूतेष्वपि पुरुषमिश्रपादिषु वसति ग्रामः, प्रभूतेष्वपि हस्त्यादिषु निविष्टा सेनेति, अथ शाल्यादिरर्थः सङ्ग्रहकायो भण्यते इति गाथार्थः ॥ १४४४ ॥ साम्प्रतं पर्यायकायं दर्शयति—

'पज्जयकाओ' पर्यायकायः पुनर्भवति, पर्याया—वस्तुधर्मा यत्र—परमाण्वादौ पिण्डिता वस्थः, तथा च परमाणावपि कस्मिंश्चित् सांव्यवहारिके यथा वर्णगन्धरसस्पर्शा अनन्तगुणाः अन्यापेक्षया, तथा चोक्तम्—"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" स चैकत्रिकादिरसस्तदन्यापेक्षया तिक्ततरतिक्तसमादिभेदादानन्त्यं प्रतिपद्यते, पञ्चवर्णादिष्वपि विभाषेत्ययं गाथार्थः ॥ अधुना भारकायस्तत्र गाथा—

याह चोदकः—'दुहओऽणंतररहिया' 'दुहउ'त्ति वर्त्तमानभावस्थितस्य उभयत एष्यकालेऽतीतकाले च 'भणंतररहिय'त्ति अनन्तरौ एष्यातीतौ अनन्तरौ च तौ रहितौ च वर्त्तमानभवभावेनेति प्रकरणाद् गम्यते अनन्तररहितौ तावपि 'जइ'त्ति यदि तस्यो च्यते 'एवं तो भवा अणंतगुण'त्ति एवं सति ततो भवा अनन्तगुणा, तद् भवद्वयव्यतिरिक्ता वर्त्तमानभवभावेन रहिता एष्या अतिक्रान्ताश्च तेऽप्युच्येरंस्ततश्च तदपेक्षयापि द्रव्यस्वकल्पना स्यात्, अथोच्येत—भवत्वेयमेव का नो हानिरिति ?, उच्यते, एकस्य—पुरुषादेरेककाले—पुरुषादिकाले भवा न युज्यन्ते—न घटन्ते अनेके—बहव इति गाथार्थः ॥१४३९॥ इत्थं चोदकेनोक्त गुरुराह—'दुहओऽणंतरभविय' 'दुहउ'त्ति वर्त्तमानभवे वर्त्तमानस्य उभयत एष्येऽतीते चानन्तरभविक, पुरस्कृतपश्चात्कृतभय सम्बन्धीत्युक्तं भवति, यथा तिष्ठति आयुष्कमेव तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, न शेषं कर्म विवक्षित यद् बद्धमयं गाथार्थः॥१४४०॥ पुरस्कृतभवसम्बन्धि त्रिभागावशेषायुष्कः सामान्येन तस्मिन्नेव भवे वर्त्तमानो बध्नाति, पश्चात्कृतसम्बन्धि पुनस्तस्मिन्नव भवे वेदयति । अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह—'होज्जियरेसुवि जइ त दवभवा होज्ज ता तेऽवि' भवेत् इतरेष्वपि—प्रभूतेष्वतीतेषु यद् बद्धमनागतेषु च यद् भोक्ष्यते यदि तस्मिन्नेव भवे वर्त्तमानस्य द्रव्यभवा भवेरंस्ततस्तेऽपि, तदायुष्ककर्मसम्बन्धादिति हृदय, न चैतदस्ति, तस्मादसच्चोदकवचनमिति गाथार्थः॥१४४१॥ अस्यैवार्थस्य प्रसाधकं लोकप्रतीत निदर्शनमभिधातुकाम आह—'सझासु दोसु सूरो' सन्ध्या च सन्ध्या च सन्ध्ये तयोः सन्ध्ययोर्द्वयो प्रत्यूषप्रदोषप्रतिबद्धयोः सूर्य—आदित्य अदृश्य मानोऽपि—अनुपलभ्यमानोऽपि प्रापणीय—प्राप्यं समतिक्रान्त—समतीत च यथाऽवभासते—प्रकाशयति क्षेत्रं, तद्यथा—प्रत्युष सन्ध्याया पूर्वविदेहं भरतं च, प्रदोषसन्ध्यायां तु भरतमपरविदेहं च, तथैव—यथा सूर्यः इदमपि प्रक्रान्तं ज्ञातव्य—विज्ञ

त्तमिति, एतदुक्तं भवति—वर्त्तमानभवे स्थितः पुरस्कृतभवं पश्चात्कृतभवं च मायुष्कर्म सूक्ष्मतया स्पृशति, मकाशेना
दित्यवदिति गाथार्थः ॥ १४४२ ॥ अधुना मातृकाकायः प्रतिपाद्यते, [मातृकेऽपि] मातृकापदानि 'उप्पन्नेति वे'त्या
दीनि तत्समूहो मातृकाकायः, अन्योऽपि तथाविधपदसमूहो बहुर्थ इति, तथाचाह भाष्यकारः—'माउ
यपयं'ति मातृकापदमिति 'येमं' 'खेमं'ति चिह्नं, अपरमन्योऽपि वा पदसमूहः—पदसङ्घातः स पदकायो भण्यते
य' समूह इति, पाठान्तरं वा 'अस्सेकपदे बहू अत्थ'त्ति गाथार्थः ॥ १४४३ ॥ संग्रहकायप्रतिपादनायाह—
'संगहकाओ येगा' संग्रहणं संग्रहः स एव कायः, स किंविशिष्टः ? इत्याह—'येगावि जत्थ एगवयणेण येप्पंति'त्ति प्रभूता
अपि यत्रैकवचनेन दिश्यन्तो गृह्यन्ते, यथा शालिग्रामः सेना सातो वसति निविशति, यथासर्वा, प्रभूतेष्वपि स्तम्बेषु
सत्सु जातः शालिरिति व्यपदेशः, प्रभूतेष्वपि पुरुषस्त्र्यादिषु वसति ग्रामः, प्रभूतेष्वपि हस्त्यादिषु निविष्टा
सेनेति, अत्र शाल्यादिरर्थः संग्रहकायो भण्यते इति गाथार्थः ॥ १४४४ ॥ साम्प्रतं पर्यायकायं दर्शयति—
'पज्जवकाओ' पर्यायकायः पुनर्भवति, पर्याया—वस्तुधर्मा यत्र—परमाण्वादौ पिण्डिता बहवः, तथा च परमाणावपि
कस्मिंश्चित् साम्यवहारिके यथा वर्णगन्धरसस्पर्शा अनन्तगुणाः अन्यापेक्षया, तथा चोक्तम्—"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो
नित्यश्च भवति परमाणुः । एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥" स चैकतिक्तादिरसस्तदन्यापेक्षया तिक्ततर
तिक्ततमादिभेदादानन्त्यं प्रतिपद्यते, पञ्चवर्णादिष्वपि विभाषेत्यय गाथार्थः ॥ अधुना भारकायस्तत्र गाथा—

तत्रेद गाथाशकलं 'अत्थित्तिबहुपदेसा तेणं पंचत्थिकाया य अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना, बहुप्रदेशास्तु यतस्तेन पञ्चैवास्तिकायाः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न न्यूना नाप्यधिका इति, अनन च धर्माधर्माकाशानामेकद्रव्यत्वादस्तिकायस्यानुपपत्तिरद्धासमयस्य च ए (अने)कत्वादस्तिकायत्वापत्तिरित्येतत् परिहृतमवग स्तव्यं, ते चामी पञ्च, तद्यथा—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः आकाशास्तिकायः जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायश्चेत्यस्ति- काया इति हृदयमत्र गाथार्थः ॥ साम्प्रत द्रव्यकायावसरस्तत्स्वप्रतिपादनायाह—

'जं तु पुरक्खड'त्ति यद् द्रव्यमिति योगः तुशब्दो विशेषणार्थः किं विशिनष्टि?—जीवपुद्गलद्रव्यं, न धर्मास्तिकायादि, तदेतदुक्त भवति—यद् द्रव्य—यद् वस्तु पुरस्कृतभावमिति—पुर'—अग्रतः कृतो भावो येनेति समासः, भाविनो भावस्य योग्यमभिमुखमित्यर्थः। 'पच्छाकड य भावाओ'त्ति चाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, तत्रश्चैवं प्रयोगः—पश्चात्कृतभावं, चाशब्दो विकल्पवचनः पश्चात् कृत प्राप्योज्झितो भावः—पर्यायविशेषलक्षणो येन स तथोच्यते, एतदुक्तं भवति—यस्मिन् भावे वर्तते द्रव्यं ततो यः पूर्वमासीद् भावः तस्मात्पेतं पश्चात्कृतभावमुच्यते, 'त होति दव्वदविय' तदित्थंभूतं त्रिप्रकारमपि भाविनो भूतस्य च भावस्य योग्यं 'दव्वं'ति वस्तु वस्तुवचनो ह्येको द्रव्यशब्दः, किं?—भवति द्रव्य, भवतिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, इत्थं द्रव्यलक्षणमभिधायाधुनोदाहरणमाह—'जह भविओ दवदेवाई' यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः भव्यो—योग्यः द्रव्यदे- विरिति, इयमत्र भावना—यो हि पुरुषादिर्मृत्वा देवत्व प्राप्स्यति बद्धायुष्कः अभिमुखनामगोत्रो वा स योग्यत्वाद् द्रव्य देवोऽभिधीयते एवमनुभूतदेवभावोऽपि भाविशब्दाद् द्रव्यनारकादिग्रहः परमाणुमहश्च तथाहि—असावपि द्व्यणुकादि

काययोग्यो भवत्येव, ततश्चैत्वंभूतं द्रव्यं कायो भण्यत इति गाथार्थः ॥१४१६॥ आह—किमिति तुल्यद्यविशेषणाज्जीवपुद्गलद्रव्यमङ्गीकृत्य धर्मास्तिकायादीनामिह व्यवच्छेदः कृत इति ?, अत्रोच्यते, तेषां यथोक्तप्रकारद्रव्यलक्षणायोगात्, सर्वदैवास्तिकायत्वलक्षणभावोपेतत्वात्, आह च भाष्यकारः—'अह अत्थिकायभावो' यथास्तिकायभावः-अस्तिकायस्वलक्षणः, 'हुय एसो होज्ज अत्थिकायाणं' 'हुय' एवं यथा जीवपुद्गलद्रव्ये विशिष्टपर्याय इति एष्यन्—आगामी भवेत्, केषाम् ?—अस्तिकायानां-धर्मास्तिकायादीनामिति, व्याख्यानात् विशेषप्रतिपत्तिः, तथा पश्चात्कृतो वा यदि भवत् 'तो ते हविज्ज दव्वत्थिकाय'त्ति ततस्ते भवेयुरिति द्रव्यास्तिकाया इति गाथार्थः, ततश्च—'तीयमणागय' अतीतम्—अतिक्रान्तमनागतं भावं यत्—यस्मात् कारणादस्तिकायानां—धर्मास्तिकायादीनां नास्ति—न विद्यते अस्तित्व—विद्यमानत्व, कायत्वापेक्षया सर्वदा योगादिति हृदयं, 'तेण र'त्ति तेन किल केवलं—शुद्धं 'तेसु' धर्मास्तिकायादिषु नास्ति—न विद्यते, किं ?—'दव्वत्थिकाय'त्ति द्रव्यास्तिकायत्वं, सर्वदा सद्भावयोगादिति गाथार्थः ॥ १४१७ ॥ आह—यद्येव द्रव्यदेवाद्युदाहरणोक्तमपि द्रव्य न प्राप्नोति, सर्वदा सद्भावयोगात्, तथाहि—स एव तस्य भावो यस्मिन् वर्तते इति। अत्र गुरुराह—'काम भवियसुरादि' काममित्यनुमत यथा 'भवियसुराविसु' भव्याश्च ते सुरादयश्चेति विग्रहः आदिशब्दात् द्रव्यनारकादिग्रहः तेषु—तद्विषये विचार भावः स एव यत्र वर्तते तदानी मनुष्यादिभाव इति, किंतु एष्यो—भावी न तावज्जायते तदा, 'तेण र ते दव्वदेव'त्ति तेन ते किल द्रव्यदया इति, योग्यत्वात्, योग्यस्य च द्रव्यत्वात्, न चैतत् धर्मास्तिकायादीनामस्ति, एष्यकालेऽपि सद्भावयुक्तत्वादेवेति गाथार्थः॥१४१८॥यथोक्तं द्रव्यलक्षणमवगम्य सद्भावेऽतिप्रसङ्गं च मन्यमानः

तमेवं गाथाशकलं 'अत्थित्ति बहुपदेसा तेणं पंचत्थिकाया य' अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना, बहुप्रदेशास्तु यतस्तेन पञ्चैवास्तिकायाः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न न्यूना नाप्यधिका इति, अनन च धर्माधर्माकाशानामेकद्रव्यत्वादस्तिकायस्यानुपपत्तिरद्धासमयस्य च प्र (अन)स्त्वादस्तिकायस्यापत्तिरित्येतत् परिहृतमवग न्तव्य, ते चामी पञ्च, तद्यथा—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः आकाशास्तिकायः जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायश्चेत्यस्ति काया इति हृदयमयं गाथार्थः ॥ साम्प्रतं द्रव्यकायावसरस्ततस्तत्प्रतिपादनायाह—

'ज तु पुरक्खड'त्ति यत् द्रव्यमिति योगः तुशब्दो विशेषणार्थः किं विशिनष्टि ?—जीवपुद्गलद्रव्यं, न धर्मास्तिकायादि, ततश्चैतदुक्तं भवति—यत् द्रव्य—यत् वस्तु पुरस्कृतभावमिति—पुरः—अग्रतः कृतो भावो येनेति समासः, भाविनो भावस्य योग्यमभिमुखमित्यर्थः । 'पच्छाकड च भावाओ'त्ति चाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, तत्रश्चैवं प्रयोगः—पश्चात्कृतभावं, चाशब्दो विकल्पवचनः पश्चात् कृत प्राप्योज्झितो भावः—पर्यायविशेषलक्षणो येन स तथोच्यते, एतदुक्तं भवति—यस्मिन् भावे पर्यव द्रव्यं ततो यः पूर्वमासीत् भावः तस्मादपेतं पश्चात्कृतभावमुच्यते, 'तं होति दव्वदवियं' तदित्यंभूतं द्विप्रकारमपि भाविनो भूतस्य च भावस्य योग्य 'दव'ति वस्तु वस्तुवचनो ह्येको द्रव्यशब्दः, किं?—भवति द्रव्य, भवतिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, इत्थं द्रव्यलक्षणमभिधायाधुनोदाहरणमाह—'जह भविओ दव्वदेवादि' यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः भव्यो—योग्यः द्रव्यदेवा दिरिति, इयमत्र भावना—यो हि पुरुषादिर्मृत्वा देवत्वं प्राप्स्यति बद्धायुष्कः अभिमुखनामगोत्रो वा स योग्यत्वात् द्रव्य देवोऽभिधीयते, एवमनुभूतदेवभावोऽपि, आदिशब्दात् द्रव्यनारकादिग्रहः परमाणुग्रहश्च, तथाहि—असावपि द्व्यणुकादि

काययोगयो भवत्येव, ततश्चैवंभूते द्रव्ये कायो भण्यत इति गाथार्थः ॥१५३६ ॥ आह—किमिति पुद्गलविशेषणाज्जीवपुद्गलद्रव्यमङ्गीकृत्य धर्मास्तिकायादीनामिह व्यवच्छेदः कृत इति ?, अत्रोच्यते, तेषां यथोक्तप्रकारद्रव्यलक्षणायोगात्, सर्वदैवास्तिकायस्वलक्षणभावोपेतत्वात्, आह च भाष्यकारः—'अह अत्थिकायभावो' यथास्तिकायभावः अस्तिकायस्वलक्षणः, 'इय एसो होज्ज अत्थिकायाणं' 'इय' एवं यथा जीवपुद्गलद्रव्ये विशिष्टपर्याय इति एष्यन्—आगामी भवेत्, केषाम् ?—अस्तिकायानां-धर्मास्तिकायादीनामिति, व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः, तथा पश्चात्कृतो वा यदि भवत् 'तो ते हविज्ज दवत्थिकाय'त्ति ततस्ते भवेयुरिति द्रव्यास्तिकाया इति गाथार्थः यतश्च—'तीयमणागय' अतीतम्—अतिक्रान्तमनागतं भावं यद्—यस्मात् कारणादस्तिकायानां—धर्मास्तिकायादीनां नास्ति—न विद्यते अस्तित्व—विद्यमानत्व, कायस्यापेक्षया सदैव योगादिति हृदयं, 'तेण र'त्ति तेन किल केवल—शुद्ध 'तेसु' धर्मास्तिकायादिषु नास्ति—न विद्यत, किं ?—'दवत्थिकाय'त्ति द्रव्यास्तिकायत्वं, सदैव तद्भावयोगादिति गाथार्थः ॥ १५३७ ॥ आह—एवं द्रव्यदेवाद्युदाहरणोक्तमपि द्रव्यं न प्राप्नोति, सदैव तद्भावयोगात्, तथाहि—स एव तस्य भावो यस्मिन् वर्तते इति। अत्र गुरुराह—'काम भवियसुरादि' काममभ्यनुमतं मया 'भवियसुरादिसु' भव्याश्च ते सुराश्चेति विग्रहः आदिशब्दात् द्रव्यनारकादिग्रहः तेषु—तद्विषये विचारे भावः स एव यत्र वर्तते तदानीं मनुष्यादिभाव इति, किंतु एष्यो—भावी न तावज्जात तदा, 'तेण र ते दवदेव'त्ति तेन ते किल द्रव्यतया इति, योग्यत्वाद्, योग्यस्य च द्रव्यत्वात्, न चैतद् धर्मास्तिकायादीनामस्ति, एष्यकालेऽपि तद्भावयुक्तत्वादेवेति गाथार्थः॥१५३८॥यथोक्त द्रव्यलक्षणमवगम्य तद्भावेऽविप्रसङ्गं च मनसाभा

समेदं गाथाक्षरं 'अत्थिचिमहुपदेसा तेणं पंचत्थिकाया य' अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना, बहुप्रदेशास्तु यतस्तेन पञ्चैवास्तिकायाः तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न न्यूना नाप्यधिका इति, अनेन च धर्माधर्माकाशानामेकद्रव्यत्वादस्तिकायत्वानुपपत्तिरद्धासमयस्य च ए (अने)कत्वादस्तिकायत्वापत्तिरित्येतत् परिहृतमवग-न्तव्य, ते चामी पञ्च, तद्यथा—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः आकाशास्तिकायः जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायश्चेत्यस्ति काया इति एवमत्र गाथार्थः ॥ साम्प्रतं द्रव्यकायावसरस्तत्स्वरूपप्रतिपादनायाह—

'ज तु पुरक्खड'त्ति यद् द्रव्यमिति योगः तुशब्दो विशेषणार्थः किं विशिनष्टि ?—जीवपुद्गलद्रव्यं, न धर्मास्तिकायादि, ततश्चैतदुक्तं भवति—यद् द्रव्य—यद् वस्तु पुरस्कृतभावमिति—पुरः—अग्रतः कृतो भावो येनेति समासः, भाविनो भावस्य योग्यमभिमुखमित्यर्थः। 'पच्छाकडं च भावाओ'त्ति चाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, ततश्चैव प्रयोग—पश्चात्कृतभावं, चाशब्दो विकल्पवचनः पश्चात् कृत माप्योज्झितो भावः—पर्यायविशेषलक्षणो येन स तथोच्यते, एतदुक्तं भवति—यस्मिन् भावे यद्वत द्रव्यं ततो यः पूर्वमासीद् भावः तस्मादपेतं पश्चात्कृतभावमुच्यते, 'त होति दव्वदवियं' तदित्थंभूत द्विप्रकारमपि भाविनो भूतस्य च भावस्य योग्य 'दवं'ति वस्तु वस्तुवचनो द्रव्यशब्दः, किं—भवति द्रव्य, भवतिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, इत्य द्रव्यलक्षणमभिधायाधुनोदाहरणमाह—'अह भविओ दव्वदेवादि' यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः भव्यो—योग्यः द्रव्यदेवा-दिरिति, इयमत्र भावना—यो हि पुरुषादिर्मृत्वा देवत्व प्राप्स्यति बद्धायुष्कः अभिमुखनामगोत्रो वा स योग्यत्वाद् द्रव्य देवोऽभिधीयते, एवमनुभूतदेवभावोऽपि, आदिशब्दाद् द्रव्यनारकादिग्रहः परमाणुग्रहश्च, तथाहि—असावपि द्व्यणुकादि

कायपोप्यो भवत्येव, ततश्चेत्थंभूतं द्रव्यं कालो भण्यत इति गाथार्थः ॥१४१६॥ आह—किमिति तुल्यविशेषणाज्जीवपुद्गलद्रव्यमङ्गीकृत्य धर्मास्तिकायादीनामिह व्यवच्छेदः कृत इति ?, अथोच्यते, तेषां यथोक्तप्रकारद्रव्यलक्षणायोगात्, सर्वदैवास्तिकायत्वलक्षणभावोपेतत्वात्, आह च भाष्यकारः—'अह अत्थिकायभावो' यथास्तिकायभावः–अस्तिकायस्वलक्षणः, 'इय एसो होज्ज अत्थिकायाणं' 'इय' एवं यथा जीवपुद्गलद्रव्ये विशिष्टपर्याय इति एष्यन्–आगामी भवेत्, केषाम् ?—अस्तिकायानां–धर्मास्तिकायादीनामिति, व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः, तथा पश्चात्कृतो वा यदि भवत् 'तो ते हविज्ज दवत्थिकाय'त्ति ततस्ते भवेयुरिति द्रव्यास्तिकाया इति गाथार्थः यतश्च—'तीयमणागय' अतीतम्–अतिक्रान्तमनागतं भावं यद्–यस्मात् कारणादस्तिकायानां–धर्मास्तिकायादीनां नास्ति–न विद्यते अस्तित्व–विद्यमानस्य, कायस्यापेक्षया सदैव योगादिति हृदयं, 'तेण र'त्ति तेन किल केवलं–शुद्धं 'तेसु' धर्मास्तिकायादिषु नास्ति–न विद्यते, किं ?–'दवत्थिकाय'त्ति द्रव्यास्तिकायत्वं, सदैव तद्भावयोगादिति गाथार्थः ॥ १४१७ ॥ आह–यद्येवं द्रव्यदेवाद्युदाहरणोक्तमपि द्रव्य न प्राप्नोति, सदैव तद्भावयोगात्, तथाहि–स एव तस्य भावो यस्मिन् वर्तते इति। अत्र गुरुराह—'काम भवियसुरादि' काममिति अनुमतं यथा'भवियसुरादिसु' भव्याश्च ते सुराश्चेति विग्रहः आदिशब्दात् द्रव्यनारकादिग्रहः तेषु–तद्विषये विचार भावः स एव यत्र वर्तते तदानीं मनुष्यादिभाव इति, किंतु एष्यो–भावी न तावता यत सदा, 'तेण र ते दवदेव'त्ति तेन ते किल द्रव्यदेवा इति, योग्यत्वाद्, योग्यस्य च द्रव्यत्वात्, न चैतद् धर्मास्तिकायादीनामस्ति, एष्यकालेऽपि तद्भावयुक्त्वादेवेति गाथार्थः॥१४१८॥यथोक्तं द्रव्यलक्षणमवगम्य तद्भावेऽतिप्रसङ्गं च मनसाधा

कायः तथा भावकायश्चेति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारमेव व्याख्यास्यामः, तत्र नामकायप्रतिपादनायाह— 'कामो कस्सवि'त्ति कायः कस्यचित् पदार्थस्य सचेतनाचेतनस्य वा नाम क्रियते स नामकायः, नामाभिन्न कायो नाम कायः, तथा देहोऽपि—शरीरसमुच्छ्रयोऽपि उच्यते कायः, तथा काचमणिरपि कायो भण्यते, प्राकृते तु कायः । तथा यद्व मपि किञ्चित्सेत्यादि 'निकायसाहस्सु'त्ति निकायितमाख्यातवन्तः, प्राकृतशैल्या निकायेति गाथार्थः, गतं नामद्वारं, अधुना स्थापनाद्वारं व्याख्यायते—'अक्खे वराडए' अक्षे—चन्दनके वराटके वा—कपर्दके वा काष्ठ—कुट्टिमे पुस्ते वा— चित्रकृते चित्रकर्मणि वा प्रतीते, किमित्याह—सतो भावः सद्भावः तथ्य इत्यर्थः समाश्रित्य,तथा असतोभावः असद्भावः अतथ्य इत्यर्थः, तं चाश्रित्य, किं?—स्थापनाकाय विजानाहीति गाथार्थः ॥ १४११ ॥ सामान्येन सद्भावासद्भावस्थापनो दाहरणमाह—'लेप्पगहत्थी' यदिह लेप्यकहस्ती हस्तीति स्थापनायां नियम्यते 'एस सब्भाविया भवे ठवण'त्ति एषा सद्भावस्थापना भवतीति, भवत्यसद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिः—हस्त्याकृतिशून्य एव चतुरङ्गादाविति । तदेवं स्थापनाकायोऽपि भावनीय इति गाथार्थः ॥ १४१२ ॥ शरीरकायप्रतिपादनायाह—'ओरालियवेउव्विय' उदारैः पुद्गलैर्निर्वृत्तमौदारिकं विविधा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियं प्रयोजनार्थिना आह्रियत इत्याहारकं तेजोमयं तैजसं कर्मणा निर्वृत्तं कार्म्मणं, औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कार्मणं चैव एवं पञ्चविधं खलु शीर्यन्त इति शरीराणि शरीराण्येव पुद्गलसङ्घातरूपत्वात् काय' शरीरकायः विज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ गतिकायप्रतिपादनायाह— 'चउसुवि गइ' इयमप्यन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगेति च व्याख्यायते—चतसृष्वपि गतिषु—नारकतिर्यग्नरामरलक्षणासु

'देहो'त्ति शरीरसमुच्छ्रयो नारकादीनां यः स गतौ काय इतिकृत्वा गतिकायो भण्यते, भवान्तरे आह चोदकः–'एसो सरीरकाउ'त्ति नन्वेष शरीरकाय उक्तः, तथाहि–औदारिकादिव्यतिरिक्ता नारकतिर्यगादिदेहा इति, आचार्य आह–'विसेसणा होति गतिकाओ'विशेषणाद्–विशेषणसामर्थ्याद् भवति गतिकायः, विशेषणं चात्र गतौ कायो गतिकायः, यथा क्षिति भाः संसारिणः–त्रसाः स्थावराश्च, पुनश्च एव स्त्रीपुनपुंसकविशेषेण भिद्यन्त इत्येवमत्रापीति गाथार्थः॥ अथवा सर्वसत्त्वानाम्पान्तरालगतौ यः कायः स गतिकायो भण्यते, तथा चाह—'जेणुवगहिओ' येनोपगृहीत–उपकृतो व्रजति–गच्छति भवादन्यो भयः भवान्तर सत्, एतदुक्तं भवति–मनुष्यादिर्मनुष्यभवात् च्युतः येनाश्रयेण(विग्रहे)ऽपान्तराले देवादिभवं गच्छति स गतिकायो भण्यसे, स कालमानतो दर्शयति–यच्चिरेण 'कालेण'त्ति स च यावता कालेन समयादिना व्रजति तावन्तमेव कालमसौ गतिकायो भण्यत एष खलु गतिकायः, स्वरूपेणैव दर्शयन्नाह–'सतेयगं कम्मगसरीरं' कार्मणस्य प्राधान्यात् सह तैजसेन वर्तत इति सतैजस कार्मणशरीर गतिकायस्तदाश्रयेणापान्तरालगतौ जीवगतेरिति भावनी(यम)यं गाथार्थः॥ निकायकायः प्रतिपाद्यते तत्र—'निययं'ति गाथार्द्धं व्याख्यायते 'निययमहिओ व कामो जीवनिकाय'त्ति नियतो–नित्यः कायो निकायः, नित्यता चास्य त्रिष्वपि कालेषु भावात् अधिको वा कायो निकायः, यथा अधिको दाहो निदाह इति, आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वभेदापेक्षया वा,तथाहि–एकादयो यावदसङ्ख्येयाः पृथिवीकायिकास्तावत् कायस्त एष सजातीयाभ्यप्रभेदापेक्षया निकाय इति,एवमन्यत्रापि विभाषेत्येवं जीवनिकायसामान्येन निकायकायो भण्यते,अथवा जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो भण्यते तत्समुदायः, एवं च निकायकाय इति, गतं निकायकायद्वारं। अधुनाऽस्तिकायः प्रतिपाद्यते,

कायः तथा भावकायश्चेति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारमेव व्याख्यास्यामः, तत्र नामकायप्रतिपादनायाह—'काओ कस्सवि'त्ति कायः कस्यचित् पदार्थस्य सचेतनाचेतनस्य वा नाम क्रियते स नामकायः, नामाश्रित्य कायो नाम कायः, तथा देहोऽपि—शरीरसमुच्छ्रयोऽपि उच्यते कायः, तथा काचमणिरपि कायो भण्यते, प्राकृते तु कायः । तथा पदमपि किञ्चिद्देशादि 'निकायमाहंसु'त्ति निकायितमाख्यातवन्तः, प्राकृतशैल्या निकायेति गाथार्थः, गतं नामद्वार, अधुना स्थापनाद्वार व्याख्यायते—'अक्खे वराडए' अक्षे—चन्दनके वराटके वा—कपर्दक वा काष्ठ—कुट्टिमे पुस्ते वा—यस्त्रकृते चित्रकर्मणि वा प्रतीते, किमित्याह—सतो भावः सद्भावः तथ्य इत्यर्थः तमाश्रित्य,तथा असतोभावः असद्भावः अतथ्य इत्यर्थः, तं चाश्रित्य, किं ?—स्थापनाकायं विजानीहीति गाथार्थ ॥ १४११ ॥ सामान्येन सद्भावासद्भावस्थापनोदाहरणमाह—'लेप्पगहत्थी' यदिह लेप्यकहस्ती हस्तीति स्थापनायां निवेश्यते 'एस सब्भाविया भवे ठवण'त्ति एषा सद्भावस्थापना भवतीति, भवत्यसद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिः—हस्त्याकृतिशून्य एव चतुरङ्गादाविति । तदेव स्थापनाकायोऽपि भावनीय इति गाथार्थः ॥ १४१२ ॥ शरीरकायप्रतिपादनायाह—'ओरालियवउव्विय' उदारैः पुद्गलैर्निर्वृत्तमौदारिकं विविधा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियं प्रयोजनार्थिना आह्रियत इत्याहारकं तेजोमयं तैजसं कर्मणा निर्वृत्तं कार्म्मणं, औदारिकं वैक्रियं आहारकं तैजसं कार्मणं चैव एव पञ्चविध' खलु शीर्यन्त इति शरीराणि शरीराण्येव पुद्गलसङ्घातरूपत्वात् काय शरीरकायः विज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ गतिकायप्रतिपादनायाह—'चउसुवि गइ' इयमप्यन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगेति च व्याख्यायते—चतसृष्वपि गतिषु—नारकतिर्यग्नरामरलक्षणासु

तीयमणागयभावं जमत्थिकायाण नत्थि वत्थित्त । तेन र केवलएसु नत्थी पुव्वत्थिकायत्त
काम भविपसुराइसु भावो सो चेव जस्स वट्टंति । एस्सो न ताव जायइ तेन र ते दव्वदेसुत्ति ॥ १४३७ ॥
दुइओऽणंतररहिया जइ एव तो भवा अणंतगुणा । एगस्स एगकाले भवा न जुज्जंति उ अणेगा ॥ १४३८ ॥
दुइओऽणंतरभविर्य जइ चिट्ठइ भावओ उ अ मक । दुब्बियरेसुवि अइ त दव्वभवा जुत्त तो तेऽवि ॥ १४३९ ॥
संसासु दोसु घरो भदिस्समाणोऽवि पव्व समईय । जइ ओमासइ चित्त तहेव एयंपि नायव्वं ॥ १४४० ॥
माउपपत्ति नेप नयर असोवि जो पयसमूहो । सो पयकाओ भण्णइ जे एगपए बहु अत्था २११ ॥ (भा०) ॥ १४४१ ॥
सगडकाओऽणेगावि जस्स एगवयणेण घिप्पंति । जइ सालिगामसेणा जामो नगरी (त्ति) निविहुत्ति ॥१४४२॥
पज्जयकाओ पुण दुत्ति पज्जया जस्स पिंडिया पएसे । परमाणुमित्तिविक्कंमिवि जह वण्णाई अणंतगुणा ॥ १४४३ ॥
एगो काओ दुहा जाओ एगो चिट्ठइ एगो मारिओ । जीवंतो अ मएण मारिओ मे छव माणवा केण हेउणा? ॥१४४४॥
दुग तिग चउरो पच य भाया पहूआ य जस्स पहंति । सो होइ भावकाओ जीवमजीवे विभासा य ॥ १४४५ ॥
काए सरीर देहे बुंदी य चय उवचए य संघाए । उस्सग्ग समुस्सए या कलेवरे भस्थ तण पाणू ॥ १४४६ ॥
तत्र 'कायस्स उ निक्खेवो' कायस्य तु निक्षेपः कार्य इति 'बारसउ'त्ति द्वादशप्रकारः । 'छक्को य उस्सग्गे' षट्क
श्चोत्सर्गविषय षट्प्रकार इत्यर्थः, पश्चार्द्धं निगदसिद्धं तत्र कायनिक्षेपप्रतिपादनायाह—'नामं ठवणा' नामकायः
स्थापनाकायः शरीरकायः गतिकायः निकायकायः अस्तिकायः द्रव्यकायश्च मातृकायः संग्रहकायः पर्यायकायः भार

काए उस्सग्गम्मि य निक्खेवे हुंति दुन्नि उ विगप्पा । एएसिं दुण्हंपी पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥ २२८ ॥ (भा०) ॥

'काए उस्सग्गंमि य' काये कायविषयः उत्सर्गे च—उत्सर्गविषयश्च एव निक्षेपे—निक्षेपविषयौ भवतः द्वौ एव विकल्पौ—द्वावेव भेदौ, अनयोर्द्वयोरपि कायोत्सर्गविकल्पयोः प्रत्येकं प्ररूपणां वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ २२८ ॥

कायस्स उ निक्खेवो बारसओ छक्कओ अ उस्सग्गे । एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥ १४२९ ॥
नाम ठवणसरीरे गई निकायत्थिकाय दविए य । माउय संगह पज्जव भारे तह भावकाए य ॥ १४३० ॥
काओ कस्सइ नाम कीरइ देहोवि वुच्चई काओ । कायमणिओवि वुच्चइ चउमवि निकायमाहंसु ॥ १४३१ ॥
अक्खे वराडए वा कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे य । सब्भावमसब्भावं ठवणाकायं वियाणाहि ॥ १४३२ ॥
लिप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा । होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो ॥१४३३॥
ओरालियवेउव्वियआहारगतेयकम्मए चेव । एसो पंचविहो खलु सरीरकाओ मुणेयव्वो ॥ १४३४ ॥
चउसुवि गईसु देहो नेरइयाईण जो स गइकाओ । एसो सरीरकाओ विसेसणा होइ गइकाओ ॥ १॥ (प्र०) ॥
जेणुवगहिओ वच्चइ भवंतरं अचिरेण कालेण । एसो खलु गइकाओ सतेयगं कम्मगसरीरं ॥ १४३५ ॥
नियमहिओ य काओ जीवनिकाओ निकायकाओ य । अत्थित्तिबहुपएसा तेण पंचत्थिकाया उ ॥ १४३६ ॥
जं तु पुरक्खडभावं दवियं पच्छाकडं च भावाओ । तं होइ दव्वदवियं जह भविओ दव्वदेवाई ॥२२९॥ (भा०)
जह अत्थिकायभावो अपएसो हुज्ज अत्थिकायाणं । पच्छाकडुव्व तो ते हविज्ज दव्वत्थिकाया य ॥२३०॥ (भा०) ॥

तीयमणागयभावं अमत्थिकायाण भस्थि अत्थित्तं । तेन र केवलपसु मत्थी वृष्वत्थिकायत्त ॥ १४३७ ॥
काम मविमपसुराइस्सु भावो सो चेव जत्थ वर्द्धति । एस्सो न ताव जायइ तेन र ते वृष्वदेसुत्ति ॥ १४३८ ॥
तुइभोऽणतररहिया जइ पव तो मवा मणतगुणा । एगस्स एगकाले भवा न छुर्वति य मणेगा ॥ १४३९ ॥
तुइभोऽणतरभविपं जइ चिट्ठइ भाउअ तु अ पर । छुत्रिपरेसुवि जइ तं वृष्वमपा तुम तो तेऽवि ॥ १४४० ॥
संसारु दोसु धरो भदिस्समाणोऽवि पप्प समईप । जइ ओभासइ खित्तं तहेव पयपि मायर्म ॥ १४४१ ॥
माउपपपति नेप नवर असोपि जो पपसमूहो । सो पपकाओ भमइ जे एगपए बहू भत्था २११ ॥ (भा०) ॥
सगहकाओऽणेगावि जत्थ एगयपणेण धिप्पति । जह सालिगामसेणा आमो वसही (त्ति) निविठ्ठत्ति ॥१४४२॥
पज्जयकाओ पुण दुति पज्जया जत्थ पिंडिया पइखे । परमाणुमिविकंमिवि जह वमाई मणतगुणा ॥ १४४३ ॥
एगो काओ दुहा जाओ एगो चिट्ठइ एगो मारिओ । जीवतो अ मपण मारिओ त छव माणवा केण हेउणा ॥१४४४॥
दुग तिग चउरो पच य भाया पहुआ य जत्थ वट्टति । सो होइ भावकाओ जीवमजीवे विभासा उ ॥ १४४५ ॥
काए सरीर देहे बुदी प चय उवचए य सघाए । उस्सग्ग समुस्सए या कलेवरे भत्थ तण पाणू ॥ १४४६ ॥

तत्र 'कायस्स उ निक्खेवो' कायस्य तु निक्षेपः कार्य इति 'बारसउ'त्ति द्वादशप्रकारः । 'छक्कओ प उस्सग्गो' पड्‌ध्धोत्सर्गविषयः षट्प्रकार इत्यर्थः, पश्चार्द्धं निगदसिद्धं तत्र कायनिक्षेपप्रतिपादनायाह—'नामं ठवणा' नामकायः स्थापनाकायः शरीरकाय गतिकायः निकायकायः भस्तिकायः द्रव्यकायश्च मातृकायः संग्रहकायः पर्यायकायः भार

काए उस्सग्गमि य निक्खेवे हुति दुन्नि उ विगप्पा । एएसिं दुण्हपी पत्तेय परूवण वुच्छ ॥ २२८ ॥ (भा०) ॥

'काए उस्सग्गंमि य' काये कायविषयः उत्सर्गे च—उत्सर्गविषयश्च एव निक्षेपे—निक्षेपविषयौ भवतः द्वौ एव विकल्पौ—द्वावेव भेदौ, अनयोर्द्वयोरपि कायोत्सर्गविकल्पयोः प्रत्येक प्ररूपणां वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ २२८ ॥

कायस्स उ निक्खेवो बारसओ छक्कओ अ उस्सग्गे । एएसिं तु पयाण पत्तेय परूवण वुच्छ ॥ १४२९ ॥
नाम ठवणेसरीरे गई निकायेत्थिकायं दविए य । माउय संगह पज्जवे भारे तह भावकाए य ॥ १४३० ॥
काओ कस्सइ नाम कीरइ देहोवि वुच्चई काओ । कायमणिओवि वुच्चइ चउमवि निकायमाईसु ॥ १४३१ ॥
अक्खे वराडए वा कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे य । सब्भावमसब्भाव ठवणाकाय वियाणाहि ॥ १४३२ ॥
लिप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा । होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो ॥१४३३॥
ओरालियवेउव्वियआहारगतेयकम्मए चेव । एसो पंचविहो खलु सरीरकाओ मुणेयव्वो ॥ १४३४ ॥
चउसुवि गईसु देहो नेरइयाईण जो स गइकाओ । एसो सरीरकाओ विसेसणा होइ गइकाओ ॥ १ ॥ (प्र०) ॥
जेणुवगहिओ वच्चइ भवंतरं जचिरेण कालेण । एसो खलु गइकाओ सतेयग कम्मगसरीर ॥ १४३५ ॥
निययमहिओ य काओ जीवनिकाओ निकायकाओ य । अत्थित्तिबहुपएसा तेण पचत्थिकाया उ ॥ १४३६ ॥
ज तु पुरक्खडभाव दविय पच्छाकड च भावाओ । त होइ दव्वदविय जह भविओ दव्वदेवाई ॥२२९॥ (भा०)
जइ अत्थिकायभावो अपएसो हुज्ज अत्थिकायाण । पच्छाकडुव्व तो ते हविज्ज दव्वत्थिकाया य ॥२३०॥ (भा०) ॥

तपसा पृथिव्यादिसंघट्टनादिभ्यो निर्विगतिकादिना षण्मासान्तेन, तेनाप्यशुध्यमानस्तथाभूते गुरुतरं छेदविशेषा विशोधयन्तीति गाथार्थः ॥ १४१९–१४२७ ॥ एवं सप्रकारभावव्रणचिकित्सापि प्रदर्शिता, मूलादीनि तु विषयनिरूपणद्वारेण स्वस्थानादवसेयानि, नेह वितन्यन्ते, इत्युक्तमानुषङ्गिकं, प्रस्तुतं प्रस्तुमः–स्थमनेनानेकस्वरूपेण–सम्बन्धेनायातस्य कायोत्सर्गाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि सप्रपञ्चानि वक्तव्यानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे कायोत्सर्गाध्ययनमिति कायोत्सर्गः अध्ययनं च, तत्र कायोत्सर्गमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः—

निक्खेव १ एगट्ठ २ विहाणमग्गणा ३ काल ४ भेयपरिमाणे ५ ।
असढ ६ सढे ७ विहि ८ दोसा ९ कस्सत्ति १० फलं च ११ दाराइं ॥ १४२८ ॥

'निक्खेवएगट्ठविहाण' निक्षेप इति कायोत्सर्गस्य नामादिलक्षणो निक्षेपः कार्यः 'एगट्ठ'त्ति एकार्थिकानि वक्तव्यानि 'विहाणमग्गण' त्ति विधानं भेदोऽभिधीयते भेदमार्गणा कार्या 'कालभेदपरिमाणे'त्ति कालपरिमाणमभिभवकायोत्सर्गादीनां वक्तव्यं, भेदपरिमाणमुत्सृतादिकायोत्सर्गभेदानां वक्तव्यं यावन्तस्त इति, 'असढसढे'त्ति अशठः शठश्च कायोत्सर्गकर्ता वक्तव्यः 'विहि'त्ति कायोत्सर्गकरणविधिर्वाच्यः 'दोस'त्ति कायोत्सर्गदोषा वक्तव्याः 'कस्सत्ति' कस्य कायोत्सर्ग इति वक्तव्यं 'फल'त्ति ऐहिकामुष्मिकभेदं फलं वक्तव्यं 'दाराइं'ति एतावन्ति द्वाराणीति गाथासमासार्थः ॥ १४२८ ॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकृदेवाभिधास्यति । तत्र कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्ग इति द्विपदं नामेतिकृत्वा कायस्य उत्सर्गस्य च निक्षेपः कार्य इति । तथा चाह भाष्यकारः —

स्पन्दनाविलक्षणा वार्यते–निषिध्यते, पञ्चमे शल्ये उद्धृते व्रणोऽस्यास्तीति व्रणी तस्य व्रणिनः रौद्रतरस्याच्छल्यस्येति गाथार्थः॥

'रोहेइ वण छट्ठे' इति रोहयति व्रण षष्ठे शल्ये उद्धृते सति हितमितभोजी हित–पथ्यं मित–स्तोक अभुञ्जन्वेति, याव च्छल्येन दूषित 'तत्तियमित्त'त्ति तावन्मात्र छिद्यते, सप्तमे शल्य उद्धृते किं ?–पूतिमांसादीति गाथार्थः॥ 'तहविय अठा-ये'ति तथापि च 'अट्ठायमाणे'त्ति अतिष्ठति सति विसर्पतीत्यर्थः, गोनसभक्षितादौ रफ्क(रुम्फ)कयापि क्रियत, तदङ्गच्छेदः सहास्थिकः, शेषरक्षार्थमिति गाथार्थ ॥ एव तावद् द्रव्यव्रणस्तच्चिकित्सा च प्रतिपादिता, अधुना भावव्रणः प्रतिपाद्यत–

'मुलुत्तरगुणरूवस्स' गाहा, इयमन्यकर्तृकी सोपयोगा चेति व्याख्यायते, मूलगुणाः–प्राणातिपातादिविरमणलक्षणाः पिण्ड विशुद्ध्यादयस्तु उत्तरगुणाः, एते एव रूपं यस्य स मूलगुणोत्तरगुणरूपस्तस्य, तायिनः, परमश्चासौ चरणपुरुषश्चेति समासः तस्य अपराधाः–गोचरादिगोचराः त एव शल्यानि तेभ्यः प्रभवः–सम्भवो यस्य स तथाविधः भावव्रणो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतमस्यानेकभेदभिन्नस्य भावव्रणस्य विचित्रप्रायश्चित्तभेषजेन चिकित्सा प्रतिपाद्यते, तत्र–

'भिक्खायरियाइ' भिक्षाचर्यादिः शुध्यत्यतिचारः कश्चिद्विकटनयैव–आलोचनयैवेत्यर्थः, आदिशब्दाद् विचारभूम्यादिग मनजो गृह्यत, इह चातिचार एव व्रणः २, एव सर्वत्र योज्य, 'बिति'त्ति द्वितीयो व्रणः असत्युपक्षित खेलविवेकादौ हा असमितोऽस्मीति सहसा अगुप्तो वा मिथ्यादुष्कृतमिति चिचिकित्सेत्यय गाथार्थः॥ 'शब्दादिषु इष्टानिष्टेषु रागं द्वेष वा मनसा(मनाक) गतः अत्र 'तइओ' तृतीयो व्रणः मिश्रभेषज्यचिकित्स्यः, आलोचनाप्रतिक्रमणशोध्य इत्यर्थः, ज्ञात्वा भनपणीय भक्तादि विगिञ्चना चतुर्थ इति गाथार्थः ॥ 'उस्सग्गेणवि सुज्झइ' कायोत्सर्गेणापि शुद्ध्यति अतिचार' कश्चित्, कश्चित्

तपसा पृथिव्यादिसंघट्टनादिभ्यो निर्विंगतिकादिना षण्मासान्तेन, तेनाप्यशुद्ध्यमानस्तथाभूतं गुरुतरं छेदविशेषा विशोधयन्तीति गाथार्थः ॥ १४१९–१४२७ ॥ एवं सप्रमकारमायश्चित्तचिकित्सापि प्रदर्शिता, मूलादीनि तु विषयनिरूप- णद्वारेण स्वस्थानादपसेयानि, नेह वितन्यन्ते, इत्युक्तमानुषङ्गिकं, प्रस्तुत प्रस्तुमः—प्रथमनेनानेकस्वरूपेण—सम्बन्धेनायातस्य कायोत्सर्गाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि समप्रपञ्चानि वक्तव्यानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे कायोत्सर्गाध्ययनमिति कायोत्सर्गः अध्ययनं च, तत्र कायोत्सर्गमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः—

निक्खेवे १ गह २ विहाणमग्गणा ३ काल ४ भेयपरिमाणे ५ ।

असढ ६ सढे ७ विहि ८ दोसा ९ कस्सत्ति १० फल च ११ दाराइं ॥ १४२८ ॥

'निक्खेवएगट्ठविहाण' निक्षप्तव्यः कायोत्सर्गस्य नामादिलक्षणो निक्षेपः कार्यः 'एगट्ठ'त्ति एकार्थिकानि वक्तव्यानि 'विहाणमग्गण' त्ति विधानं भेदाऽभिधीयते भेदमार्गणा कार्या 'कालभेदपरिमाणे'त्ति कालपरिमाणमभिभवकायोत्सर्गादीनां वक्तव्यं, भेदपरिमाणमुत्सृतादिकायोत्सर्गभेदानां वक्तव्यं यावन्तस्त इति, 'असढसढे'त्ति अशठः शठश्च कायोत्सर्गकर्ता वक्तव्यः 'विहि'त्ति कायोत्सर्गकरणविधिर्वाच्यः 'दोस'त्ति कायोत्सर्गदोषा वक्तव्याः 'कस्स'त्ति कस्य कायोत्सर्ग इति वक्तव्यं 'फल'त्ति ऐहिकामुष्मिकभेदं फलं वक्तव्यं 'दाराइं'ति एतान्येव द्वाराणीति गाथासमासार्थः ॥ १४२८ ॥ व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकृदेवाभिधास्यति । तत्र कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्ग इति द्विपदं नामेतिकृत्वा कायस्य उत्सर्गस्य च निक्षेपः कार्य इति । तथा चाह भाष्यकारः —

फरए॥

भिषभेषजेना५९।

प्रतिपादितः, यथोक्तं—'मि५०

य—"अह करणओ निकंतइ दारुं जंता ५

स्सग्गे अह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं । इय ।म२

यिके चारित्रमुपवर्णितं, चतुर्विंशतिस्तवे स्वर्हतां गुणस्तुतिः, ८।

धामेषनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं, तच्च यन्वन५

व्यच स्थानेषु प्रतीप क्रमणमासेवनीयमित्यनन्तराध्ययने तन्निरूपितं, इह तु तया५

भरजात् प्रतिपाद्यते, तत्र प्रायश्चित्तभेषजमेव सावद्विचित्रं प्रतिपादयन्नाह—

आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे । तव छेय मूल अणवट्ठया य पारंचिए ५५

आलोय'ति आलोचना प्रयोजनतो हस्तशताद् बहिर्गमनागमनादौ गुरोर्विकटना, 'पडिक्कमणे'त्ति प्रतीपं क्रमणं

निकृन्तति दारु पादं पुनरपि यथा। एवं कृन्तन्ति सुविहिताः कायोत्सर्गेण कर्माणि ॥ १ ॥ कायोत्सर्गे यथा सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गो

सुविहिता अष्टविध कर्मसंघातम् ॥ २ ॥

मूलुत्तरगुणरूवस्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स । अवराहसल्लपभवो भावव्वणो होइ णायव्वो ॥ १ ॥ (प्र०) ॥
भिक्खायरियाइ सुज्झइ अइआरो कोइ वियडणाए उ । बीओ असमिओमित्ति कीस सहसा अगुत्तो वा ? ॥१४२५
सद्दाइएसु राग दोसे य मणा गओ तहयम्मि । नाउ अणेसणिज्जं भत्ताइविगिंचण चउत्थे ॥ १४२६ ॥
उस्सग्गेणवि सुज्झइ अइआरो कोइ कोइ उ तवेण । तेणवि असुज्झमाणं छेयविसेसा विसोहिंति ॥ १४२७ ॥

द्विविधो-द्विप्रकारः 'कायंमि वणो'त्ति चीयत इति कायः-शरीरमित्यर्थः तस्मिन् व्रणः-क्षतलक्षणः, द्वैविध्यं दर्शयति-तस्मादुद्भवोऽस्येति तदुद्भवो-गण्डादिः आगन्तुकश्च ज्ञातव्यः, आगन्तुकः कण्टकादिप्रभवः, तत्रागन्तुकस्य क्रियते शल्योद्धरणं नेतरस्य-तदुद्भवस्येति गाथार्थः ॥ यदस्य यथोद्भ्रियते-उत्तरपरिकर्म क्रियते द्रव्यव्रण एव तदेतदभिधित्सुराह-'तणुओ अतिक्खतुंडो' इति तनुरेव तनुकः कृशमित्यर्थः, न तीक्ष्णतुण्डमतीक्ष्णमुखमिति भावना, नास्मिन् शोणितं विद्यत इत्यशोणितं केवल त्वग्लग्नं, तदुस्य 'अणउज्झत्ति सल्लो'त्ति परित्यज्यते शल्य प्राकृतशैल्या तु पुल्लिङ्गनिर्देशः, 'सल्लो न मलिज्जइ वणो य' न च मृद्यते व्रणः, अल्पत्वात् शल्यस्येति गाथार्थः ॥ प्रथमशल्यस्ये अय विधिः, द्वितीयादिशल्यस्ये पुनरयं-'लग्गुद्धियंमि' लग्नमुद्धृत लग्नोद्धृत तस्मिन् द्वितीय कस्मिन् ?-अदूरगते शल्य इति योगः, मनाग् दृढलग्न इति भावना, अत्र 'मलिज्जइ पर ति मृद्यते यदि पर व्रण इति उद्धरण शल्यस्य, मर्दन व्रणस्य, पूरणं कर्णमलादिना शल्येवैतानि क्रियन्ते दूरगते तृतीये शल्य इति गाथार्थः ॥ 'मा वेयणा उ तो उद्धरेत्तु गालंति सोणियं चउत्थे । रुज्झइ लहुंति चिट्ठा वारिज्जइ' इति मा वदना भविष्यतीति तत उद्धृत्य शल्य गालयन्ति शोणितं चतुर्थे शल्य इति, तथा रुजतां शीघ्रमिति चेष्टा-परि

अथ कायोत्सर्गाध्ययन

व्याख्यातं प्रतिक्रमणाध्ययनमधुना कायोत्सर्गाध्ययनमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने वन्दनाध्यकरणादिना स्खलितस्य निन्दा प्रतिपादिता, इह तु स्खलितविशेषतोऽपराधव्रणविशेषसंभवादेतावताऽशुद्धस्य सतः प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सा प्रतिपाद्यते, यद्वा प्रतिक्रमणाध्ययने मिथ्यात्वादिप्रतिक्रमणद्वारेण कर्मनिदानप्रतिषेधः प्रतिपादितः, यथोक्तं–'मिच्छत्तपडिक्कमण' मित्यादि, इह तु कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपाद्यते, वक्ष्यते च–"जह करगओ निकंतइ दारुं जंतो पुणोऽवि वच्चंतो। इय किंतंति सुविहिया काउस्सग्गेण कम्माइं ॥ १ ॥ काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं। इय भिंदंति सुविहिया अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥ २ ॥" इत्यादि, अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं, चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हतां गुणस्तुतिः, सा च ज्ञानदर्शनरूपा, एवमिदं त्रितयमुक्तं, अस्य च वितथासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं, तच्च वन्दनपूर्वकमित्यतस्तन्निरूपितं, निवेद्य च भूयः शुभेष्वेव स्थानेषु प्रतीप क्रमणमासेवनीयमित्यनन्तराध्ययने तन्निरूपितं, इह तु तथाऽप्यशुद्धस्यापराधव्रणचिकित्सा प्रायश्चित्तभेषजात् प्रतिपाद्यते, तत्र प्रायश्चित्तभेषजमेव तावद्विचित्रं प्रतिपादयन्नाह—

आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव ॥ १४१८ ॥

'आलोयणं'ति आलोचना प्रयोजनतो हस्तशताद् बहिर्गमनागमनादौ गुरोर्विकटना, 'पडिक्कमणे'त्ति प्रतीपं क्रमणं

---

१ यथा करकचो निकृन्तति दारु यान् पुनरपि व्रजन्। एवं कृन्तन्ति सुविहिताः कायोत्सर्गेण कर्माणि ॥ १ ॥ कायोत्सर्गे यथा सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि। एवं भिन्दन्ति सुविहिता अष्टविधं कर्मसंघातम् ॥ २ ॥

मूलुत्तरगुणरूवस्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स । अवराहसल्लपभवो भाववणो होइ नायव्वो ॥ १ ॥ (प्र०)॥
भिक्खायरियाइ सुज्झइ अइआरो कोइ वियडणाए उ । बीओ असमिओमित्ति कीस सहसा अगुत्तो वा ?॥१४२८
सद्दाइएसु राग दोसं च मणा गओ तइयगंमि । नाउ अणेसणिज्जं भत्ताइविगिंचण चउत्थे ॥ १४२९ ॥
उस्सग्गेणवि सुज्झइ अइआरो कोइ कोइ उ तवेण । तेणवि असुज्झमाणं छेयविसेसा विसोहिंति ॥ १४२७ ॥

द्विविधो-द्विप्रकारः 'कायंमि वणो'त्ति चीयत इति कायः-शरीरमित्यर्थः तस्मिन् व्रणः-क्षतलक्षणः, द्वैविध्य दर्शयति-तस्सायुब्भवोऽस्येति तदुद्भवो-गण्डादिः आगन्तुकश्च शल्यः, आगन्तुकः कण्टकादिप्रभवः, तत्रागन्तुकस्य क्रियते शल्यो-द्धरण नेतरस्य-तदुद्भवस्येति गाथार्थ ॥ यदस्य यथोद्ध्रियते-उपरपरिकर्म क्रियते शल्यव्रण एव तदेतदभिधित्सुराह-'तणुओ अतिक्खतुंडो' इति वतुरय तनुक कृशमित्यर्थः, न तीक्ष्णतुण्डमतीक्ष्णमुखमिति भावना, नास्मिन् शोणितं विद्यत इत्यशोणितं केवल नवर त्वग्लग्नं, उद्धृत्य 'अथवमद्दत्ति सल्लो'त्ति परित्यज्यते शल्य प्राकृतशैल्या तु पुल्लिङ्गनिर्देशः, 'सल्लो न मलिज्जइ वणा य' न च मृद्यते व्रणः, अल्पत्वात् शल्यस्येति गाथार्थः ॥ प्रथमशल्यजे अयं विधिः, द्वितीयादिशल्यजे पुनरयं-'लग्गु द्धियंमि' लग्नमुद्धृत लग्नोद्धृत तस्मिन् द्वितीये कस्मिन् ?-अदूरगते शल्य इति योगः, मनाग् लग्नम इति भावना, अत्र 'मलिज्जइ पर ति मृद्यते यदि पर व्रण इति उद्धरणं शल्यस्य, मर्दनं व्रणस्य, पूरण कर्णमलादिना तस्यैवैतानि क्रियन्ते दूरगते तृतीये शल्य इति गाथार्थ ॥ 'मा वेयणा उ तो उद्धरेतु गालंति सोणिय चउत्थे । रुज्झइ लहुंति चिट्ठा वारिज्जइ' इति मा वदना भविष्यतीति तत उद्धृत्य शल्य गालयन्ति शोणित चतुर्थे शल्य इति, तथा रुह्यतां शीघ्रमिति चेष्टा-परि

अथ कायोत्सर्गाध्ययन

व्याख्यातं प्रतिक्रमणाध्ययनमधुना कायोत्सर्गाध्ययनमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने वन्दनाध-करणादिना स्खलितस्य निन्दा प्रतिपादिता, इह तु स्खलितविशेषतोऽपराधव्रणविशेषसंभवादेतावताऽशुद्धस्य सतः प्राय श्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सा प्रतिपाद्यते, यद्वा प्रतिक्रमणाध्ययने मिथ्यात्वादिप्रतिक्रमणद्वारेण कर्मनिदानप्रतिषेधः प्रतिपादितः, यथोक्त—'मिच्छत्तपडिक्कमण' मित्यादि, इह तु कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपाद्यते, वक्ष्यते च—"जह करगओ निकंतइ दारुं जंतो पुणोऽवि वच्चंतो। इय कितंति सुविहिया काउस्सग्गेण कम्माइं ॥ १ ॥ काउ स्सग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं। इय भिंदति सुविहिया अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥ २ ॥" इत्यादि, अथवा सामा-यिके चारित्रमुपवर्णितं, चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हतां गुणस्तुतिः, सा च ज्ञानदर्शनरूपा, एवमिदं त्रितयमुक्तं, अस्य च वित-थासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं, तच्च वन्दनपूर्वकमित्यतस्तन्निरूपितं, निवेद्य च भूयः शुभे ष्वेव स्थानेषु प्रतीप क्रमणमासेवनीयमित्यनन्तराध्ययने तन्निरूपितं, इह तु तथाप्यशुद्धस्यापराधव्रणचिकित्सा प्रायश्चित्त भेषजात् प्रतिपाद्यते, तत्र प्रायश्चित्तभेषजमेव तावद्विचित्रं प्रतिपादयन्नाह—

आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव ॥ १४१८ ॥

'आलोयण'त्ति आलोचना प्रयोजनतो हस्तशताद् बहिर्गमनागमनादौ गुरोर्विकटना, 'पडिक्कमणे'त्ति प्रतीपं क्रमण

---

१ यथा क्रकचो निकृन्तति दारु यान् पुनरपि व्रजन्। एवं कृन्तन्ति सुविहिताः कायोत्सर्गेण कर्माणि ॥ १ ॥ कायोत्सर्गे यथा सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गो पाङ्गानि। एवं भिन्दन्ति सुविहिता अष्टविधं कर्मसंघातम् ॥ २ ॥

प्रतिक्रमणं, सहसाऽसमिताद्यौ मिथ्यादुष्कृतकरणमित्यर्थः,'मीस'त्ति मिश्र शब्दादिषु रागादिकरणे, विकटना मिथ्यादुष्कृतं चेत्यर्थः, 'विवेगो'त्ति विवेकः अनेषणीयस्य भक्तादेः कथञ्चित् गृहीतस्य परित्याग इत्यर्थः, तथा 'विउस्सग्गे'त्ति तथा व्युत्सर्गः कुस्वप्नाद्यौ कायोत्सर्ग इति भावना, 'तवे'त्ति कर्म तापयतीति तपः—पृथिव्यादिसंघट्टनादौ निर्विग(कृ)तिकादि, 'छेदे'त्ति तपसा दुर्दमस्य श्रमणपर्यायच्छेदनमिति हृदय, 'मूल'त्ति प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपणमित्यर्थः,'अणवठ्या य'त्ति हस्ततालादिप्रदानदोषात् दुष्टतरपरिणामत्वात् व्रतेषु नावस्थाप्यते इत्यनवस्थाप्यः तद्भावोऽनवस्थाप्यता, 'पारंचिए चेव'त्ति पुरुषविशेषस्य स्वलिङ्गराजपत्न्यायासेवनायां पारञ्चिक भवति, पारं—प्रायश्चित्त तमञ्चति—गच्छतीति पारञ्चिक, न तत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तमस्तीति गाथार्थः ॥ १४१८ ॥ एवं प्रायश्चित्तभेदप्रमुक्त, साम्प्रतं व्रणः प्रतिपाद्यते, स च द्विभेदः—द्रव्यव्रणो भावव्रणश्च, द्रव्यव्रणः शरीरक्षतलक्षणः, असावपि द्विविध एव, तथा चाह—

दुविहो कायंमि वणो तदुब्भवागंतुओ अ णायव्वो । आगंतुयस्स कीरइ सल्लुद्धरणं न इयरस्स ॥ १४१९ ॥
तणुओ अतिक्खतुंडो असोणिओ केवल तए लग्गो । अवउज्झिज्जइ सल्लो सल्लो न मलिज्जइ वणो उ ॥ १४२० ॥
लग्गुद्धियंमि बीए मलिज्जइ परं अदूरगे सल्ले । उद्धरणमलणपूरण दूरयरगए तइयगंमि ॥ १४२१ ॥
मा वेअणा उ तो उद्धरित्तु गालंति सोणियं चउत्थे । रुज्झइ लहुंति चिट्ठा वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥ १४२२ ॥
रोहेइ वणं छट्ठे हियमियभोई अभुंजमाणो वा । तित्तियमित्तं छिज्जइ सत्तमए पूइमसाई ॥ १४२३ ॥
तहविय अठायमाणो गोणसखइयाइ रुप्फए वावि । कीरइ तयंगछेओ समट्ठिओ सेसरक्खट्ठा ॥ १४२४ ॥

अजीवेसु दस भेदा, एते संतिपयं अणुयतेण लद्धा। एवं मद्दयादिसु एक्केके दस २ लब्भंति, एव सत, एते सोतिंदियसमुयं तण लद्धा, एय चक्खिदियादियेसुवि एक्केके सयं २ जाता सता ५००, एतेवि आहारसण्णाऽपरिण्णायगेण लद्धा, भयादि-सण्णादिसुवि पसेयं २ पंच सया, जाता दो सहस्सा, एते न करेंतित्ति एतेण लद्धा न कारवेदिएतेणवि दो करेंते णाणु जाणति एतेणवि दो सहस्सा २०००, जाता ६ सहस्सा, एते मणेण लद्धा ६०००, वायाएवि ६०००, काएणवि छत्ति ६०००, जाता अठ्ठारसवि १८०००। 'अक्षताचारचारित्रिणः' अक्षताचार एव चारित्रं, तान् 'सर्वान्' गच्छगतनिर्गतभेदान् 'शिरसा' उत्तमाङ्गेन मनसा—अन्तःकरणेन मत्थकेन वन्दत(वन्दे) इति गाथा, इत्थमभिवन्द्य साधून् पुनरोघतः सकल-सत्त्वक्षामणमैत्रीप्रदर्शनायाह—

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे। मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ॥ १ ॥

एवमहं आलोइय निन्दिय गरहिय दुगुंछिय सम्मं। तिविहेण पडिक्कंतो वंदामि जिणे चउव्वीसं॥ २॥ (सूत्रं)

निगदसिद्धा एवेयं, सवे जीवा खमंतु मेत्ति, मा तेषामप्यक्षान्तिप्रत्ययः कर्मबन्धो भवत्विति करुणयेदमाह। समाप्तौ स्वरूपप्रदर्शनपुरःसरं मङ्गलगाहा—एवेत्यादि निगदसिद्धा, एवं दैवसिकप्रतिक्रमणमुक्तं, रात्रिकमप्येवम्भूतमेव, नवरं यत्रैव दैवसिकातिचारोऽभिहितस्तत्र रात्रिकातिचारो वक्तव्यः। आह—यद्येव 'इच्छामि पडिक्कमिउं गोयरचरियाए' इत्यादि सूत्रमनर्थकं, रात्रावस्य असम्भवादिति, उच्यते, स्वप्नादौ सम्भवादित्यदोषः। इत्युक्तोऽनुगमः, नयाः प्राग्वत्॥

इत्याचार्यश्रीमद्धरिभद्रसूरिशक्रविहितायां आवश्यकवृत्तौ शिष्यहितायां प्रतिक्रमणाध्ययनं समाप्तं॥

इति श्रीमत्सूरिपुरन्दरभवविरहोपाधिशोभितश्रीमद्धरिभद्र-
सूरिविहितविवृतियुत श्रीआवश्यकसूत्रीय चतुर्थ प्रति-
क्रमणाख्यमध्ययनं सपूर्णतामगमत् उत्तरार्धे पूर्वविभाग

अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पनरससु कम्मभूमीसु जावंति केइ साहू रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा पंचमहव्वयधारा । अट्ठारससहस्ससीलंगधारा अक्खयायारचरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि । (सूत्रं)

अर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु—जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु—पञ्चभरतपञ्चैरावतपञ्चविदेहाभिधानासु यावन्तः केचन साधवः रजोहरणगुच्छप्रतिग्रहधारिणः, निश्चयादिच्छेदायाह—पञ्चमहाव्रतधारिणः, पञ्च महाव्रतानि—प्रतीतानि, अतस्तदेकाङ्गविकलप्रत्येकबुद्धसङ्ग्रहायाह—अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः, तथाहि—केचित् भगवन्तो रजोहरणादिधारिणो न भवन्त्यपि, तानि चाष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि दर्श्यन्ते, तत्रेयं करणगाथा—जोए करणे सन्ना इंदिय भोमाइ समणधम्मे य । सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥ १ ॥

स्थापना चेयं—

म०	व०	का०							
ण क०	ण का०	ण अ०							
आ०	भ०	मे०	प०						
सो०	च०	पा०	र०	फा०					
पु०	आ०	ते०	वा०	व०	बे०	ते०	च०	पं०	अ०
ख०	मा०	आ०	मु०	स०	सं०	स०	सो०	आ०	ब०

इयं भावना—मणेण ण करेइ आहारसण्णाविप्पजढो सोइंदियसंवुडो खंतिसंपन्नो पुढवीकायसंरक्खओ १, मणेण ण करेइ आहारसण्णाविप्पजढो सोइंदियसंवुडो मुत्तिसंपन्नो आउकायसंरक्खओ २ एवं तेउ ३ वाउ ४ वणस्सति ५ बि० ६ ति० ७ च० ८ पं० ९

जे नो करिंति मणसा निज्जियआहारसन्नसोइंदि पुढवीकायारंभे खंतिजुआ ते मुणि वन्दे ॥ १ ॥

नाज्ञानभेदपरिहरणायैवाह—'अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि' अक्रिया—नास्तिकवादः क्रिया—सम्यग्वादः। तृतीयं बन्धकारणमभिधित्सुराह—'मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि' मिथ्यात्वं—पूर्वोक्तं सम्यक्त्वमपि, एतत्कार्यमेवाह—'अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि' अबोधिः—मिथ्यात्वकार्यं बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति, इदानीं सामान्येनाह—'असमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि' अमार्गो—मिथ्यात्वादिः मार्गस्तु सम्यग्दर्शनादिरिति। इदानीं छद्मस्थत्वात्स्खलनसम्भवमाह—

जं संभरामि जं च न संभरामि जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि समणोऽहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो अनियाणो दिट्ठिसंपण्णो मायामोसविवज्जिओ॥(सूत्रं)

यत् किञ्चित् स्मरामि यच्च छद्मस्थानाभोगात्सेति, तथा 'जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि' यत् प्रतिक्रमामि आभोगादिविदित यच्च न प्रतिक्रमामि सूक्ष्ममविदित, अनेन प्रकारेण यः कश्चिदतिचारः कृतः 'तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि'त्ति कण्ठ्यं, इत्थं प्रतिक्रम्य पुनरकुशलप्रवृत्तिपरिहारायात्मानमालोचयन्नाह—'समणोऽहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो अणियाणो दिट्ठिसंपन्नो मायामोसविवज्जिओ'त्ति श्रमणोऽहं तथापि न चरकादिः, किं तर्हि?, संयतः सामस्त्येन यतः इदानीं, विरतो—निवृत्तः अतीतस्यैष्यस्य च निन्दासंवरणद्वारेण, अत एवाह—प्रतिहत प्रत्याख्यातपापकर्मा, प्रतिहतम्—इदानीमकरणतया प्रत्याख्यातमतीतं निन्दया एष्यमकरणतयेति, प्रधानोऽयं दोष इतिकृत्वा तदशून्यतामात्मनो भेदेन प्रतिपादयन्नाह—'अनिदानो' निदानरहितः, सकलगुणमूलभूतगुणयुक्तां दर्शयन्नाह—'दृष्टिसंपन्नः' सम्यग्दर्शनयुक्त इत्यर्थः। वक्ष्यमाणद्रव्यवन्दनपरिहारायाह—मायामृषाविवर्जकः (विवर्जितः)— मायागर्भमृषा वादपरिहारीत्युक्त भवति। एवंभूतः सन् किं?—

अण्णाण परिआणामि नाण उवसपज्जामि अकिरिय परियाणामि किरिय उवसपज्जामि मिच्छत्त परियाणामि सम्मत्त उवसपज्जामि अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसपज्जामि अमग्ग परियाणामि मग्ग उवसपज्जामि (सूत्रं)

य एष नैर्ग्रन्थ्यप्रावचनलक्षणो धर्म उक्तः तं धर्म श्रद्दध्महे (धे) सामान्येनैवमयमिति 'पत्तियामि'त्ति प्रतिपद्यामहे (द्ये) प्रीतिकरणद्वारेण 'रोएमि'त्ति रोचयामि, अभिलाषातिरेकेणासेवनाभिमुखतया, तथा प्रीती रुचिश्च भिन्ने एव, यतः कस्मिंश्चिद्दध्यादौ प्रीतिसद्भावेऽपि न सर्वदा रुचिः, 'फासेमि'त्ति स्पृशामि आसेवनाद्वारेणाति 'अणुपालेमि' अनुपालयामि पौनःपुन्यकरणेन 'त धम्म सद्दहंतो' इत्यादि, तं धर्म श्रद्दधानः प्रतिपद्यमानः रोचयन् स्पृशन् अनुपालयन् 'तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराधनाए'त्ति तस्य धर्मस्य प्रागुक्तस्य अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायाम्—आराधनविषये 'विरओमि विराधनाए'त्ति विरतोऽस्मि—निवृत्तोऽस्मि विराधनायां—विराधनाविषये, एतदेव भेदेनाह—'असञ्जमं परियाणामि, सञ्जमं उवसंपज्जामि' असंयमं—प्राणातिपातादिरूपं प्रतिजानामीति ज्ञपरिज्ञया विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यामीत्यर्थः, तथा संयमं—प्रागुक्तस्वरूप उपसंपद्यामहे(द्ये),प्रतिपद्याम(द्ये)इत्यर्थः, तथा 'अबंभं परियाणामि बंभं उवसंपज्जामि' अब्रह्म—चरत्यनियमलक्षण विपरीतं ब्रह्म, शेष पूर्ववत्, प्रधानासंयमाङ्गत्वाचायमकृणो निदानपरिहारार्थमनन्तरमिदमाह, असंयमाङ्गत्वादेवाह—'अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि' अकल्पोऽकृत्यमाख्यायते कल्पस्तु कृत्य इति, इदानीं द्वितीयं बन्धकारणमाश्रित्याह, यत उक्तं [च]—"अस्संजमो य एक्को अण्णाणं अविरई य दुविहं" इत्यादि । 'अण्णाणं परियाणामि नाण उवसपज्जामि' अज्ञानं सम्यग्ज्ञानादन्यत् ज्ञानं तु भगवद्वचनम्,

अज्ञानमेव परिहरन्नाह—'अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि' अक्रिया—नास्तिवादः क्रिया—सम्यग्वादः। तृतीयं बन्धकारणमभिधित्सुराह—'मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि' मिथ्यात्वं—पूर्वोक्तं सम्यक्त्वमपि, एतत्प्रस्तावादेवाह—'अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि' अबोधिः—मिथ्यात्वकार्यं बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति, इदानीं सामान्येनाह—'अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि' अमार्गो—मिथ्यात्वादिः मार्गस्तु सम्यग्दर्शनादिरिति। इदानीं छद्मस्थत्वादशेषमुक्तमाह—

जं संभरामि जं च न संभरामि जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि समणोऽहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो अनियाणो दिट्ठिसंपण्णो मायामोसविवज्जिओ (सूत्रं)

यत् किञ्चित् स्मरामि यच्च छद्मस्थानाभोगान्नेति, तथा 'जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि' यत् प्रतिक्रमामि आभोगादिविदितं यच्च न प्रतिक्रमामि सूक्ष्ममविदितं, अनेन प्रकारेण यः कश्चिदतिचारः कृतः 'तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि' त्ति कण्ठ्यं, इत्थं प्रतिक्रम्य पुनरकुशलप्रवृत्तिपरिहारायात्मानमालोचयन्नाह—'समणोऽहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो अणियाणो दिट्ठिसंपन्नो मायामोसविवज्जिओ' त्ति श्रमणोऽहं तत्रापि न चरकादिः, किं तर्हि?, संयतः सामस्त्येन यतः इदानीं, विरतः—निवृत्तः अतीतस्यैष्यस्य च निन्दासंवरणद्वारेण अत एवाह—प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, प्रतिहतम्—इदानीमकरणतया प्रत्याख्यातमतीतं निन्दया एष्यमकरणतयेति, प्रधानोऽयं दोष इतिकृत्वा तदशून्यतामात्मनो भेदेन प्रतिपादयन्नाह—'अनिदानो' निदानरहितः, सकलगुणमूलभूतगुणयुक्ततां दर्शयन्नाह—'दृष्टिसम्पन्नः' सम्यग्दर्शनयुक्त इत्यर्थः। वक्ष्यमाणद्रव्यवन्दनपरिहारायाह—मायामृषाविवर्जकः (विवर्जितः)—मायागर्भमृषावादपरिहारीत्युक्तं भवति। एवम्भूतः सन् किं?—

'इदमेवे'ति सामायिकादि प्रत्याख्यानपर्यन्तं द्वादशाङ्गं वा गणिपिटकं, निर्ग्रन्थाः—बाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यं 'प्रावचन'मिति प्रकर्षेणाभिविधिनोच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्, इदमेव नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनं किमत आह—सता हित सत्यं, सन्तो—मुनयो गुणाः पदार्था वा सद्भूत वा सत्यमिति, नयदर्शनमपि स्वविषये सत्यं भवत्यत आह—'अणुत्तरं'ति नास्योत्तर विद्यत इत्यनुत्तरं, यथावस्थितसमस्तवस्तुप्रतिपादकत्वात् उत्तममित्यर्थः, यदि नामेदमीदृशम्भूतमन्यदप्येवम्भूतं भविष्यतीत्यत आह—'केवलिय' केवलमद्वितीयं नापर मित्थंभूतमित्यर्थः यदि नामेदमित्थभूत तथाप्यन्यस्याप्यसभवादपवर्गप्रापकैर्गुणैः प्रतिपूर्ण न भविष्यतीत्यत आह—'पडिपुन्न'ति प्रतिपूर्णमपवर्गप्रापकैर्गुणैर्भृतमित्यर्थः, भृतमपि कदाचिदात्मभरितया न तन्नयनशीलं भवि ष्यतीत्यत आह—'नेयाउय'ति नयनशीलं नैयायिकं, मोक्षगमकमित्यर्थः, नैयायिकमप्यसंशुद्ध—सकीर्णं नाश्रयेण नैयायिक भविष्यति इत्यत आह—'संसुद्ध'ति सामस्त्येन शुद्ध संशुद्धं, एकान्ताकलङ्कमित्यर्थः, एवंभूतमपि कथं नैयायिक भविष्यति इत्यत आह—'सल्लगत्तण'ति कृन्ततीति क्षिप्तयास्त्राभाव्याच्छाल्यमपति बन्धननिकृन्तनाय (इदमपि तथा) भविष्यतीत्यत आह—'सल्लगत्तण'ति कृन्ततीति कर्त्तनं शल्यानि—मायादीनि तेषां कर्त्तनं, भवनिबन्धनमायादिशल्यच्छेदकमित्यर्थ, परमतनिषेधार्थं त्वाह— 'सिद्धिमग्ग मुत्तिमग्ग' सेधन सिद्धिः—हितार्थप्राप्तिः सिद्धेर्मार्गः सिद्धिमार्गः, मोचनं मुक्तिः—अहितार्थकर्म विच्युतिस्तस्या मार्गो मुक्तिमार्ग इति, मुक्तिमार्ग—केवलज्ञानादिहितार्थप्राप्तिद्वारेणाहितकर्मविच्युतिद्वारेण च मोक्ष साधकमिति भावना, अनेन च केवलज्ञानादिविकलाः सकर्माकाश्च मुक्ता इति दुर्नयनिरासमाह, विप्रतिपत्तिनिरा

सार्थमाह—'निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं' यान्ति तदिति यानं 'कृत्यल्युटो बहुलं' (पा० ३-३-११३) इति वचनात् कर्मणि ल्युट्, निरुपमं यानं निर्यानं, ईषत्प्राग्भाराख्यं मोक्षपदमित्यर्थः, तस्य मार्गो निर्याणमार्ग इति, निर्याणमार्गः—विशिष्टनिर्वाणप्राप्तिकारणमित्यर्थः, अनेनानियतसिद्धिक्षेत्रप्रतिपादनपरदुर्णयनिरासमाह, निर्वृतिर्निर्वाणं—सकलकर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः, निर्वाणस्य मार्गो निर्वाणमार्ग इति, निर्वाणमार्गः परमनिर्वृतिकारणमिति हृदयं, अनेन च निःसुखदुःखा मुक्तात्मान इति प्रतिपादनपरदुर्णयनिरासमाह, निगमयन्नाह—इदं च "अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं" अवितथं—सत्यं अविसन्धि—अव्यवच्छिन्नं, सर्वदा अपरविदेहादिषु भावात्, सर्वदुःखप्रहीणमार्गं—सर्वदुःखप्रहीणो—मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थः, साम्प्रतं परार्थकरणद्वारेणास्य चिन्तामणित्वमुपदर्शयन्नाह—"एत्थंठि (इत्यादि) या जीवा 'सिज्झंति'त्ति 'अत्र' नैर्ग्रन्थे प्रवचने स्थिता जीवाः सिध्यन्तीत्यणिमादिसंयमफलं प्राप्नुवन्ति 'बुज्झंती'ति बुध्यन्ते केवलिनो भवन्ति 'मुच्चंति'त्ति मुच्यन्ते भवोपग्राहिकर्मणा 'परिनिव्वायंति'त्ति परि—समन्तात् निर्वान्ति, किमुक्तं भवति ?—'सव्वदुक्खाणमंतं करिंति'त्ति सर्वदुःखानां शारीरमानसभेदानां अन्तं—विनाशं कुर्वन्ति—निर्वर्तयन्ति । इत्यमभिधायाधुनाऽस्य चिन्तामणिकल्पे कर्ममलप्रक्षालनसलिलौघे श्रद्धानमाविष्कुर्वन्नाह—

तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि, तं धम्मं सद्दहंतो पत्तिअंतो रोयंतो फासंतो अणुपालंतो तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए असंजमं परिआणामि संजमं उवसंपज्जामि अबंभं परिआणामि बंभं उवसंपज्जामि अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि

पगडीओ बंधति हस्सठितियाओ य दीहठितियाओ करेइ मंदाणुभावा य तिव्वाणुभावाओ करेइ, अप्पपदेसाओ बहुपदेसाओ करेइ । एवकारी य नियमा दीहकालं संसारं निव्वत्तेइ । अहवा णाणायारविराहणाए दंसणविराहणा, णाण दंसणविराहणाहिं नियमा चरणविराहणा, एवं तिण्ह विराहणाए अमोक्खो, अमोक्खे नियमा संसारो, तम्हा असज्झाइए ण सज्झाइयमिति गाथार्थः ॥ १४१५ ॥

असज्झाइयनिज्जुत्ती कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । संजमतवड्ढगाणं निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ १४१६ ॥

असज्झाइयनिज्जुत्तिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवेंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ॥ १४१७ ॥

असज्झाइयनिज्जुत्ती समत्ता ॥

व्याख्या—गाथाद्वयं निगदसिद्धं ॥ १४१६–१४१७ ॥ अस्वाध्यायिकनिर्युक्तिः समाप्ता ॥

तथा सज्झाए न सज्झाइयं 'तस्स मिच्छामिदुक्कडं' तथा स्वाध्यायिके—अस्वाध्यायिकविपर्ययलक्षणे न स्वाध्यायितं । इत्यमाशातनया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति पूर्ववत् ।

एय सुत्तनिबद्धं अत्थेणऽण्णापि होंति विण्णेयं । त पुण अज्झामोहत्थमोहओ संपवक्खामि ॥ १ ॥ तत्तीसाए उवरिं चोत्तीस बुद्धवयणअतिसेसा । पणतीस वयणअतिसय छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ २ ॥ एवं जाव समयाए जा सयभिसरिक्खं

---

१ प्रकृतीर्बध्नाति ह्रस्वस्थितिकाश्च दीर्घस्थितिकाः करोति मन्दानुभावाश्च तीव्रानुभावाः करोति अल्पप्रदेशाग्रा बहुप्रदेशाग्राः करोति एवंकारी च नियमात् दीर्घकालिकं संसारं निर्वर्तयति अथवा ज्ञानाचारविराधनायां दर्शनविराधना ज्ञानदर्शनविराधनयोर्नियमाच्चरणविराधना एवं त्रयाणां विराधनयाऽमोक्षः, अमोक्षे नियमात् संसारः, तस्मादस्वाध्यायिके न स्वाध्येयमिति

[illegible] तवचारे। तथा चोक्तं—सपभिसया भक्कते सपगतारे तहेव पण्णत्ते॥ इय संजमसंजेहिं तहय अणंतेहिं नाणेहिं ॥ ३ ॥ संजमअसंजमस्स य पडिसिद्धादिकरणाइयारस्स। होति पडिक्कमणं तू तेत्तीसेहिं तु ठाइ पुण ॥४॥ अवरा-हीहपआवसमूहो। पचडतियारविसोहिं काउं कुणती णमोक्कारं ॥ ६ ॥

णमो चउवीसाए इत्यादि, अथवा प्राक्तनाशुभसेवनायाः प्रतिक्रान्तः अपुनःकरणाय प्रतिक्रामन् नमस्कारपूर्वकं प्रतिक्रममाह—

नमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादिमहावीरपज्जवसाणाणं (सूत्रम्)

नमश्चतुर्विंशतितीर्थकरेभ्य ऋषभादिमहावीरपर्यवसानेभ्यः, प्राकृते षष्ठी चतुर्थ्यर्थ एव भवति, तथा चोक्तं—"चउत्थपणेण दुपयणं छट्ठिविभत्तीऍ भण्णइ चउत्थी। अह हत्था तह पाया नमोऽत्थु देवाहिदेवाण ॥ १ ॥" इत्थं नमस्कृतस्य प्रस्तुतस्य व्यापर्णनायाह—

इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति (सूत्रं)

१ चतुर्थ्यर्थ[illegible] द्विवचनं षष्ठीविभक्त्या भण्यते चतुर्थी। यथा हस्तौ तथा पादौ नमोऽस्तु देवाधिदेवेभ्यः ॥ १ ॥

पगडीओ बंधति हस्सठितियाओ य दीहठितियाओ करेइ मंदाणुभावा य तिव्वाणुभावाओ करेइ, अप्पपदसाओ बहुपदेसाओ करेइ । एवंकारी य नियमा दीहकाल संसारं निव्वत्तेइ । अहवा नाणायारविराहणाए दसणविराहणा, णाणदसणविराहणाहिं नियमा चरणविराहणा, एव तिण्ह विराहणाए अमोक्खे, अमोक्खे नियमा ससारो, तम्हा असज्झाइए ण सज्झाइयमिति गाथार्थः ॥ १४१५ ॥

असज्झाइयनिज्जुत्ती कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता । सजमतवड्ढगाण निग्गंथाणं महरिसीण ॥ १४१६ ॥

असज्झाइयनिज्जुत्तिं जुंजता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवेंति कम्म अणेगभवसंचियमणत ॥ १४१७ ॥

असज्झाइयनिज्जुत्ती समत्ता ॥

व्याख्या—गाथाद्वयं निगदसिद्ध ॥ १४१६–१४१७ ॥ अस्वाध्यायिकनिर्युक्तिः समाप्ता ॥

तथा सज्झाए न सज्झाइय 'तस्स मिच्छामिदुक्कड' तथा स्वाध्यायिके—अस्वाध्यायिकविपर्ययलक्षण न स्वाध्यायित । इत्थमाशातनया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति पूर्ववत् ।

एवं सुत्तनिबद्धं अत्थेणऽण्णंपि होति विण्णेयं । त पुण अज्झामोहत्थमोहमो संपवक्खामि ॥ १ ॥ तेत्तीसाए उवरिं चोत्तीसं बुद्धवयणअतिसेसा । पणतीस वयणअतिसय छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ २ ॥ एवं अह समयाए जा सयभिसरिक्ख

---

१ प्रकृतीर्बध्नाति ह्रस्वस्थितिकाः दीर्घस्थितिकाः करोति मन्दानुभावाः तीव्रानुभावाः करोति अल्पप्रदेशाग्राः बहुप्रदेशाग्राः करोति एवंकारी च नियमात् दीर्घकालिकं संसारं निर्वर्तयति, अथवा ज्ञानाचारविराधनायां दर्शनविराधना ज्ञानदर्शनविराधनयोर्नियमाच्चरणविराधना एवं त्रयाणां विराधनया अमोक्षः अमोक्षे नियमात् संसारः, तस्मादस्वाध्यायिके न स्वाध्येयमिति

गणिसद्दमाइमहिओ रागे दोसम्मि य सहए सद्द । सज्झमसज्झायमयं एमाई हुति मोहाओ ॥ १४११ ॥

व्याख्या—'महिओ'त्ति हृष्टतुष्टो नन्दितो वा परेण गणिवायगो वाहरिजंतो वा भवति, तदभिलावी असज्झाइयवि सज्झायं करेइ, एवं रागे, दोसे किं वा गणी वाहरिज्जति वायगो वा, अहंपि मण्णामि जेण एयस्स पडिसवत्तीभूओ भणामि, अहवा जीवसरीरावयवो असज्झाइयं तम्हा असज्झाइयमय—न भवतीत्यर्थः ॥ १४१२ ॥ इमे य दोसा—

उम्माय च लभेज्जा रोगायकं च पाउणे दीहं । तित्थयरभासियाओ भस्सइ सो संजमाओ वा ॥ १४१३ ॥

व्याख्या—खेत्तादिगो उम्माओ चिरकालिओ रोगो, आसुघाती आयंको, एतेण वा पावेज्जा, धम्माओ भंसेज्जा—मिच्छदिट्ठी वा भवति, चरित्ताओ वा परिवडइ ॥ १४१४ ॥

इहलोए फलमेयं परलोगे फलं न दिंति विज्जाओ । आसायणा सुयस्स उ कुव्वइ दीहं च संसारं ॥ १४१५ ॥

व्याख्या—सुयणाणायारविवरीयकारी जो सो णाणावरणिज्जं कम्मं बंधति, तदुदया य विज्जाओ कओवयारा आवि फलं न देंति, न सिध्यन्ति इत्यर्थः । विहीए अकरणं परिभवो, एवं सुयासायणा, अविहीए वहंतो नियमा अट्ठ

1 हृष्ट गणी वाचको व्याहियमाणो वा भवति। अस्वाध्यायिकेऽपि स्वाध्यायं करोति एवं रागे द्वेषे किं वा गणी व्याह्रियते वाचको वा अहमप्यपेक्ष्ये यदनस्य प्रतिसपत्नीभूतो भणामि यस्मात् जीवशरीरावयवोऽस्वाध्यायिकं तस्मादस्वाध्यायिकमय। इमे च दोषा—क्षिप्तचित्तादिक उन्मादः चिरकालिको रोग आशुघाती आतङ्कः एतद्वा प्राप्नुयात् धर्मात् भ्रश्येत्—मिथ्यादृष्टिः भवेत् चारित्राद्वा परिपतेत्। श्रुतज्ञानाचारविपरीतकारी यः स ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नाति तदुदयाच्च विद्याः कृतोपचारा अपि फलं न ददति विध्यकरणं परिभवः एवं श्रुताशातना अविधौ वर्तमानो नियमात् अष्ट

व्याख्या—अभ्यंतरा मूत्रपुरीषादयः, 'तेहिं चेव बाहिरे उवलित्तो न कुणइ, अणुवलित्तो पुण अब्भिंतरगतेसुवि तेसु अह अच्चण करेइ ॥ १४१० ॥ किं चान्यत्—

आउट्टियाऽवराहं सन्निहिया न खमए जहा पडिमा । इह परलोए दंडो पमत्तछलणा इह सिआ उ ॥ १४११ ॥

व्याख्या—जा पडिमा 'सन्निहिय'त्ति देवयाहिट्ठिया सा जइ कोइ अणाढिएण 'आउट्टिय'त्ति जाणतो बाहिरमल लित्तो तं पडिमं छिवइ अच्चण व से कुणइ तो ण खमए—खित्तादि करेइ रोग वा जणेइ मारइ वा, 'इय'त्ति एवं जो असज्झाइए सज्झायं करइ तस्स णाणायारविराहणाए कम्मबंधो, एसो स परलोए उ दंडो, इहलोए पमत्त देवया छलेज्जा, स्यात् आणाइ विराहणा धुवा चेव ॥ १४११ ॥ कोई इमेहिं अप्पसत्थकारणेहिं असज्झाइए सज्झायं करेज्जा—

रागेण व दोसेण वऽसज्झाए जो करेइ सज्झायं । आसायणा व का से ? को वा भणिओ अणायारो ? ॥ १४१२ ॥

व्याख्या—रागेण वा दोसेण वा करेज्जा, अहवा दरिसणमोहमोहिओ भणेज्जा—का अमुत्तस्स णाणस्स आसायणा ? को वा तस्स अणायारो ?, नास्तीत्यर्थः ॥ १४१२ ॥ तेसिमा विभासा—

---

१ तैरेव बहिरुपलिप्तो न करोति अनुपलिप्तः पुनरभ्यन्तरगतेष्वपि तेष्वर्चनां करोति या प्रतिमा देवताधिष्ठिता सा यदि कोऽपि अनादरेण आवर्त्तो बाह्यमलक्लिप्तो प्रतिमां स्पृशति अर्चनं वा तस्याः करोति तर्हि न क्षमते—क्षिप्तचित्तादि करोति रोगं वा जनयति मारयति वा एवं योऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं करोति तस्य ज्ञानाचारविराधनया कर्मबन्धः एष तस्य पारलौकिकस्तु दण्डः इहलोके प्रमत्तं देवता छलयेत् आज्ञाविराधना ध्रुवम् । कश्चित् एभिरप्रशस्तकारणैरस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कुर्यात् । रागेण वा द्वेषेण वा कुर्यात् अथवा दर्शनमोहमोहितो भणेत्—अमूर्त्तस्य ज्ञानस्य काऽऽशातना ? को वा तस्यानाचारः ? तेषामियं विभाषा

देवपत्तो एस, जंपि लोकधम्मविरुद्धं च तं न कायव्वं, अविहीए पमत्तो छम्मइ, तं देवया छलेज्जा, जहा विज्जासाहणवइगुण्णयाए विज्जा न सिज्झइ तहा इहंपि कम्मक्खओ न होइ। वैगुण्यं—वैधर्म्यं विपरीतभाव इत्यर्थः। धम्मयाए सुयधम्मस्स एस धम्मो जं असज्झाइए सज्झाइयवज्जणं, करंतो य सुयणाणायारं विराहेइ, तम्हा मा कुणसु ॥ १४०८ ॥ चोदक आह—जइ दंतमंससोणियाए असज्झाओ नणु देहो एयमओ एव, कहं तेण सज्झायं कुणह ?, आचार्य आह—

कामं देहावयवा दंताई अवजुआ, तहवि वज्जा। अणवजुआ न वज्जा लोए तह उत्तरे चेव ॥ १४०९ ॥

व्याख्या—कामं चोदकाभिप्रायअणुमयत्थे सच्च तम्मओ देहो, तहवि जे सरीराओ अवजुत्ति—पृथग्भूताः ते वज्जणिज्जा। जे पुण अणवजुत्ता—तत्थत्था ते नो वज्जणिज्जा, इत्युपदर्शने। एवं लोके दृष्टं लोकोत्तरेऽप्येवमेवेत्यर्थः ॥ १४११ ॥ किं चान्यत्—

अब्भिंतरमललित्तोवि कुणइ देवाण अच्चणं लोए। बाहिरमललित्तो पुण न कुणइ अवणेइ य तओ ण ॥ १४१० ॥

---

१ इत्थम एव वदति लोकधर्मविरुद्धं च तत्र कर्त्तव्यं अविधौ प्रमत्तो छल्यते तं देवता छलयेत् यथा विद्यासाधनवैगुण्यतया विद्या न सिध्यति तथेहापि कर्मक्षयो न भवति। धर्मतया—श्रुतधर्मस्यैव धर्मः यदस्वाध्यायिके स्वाध्यायस्य वर्जनं कुर्वन् श्रुतज्ञानाचारं विराधयति, तस्मात् मा कार्षीः। यदि दन्तमांसशोणितादिरस्वाध्यायिकं ननु देह एवम्मय एव कथं तेन स्वाध्यायं कुरुत? चोदकाभिप्रायानुमतार्थे सर्वं तन्मयो देहः तथापि ये शरीरात् पृथग्भूताः। वर्जनीयाः, न पुनः तत्रस्थास्ते न वर्जनीयाः।

व्याख्या—घणे धोयंमि निप्पगळे हत्थसय बाहिरओ पट्टगं दाउं वायए, परिगळमाणेण भिन्ने तंमि पट्टगे तस्स उवरिं छारं दाउ पुणो पट्टग देइ वायइ य, एवं तइयंपि पट्टगं बंधेज्ज वायण देज्जा, तओ परं गळमाणे हत्थसय बाहिरं गंतुं धण पट्टगे य धोविय पुनरनेनैव क्रमेण वायइ । अहवा अण्णत्थ पढंति ॥ १४०५ ॥

एमेव य समणीण वणम्मि इयरंमि सत्त बधा उ । तहवि य अठायमाणे धोएउं अहव अन्नत्थ ॥ १४०६ ॥

व्याख्या—इयरं तु—उउुगं, तत्थवि एवं चेव नवरं सत्त बधा उक्कोसेण कायव्वा, तहवि अठायंते हत्थसय बाहिरओ धोवेउं पुणो वाएति । अहवा अण्णत्थ पढंति ॥ १४०६ ॥

एएसामसयरेऽसज्झाए अप्पणो उ सज्झाय । जो कुणइ अजयणाए सो पावइ आणमाईणि ॥ १४०७ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा ॥ १४०७ ॥ न केवलमाज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति, इमे य—

सुअनाणमि अभत्ती लोअविरुद्धं पमत्तछलणा य । विज्जासाहणवइगुण्णधम्मया एव मा कुणसु ॥ १४०८ ॥

व्याख्या—सुयणाणे अणुवयारओ अभत्ती भवति, अहवा सुयणाणभत्तिरागेण असज्झाइए सज्झायं मा कुणसु,

---

१ घने धौते निष्पगले हस्तपुटात् बहिः पट्टकं दत्त्वा वाचयति परिगलता भिन्ने तस्मिन् पट्टके तस्योपरि क्षारं दत्त्वा पुनः पट्टकं ददाति वाचयति च एवं तृतीयमपि पट्टकं बध्नीयात् वाचनां च दद्यात् ततः परं गलति हस्तशतात् बहिर्गत्वा मनः पट्टकांश्च धावित्वा वाचयति अथवाऽन्यत्र पठन्ति । इतरस्यामेवं तथाप्येवमेव नवरं सप्त बन्धाः उत्कर्षेण कर्तव्याः तथाप्यतिष्ठति हस्तशताद्बहिर्धावित्वा पुनर्वाचयति अथवाऽन्यत्र पठन्ति इमे च । श्रुतज्ञानेऽनुपचारतोऽभक्तिर्भवति, अथवा श्रुतज्ञानभक्तिरागेणास्वाध्यायिके स्वाध्यायं मा कार्षीः

चेयवस्रो मत्त, जंपि लोगधम्मविरुद्धं च तं न कायव्वं, अविहीए पमत्तो छलिज्जइ, तं देवया छलेज्जा, जहा विज्जासाहणवइगुण्णयाए विज्जा न सिज्झइ तहा इहंपि कम्मक्खओ न होइ। वैगुण्यं—वैधर्म्यं विपरीतभाव इत्यर्थः। धम्मयाए सुयधम्मस्स एस धम्मो जं असज्झाइए सज्झायवज्जणं, करतो य सुयणाणायारं विराहेइ, तम्हा मा कुणसु ॥ १४०८ ॥ चोदक आह—जइ दंतमंससोणियाए असज्झाओ नणु देहो एयमओ एव, कहं तेण सज्झायं कुणह ?, आचार्य आह—

कामं देहावयवा दंताई अवजुआ, तहवि वज्जा। अणवजुआ न वज्जा लोए तह उत्तरे चेव ॥ १४०९ ॥

व्याख्या—कामं चोदकाभिप्राय अणुमयत्थे सव्वं तम्मओ देहो, तहवि जे सरीराओ अवजुयत्ति—पृथग्भूताः ते वज्जणिज्जा। जे पुण अणवजुया—तत्थत्था ते नो वज्जणिज्जा, इत्युपदर्शने। एवं लोके दृष्टं लोकोत्तरेऽप्येवमेवेत्यर्थः ॥ १४०९ ॥ किं चान्यत्—

अब्भिंतरमललित्तोवि कुणइ देवाण अच्चणं लोए। बाहिरमललित्तो पुण न कुणइ अवणेइ य तओ णं ॥ १४१० ॥

---

1 तदयम् एव। यदपि लोकधर्मविरुद्धं च तत् न कार्यं, अविधी प्रमत्तो छल्यते तं देवता छलयेत्, यथा विद्यासाधनवैगुण्यतया विद्या न सिध्यति तथेहापि कर्मक्षयो न भवति। धर्मतया—श्रुतधर्मस्य धर्मो यदस्वाध्यायिके स्वाध्यायस्य वर्जनं कुर्वन् श्रुतज्ञानाचारं विराधयति तस्मात् मा कार्षीः। यदि दन्तमांसशोणितास्वाध्यायिक ननु देह एतन्मय एव कथं तेन स्वाध्यायं कुरुत? चोदकाभिप्रायानुमतार्थे सर्वं तन्मयो देहः तथापि ये शरीरात् पृथग्भूतास्ते। वर्जनीयाः ये पुनः तदन्तस्ते न वर्जनीयाः।

पढ़ंचेति, अइ सुद्धं तो करेंति सज्झाय, नवयारहए सुताइणा णियमा हओ, (तओ)पढमाए पोरिसीए न करेंति सज्झायमिति गाथार्थः ॥ १३९९ ॥

पडुवियंमि सिलोगे छीए पडिलेह तिन्नि अन्नत्थ । सोणिय मुत्तपुरीसे घाणालोअं परिहरिज्जा ॥ १४०० ॥

व्याख्या—जदा पट्ठवणाए तिन्नि अज्झयणा समत्ता, तदा उवरिमेगो सिलोगो कड्ढियव्वो, तंमि समत्ते पट्ठवणं समप्पइ, बितियपादो गयत्थो 'सोणिय'त्ति अस्य व्याख्या—

आलोअंमि चिलमिणी गंधे अन्नत्थ गंतु पकरंति । वाघाइयकालंमी दंडग मरुआ नवरि नत्थि ॥ १४०१ ॥

व्याख्या—जत्थ सज्झायं करेंतेहिं सोणियवद्धिगा दीसंति तत्थ न करेंति सज्झायं, कडगं चिलिमिलिं वा अंतरे दातुं करेंति, जत्थ पुण सज्झायं चेव करेन्ताण मुत्तपुरीसकलेवरादीयाण गंधे अण्णंमि वा असुभगंधे आगच्छंते तत्थ सज्झायं न करेंति, अण्णंपि बंधणसेहणादिआलोयं परिहरेज्जा, एय सव्व निव्वाघाए काले भणियं ॥ वाघाइमकालोऽवि एवं चेव, नवरं गंडगमरुगदिट्ठंता न सम्भवंति ॥ १४०१ ॥

---

१ प्रस्थापयन्ति यदि शुद्धं तर्हि कुर्वन्ति स्वाध्यायं नवकारहते श्रुतादिना नियमात् हतकः प्रथमायां पौरुष्यां न कुर्वन्ति स्वाध्यायं । यदि प्रस्थापने त्रीण्यध्ययनानि समाप्तानि तदोपर्येकः श्लोकः कथयितव्यः तस्मिन् समाप्ते प्रस्थापनं समाप्यते द्वितीयपादो गतार्थः यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भिः शोणितबिन्दवो दृश्यन्ते तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं कटकं चिलिमिलिं वाऽन्तरा दत्त्वा कुर्वन्ति यत्र पुनः स्वाध्यायमेव कुर्वतां मूत्रपुरीषादिकलेवरादिकानां गन्धोऽन्यो वा गन्धोऽशुभ आगच्छति तत्र स्वाध्यायं न कुर्वन्ति अन्यमपि बन्धनसेधनाद्यालोकं परिहरेत् एतत् सर्वं निर्व्याघाते काले भणितं व्याघातकालोऽप्येवमेव नवरं गण्डकमरुकदृष्टान्तौ न संभवतः ।

पयत्तामक्खपरेऽसज्झाए जो करेइ सज्झाए । सो आणाअणवत्थं मिच्छत्त विराहणं पावे ॥ १४०२ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा ॥ १४०२ ॥ 'असज्झाइयं तु दुविहं' इत्यादिमूलद्वारगाथायां परसमुत्थमस्वाध्यायिकद्वारं समाप्तं गतं, इदानीमात्मसमुत्थास्वाध्यायिकद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

आयसमुत्थमसज्झाइयं तु एगविह होइ दुविह वा । एगविहं समणाणं दुविहं पुण होइ समणीणं ॥ १४०३ ॥

व्याख्या—पूर्वार्द्धं कण्ठ्यं, पश्चार्द्धव्याख्या त्वियं-एगविहं समणाणं तच्च व्रणे भवति, समणीण दुविह-व्रणे ऋतुसंभवे चेति गाथार्थः ॥ १४०३ ॥ एवं व्रणे विधान—

धोयम्मि उ निप्पगले बंधा तिन्नेव हुंति उक्कोसं । परिगलमाणे जयणा दुविहम्मि य होइ कायव्वा ॥ १४०४ ॥

व्याख्या—पढमं चिय वणो हत्थसय बाहिं धोविउं निप्पगलो कओ, ततो परिगलंते तिण्णि बंधा जाव उक्कोसेणं गाउंता वाएइ, तत्थ जयणा वक्खमाणलक्खणा, 'दुविहं'मिति दुविहं वणसंभवं उउयं च । दुविहेऽवि एवं पढ्ढ जयणा कायव्वा ॥ १४०४ ॥

समणो उ वणिव्व भगंदरिव्व बंधं करित्तु वाएइ । तहवि गलंते छारं दाउं दो तिन्नि बंधा उ ॥ १४०५ ॥

---

१ एकविधं श्रमणानां तच्च व्रणे भवति श्रमणीनां द्विविधं । एवं व्रणे विधान-प्रथममेव व्रणो हस्तशतात् बहिः प्रक्षाल्य निष्परगलः कृतः। ततः परिग-लति सति त्रयः बन्धाः यावदुत्कृष्टेन गव्यूतमात्रं वाचयति, तत्र यतना वक्ष्यमाणलक्षणा द्विविधं व्रणसंभवमार्तवं च द्विविधेऽप्येवं प्रकृष्टतया कर्तव्या

पट्ठवेंति, जइ सुत्तं तो करेंति सज्झायं, नववारइए सुत्ताइणा णियमा इओ, (तओ) पढमाए पोरिसीए न करेंति सज्झायमिति गाथार्थः ॥ १३९९ ॥

पढवियम्मि सिलोगे छीए पडिलेह तिन्नि अन्नत्थ । सोणिय मुत्तपुरीसे घाणालोअं परिहरिज्जा ॥ १४०० ॥

व्याख्या—जदा पट्ठवणाए तिन्नि अज्झयणा समत्ता, तदा उवरिमेगो सिलोगो कड्ढियव्वो, तंमि समत्ते पट्ठवणं समप्पइ, बितियपादो गयत्थो 'सोणिय'त्ति अस्य व्याख्या—

आलोअम्मि चिलमिणी गंधे अन्नत्थ गंतु पकरंति । वाघाइयकालम्मी दंडग मरुआ नवरि नत्थि ॥ १४०१ ॥

व्याख्या—जत्थ सज्झायं करेंतेहिं सोणियवच्चिगा दीसति तत्थ न करेंति सज्झायं, कडग चिलिमिलिं वा अंतरे दाउं करेंति, जत्थ पुण सज्झायं चेव करेन्ताण मुत्तपुरीसकलेवरादीयाण गंधे अण्णम्मि वा असुभगंधे आगच्छंते तत्थ सज्झायं न करेंति, अण्णपि वधणसेहणादिआलोयं परिहरेज्जा, एयं सव्वं निव्वाघाए काले भणियं ॥ वाघाइमकालोऽवि एस चेव, नवरं गंडगमरुगदिट्ठंता न संभवंति ॥ १४०१ ॥

---

१ प्रस्थापयन्ति यदि श्रुतं तर्हि कुर्वन्ति स्वाध्यायं नववारहते श्रुतादिना नियमात् इतस्ततः प्रथमायां पौरुष्यां न कुर्वन्ति स्वाध्यायं। यदि प्रस्थापने त्रीण्यध्ययनानि समाप्तानि तदोपरितन एकः श्लोकः कथयितव्यः तस्मिन् समाप्ते प्रस्थापनं समाप्यते द्वितीयपादो गतार्थः यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भिः शोणितवर्चिका दृश्यते तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं कटकं चिलिमिलिं वाऽन्तरा दत्त्वा कुर्वन्ति यत्र पुनः स्वाध्यायमेव कुर्वतां मूत्रपुरीषादिकलेवरादिगन्धोऽन्यो वा गन्धोऽशुभ आयाति तत्र स्वाध्यायं न कुर्वन्ति अन्यमपि वन्धनसेधनाद्यालोकं परिहरेत्, एतत् सर्वं निर्व्याघाते काले भणितं व्याघातवत्कालोऽप्येष एव नवरं गण्डकमरुकदृष्टान्तौ न संभवतः ।

पयसामज्जयरेऽसज्झाए जो करेइ सज्झायं । सो आणाअणवत्थं मिच्छत्त विराहणं पावे ॥ १४०२ ॥

व्याख्या—निगदसिद्धा ॥ १४०२ ॥ 'असज्झाइयं तु दुविहं' इत्यादिमूलद्वारगाथायां परसमुत्थमस्वाध्यायिकद्वारं समाप्तं गतं, इदानीमात्मसमुत्थास्वाध्यायिकद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

आयसमुत्थमसज्झाइयं तु एगविह होइ दुविह वा । एगविहं समणाण दुविहं पुण होइ समणीण ॥ १४०३ ॥

व्याख्या—पूर्वार्द्धं कण्ठ्यं, पश्चार्द्धव्याख्या त्वियं—[1]एगविहं समणाणं तच्च व्रणे भवति, समणीणं दुविहं—व्रणे ऋतुसंभवे चेति गाथार्थः ॥ १४०३ ॥ एवं व्रणे विधानं—

धोयंमि उ निप्पगले बंधा तिन्नेव हुंति उक्कोसं । परिगलमाणे जयणा दुविहंमि य होइ कायव्वा ॥ १४०४ ॥

व्याख्या—पढमं चिय वणो हत्थसय बाहिं धोविधु निप्पगलो कओ, तओ परिगलंते तिण्णि बंधा जाव उक्कोसेणं गाळंतो वायइ, तत्थ जयणा वक्खमाणलक्खणा, 'दुविह'मिति दुविहं वणसंभवं उउयं च । दुविहेऽवि एवं चेव जयणा कायव्वा ॥ १४०४ ॥

समणो उ वणिव्व भगंदरिव्व बंध करित्तु वाएइ । तहवि गलंते छारं दाउं दो तिन्नि बंधा उ ॥ १४०५ ॥

---

1 एकविधं श्रमणानां तच्च व्रणे भवति, श्रमणीनां द्विविधं । एवं व्रणे विधानं-प्रथममेव व्रणो हस्तशताद् बहिः प्रक्षाल्य निष्प्रगलः कृतः ततः परिगलति त्रयो बन्धाः यावदुत्कृष्टेन गालयन्नपि वाचयति, तत्र यतना वक्ष्यमाणलक्षणा द्विविधं व्रणसंभवमार्तवं च द्विविधेऽप्येवं यतना कर्त्तव्या

पट्ठवेंति, अइ सुद्धं तो करेंति सज्झाय, नवकारादिए सुत्ताइणा णियमा हओ, (तओ)पढमाए पोरिसीए न करेंति सज्झायमिति गाथार्थः ॥ १३९९ ॥

पट्ठवियम्मि सिलोगे छीए पडिलेह तिन्नि अज्झत्थ । सोणिय मुत्तपुरीसे घाणालोअं परिहरिज्जा ॥ १४०० ॥

व्याख्या—जदा पट्ठवणाए तिन्नि अज्झयणा समत्ता, तदा उवरिमेगो सिलोगो कड्ढियव्वो, तंमि समत्ते पट्ठवणं समप्पइ, बितियपादो गयत्थो 'सोणिय'त्ति अस्य व्याख्या—

आलोअंमि चिलमिणी गंधे अन्नत्थ गंतु पकरेंति । वाघाइयकालम्मी गंडग मरुआ नवरि नत्थि ॥ १४०१ ॥

व्याख्या—जत्थ सज्झायं करेंतेहिं सोणियवच्चिगा दीसति तत्थ न करेंति सज्झायं, कडग चिलिमिलिं वा अंतरे दातुं करेंति, जत्थ पुण सज्झायं चेव करेन्ताण मुत्तपुरीसकलेवरादीयाण गधे अण्णंमि वा असुभगंधे आगच्छंते तत्थ सज्झायं न करेंति, अण्णंपि अवधसेवणादिआलोय परिहरेज्जा, एयं सव्वं निवाघाए काले भणियं ॥ वाघाइमकालोऽवि एवं चेव, नवरं गंडगमरुगदिट्ठंता न संभवंति ॥ १४०१ ॥

---

१ प्रस्थापयन्ति, यदि शुद्धं तर्हि कुर्वन्ति स्वाध्यायं नवकारादेः सूत्रादिना नियमात् हतः प्रथमायां पौरुष्यां न कुर्वन्ति स्वाध्यायं। यदि प्रस्थापने त्रीण्यध्ययनानि समाप्तानि तदोपर्येकः श्लोकः कथयितव्यः तस्मिन् समाप्ते प्रस्थापनं समाप्यते द्वितीयपादो गतार्थः यत्र स्वाध्यायं कुर्वतां शोणितवर्त्तिका दृश्यन्ते तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं अथवा चिलिमिलिं वा अन्तरा दत्त्वा कुर्वन्ति यत्र पुनः स्वाध्यायमेव कुर्वतां मूत्रपुरीषादिकलेवरादिकानां गन्धोऽन्यो वा गन्धोऽशुभ आगच्छति तत्र स्वाध्यायं न कुर्वन्ति, अन्यदपि अवधसेवनाद्यालोकं परिहरेत्, एतत् सर्वं निर्व्याघाते काले भणितं व्याघातकालोऽप्येवमेव नवरं गण्डकमरुकदृष्टान्तौ न संभवतः।

ठाणवत्तं, तं अण्णेणावि वीसरेण उवहणइ, महंतं उस्सुमरोवणेण उवहणइ, पाभाइयकालग्गहणविही गता, इयाणिं पाभाइयपट्ठवणविही, 'गोसे दर' पच्छद्धं, 'गोसि'त्ति, उदियमादिच्चे, दिसालोयं करेत्ता पट्ठवेंति, 'दरपट्ठविए'त्ति अद्ध पट्ठविए जइ छीतादिणा भग्ग पट्ठवणं अण्णो दिसालोयं करेत्ता तत्थेव पट्ठवेति, एवं ततियवाराए। दिसावलोयकरणे इमं कारणं—

आइन्न पिसिय महिया पेहित्ता तिन्नि तिन्नि ठाणाइं। नववारहए काले हयत्ति पढमाइं न पढंति ॥ १३९९ ॥

व्याख्या—'आइण्णा पिसिय'त्ति आइण्णं—पोग्गलं तं कागमाईहिं आणियं होज्जा, महिया वा पडिउमारद्धा, एवमाई एगठाणे ततो वारा उवहए हत्थसयपाहिं अण्णं ठाणं गंतुं पेहेंति—पडिलेहेंति, पट्ठविंतित्ति वुत्तं भवति, तत्थवि पुव्वुत्त विहिणा तिन्नि वारा पट्ठवेंति, एवं बितियठाणेवि असुद्धे तओवि हत्थसयं अन्न ठाणं गंतुं तिन्नि वारा पुव्वुत्तविहाणेण

१ तावदेवक, तदन्तेनापि विसरेणोपहन्ति महता उदुमरतोदनेनोपहन्ति प्राभातिककालग्रहणविधिर्गतः इदानीं प्राभातिकप्रस्थापनविधि— र्दिश आदिम दिगवलोकं कृत्वा प्रस्थापयन्ति अर्धप्रस्थापिते यदि क्षुतादिना भग्न प्रस्थापन अन्यो दिगवलोकं कृत्वा तत्रैव प्रस्थापयति एवं तृतीयवारायामपि दिगवलोककरणे इह इदं कारणं। आचीर्णं पुद्गल तत् काकादिभिरानीतं भवेत् महिका वा पतितुमारब्धा एवमादिभिरेकस्थाने त्रयो वारा उपहताः हस्तशतात् अन्यस्मिन् स्थाने गत्वा प्रतिलेखयन्ति प्रस्थापयन्ति इत्युक्तं भवति तत्रापि पूर्वोक्तविधिना त्रीन् वारान् प्रस्थापयन्ति एवं द्वितीयस्थाने अशुद्धे ततोऽपि हस्तशतात्परतोऽन्यस्मिन् स्थाने गत्वा त्रीन् वारान् पूर्वोक्तविधानेन

एक्कमि वा गिण्हंतीति ॥ २२५ ॥ 'परवयणे खरमाई' अस्य व्याख्या 'चोयइ खरो पच्छद्धं' चोदक आह—जदि रुदतिमणिट्ठे काल वहो ततो खरेण रडिते बारह वरिसे उवहंमउ, अण्णेसुवि अणिट्ठइंदियविसएसु एव चेव कालवहो भवतु !, आचार्य आह—

चोअग माणुसऽणिट्ठे कालवहो सेसगाण उ पहारो । पावासुआइ पुव्विं पन्नवणमणिच्छ उग्घाडे ॥२२६(भा०)॥

व्याख्या—माणुससरे अणिट्ठे कालवहो 'सेसग'त्ति तिरिया तेसिं जइ अणिट्ठो पहारसद्दो सुवइ तो कालवधो, 'पावासिय'त्ति मूलगाथायां योऽवयवः अस्य व्याख्या—'पावासुयाय' पच्छद्धं, जइ पाभाइयकालग्गहणवेलाए पावासियभज्जा पइणो गुणे समरंती दिवे दिवे रोएज्जा, रुयणवेलाए पुव्वयरो कालो घेत्तव्वो, अहवा सावि पच्चुसे रोएज्जा ताहे दिवा गतु पण्णविज्जइ, पण्णवणमनिच्छाए उग्घाडणकाउस्सग्गो कीरइ ॥ २२६ ॥ 'पयमादीणि'त्ति अस्यावयवस्य व्याख्या—

वीसरसद्दरुअंते अव्वत्तगडिंभगंमि मा गिण्हे । गोसे दरपट्ठविए छीए छीए तिगी पट्ठे ॥ २२७ (भा०)॥

व्याख्या—अच्चायासेण रुयंत वीरस भण्णइ, तं उवहणए, जं पुण महुरसद्द घोलमाणं च त न उवहणति, आयमअपिरं

---

१ एकस्मिन् वा गृह्णन्ति । चोदयति खरः पश्चार्धं यदि रोदनानिष्टे कालवधो रटिते ततः खरेण द्वादश वर्षाण्युपहन्यतां (काल) मन्येष्वपि अनिष्टेन्द्रियविषय ष्वेवमेव कालवधो भवतु । मनुष्यस्वरेऽनिष्टे कालवधः शेषा—तिर्यञ्चस्तेषां यदि अनिष्टः प्रहारशब्दः श्रूयते तर्हि कालवधः यदि प्राभातिककालग्रहणवेलायां प्रोषितपतिका स्त्री पत्युर्गुणान् स्मरन्ती दिवसे २ रोदिति रोदनवेलायाः पूर्वमेव कालो ग्रहीतव्यः, अथ च साऽपि प्रत्युषसि रुद्यात् तदा दिवसे गत्वा प्रज्ञाप्यते, प्रज्ञापनामनिच्छन्त्यां उद्घाटनकायोत्सर्गः क्रियते । अत्यायासेन रोदनं तद् विरसं भण्यते, उपहन्ति, यत् पुनर्घोलमानं मधुरशब्दं च तन्नोपहन्ति

पावश्यकस्य

तावच्चे, तं अप्पेणवि चीरेण उवहणइ, महंतं वसुंभरोवणेण उवहणइ, पामाइयकालमाइयविही गवा, इयाणिं पाभाइयपट्ठवणविही, 'गोसे दर' पच्छद्धं, 'गोसि'त्ति, उदियमाणिए, दिसाओयं करेत्ता पट्ठवेंति, 'दरपट्ठविए'त्ति अद्ध पट्ठविए जइ छीयादिणा भग्गं पट्ठवणं अण्णो दिसाओयं करेत्ता तत्थेव पट्ठवेति, एवं तत्तियवाराए। दिसावलोयकरणे इम कारणं—

आइन्न पिसिय महिया पेहित्ता तिन्नि तिन्नि ठाणाइं। नववारहए काले हयत्ति पढमाइ न पढंति ॥ १३९९ ॥

व्याख्या—'आइण्णा पिसिय'त्ति आइण्णं—पोग्गलं तं कागमादीहिं आणियं होज्जा, महिया वा पडिउमारद्धा, एवमाई एगठाणे तओ वारा उवहए हत्थसयबाहिं अण्णं ठाणं गंतुं पेहंति—पडिलेहेंति, पट्ठविंतित्ति वुत्तं भवति, तत्थवि पुव्वुत्त-विहिणा तिन्नि वारा पट्ठवेंति, एव बितियठाणेवि असुद्धे तओवि हत्थसयं अन्नं ठाणं गंतुं तिन्नि वारा पुव्वुत्तविहाणेण

1 तावत्तत्र, तदल्पेनापि क्षुतेनोपहन्ति महान्, वसुभरोपनेनोपहन्ति मायाविकालमहत्तविधिर्गता इदानीं प्राभातिकप्रस्थापनविधि—र्गते आदिम दिगवलोक कृत्वा प्रस्थापयति अर्धप्रस्थापिते यदि क्षुतादिना भग्नं प्रस्थापनं अन्यो दिगवलोकं कृत्वा तत्रैव प्रस्थापयति एवं तृतीयवाराया-मपि दिगवलोककरण इह पुनः कारण। आकीर्णं पुद्गलं तत् काकादिभिरानीतं भवेत् महिका वा पतितुमारब्धा एवमादिभिरेकस्थाने उपहते त्रीन् वारान् हस्तशतात् बहिरन्यस्मिन् स्थाने गत्वा प्रतिलेखयन्ति प्रस्थापयन्ति इत्युक्तं भवति तत्रापि पूर्वोक्तविधिना त्रिरो वारान् प्रस्थापयन्ति एवं द्वितीयस्थाने ऽप्यशुद्धे ततोऽपि हस्तशतान्तरतोऽन्यस्मिन् स्थाने गत्वा त्रीन् वारान् पूर्वोक्तविधानेन

कारणतो णे सुज्झति वा पाओसिएण वा सुपडियग्गिएण पढति न गेण्हंति, वेरत्तिय कारणओ न गिण्हंति न सुज्झइ वा, पाओसिय अड्ढरत्तेण वा पढति, तिन्नि वा णो गेण्हंति, पाभाइयं कारणओ न गिण्हइ न सुज्झइ वा वेरत्तिएणेव दिवसओ पढति ॥ ११९७ ॥ इयाणिं पाभाइयकालग्गहणविहिं पत्तेयं भणामि—

पाभाइयकालंमि उ संचिक्खे तिन्नि छीयरुन्नाणि । परवयणे खरमाई पावासुय एवमादीणि ॥ ११९८ ॥

व्याख्या त्वस्या भाष्यकारः स्वयमेव करिष्यति । तत्थ पाभाइयंमि काले गहणविही पट्ठवणविही य, तत्थ गहणविही इमा—

नवकालवेलसेसे उवग्गहियअट्ठया पडिक्कमइ । न पडिक्कमइ वेगो नववारहए धुवमसज्झाओ ॥(भा०२२४)॥

व्याख्या—दिवसओ सज्झायविरहियाण देसादिकहासंभवरक्खणट्ठा मेहावीतराण य पढिभगयरक्खणट्ठा, एवं सव सिसाणुग्गहट्ठा नवकालग्गहणकाला पाभाइए अणुण्णाया, अओ नवकालग्गहणवेलाहिं सेसाहिं पाभाइयकालग्गाही

---

१ कारणतो न शुध्यति वा प्रादोषिकेण वा सुप्रतिजागरितेन पठन्ति न गृह्णन्ति वैरात्रिकं कारणतो न गृह्णन्ति न शुध्यति वा प्रादोषिकमर्धरात्रिकाभ्यामेव पठन्ति त्रीन् वा न गृह्णन्ति प्राभातिकं कारणतो न गृह्णाति न शुध्यति वा वैरात्रिकेणैव दिवसे पठन्ति । इदानीं प्राभातिककालग्रहणविधिं पृथक् भणामि—तत्र प्राभातिके काले ग्रहणविधिः प्रस्थापनविधिश्च—तत्र ग्रहणविधिरयं दिवसे स्वाध्यायविरहितानां देशादिकथासंभवरक्षणार्थं मेधाविनामितरेषां च विस्मरणभयार्थं एवं सर्वेषामनुग्रहार्थं नवकालग्रहणकालाः प्राभातिकेऽनुज्ञाताः अतो नवकालग्रहणवेलासु शेषासु प्राभातिककालग्राही

कालस्स पडिक्कमति, सेसावि तं वेलं पडिक्कमंति वा न वा, एगो नियमा न पडिक्कमइ, जइ छीयरुदिताईहिं न सुज्झइ तो सो चेव वेरत्तिओ सुपडिजग्गिओ होहितित्ति। सोवि पडिक्कंतेसु गुरुणो कालं निवेदित्ता अणुदिए सूरिए कालस्स पडिक्कमति, जइ चेप्पंतो नववारे उवहओ कालो तो नज्जइ धुवमसज्झाइयमत्थित्ति न करेंति सज्झायं ॥ २२४ ॥
नववारगहणविही इमो–'सचिक्खे तिण्णि छीयरुण्णाणि'त्ति अस्स व्याख्या—

इक्किक्क तिन्नि वारे छीयाइहयंमि गिण्हए कालं।
चोएइ खरो बारस अणिट्ठविसए अ कालवहो ॥ २२५ ॥ (भा०) ॥

व्याख्या—एक्कस्स गिण्हओ छीयरुयादिहए सचिक्खइत्ति ग्रहणाद्विरमतीत्यर्थः, पुणो गिण्हइ, एवं तिण्णि वारा, तओ परं अण्णो अण्णंमि थंडिले तिण्णि वाराउ, तस्सवि उवहए अण्णो अण्णंमि थंडिले तिण्णि वारा, तिण्हं असई दोण्णि जणा णव वाराओ पूरेइ, दोण्हवि असतीए एक्को चेव णववाराओ पूरेइ, थंडिलेसुवि अववाओ, तिसु दोसु वा

1 कालस्य प्रतिक्राम्यति शेषास्तु तस्यां वेलायां प्रतिक्राम्यन्ति वा न वा एकः नियमात् प्रतिक्राम्यति यदि क्षुतरोदनादिभिर्न शुध्यति तदा स एव वैरात्रिकः सुप्रतिजागरितो भविष्यतीति। सोऽपि प्रतिक्रान्तेषु गुरोः कालं निवेद्यानुदिते सूर्ये कालस्य प्रतिक्राम्यति यदि गृह्यमाणे नववारानुपहतः काल-स्तर्हि ज्ञायते ध्रुवमस्वाध्यायिकमस्ति इति न कुर्वन्ति स्वाध्याय। नववारग्रहणविधिरयं–एकस्मिन् गृह्णति क्षुतरुदितादिभिर्हते सचिक्खते। पुनर्गृह्णाति एवं त्रीन् वारान् ततः परमन्योऽन्यस्मिन् स्थण्डिले त्रीन् वारान् तस्याप्युपहतेऽन्योऽन्यस्मिन् स्थण्डिले त्रीन् वारान्, त्रयाणामसति द्वौ जनौ नव वारान् पूरयतः द्वयोरप्यसत्येक एव नव वारान् पूरयति, स्थण्डिलेष्वप्यपवादः त्रिषु द्वयोर्वा

कारणतो णं सुज्झति वा पाओसिएण वा सुपडियग्गिएण पढंति न गेण्हंति, वेरत्तियं कारणओ न गिण्हति न सुज्झइ वा, पाओसिय अड्ढरत्तेण वा पढंति, तिसि वा णो गेण्हति, पाभाइयं कारणओ न गिण्हइ न सुज्झइ वा वेरत्तिएणेव दिवसओ पढंति ॥ ११९७ ॥ इयाणिं पाभाइयकालग्गहणविहिं पत्तेयं भणामि—

पाभाइयकालंमि उ संखिवक्खे तिन्नि छीयरुन्नाणि । परवयणे खरमाई पावासुय एवमादीणि ॥ ११९८ ॥

व्याख्या स्वस्या भाष्यकारः स्वयमेव करिष्यति । तत्थ पाभाइयंमि काले गहणविही पट्ठवणविही य, तत्थ गहणविही इमा—

नवकालवेलसेसे उवग्गहियअट्ठया पडिक्कमइ । न पडिक्कमइ वेगो नववारहए धुवमसज्झाओ ! ॥(भा०२२४)॥

व्याख्या—दिवसओ सज्झायविरहियाण देसादिकहासंभववज्जणट्ठा मेहावीतराण य पलिभंगवज्जणट्ठा, एवं सव्वेसिमणुग्गहट्ठा नवकालग्गहणकाला पाभाइए अणुण्णाया, अओ नवकालग्गहणवेलाहिं सेसाहिं पाभाइयकालग्गाही

---

१ कारणतो न शुध्यति वा प्रादोषिकेन वा सुप्रतिजागरितेन पठन्ति न गृह्णन्ति वैरात्रिकं कारणतो न गृह्णन्ति न शुध्यति वा प्रादोषिकार्धरात्रिकाभ्यामेव पठन्ति तिस्रो वा न गृह्णन्ति प्राभातिकं कारणतो न गृह्णाति न शुध्यति वा वैरात्रिकेणैव दिवसे पठन्ति । इदानीं प्राभातिककालग्रहणविधिं पृथक् भणामि—तत्र प्राभातिके काले ग्रहणविधिः प्रस्थापनविधिश्च—तत्र ग्रहणविधिरयं दिवसे स्वाध्यायविरहितानां देशादिकथासंभववर्जनाय मेधाविनामवितरेषां च निर्जरार्थं, एवं सर्वेषामनुग्रहायैव नवकालग्रहणकालाः प्राभातिकेऽनुज्ञाताः अतो नवकालग्रहणवेलासु शेषासु प्राभातिककालग्राही

चक्कियणियंमि पढमे बीयपक्खिवआ हवंति तिकेव । पाओसिए वेरत्तिए अइक्कमोगा य दुण्णि भवे ॥११९७॥

गाथाद्वयस्यापि व्याख्या—वेरत्तिए अगहिए सेसेसु तिसु गहिएसु तिण्णि, अड्ढरत्तिए वा अगहिए तिण्णि, दोण्णि कहं ?, उच्यते, पाउसियअड्ढरत्तिएसु गहिएसु सेसेसु अगहिएसु दोण्णि भवे, अहवा पाउसियवेरत्तिए गहिए य दोण्णि, अहवा पाउसियपाभाइएसु अगहिएसु दोण्णि, एत्थवि कप्पे पाउसिए चेव अणुवहएण उवओगओ सुपडियग्गिएण सव्वकालेय पढंति न दोसो, अहवा वेरत्तिय अड्ढरत्तियेऽगहिए दोण्णि अहवा अड्ढरत्तियपाभाइयगहिएसु दोण्णि अहवा वेरत्तियपाभाइएसु गहिएसु, जदा एक्का तदा अण्णतर गेण्हइ । कालचउक्ककारणा इमे कालचउक्के गहणं उस्सग्गविही चेव, अहवा पाओसिए गहिए उवहए अड्ढरत्तं पसु सज्झाय करेंति, पाभाइओ दिवसट्ठा घेप्पो चेव, एवं कालचउक्कं दिट्ठं, अणुवहए पाओसिए सुपडियग्गिए सव्व राइ पढंति, अड्ढरत्तिएणवि वेरत्तियं पढंति, वेरत्तिएणवि अणुवहएण सुपडियग्गिएण पाभाइए असुद्धे उद्दिट्ठे दिवस-ओवि पढति । कालचउक्क अग्गहणकारणा इमे—पाउसियं न गिण्हति असिवादिकारणओ न सुज्झति वा, अड्ढरत्तियं न गिण्हति

१ वैरात्रिकेऽगृहीते शेषेषु त्रिषु गृहीतेषु त्रयः अर्धरात्रिके वाऽगृहीते त्रयः, द्वौ कथं ? उच्यते प्रादोषिकार्धरात्रिकयोर्गृहीतयोः शेषयोरगृहीतयोर्द्वौ भवतः, अथवा प्रादोषिकवैरात्रिकयोर्गृहीतयोर्द्वौ च अथवा प्रादोषिकप्राभातिकयोरगृहीतयोर्द्वौ अत्रापि कल्पे प्रादोषिकेणैवानुपहतेनोपयोगतः सुप्रतिजागरितेन सर्वकालं पठन्ति न दोषः अथवा वैरात्रिके अर्धरात्रिकेऽगृहीते द्वौ अथवा अर्धरात्रिकप्राभातिकयोर्गृहीतयोर्द्वौ अथवा वैरात्रिकप्राभातिकयोर्गृहीतयोः यदा एकस्तदाऽन्यतरं गृह्णाति । कालचतुष्कग्रहणकारणमिदम्—कालचतुष्कग्रहणम् उत्सर्गविधिरेव अथवा प्रादोषिके गृहीते उपहतेऽर्धरात्रं गृहीत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति प्राभातिकस्तु दिवसार्थं ग्राह्य एव एवं कालचतुष्कं दृष्टं, अनुपहते प्रादोषिके सुप्रतिजागरिते सर्वां रात्रिं पठन्ति अर्धरात्रिकेणापि वैरात्रिकं पठन्ति वैरात्रिकेणानुपहतेन सुप्रतिजागरितेन प्राभातिके कालेऽशुद्धे उद्दिष्टे दिवसेऽपि पठन्ति । कालचतुष्कस्याग्रहणकारणमिदम्—प्रादोषिकं न गृह्णन्ति अशिवादिकारणतः न शुध्यति वा अर्धरात्रिकं न गृह्णन्ति

भवति, एकंमि अगहिए इत्यर्थः, बितिए हत्थिपदे कए दुगं भवति, द्वयोरग्रहणत इत्यर्थः, एवममायाविणो तिन्नि वा अगिण्हंतस्स एक्को भवति, अहवा मायाविमुक्कस्स कारणे एकमपि कालमगृह्णतो न दोषः, प्रायश्चित्तं न भवतीति गाथार्थः ॥ १३९४ ॥ कह पुण कालचउक्क ?, उच्यते—

फिडियमि अद्धरत्ते कालं घित्तु सुवंति जागरिया । ताहे गुरू गुणती चउत्थि सव्वे गुरू सुवइ ॥ १३९५ ॥

व्याख्या—पादोसियं कालं घेत्तुं सवे सुत्तपोरिसिं कातुं पुन्नपोरिसीए सुत्तपाढी सुवंति, अत्थचिंतया उक्कालियपाढिणो य जागरंति, जाव अद्धरत्तो, ततो फिडिए अद्धरत्ते कालं घेत्तुं जागरिया सुवंति, ताहे गुरू उट्ठेत्ता गुणेंति, जाव चरिमो पत्तो, चरिमजामे सवे उट्ठित्ता वेरत्तियं घेत्तु सज्झायं करेंति, ताहे गुरू सुवंति । पत्ते पाभाइयकाले जो पाभाइयं कालं घेच्छिहिति सो कालस्स पडिक्कमित्तुं पाभाइयकालं गेण्हइ, सेसा कालवेलाए पाभाइयकालस्स पडिक्कमंति, ततो आवस्सयं करेंति, एवं चउरो काला भवंति ॥ १३९५ ॥ तिण्णि कहं ?, उच्यते, पाभाइए अगहिए सेसा तिन्नि, अहवा—

गहियंमि अद्धरत्ते वेरत्तिय अगहिए भवइ तिन्नि । वेरत्तिय अद्धरत्ते अह उवओगा भवे दुण्णि ॥ १३९६ ॥

---

१ भवति एकस्मिन्नगृहीते । द्वितीयस्मिन् हास्तिपदे कृते द्विकं भवति एवममायाविनस्त्रीन् वाऽगृह्णत एको भवति अथवा कथं पुनः कालचतुष्कं ? । प्रादोषिकं कालं गृहीत्वा सर्वे सूत्रपौरुषीं कृत्वा पूर्णायां पौरुष्यां सूत्रपाठिनः स्वपन्ति अर्थचिन्तका उत्कालिकपाठकाश्च जाग्रति यावदर्धरात्रः ततः स्फिटितेऽर्धरात्रे कालं गृहीत्वा जागरिताः स्वपन्ति तदा गुरवः उत्थाय गुणयन्ति यावच्चरमः यामः चरमे यामे सर्वे उत्थाय वैरात्रिकं गृहीत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति तदा गुरवः स्वपन्ति प्राप्ते प्राभातिककाले यः प्राभातिकं कालं ग्रहीष्यति स कालं प्रतिक्रम्य प्राभातिककालं गृह्णाति शेषाः कालवेलायां प्राभातिककालस्य प्रतिक्राम्यन्ति, तत आवश्यकं कुर्वन्ति, एवं चत्वारः काला भवन्ति त्रयः कथं ? उच्यते प्राभातिकेऽगृहीते शेषास्त्रयः, अथवा-

गिण्हइ, तत्थवि उज्झिमो निसण्णो वा, नवरं पडियरगोवि अंतो ठिओ चेव पडियरइ, एस पाभाइए गण्हुवगहण अववायविही, सेसा काला ठाणाउति न घेत्तवा, भाइण्णतो वा आचियवं ॥ ११९२ ॥ कस्स कालस्स कं दिसमभिमुहेहिं ठायव्वमिति भाण्यते—

पाओसि अड्ढरत्ते उत्तरदिसि पुव्व पेहए कालं । वेरत्तियंमि भयणा पुव्वदिसा पच्छिमे काले ॥ ११९३ ॥

व्याख्या—पाओसिए अड्ढरत्तिए नियमा उत्तराभिमुहो ठाइ, 'वेरत्तिए भयण'त्ति इच्छा उत्तराभिमुहो पुव्वाभिमुहो वा, पाभाइए नियमा पुव्वामुहो ॥ ११९३ ॥ इयाणिं कालगहणपरिमाणं भण्णइ—

कालचउक्कं उक्कोसएण जहन्न तियं तु बोद्धव्वं । बीयपएण तु दुगं मायामयविप्पमुक्काण ॥ ११९४ ॥

व्याख्या—उस्सग्गे उक्कोसेण चत्तारि काला घेप्पंति, उस्सग्गे चेव जहण्णेण तिगं भवति, 'बितियपए'त्ति अववाओ, तेण कालदुगं भवति, अमायाविनः कारणे अगृह्यमाणस्येत्यर्थः, अहवा उक्कोसेणं चउक्कं भवति, जहण्णेण हाणिपदे तिग

---

१ गृह्णाति तथाप्यूर्ध्वस्थितो निषण्णो वा नवरं प्रतिचारकोऽपि अन्तःस्थित एव प्रतिचरति एष प्राभातिके ग्रहणोपग्रहापवादविधिः शेषाः कालाः स्थानअ्यति न ग्रहीतव्याः, आचरणता वा ज्ञातव्य । कस्मिन् काले कां दिशमभिमुखैः स्थातव्यमिति । प्रादोषिके अर्धरात्रिके नियमादुत्तराभिमुखस्तिष्ठति वैरात्रिके भजनेति इच्छया उत्तराभिमुखः पूर्वाभिमुखो वा, प्राभातिके नियमात् पूर्वाभिमुखः । इदानीं कालग्रहणपरिमाणं भण्यते—उत्सर्गे उत्कृष्टतश्चत्वारः काला गृह्यन्ते उत्सर्गे एव जघन्येन त्रिकं भवति द्वितीयपदमिति अपवादः तेन कालद्विकं भवति । अथवोत्कृष्टतश्चतुष्कं भवति जघन्येन हानिपदे त्रिक

व्याख्या—अस्य ठिओ वासाकाले तिसिवि दिसा पेक्खइ तत्थ ठिओ पाभाइय कालं गेण्हइ, सेसेसु तिसुवि कालसु वासासु (उडुबद्धे सव्वेसु) जत्थ ठिओ चउरोवि दिसाभागे पेच्छइ तत्थ ठिओऽवि गेण्हइ ॥ १९९० ॥ 'उडुबद्धे तारगा तिन्नि' अस्य व्याख्या—

तिसु तिन्नि तारगाओ उडुंमि पाभातिए अदिट्ठेऽवि। वासासु [प] तारगाओ चउरो छन्ने निविट्ठोऽवि ॥१९९१॥

व्याख्या—तिसु कालेसु पाओसिए अड्ढरत्तिए वेरत्तिए, जति तिन्नि ताराओ जहण्णेण पेच्छंति तो गिण्हति, उडुबद्धे चेव अब्भादिसंथडे अइवि एक्कंपि तारं न पिच्छंति तहावि पाभाइय काल गेण्हति, वासाकाले पुण चउरोवि काला अब्भाइसंथडे तारासु अदीसंतासुवि गेण्हंति ॥ १९९१ ॥ 'छन्ने निविट्ठो'त्ति अस्य व्याख्या—

ठाणासइ बिंदूसु अ गिण्हइ चिट्ठोवि पच्छिमं कालं। पडियरइ बहिं एक्को एक्को [प] अंतट्ठिओ गिण्हे ॥१९९२॥

व्याख्या—जदिवि वसहिस्स बाहिं कालग्गाहिस्स ठाणो नत्थि ताहे अंतो छण्णे उद्धट्ठिओ गेण्हति, अह उद्धट्ठियस्सवि अंतो ठाओ नत्थि ताहे छण्णे चेव निविट्ठो गिण्हइ, बाहिट्ठिओवि एक्को पडियरइ, वासबिंदुसु पडंतीसु नियमा अंतोठिओ

१ यत्र स्थितो वर्षारात्रकाले स्थितोऽपि तिस्रः प्रेक्षते तत्र स्थितः प्राभातिकं कालं गृह्णाति शेषेषु त्रिष्वपि कालेषु वर्षासु यत्र स्थितश्चतुरो दिशाभागान् प्रेक्षते तत्र स्थितोऽपि गृह्णाति। ऋतुबद्धे तारकास्तिस्रः। त्रिषु कालेषु प्रादोषिके अर्धरात्रिके वैरात्रिके यदि तिस्रस्तारका जघन्येन पश्येत् तदा गृह्णीयात् ऋतुबद्धे एव अभ्राद्याच्छादिते यद्यपि एकामपि तारिकां न पश्यन्ति तथापि प्राभातिकं कालं गृह्णन्ति वर्षाकाले पुनश्चत्वारोऽपि काला अभ्राद्याच्छादिते तारासु अदृश्यमानास्वपि गृह्णन्ति। छन्ने निविष्ट इति। यद्यपि वसतेर्बहिः कालग्राहिणः स्थानं नास्ति तदाऽभ्यन्तरच्छन्ने ऊर्ध्वस्थितो गृह्णाति अथोर्ध्वस्थितस्याप्यन्तः स्थानं नास्ति तदा छन्ने एव निविष्टो गृह्णाति बहिःस्थितोऽप्येकः प्रतिचरति वर्षाबिन्दुषु पतत्सु नियमादन्तःस्थितो

पाओसिर्य दक्खरं पक्ख मोत्तुं सेसा सव्वे झुणंपे पडलेति, सेसेसु तिसु भववरस वेरत्तिय पामाइए य सव्वं वा विसमं वा पडलेति ॥ ११८७ ॥ किं चान्यत्—

ईदिपमाउत्ताण हणंति कणगा उ तिन्नि सत्तोसं । वासासु य तिन्नि दिसा उउबद्धे तारगा तिन्नि ॥ ११८८ ॥

व्याख्या—उउ इंदियउवओगउवउत्तेहिं सव्वकालं पडिजागरियव्वा—पेहणा, कणगेसु कालसंकालओ विसेसो भण्णइ—तिण्णि गिम्हे उवहणंतित्ति, तेण उक्कोसं भण्णइ, चिरेण उवघाउत्ति, तेण सत्त(तिण्णि)महण्णं सेसं मज्झिमं, अस्य व्याख्या—

कणगा हणंति कालं ति पंच सत्तेव गिम्हि सिसिरवासे । उक्का उ सरेहागा रेहाररहितो भवे कणओ ॥ ११८९ ॥

व्याख्या—कणगा गिम्हे तिन्नि सिसिरे पंच वासासु सत्त उवहणंति, उक्का पुणेगावि, अयं चासिं विसेसो—कणगो सण्हरेहो पगासरहिओ य, उक्का महंतरेहा पगासकारिणी य, अहवा रेहाररहिओ विप्फुलिंगो पभाकरो उक्का चेव ॥११८९॥ 'वासासु तिण्णि दिसा' अस्य व्याख्या—

वासासु य तिन्नि दिसा हवंति पाभाइयंमि कालंमि । सेसेसु तीसु चउरो उडुंमि चउरो चउदिसिंपि ॥ ११९० ॥

---

१ प्राभातिक एककमेकं मुक्त्वा शेषाः सर्वे युगपत् प्रस्थापयन्ति शेषेषु त्रिषु अर्धरात्रिके वैरात्रिके प्राभातिके च समं वा विषमं वा प्रस्थापयन्ति । ऋतु इन्द्रियोपयोगोपयुक्तैः सर्वे कालाः प्रतिजागरितव्याः—प्रतीक्षणीयाः कनकेषु कालकृतः संकालविशेषो भण्यते—त्रयो ग्रीष्मे उपघ्नन्तीति तेनोत्कृष्टं भण्यते चिरेणोपघातः इति तेन सप्त जघन्यतः शेषं मध्यम । कनका ग्रीष्मे त्रयः शिशिरे पञ्च वर्षासु सप्तोपघ्नन्ति उल्का पुनरेकापि अयं चानयोर्विशेषः—कनकः श्लक्ष्णरेखः प्रकाशरहितश्च उल्का महारेखा प्रकाशकारिणी च, अथवा रेखारहितो विस्फुलिङ्गः प्रभाकर उल्कैव । वर्षासु तिस्रो दिशः

दंडधरो पुच्छइ अण्णो वा, तेवि सव्व(व)करेंति, जति सव्वेहिवि भणिय—न किंचि सुयं दिट्ठं वा, तो सुद्धे करेंति सज्झाय । अह एगेणवि किंचि विज्जुमादि फुडं दिट्ठं गज्जियादि वा सुयं तो असुद्धे न करेंतित्ति गाथार्थः ॥ १३८५ ॥ अह सकियं—

इक्कस्स दोण्ह व संकियंमि कीरइ न कीरती तिण्ह । सगणंमि संकिए परगणं तु गंतु न पुच्छंति ॥ १३८६ ॥

व्याख्या—जदि एगेण संदिद्ध—दिट्ठं सुयं वा, तो कीरइ सज्झाओ, दोण्हवि संदिद्धं कीरति, तिण्हं विज्जुमादि एग संदेहे ण कीरइ सज्झाओ, तिण्हं अण्णाण्णसंदेहे कीरइ, सगणंमि संकिए परवयणाओऽसज्झाओ न कीरइ । एत्थविभागेण तेसिं चेव असज्झाइयसंभवो ॥ १३८९ ॥ 'अ एयं णाणत्त तमहं वोच्छं समासेण'त्ति—अस्यार्थः

कालचउक्के णाणत्तगं तु पाओसियंमि सव्वेवि । समयं पट्ठवयंती सेसेसु समं च विसमं वा ॥ १३८७ ॥

व्याख्या—एयं सव्वं पाओसियकाले भणियं, इयाणिं चउसु कालेसु किंचि सामण्णं किंचि विससियं भणामि

---

१ दण्डधरः पृच्छति अन्यो वा तेऽपि सर्वं कथयन्ति यदि सर्वैरपि भणित—न किञ्चिद् दृष्टं श्रुतं वा तदा शुद्धे कुर्वन्ति स्वाध्याय अथैकेनापि किञ्चिद्विद्युदादि स्फुटं दृष्टं गर्जितादि वा श्रुतं तदाऽशुद्धे न कुर्वन्ति । अथ शङ्कितं—यद्येकेन संदिग्ध—दृष्टं श्रुतं वा तर्हि क्रियते स्वाध्यायः द्वयोरपि संदेहे क्रियते, त्रयाणां विद्युदादिके एक (समान) संदेहे न क्रियते स्वाध्यायः, त्रयाणामन्यान्यसंदेहे क्रियते स्वगणे शङ्किते परवचनात् अस्वाध्यायो न क्रियते अंशविभागेन तेषाम् अस्वाध्यायिकसंभवः । एतत् नानात्वं तदहं वक्ष्ये समासेनेति । एतत् सर्वं प्रादोषिककाले भणितं इदानीं चतुर्ष्वपि कालेषु किञ्चित् सामान्यं किञ्चित् विशेषितं भणामि—

अेवस्सयं वस्सगं करेंति, वस्सारिएऽवि पंचमंगलयं कड्ढंति, ताहे वंदणं दाउं निवेदेंति–सुत्तो पाओसिओ कालोत्ति, ताहे वंदणं मोत्तुं सेसा सव्वे सुगवं पढ़ेंति, किं कारणम् ?, उच्यते, पुप्फं वं मरुगदिट्ठंतोत्ति ॥ ११८३ ॥

सन्निहियाण वडारो पढविय पमादि णो दए कालं । बाहि ठिए पडिचरए विसई ताएऽवि दंडधरो ॥ ११८४ ॥

व्याख्या—वडो वंटगो विभागो एगट्ठं, आरिओ आगारिओ सारिओ वा एगट्ठं, वडेण आरिओ वडारो, जहा सो वडारो सन्निहियाण मरुगाण लब्भइ न परोक्खस्स तहा देसकहादिपमादिस्स पच्छा कालं न देंति, 'दारे'त्ति अस्य व्याख्या 'बाहि ठिए' पच्छद्धं कंठं ॥ ११८४ ॥ सव्वेहिवि पच्छद्धं अस्य व्याख्या—

पढविए वदिए वा ताहे पुच्छंति किं सुयं ? भंते ! । तेवि य कहेंति सव्वं जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥ ११८५ ॥

व्याख्या—दंडधरेण पढविए वंदिए, एवं सव्वेहि वि पढविए वंदिए पुच्छा भवइ–भज्जो ! केण किं दिट्ठं सुयं वा ?

---

१ आवश्यकानुसारं कुर्वन्ति शासारिवेऽपि पञ्चमङ्गलं कथयन्ति ततो वन्दनं दत्त्वा निवेदयत–प्रादोषिकः कालः शुद्ध इति तदा वन्दनं मुक्त्वा शेषाः सर्वे युगपत् स्वाध्याय प्रस्थापयन्ति किं कारणं ? उच्यते पूर्वोक्तं दृष्टान्तात् मरुकदृष्टान्त इति । वण्टो वण्टको विभागः एकार्थाः आरिक आगारिक सारिक इति एकार्थाः । वारेणारिको वारकः यथा स वारकः सन्निहितैर्मरुकैर्लभ्यते न परोक्षेण तथा देशादिकथाप्रमादपरः पश्चात् कालं न ददति । द्वार भिन्नस्य व्याख्या–बहिःस्थितः पश्चार्धं कण्ठ्यं । सर्वैरपि पश्चार्धं । दण्डधरेण प्रस्थापिते वन्दिते एवं सर्वैरपि प्रस्थापिते वन्दिते पृच्छा भवति–आर्य ! केनचित् किंचिद् दृष्टं श्रुतं वा ?,

भासणं न करेइ। कालभूमीए गुरुसमीव पडियस्स(पट्ठियस्स) अइ अंतरेण साणमज्जारार्इ छिंदति, सेसपदा पुव्वभणिया, एएसु सव्वेसु कालवधो भवति ॥ १ ॥

गोणाइ कालभूमीइ हुज्ज संसप्पगा व उट्ठिज्जा ।
कविहसिअ विज्जुयमी गज्जिय उक्काइ कालवहो ॥ २ ॥ (प्र० सिद्ध०) ॥

व्याख्या—पढमयाए आपुच्छिया गुरु कालभूमिं गओ, जइ कालभूमिए गोणं निसण्णं संसप्पगादि वा उट्ठि(ट्ठि)यादि पेच्छेज्ज सो नियत्तए, जइ काल पडिलेहंतस्स गिण्हंतस्स वा निवेयणाए वा गच्छंतस्स कविहसियादि, तेहिं कालवहो भवति, कविहसियं नाम आगासे विकृतं मुखं वानरसरिसं हासं करेज्जा। सेसा पदा गतार्था इति गाथार्थः ॥ २ ॥

कालग्गाही णिव्वाघातेण गुरुसमीवमागतो—

इरियावहिया हत्थंतरेऽवि मंगल निवेयणा दारे । सव्वेहि वि पट्ठविए पच्छा करण अकरणं वा ॥ ११८१ ॥

व्याख्या—जदिवि गुरुस्स हत्थंतरमेत्ते कालो गहिओ तहावि कालपवेयणाए इरियावहिया पडिक्कमियव्वा, पंचुस्सास

१—भासणं न करोति कालग्रहणभूमेः प्रस्थितस्य गुरुसमीपं अभ्यन्तरा श्वमार्जारादि छिन्दति, शेषाणि पदानि पूर्वं भणितानि एतेषु सर्वेषु कालवधो भवति। प्रथमतया आपृच्छय गुरुं कालभूमिं गतः यदि कालभूमौ गां निषण्णं संसर्पकादि वा उत्थित(ष्ठि)तादि पश्येत् तर्हि निवर्तेत, यदि कालं प्रतिलिखतो गृह्णतः निवेदने वा व्रजतः कपिहसितादि तैः कालवधो भवति, कपिहसितं नामाकाशे वानरसदृशं विकृतं मुखं हासं कुर्यात् शेषाणि पदानि गतार्थानि। कालग्राही गुरुसमीपे निर्व्याघातेनायातः। यद्यपि गुरोर्हस्तान्तरमात्रे कालो गृहीतस्तथापि कालप्रवेदने ईर्यापथिकी प्रतिक्रान्तव्या, पञ्चोच्छ्वास—

चेइयघरे उस्सग्गं करेंति, उस्सारिएऽवि पंचमंगलयं कड्ढंति, ताहे वंदणं दाउं निवेएंति—सुद्धो पाओसिओ कालोत्ति, ताहे डंडधरं मोत्तुं सेसा सवे सुगयं पढंति, किं कारणम् ?, उच्यते, पुव्वुत्तं जं मरुगाविट्ठंतोत्ति ॥ १३८३ ॥

सन्निहियाण वडारो पट्ठविय पमादि णो दए कालं। बाहिं ठिए पडियरए विसई ताएऽवि दंडधरो ॥ १३८४ ॥

व्याख्या—वडो वंटगो विभागो एगट्ठं, आरिओ आगारिओ सारिओ वा एगट्ठं, वडेण आरिओ वडारो, जहा सो वडारो सन्निहियाण मरुगाण लब्भइ न परोक्खस्स तहा देसकहादिपमादिस्स पच्छा कालं न देंति, 'ताहे'त्ति अस्य व्याख्या 'बाहिं ठिए' पच्छद्धं कंठं ॥ १३८४ ॥ सवेहिंपि पच्छद्धं अस्य व्याख्या—

पट्ठविए वंदिए या ताहे पुच्छंति किं सुयं ? भंते ! । तेवि य कहेंति सव्वं जं जेण सुयं व दिट्ठं वा ॥ १३८५ ॥

व्याख्या—दंडधरेण पट्ठविए वंदिए, एवं सवेहिं वि पट्ठविए वंदिए पुच्छा भवइ—भज्जो ! केण किं दिट्ठं सुयं वा ?

---

१ भावप्रक्रमुम्मर्पं कुर्वन्ति उत्सारितेऽपि पञ्चमङ्गलं कथयन्ति, ततो वन्दनं दत्त्वा निवेदयन्ति—शुद्धः प्रादोषिकः कालः इति तदा दण्डधरं मुक्त्वा शेषाः सर्वे सुगतं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, किं कारणं ? उच्यते पूर्वोक्तं यस्मात् मरुकदृष्टान्त इति। वड्डो वण्टको विभागः एकार्थाः, आरिक आगारिक सारिक इति एकार्थाः। वडारिको वडारः, यथा स वडारः संनिहितमरुकेभ्यो लभ्यते न परोक्षेभ्यः तथा देशकथादिप्रमादवतः पश्चात् कालं न ददति। इति व्याख्या—बहिःस्थिते पश्चार्धं, कण्ठ्यं। सर्वैरपि पश्चार्धं। दण्डधरेण प्रस्थापिते वन्दिते एवं सर्वैरपि प्रस्थापिते वन्दिते पृच्छा भवति—आर्य ! केनापि किंचिद् दृष्टं श्रुतं वा ?

पिंदू छीए[घ] परिणय सगणे या सकिए भये तिण्ह । भासत मूढ सकिए इंदिययिसए य अमणुण्णे ॥१३८०॥

व्याख्या—गेण्हंतस्स अंगे जइ उदगबिंदू पडेज्जा, अहवा अंगे पासओ या रुधिरबिंदू, अप्पणा परण या अदि छीय, अज्झयणं या करेंतस्स जइ अन्नओ भावो परिणओ, अनुपयुक्त इत्यर्थः, 'सगणे'त्ति सगच्छे तिण्हं साहूण गज्जिए संका, एव विज्जुच्छीयाइसुवि, ॥ १३८० ॥ 'भासत' पच्छद्धस्स पूर्वन्यस्तस्य या विभासा—

मूढो य दिसिज्झयणे भासतो यावि गिण्हति न सुज्झे । अन्न च दिसज्झयणे सकतोऽनिट्ठयिसए या ॥ १३८१ ॥

व्याख्या—दिसामोहो से जाओ अहवा मूढो दिस पडुच्च अज्झयणं या, कहं ?, उच्यते, पढमे उत्तराहुत्तेण ठायव सो पुण पुव्वहुत्तो ठायति, अज्झयणेसुवि पढम चतुवीसत्थओ सो पुण मूढत्तणओ दुमपुप्फिय सामण्णपुव्य कड्डति। फुडमेव वंजणाभिलावेण भासंतो या कड्डति, गुडुगुडेंतो या गिण्हइ, एवं न सुज्झति, 'सकतो'त्ति पुव उत्तराहुत्तेण ठात्तियव, ततो पुव्वहुत्तेण ठायव्वं, सो पुण उत्तराउ अवराहुत्तो ठायति, अज्झयणेसु यि चउवीसत्थयाउ अहं चेव खुड्डियायारगादि

1 गृह्णतोऽङ्गे यदुदकबिन्दुः पतेत् अथवाऽङ्गे पार्श्वतो वा रुधिरबिन्दुः आत्मना परेण वा यदि क्षुत अध्ययन वा कुर्वतो यद्यन्यतो भाव। परिणतः स्वगच्छे त्रयाणां साधूनां गर्जिते शङ्का एवं विद्युदादिष्वपि भाषमाण-पश्चार्धस्य विभाषा । दिग्मोहस्तस्य जातोऽथवा मूढो दिशं प्रतीत्याध्ययनं वा कथं ?, उच्यते प्रथममुत्तरोन्मुखेन स्थातव्यं स पुनः पूर्वोन्मुखस्तिष्ठति अध्ययनेष्वपि प्रथम चतुर्विंशतिस्तवः स पुनर्मूढत्वात् द्रुमपु स्फुटमेव व्यञ्जनाभिलापेन भाषमाणो वा कथयति मूकं(?)भाषमाणो वा गृह्णाति एवं न शुध्यति शङ्कमान इति पूर्वं स्थित्वा श्रामण्यपूर्वकं वा कथयति । उत्तरोन्मुखेन स्थातव्यं ततः पूर्वोन्मुखेन स्थातव्यं स पुनरुत्तरस्या अपरोन्मुखस्तिष्ठति, अध्ययनेष्वपि चतुर्विंशतिस्तवादेव क्षुल्लकाचारादि-

अज्झयणे संकमइ अहवा संकइ किं अमुगिए दिसाए ठिओ ण यत्ति, अज्झयणेवि किं कहियं पढिय त्ति । "इंदिय विसए य अमणुण्णे त्ति अणिट्ठो पत्तो, जहा सोइंदिएण रुइय अंतरेण वा अट्टट्टहासं कयं, रूवे विभीसिगादि विकृतरूवं दट्टं, गंधे कलेवरादिगन्धो रसस्तत्रैव स्पर्शोऽभिज्वालादि, अहवा इट्टेसु राग गच्छइ, अणिट्ठेसु इंदियविसएसु दोसन्ति गाथार्थः ॥ ११८१ ॥ एवमादिउवघायवज्जियं कालं घेत्तुं कालनिवेयणाए गुरुसमीव गच्छंतस्स इमं भण्णइ—

जो गच्छंतमि विही आगच्छंतमि होइ सो चेव । जं एत्थ णाणत्त तमहं वोच्छं समासेण ॥ ११८२ ॥

व्याख्या—एसा भद्दबाहुकया गाहा—ईसे अतिदेसे कएवि सिद्धसेणखमासमणो पुव्वद्धभणियं अतिदेसं वक्खाणइ—

निसीहिआ आसज्ज अकरणे खलिय पडिय वाघाए ।
अपमज्जिय भीए वा छीए छिन्ने य कालवहो ॥ १ ॥ (प्र० सिद्ध०) ॥

व्याख्या—जदि णितो आवस्सिय न करेइ, पविसंतो निसीहियं करेइ अहवा करणमिति (आसज्जं अकरणे इति)

---

1 कालवर्षं संक्राम्यति अथवा शङ्कते किम्मुक्तो दिशि स्थितो भवेति अध्ययनेऽपि किं कुर्वं भवेति इन्द्रियविषयामनोज्ञ इत्यनिष्टः प्राप्तः यथा श्रोत्रेन्द्रियस्य रुदितं भवान्तरेण वाऽट्टहासं कृतं रूपे विभीषिकादि विकृतं रूपं दृष्टं गन्धे कलेवरादिगन्धः । अथवेष्टेषु रागं गच्छति अनिष्टेष्विन्द्रियविषयेषु द्वेषमिति । एवमाद्युपघातवर्जितं कालं गृहीत्वा कालनिवेदनाय गुरुसमीपं गच्छत इदं भण्यते । एषा भद्रबाहुकृता गाथा एतस्मिन्नतिदेशे कृतेऽपि सिद्धसेनक्षमाश्रमणः पूर्वार्धभणितं अतिदेशं व्याख्यानयति । यदि निर्गच्छन् आवश्यिकीं न कुर्वन्ति प्रविशन्तो नैषेधिकीं (न) कुर्वन्ति अथवाऽनाभोगाकरणे

थिंदू छीए[य] परिणय सगणे था सफिए भवे तिण्ह । भासत मूढ सकिय इंदियविसए य अमणुण्णे ॥११८०॥

व्याख्या—गेण्हंतस्स अगे जइ उदगबिंदू पडेज्जा, अहवा अंगे पासओ वा रुधिरबिंदू, अप्पणा परेण वा अदि छीय, अज्झयणं वा करेंतस्स जइ अन्नओ भावो परिणओ, अनुपयुक्त इत्यर्थः, 'सगणे'त्ति सगच्छ तिण्ह साहूणं गज्जिए सवा, एवं विज्जुच्छीयाइसुवि, ॥ ११८० ॥ 'भासंत' पच्छद्धस्स पूर्वन्यस्तस्य वा विभासा—

मूढो य दिसिज्झयणे भासतो यावि गिण्हति न सुज्झे । अन्नं व दिसज्झयणे संकतोऽनिट्ठविसए वा ॥ ११८१ ॥

व्याख्या—दिसामोहो से जाओ अहवा मूढो दिस पडुच्च अज्झयणं वा, कह ?, उच्यते, पढमे उत्तराहुत्तेण ठायव्व सो पुण पुव्वहुत्तो ठायति, अज्झयणेसुवि पढम चउवीसत्थओ सो पुण मूढत्तणओ दुमपुप्फियं सामण्णपुव्वयं कड्ढति। फुडमेव वंजणाभिलावेण भासंतो वा कड्ढति, बुडबुडेंतो वा गिण्हइ, एवं न सुज्झति, 'संकतो'त्ति पुव्व उत्तराहुत्तेण ठातियव्वं, ततो पुव्वहुत्तेण ठातव्वं, सो पुण उत्तराउ अवराहुत्तो ठायति, अज्झयणेसु वि चउवीसत्थयाउ अन्नं चेव खुड्डियायारगादि

१ गृह्णतोऽङ्गे यद्युदकबिन्दुः पतेद् अथवाऽङ्गे पार्श्वतो वा रुधिरबिन्दुः आत्मना परेण वा यदि क्षुतं अध्ययनं वा कुर्वतो यद्यन्यो भावः परिणतः स्वगच्छे त्रयाणां साधूनां गर्जिते सदा एवं विद्युत्क्षुतादिष्वपि भाषमाण-पश्चार्धस्य विभाषा । दिग्मोहस्तस्य जातोऽथवा मूढो दिशं प्रतीत्याध्ययनं वा कथं ? उच्यते, प्रथममुत्तराभिमुखेन स्थातव्यं स पुनः पूर्वाभिमुखस्तिष्ठति अध्ययनेष्वपि प्रथमं चतुर्विंशतिस्तवः स पुनर्मूढत्वात् द्रुमपुष्पिकां श्रामण्यपूर्वकं वा कर्षति । स्फुटमेव व्यञ्जनाभिलापेन भाषमाणो वा कर्षति बुडबुडायमानो वा गृह्णाति एवं न शुध्यति शङ्कमान इति पूर्वं उत्तराभिमुखेन स्थातव्यं ततः पूर्वाभिमुखेन स्थातव्यं स पुनरुत्तरस्या अपराभिमुखस्तिष्ठति, अध्ययनेष्वपि चतुर्विंशतिस्तवादन्यदेव क्षुल्लकाचारादि-

निसीहिआ नमुक्कारे काउस्सग्गे य पंचमंगलए । किइकम्मं च करित्ता बीओ कालं तु पडियरइ ॥ ११७८ ॥

व्याख्या—पविसंतो तिण्णि निसीहियाओ करेइ नमो खमासमणाणं च नमुक्कारं करेइ, इरियावहियाए पंचुस्सासकालियं उस्सग्गं करेइ, उस्सारिए नमो अरहंताणं पंचमंगलं चेव कड्ढइ, ताहे 'किइकम्मं'ति बारसावत्तं वंदणं देइ, भणइ य—संदिसह पाउसियं कालं गेण्हामो, गुरुवयणं गेण्हइत्ति, एवं जाव कालग्गाही संदिसावेत्ता आगच्छइ ताव बिइओ दंडधरो सो कालं पडियरइ, गाथार्थः ॥ ११७८ ॥ पुणो पुव्वुत्तेण विहिणा निग्गओ कालग्गाही—

थोवावसेसियाए संझाए ठाति उत्तराहुत्तो । चउवीसगदुमपुप्फियपुव्वगमेक्केक्कि अ दिसाए ॥ ११७९ ॥

व्याख्या—'उत्तराहुत्तो' उत्तरामुखः दंडधारीवि वामपासे उज्जुतिरियदंडधारी पुव्वाभिमुहो ठाति, कालगहणनिमित्तं च अट्ठुस्सासकालियं काउस्सग्गं करेइ, अण्णे पंचुस्सासियं करेइ, उस्सारिते चउवीसत्थयं दुमपुप्फियं सामण्णपुव्वयं च, एते तिण्णि अक्खलिए अणुपेहित्ता पच्छा पुव्वाए एते चेव अणुपेहइत्ति, एवं दक्खिणाए अवराए इति गाथार्थः ॥ ११७९ ॥ गेण्हतस्स इमे उवघाया जाणियव्वा—

---

१ प्रविशन् तिस्रो नैषेधिकीः करोति नमःक्षमाश्रमणेभ्य नमस्करोति [illegible] करोति उत्सारिते नमोऽर्हद्भ्यः (कथयित्वा) पञ्चमङ्गलमेव कथयति, तदा कृतिकर्मेति द्वादशावर्त्तं वन्दनं ददाति, भणति च—संदिशत प्रादोषिकं कालं गृह्णामि गुरुवचनं गृह्णातीति एवं यावत् कालग्राही संदिश्य आगच्छति तावद् द्वितीयो दण्डधरः स कालं प्रतिचरति पुनः पूर्वोक्तेन विधिना निर्गतः कालग्राही । [illegible] वामपार्श्वे ऋजुतिर्यग्दण्डधारी पूर्वाभिमुखः तिष्ठति [illegible] कायोत्सर्गं करोति अन्ये (मन्यन्ते)—पञ्चोच्छ्वासिकं करोति उत्सारिते चतुर्विंशतिस्तवं द्रुमपुष्पिकां श्रामण्यपूर्वकं च, एतानि त्रीण्यस्खलितान्यनुप्रेक्ष्य पश्चात् पूर्वस्यामेतान्येवानुप्रेक्षते एवं दक्षिणस्यामपरस्यां । गृह्णत इमे उपघाता ज्ञातव्याः—

कालवेलं तुलेंति, अहवा तिसु चच्चरादियासु संझाए गिण्हंति 'चरिमं'ति अवराए अवणयसंझाएवि गेण्हति तहावि न दोसोत्ति गाथार्थः ॥ १२७६ ॥ सो कालग्गाही वेलं तुलेत्ता कालभूमीओ संदिसावणनिमित्तं गुरुपायमूलं गच्छति। तत्थेमा विही—

आउत्तपुव्वभणियं अणापुच्छा खलियपडियवाघाओ। भासंत मूढसंकिय इंदियविसए य अमणुण्णे ॥ १२७७ ॥

व्याख्या—जहा निग्गच्छमाणो आउत्तो निग्गतो तहा पविसंतोवि आउत्तो पविसति, पुव्वनिग्गओ चेव अह अणापुच्छाए कालं गेण्हति, पविसंतोवि जइ खलइ पडइ अण्हा पत्थवि कालुव घाओ, अहवा घायवि लेट्ठुयगादिणा। 'भासंत मूढसंकिय इंदियविसए अमणुण्णे' इत्यादि पच्छद्धं सांप्यासिकमुपरि वक्ष्यमाणं। अहवा इत्थवि इमो अत्थो भाणियव्वो—वंदणं देंतो अण्णं भासंतो देइ वंदणयुगं उवओगेण य न ददाति किरियासु वा मूढो आवत्तादीसु वा सका कया न कयत्ति वंदणं देंतस्स इंदियविसओ वा अमणुण्णमागओ ॥ १२७७ ॥

---

1 कालवेलां तोलयता अथवोच्चारादिषु स्थिता सन्ध्यायां गृह्णन्ति चरमामिति अपरस्यामप्यवनतसन्ध्यायामपि गृह्णन्ति तथापि न दोष इति। स काल-ग्राही वेलां तोलयित्वा कालभूमिसंदिशापननिमित्तं गुरुपादमूले गच्छति तत्रायं विधिः यथा निर्गच्छन्नायुक्तो निर्गतस्तथा प्रविशन्नपि आयुक्तः प्रविशति पूर्वनिर्गत एव यद्यपृष्ट्वा कालं गृह्णाति प्रविशन्नपि यदि स्खलति पतति [illegible] कालः [illegible], अथवा घात इति लेष्ट्वादिना आपद्यमानादि, अथवाऽत्र-व्याख्याभेदो भणितव्यः—वन्दनं ददत् अन्यद् भाषमाणो ददाति वन्दनयुगमुपयोगेन च ददाति क्रियासु वा मूढ आवर्तादिषु वा यदा कृता न कृता वेति वन्दनं ददतोऽमनोज्ञो वेन्द्रियविषय आगतः

निसीहिया नमुक्कारे काउस्सग्गे य पंचमंगलए । किइकम्मं च करित्ता बीओ काल तु पडियरइ ॥ ११७८ ॥

व्याख्या—पविसंतो तिण्णि निसीहियाओ करेइ नमोखमासमणाणं च नमुक्कारं करेइ, इरियावहियाए पंचउस्सासकालियं उस्सग्गं करेइ, उस्सारिए नमोअरहंताणं पंचमंगलं चेव कड्डइ, ताहे 'किइकम्मं'ति बारसावत्तं वंदणं देइ, भणइ य—संदिसह पाउसियं कालं गेण्हामो, गुरुवयण गेण्हहत्ति, एवं जाव कालग्गाही उवडावेंतो आगच्छइ ताव बितिओ दंडधरो सो कालं पडियरइ, गाथार्थः ॥ ११७८ ॥ पुणो पुव्वुत्तेण विहिणा निग्गओ कालग्गाही—

थोवावसेसियाए संझाए ठाति उत्तराहुत्तो । चउवीसगदुमपुप्फियपुव्वगमेक्केक्कि य दिसाए ॥ ११७९ ॥

व्याख्या—'उत्तराहुत्तो' उत्तरामुखः दंडधारीवि वामपासे उज्जुतिरियदंडधारी पुव्वाभिमुहो ठाति, कालगहणनिमित्तं च अट्ठुस्सासकालियं काउस्सग्गं करेइ, अण्णे पंचुस्सासियं करेइ, उस्सारिते चउवीसत्थयं दुमपुप्फियं सामण्णपुव्वं च, एते तिण्णि अक्खलिए अणुपेहेत्ता पच्छा पुव्वाए एते चेव अणुपेहइ, एवं दक्खिणाए अवराए इति गाथार्थः ॥ ११७९ ॥ गण्हंतस्स इमे उवघाया जाणियव्वा—

---

१ प्रविशन् तिस्रो नैषेधिकीः करोति क्षमाश्रमणानां नमस्करोति ईर्यापथिक्यां पञ्चोच्छ्वासप्रमाणं कायोत्सर्गं करोति उत्सारिते नमोऽर्हद्भ्यः (कथयित्वा) पञ्चमङ्गलमेव कथयति, ततः कृतिकर्मेति द्वादशावर्तं वन्दनं ददाति, भणति च—संदिशत प्रादोषिकं कालं गृह्णामि गुरुवचनं गृहाणेति एवं यावत् कालग्राही नैषेधिक्यादिना दण्डधरः स कालं प्रतिचरति पुनः पूर्वोक्तेन विधिना निर्गतः कालग्राही । दण्डधरोऽपि वामपार्श्वे ऋजुतिर्यग्दण्डधारी पूर्वाभिमुखः तिष्ठति कालग्रहणनिमित्तमष्टोच्छ्वासिकं कायोत्सर्गं करोति अन्ये (भणन्ति)—पञ्चोच्छ्वासिकं करोति उत्सारिते चतुर्विंशतिस्तवं द्रुमपुष्पिकां श्रामण्यपूर्वकं च, एतानि त्रीण्यस्खलितान्यनुप्रेक्ष्य पश्चात् पूर्वस्यामेतान्येवानुप्रेक्षते एवं दक्षिणस्यामपरस्याम् । गृह्णत इमे उपघाता ज्ञातव्याः—

कालवेलं तुलेति, अहवा तिसु उत्तरादियासु संझाए गिण्हंति 'चरिमं'ति अवराए अवगयसंझाएवि गेण्हति तहावि न दोसोत्ति गाथार्थः ॥ १२७६ ॥ सो कालग्गाही वेलं तुलेत्ता कालभूमीओ संदिसावणनिमित्तं गुरुपायमूलं गच्छति । तत्थेमा विही—

आवत्तपुव्वभणियं अणपुच्छा खलियपडियवाघाओ। भासंत मूढसंकिय इंदियविसए अमणुण्णे ॥ १२७७ ॥

व्याख्या—जहा निग्गच्छमाणो आवत्तो निग्गतो तहा पविसंतोवि आवत्तो पविसति, पुणनिग्गओ चेव अह अणापुच्छाए कालं गेण्हति, पविसंतोवि अह खलइ पडइ अन्हा एत्थवि कालुम उग्घाओ, अहवा वाउत्ति लेट्ठुइंगालादिणा । 'भासंत मूढसंकिय इंदियविसए अमणुण्णे' इत्यादि पश्चार्द्ध सोम्यासिकमुपरि वक्ष्यमाणं । अहवा इत्थवि इमो अत्थो भाणियव्वो—वंदणं देंतो अन्नं भासंतो देइ वंदणवुगं उवओगेण व न ददाति किरियासु वा मूढो आवत्तादीसु वा संका कया न कयत्ति वंदणं देंतस्स इंदियविसओ वा अमणुण्णमागओ ॥ १२७७ ॥

---

1 कालवेलां तोलयता अथवोत्तरादिषु तिसृषु सन्ध्यासु गृह्णन्ति चरमामिति अपराह्णामपगतसन्ध्यामपि गृह्णन्ति तथापि न दोष इति । स कालग्राही वेलां तोलयित्वा कालभूमितः संदिशापननिमित्तं गुरुपादमूले गच्छति तत्रायं विधिः। यथा निर्गच्छन्नावृत्तो निर्गतस्तथा प्रविशन्नपि आवृत्तः प्रविशति पुनर्निर्गम एव यद्यनापृच्छय कालं गृह्णाति प्रविशन्नपि यदि स्खलति पतति यस्मादत्रापि काल इत्येवमनाः, अथवा यान्त इति लेष्टुकाङ्गारादिना आसन्नमासन्नेऽपि, अथवाऽनाभाषमाणो भणितव्यः—वन्दनं ददद् अन्यद् भाषमाणो ददाति वन्दनद्वयमुपयोगेन न ददाति क्रियासु वा मूढ आवर्तादिषु वा शङ्का कृता न कृता वेति वन्दनं ददतोऽमनोज्ञो इन्द्रियविषय आगतः

आयोसिए बहुहिं सुयंमि सेसेसु निवडए दंडो । अह तं बहुहिं न सुए दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥ १२७३ ॥

व्याख्या—जहा लोए गामादिविद्दंडगेण आघोसिए बहुहिं सुए सेसेहिं असुए गामादिद्विंइ अकरेंतस्स दंडो भवति, बहुहिं असुए गंडस्स दंडो भयति, तहा इहंपि उवसंहारेयव्वं। ततो दंडधरे निग्गए कालग्गही उट्ठेइत्ति गाथार्थः ॥ १२७४ ॥ सो य इमेरिसो—

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो चेव वज्जभीरू य । खेयण्णो य अभीरू कालं पडिलेहए साहू ॥ १२७५ ॥

व्याख्या—पियधम्मो दढधम्मो य, एत्थ चउभंगो, तत्थिमो पढमभंगो, निच्चं संसारभउव्विग्गो संविग्गो, वज्जं—पावं तस्स भीरु—जहा त न भवति तहा जयइ, एत्थ कालविहीजाणगो खेयण्णो, सत्तवंतो अभीरू। एरिसो साहू कालपडि लेहओ, मतिआगरकत्थ माहकथति गाथार्थः ॥ १२७५ ॥ ते य त चेउं पडियरंता इमेरिसं कालं तुलेंति

कालो संझा य तहा दोवि समप्पंति जह समं चेव । तह तं तुलेंति कालं चरिमं च दिसं असंम्मूढा॥ १२७६ ॥

व्याख्या—संझाए परंतीए कालग्गहणमाढत्तं त कालग्गहणं सम्मत्तए य सं सेसं एते दोवि समं जहा समप्पंति तहा तं

१ यथा लोके ग्रामादिदण्डकेनाघोषिते बहुभिः श्रुते स्तोकैरश्रुते ग्रामादिस्थितिमकुर्वतो दण्डो भवति बहुभिरश्रुते घण्टकस्य दण्डो भवति एवं [illegible] ततो दण्डधरे निर्गते कालग्राही उत्तिष्ठति। स च ईदृशः—प्रियधर्मा दृढधर्मा च अत्र चत्वारो भङ्गाः तत्रायं प्रथमो भङ्गः नित्यं संसारभयोद्विग्नः संविग्नः वज्रं—पापं तस्मात् भीरुः—यथा तन्न भवति तथा यतते अत्र कालविधिज्ञायकः खेदज्ञः सत्त्ववानभीरुः ईदृशः साधुः कालप्रतिचरकः तौ च तां वेलां प्रतिचरन्तौ ईदृशं कालं तोलयतः सन्ध्यायां विध्यमानायां कालग्रहणमारब्धं तत् कालग्रहणं सन्ध्यामापच्च यत् शेषं एते द्वे अपि समं यथा समाप्नुतस्तथा तं

वा इंदियविसओ 'दिस'त्ति दिसामोहो दिसाओ वा तारगाओ वा न दीसति वास वा पडइ, असज्झाइयं वा आयं तो कालवहोत्ति गाथार्थः ॥ ११७१ ॥ किं च—

जइ पुण गच्छताण छीय जोइ ततो नियत्तंति । निव्वाघाए दोण्णि उ अच्छंति दिसा निरिक्खंता ॥ ११७२ ॥

व्याख्या—तेसिं चेव गुरुसमीवा कालभूमी गच्छताण अंतरे जइ छीअ जोति वा फुसइ तो नियत्तति । एवमाइकारणेहिं अबाहया ते दोवि निवाघाएण कालभूमी गया, संडासगादिविहीए पमज्जिय निसन्ना उद्धट्ठिया वा एक्को दो दिसाओ निरिक्खंतो अच्छइत्ति गाथार्थः ॥ ११७२ ॥ किं च—तत्थ कालभूमिए ठिया—

सज्झायमचिंतंता कणगं दट्ठूण पडिनियत्तंति । पत्ते य दंडधारी मा बोलं गंडए उवमा ॥ ११७३ ॥

व्याख्या—तत्थ सज्झाय (अ) करेंता अच्छन्ति, कालवेलं च पडियरेइ, जइ गिम्हे तिण्णि सिसिर पंच वासासु सत्त कणगा पेच्छेज्ज तहा विनियत्तंति, अह निवाघाएणं पत्ता काल गहणवेला ताहे जो दंडधारी सो अत्ता पविसित्ता भणइ—बहुपडिपुण्णा कालवेला मा बोलं करेह, एत्थ गंडगोवमा पुव्वभणिया कज्जइत्ति गाथार्थः ॥ ११७३ ॥

१ वेन्द्रियविषयो दिगिति दिग्मोहो दिशो वा तारका वा न दृश्यन्ते वर्षो वा पतति असाध्यायिकं वा यदि कालवधः । तदारभ्य गुरुसमीपात् कालभूमिं गच्छतोरन्तरा यदि क्षुतं ज्योतिर्वा स्पृशति तदा निवर्तेते एवमादिकारणैरव्याहतौ तौ द्वावपि निर्व्याघातेन कालभूमिं गतौ संदंशकादिविधिना प्रमृज्य निषण्णौ ऊर्ध्वस्थितौ वा एकैको द्वे दिशौ निरीक्षमाणस्तिष्ठति तत्र कालभूमौ स्थितौ । तत्र स्वाध्याय कुर्वन्तौ तिष्ठतः कालवेलां च प्रतिचरतः यदि ग्रीष्मे तिस्रः शिशिरे पञ्च वर्षासु सप्त कनकान् पश्येतां तथा विनिवर्तेते अथ निर्व्याघातेन प्राप्ता कालग्रहणवेला तदा यो दण्डधरः सोऽन्तः प्रविश्य भणति—बहुप्रतिपूर्णा कालवेला मा बोलं कुरुत अत्र गण्डकोपमा पूर्वभणिता क्रियते ।

आघोसिए बहूहिं सुयंमि सेसेसु निवडए दंडो । अह तं बहूहिं न सुयं दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥ ११७४ ॥

व्याख्या—जहा लोए गामादिदंडगेण आघोसिए बहूहिं सुए सेसेहिं असुए गामादिठितिं अकरेंतस्स दंडो भवति, बहूहिं असुए गंडस्स दंडो भवति, तहा इहंपि उवसंहारेयव्वं । ततो दंडधरे निग्गए कालग्गही उद्वेति गाथार्थः ॥ ११७४ ॥ सो य इमेरिसो—

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो चेव वज्जभीरू य । खेयण्णो य अभीरू कालं पडिलेहए साहू ॥ ११७५ ॥

व्याख्या—पियधम्मो दढधम्मो य, एत्थ चउभंगो, तत्थिमो पढमभंगो, निच्चं संसारभउव्विग्गो संविग्गो, वज्जं—पावं तस्स भीरू—जहा तं न भवति तहा जयइ, एत्थ कालविहीजाणगो खेदण्णो, सत्तमंतो अभीरू । एरिसो साहू कालपडिलेहगो, मतिआगरकत्थ माइकथति गाथार्थः ॥ ११७५ ॥ ते य त चेव पविसंता इमेरिसं कालं तुलेंति

कालो सज्झा य तहा दोऽवि समप्पंति जह समं चेव । तह तं तुलेंति कालं चरिमं च दिसं असज्झाए ॥ ११७६ ॥

व्याख्या—संझाए धरंतीए कालग्गहणमाढत्तं त कालग्गहण सम्झाए य जं सेसं एते दोवि समं जहा समप्पंति तहा सं

१ यथा लोके ग्रामादिदण्डकाघोषिते बहुभिः श्रुते सोऽश्रुते ग्रामादिस्थितिमकुर्वतो दण्डो भवति बहुभिरश्रुते गण्डकस्य दण्डो भवति तथे हाप्युपमेयं, ततो दण्डधरे निर्गते कालग्राहक उत्तिष्ठति । स च ईदृशः—प्रियधर्मा दृढधर्मा च अत्र चत्वारो भङ्गाः तत्रायं प्रथमो भङ्गः नित्यं संसार भयोद्विग्नः संविग्नः, वर्ज्यं—पापं तस्मात् भीरुः—यथा तन्न भवति तथा यतते अत्र कालविधिज्ञायकः खेदज्ञः सत्त्ववानभीरुः ईदृशः साधुः कालप्रत्युपेक्षकः तौ च तौ प्रविशन्तौ ईदृशं कालं तोलयतः सन्ध्यायां ध्रियमाणायां कालग्रहणमारब्धं तत् कालग्रहणं सन्ध्यायां च यच्छेषं एते द्वे अपि समं यथा समाप्नुवन्ति तथा

आघासग तु कायं जिणोवइट्ठ गुरूवएसेणं । तिण्णि-चुई पडिलेहा कालस्स इमा विही तत्थ ॥ ११६८ ॥

व्याख्या—जिणेहिं गणहराण उवइट्ठं ततो परंपरएण आव अम्हं गुरूवएसेण आगयं तं काल आवस्सयं अण्णे तिण्णि थुतीओ करिंति, अहवा एगा एगसिलोगिया, बितिया बिसिलोइया ततिया [त] तियसिलोगिया, तेसिं समत्तीए कालप डिलेहणविही कायव्वा ॥ ११६८ ॥ अण्णच्च ताव विही इमो, कालमेओ ताव वुच्चइ

थुथिरो व होइ कालो वाघाइम एतरो य नायव्वो । वाघातो घंघसालाएँ घट्टण सड्ढकहण वा ॥ ११६९ ॥

व्याख्या—पुव्वद्धं कंठं, पच्छद्धस्स व्याख्या—जा अतिरित्ता वसही कप्पडिगसेविया य सा घंघसाला, ताए भर्मिताण पडणपडणाइ वाघायदोसो, सड्ढकहणेण य वेलाइक्कमणदोसोत्ति । एवमादि ॥ ११६९ ॥

वाघाए तइओ सिं दिज्जइ तस्सेव ते निवेयंति । इयरे पुच्छंति दुवे जोग कालस्स घेच्छामो ॥ ११७० ॥

व्याख्या—तमि वाघातिमे दोण्णि जे कालपडियरगा ते निगच्छंति, तेसिं ततिओ उवज्झायादि दिज्जइ, ते काल-

---

१ जिनैर्गणधरेभ्य उपदिष्टं ततः परम्परकेण यावदस्माकं गुरूपदेशेन आगतं तद् इदं कालग्रहणकं अन्ये तिस्रः स्तुतीः कुर्वन्ति अथवा एका एकश्लोकिका द्वितीया द्विश्लोकिका तृतीया त्रिश्लोकिका, तासां समाप्तौ कालप्रतिलेखनाविधिः कर्तव्यः । विधिं तावद् विचित्रं कालमेदस्तावदुच्यते । पूर्वार्धं कण्ठ्यं पश्चार्धस्य व्याख्या—यातिरिक्ता वसतिः कार्पटिकसेविता च सा घङ्घशाला तस्यां भ्रमतां नायपतनादिव्याघातदोषः श्राद्धकथनेन च वेलातिक्रमदोष इति, एवमादि । तस्मिन् व्याघातवति द्वौ ये कालप्रतिचारकौ तौ निर्गच्छतः, तयोस्तृतीय उपाध्यायादिर्दीयते तौ काल-

गेण्हंतो आपुच्छणा संदिसावण कालपवेयणं च सव्वं तस्सेव करेंति, एत्थ गंडगदिट्ठंतो न भवइ, इयरे उवउत्ता चिट्ठंति, इयरे काले तस्सेव उवज्झायस्स पवेएंति। ताहे दंडधरो बाहिं कालपडियरगो चिट्ठइ, इयरे दुयगावि अंतो पविसंति, ताहे उवज्झायस्स समीवे सव्वे जुगवं पट्ठवेंति, पच्छा दगो भीति दंडधरो अतीति, तेण पट्ठविए सज्झायं करेंति, ॥ १३७० ॥ निव्वाघाए पच्छद्धं अस्सार्थः—

आपुच्छण किइकम्मे आवासिय पडियरिय वाघाते। इंदिय दिसा य तारा वासमसज्झाइयं चेव ॥ १३७१ ॥

व्याख्या—निव्वाघाते दोण्णि जणा गुरुं आपुच्छंति कालं घेच्छामो, गुरुणा अणुण्णाया 'किइकम्मं'ति वंदणं काउं दंडगं घेत्तु उवउत्ता आवासियमासज्जं करेन्ता पमज्जन्ता य निग्गच्छंति, अंतरे य जइ पक्खलंति पडंति वा वत्थादि वा विलग्गति किइकम्मादि किंचि वितहं करेंति ततो कालवाघाओ, इमा काल भूमीपडियरणविही, इंदिएहिं उवउत्ता पडियरंति, 'दिस'त्ति जत्थ चउरोवि दिसा दीसंति, उडुंमि जइ तिण्णि तारा दीसंति, जइ पुण न उवउत्ता अणिट्ठो

---

१ नन्दिन्यां आवश्यकसंदिग्धकालग्रहणानि सर्वं तस्यैव कुर्वन्ति अत्र गण्डकदृष्टान्तो न भवति इतरे त्वयुक्ता तिष्ठन्ति इतरे काले तस्यैव उपाध्यायस्य प्रवेदयन्ति, तदा दण्डधरो बहिः कालं प्रतिचरन् तिष्ठति इतरौ द्वावपि अन्तः प्रविशतः उपाध्यायस्य समीपे सर्वे युगपत् प्रस्थापयन्ति पश्चाद् दण्डधरो प्रविशति तेन प्रस्थापिते स्वाध्यायं कुर्वन्ति। निर्व्याघाते द्वौ जनौ गुरुमापृच्छेते कालं ग्रहीष्यावः, गुरुणानुज्ञातौ कृतिकर्मेति वन्दनं कृत्वा दण्डकं गृहीत्वा उपयुक्तौ आवश्यिकीमासज्जां कुर्वन्तौ प्रमार्जयन्तौ च निर्गच्छतः अन्तरा च यदि प्रस्खलतः पततो वा वस्त्रादि वा विलगति कृतिकर्मादि वा किंचिद् वितथं कुरुतस्तदा कालव्याघातः अत्र कालभूमिप्रतिचरणविधिः इन्द्रियैरुपयुक्तौ प्रतिचरतः दिग् इति यत्र चतस्रोऽपि दिशो दृश्यन्ते, ऋतौ यदि त्रिस्रस्तारा दृश्यन्ते, यदि पुनर्नोपयुक्तौ अनिष्टो

आवासग तु काउं जिणोवइट्ठं गुरूवएसेण । तिण्णि-थुई पडिलेहा कालस्स इमा विही तत्थ ॥ ११६८ ॥

व्याख्या—जिणेहिं गणहराण उवइट्ठं ततो परंपरएण आव अम्हं गुरूवएसेण आगए तं काउ आवस्सयं अण्णो तिण्णि थुतीओ करिंति, अहवा एगा एगसिलोगिया, बितिया बिसिलोइया ततिया [त] तियसिलोगिया, तेसिं समत्तीए कालए पडिलेहणविही कायव्वा ॥ ११६८ ॥ अच्छउ ताव विही इमो, कालभेओ ताव वुच्चइ

दुविहो उ होइ कालो वाघाइम एतरो य नायव्वो । वाघातो घंघसालाए घट्टण सड्ढकहण वा ॥ ११६९ ॥

व्याख्या—पुव्वद्धं कंठं, पच्छद्धस्स व्याख्या—जा अतिरित्ता वसही कप्पडिगसेविया य सा घंघसाला, ताए अतिंताण घट्टणपडणाइ वाघायदोसो, सड्ढकहणेण य वेलाइक्कमणदोसोत्ति । एवमादि ॥ ११६९ ॥

वाघाए तइओ सिं दिज्जइ तस्सेव ते निवेएंति । इयरे पुच्छंति दुवे जोग कालस्स घेच्छामो ॥ ११७० ॥

व्याख्या—तंमि वाघातिमे दोण्णि जे कालपडियरगा ते निगच्छंति, तेसिं ततिओ उवज्झायादि दिज्जइ, ते काल-

---

१ जिनैर्गणधरेभ्य उपदिष्टं ततः परम्परकेण यावदस्माकं गुरूपदेशेन आगत तत् कृत्वाऽऽवश्यकं अन्ये तिस्रः स्तुतीः कुर्वन्ति अथवा एका एकश्लोकिका द्वितीया द्विश्लोकिका तृतीया त्रिश्लोकिका, तासां समाप्तौ कालप्रतिलेखनाविधिः कर्तव्यः । तिष्ठतु तावत् विधिरयं कालभेदस्तावदुच्यते । पूर्वार्धं कण्ठ्यं पश्चार्धस्य व्याख्या—याऽतिरिक्ता वसतिः कार्पटिकसेविता च सा घङ्घशाला तस्यां गच्छतां घट्टनपतनादिर्व्याघातदोषः श्राद्धकथनेन च वेलातिक्रमदोष इति, एवमादि । तस्मिन् व्याघातवति द्वौ ये कालप्रतिचारकौ तौ निर्गच्छतः तयोस्तृतीय उपाध्यायादिर्दीयते तौ काल-

स्माइल्लो आपुच्छण वीसिरावण काउस्सग्गं च सव्वं तस्सेव करेंति, एत्थ गंडगदिट्ठंतो न भवइ, इयरे उवसग्गा चिट्ठंति, अन्ने काले तस्सेव उवज्झायस्स पवेएंति। ताहे दंडधरो बाहिं कालपडिचरगो चिट्ठइ, इयरे दुयगावि अंतो पविसंति, ताहे उवज्झायस्स समीवे सव्वे जुगवं पट्ठवेंति, पच्छा एगो नीति दंडधरो अतीति, सेस पट्ठविए उज्झायं करेंति, ॥ १३७० ॥ निव्वाघाए पच्छद्धं अस्यार्थः—

आपुच्छण किइकम्मे आवासिय पडियरिय वाघाते। इंदिय दिसा य तारा वासमसज्झाइयं चेव ॥ १३७१ ॥

व्याख्या—निव्वाघाते दोन्नि जणा गुरुं आपुच्छंति कालं घेच्छामो, गुरुणा अणुण्णाया 'किइकम्मं'ति वंदणं काउं दंडग घेत्तुं उवउत्ता आवासियमासज्ज करेन्ता पक्खलन्ता य निग्गच्छंति, अंतरे य जइ पक्खलंति पडंति वा वत्थादि वा विलग्गति किइकम्मादि किंचि वितहं करेंति ततो कालवाघाओ, इमा कालभूमीपडियरणविही, इंदिएहिं उवउत्ता पडियरंति, 'दिस'त्ति जत्थ चउरोवि दिसा दीसंति, उडुंमि जइ तिन्नि तारा दीसंति, जइ पुण न उवउत्ता अणिट्ठो

---

१ प्रतिदिशं आपृच्छासंदिशनकायोत्सर्गादिकानि सर्वं तस्यैव कुर्वन्ति, अत्र गण्डकदृष्टान्तो न भवति इतरे त्वनुपस्थितास्तिष्ठन्ति अन्ये काले तस्यैवोपाध्यायस्य प्रवेदयन्ति, तदा दण्डधरो बहिः कालं प्रतिचरन् तिष्ठति, इतरो द्वावपि अन्तः प्रविशतः तयोरुपाध्यायस्य समीपे सर्वे युगपद् प्रस्थापयन्ति पश्चादेको निर्गच्छति दण्डधर आगच्छति शेष प्रस्थापिते स्वाध्यायं कुर्वन्ति। निर्व्याघाते द्वौ जनौ गुरुमापृच्छ्य कालं ग्रहीष्यामः गुरुणानुज्ञातौ कृतिकर्मेति वन्दनं कृत्वा दण्डकं गृहीत्वोपयुक्तौ आवश्यिकीमासज्य कुर्वन्तौ प्रस्खलन्तौ च निर्गच्छतः अन्तरा च यदि प्रस्खलतः पततो वा वस्त्रादि वा विलगति कृतिकर्मादि वा किमपि वितथं कुरुतस्तदा कालव्याघातः अयं कालभूमिप्रतिचरणविधिः इन्द्रियैरुपयुक्तौ प्रतिचरतः दिश इति यत्र चतस्रोऽपि दिशो दृश्यन्ते ऋतौ यदि तिस्रस्तारका दृश्यन्ते यदि पुनर्नोपयुक्तौ अनिष्टो

आवासगं तु काउं जिणोवइट्ठं गुरुवएसेणं । तिण्णि-थुई पडिलेहा कालस्स इमा विही तत्थ ॥ ११६८ ॥
व्याख्या—जिणेहिं गणहराण उवइट्ठं ततो परंपरएण जाव अम्हं गुरुवएसेण आगयं तं काउं आवस्सयं अण्णे तिण्णि थुतीओ करेंति, अहवा एगा एगसिलोगिया, बितिया बिसिलोइया ततिया [त] तिसिलोगिया, तेसिं समत्तीए काळप डिलेहणविही कायव्वा ॥ ११६८ ॥ अच्छउ ताव विही इमो, काळभेओ ताव वुच्चइ
दुविहो उ होइ कालो वाघाइम एतरो य नायव्वो । वाघातो घंघसालाए घट्टण सड्ढकहण वा ॥ ११६९ ॥
व्याख्या—पुव्वद्धं कंठं, पच्छद्धस्स व्याख्या—जा अतिरित्ता वसही कप्पडिगसेविया य सा घंघसाला, ताए भमंताण घट्टणपडणाइ वाघायदोसो, सड्ढकहणेण य वेलाइक्कमणदोसोत्ति । एवमादि ॥ ११६९ ॥
वाघाए तइओ सिं दिज्जइ तस्सेव ते निवेयंति । इयरे पुच्छंति दुवे जोगं कालस्स घेच्छामो ॥ ११७० ॥
व्याख्या—तंमि वाघातिमे दोण्णि जे काळपडियरगा ते निगच्छंति, तेसिं ततिओ उवज्झायादि दिज्जइ, ते काळ-

1 जिनैर्गणधरेभ्य उपदिष्टं ततः परम्परकेण यावदस्माकं गुरूपदेशेन आगतं तत् कृत्वाऽऽवश्यकं अन्ये तिस्रः स्तुतीः कुर्वन्ति अथवा एका एकश्लोकिका द्वितीया द्विश्लोकिका तृतीया त्रिश्लोकिका, तासां समाप्तौ कालप्रतिलेखनाविधिः कर्तव्यः । तिष्ठतु तावद् विधिरयं कालभेदस्तावदुच्यते । पूर्वार्धं कण्ठ्यं पश्चार्धस्य व्याख्या—याऽतिरिक्ता वसतिः कार्पटिकसेविता च सा घंघशाला तस्यां भ्रमतां घट्टनपतनादिर्व्याघातदोषः श्राद्धकथनेन च वेलातिक्रमणदोष इति, एवमादि । तस्मिन् व्याघातवति द्वौ यौ कालप्रतिचारकौ तौ निर्गच्छतः तयोस्तृतीय उपाध्यायादिर्दीयते तौ काल-

निव्वाघाते आपुच्छणं संदिसावण कालपवेयणं च सव्वं तस्सेव करेंति, एत्थ गंडगदिट्ठंतो न भवइ, इयरे उवउत्ता चिट्ठंति, सुद्धे काले तस्सेव उवज्झायस्स पवेयंति । ताहे दंडधरो बाहिं कालपडिचरगो चिट्ठइ, इयरे दुवगा वि अंतो पविसंति, ताहे उवज्झायस्स समीवे सव्वे जुगवं पट्ठवेंति, पच्छा एगो नीति दंडधरो अतीति, तेण पट्ठविए सज्झायं करेंति, ॥ ११७० ॥ निव्वाघाए पच्छद्धं अस्यार्थः—

आपुच्छण किइकम्मे आवासिय पडियरिय वाघाते । इंदिय दिसा य तारा वासमसज्झाइयं चेव ॥ ११७१ ॥

व्याख्या—निव्वाघाते दोण्णि जणा गुरुं आपुच्छंति कालं घेच्छामो, गुरुणा अणुण्णाया 'किइकम्मं'ति वंदणं काउं दंडगं घेत्तुं उवउत्ता आवासियमासज्जं करेन्ता पमज्जन्ता य निगच्छंति, अंतरे य जइ पक्खलंति पडंति वा वत्थादि वा विलग्गति किइकम्मादि किंचि वितहं करेंति तओ कालवाघाओ, इमा काल भूमीपडियरणविही, इंदिएहिं उवउत्ता पडियरंति, 'दिस'त्ति जत्थ चउरोवि दिसा दीसंति, उडुम्मि जइ तिण्णि तारा दीसंति, जइ पुण न उवउत्ता अणिट्ठो

---

१ व्याघाते आपृच्छासंदिशापनकालप्रवेदनानि सर्वं तस्मै एव कुरुतः अत्र गण्डकदृष्टान्तो न भवति इतरे अनुपयुक्तास्तिष्ठन्ति शुद्धे काले तस्यैवोपाध्यायस्य प्रवेदयतः, तदा दण्डधरो बहिः काल प्रतिचरन् तिष्ठति इतरौ द्वावपि अन्तः प्रविशतः तस्योपाध्यायस्य समीपे सर्वे युगपत् प्रस्थापयन्ति पश्चादेको निर्गच्छति दण्डधर आगच्छति, तेन प्रस्थापिते स्वाध्यायं कुर्वन्ति । निर्व्याघाते द्वौ जनौ गुरुमापृच्छेते कालं ग्रहीष्यावः गुरुणाऽनुज्ञातौ कृतिकर्मेति वन्दनं कृत्वा दण्डकं गृहीत्वोपयुक्तौ आवश्यिकीमासज्यां कुर्वन्तौ प्रमार्जयन्तौ च निर्गच्छतः अन्तरा च यदि प्रस्खलतः पततो वा वस्त्रादि वा विलगति कृतिकर्मादि वा किञ्चिद्वितथं कुरुतस्तदा कालव्याघातः, अयं कालभूमिप्रतिचरणविधिः इन्द्रियैरुपयुक्तौ प्रतिचरतः, दिश इति यत्र चतस्रोऽपि दिशो दृश्यन्ते ऋतौ यदि तिस्रस्तारका दृश्यन्ते, यदि पुनर्नोपयुक्तौ अनिष्टो

एमेव य पासवणे बारस चउवीसतिं तु पेहेत्ता । कालस्स य तिन्नि भवे अह सूरो अत्थमुवयाई ॥ १३६४ ॥

व्याख्या—पासवणे एएणेव कमेणं बारस एवं चउवीस अतुरियमसंभंतं उवउत्तो पडिलेहत्ता पच्छा तिन्नि काउ गहणथंडिले पडिलेहेति । अहण्णेण इत्यंतरिए, 'अह'त्ति अनंतरं थंडिलपडिलेहाजोगाणंतरमेव सूरो अत्थमति, ततो आवस्सगं करेइ ॥ १३६४ ॥ तस्सिमो विही—

अह पुण निव्वाघाओ आवास तो करंति सव्वेऽवि । सड्ढाइकहणवाघायायाइ पच्छा गुरू ठंति ॥ १३६५ ॥

व्याख्या—अथेत्यानन्तर्ये सूरत्थमणाणंतरमेव आवस्सयं करेंति, पुनर्विशेषणे, सुयिहमावस्सगकरण विसेसेइ–निव्वाघाय वाघाइम च, जदि निव्वाघायं ततो सव्वे गुरुसहिया आवस्सयं करेंति, अह गुरु सड्ढसु धम्मं कहेंति ता आवस्सगस्स साहूहिं सह करणिज्जस्स वाघाओ भवति, जमि वा काले त करणिज्ज तं हासेंतस्स वाघाओ भवइ, तओ गुरू निसिज्ज हरो य पच्छा चरित्तातियारजाणणट्ठा काउस्सग्गं ठाहिंति ॥ १३६५ ॥

---

१ प्रस्रवणेऽप्यनेनैव क्रमेण द्वादश एवं चतुर्विंशतिमत्वरितम संभ्रममुपयुक्तः प्रतिलिख्य पश्चात् त्रीणि कालग्रहणस्थण्डिलानि प्रतिलेखयन्ति अपरेण इत्यन्तरिते अथेत्यनन्तरं स्थण्डिलप्रतिलेखनायोगानन्तरमेव सूर्योऽस्तमेति तत आवश्यकं कुर्वन्ति । तस्यायं विधिः—सूर्यास्तमनानन्तरमेवावश्यकं कुर्वन्ति, पुनर्विशेषणे, द्विविधमावश्यककरणं विशेषयति—निर्व्याघातं व्याघातवच्च यदि निर्व्याघातं ततः सर्वे गुरुसहिताः आवश्यकं कुर्वन्ति अथ गुरुः श्राद्धानां धर्म कथयति तदाऽऽवश्यकस्य साधुभिः सह करणीयस्य व्याघातो भवति यस्मिन् वा काले तत् कर्तव्य त ह्रासयतो व्याघातो भवते ततो गुरुर्निषद्याधरश्च पश्चात् चारित्रातिचारज्ञानार्थं कायोत्सर्गं करिष्यतः ।

सेसा उ जहासत्ति आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थकरणहेउं आयरिए ठियम्मि देवसियं ॥ ११६६ ॥

व्याख्या—सेसा साहू गुरु आपुच्छित्ता गुरुगणस्स मग्गओ आसन्ने दूरे आधाराइणियाए जं जस्स ठाणं तं सट्ठाणं, तत्थ पडिक्कमंताणं इमा ठवणा । गुरु पच्छा ठायंतो मज्झेण गंतुं सट्ठाणे ठायइ, जे वामओ ते अणंतर पक्खेण गंतुं सट्ठाणे ठायन्ति, जे दाहिणओ अणंतरसपेण गंतुं ठायंति, स य अणागयं ठायंति सुत्तत्थसरणहेउं, तत्थ य पुव्वामेव ठायंता करेमि भंते ! सामाइयमिति सुत्तं करेंति, पच्छा जाहे गुरु सामाइयं करेत्ता वोसिरामित्ति भणित्ता ठिया उस्सग्गं, ताहे देवसियाइयारं चिंतंति, अन्ने भणंति—जाहे गुरु सामाइयं करेंति ताहे पुव्वट्ठियावि तं सामाइयं करेंति, सेसं कंठं ॥ ११६६ ॥

जो हुज्ज उ असमत्थो बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो । सो विकहाइ विरहिओ अच्छिज्जा निज्जरापेही ॥ ११६७ ॥

व्याख्या—परिस्संतो—पाहुणगादि सोवि सज्झायझाणपरो अच्छति, जाहे गुरु ठंति ताहे तेवि बालादिया ठायंति एएण विहिणा ॥ ११६७ ॥

---

१ शेषाः साधवो गुरुमापृच्छ्य गुरुस्थानस्य पृष्ठतः आसन्ने दूरे यथारात्निकतया यस्य यत् स्थानं तत् स्वस्थानं तत्र प्रतिक्रमतामियं स्थापना—गुरुः पश्चात् तिष्ठन् मध्येन गत्वा स्वस्थाने तिष्ठति ये वामतस्तेऽनन्तरं पक्षेण गत्वा स्वस्थाने तिष्ठन्ति ये दक्षिणतोऽनन्तरापसव्येन गत्वा तिष्ठन्ति तत्र अनागतं तिष्ठन्ति सूत्रार्थस्मरणहेतोः तत्र च पूर्वमेव तिष्ठन्तः करोमि भदन्त ! सामायिकमिति सूत्रं कथयन्ति पश्चाद्यदा गुरवः सामायिकं कृत्वा व्युत्सृजामीति भणित्वा स्थिताः उत्सर्गं तदा दैवसिकातिचारं चिन्तयन्ति अन्ये भणन्ति—यदा गुरवः सामायिकं कुर्वन्ति तदा पूर्वं स्थिता अपि तत् सामायिकं कुर्वन्ति शेषं कण्ठ्यम् । परिश्रान्तः—प्राघूर्णकादिः सोऽपि स्वाध्यायध्यानपरस्तिष्ठति यदा गुरवस्तिष्ठन्ति तदा तेऽपि बालादयस्तिष्ठन्ति एतेन विधिना ।

उक्तार्थेयं, चोदक आह—साहुवसहिसमीवेण मयसरीरस्स निज्जमाणस्स जइ पुप्फयरथादि पडइ असज्झाइयं, आचार्य आह—

निज्जत मुत्तूण परवयणे पुप्फमाइपडिसेहो। जम्हा चउप्पगार सारीरमओ न वज्जति ॥ १३६० ॥

व्याख्या—मयसरीर उभओ वसहीए हत्थसतब्भंतर जाव निज्जइ ताव तं असज्झाइयं, सेसा परवयणभणिया पुप्फाई पडिसेहियव्वा—असज्झाइयं न भवति, जम्हा सारीरमसज्झाइयं चउव्विह—सोणियं मंसं चम्म अट्ठिय य तओ तेसु सज्झाओ न वज्जणिज्जो इति गाथार्थः ॥ १३६० ॥

एसो उ असज्झाओ तव्वज्जिउज्झाउ तत्थिमा मेरा। कालपडिलेहणाए गंडगमरुएहिं दिट्ठंतो ॥ १३६१ ॥

व्याख्या—एसो संजमघाताइओ पंचविहो असज्झाओ भणिओ, तेहिं चेव पंचहिं वज्जिओ सज्झाओ भवति, 'तत्थ'त्ति तंमि सज्झायकाले 'इमा' वक्ष्यमाणा 'मेर'त्ति सामाचारी—पडिक्कमिउ जाव वेला न भवति ताव कालपडिलेहणाए कयाए

---

१ साधुवसतेः समीपे मृतकशरीरस्य नीयमानस्य यदि पुष्पवस्त्रादि पतेत् अस्वाध्यायिकं मृतकशरीरं वसतेरुभयतः हस्तशताभ्यन्तरं यावन्नीयते ताव दस्वाध्यायिकं शेषाः परवचनभणिताः पुष्पादयः प्रतिषेद्धव्या—अस्वाध्यायिकं न भवति यस्मात् शारीरमस्वाध्यायिकं चतुर्विध—शोणितं मांसं चर्म अस्थि च ततस्तेषु स्वाध्यायो न वर्जनीयः ॥ एतत् संयमघातादिकं पञ्चविधमस्वाध्यायिकं भणितं तैरेव पञ्चभिर्वर्जितः स्वाध्यायो भवति तत्रेति तस्मिन् स्वाध्याय काले इयं—वक्ष्यमाणा मेरेति—समाचारी—प्रतिक्रम्य यावद्वेला न भवति तावत् कालप्रतिलेखनायां कृतायां

गहणकाले पत्ते भंडणादिहंतो भविस्सइ, गहिए सुद्धे काले पट्ठवणवेलाए मरुगादिहंतो भविस्सतित्ति गाथार्थः ॥ १३११ ॥
स्यादुक्ति:—किमर्थं कालग्रहणम् ?, अथोच्यते—

पंचविहअसज्झायस्स जाणणट्ठाय पेहए कालं । चरिमा चउभागवसेसियाइ भूमिं तओ पेहे ॥ १३१२ ॥

व्याख्या—पंचविधः संयमघातादिकोऽस्वाध्यायः तत्परिज्ञानार्थं प्रेक्षते (कालं) कालवेलां, निरूपयतीत्यर्थः । कालो निरूपणीयः, कालनिरूपणमन्तरेण न ज्ञायते पंचविधसंयमघातादिकं । जइ अपेहेत्तु करेंति वा चउलहुगा, तम्हा कालपडिलेहणाए इमा सामाचारी–दिवसचरिमपोरिसीए चउभागावसेसाए कालग्गहणभूमिओ तओ पडिलेहियव्वा, अहवा तओ उच्चारपासवणकालभूमीयत्ति गाथार्थः ॥ १३१२ ॥

अहियासियाइ अंतो आसन्ने मज्झ मज्झि दूरे य । तिन्नेव अणहियासी अंतो छ च्च बाहिरओ ॥ १३१३ ॥

व्याख्या—'अंतो'त्ति निवेसणस्स तिन्नि–उच्चारअहियासियथंडिले आसण्णे मज्झे दूरे य पडिलेहेइ, अणहियासिया थंडिलवि अंतो एव चेव तिण्णि पडिलेहेति, एवं अंतो थंडिला छ, बाहिं पि निवेसणस्स एव चेव छ भवंति, एत्थ अहियासिया दूरयरे अणहियासिया आसन्नयरे कायव्वा ॥ १३१३ ॥

१ ग्रहणकाले प्राप्ते भण्डकलहान्तो भविष्यति गृहीते शुद्धे च काले प्रस्थापनवेलायां मरुकलहान्तो भविष्यतीति । यथगुरुका कुर्वन्ति यदि चतुर्लघु तस्मात् कालप्रतिलेखनायामियं सामाचारी–दिवसचरमपौरुष्यां चतुर्भागावशेषायां कालग्रहणभूमयस्ततः प्रतिलेखितव्याः अथवा ततः उच्चारप्रश्रवणकालभूमयः । अन्तरिति–निवेशनस्य त्रीणि उच्चाराध्यासितस्थण्डिलानि आसन्ने मध्ये दूरे च प्रतिलेखयति अनध्यासितस्थण्डिलान्यपि अन्तः एवमेव त्रीणि प्रतिलेखयन्ति, एवमन्तःस्थण्डिलानि षट्, बहिरपि निवेशनादेवमेव षड् भवन्ति, अत्राध्यासितानि दूरतरे अनध्यासितानि आसन्नतरे कर्तव्यानि ।

तो उग्घाडकाउस्सग्गं काउं सज्झायं करेंति । सेसट्ठिएसु खीरमुक्कदिणाऽऽरब्भ च हत्थसतब्भतरठिएसु बारसवरिसे असज्झाइय, गाथापूर्वार्द्धे, पश्चार्द्धस्य तु भाष्यकार एव व्याख्या कुर्वन्नाह,—

सीयाणे ज दिट्ठं न त मुत्तूणऽनाहनिहयाणि । आडंबरे य रुद्दे माइसु हिट्ठट्ठिया बारे ॥ २२२ ॥ (भा०) ॥

व्याख्या—'सीयाणे'त्ति सुसाणे जाणिऽट्ठियाणि दड्ढाणि उदगवाहेण वूढाणि न ताणि अट्ठियाणि असज्झाइय करेंति, जाणि पुण तत्थ अणणाह वा अणाहकडेवराणि परिट्ठवियाणि सणाहाणि वा इंधणादिअभावे 'निहय'त्ति निक्खित्ताणि ते असज्झाइय करेंति । पाणत्ति मायंगा, तेसिं आडंबरो जक्खो हिरिमेक्कोऽवि भण्णइ, तस्स हेट्ठा सज्जोमयट्ठीणि ठविज्जंति, एवं रुद्दघरे माइघरे य, ते कालओ बारस वरिसा, खेत्तओ हत्थसयं परिहरणिज्जा इति गाथार्थः ॥ २२२ ॥

आयासिय च पूए सेसे दिट्ठंमि मग्गण विवेगो । सारीरगाम वाडग साहीइ न नीणिय जाव ॥ १३५८ ॥

एताए पुव्वद्धस्स इमा विभासा—

असिवोमाघयणेसु बारस अविसोहियंमि न करेंति । झामिय वूढे कीरइ आवासिय सोहिए चेव ॥ १३५९ ॥

---

1 ततोऽवधारककायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति । शेषास्थिषु क्षीरमोचनदिनादारभ्य च हस्तशताभ्यन्तरस्थितेषु द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायिकं शीतानमिति श्मशाने यान्यस्थीनि दग्धानि उदकवाहेन व्यूढानि न तान्यस्थीनि अस्वाध्यायिकं कुर्वन्ति यानि पुनस्तत्रानाथ अनाथकडेवराणि परिष्ठापितानि सनाथानि वा इन्धनाद्यभावे निक्षिप्तानि तान्यस्वाध्यायिकं कुर्वन्ति । पाणा इति मातङ्गास्तेषामाडम्बरो यक्षो हिरिमेक्कोऽपि भण्यते तस्याधस्तात् सद्यो मृतास्थीनि स्थाप्यन्ते, एवं रुद्रगृहे मातृगृहे च तानि कालतो द्वादश वर्षाणि क्षेत्रतो हस्तशतं परिहरणीयानि । एतस्याः पूर्वार्द्धस्येयं विभाषा ।

अस्य गाथाद्वयस्य व्याख्या—जं सीयाणं जत्थ वा असिवोमे मताणि बहूणि छड्डियाणि,'आघातणं'ति जत्थ वा महासंगामे मया बहू, एएसु ठाणेसु असोहिएसु कालओ बारस वरिसे, खेत्तओ हत्थसयं परिहरंति, सज्झायं न करंतीत्यर्थः। अह एए ठाणा दवग्गिमाइणा दड्ढा उदगवाहो वा तेणंतेण वूढो गामनगरेण वा आवासंतेण अप्पणो घरठाणा सोहिया, सेसपि जं गिहीहिं न सोहियं, पच्छा तत्थ साहू ठिया अप्पणो वसही समंतेण मग्गिऊण य दिट्ठं तं विगिंचिऊण अदिट्ठे वा तिण्णि दिणा उग्घाडणकाउस्सग्गं करेत्ता असढभावा सज्झायं करेंति। 'सारीरगाम' पच्छद्धं, इमा विभासा सरीरेत्ति मयस्स सरीरं जाव डहरगामे ण निप्फिडियं ताव सज्झायं ण करेंति, अह नगरे महंते वा गामे तत्थ वाडगसाहीउ जाव न निप्फेडियं ताव सज्झायं परिहरंति, मा लोगो निद्दुक्खत्ति भणेज्जा॥ तथा चाह भाष्यकारः—

डहरगगाममए वा न करंति जाव ण नीणिय होइ। पुरगामे य महंते वाडगसाही परिहरंती॥२२१॥ (भा०)॥

---

१ यत् श्मशानं यत्र वा शिवाभमशोऽर्ध्वकानि बहूनि मृतानि आघातनमिति यत्र वा महासङ्ग्रामे मृतानि बहूनि एतेषु स्थानेष्वशोधितेषु कालतो द्वादश वर्षाणि क्षेत्रतो हस्तशतं परिहरन्ति—स्वाध्यायं न कुर्वन्तीत्यर्थः। अथैतानि स्थानानि दवाग्न्यादिना दग्धानि उदकवाहो वा तेषामन्तः व्यूढः। ग्राम नगरेण वा..वसताऽऽत्मनो गृहस्थानानि शोधितानि शेषमपि यद्गृहस्थैर्न शोधितं पश्चात् तत्र साधवः स्थिताः आत्मनो वसतिः समन्तात् मार्गयित्वा दृष्ट तत् त्यक्त्वाऽदृष्टे वा त्रीन् दिवसान् उद्घाटनकायोत्सर्गं कृत्वाऽशठभावाः स्वाध्यायं कुर्वन्ति। शारीरग्राम पश्चार्धं इयं विभाषा—शरीरमिति मृतस्य शरीरं यावल्लघुग्रामे न निष्काशितं तावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति, अथ नगरे महति वा ग्रामे तत्र वाटकात् शाखाया वा यावन्न निष्काशितं तावत् स्वाध्यायं परिहरन्ति, मा लोके निर्दुःखा इति भणत्।

सो उग्घाडकाउस्सग्गं काउं सज्झायं करेंति । सेसट्ठिएसु जीवमुक्कदिणाऽऽरब्भ उ हत्थसतब्भतरठिएसु बारसवरिसे असज्झाइयं, गाथापूर्वार्द्धं, पश्चार्द्धस्य तु भाष्यकार एव व्याख्यां कुर्वन्नाह,—

सीयाणे जं दिट्ठं न तं तु मुत्तूणऽणाहनिहयाणि । आडंबरे य रुद्दे माइसु हिट्ठट्ठिया बारे ॥ २२२ ॥ (भा०) ॥

व्याख्या—'सीयाणे'त्ति सुसाणे आणिऽट्ठियाणि दड्ढाणि उदगवाहेण वूढाणि न ताणि अट्ठियाणि असज्झाइयं करेंति, जाणि पुण तत्थ अण्णत्थ वा अणाहकलेवराणि परिट्ठवियाणि सणाहाणि वा इंधणादिअभावे 'निहय'त्ति निक्खित्ताणि ते असज्झाइयं करेंति । पाणत्ति मायंगा, तेसिं आडंबरो जक्खो हिरिमेक्कोऽवि भण्णइ, तस्स हेट्ठा सज्जोमयट्ठीणि ठवि जंति, एवं रुद्दघरे माविघरे य, ते कालओ बारस वरिसा, खेत्तओ हत्थसयं परिहरणिज्जा इति गाथार्थः ॥ २२२ ॥

आवासियं व वूढं सेसे दिट्ठंमि मग्गण विवेगो । सारीरगाम वाडग साहीइ न नीणियं जाव ॥ १३५८ ॥

एताए पुव्वद्धस्स इमा विभासा—

असिवोमाघयणेसु बारस अविसोहियंमि न करंति । झामिय वूढे कीरइ आवासिय सोहिए चेव ॥ १३५९ ॥

---

१ तदोद्घाटककायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति । शेषास्थिषु जीवमोचनदिनादारभ्य तु हस्तशताभ्यन्तरस्थितेषु द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायिकं शीतास्थिति श्मशाने यान्यस्थीनि दग्धानि उदकवाहेन व्यूढानि न तान्यस्थीनि अस्वाध्यायिकं कुर्वन्ति यानि पुनस्तत्रान्यत्र वाऽनाथकलेवराणि परिष्ठापितानि सनाथानि वा इन्धनाद्यभावे निक्षिप्तानि तान्यस्वाध्यायिकं कुर्वन्ति । पाणा इति मातङ्गास्तेषामाडम्बरो यक्षो हिरिमेक्कोऽपि भण्यते तस्याधस्तात् सद्यो मृतास्थीनि स्थाप्यन्ते एवं रुद्रगृहे मातृगृहे च तानि कालतो द्वादश वर्षाणि क्षेत्रतो हस्तशतं परिहरणीयानि । एतस्याः पूर्वार्धस्येयं विभाषा ।

'तं असज्झाइयं न होति, परियावण्णं जहा रुहिरं चेव पूयपरिणामेणं ठियं, विवण्णं खइरकक्कसमाणं रसिगाइयं, सेसं असज्झाइयं हवइ। अहवा सेसं अगारीए संभवति तिण्णि दिणा, धियाए वा जो सावो सो सत्त वा अट्ठ वा दिणे असज्झाओ भवतित्ति। पुरुसपसूयाए सत्त, जेण सुक्कहिया तेण तस्स सत्त, जं पुण इत्थीए अट्ठ एत्थ वुच्चते॥ १३५५॥

रत्तुक्कडा उ इत्थी अट्ठ दिणा तेण सत्त सुक्कहिए। तिण्हं दिणाण परेणं अणोउगं तं महारत्तं ॥ १३५६ ॥

व्याख्या—निसेगकाले रत्तुक्कडयाए इत्थिं पसवइ, तेण तस्स अट्ठ दिणा परिहरणिज्जा, सुक्काहियत्तणओ पुरुसं पसवइ तेण तस्स सत्त दिणा। जं पुण इत्थीए तिण्ह रितुदिणाण परओ भवइ तं सरोगजोणित्थीए अणोउयं तं महारत्तं परओ भण्णइ, तस्सुस्सग्ग काउं सज्झायं करेंति। एस रुहिरे विहित्ति गाथार्थः॥१३५६॥ जं वुत्तं 'अट्ठि मोत्तूण'त्ति तस्सेदाणीं विही भण्णइ—

दंते दिट्ठि विगिंचण सेसट्ठी बारसेव वासाइं। झामिय वूढे सीआण पाणरूवे य मायहरे ॥ १३५७ ॥

व्याख्या—अह दंतो पडिओ सो पयत्तओ गवेसियव्वो, जइ दिट्ठो तो हत्थसया उवरि विगिंचियव्वो, अह न दिट्ठो

1 तद् असास्वाध्यायिकं न भवति पर्यापन्नं यथा रुधिरं पूयपरिणामेन स्थितं विवर्णं खदिरकल्कसमानं रसिकादिकं शेषमस्वाध्यायिकं भवति अथवा शेषम् अगारिकायाः संभवति त्रीन् दिवसान् प्रसूताया वा यः स्रावः स सप्ताहं वा दिवसान् अस्वाध्यायिकं (करोतीति)। पुरुषे प्रसूते सप्त येन शुक्राधिक्यं तेन तस्य सप्त यत् पुनः स्त्रियां अष्ट अत्रोच्यते—निषेककाले रक्तोत्कटतायां स्त्रिं प्रसूते, तेन तस्या अष्टौ दिनाः परिहर्तव्याः शुक्राधिक्यात् पुरुषं प्रसूते तेन तस्य सप्त दिवसाः। यत् पुनः स्त्रियास्त्रिभ्यः ऋतुदिवसेभ्यः परतो भवति तत् सरोगयोनिकायाः स्त्रिया अनृतुकं तत् महारक्तं परतो भण्यते तत्कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति एष रुधिरे विधिरिति। यदुक्तमस्थि मुक्त्वे'ति तस्येदानीं विधिः—यदि दन्तः पतितः स प्रयत्नेन गवेषणीयो यदि दृष्टस्तदा हस्तशतात् उपरि त्यज्यते अथ न दृ-

जइ फुसइ तहिं तुंडं अहवा लिच्छारिएण संचिक्खे ।
इहरा न होइ चोयग ! वंतं वा परिणयं जम्हा ॥ २२१ ॥ (भा०)

व्याख्या—साणो भोत्तुं मंसं लिच्छारिएण मुहेण वसहिआसण्णेण गच्छंतो तस्स जइ तोंडं रुहिरेण लित्तं खोडादिसु फुसति तो असज्झाइयं, अहवा लेच्छारियतुंडो वसहिआसन्ने चिट्ठइ तहवि असज्झाइयं, 'इयरह'त्ति आहारिएण चोयग ! असज्झाइय ण भवति, जम्हा तं आहारियं वंतं अवयं वा आहारपरिणामेण परिणय, आहारपरिणयं च असज्झाइय न भवइ, अण्णपरिणामओ, मुत्तपुरीसादिवत्ति गाथार्थः ॥ २२१ ॥ तेरिच्छसारीरयं गयं, इयाणिं माणुससरीरं, तत्थ—

माणुस्सय चउद्धा अट्ठिं मुत्तूण सयमहोरत्तं । परिआवन्नविवन्ने सेसे तियसत्त अट्ठेव ॥ ११५५ ॥

व्याख्या—तं माणुस्ससरीरं असज्झाइयं चउविहं चम्मं मंसं रुहिर अट्ठियं च, (तत्थ अट्ठिय) मोत्तुं सेसस्स तिविहस्स इमो परिहारो—खेत्तओ हत्थसयं, कालओ अहोरत्तं, जं पुण सरीराओ चेव वणादिसु आगच्छइ परियायण्णं विवण्णं वा

1 वा भुक्त्वा मांसं लिप्तेन मुखेन वसत्यासन्नेन गच्छन् (यात्) तस्य मुखं यदि रुधिरेण लिप्तं स्तम्भकोष्ठादिषु स्पृशति तदाऽस्वाध्यायिकं अथवा लिप्तमुखो वसत्यासन्ने तिष्ठति तथापि अस्वाध्यायः इतरथेति आहारितेन चोदक ! अस्वाध्यायिकं न भवति यस्मात् तदाहारितं वान्तमवान्तं वाऽऽहारपरिणामेन परिणतं आहारपरिणामपरिणतं चास्वाध्यायिकं न भवति अन्यपरिणामात् मूत्रपुरीषादिवत् । तैरश्चं शारीरं गत इदानीं मानुषशरीरं तत्र—तन्मानुषशरीरमस्वाध्यायिकं चतुर्विधं—चर्म मांसं रुधिरं अस्थि च, तत्रास्थि मुक्त्वा शेषस्य त्रिविधस्यायं परिहारः—क्षेत्रतो हस्तशतं कालतोऽहोरात्रं यत् पुनः शरीरादेव व्रणादिष्वायाति पर्यापन्नं विवर्णं वा

भवराय तिन्नि पोरिसि जराउआण जरे पडे तिन्नि। रायपह बिंदु पडिए कप्पइ वूढे पुणाऽऽलम्ब ॥२२०॥ (भा०)

व्याख्या—जरुं जेसिं न भवति तेसिं पसूयाण वग्गुलिमाइयाण, तासिं पसूइकालाओ आरब्भ तिण्णि पोरुसीओ असज्झाओ मुत्तुमहोरत्त छेद, आसमपसूयाएवि अहोरत्तछेदेण मुच्चइ, गोमादिजराउयाणं पुण जाव जरुं लंबइ ताव असज्झाइयं 'जरे पडिए'त्ति जाहे जरु पडियं भवइ ताहे ताओ पडणकालाओ आरब्भ तिन्नि पहरा परिहरिज्जंति । 'रायपह वूढ सुद्धे'त्ति अस्या व्याख्या—'रायपह बिंदु' पच्छद्धं साहुवसही आसण्णेण गच्छमाणस्स तिरियस्स जदि रुहिरबिंदु गलिया ते जइ रायपहतरिया तो सुद्धा, अह रायपहे चेव बिंदू पडिओ तहावि सज्झाओ कप्पतित्तिकाउं, अह अण्णपहे अण्णत्थ वा पडियं तो जइ उदगवुहुवाहेण हियं तो सुद्धो, 'पुणो'त्ति विशेषार्थप्रतिपादकः, पलीवणगेण वा दड्ढे सुद्ध इति गाथार्थः ॥ २२० ॥ मूल गाथायां 'परवयण साणमादीणि'त्ति परोत्ति चोयगो तस्स वयणं जइ साणो पोग्गल समुद्दिसित्ता जाव साहुवसहीसमीवे चिट्ठइ ताव असज्झाइयं, आदिसद्दाओ मंजारादी । भाष्यार्थ आह—

1 जरायुर्येषां न भवति तासां प्रसूतानां वल्गुल्यादीनां तासां प्रसूतिसमयाद् आरभ्य तिस्रः पौरुषीरस्वाध्यायः मुक्त्वाऽहोरात्रच्छेद—आसन्नप्रसूतानामपि अहो रात्रच्छेदेन मुच्यते गवादीनां जरायुजानां पुनर्यावत् जरायुर्लम्बते तावदस्वाध्यायिकं जरायौ पतिते इति यदा जरायुः पतितो भवति तदा तस्मात् पतनकालाद् आरभ्य त्रयः प्रहराः परिह्रियन्ते । राजपथव्यूढे शुद्धमिति राजपथ बिन्दवः । पश्चार्धं । साधुवसतेरासन्नेन गच्छतस्तिरश्चो यदि रुधिरबिन्दवो गलितास्ते यदि राजपथान्तरिता यदि शुद्धाः अथ राजपथ एव बिन्दुः पतितः तथापि स्वाध्यायः कल्पते इतिकृत्वा अथान्यपथेऽन्यत्र वा पतितः तर्हि उदकवाहेन व्यूढं तर्हि शुद्धः प्रदीपनकेन वा दग्धे शुद्धमिति । पर इति चोदकः तस्य वचनं यदि श्वा पुद्गलं समुद्दिश्य यावत् साधुवसतिसमीपे तिष्ठति तावदस्वाध्यायिकं आदिशब्दात् मार्जारादयः ।

मूसाइ महाकाय मज्जाराईइयाघयण केई। अविभिन्ने गिण्हेउ पडति एगे जइऽपलोभो ॥ २१८ ॥ (भा०) ॥

गतार्थैवेयं ॥ 'तिरियमसज्झाइयाहियागार एव इम भण्णइ—

अंतो बहिं च भिन्न अंडग बिंदू तहा विआया य। रायपह बूढ सुद्धे परवयणे साणमादीणं ॥ १३५४ ॥ द्वारं ॥

व्याख्या स्वस्या भाष्यकार एव प्रतिपद करिष्यति। लाघवार्थं त्विह न व्याख्यायते 'अंतो बहिं च भिन्नं अंडग बिंदु'त्ति अस्य गाथाशकलस्य व्याख्या—

अडगमुज्झियकप्पे न य भूमि खणंति इहरहा तिन्नि। असज्झाइयपमाणं मच्छियपाओ जहिं न बुड्डे ॥२१९॥ (भा०)

साहुवसहीए सट्ठीए हत्थाणंतो भिन्ने अंडए असज्झाइयं बहिभिन्ने न भवइ। अहवा साहुस्स वसहिए अंतो बाहिं च अंडयं भिन्नंति वा उज्झियंति वा एगट्ठं, त च कप्पे वा उज्झियं भूमीए वा, जइ कप्पे तो कप्पं सट्ठीए हत्थाणं बाहिं नीणऊण धोवंति तओ सुद्धं, अह भूमीए भिन्नं तो भूमी खणेउं ण छड्डिज्जइ, न शुध्यतीत्यर्थः। 'इयरह'त्ति तत्थत्थे सट्ठिहत्था तिन्नि य पोरुसीओ परिहरिज्जइ, 'असज्झाइयस्स पमाणं'ति, किं बिंदुपरिमाणमेत्तेण हीणेण अहियतरेण वा असज्झाओ भवइ ?, पुच्छा, उच्यते, मच्छियाए पाओ जहिं [न] बुड्डइ त असज्झाइयपमाणं। 'इयाणि वियायत्ति' तत्थ—

1 तिरश्चामस्वाध्यायिकाधिकार एवेदं भण्यते। साधुवसतेः षष्टिहस्तेभ्योऽर्वाग् भिन्नेऽण्डेऽस्वाध्यायिकं बहिर्भिन्ने न भवति अथवा साधोर्वसतेरन्तर्बहिर् वाऽण्डं भिन्नमिति वोज्झितं वैकार्थौ तच्च कल्पे वोज्झितं भूमौ वा यदि कल्पे तर्हि कल्पं षष्टिहस्तेभ्यो बहिः नीत्वा धोवन्ति ततः शुद्ध अथ भूमौ भिन्नं तर्हि भूमिः खनित्वा न त्यज्यते। इतरथेति तत्रस्थे परिहियन्ताः तिस्रश्च पौरुष्यः परिह्रियन्ते अस्वाध्यायिकस्य प्रमाणमिति-किं बिन्दुमात्रपरिमाणेन हीनेनाधिकतरेण वाऽस्वाध्यायो भवति ? पृच्छा उच्यते, मक्षिकायाः पादो यत्र न बुडति तदस्वाध्यायिकप्रमाणं। इदानीं प्रसूतेति तत्र।

भजराउ तिन्नि पोरिसि जराउभाण जरे पडे तिन्नि। रायपह बिंदु पडिए कप्पइ वूढे पुणाऽऽरत्थ ॥ २२० ॥ (भा०)

व्याख्या—जरं जेसिं न भवति तेसिं पसूयाणं वग्गुलिमाइयाणं, तासिं पसूइकालाओ आरब्भ तिण्णि पोरुसीओ असज्झाओ मुत्तुमहोरत्त छेदं, आसन्नपसूयाए वि अहोरत्तछेदेण सुज्झइ, गोमादिजराउयाणं पुण जाव जरु लंबइ ताव असज्झाइयं 'जरे पडिए'त्ति जाहे जरु पडियं भवइ ताहे ताओ पडणकालाओ आरब्भ तिन्नि पहरा परिहरिज्जंति । 'रायपह वूढ सुद्धे'त्ति अस्या व्याख्या—'रायपह बिंदु' पच्छद्धं साहुवसही आसण्णेण गच्छमाणस्स तिरियस्स जदि रुहिरबिंदु गलिया ते जइ रायपहंतरिया तो सुद्धा, अह रायपहे चेव बिंदू पडिओ तहावि सज्झाओ कप्पतित्तिकाउं, अह अण्णपहे अण्णत्थ वा पडियं तो अह उदगवुहुवाहेण हियं तो सुद्धो, 'पुणो'त्ति विशेषार्थप्रतिपादका, पलीवणगेण वा दड्ढं सुज्झ इति गाथार्थः ॥ २२० ॥ मूल गाथायां 'परवयण साणमादीणि'त्ति परोत्ति चोयगो तस्स वयणं जइ साणो पोग्गलं समुद्दिसिया आय साहुवसहीसमीये चिट्ठइ ताव असज्झाइयं, आदिसद्दाओ मंजारादी । आचार्य आह—

---

१ जरायुजं येषां न भवति तेषां प्रसूतानां वल्गुल्यादीनां तासां प्रसूतिकालात् आरभ्य तिस्रः पौरुषीरस्वाध्यायः मुक्त्वाऽहोरात्रच्छेदं–आपन्नप्रसूतानामपि अहो रात्रच्छेदेन शुध्यति गवादीनां जरायुजानां पुनर्यावत् जरायुर्लम्बते तावदस्वाध्यायिक जरायौ पतिते इति यदा जरायुः पतितो भवति तदा तस्मात् पतनकालात् आरभ्य त्रयः प्रहराः परिह्रियन्ते । राजपथमूढे शुद्धमिति राजपथे बिन्दवः । पश्चार्धं । साधुवसतेरासन्नेन गच्छतस्तिरश्चो यदि रुधिरबिन्दवो गलितास्ते यदि राजपथान्तरिताः सर्वे शुद्धाः अथ राजपथ एव बिन्दुः पतितः तथापि स्वाध्यायः क्रियते इतिकृत्वा अथान्यपथेऽन्यत्र वा पतिताः तर्हि उदकप्रवाहेण ह्रतं शुद्धं प्रदीपनकेन वा दग्धं शुध्यतीति । वा इति चोदक तस्य वचनं यदि वा शुनक पुद्गलं भक्षयित्वा यावत् साधुवसतिसमीपे तिष्ठति तावदस्वाध्यायिकं आदिशब्दात् मार्जारादयः ।

मूसाइ महाकाय मज्जाराईहयाघयण केई। अविभिन्ने गिण्हेउ पढति एगे अइऽपलोभो ॥ २१८ ॥ (भा०) ॥

गतार्थैवेय ॥ 'तिरियमसज्झाइयाहियागार एव इमं भवइ—

अतो यहिं च भिन्न अंडग बिंदू तहा विआया य। रायपह वूढ सुद्धे परवयणे साणमादीण ॥ १३५४ ॥ दारं ॥

व्याख्या त्वस्या भाष्यकार एव प्रतिपदं करिष्यति। आद्यपादं त्विह न व्याख्यायते 'अतो यहिं च भिन्नं अंडग

बिंदु'त्ति अस्य गाथाशकलस्य व्याख्या—

अंडगमुज्झियकप्पे न य भूमि खणंति इहरहा तिन्नि। असज्झाइयपमाणं मच्छियपाओ जहिं न वुड्डे ॥२१९॥ (भा०)

साहुवसहीए सद्धीए हत्थाणतो भिन्ने अंडए असज्झाइयं सहिभिन्ने न भवइ। अहवा साहुस्स वसहिए अंतो यहिं च अंडयं भिन्नंति वा उज्झियंति वा एगट्ठ, तं च कप्पे वा उज्झियं भूमीए वा, जइ कप्पे तो कप्पं सद्धीए हत्थाण बाहिं नीणऊण धोवंति तओ सुद्धं, अह भूमीए भिन्न तो भूमी खणेउं ण छड्डिज्जइ, न शुध्यतीत्यर्थः। 'इयरह'त्ति तत्थत्थे सट्ठिहत्था तिन्नि य पोरुसीओ परिहरिज्जइ, 'असज्झाइयस्स पमाणं'ति, किं बिंदुपरिमाणमेत्तेण हीणण अहिययरेण वा असज्झाओ भवइ ?, पुच्छा, वच्यते, मच्छियाए पाओ जहिं [न] वुड्डइ त असज्झाइयपमाणं। 'इयाणिं वियायत्ति' तत्थ—

१ तिर्यगस्वाध्यायिकाधिकार एवेदं भण्यते। साधुवसतेः षष्टिहस्तेभ्योऽर्वाग् भिन्नेऽण्डेऽस्वाध्यायिकं बहिर्भिन्ने न भवति अथवा साधोर्वसतेरभ्यन्तरे यदि अण्डं भिन्नमिति वोज्झितं वैकार्थौ तच्च कल्पे वोज्झितं भूमौ वा यदि कल्पे तर्हि कल्पं षष्टिहस्तेभ्यो बहिः नीत्वा धावन्ति ततः शुद्धं, अथ भूमौ भिन्नं तर्हि भूमिः खनित्वा न त्यज्यते। इतरथेति तत्रत्ये षष्टिहस्ताः तिस्रश्च पौरुष्यः परिह्रियन्ते अस्वाध्यायिकस्य प्रमाणमिति–किं बिन्दुमात्रपरिमाणेन हीनेनाधिकतरेण वाऽस्वाध्यायो भवति ? पृच्छा, उच्यते मक्षिकायाः पादो यत्र न ब्रुडति तदस्वाध्यायिकप्रमाणं। इदानीं प्रसूतेति तत्र।

भजराउ तिन्नि पोरिसि जराउआण जरे पडे तिन्नि। रायपह बिंदु पडिए कप्पइ वूढे पुणाऽऽलित्ते ॥ २२० ॥ (भा०)

व्याख्या—जैरु जेसिं न भवति तेसिं पसूयाणं वग्गुलिमाइयाणं, तासिं पसूइकालाओ आरब्भ तिण्णि पोरुसीओ असज्झाओ मुसमहोरत्त छेद, आसक्षपसूयाएवि अहोरत्तछेदेण सुज्झइ, गोमादिजराउआणं पुण जाव जरु लंबइ ताव असज्झाइयं 'जरे पडिए'त्ति जाहे जरुं पडियं भवइ ताहे ताओ पडणकालाओ आरब्भ तिन्नि पहरा परिहरिज्जंति । 'राय पह वूढ सुद्धे'त्ति अस्या व्याख्या—'रायपह बिंदु' पच्छद्धं साहुवसही आसण्णेण गच्छमाणस्स तिरियस्स जदि रुहिरबिंदु गलिया ते जइ रायपहंतरिया तो सुद्धा, अह रायपहे चेव बिंदू पडिओ तहावि सज्झाओ कप्पतित्तिकाउं, अह अण्णपहे अण्णत्थ वा पडियं तो जइ उदगवुहुवाहेण हियं तो सुद्धो, 'पुणो'त्ति विसेसार्थप्रतिपादकः, पलीवणगेण वा दड्ढे सुज्झ इति गाथार्थः ॥ २२० ॥ मूल गाथायां 'परवयण साणमादीणि'त्ति परोत्ति चोयगो तस्स वयणं जइ साणो पोग्गलं समु द्दिसित्ता जाव साहुवसहीसमीवे चिट्ठइ ताव असज्झाइय, आदिसद्दाओ मंजारादी । आचार्य आह—

---

१ जरायुर्वंर्धो न भवति तेषां प्रसूतानां वग्गुल्यादीनां तासां प्रसूतिकालात् आरभ्य तिस्रः पौरुषीरस्वाध्यायः शुध्यत्यहोरात्रच्छेदेन—मासकप्रसूतानामपि अहोरात्रच्छेदेन शुध्यति गवादीनां जरायुजानां पुनर्यावत् जरायुर्लम्बते तावदस्वाध्यायिकं जरायौ पतिते इति यदा जरायुः पतितो भवति तदा तस्मात् पतनकालात् आरभ्य त्रयः प्रहराः परिह्रियन्ते । राजपथभूते शुद्धमिति राजपथे बिन्दवः । पश्चार्धं । साधुवसतेरासन्नेन गच्छतस्तिरश्चो यदि रुधिरबिन्दवो गलितास्ते यदि राजपथान्तरितास्तर्हि शुद्धाः अथ राजपथ एव बिन्दुः पतितः तथापि स्वाध्यायः कल्पते इतिकृत्वा अथान्यपथेऽन्यत्र वा पतितः तर्हि उदकप्रवाहेण ह्रियते तर्हि शुद्धा प्रदीपनकेन वा दग्ध शुध्यतीति । पर इति मादकः तस्य वचनं यदि वा मूषकं भुक्त्वा यावत् साधुवसतिसमीपे तिष्ठति तावदस्वाध्यायिकं आदिशब्दात् मार्जारादयः ।

मूसाइ महाकाय मज्जाराईहयाघमण केई। अविभिन्ने गिण्हेउ पढति एगे जइऽपसोभो ॥ २१८ ॥ (भा०) ॥

गतार्थैवेय ॥ 'तिरियमसज्झाइयाहियागार एव इमं भणइ—

अतो बहिं च भिन्न अंडग बिंदू तहा विआया य। रायवइ धूम सुद्धे परवयणे साणमादीणं ॥ १३५४ ॥ दारं ॥

व्याख्या त्वस्या भाष्यकार एव प्रतिपद करिष्यति। लाघवार्थं त्विह न व्याख्यायते 'अंतो बहिं च भिन्न अंडग

बिंदु'त्ति अस्य गाथाशकलस्य व्याख्या—

अंडगमुज्झियकप्पे न य भूमि खणंति इहरहा तिन्नि। असज्झाइयपमाणं मच्छियपाओ जहिं न बुड्डे ॥२१९॥ (भा०)

साहुवसहीए सट्ठीए हत्थाणंतो भिन्ने अंडए असज्झाइयं बहिभिन्ने न भवइ। अहवा साहुस्स वसहिए अंतो बहिं च अंडयं

भिन्नंति वा उज्झियंति वा एगट्ठं, तं च कप्पे वा उज्झियं भूमीए वा, अह कप्पे तो कप्प सट्ठीए हत्थाणं बाहिं नीणेऊण

धोवंति तओ सुद्धं, अह भूमीए भिन्नं तो भूमी खणेउ ण छड्डिज्जइ, न शुध्यतीत्यर्थः। 'इयरह'त्ति तत्यत्थे सट्ठिहत्था

तिन्नि य पोरुसीओ परिहरिज्जइ, 'असज्झाइयस्स पमाण'ति, किं बिंदुपरिमाणमेत्तेण हीणेण अहिययरेण वा असज्झाओ

भवइ ?, पुच्छा, उच्यते, मच्छियाए पाओ जहिं [न] बुड्डइ तं असज्झाइयपमाणं। 'इयाणिं वियायत्ति' तत्थ—

१ हैरश्मास्वाध्यायिकाधिकार एवेदं भण्यते। साधुवसतेः षष्टिहस्तेभ्योऽर्वाग् भिन्नेऽण्डेऽस्वाध्यायिकं बहिर्भिन्ने न भवति अथवा साधोर्वसतेरन्तर्बहि भिन्नमुज्झितमिति चैकार्थं तच्च कल्पे वोज्झितं भूमौ वा यदि कल्पे तर्हि कल्पं षष्टिहस्तेभ्यो बहिः नीत्वा धोवन्ति ततः शुद्धं, अथ भूमौ भिन्नं तर्हि भूमिः खनित्वा न त्यज्यते। इतरथेति तत्रस्थे षष्टिहस्ताः तिस्रश्च पौरुष्यः परिह्रियन्ते अस्वाध्यायिकस्य प्रमाणमिति—किं बिन्दुमात्रपरिमाणेन हीनेनाधिकतरेण वाऽस्वाध्यायो भवति ? पृच्छा उच्यते मक्षिकायाः पादो यत्र न बुडति तदस्वाध्यायिकप्रमाणं। इदानीं प्रसूतेति तत्र।

मेंतो पोविजु तीए एक्के वा तंमि ठाणे अववया पडंति तेण असज्झाइयं, तदयभंगे बहिं पोविजु मंतो पवीए मंसमेव असज्झाइयंति, तं च उक्खित्तमंस आइण्णपोग्गलं न भवइ, अ कालसाणादीहिं अणिवारियविप्पइण्णं निज्झ तं आइण्णपोग्गलं भाणियव्वं। 'महाकाए'त्ति, अस्या व्याख्या—जो पंचिंदिओ जत्थ हओ तं आघायठाणं वज्जेयव्वं, सेसओ सट्ठिहत्था, कालओ अहोरत्त, एत्थ अहोरत्तछेओ सूरुदएण, एक्क पक्खे वा मंसं असज्झाइयं न हवइ, अत्थ य पोसे तेण पएसेण महंसो उदगवाहो पूरो से विवोरिसिकाले अपुसेवि सुत्तं, आघायणं न सुज्झइ, 'महाकाए'त्ति अस्य व्याख्या—महाकाएत्ति पच्छद्धं, मूसगादि महाकाओ सोऽवि बिरालाइणा आहओ, जदि त अभिन्नं चेव गहिउं गच्छइ वा सट्ठीए हत्थाणं बाहिं गच्छइ त केइ आयरिया असज्झाइयं नेच्छंति। गाथायां तु यदुक्तं केइ इच्छंति, तत्र स्वाध्यायोऽभिसंबध्यते, मेर पक्खसो पुण असज्झाइय चेवत्ति गाथार्थः ॥ १३५२ ॥ अस्यैवार्थस्य प्रकटनार्थमाह भाष्यकारः—

१ योऽन्यः मार्जारश्च तत्र रात् वा तस्मिन् स्थानेऽवयवाः पतन्ति तेनास्वाध्यायिकं तृतीयभंगे बहिः प्रभावस्यान्तःमध्ये मांसमेवास्वाध्यायिकमिति तदुत्क्षिप्तमांसं आकीर्णपुद्गलं न भवति यत् काकादिभिरनिवारितं विप्रकीर्णं दीयते तत् आकीर्णपुद्गलं भणितव्यं। महाकाय इति, यः पंचेन्द्रियो यत्र हतस्तत् आघातस्थानं वर्जितव्यं क्षेत्रतः षष्टिहस्ताः कालतोऽहोरात्रं अत्राहोरात्रच्छेदः सूर्योदयेन तावत् पक्षे वा मांसं अस्वाध्यायिकं न भवति यत्र च पीत तत्र प्रदेशेन महान् उदकप्रवाहो पूरस्तस्मिन् त्रिपौरुषीकालेऽप्राप्तेऽपि शुद्धं, आघातनं न शुध्यति महाकाय इत्यस्य व्याख्या—महाकाय इति पश्चार्धं, मूषकादिर्महाकायः सोऽपि मार्जारादिनाऽऽहतः यदि तमभिन्नमेव गृहीत्वा गच्छति वा षष्टेर्हस्तेभ्यो बहिर्गच्छति तत् केचिदाचार्या अस्वाध्यायिकं नेच्छन्ति। यदेतदिच्छन्ति तत्रैतदुक्तः पुनरस्वाध्यायिकमवति।

वेघालियं चदुगविज्झय पोरुसिमंडलमादी, अहवा असज्झायं चउविह इम–मंस सोणियं चम्मं अट्ठि पत्ति गाथार्थः ॥ १९५१ ॥ मंसासिणा वक्खित्ते मसे इमा विही—

अंतो बहिं च धोअ सट्ठीहत्थाउ पोरिसी तिन्नि । महकाएँ अहोरत्त रद्धे वुट्ठे अ सुद्ध तु ॥ ११६२ ॥

व्याख्यानगाथा—

बहिधोयरद्धपक्के अंतो धोए स अवयवा हुंति । महकाय बिरालाई अविभिन्ने केइ इच्छंति ॥ ११६३ ॥

इमीण वक्खाणं–साहु वसहीओ सट्ठीहत्थाणं अतो बहिं च धोअन्ति भंगदर्शनमेतत्, अंतोधोयं अंतो पक्क, अतोधोय पडिपक्क बाहिं धोयं अंतो पक्कं, अंसग्गहणाउ पढमबितिया भंगा बहीग्गहणाउ ततिओ भंगो, एएसु तिसुवि असज्झाइयं, जंमि पएस धोयं आणेउं वा रद्धं सो पएसो सट्ठिहत्थेहिं परिहरियव्वो, कालओ तिन्नि पोरुसिओ। तथा द्वितीयगाथाया पूर्वार्द्धेन यदुक्त 'ब हिधोयरद्धपक्के' एस चउत्थभंगो, एरिसं जइ सट्ठीए हत्थाण अब्भंतरे आणीयं तहावि तं असज्झाइयं न भवइ, पढमबितियभंगेसु

---

१ वैचारिक [illegible] पौरुषीमण्डलादि अथवा असाज्झायिक चतुर्विधमिदं–मांसं शोणितं चर्म अस्थि चेति । मांसादिचतुष्टये मांसस्य विधि [illegible] अन्तर्बहिश्च [illegible] प्रथमद्वितीयौ भङ्गौ, बहिर्ग्रहणात् तृतीयो भङ्गः । एतेषु त्रिष्वप्यसाज्झायिकं यस्मिन् प्रदेशे धौतं आनीतं वा राद्धं स प्रदेशः परिहर्तव्यः कालतः तिस्रः पौरुष्यः बहिर्धौतपक्वं एष चतुर्थो भङ्गः ईदृशं यदि षष्टिहस्ताभ्यन्तरमानीतं तथापि तदसाज्झायिकं न भवति, प्रथमद्वितीयभङ्ग

व्याख्या—'पंचिंदियाण रुहिराइदव्वं असज्झाइयं, खेत्तओ सट्ठिहत्थब्भंतरे असज्झाइयं, परओ न भवइ, अहवा खेत्तओ पोग्गलाकिण्णं—पोग्गल मंसं तेण सव्वं आकिण्णं—व्याप्तं, तस्सिमो परिहारो—तिहिं कुरत्थाहिं अंतरियं सुज्झइ, आरओ न सुज्झइ, अणंतरं दूरट्ठिय न सुज्झइ। महंतरत्था—रायमग्गो जेण राया बलसमग्गो गच्छइ देवजाणरहो वा विविहा य आसवाहणा गच्छंति, सेसा कुरत्था, एसा नगरे विही, गामस्स नियमा बाहिं, जत्थ गामो अविसुद्धणेगमनयदरिसणेण सीमापज्जंतो, परगामे सीमाए सुज्झइत्ति गाथार्थः ॥ १३५० ॥

काले तिपोरसिऽट्ठ व भावे सुत्त तु नंदिमाईयं। सोणिय मंसं चम्म अट्ठी विय हुंति चत्तारि ॥ १३५१ ॥

व्याख्या—तिरियमसज्झायं संभवकालाओ जाव तइया पोरुसी ताव असज्झाइयं परओ सुज्झइ, अहवा अट्ठ जामा असज्झाइयत्ति—से अत्थापायणक्खाण तत्थ भवंति। भावओ पुण परिहरंति सुत्तं, तं च नंदिमणुओगदार तंदुल-

---

1 पञ्चेन्द्रियाणां रुधिरादिद्रव्यं अस्वाध्यायिकं क्षेत्रतः षष्टिहस्ताभ्यन्तरेऽस्वाध्यायिकं परतो न भवति अथवा क्षेत्रतः पुद्गलाकीर्णं—पुद्गलं—मांसं तेन सर्वमाकीर्णं तस्यायं परिहारः—त्रिभिः कुरथ्याभिरन्तरितं शुध्यति आरात् न शुध्यति, अनन्तरं दूरस्थितेऽपि न शुध्यति महारथ्या—राजमार्गः येन राजा बलसमग्रो गच्छति देवयानरथो वा विविधान्यश्ववाहनानि गच्छन्ति शेषाः कुरथ्याः। एष नगरे विधिः ग्रामात् नियमतो बहिः यत्र ग्रामोऽविशुद्धनैगमनयदर्शनेन सीमापर्यन्तः परग्रामे सीमनि शुध्यति। तैरश्चमस्वाध्यायिकं संभवकालात् यावत्तृतीया पौरुषी तावदस्वाध्यायिकं परतः शुध्यति अथवा अष्ट यामान् अस्वाध्यायिकमिति—अर्थापादक्षणं तत्र भवन्ति, भावतः पुनः परिहरन्ति सूत्रं तच्च नन्दी अनुयोगद्वाराणि तन्दुल-

सज्झाओ न सुज्झइ, जदि तेहिं छड्डिओ सुद्धो, अह न छड्डेंति ताहे अण्ण वसहिं मग्गंति, अह अण्णा वसही न लब्भइ ताहे वसहा अप्पसागारिए विगिंचंति। एस अभिण्णे विही, अह भिण्णं ढंकमादिएहिं समंता विक्खिण्णं दिट्ठमि विविचंमि सुद्धा, अदिट्ठे ताव गवेसेंतेहिं जं दिट्ठं तं सव्वं विविचंति छड्डियं, इयरंमि अदिट्ठंमि तत्थत्थेवि सुद्धा—सज्झायं करेंताणवि न पच्छित्तं, एत्थ एयं पसंगओ भणियंति गाथार्थः ॥ ११४८ ॥ बुग्गहेत्ति गय, इयाणिं सारीरेत्ति दारं, तत्थ—

सारीरंपिय दुविह माणुस तेरिच्छिय समासेणं। तेरिच्छ तत्थ तिहा जलथलखहजं चउद्धा उ ॥ ११४९ ॥

व्याख्या—सारीरमपि असज्झाइयं दुविहं—माणुससरीररुहिरादि तेरिच्छं असज्झाइयं च। एत्थ माणुसं ताव चिट्ठउ, तेरिच्छं ताव भणामि, तं तिविहं—मच्छादियाण जलजं गवाइयाण थलज मयूराइयाण खहयरं। एएसिं एक्कं दव्वाइयं चउव्विहं, एक्केक्कस्स वा दव्वादिओ इमो चउद्धा परिहारोत्ति गाथार्थः ॥ ११४९ ॥

पंचिंदियाण दव्वे खेत्ते सट्ठिहत्थ पुग्गलाइण्णं। तिकुरत्थ महंतेगा नगरे बाहिं तु गामस्स ॥ ११५० ॥

---

१ स्वाध्यायो न शुध्यति यदि तैस्त्यक्तः शुद्धः अथ न त्यजन्ति तदाऽन्यां वसतिं मार्गयन्ति अथान्या वसतिर्न लभ्यते तदा वृषभा अल्पसागारिके त्यजन्ति एषोऽभिन्ने विधिः अथ भिन्नं ढङ्कादिभिः समन्तात् विकीर्णं दृष्टे विविक्ते शुद्धाः अदृष्टे तावद् गवेषयद्भिर्यद्दृष्टं तत् सर्वं परिष्ठापितं इतरस्मिन्—अदृष्टे तत्रस्थेऽपि शुद्धाः—स्वाध्यायं कुर्वतामपि न प्रायश्चित्तं अत्रैतत् प्रसङ्गतो भणितं। व्युद्ग्रह इति गतं इदानीं शारीरमिति द्वारं तत्र—शारीरमपि अस्वाध्यायिकं द्विविधं—मानुष्यशरीररुधिरादि तैरश्चमस्वाध्यायं च अत्र मानुष्यं तावत्तिष्ठतु तैरश्चं तावद्भणामि—त्रिविधं—मत्स्यादीनां जलजं गवादीनां स्थलजं मयूरादीनां खचरं एतेषामेकैकं द्रव्यादिकं चतुर्विधं एकैकस्य वा द्रव्यादिकोऽयं चतुर्धा परिहार इति।

भिक्खू बहुस्सुओ य पणओ बहुपक्खियवक्खि—बहुसयणो, वायगारहिए वहिर्वे सेज्जायरे मण्णंमि वा अण्णयरपराओ आरब्भ जाव सत्तघरंतरं एएसु मएसु अहोरत्त सज्झाओ न कीरइ, अह करेंति निग्गुणत्तिकाउं जणो गरहति मओ सेज्ज वा निच्छुभेज्ज वा, अप्पसद्देण वा सज्झियं करेंति अणुपेहेंति वा, जो पुण अणाहो मरति तं जइ उज्झिएणं हत्थसयं वज्जिज्जइ । विवित्तंमि-सय सज्झेयव्वं, अणुज्झिए असज्झाये न हवइ तहवि कुच्छियंतिकाउं आयरणाओऽवहियं हत्थसयं वज्जिज्जइ । विवित्तंमि-
परिट्ठवियंमि 'सुद्ध तु' त्ति ठाणं सुद्धं भवइ, तत्थ सज्झाओ कीरइ, जइ य तस्स न कोइ परिठवेंतओ ताहे ॥ ११४७ ॥–

सागारियाइ कहण अणिच्छ रत्तिं वसहा विगिंचंति ।
विक्खिण्णे व समंता जं दिट्ठ सढेयरे सुद्धा ॥ ११४८ ॥

व्याख्या—जदि नत्थि परिट्ठवेंतओ ताहे सागारियस्स आइक्खंति पुराणसङ्खस्स अहाभद्दगस्स इमं छड्डेह अम्ह

---

१ भिक्षुको बहुश्रुतस्य महत्तः, बहुपाक्षिक इति बहुस्वजनो वाचकरहितेऽपि वा शय्यातरे अन्यस्मिन् वा अन्यतरगृहादारभ्य यावत् सप्तगृहान्तरं एतेषु मृतेषु अहोरात्रं स्वाध्यायो न क्रियते, अथ कुर्वन्ति निर्गुणा इतिकृत्वा जनो गर्हते आक्रोशेद्वा निष्काशयेद्वा अल्पशब्देन वा शनैः कुर्वन्ति अनुप्रेक्षन्ते वा, यः पुनरनाथो म्रियते तं यदि उज्झितेन हस्तशतं वर्ज्यते । विविक्ते स्वाध्यायः क्रियते, यदि च तस्य न कोऽपि परिष्ठापकस्तदा—यदि नास्ति परिष्ठापकस्तदा सागारिकस्य कथयन्ति पुराणश्राद्धस्य यथाभद्रकस्य इदं त्यजत अस्माकं

पुरिसाण दोण्हं इत्थियाण दोण्ह मल्लाणं वा जुद्धं, पिट्ठायगलोट्टभंडणे वा, आदिसद्दाओ विसयप्पसिद्धासु भंडणासु। विग्रहाः प्रायो व्यन्तरबहुलाः। तत्थ पमत्तं देवया छलेज्जा, उड्डाहो निद्दुक्खत्ति, जणो भणेज्जा—अम्हं आवइपत्ताण इमे सज्झायं करेंति, अचियत्तं हवेज्जा, विसहरसंखोहो परचक्कागमे, दंडिओ कालगओ भवति, 'अणरायए'त्ति रण्णा कालगए निब्भयवि जाव अन्नो राया न ठविज्जइ, 'सभए'त्ति जीवंतस्सवि रण्णो बोहिगेहिं समंतओ अभिदुय, अथिरं भयं तचिय कालं सज्झायं न करेंति, अद्दिवसं सुय निद्दोसं तस्स परओ अहोरत्तं परिहरइ। एस दंडिए कालगए विहित्ति गाथार्थः ॥१३४५॥

सेसेसु इमो विही—

तद्दिवसभोइआई अंतो सत्तण्ह जाव सज्झाओ। अणहस्स य हत्थसय दिट्ठि विवित्तम्मि सुद्ध तु ॥१३४६॥

अस्या एव व्याख्यानगाथा—

मयहरपगए बहुपक्खिए य सत्तघर अंतरमए वा। निद्दुक्खत्ति य गरिहा न पढति सणीयग वावि ॥१३४७॥

इमीण दोण्हवि वक्खाण—गामभोइए कालगए तद्दिवसंति—अहोरत्त परिहरंति, आदिसद्दाओ गामरट्ठमयहरो अहिगार

1 पुरुषयोर्द्वयोः स्त्रियोर्द्वयोर्मल्लयोर्वा युद्धं, पृष्ठायतलोष्टभण्डने वा आदिशब्दाद्विषयप्रसिद्धासु भण्डनासु (कलहविशेषेषु)। तत्र प्रमत्तं देवता छल-येत्। उड्डाहो निर्दुःखा इति जनो भवेत्—अस्मासु आपत्प्राप्तेषु इमे स्वाध्याय कुर्वन्ति अप्रीतिक भवेत् इत्यसंक्षोभः परचक्रागमे दण्डिकः कालगतो भवति राज्ञि कालगते निर्भयेऽपि यावत् अन्यो राजा न स्थाप्यते, सभय इति जीवतोऽपि राज्ञो बोधिकैः समन्ततोऽभिद्रुतं यावच्चिरं भयं तावन्तं काल स्वाध्यायं न कुर्वन्ति अद्दिवसे श्रुत निर्दोषं तस्मात्परतोऽहोरात्रं परिह्रियते। एष दण्डिके कालगते विधिः। शेषेष्वयं विधिः। अनयोर्द्वयोर्व्याख्यानं—ग्राम भोजिके कालगते तद्दिवसमिति अहोरात्रं परिहरन्ति आदिशब्दात् ग्रामराष्ट्रमहत्तरोऽधिकार-

मिरेच्चो बहुसम्मओ य पगमो बहुपक्खिगवि—बहुसयणो, बाइगरहिए महिवे सेज्जापरे अण्णंमि वा अण्णपरंपराओ आरब्भ जाव सत्तपरंतरं एएसु मएसु महोरत्त सज्झाओ न कीरइ, अह करेंति निद्धुक्खत्तिकाउं जणो गरहति मओ सेज्ज वा निष्फुडभेज्ज वा, अप्पसद्देण वा सणियं करेंति अणुपेहंति वा, जो पुण अणाहो मरति तं जइ उब्भिण्णं हत्थ परिहत्थियमि 'सुद्ध तु' तं ठाण सुद्ध भवइ, तत्थ सज्झाओ कीरइ, अह य तस्स न कोइ परिठवेंतओ ताहे ॥ १३४७ ॥

सागारियाइ कहण अणिच्छ रत्तिं वसहा विगिंचंति ।
विक्खिण्णे व समंता जं दिट्ठं सढेयरे सुद्धा ॥ १३४८ ॥

व्याख्या—जदि नत्थि परिठवेंतओ ताहे सागारियस्स आइक्खाओ पुराणसड्ढस्स अहाभद्दगस्स इमं छड्डेह अम्ह

---

1 मिच्छो बहुसम्मओ महत्ता, बहुपाक्षिक इति बहुस्वजनो ... वा अन्यस्मिन् वा ... सप्तगृहान्तरं ... ज्ञात्वा ... मृतो ... कुर्वन्ति ... अनुप्रेक्षन्ते वा, ... पुनः ... अनुप्रेक्षन्ते ... शुद्धमिति तत् स्थानं शुद्धं भवति—तत्र स्वाध्यायः क्रियते, यदि च तस्य न कोऽपि परिष्ठापयिता—यदि नास्ति ... सागारिकस्य आख्यानात् पुराणश्राद्धस्य यथाभद्रकस्येमं त्यज अस्माकं

पुरिसाणं दोण्हं इत्थियाणं दोण्हं मल्लाणं वा जुद्धं, पिट्ठायगलोट्टभंडणे वा, आदिसद्दाओ विसयप्पसिद्धासु भंडणासु। विग्रहाः प्रायो व्यन्तरबहुलाः। तत्थ पमत्त देवया छलेज्जा, उड्डाहो निदुक्खत्ति, जणो भणेज्जा—अम्ह आवइपत्ताणं इमे सज्झायं करेंति, अचियत्तं हवेज्जा, विसहरसंखोहो परचक्कागमे, दंडिओ कालगओ भवति, 'अणरायए'त्ति रण्णा कालगए निब्भएवि जाव अन्नो राया न ठविज्जइ, 'सभए'त्ति जीवंतस्सवि रण्णो बोहिगेहिं समंतओ अभिदुयं, अचिरं भयं तच्चिय कालं सज्झायं न करेंति, जद्दिवस सुयं निद्दोसं तस्स परओ अहोरत्तं परिहरइ। एस दंडिए कालगए विहित्ति गाथार्थः ॥१३४५॥

सेसेसु इमो विही—

तद्दिवसभोइआई अंतो सत्तण्ह जाव सज्झाओ। अणहस्स य हत्थसयं दिट्ठि विवित्तंमि सुद्ध तु ॥ १३४६ ॥

अस्या एव व्याख्यानगाथा—

मयहरपगए बहुपक्खिए य सत्तघर अंतरमए वा। निदुक्खत्ति य गरिहा न पढंति सणीयगं वावि ॥ १३४७॥

इमीण दोण्हवि वक्खाण—गामभोइए कालगए तद्दिवसंति—अहोरत्तं परिहरंति, आदिसद्दाओ गामरट्ठमयहरो अहिगार

---

१ पुरुषयोर्द्वयोः स्त्रियोर्द्वयोर्मल्लयोर्वा युद्धं, पृष्ठायतलोष्टभण्डने वा आदिशब्दाद्विषयप्रसिद्धासु भण्डनासु (कलहविशेषेषु)। तत्र प्रमत्तं देवता छलयेत्। उड्डाहो निर्दुःखा इति जनो भणेत्—अस्मासु आपत्प्राप्तेषु इमे स्वाध्यायं कुर्वन्ति अप्रीतिकं भवेत् विषमसंक्षोभः परचक्रागमे दण्डिकः कालगतो भवति राज्ञि कालगते निर्भयेऽपि यावत् अन्यो राजा न स्थाप्यते सभय इति जीवतोऽपि राज्ञो बोधिकैः समन्ततोऽभिद्रुतं यावच्चिरं भयं तावन्तं कालं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति यद्दिवसे श्रुतं निर्दोषं तस्मात्परतोऽहोरात्रं परिह्रियते। एष दण्डिके कालगते विधिः। शेषेष्वयं विधिः। अनयोर्द्वयोर्व्याख्यानं—ग्राम भोजिके कालगते तद्दिवसमिति अहोरात्रं परिहरन्ति आदिशब्दात् ग्रामराष्ट्रमहत्तरोऽधिकार—

चेवं मुक्को तीसे राईइ सेसं वज्जणीयं, अम्हा आगामिसूरुदए अहोरत्तसमत्ती, सूरस्सवि विपागहिओ दिया चेव मुक्को तस्सेव दिवसस्स मुक्कसेसं राई य वज्जणिज्जा। अहवा सग्गहनिब्बुडे एवं निही भणिओ, तओ सीसो पुच्छइ—कई चंदे पुण उस सूरे सोलस जामा ?, आचार्य आह—सूराती जेण होंतिऽहोरत्ता, चंदस्स नियमा अहोरत्तंते गए गहणसंभवो, अण्णं च अहोरत्तं, एवं पुषालस, सूरस्स पुण अहोरत्तादीए संदूसिययरं अहोरत्तं परिहरिज्जइ एए सोलसत्ति गाथार्थः ॥१३४३॥

सोग्गह दंडियमादी ससोभे दंडिए य कालगए। अणरायए य समए जचिर निद्दोसऽहोरत्तं ॥ १३४४ ॥

अस्या एव व्याख्यानान्तरगाथा—

सेणाहिवई भोइय मयहरपुंसित्थिमल्लजुद्धे य। लोट्टाइभंडणे वा गुज्झग उड्डाहमचियत्तं ॥ १३४५ ॥

इमाण दोण्हवि पक्खाणं—दंडियस्स वुग्गहो, आदिसद्दाओ सेणाहिवस्स, दोण्हं भोइयाणं दोण्हं मयहराणं दोण्हं

---

१ चेव मुक्कस्त्वा रात्रौ रात्रिः वर्जनीयं यस्मादागामिनि सूर्योदयेऽहोरात्रसमाप्तिः। सूर्यस्यापि दिवा गृहीतो दिवैव मुक्तस्तस्यैव दिवसस्य मुक्तशेषं रात्रिश्च वर्जनीया। अथवा समुद्रे मूडिते एव विधिर्भणितः ततः शिष्यः पृच्छति—कथं चन्द्रे द्वादश सूर्ये षोडश यामाः ? सूर्यादीनि येनाहोरात्राणि भवन्ति चन्द्रस्य नियमादहोरात्रार्धे गते ग्रहणसंभवः अन्यच्चाहोरात्रमेवं द्वादश, सूर्यस्य पुनरहोरात्रादित्वात् संदूषिततरं अहोरात्रं परिह्रियेते एते षोडश। आदिशब्दात् सेनापतेः द्वयोर्भोजिकयोर्द्वयोर्महत्तरयोर्द्वयोः

अब्भच्छण्णे सञ्झाए न नज्जइ, केवलं गहणं, परिहरिया राई पहाए दिट्ठं सग्गहो निबुडो अण्णं च अहोरत्तं एवं दुवालस। एव चंदस्स, सूरस्स अत्थमणगहणे सग्गहनिब्बुडो, उवहयरादीए चउरो अण्णं च अहोरत्तं एव बारस। अह उदयतो गहिओ तो संदूसिए अहोरत्ते अट्ठ अण्णं च अहोरत्तं परिहरइ एव सोलस, अहवा उदयवेलाए गहिओ उप्पाइयगहणेण सव्वं दिणं गहण होउं सग्गहो चेव निब्बुडो, संदूसियस्स अहोरत्तस्स अट्ठ अण्ण च अहोरत्त एवं सोलस। अहवा अब्भच्छण्णे न नज्जइ, केवल होहिति गहण, दिवसओ सञ्झाए न पडियं, अत्थमणवेलाए दिट्ठं गहण सग्गहो निब्बुडो, संदूसियस्स अट्ठ अण्णं च अहोरत्तं एवं सोलसत्ति गाथार्थः ॥ १३४२ ॥

सग्गहनिब्बुड एव सुराई जेण हुतिऽहोरत्ता। आइन्न दिणमुक्के सुच्चिय दिवसो अ राई य ॥ १३४३ ॥

व्याख्या—सग्गहनिबुडे एगं अहोरत्तं उवहयं, कहं ?, उच्यते, सूरादी जेण होंतिऽहोरत्तं, सूरउदयकालाओ जेण अहोरत्तस्स आदी भवति त परिहरिउ संदूसिअं अण्णपि अहोरत्त परिहरियव्वं। इमं पुण आइन्नं–चंदो रातीए गहिओ राई

---

1 अभ्रच्छन्ने सन्ध्यायां न ज्ञायते केवलं ग्रहणं परिहृता रात्रिः प्रभाते तत्र समग्रो मुक्तः अन्यच्चाहोरात्रमेव द्वादश एवं चन्द्रस्य सूर्यस्य तु अस्तमयग्रहणे समग्रो मुक्तः, उपहतरात्र्याश्चत्वारोऽन्यच्चाहोरात्रमेवं द्वादश अथोद्गच्छन् गृहीतः तदा संदूषिताहोरात्रस्यादौ अन्यच्चाहोरात्रं परिह्रियते एवं षोडश अथवोदयवेलायां गृहीतः औत्पातिकग्रहणेन सर्वं दिनं ग्रहणं भूत्वा समग्र एव मुक्तः संदूषिताहोरात्रस्यादौ अन्यच्चाहोरात्रमेवं षोडश अथवाऽभ्रच्छन्ने न ज्ञायते केवलं भविष्यति ग्रहणं दिवसे सन्ध्या न पतिता अस्तमयवेलायां तत्र ग्रहणं समग्रो मुक्तः संदूषितस्य अन्यच्चाहोरात्रमेवं षोडशेति। समग्रे मुक्ते एकमहोरात्रमुपहतं कथं ? उच्यते सूर्यादीनि येन भवन्त्यहोरात्राणि–सूर्योदयकालात् येनाहोरात्रस्यादिर्भवति तत् परिहृत्य संदूषितमन्यदप्यहोरात्रं परिहर्तव्यं इदं पुनराचीर्णं–चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रा–

कामं सुभोवभोगो तवोवहाण अणुत्तर भणिय । पडिसेहियंमि काले तहावि खलु कम्मबंधाय ॥ ११३९ ॥
छलया व सेसएण पाडिवएसु छणाणुसज्जंति । महवालसणेण असारिमाण व समाणो ॥ ११४० ॥
अन्नयरपमायजुयं छलिज्ज अप्पिड्ढिओ न उण जुत्तं । अद्धोदहिट्ठिइ पुण छलिज्ज जयणोवउत्तंपि ॥ ११४१ ॥

व्याख्या—सरागसजमो सरागसंजयत्तणओ इंदियविसयाअन्नयरपमायजुत्तो हविज्ज स विसेसओ महामहेसु स पमायजुत्तं पडणीया देवया छलेज्ज । अप्पिड्ढिया खेत्तादि छलणं करेज्ज, जयणाजुत्तं पुण साहुं जो अप्पिड्ढिओ देवो अद्धोदहीओ ऊणठिईओ न चए छलेउ, अद्धसागरोवमठिईओ पुण जयणाजुत्तंपि छलेज्जा । अत्थि से सामत्थं जं तंपि पुव्ववरसंबंधसरणओ कोइ छलज्जत्ति गाथार्थः ॥ ११३९–११४०–११४१ ॥ 'चत्तिमसुक्कपरागस्ति' अस्या व्याख्या—

उक्कोसेण दुवालस चउ जहन्नेण पोरिसी अट्ठ । सूरो जहन्न बारस पोरिसि उक्कोस दो अट्ठ ॥ ११४२ ॥

व्याख्या—चंदो उदयकाले गहिओ संदूसियराईए चउरो अण्णं च अहोरत्त एवं दुवालस, अहवा उप्पायगहणे सव्वराईए गहणं, सग्गहो चेव निवुड्डो सदूसियराईए चउरो अण्णं च अहोरत्तं एवं बारस । अहवा अन्नाणओ,

---

1 सरागसंयतः सरागसंयतत्वादिन्द्रियविषयप्रमादप्रमादयुक्तो भवेत् स विशेषतो महामहेषु च प्रमादयुक्तं प्रत्यनीका देवता छलेत्—अल्पर्द्धिका मिथ्यादृष्टयो कुर्यात्, यतनायुक्तं पुनः साधुं योऽल्पर्द्धिको देवोऽर्धोदधिस्थिति ऊनस्थितिको न शक्नोति छलयितुं, अर्धसागरोपमस्थितिकः पुनर्यतनायुक्तमपि छलयेत्, अस्ति तस्य सामर्थ्यं यत्तदपि पूर्ववैरसम्बन्धस्मरणतः कश्चित् छलयेदिति। चन्द्र उदयकाले गृहीतः संदूषितरात्रेश्चतस्रः अन्यच्चाहोरात्रमेवं द्वादश अथवा उत्पातग्रहणे सर्वरात्रिक ग्रहणं सग्रह एव बुडितः संदूषितरात्रिश्चतस्रः अन्यच्चाहोरात्रमेवं द्वादश अथवा अज्ञानतो—

अणुदिए सूरिए मज्झण्हे अत्थमणे अड्डरत्ते य, एयासु चउसु सज्झाय न करेंति पुवुत्त, 'पाडिवए'त्ति चउण्ह महामहाण चउसु पाडिवएसु सज्झायं न करेंतित्ति, एव अन्नपि जति-मह आणेज्जा जर्हिति-गामनगरादिसु तंपि तत्थ वज्जेज्जा, सुगिम्हए पुण सव्वत्थ नियमा असज्झाओ भवति, एत्थ अणागाढजोगा निक्खिप्पंति नियमा आगाढा न निक्खिप्पंति, न पढंतित्ति गाथार्थः ॥ १३३७ ॥ के य ते पुण महामहाः ?, उच्यन्ते—

आसाढी इंदमहो कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धव्वे । एए महामहा खलु एएसिं चेव पाडिवया ॥ १३३८ ॥

व्याख्या—आसाढी—आसाढपुण्णिमा, इह लाडाण सावणपुण्णिमाए भवति, इंदमहो आसोयपुण्णिमाए भवति, 'कत्तिय'त्ति कत्तियपुण्णिमाए चेव सुगिम्हओ—चेत्तपुण्णिमा, एए अंतिमदिवसा गहिया, आई च पुण जत्थ जत्थ विसए जओ दिवसाओ महमहा पवत्तंति तओ दिवसाओ आरब्भ जाव अंतदिवसो ताव सज्झाओ न कायव्वो, एएसिं चेव पुण्णिमाणंतर जे बहुलपाडिवया चउरो तेवि वज्जियव्वत्ति गाथार्थः ॥ १३३८ ॥ पडिसिद्धकाले करेंतस्स इमे दोसा—

---

१ अनुदिते सूर्ये मध्याह्ने अस्तमयने अर्धरात्रे च एतासु चतसृषु स्वाध्याय न कुर्वन्ति पूर्वोक्त 'प्रतिपद' इति चतुर्णां महामहानां चतसृषु प्रतिपत्सु स्वाध्यायं न कुर्वन्तीति एवमन्यमपि यमिति मह आनीयात् यत्रेति ग्रामनगरादिषु तमपि तत्र वर्जयेत् सुग्रीष्मके पुनः सर्वत्र नियमादस्वाध्यायो भवति, अत्रानागाढयोगा निक्षिप्यन्ते नियमात् आगाढास्तु न निक्षिपन्ति न पठन्तीति । के च पुनस्ते महामहाः ? उच्यन्ते—आषाढी आषाढपूर्णिमा इह लाटाना श्रावणपूर्णिमायां भवति, इन्द्रमह अश्वयुक्पूर्णिमायां भवति कार्तिक इति कार्तिकपूर्णिमायामेव सुग्रीष्मकः—चैत्रपूर्णिमा एतेऽन्त्यदिवसा गृहीताः आदिस्तु पुनर्यत्र यत्र देशे यतो दिवसाद् महामहाः प्रवर्तन्ते ततो दिवसादारभ्य यावदन्त्यो दिवसस्तावत् स्वाध्यायो न कर्तव्यः एतासामेव पूर्णिमानाम् अन्तरा याः कृष्णप्रतिपदस्तचतस्रो अपि वर्जिता इति । प्रतिषिद्धकाले कुर्वत इमे दोषाः—

कामं सुओवओगो तवोवहाण अणुत्तर भणियं । पडिसेहियंमि काले तहावि कुज्ज कम्मबंधाय ॥ १३३९ ॥
छलणा य देवएण पाडिवएसु छणाइसुव्ववसि । महुराउलत्तणेण अणारिआण च समाणो ॥ १३४० ॥
अणपरपमायजुत्तं छलिज्ज अप्पिड्ढिओ न य पण जुत्त । अद्धोदहिठिइ पुण छलिज्ज जयणोवउत्तंपि ॥ १३४१ ॥

व्याख्या—सरागसंजमो सरागसंजयत्तणओ इंदियविसयाअणपरपमायजुत्तो हविज्ज स विसेसओ महामहेसु स पमायजुत्तं पढणीया देवया छलेज्ज । अप्पिड्ढिया खेत्तादि छलणं करेज्ज, जयणाजुत्तं पुण साहुं सो अप्पिड्ढिओ देवो असमोदहीओ ऊणठिईओ न चए छलेउं, अद्धसागरोवमठिईओ पुण जयणाजुत्तंपि छलेज्जा । अत्थि से सामत्थं जं तंपि पुव्ववेरसंबंधसरणओ कोइ छलअत्ति गाथार्थः ॥ १३३९–१३४०–१३४१ ॥ 'चविमसूरुवरागत्ति' अस्या व्याख्या—

उक्कोसेण दुवालस चंदु जहन्नेण पोरिसी अट्ठ । सूरो जहन्न बारस पोरिसि उक्कोस दो अट्ठ ॥ १३४२ ॥

व्याख्या—चंदो उदयकाले गहिओ संदूसियराईए चउरो अण्णं च अहोरत्त एवं दुवालस, अहवा उप्पायगहणे सव्वराइयं गहणं, सग्गहो चेव निबुड्डो संदूसियराईए चउरो अण्णं च अहोरत्त एवं बारस । अहवा अयाणओ,

---

१ सरागसंयतः सरागसंयमवान् इन्द्रियविषयानपरप्रमादयुक्तो भवेत् स विशेषतो महामहेषु तं प्रमादयुक्तं प्रत्यनीका देवता छलयेत्—अल्पर्द्धिका [illegible] इत्यादि छलनां कुर्यात् यतनायुक्तं पुनः साधुं सोऽल्पर्द्धिको देवः अर्धोदधिस्थितिको न शक्नोति छलयितुं अर्धसागरोपमस्थितिकः पुनर्यतनायुक्तमपि छलयेत्, अस्ति तस्य सामर्थ्यं यत्तमपि पूर्ववैरसम्बन्धस्मरणतः कश्चित् छलयतीति । चन्द्र उदयकाले गृहीतः संदूषितरात्रेश्चत्वारः अन्यच्चाहोरात्रमेवं द्वादश अथवा उत्पातग्रहणे सर्वरात्रिकं ग्रहणं सग्रह एव ब्रुडितः संदूषितरात्रेश्चत्वारः अन्यच्चाहोरात्रमेवं द्वादश अथवा अज्ञायमानः—

काउस्सग्ग करेंति तेरसिमादीसु वा तिसु दिणेसु तो साभाविगे पडतेऽवि संवच्छर सज्झायं करेंति, अह उस्सग्गं न करेंति तो साभाविए य पडंते सज्झायं न करेंतित्ति गाथार्थः ॥ १३३२ ॥ उप्पाएत्ति गयं, इयाणिं सादिव्वेत्ति दारं, तत्थ—

गंधव्वदिसाविज्जुक्कगज्जिए जूअजक्खआलित्ते । इक्किक्क पोरिसी गज्जिय दु दो पोरसी हणइ ॥ १३३४ ॥

व्याख्या—गंधर्व-नगरविउव्वण, दिसादाहकरणं विज्जुभवणं उक्कापडण गज्जियकरण, जूवगो वक्खमाणलक्खणो, जक्खा दित्त-जक्खुद्दित्तं आगासे भवइ । तत्थ गंधव्वनगरं जक्खुद्दित्तं च एए नियमा दिव्वकया, सेसा भयणिज्जा, जेण फुड न नज्जंति तेण तेसिं परिहारो, एए पुण गंधव्वाइया सव्वे एक्केक्कं पोरिसिं उवहणंति, गज्जिय तु दो पोरिसी उवहण इति गाथार्थः ॥ १३३४ ॥

दिसिदाह छिन्नमूलो उक्क सरेहा पगासजुत्ता वा । संझाछेयावरणो उ जूवओ सुक्कि दिण तिन्नि ॥ १३३५ ॥

व्याख्या—अन्यतमदिगन्तरविभागे महानगरप्रदीप्तमिवोद्योतः किन्तूपरि प्रकाशोऽधस्तादन्धकारः ईदृक् छिन्न मूलो दिग्दाहः, उक्कालक्खणं—सदेहवण्णं रेहं करेंती जा पडइ सा उक्का, रेहविरहिया वा उज्जोयं करेंती पडइ सावि उक्का।

---

१ कायोत्सर्गं कुर्वन्ति त्रयोदश्यादिषु वा त्रिषु दिवसेषु तदा स्वाभाविकेः पततोरपि संवत्सरं स्वाध्यायं कुर्वन्ति अथोत्सर्गं न कुर्वन्ति तदा स्वाभाविके पतति स्वाध्याय न करोति । औत्पातिकमिति गत इदानीं सादिव्यमिति द्वारं तत्र—गान्धर्वं नगरविकुर्वणं दिग्दाहकरणं विद्युद्भवनं उल्कापतनं गर्जितकरणं यूपको—वक्ष्यमाणलक्षणः यक्षादीप्तं—यक्षोद्दीप्तमाकाशे भवति, तत्र गान्धर्वनगरं यक्षोद्दीप्तं च एते नियमात् देवकृते शेषाणि भजनीयानि यत स्फुटं न ज्ञायन्ते तेन तेषां परिहारः । एते गान्धर्वादिकाः पुनः सर्वे एकैकां पौरुषीमुपघ्नन्ति गर्जितं तु द्वे पौरुष्यावुपघ्नन्ति । उल्कालक्षणं—सदेहवर्णां रेखां कुर्वन्ती या पतति सोल्का रेखाविरहिता वोद्योतं कुर्वन्ती पतति साप्युल्का ।

जूवगो'त्ति संझप्पहा चंदप्पहा य जेणं जुगवं भवंति तेण जूवगो, सा य संझप्पहा चंदप्पभावरिया णिज्जिंती न नज्जइ सुक्कपक्खपडिवगादिसु दिणेसु, संझाछेयए अणज्जमाणे कालवेलं न मुणंति अओ तिन्नि दिणे पाउसियं कालं न गेण्हंति–तिसु दिणेसु पाउसियसुत्तपोरिसिं न करेंति त्ति गाथार्थः ॥ १३१५ ॥

केसिंचि हुतिऽमोहा उ जूवओ ता य हुंति आइन्ना। जेसिं तु अणाइन्ना तेसिं किर पोरिसी तिन्नि ॥ १३१६ ॥

व्याख्या—जगस्स सुभासुभकम्मनिमित्तुप्पाओ अमोहो–आइच्चकिरणविकारजणिओ, आइच्चमुदयत्थमणायतो(ओ) किण्हसामो वा सगडुद्धिसंठिओ दंडो अमोहत्ति स एव जूवगो, सेसं कंठं ॥ १३१६ ॥ किं चान्यत्—

चंदिमसूरुपरागे निग्घाए गुंजिए अहोरत्तं। संझा चउ पाडिपया जं जहिं सुगिम्हए नियमा ॥ १३१७ ॥

व्याख्या—चंदसूरुपरागो गहणं भण्णइ–एयं वक्खमाणं, साब्भे निरब्भे वा गगने व्यन्तरकृतो महागर्जितसमो ध्वनि निर्घातः, तस्सेव वा विकारो गुंजावत्गुंजितो महाध्वनिर्गुंजितं। सामण्णओ एएसु चउसुवि अहोरत्तं सज्झाओ न कीरइ, निग्घायगुंजिएसु विसेसो–बितियदिणे जाव सा वेला णो अहोरत्तछेएण छिज्जइ जहा अन्नेसु असज्झाएसु, 'संझा चउ'त्ति

१ यूपक इति सन्ध्याप्रभा चन्द्रप्रभा च येन युगपद् भवतस्तेन यूपकः सा च सन्ध्याप्रभा चन्द्रप्रभावृता गच्छन्ती न ज्ञायते शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु दिनेषु सन्ध्याच्छेदे अज्ञायमाने कालवेलां न जानन्ति ततोऽत्र त्रीन् दिवसान् प्रादोषिकं कालं न गृह्णन्ति त्रिषु दिवसेषु प्रादोषिकसूत्रपौरुषीं न कुर्वन्तीति। जगतः शुभाशुभकर्मनिमित्त उत्पातोऽमोघ–आदित्यकिरणविकारजनितः आदित्योद्गमनास्तमनयोः आताम्रः कृष्णश्यामो वा शकटोर्ध्विसंस्थितो दण्डोऽमोघ इति स एव यूपक इति शेषं कण्ठ्यम्। चन्द्रसूर्योपरागो ग्रहणं भण्यते एतत् वक्ष्यमाणं सामान्यत एतेषु चतुर्ष्वपि अहोरात्रं स्वाध्यायो न क्रियते निर्घातगुञ्जितयोर्वि शेष–द्वितीयदिने यावत् सा वेला नाहोरात्रच्छेदेन छिद्यते यथाऽन्येष्वस्वाध्यायिकेषु, सन्ध्याचतुष्कमिति

सव्वं न करेति, अण्णे भणंति–चुन्चुयवरिसे चुम्चुयवज्जिए य अहोरत्ता पंच, फुसियवरिसे सत्त, अओ पर आउकाय भाविए सव्वा चेट्ठा निरुंभतित्ति गाथार्थः ॥ २१७ ॥ कह ?—

वासत्ताणावरिया निक्कारण ठंति कज्जि जयणाए। हत्थत्थंगुलिसण्णा पुत्तावरिया व भासंति ॥ १३५० ॥

व्याख्या—निक्कारण वासाकप्पं–कमली(ता)ए पाउया निहुया सव्वभतरे चिट्ठति, अवस्सकायव्वे वत्तव्वे वा कज्ज इमा जयणा–हत्थेण भमुहादिअच्छिवियारेण अंगुलीए वा सण्णत्ति–इमं करेहित्ति, अह एव णावगच्छइ, मुहपोत्तीयअंतरियाए जयणाए भासति, गिलाणादिकज्जे वासाकप्पपाउया गच्छंति त्ति ॥ १३५० ॥ सजमघाएत्ति दार गय। इयाणिं उप्पाएत्ति, तत्थ—

पसू अ मंसरुहिरे केससिलावुट्ठि तह रउग्घाए। मंसरुहिरे अहोरत्त अवसेसे जच्चिर सुत्त ॥ १३५१ ॥

व्याख्या—धूलीवरिसे मंसवरिसे रुहिरवरिसे 'केस'त्ति केसवरिसे करगादि सिलावरिसे रयुग्घायपडण च, एएसि इमो

---

१ सर्वं न करोति अन्ये भणन्ति–बुद्बुदवर्षे बुद्बुदवर्जिते च अहोरात्राणि पञ्च बिन्दुवर्षे सप्त अतः परमप्कायभावितत्वात् सर्वचेष्टा निरुन्धन्ति। कथं। निष्कारणे वर्षाकल्प–कम्बला तेन प्रावृता निभृता सर्वाभ्यन्तरे तिष्ठन्ति अवश्यकर्तव्ये वक्तव्ये वा कार्ये इयं यतना–हस्तेन भ्रूप्रभृत्यक्षिविकारेणाङ्गुल्या वा संज्ञयन्ति–इदं कुर्वन्तीति अथैवं नावगच्छति मुखवस्त्रिकयाऽन्तरितया यतनया भाषन्ते ग्लानादिकार्ये वर्षाकल्पप्रावृता गच्छन्तीति। संयमघातक इति द्वारं गत। इदानीमौत्पातिकमिति तत्र धूलिवर्षो मांसवर्षो रुधिरवर्षः केशोक्ति केशवर्षः करकादिः शिलावर्षः रजउद्घातपतन च एतत्समये

परिहारो–मंसरुहिरे अहोरत्त सज्झाओ न कीरइ, अवसेसा पसुमाइया जच्चिरं कालं पढंति तच्चिरं कालं सुत्तं मंदिमाइयं न पढंतित्ति गाथार्थः ॥ १३३१ ॥ पंसुरयुग्घायाण इमं वक्खाणं—

पसु अच्चित्तरओ रयस्सिलाओ दिसा रउग्घाओ। तत्थ सवाए निव्वायए य सुत्तं परिहरंति ॥ १३३२ ॥

व्याख्या—धूमागारो आपंडुरो रओ अच्चित्तो य पसू भणइ, महास्कन्धावारगमनसमुद्भूत इव विस्रसापरिणामतः समन्तात्रेणुपतन रजउद्घातो भण्यते, अहवा एस रओ उग्घाओ पुण पंसुरिया भण्णइ। एएसु वायसहिएसु निवाएसु वा सुत्तपोरिसिं न करेंतित्ति गाथार्थः ॥ १३३२ ॥ किं चान्यत्—

साभाविए तिन्नि दिणा सुगिम्हए निक्खिवंति जइ जोगं। तो तंमि पडंतंमी करंति संवच्छरज्झायं ॥ १३३३ ॥

व्याख्या—एए पंसुरउग्घाया साभाविया हवेज्जा असाभाविया वा, तत्थ असब्भाविया जे निग्घायभूमिकंपचंदोपरागादिदिव्वसहिया, परिसेसु असाभाविएसु कएसु उस्सग्गे न करेंति सज्झायं, 'सुगिम्हए'त्ति यदि पुण चित्तसुद्धपक्ख-दसमीए अवरण्हे जोगं निक्खिवंति दसमीओ परेण जाव पुण्णिमा एत्थंतरे तिण्णि दिणा उवरुवरिं अच्चित्तरउग्घाउस्सग्गं

---

1 परिहारः–मांसरुधिरकारणादहोरात्रं स्वाध्यायो न क्रियते अवशेषाः पौरुषादिका यावच्चिरं कालं पठन्ति तावन्तं कालं सूत्रं–मन्दादिकं न पठन्तीति। पांशुरजउद्घातानामिदं व्याख्यानम्–धूमाकार आपाण्डुरं रजः अचित्तं पांशुर्भण्यते अथवैष रज उद्घातस्तु पुनः पांशुरिति भण्यते एतेषु वातसहितेषु निर्वातेषु वा सूत्रपौरुषीं न कुर्वन्ति। एता पांशुरजउद्घाताः स्वाभाविको भवेतामस्वाभाविको वा तत्रास्वाभाविकौ यौ निर्घातभूमिकम्पचन्द्रोपरागादि दिव्यसहिताः ईदृशात्स्वाभाविकाः कृतेऽपि कायोत्सर्गे न कुर्वन्ति स्वाध्यायं सुग्रीष्मक इति यदि पुनश्चैत्रशुद्धपक्षदशम्या अपराह्णे योगं निक्षिपन्ति दशम्याः परतः यावत् पूर्णिमा अभ्यन्तरं त्रीन् दिवसान् उपर्युपरि अचित्तरजउद्घातकायोत्सर्गं

पडिलेहणादिकावि चेट्ठा कीरइ, इयरेसु चउसु असज्झाइएसु जहा ते चउरो पुरिसा रत्थाइसु चेव अणाबाहणिज्जा तहा तेसु सज्झाओ चेव न कीरइ, सेसा सव्वा चेट्ठा कीरइ आवस्सगादि उक्कालियं च पढिज्जइ। महियाइतिविहस्स सज्झोवघाइस्स इमं वक्खाणं—

महिया उ गब्भमासे सच्चित्तरओ अ ईसिआयंबो। वासे तिन्नि पयारा बुब्बुअ तव्वज्ज फुसिए य ॥२१९॥(भा०)

व्याख्या—'महिय'त्ति धूमिया, सा य कत्तियमग्गसिराइसु गब्भमासेसु हवइ, सा य पडणसमकालं चेव सुहुमत्तणओ सव्वं आउकायभावियं करेति, तत्थ तक्कालसमयं चेव सव्वचेट्ठा निरुंभंति, ववहारसच्चित्तो पुढविकाओ अरण्णावाउद्धूओ आगओ रओ भण्णइ, तस्स सच्चित्तलक्खणं वण्णओ ईसिं आयवो दिसंतरे दीसइ, सोवि निरंतरपाएण तिण्ह-त्तिदिणाण परओ सव्वं पुढवीकायभावियं करेति, तत्थोस्सावयडुसंभवश्च। भिन्नवासं तिविहं—बुब्बुदादि, जत्थ वासे पडमाणे उदगे बुब्बुदा भवन्ति त बुब्बुयवरिसं, तेहिं वज्जियं तव्वज्जं, सुहुमफुसारेहिं पडमाणेहिं फुसियवरिसं, एतेसिं जहासंखं

१ प्रतिलेखनादिकामपि चेष्टा क्रियते इतरेषु चतुर्षु अस्वाध्यायिकेषु यथा ते चत्वारः पुरुषा रथ्यादिष्वेवानाबाधनीयास्तथा तेषु स्वाध्याय एव न क्रियते शेषा सर्वा चेष्टा क्रियते आवश्यकादि उत्कालिकं च पठ्यते। महिकादित्रिविधस्य स्वाध्यायोपघातिकस्येदं व्याख्यानं—महिकेति धूमिका सा च कार्तिकमार्गशिरादिषु गर्भमासेषु भवति, सा च पतनसमकालमेव सूक्ष्मत्वात् सर्वमप्कायभावितं करोति, तत्र तत्कालसमयमेव सर्वां चेष्टां निरुन्धन्ति, व्यवहारसचित्तः पृथ्वीकाय आरण्यं वातोद्धूत आगतं रजो भण्यते तस्य सचित्तलक्षणं वर्णत ईषदाताम्रं दिगन्तरे दृश्यते तदपि निरन्तरपातेन त्रिदिनात् परतः सर्वं पृथ्वीकायभावितं करोति। भिन्नवर्षं त्रिविधं यत्र वर्षे पतति उदके बुद्बुदा भवन्ति स बुद्बुदवर्षः, तैर्वर्जितः तद्वर्जः सूक्ष्मैर्बिन्दुभिः पतद्भिः बिन्दुवर्षः। एतेषां यथासंख्यं पञ्चाभिर्वा करोति।

तिण्हपंचसत्तदिणपरओ सव्वं आउक्कायमावितं भवइ ॥ ११२९ ॥ संजमघायस्स सव्वभेदाणं इमो चउविहो परिहारो—'दव्वे खेत्ते' पच्छद्धं, अस्य व्याख्या—

दव्वे तं चिय दव्वं जहिं ते जहियं तु जच्चिरं कालं । ठाणाइभास भावे मोत्तुं उस्सासउम्मेसे ॥ ११७ ॥ (भा०)

व्याख्या—दव्वओ तं चेव दव्वं महिया सच्चित्तरओ भिण्णवासं वा परिहरिज्जइ । खेत्ते जहिं पडइत्ति—जहिं खेत्ते तं महियाइ पडइ तहिं चेव परिहरिज्जइ, 'जच्चिरं काल'न्ति पडणकालाओ आरब्भ जच्चिरं कालं भवति 'ठाणाइभास भावे'त्ति भावओ 'ठाण'त्ति काउस्सग्गं न करेति, न य भासइ, भाइसद्दाओ गमणपडिलेहणसज्झायादि न करेति, 'मोत्तुं उस्सासउम्मेसे'त्ति 'मोत्तुं' ति ण पडिसिज्झति उस्सासादिया, अशक्यत्वात् जीवितव्याघातकत्वाच्च, शेषाः क्रियाः सर्वा निषिध्यन्ते, एस उस्सग्गपरिहारो, आइण्णं पुण सच्चित्तरए तिण्णि भिण्णवासे तिण्णि पंच सत्त दिणा, अओ परं सज्झायादि

---

१ त्रिपञ्चसप्तदिनेभ्यः परतः सर्वं अप्कायभावितं भवति संयमघातस्य सर्वभेदानामयं चतुर्विधः परिहारः—द्रव्यतस्तदेव द्रव्यं महिका सचित्तरजो भिन्नवर्षो वा परिह्रियते क्षेत्रे यत्र पतति—यत्र क्षेत्रे तद् महिकादि पतति तत्र परिह्रियते यावच्चिरं कालमिति पतनकालादारभ्य यावच्चिरं कालं भवति स्थानादिभाषा भावे इति भावतः स्थानमिति कायोत्सर्गं न करोति, न च भाषते भाषितग्रहणाद् गमनप्रतिलेखनस्वाध्यायादि न करोति मुक्त्वोच्छ्वासोन्मेषा-दिनि मुच्यन्ते न प्रतिषिध्यन्ते उच्छ्वासादयः । एष उत्सर्गपरिहारः आचरणा पुनः सचित्तरजसि त्रीणि भिन्नवर्षे त्रीणि पञ्च सप्त दिनानि ततः परं स्वाध्यायादि

* "धूलेव जाई वासइ जहिं कालं" इत्यपि पुस्तकान्तरे । + "मोत्तु उस्सासउम्मेसे" इति पाठान्तरं ।

सेहंगति, जहा मेच्छो तहा असज्झाओ महिगादि, जहा रयणधणाइ तहा णाणादीणि महिगादीहि अयिहीकारिणो हीरंति गाथार्थः ॥ ११२५ ॥

थोयावसेसपोरिसिमज्झयण वावि जो कुणइ सो उ। णाणाइसाररहियस्स तस्स छलणा उ संसारो ॥ ११२६ ॥

व्याख्या—'थोयावसेसपोरिसि' कालवेलत्ति जं भणियं होइ, एय सो उत्ति समधो, अज्झयणं—पाठो भणिसद्दाओ वक्खाणं वावि जो कुणइ आणादिलपणे णाणाइसाररहियस्स तस्स छलणा उ संसारोत्ति—णाणादिवेफल्लघणओ चेव गाथार्थः ॥ ११२६ ॥ तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

महिया य भिन्नवासे सचित्तरए य संजमे तिविह। दव्वे खित्ते काले जहिय वा जचिरं सव्व ॥ ११२७ ॥

व्याख्या—'महिय'त्ति धूमिगा 'भिन्नवासे य'त्ति बुब्बुदादी 'सचित्तरए'त्ति अरण्णे पाउसुपपुडविरएत्ति भणियं होइ, संजमघाइयं एवं तिविह होइ, इम च 'दवे'त्ति तं चेव दव्वं महिगादि 'खेत्ते काले जहिं ये'ति जहिं खेत्ते महिगादि पडइ

---

1 चेयकमिति यथा म्लेच्छस्तथाऽस्वाध्यायो महिकादिः यथा रत्नधनानि तथा ज्ञानादीनि महिकादिभिरविधिकारिणो ह्रियन्ते । स्तोकावशेषा पौरुषीति कालवेलेति यदुक्तं भवति एवं स इति सम्बन्धः अध्ययनं पाठः भणितशब्दात् व्याख्यानं वापि यः करोति आज्ञादिलक्षणे ज्ञानादिसाररहितस्य तस्य छलना तु संसार इति ज्ञानादेर्वैफल्यादेव । महिकेति धूमिका भिन्नवर्षमिति बुद्बुदादौ सति सचित्तं रज इति अरण्ये वातोद्धूतं पृथ्वीरज इति भणितं भवति संयमघातकमेव त्रिविधं भवति इदं च द्रव्य इति तदेव द्रव्यं महिकादि क्षेत्रे काले यत्रेति यत्र क्षेत्रे महिकादि पतति

भविरं कालं 'सव्वं'ति भावओ ठाणभासादि परिहरिज्जइ इति गाथासमुदायार्थः ॥ ११२७ ॥ अवयवार्थं तु भाष्यकारः स्वयमेव व्याचष्टे, इह पञ्चविधासम्भोइयस्स, तं कहं परिहरियव्वमिति ?, उप्पसाहगो इमो दिट्ठंतो—

दुग्गाइतोसियनिवो पंचण्हं देइ इच्छियपयारं । गहिए य देइ मुल्लं जणस्स आहारवत्थाई ॥ ११२८ ॥

व्याख्या—एगस्स रण्णो पंच पुरिसा, ते बहुसमरलद्धविजया, अण्णया तेहिं अच्चंतविसमं दुग्गं गहियं, तेसिं तुट्ठो राया इच्छियं नगरे पयारं देइ, जं ते किंचि असणाइ वा वत्थाइगं च जणस्स गिण्हंति तस्स वेयणयं सव्वं राया पयच्छइ इति गाथार्थः ॥ ११२८ ॥

एक्केण तोसियतरो गिहमगिहे तस्स सव्वहिं पयारे । रत्थाईसु चउण्ह एव पढम तु सव्वत्थ ॥ ११२९ ॥

व्याख्या—तेसिं पंचण्ह पुरिसाण एगेण तोसियतरो तस्स गिहावणाइएसु सव्वत्थ इच्छियपयारं पयच्छइ, जो पुण दिण्णपयारे आसायइ तस्स राया दंडं करेइ, एस दिट्ठंतो, इमो उवसंहारो—जहा पंच पुरिसा तहा पंचविहासंभोइय जहा सो एगो अब्भहियतरो पुरिसो एव पढमं संविग्गपक्खियं सव्वं तत्थ ठाणासणादि, तंमि वट्टमाणे ण सम्भाओ नेव

---

१ यावन्तं कालं (वा वसति) सर्वमिति भावतः स्थानभाषादि परिह्रियते । इह पञ्चविधसाम्भोगिकस्य तत् कथं परिहरणीयमिति ? अत्रोपाख्यानकमिदम्—एकस्य राज्ञः पञ्च पुरुषाः, ते बहुसमरलब्धविजयाः अन्यदा तैरत्यन्तविषमो दुर्गो गृहीतः तेभ्यस्तुष्टो राजा ईप्सितं नगरे प्रचारं ददाति, यत् किञ्चिदशनादिकं वा वस्त्रादिकं वा अन्यस्य गृहादिषु तत् सर्वं तेषां राजा प्रयच्छति । तेषां पञ्चानां पुरुषाणामेकेन तोषिततरः तस्य गृहापणादिषु सर्वत्रेप्सितं प्रचारं प्रयच्छति न दण्डम्, एवंप्रचारान् आचरतः तस्य राजा दण्डं करोति एष दृष्टान्तोऽयमुपसंहारः—यथा पञ्च पुरुषास्तथा पञ्चविधसाम्भोगिकाः, यथा च एकोऽभ्यर्हिततरः पुरुष एवं प्रथमं संवेगपाक्षिकं सर्वं तत्र स्थानासनादि, तस्मिन् वर्तमाने न सम्भावो नैव

सेहंगत्ति, जहा मेच्छो तहा असज्झाओ महिगादि, जहा रयणधणाइ तहा णाणादीणि महिगादीहि अविहीकारिणो हीरति गाथार्थः ॥ ११२५ ॥

थोवावसेसपोरिसिमज्झयण वावि जो कुणइ सो उ । णाणाइसाररहियस्स तस्स छलणा उ संसारो ॥ ११२६ ॥

व्याख्या—'थोवावसेसपोरिसि' कालवेलत्ति ज भणियं होइ, एव सो इत्ति सबंधो, अज्झयण—पाठो अथवा वक्खाण वावि जो कुणइ आणाविलंघणे णाणाइसाररहियस्स तस्स छलणा उ संसारोत्ति—णाणादिवेफल्लत्तणओ चेव गाथार्थः ॥ ११२६ ॥ तत्राऽऽद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनायाह—

महिया य भिन्नवासे सचित्तरए य संजमे तिविहं । दव्वे खित्ते काले जहियं वा जचिरं सव्वं ॥ ११२७ ॥

व्याख्या—'महिय'त्ति धूमिगा 'भिन्नवासे य'त्ति बुब्बुयादी 'सचित्तरए'त्ति अरण्णे वाउद्धुयपुढविरएत्ति भणियं होइ, संजमघाइयं एवं तिविहं होइ, इम च 'दव्वे'त्ति त चेव दव्वं महिगादि 'खेत्ते काले जहिं चे'त्ति जहिं खेत्ते महिगादि पडइ

---

१ चेयक्कमिति यथा म्लेच्छस्तथाऽस्वाध्यायो महिकादिः यथा रत्नधनानि तथा ज्ञानादीनि महिकादिभिरविधिकारिणो ह्रियन्ते । स्तोकावशेष पौरुषीति कालवेलेति भणित भवति एवं स इति सम्बन्धः अध्ययन पाठः अथवा व्याख्यान वापि यः करोति आज्ञाविलङ्घने ज्ञानादिसाररहितस्य तस्य छलना तु संसार इति ज्ञानादेवैफल्यादेव । महिकेति धूमिका भिन्नवर्षमिति बुद्बुदादौ सति सचित्तं रज इति अरण्ये वातोद्धूतं पृथ्वीरज इति भणितं भवति संयमघातकमेव त्रिविधं भवति इदं च द्रव्य इति तदेव द्रव्यं महिकादि क्षेत्रे काले यत्रेति—यत्र क्षेत्रे महिकादि पतति

तत्थ दिद्वंतो, घोसणयमिच्छ इत्यादेर्गाथाशकलस्यार्थः कथानकादवसेय इति गाथासमुदायार्थः, अधुना गाथापश्चार्धाव यवार्थप्रतिपादनायाह—

मिच्छभयघोसण निवे हियसेसा ते उ दंडिया रण्णा । एवं दुहओ दंडो सुरपच्छित्ते इह परे य ॥ १३२४ ॥

व्याख्या—खिइपइट्ठियं णयरं, जियसत्तू राया, तेण सविसए घोसावियं जहा मेच्छो राया आगच्छइ, तो गामकूड-णयराणि मोत्तु समासण्णे दुग्गे ठायह, मा विणस्सिहिह, जे ठिया रण्णो वयणेण दुग्गादिसु ते ण विणट्ठा, जे पुण ण ठिया ते मिच्छया(पाई)हि विलुत्ता, ते पुणो रण्णा आणाभंगो मम कओत्ति जंपि कंपि हियसेसं तंपि दंडिया, एवमसज्झाए सज्झाय करेंतस्स उभओ दंडो, सुरत्ति देवया पच्छइ पच्छित्तेत्ति—पायच्छित्तं च पावइ 'इह'त्ति इहलोए 'परे'त्ति परलोए णाणादि विफलत्ति गाथार्थः ॥ १३२४ ॥ (१९५००) इमो दिट्ठंतोवणओ—

राया इह तित्थयरो जाणवया साहू घोसणं सुत्तं । मेच्छो य असज्झाओ रयणधणाइं च णाणाई ॥ १३२५ ॥

व्याख्या—जहा राया तहा तित्थयरो, जहा जाणवया तहा साहू, जहा घोसणं तहा सुत्तं—असज्झाइए सज्झायपरि

---

१ अत्र दृष्टान्तः । क्षितिप्रतिष्ठितं नगरं जितशत्रू राजा तेन स्वविषये घोषितं यथा म्लेच्छो राजा आगच्छति ततो ग्रामकूटनगरादीनि मुक्त्वा समासन्ने दुर्गे तिष्ठत मा विनङ्क्ष्यत ये स्थिता राज्ञो वचनेन दुर्गादिषु ते न विनष्टाः ये पुनर्न स्थितास्ते म्लेच्छपतिभिर्विलुप्ताः ते पुना राज्ञा आज्ञाभङ्गो मम कृत इति यदपि किमपि हृतशेषं तदपि दण्डिताः एवमसज्झायिके स्वाध्यायं कुर्वत उभयतो दण्डः सुर इति देवता प्रच्छलयति प्रायश्चित्तमिति प्रायश्चित्तं च प्राप्नोति इहेति इहलोके पर इति परलोके ज्ञानादीनि विफलानीति । अयं दृष्टान्तोपनयः यथा राजा तथा तीर्थंकरो यथा जानपदास्तथा साधवो यथा घोषणं तथा सूत्रं असज्झायिके स्वाध्यायप्रति–

ध्ययनकाल एष इति, अस्वाध्यायिके स्वाध्यायितं ॥ किमिदमस्वाध्यायिकमित्यनेन प्रस्तावेनाऽऽयाताऽस्वाध्यायिकनिर्युक्तिरिस्यस्यामेवाऽऽद्यद्वारगाथा—

असज्झाइयनिज्जुत्ती वुच्छामी धीरपुरिसपण्णत्तं । जं नाऊण सुविहिया पवयणसारं उवलहंति ॥ १३२१ ॥

असज्झायं तु दुविहं आयसमुत्थं च परसमुत्थं च । जं तत्थ परसमुत्थं तं पंचविहं तु नायव्वं ॥ १३२२ ॥

व्याख्या—आ अध्ययनमाध्ययनमाध्यायः शोभन आध्यायः स्वाध्यायः स एव स्वाध्यायिकं न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकं तत्कारणमपि च रुधिरादि कारणे कार्योपचारात् अस्वाध्यायिकमुच्यते, तदस्वाध्यायिकं द्विविधं-द्विप्रकारं, मूलभेदापेक्षया द्विविधमेव, द्वैविध्यं प्रदर्शयति—'आयसमुत्थं च परसमुत्थं च' आत्मनः समुत्थं—श्रमणोत्थं रुधिरादि, चशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शकः, परसमुत्थं—संयमघातकादि, चः पूर्ववत्, तत्थ जं परसमुत्थं—परोत्थं तं पञ्चविधं तु—पञ्चप्रकारं 'मुणेयव्वं' ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ १३२१-१३२२ ॥ तत्र बहुवक्तव्यत्वात् परसमुत्थमेव पञ्चविधमादावुपदर्शयति—

संजमघाउवघाए सादिव्वे वुग्गहे य सारीरे । घोसणयमिच्छरण्णो कोई छलिओ पमाएण ॥ १३२३ ॥

व्याख्या—'संयमघातकं' संयमविनाशकमित्यर्थः, तच्च महिकादि, उत्पातेन निर्वृत्तमौत्पातिकं, तच्च पांशुपातादि, सह दिव्यैः सादिव्यं तच्च गन्धर्वनगरादि दिव्यकृतं सदिव्यं चेत्यर्थः, व्युद्ग्रहश्चेति व्युद्ग्रहः—सङ्ग्रामः, असावप्यस्वाध्यायिकनिमित्तत्वात् तथोच्यते, शारीरं तिर्यग्मनुष्यपुद्गलादि, एयंमि पंचविहे असज्झाए सज्झायं करेंतस्स आयसंजमविराहणा,

1 एतस्मिन् पञ्चविधेऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कुर्वत आत्मसंयमविराधना,

असज्झाओ होइ कायव्वो ॥ २ ॥ प्राग् धर्मद्वारेण श्रुताशातनोक्ता इह तु स्वतन्त्रविषयेति न पुनरुक्तं । श्रुतदेवताया आशातनया, क्रिया पूर्ववत्, आशातना तु श्रुतदेवता न विद्यतेऽकिञ्चित्करी वा, उत्तरं—न ह्यनधिष्ठितो मौनीन्द्रः खल्वागमः अतोऽसावस्ति, न चाकिञ्चित्करी, तामालम्ब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् । वाचनाचार्यस्याऽऽशातनया, क्रिया पूर्ववत्, तत्र वाचनाचार्यो उपाध्यायसंदिष्टो य उद्देशादि करोति, आशातना चेयं—निर्दुःखसुखः प्रभूतान् वारान् वन्दनं दापयति, उत्तरं—श्रुतोपचार एषः क इव तस्याम दोष इति—

जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठु पडिच्छियं अकाले कओ सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ असज्झाए सज्झाइयं सज्झाए न सज्झाइयं तस्स मिच्छामि दुक्कडं (सूत्र)

एए चोद्दस सुत्ता पुव्विल्लिया य एगूणवीसति एए तेत्तीसमासायणसुत्तत्ति । एतानि चतुर्दश सूत्राणि श्रुतक्रियाकालगोचरत्वात् पुनरुक्तभाञ्जीति, तथा दोषदुष्टपद श्रुत यदधीत, तद्यथा—व्याविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावत्, अनेन प्रकारेण याऽऽशातना तया हेतुभूतया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया, एवमन्यत्रापि योज्या, व्यत्याम्रेडितं कोलिकपायसवत्, हीनाक्षरम्—अक्षरन्यूनम्, अत्यक्षरम्—अधिकाक्षरं, पदहीनं—पदेनैवोनं, विनयहीनम्—अकृतोचितविनय, घोषहीनम्—उदात्तादिघोषरहित, योगरहितं—सम्यगकृतयोगोपचारं, सुष्ठुदत्तं गुरुणा दुष्ठु प्रतीच्छितं कलुषितान्तरात्मनेति, अकाले कृतः स्वाध्यायो—यो यस्य श्रुतस्य कालिकादेरकाल इति, काले न कृतः स्वाध्यायः—यो यस्याऽऽसीयोऽ

१ असज्झाओ भवति कर्तव्यः ॥ २ ॥ एतानि चतुर्दश सूत्राणि एतानि पौर्वात्यानि एकोनविंशतिः एतानि त्रयस्त्रिंशदाशातनासूत्राणि

रातीतभेदाः, एकार्थिका या ध्वनय इति, आशातना तु विपरीतप्ररूपणादिनैव, तथाहि—अङ्गुष्ठपर्वमात्रो ह्रीन्द्रियाधारमेति, पृथिव्यादयस्त्वजीवा एव, स्पन्दनादिचैतन्यकार्यानुपलब्धेः, जीवाः क्षणिका इति, सत्त्वाः संसारिणोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रा एव भवन्ति, संसारातीता न सन्त्येव, अपि तु प्रध्यातदीपकस्योपमो मोक्ष इति, उत्तरं—देहमात्र एवात्मा, तत्रैव सुखदुःखादितत्कार्योपलब्धेः, पृथिव्यादीनां स्वल्पचैतन्यत्वात् कार्यानुपलब्धिर्नाजीवत्वादिति, जीवा अप्येकान्तक्षणिका न भवन्ति, निरन्वयनाशे उत्तरक्षणस्यानुत्पत्तेर्निर्हेतुकत्वादेकान्तनष्टस्यासदविशेषत्वात्, सत्त्वाः संसारिणः (देहप्रमाणाः), मत्युक्ता एव संसारातीता अपि विद्यन्त एवेति, जीवस्य सर्वथा विनाशाभावात्, तथाऽन्यैरप्युक्तं—"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १ ॥" इत्यादि। कालस्याऽऽशातनया, क्रिया पूर्ववत्, आशातना तु नास्त्येव काल इति कालपरिणतिर्वा विश्वमिति, तथा च दुर्नयः—"कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥" इत्यादि, उत्तरं—कालोऽस्ति, तमन्तरेण बकुलचम्पकादीनां नियतः पुष्पादिप्रदानभावो न स्यात्, न च तत्परिणतिर्विश्वं, एकान्तनित्यस्य परिणामानुपपत्तेः। श्रुतस्याऽऽशातनया, क्रिया पूर्ववत्, आशातना तु—को आउरस्स कालो? मइलंबरधोवणे य को कालो?। जइ मोक्खहेउ नाणं को कालो तस्सऽकालो वा? ॥ १ ॥ इत्यादि, उत्तरं—जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंतो। अण्णोण्णमबाहाए

१ क आतुरस्य (मोक्षभावे) कालो मलिनाम्बरप्रक्षालने च कः कालः। यदि मोक्षहेतुर्ज्ञानं कस्तस्य कालोऽकालो वा? ॥ १ ॥ दुःखक्षयकारणात् प्रयुज्यमानो योगो जिनशासने योग्यः। अन्योऽन्याबाधया

भसयत्तो होइ कायव्वो ॥ २ ॥ माग् धर्मद्वारेण श्रुताशातनोक्ता इह तु स्वतन्त्रविषयेति न पुनरुक्तं । श्रुतदेवताया आशा तनया, क्रिया पूर्ववत्, आशातना तु श्रुतदेवता न विद्यतेऽकिञ्चित्करी वा, उत्तरं—न ह्यनधिष्ठितो मौनीन्द्रः खल्वागमः अतोऽसावस्ति, न चाकिञ्चित्करी, तामालम्ब्य प्रशस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् । वाचनाचार्यस्याऽऽशातनया, क्रिया पूर्ववत्, तत्र वाचनाचार्यो ह्युपाध्यायसंदिष्टो य उद्देशादि करोति, आशातना चेयं–निर्दुःखसुखः प्रभूतान् वारान् वन्दनं दापयति, उत्तरं—श्रुतोपचार एषः क इव तस्यात्र दोष इति—

जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओ सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ असज्झाए सज्झाइयं सज्झाए न सज्झाइयं तस्स मिच्छामि दुक्कडं (सूत्र)

एए चोद्दस सुया पुव्विल्लिया य पणुवीसत्ति एए तेत्तीसमासायणसुत्तत्ति । एतानि चतुर्दश सूत्राणि श्रुतक्रियाकालगोचरत्वात्र पुनरुक्तभाञ्जीति, तथा दोषदुष्टमद श्रुत यदधीतं, तद्यथा–व्याविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावत्, अनेन प्रकारेण याऽऽशातना तया हेतुभूतया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया, एवमन्यत्रापि योज्या, अत्याम्रेडितं कोलिकपायसवत्, हीनाक्षरम्–अक्षरन्यूनम्, अत्यक्षरम्–अधिकाक्षरं, पदहीन–पदेनैवोनं, विनयहीनम्–अकृतोचितविनयं, घोषहीनम्–उदात्तादिघोषरहितं, योगरहितं–सम्यगकृतयोगोपचारं, सुष्ठुदत्तं गुरुणा दुष्ठु प्रतीच्छितं कलुषितान्तरात्मनेति, अकाले कृत स्वाध्यायो–यो यस्य श्रुतस्य कालिकादेरकाल इति, काले न कृतः स्वाध्यायः–यो यस्याऽऽत्मीयोऽ

१ अमरओ भवइ कायव्वः ॥ २ ॥ एतानि चतुर्दश सूत्राणि पूर्वाणि पंचविंशतिः एतानि त्रयस्त्रिंशदाशातनासूत्राणि

सम्ममणुसरताण । आगमविहिं महत्थं जिणवयणसमाहियप्पाणं ॥ ४॥ श्रावकाणामाशातनया, क्रिया तथैव, जिनशासनभक्ता गृहस्थाः श्रावका उच्यन्ते, आशातना तु—लभ्रूण माणुसत्तं नाऊणवि जिणमयं न जे विरई । पडिवज्जति कहं ते धण्णा वुच्चंति लोगम्मि ? ॥ १ ॥ सावगसुयासायणमप्पुत्तरं कम्मपरिणइवसाओ । अइवि पवज्जति न ते तहावि धण्णाति मग्गठिया ॥ २ ॥ सम्यग्दर्शनमार्गस्थितत्वेन गुणयुक्तत्वादित्यर्थ, श्राविकाणामाशातनया, क्रियाऽऽक्षेपपरिहारौ पूर्ववत्, देवानामाशातनया, क्रिया तथैव, आशातना तु—कामपसत्ता विरईए वज्जिया अणिमिसया (१)निचिट्ठा। देवा सामत्थंमिवि न य तित्थस्सुन्नइकरा य ॥ १ ॥ एत्थ पसिद्धी मोहणियसायवेयणियकम्मउदयाओ । कामपसत्ता विरई कम्मोदयउ च्चिय न तेसिं ॥ २ ॥ अणिमिस देवसहावा णिच्चिट्ठाणुत्तरा उ कयकिच्चा । कालाणुभावा तित्थुन्नईपि अन्नत्थ कुव्वंति ॥ १ ॥ देवीनामाशातनया, क्रियाक्षेपपरिहारौ प्राग्वत् । इहलोकस्याऽऽशातनया, क्रिया प्राग्वत् । इहलोको—मनुष्यलोकः, आशातना तस्य वितथप्ररूपणादिना, परलोकस्याऽऽशातनया, प्राग्वत्, परलोकः—नारकतिर्यगमराः, आशातना तस्य वितथप्ररूपणादिनैव, द्वितयेऽप्याक्षेपपरिहारौ स्वमत्या कार्यौ । केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्याऽऽशातनया, क्रिया प्राग्वत्, स च धर्मो

---

१ सम्यगनुसरतां। आगमविधिं महार्थं जिनवचनसमाहितात्मना ॥ ४ ॥ लब्ध्वा मानुष्यं ज्ञात्वापि जिनवचनं न ये विरतिं। प्रतिपद्यन्ते कथं ते धन्या उच्यन्ते लोके ? ॥ १ ॥ श्रावकाशातनासूत्रमप्युत्तरं कर्मपरिणतिवशात्। यद्यपि न ते प्रतिपद्यन्ते तथापि धन्या मार्गस्थिता इति ॥ २ ॥ कामप्रसक्ता विरत्या वर्जिता अनिमेषा निश्चेष्टाश्च। देवाः सामर्थ्येऽपि न च तीर्थोन्नतिकराश्च ॥ १ ॥ अत्रोत्तरं मोहनीयसातवेदनीयकर्मोदयात्। कामप्रसक्ता विरतिश्च कर्मोदयत एव न तेषाम् ॥ २ ॥ अनिमेषा देवस्वाभाव्यात् निश्चेष्टा अनुत्तरास्तु कृतकृत्याः। कालानुभावात् तीर्थोन्नतिमपि अन्यत्र कुर्वन्ति ॥ १ ॥

द्विविधः—श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च, आशातना तु—"पायमसुयनिबद्धं को वा जाणेइ पणीय केणेयं ?। किं वा चरणेणं तु दाणेण विणा य हवइत्ति ॥१॥उत्तर—"बालस्त्रीमूढ(मन्द)मूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥ १ ॥" निपुणधर्मप्रतिपादकत्वाच्च सर्वज्ञप्रणीतत्वमिति, चरणमाश्रित्याह—'दानमौरधिकेणापि, चाण्डालेनापि दीयते। येन वा तेन वा शीलं, न शक्यमभिरक्षितुम् ॥ १ ॥ दानेन भोगानाप्नोति, यत्र यत्रोपपद्यते। शीलेन भोगान् स्वर्गं च, निर्वाणं चाधिगच्छति ॥ २ ॥ तथाऽभयदानदाता चारित्रवानिष्यत एवेति। सदेवमनुष्यासुरस्य लोकस्याऽऽशातनया, क्रिया प्राग्वत्, आशातना तु वितथप्ररूपणादिना, आह च भाष्यकारः—

देवादीए लोए विवरीए भणइ सत्तदीवुदही। तह कइ पयावईण पयईपुरिसाण जोगो वा ॥ २१३ ॥
उत्तर—स च्चसु परिमियसत्ता मोक्खो सुण्णासण पयावइ य। केण कउ ऽणवत्था पयईएँ कहं पवित्तित्ति ? ॥२१४॥
अमवेयणत्ति पुरिसत्थनिमित्तं किल पयत्तती सा य। तीसे चिय अपवित्ती परोत्ति सव्वं चिय विरुद्धं॥२१५॥ (भा०)

सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वानामाशातनया, क्रिया प्राग्वत्, तत्र प्राणिनः—द्वीन्द्रियादयः श्वासोच्छ्वासनिःश्वासा अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भूतानि—पृथिव्यादयः जीवन्ति जीवा—आयुःकर्मानुभवयुक्ताः सर्व एवेत्यर्थः सत्त्वाः—सांसारिकसंसा-

---

१ प्राकृतः सूत्रनिबन्ध इति को वा जानाति कस्येदं प्रणीतमिति। किं वा चारित्रेणैव दानेन विना भवति तु ॥ १ ॥ देवादिके लोके विपरीतं वदति सप्त द्वीपोदधयः। तथा कृतिः प्रजापतेः प्रकृतिपुरुषयोः संयोगो वा ॥ १ ॥ उत्तरं—सप्तसु परिमिताः सत्त्वा मोक्षः शून्यत्वं वा प्रजापतिश्च। केन कृत अनवस्था प्रकृतेः कथं प्रवृत्तिरिति ? ॥ २ ॥ अचेतनेति पुरुषार्थनिमित्तं किल प्रवर्तते सा च। तस्या एवाप्रवृत्तिरितरोऽपि सर्वमेवैवं विरुद्धम् ॥ ३ ॥

वा सइयावी अहव उवओगे ॥ १ ॥ रागद्दोसभुवत्ता तहेव अणन्तकालमुवभोगो । दसणणाणाणं तु होइ असवण्णुया चेव ॥ २ ॥ अण्णोण्णावरणभ(ता)वा एगत्त वावि णाणदसणओ । भण्णइ नवि एएसिं दोसो एगोवि सभवइ ॥ ३ ॥ अत्थिचि नियम सिद्धा सदाओ चेव गम्मए एवं । निषिद्धावि भवती वीरियक्खयओ न दोसो उ ॥४॥ रागद्दोसो न भए सयकसायाण निरवसेसक्खया । जियसाभव्वा ण जुगवमुवओगो नयमयाओ य ॥ ५ ॥ न पिहूआवरणाओ दवठिनयस्स वा मयेण तु । एगत्त वा भवई दसणणाणाण दोण्हपि ॥ ६ ॥ णाणणय दसणए पडुच्च णाण तु सव्वमेवेय । सव्व च दसणती एवमसवण्णुया का उ ? ॥ ७ ॥ पासणय व पडुच्चा जुगव उवभोग होइ दोण्हपि । एवमसवण्णुया एसो दोसो न सभवइ ॥ ८ ॥ आचार्याणामाशातना, क्रिया पूर्ववत्, आशातना तु—डहरो अकुलीणोत्ति य दुम्मेहो दमगमदबुद्धित्ति । अवि यप्पलाभलद्धी सीसो परिभवइ आयरिए ॥ १ ॥ अहवावि वए एव उवएस परस्स देंति एवं तु । दसविहवेयावच्च कायव

---

१ वा सदा वाऽपि उपयोगेऽथवा ॥ १ ॥ क्षुवरागद्वेषत्वात्तथैवानन्तकालमुपयोगात् । दर्शनज्ञानयोस्तु भवत्यसर्वज्ञतैव ॥ २ ॥ अन्योऽन्यावारकता वा एकत्व वाऽपि ज्ञानदर्शनयोः । भण्यते नैवैतयो दोष एकोऽपि संभवति ॥ ३ ॥ अस्तीति नियमतः सिद्धाः सदा ह्येव गम्यत एवम् । निषेधा अपि भवन्ति वीर्यक्षयतो नैव दोषः ॥ ४ ॥ रागद्वेषौ न स्यातां सकलकषायाणां निरवशेषक्षयात् । जीवस्वाभाव्यात् नोपयोगयौगपद्यं नयमताच्च ॥ ५ ॥ न पृथगावरणात् (देश) द्रव्यार्थिकनयस्य वा मतेन तु । एकत्व वा भवति ज्ञानदर्शनयोर्द्वयोरपि ॥ ६ ॥ ज्ञानस्य प्रतीत्य सर्वमेवेदं ज्ञानं दर्शनस्य प्रतीत्य सर्वमेवेदं दर्शनमिति एवमसर्वज्ञता का तु? ॥ ७ ॥ पश्यतो वा जानतो युगपदुपयोगो भवति द्वयोरपि । एवमसर्वज्ञता एष दोषो न संभवति ॥ ८ ॥ बालोऽकुलीन इति च दुर्मेधा द्रुमको मन्दबुद्धिरिति । अपि चात्मलाभलब्धिः शिष्यः परिभवत्याचार्यान् ॥ १ ॥ अथवाऽपि वदत्येवम्–उपदेशं परस्मै ददाति एव तु । दशविध वैयावृत्यं कर्तव्यं

सयं न कुव्वंति ॥ २ ॥ जइ रोवि णाणजुत्तो अकुलीणोत्ति य गुणाढओ किह णु ? । दुम्मेहाइंमिवि एवं मणंतऽसंताइ दुम्मेहो ॥ ३ ॥ जाणंति नवि य एवं निजम्मा मोक्खकारणं णाणं । निच्चं पगासयंता वेयावच्चाइ कुव्वंति ॥ ४ ॥ उपाध्यायानामा शातनया, क्रिया पूर्ववत्, आशातनाऽपि साक्षेपपरिहारा यथाऽऽचार्याणां नवरं श्रुतप्रदा उपाध्याया इति, साधूनामाशा तनया, क्रिया पूर्ववत्,–ओऽमुणियसमयसारो साहुसमुद्दिस्स भासए एवं । अविसहणातुरियगई भंडणमाउंडया चेव ॥ १ ॥ पाणसुणया व भुंजंति एगओ सह विरूवनेवत्था । एमाइ थवच्चयणं मूढो न मुणेइ एवं तु ॥ २ ॥ अविसहणादिसमेया संसारसहावजाणणा चेव । साहू चेयऽकसाया अओ पभुंजंति ते सव्वे ॥ ३ ॥ साध्वीनामाशातनया, क्रिया पूर्ववत्,–कलहणिया बहुवयणो अहयावि समणुसद्धो समणी । गणियाण पुत्तभण्डा दुमयेत्ति अजस्स सेवालो ॥ १ ॥ यत्रोत्तरं–कलहंति नेव नाऊण कसाए कम्मबंधबीए उ । संजमजणणामुदयओ ईसिं कलहेवि को दोसो ? ॥ २ ॥ सव्वही य बहुविगप्पो अभयपरक्खणरक्खमेयासिं । भणिओ जिणेहि जम्हा तम्हा एयहिंमि नो दोसो ॥ ३ ॥ समणाण नेय एया उवइसो

---

१ स्वयं न कुर्वन्ति ॥ २ ॥ यद्यपि ज्ञानस्थोऽकुलीन इति गुणाढ्यः कथं नु ? । दुर्मेधसामपि एव भवति असन्ति दुर्मेधः ॥ ३ ॥ जानन्ति नापि चैव निर्धर्मा मोक्षकारणं ज्ञानं । नित्यं प्रकाशयन्तो वैयावृत्त्यादि कुर्वन्ति ॥ ४ ॥ योऽज्ञातसमयसारः साधून् समुद्दिश्य भाषते एवम् । अविसहना अत्वरितगत्यो भण्डनमातुण्डका चैव ॥ १ ॥ पाणा इव श्वान इव भुञ्जन्ति एकत्रमया विरूपनेपथ्याः । एवमादि अवर्णवर्णं मूढो न जानात्येव तु ॥ २ ॥ अविसहनादिसमेताः संसारस्वभावज्ञाश्च । साधव एवाकषाया अतोऽमी प्रभुञ्जन्ति ते सर्वे ॥ ३ ॥ कलहकारिका बहुवचना अथवाऽपि श्रमणोपासक्यः श्रमणी । गणिकानां पुत्रभाण्डा दुर्मतम् आर्यस्य शैवालः ॥ १ ॥ कलहन्ति नैव ज्ञात्वा कषायान् कर्मबन्धबीजानि । संयमजननामुदयात् ईषत् कलहेऽपि को दोषः ? ॥ २ ॥ उपधिश्च बहुविकल्पा अभयपरक्षणरक्षमेतासाम् । भणितो जिनैर्यस्मात् तस्मादेतस्मिन् न दोषः ॥ ३ ॥ श्रमणानां नैव एता उपदेशः

धा सइवावी अहव उवओगे ॥ १ ॥ रागद्दोसभुयत्ता सहेव अण्णसकालमुवओगो । दसणणाणाणं तु होइ असवण्णुया चेव ॥ २ ॥ अण्णोण्णावरणभ(ता)वा एगत्तं यावि णाणदसणओ । भण्णइ नयि एएसिं दोसो एगोवि संभवइ ॥ ३ ॥ अत्थित्ति नियम सिद्धा सहाओ चेय गम्मए एव । निच्छिहावि भयंती वीरियक्खयओ न दोसो हु ॥४॥ रागद्दोसो न भये सयकसायाण निरवसेसक्खया । जियसाभवा ण जुगवमुवओगो नयमयाओ य ॥ ५ ॥ न विहमावरणाओ दयद्विनयस्स वा मयेण तु । एगत्त या भवई दंसणणाणाण दोण्हंपि ॥ ६ ॥ णाणणय दसणणए पडुच्च णाण तु सयमेवेय । सयं च दस णत्ती एवमसवण्णुया का उ ? ॥ ७ ॥ पासणयं य पडुच्चा जुगवं उवओग होइ दोण्हंपि । एवमसवण्णुया एसो दोसो न संभवइ ॥ ८ ॥ आचार्याणामाशातना, क्रिया पूर्ववत्, आशातना तु—डहरो अकुलीणोत्ति य दुम्मेहो दमगमंदबुद्धित्ति । अवि यप्पलाभलद्धी सीसो परिभवइ आयरिए ॥ १ ॥ अहवावि वए एवं उवएस परस्स देंति एव तु । दसविहवेयावच्च कायव

---

१ वा सदा वाऽपि उपयोगेऽथवा ॥ १ ॥ भुवरागद्वेषत्वात्तथैवान्यान्यकाल उपयोगात् । दर्शनज्ञानयोस्तु भवत्यसर्वज्ञतैव ॥ २ ॥ अन्योऽन्यावारकता वा एकत्वं वाऽपि ज्ञानदर्शनयोः । भण्यते नैतेषां दोष एकोऽपि संभवति ॥ ३ ॥ सन्तीति नियमतः सिद्धाः स्वभावेन गम्यन्ते एवम् । निश्छिद्रा अपि भवन्ति वीर्यक्षयतो नैव दोषः ॥ ४ ॥ रागद्वेषौ न स्यातां सर्वकषायाणां निरवशेषक्षयात् । जीवस्वाभाव्यात् नोपयोगयौगपद्य नयमतात्‌ ॥ ५ ॥ न पृथगावरणात् (ऐक्यं) द्रव्यार्थिकनयस्य वा मतेन तु । एकत्व वा भवति ज्ञानदर्शनयोर्द्वयोरपि ॥ ६ ॥ ज्ञाननय प्रतीत्य सर्वमेवेद ज्ञान दर्शननयं प्रतीत्य सर्वमेवेद दर्शन मिति एवमसर्वज्ञता का तु ? ॥ ७ ॥ दर्शनतां वा प्रतीत्य युगपदुपयोगो भवति द्वयोरपि । एवमसर्वज्ञता एष दोषो न संभवति ॥ ८ ॥ बालोऽकुलीन इति च दुर्मेधा द्रमको मन्दबुद्धिरिति । अपि चाल्पलाभलब्धिः शिष्यः परिभवत्याचार्यान् ॥ १ ॥ अथवाऽपि वदत्येवं-उपदेशं परस्मै ददति एवं तु । दशविध वैयावृत्यं कर्तव्यं

अरिहंताणं आसायणाए सिद्धाण आसायणाए आयरियाण आसायणाए उवज्झायाणं आसायणाए साहूणमासायणाए साहुणीण आसायणाए सावगाणं आसायणाए साविंयाण आसायणाए देवाण आसायणाए देवीण आसायणाए इहलोगस्सासायणाए परलोगस्स आसायणाए केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं आसायणाए कालस्स आसायणाए सुयस्स आसायणाए सुयदेवयाए आसायणाए वायणायरियस्स आसायणाए (सूत्र)

अर्हतां—माप्ररूपितशब्दार्थाना सम्बन्धिन्याऽऽशातनया यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्या दुष्कृतमिति क्रिया, एव सिद्धादिपदेष्वपि योज्यते, इत्थं चाभिदधतोऽर्हतामाशातना भवति—नत्थी अरहंतत्ती जाणंतो कीस मुंजई भोए । पाहुडियं उवजीवे एव वयसुत्तरं इणमो ॥ १ ॥ भोगफलं निबद्धियपुण्णपगडीणमुदयमासज्जा । मुंजइ भोए एवं पाहुडियाए इमं सुणसु ॥ २ ॥ णाणाइमणवरोहकमघातिसुहपायवस्स वेयाप । तित्थंकरनामाए सदया तह वीयरायत्ता ॥ ३ ॥ सिद्धानामाशातनया, क्रिया पूर्ववत्–सिद्धाण आसायण एव मणंतस्स होइ मूढस्स । नत्थी निच्चेठा

---

१ न सन्ति अर्हन्त इति जानानो वा कथं भुनक्ति भोगान् ?। प्राभृतिकां (समवसरणादिक) उपजीवति कथं ? एव वदत उत्तरमिदम् ॥ १ ॥ निर्बद्धभोगफलपुण्यप्रकृतीनामुदयमाश्रित्य । भुनक्ति भोगान् एव प्राभृतिकायां इद श्रृणु ॥ २ ॥ ज्ञानादीनामनवरोधकघातिशुभपादपस्य वेदनात् । तीर्थंकरनाम्नः उदयात् तथा वीतरागत्वात् ॥ ३ ॥ सिद्धानामाशातना एव भणतो भवति मूढस्य । न सन्ति निश्चेष्टा

ठाणे अच्छइ सथारो चिदलकडमओ वा, अहवा सेज्जा एव सथारओ तं पाएण संघट्टेइ, णाणुआणायेइ–न खामेइ, भणियं च–'संघट्टेत्ताण काएणं' स्याधि १०, 'चेठ'त्ति सेहे राइणियस्स सेज्जाए संथारे वा चिट्ठित्ता वा निसिइत्ता वा तुय ट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ११, 'उच्च'त्ति सेहे राइणियस्स उच्चासणे चिट्ठित्ता वा निसिइत्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स १२, 'समासणे यावि'त्ति सेहे राइणियस्स समासणे चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्सत्ति १३ गायात्रितयार्थः ॥ ॥ सूत्रोक्ताशातनासम्बन्धाभिधित्सयाह संग्रहणिकारः—

अहवा–अरहंताणं आसायणादि सज्झाए किंचिनाहीए । जा कंठसमुद्दिट्ठा तेत्तीसासायणा एसा ॥ १ ॥ प्रतिक्रमणसंग्रहणी समाप्ता ॥

व्याख्या—अथवा–अयमन्यः प्रकारः, 'अर्हतां' तीर्थकृतामाशातना, आदिशब्दात्सिद्धादिग्रहः यावदस्वाध्याये किंचि त्पाधीत 'सज्झाए ण सज्झाइयंति तुस भवइ,' एताः 'कण्ठसिद्धाः' निगदसिद्धा एवेत्यर्थः, त्रयस्त्रिंशदाशातना इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं सूत्रोक्ता एव त्रयस्त्रिंशदाशातना व्याख्यायन्ते, तत्र—

---

१ स्थाने तिष्ठति संस्तारको विदलकटमयो वा अथवा शय्यैव संस्तारकः तं पादेन संघट्टयति नानुज्ञापयति–न क्षमयति भणितं च कायेन संघट्य क्षेमादि १०, स्थानेति शैक्षो रात्निकस्य शय्यायां संस्तारके वा स्थाता वा निषीदयिता वा त्वग्वर्तयिता वा भवत्याशातना शैक्षस्य ११ उच्च इति शैक्षो रात्निकस्य उच्च आसने स्थाता निषीदयिता वा भवत्याशातना शैक्षस्य १२ समासने चापीति शैक्षो रात्निकसमस्य सम आसने स्थाता वा निषीदयिता वा त्वग्वर्तयिता वा भवत्याशातना शैक्षस्येति ।

ने पस एवं भवइ २६, कहं छेत्त त्ति रायणियस्स कहं कहेमाणस्स तं कहं अच्छिंदित्ता भवइ आसायणा सेहस्स, अच्छिंदित्ता भवइत्ति भणइ अहं कहेमि २७, 'परिसं भेत्ते'त्ति रायणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता भवति आसायणा सेहस्स, इह च परिसं भेत्तत्ति एय भणइ–भिक्खायेळा समुद्दिसणवेळा सुत्तत्थपोरिसिवेळा, भिंदइ वा परिसं २८, 'अणुट्ठियाए कहेइ' राइणियस्स कहं कहेमाणस्स तीए परिसाए अणुट्ठियाए अवोच्छिन्नाए अवोगडाए दोच्चंपि तच्चंपि कहं कहेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, इह तीसे परिसाए अणुट्ठियाएत्ति–निविट्ठाए चेव अवोच्छिन्नाएत्ति–आवेगोवि अच्छइ अवोगडाएत्ति अपरिसंसारियत्ति भणियं होइ, दोच्चपि तच्चंपि–बिहिं तिहिं चउहिं तमेवत्ति जो आयरिएण कहिओ अत्थो तमेवाहिगारं विगप्पइ, अयमवि पगारो अयमवि पगारो तस्सेयेगस्स सुत्तस्स २९, 'संथारपायघट्टण'त्ति सेज्जासंथारगं पायण संघट्टेत्ता हत्थेण य अणुण्णवित्ता भवइ आसायणा सेहस्स, इह च सेज्जा–सव्वंगिया संथारो–अड्ढाइज्जहत्थो अहव वा

---

१ छेत्ता एवं भवति २६ कथां छेत्ता रात्निके कथां कथयति तां कथां छेत्ता भवति आशातना शैक्षस्य, आच्छेत्ता भवतीति भणति–अहं कथयामि २७ पर्षदं भेत्ता रात्निके कथां कथयति पर्षदो भेत्ता भवति आशातना शैक्षस्य इह च पर्षदो भेत्तेति एव भणति–भिक्षावेला भोजनवेला सूत्रार्थपौरुषीवेला भिनत्ति वा पर्षदं २८ अनुत्थितायां कथयति रात्निके कथां कथयति तस्यां पर्षदि अनुत्थितायामव्युच्छिन्नायामव्याकृतायां (अपरिसमाप्तायां) द्विरपि त्रिरपि कथायाः कथयिता भवत्याशातना शैक्षस्य इह तस्यां पर्षदि अनुत्थितायामिति निविष्टायामेव अव्युच्छिन्नायामिति आवेगोऽपि तिष्ठति अव्याकृतायामिति अविसंसृतायामिति भणितं भवति द्विरपि त्रिरपि–द्विकृत्वस्त्रिकृत्वः चतुर्भिः तमेवेति य आचार्येण कथितोऽर्थस्तमेवाधिकारं विकल्पयति अयमपि प्रकारः अयमपि प्रकारः तस्यैकस्य सूत्रस्य २९ संस्तारकपादघट्टनमिति शय्यासंस्तारकं पादेन संघट्टयित्वा हस्तेन चाननुज्ञापयिता भवति आशातना शैक्षस्य इह च शय्या–सर्वाङ्गिकी संस्तारकः–अर्धतृतीयहस्तः अथ वा

खद्धं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, इमं च खद्ध–बडुसद्देणं खरकक्कसनिठुरं भणइ २०, 'तत्थ गए'त्ति सेहे राइणिए वाहरिए जत्थ गए सुणइ तत्थ गए चेव उल्लावं देइ आसायणा सेहस्स २१, 'किंति'त्ति सेहे राइणिएण आहूए किंति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, किंति–किं भणसित्ति भणइ, मत्थएण वंदामोत्ति भणियव्वं २२,'तुम'त्ति सेहे राइणियं तुमंति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, को तुमंति चोयइत्तए, २३ 'तज्जाए'त्ति सेहे राइणियं तज्जाएणं पडिहणित्ता भवति आसायणा सेहस्स, 'तज्जाएण'त्ति कीस अज्जो! गिलाणस्स न करेसि?, भणइ–तुमं कीस न करेसि?, आयरिओ भणइ–तुमं आलसिओ, सो भणइ–तुमं चेव आलसिओ इच्चादि२४, 'णो सुमणो'त्ति सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सुमणसो भवइ आसायणा सेहस्स, इह नो सुमणसेत्ति ओहयमणसंकप्पे अच्छइ न अणुवूहइ कहं अहो सोहणं कहियंति २५, 'णो सरसि'त्ति सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स णो समरसित्ति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, इह च 'णो सुमरसि'त्ति न सुमरसि तुमं एय अत्थं,

---

१ खद्धं वक्ता भवति आशातना शैक्षस्य इदं च खद्ध–बृहच्छब्देन कर्कशनिष्ठुरं भवति २० तत्र गत इति शैक्षो रात्निकेन व्याहृतो यत्र गतः शृणोति तत्र गत एवोल्लापं ददाति आशातना शैक्षस्य २१ किं' मितीति शैक्षो रात्निकेनाहूतः किमिति वक्ता भवत्याशातना शैक्षस्य किमिति किं भणसीति भणति मस्तकेन वन्द इति भणितव्यं २२ 'त्व'मिति शैक्षो रात्निकं त्वमिति वक्ता भवति आशातना शैक्षस्य कस्त्वमिति नोदयिता २३, तज्जात इति शैक्षो रात्निक तज्जातेन प्रतिहन्ता भवत्याशातना शैक्षस्य तज्जातेनेति कथमार्य! ग्लानस्य न करोषि? भणति त्वं कथं न करोषि? आचार्यो भणति–त्वमलसः स भणति–त्वमेवालस इत्यादि २४ न सुमना इति शैक्षो रात्निके कथां कथयति नो सुमना भवत्याशातना शैक्षस्य इह न सुमना इति अपहतमनःसंकल्पो भवति नानुबृंहति कथां अहो शोभनं कथितमिति २५ न स्मरसीति शैक्षो रात्निके कथां कथयति न स्मरसीतिवक्ता भवति आशातना शैक्षस्य इह च न स्मरसीति न स्मरसि त्वमेवमर्थं

पुव्वामेव सेहतरागस्स आलोएइ पच्छा रायणियस्स आसायणा सेहस्स १४, 'उवदंसे'त्ति सेहे असणं वा ४ पडिगाहेत्ता तं पुव्वामेव सेहतरागस्स उवदंसेइ पच्छा रायणियस्स आसायणा सेहस्स १५, निमंतमेत्ति सेहे असणं वा ४ पडिगाहेत्ता पुव्वामेव सेहतरागं निमंतेइ पच्छा राइणियं आसायणा सेहस्स १६, खद्धत्ति सेहे राइणिएण सद्धिं असणं वा ४ पडिगाहेत्ता तं राइणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स २ खद्धं खद्धं दलयइ आसायणा सेहस्स १७, 'आइयण'त्ति सेहे असणं वा ४ पडिगाहित्ता राइणिएण सद्धिं भुंजमाणे तत्थ सेहे खद्धं २ डायं २ ऊसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ मणामं २ निद्धं २ लुक्खं २ आहरेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, इहं च खद्धंति प्रचुरप्रचुरं डाग्रपेण शार्क शाकंति पत्रशाकः मार्गणविस्मर गएसिगादि ऊसढंति वर्णगंधरसफरिसोपपेयं रसियंति रसालं रसियं दाडिमंबादि 'मणुण्णं'त्ति मणसो इट्ठं, 'मणामं'ति २ मणसा मणगं मणामं 'निद्ध ति २ नेहावगाढं 'लुक्खं'ति नेहवज्जियं १८, 'अप्पडिसुणणे'त्ति सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स अप डिसुणेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स, सामान्येन दिवसओ अपडिसुणत्ता भवइ १९ 'खद्धंति य'त्ति सेहे राइणियस्स खद्धं

१ पूर्वमेवालोचयति शैक्षः पश्चाद्रात्निकस्याशातना शैक्षस्य १४ 'उपदर्शन'मिति शैक्षोऽशनं वा ४ प्रतिगृह्य तत् पूर्वमेवाल्परात्निकायो पदर्शयति पश्चाद्रात्निकस्याशातना शैक्षस्य १५, निमन्त्रणमिति शैक्षोऽशनं वा ४ प्रतिगृह्य पूर्वमेवाल्परात्निक निमन्त्रयते पश्चाद् रात्निकं आशातना शैक्षस्य १६ 'खद्ध'मिति शैक्षः रात्निकेन सार्धमशनं वा ४ प्रतिगृह्य तत् रात्निकमनापृच्छ्य यो य इच्छति तं तं प्रचुरं प्रचुरं ददाति आशातना शैक्षस्य १७ 'आदान'मिति शैक्षोऽशनं वा ४ प्रतिगृह्य रात्निकेन सार्धं भुञ्जानस्तत्र शैक्षः प्रचुरं २ शाकं २ उच्छ्रितं रसं मनोज्ञं मनआपं स्निग्धं रूक्षं २ आहारयिता भवति आशातना शैक्षस्य, इह च खद्धंति प्रचुरं प्रचुरं शाकमेव शाकमिति वर्णगन्धरसस्पर्शोपेतं रसिकमिति रसयुक्तं दाडिमाम्रादि मनोज्ञ'मिति मनस इष्ट 'मनआप'मिति मनसा मनआपं मनआपं स्निग्धमिति स्नेहावगाढं रूक्षमिति स्नेहवर्जितं १८ अप्रतिश्रवणमिति शैक्षः रात्निके व्याहरति अप्रतिश्रोता भवति आशातना शैक्षस्य, सामान्येन दिवसेऽप्रतिश्रोता भवति १९, खद्धेति शैक्षः रात्निकं प्रति

आसन्नं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ३, चिट्ठत्ति सेहे रायणियस्स पुरओ चिट्ठेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ४, सेहे राइणियस्स पक्खं चिट्ठेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ५, सेहे राइणियस्स आसण्णं चिट्ठत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ६, निसीयणत्ति सेहे रायणियस्स पुरओ निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ७, सेहे राइणियस्स सपक्खं निसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ८, सेहे राइणियस्स आसण्णं निसीयित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ९, 'आयमणे'त्ति सेहे राइणिएण सद्धिं बहिया विचारभूमीं निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरायं आयामति पच्छा रायणिए आसायणा सेहस्स १०, 'आलोयणे'त्ति सेहे रायणिएण सद्धिं बहिया विचारभूमीं निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतराय आलोएइ आसायणा सेहस्स, 'गमणागमण'त्ति भावणा ११ 'अपडिसुणणे'त्ति सेहे राइणियस्स राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स अज्जो ! के सुत्ते के जागरइ ?, तत्थ सेहे जागरमाणे रायणियस्स अपडिसुणेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स १२, 'पुव्वालवण'त्ति केइ रायणियस्स पुव्वसंलवए सिया त सेहे पुव्वतरायं आलवइ पच्छा रायणिए आसायणा सेहस्स १३, आलोएइत्ति असणं वा ४ पडिग्गाहेत्ता त

१ आसन्नं गन्ता भवति आशातना शैक्षस्य ३, 'स्थित'मिति शैक्षो रात्निकस्य पुरतः स्थाता भवति आशातना शैक्षस्य ४ शैक्षो रात्निकस्य पार्श्वे स्थाता भवत्याशातना शैक्षस्य ५ शैक्षो रात्निकस्यासन्नं स्थाता भवत्याशातना शैक्षस्य ६, निषदन'मिति शैक्षो रात्निकस्य पुरतो निषीदिता भवत्याशातना शैक्षस्य ७ शैक्षो रात्निकस्य पार्श्वे निषीदिता भवत्याशातना शैक्षस्य ८ शैक्षो रात्निकस्यासन्नं निषीदिता भवत्याशातना शैक्षस्य ९ आचमन'मिति शैक्षो रात्निकेन सार्धं बहिर्विचारभूमिं निष्क्रान्तः सन् तत्र शैक्षः पूर्वमेवाचामति पश्चाद् रात्निकः आशातना शैक्षस्य १० आलोचने'ति शैक्षो रात्निकेन सार्धं बहिर्विचारभूमिं निष्क्रान्तः सन् तत्र शैक्षः पूर्वमेवालोचयति आशातना शैक्षस्य गमनागमनमिति भावना ११ अप्रतिश्रवणमिति शैक्षो रात्निकस्य रात्रौ वा विकाले वा व्याहरति आर्य ! कः सुप्तः कः जागर्ति ? तत्र शैक्षो जाग्रद् रात्निकस्याप्रतिश्रोता भवत्याशातना शैक्षस्य १२ 'पूर्वालपन'मिति कश्चित् रात्निकस्य पूर्वसंलप्यः स्यात् तं शैक्षः पूर्वमेवालपति पश्चाद् रात्निकः आशातना शैक्षस्य १३ आलोचयती'ति अशनं वा ४ प्रतिगृह्य तत्

मयाभिंधमिराशातनाभिः, क्रिया पूर्ववत्, आयः—सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणः तस्य शातना, तदुपदर्शनायाह सङ्ग्रहणिकारः—

पुरओ पक्खासन्ने गन्ता चिट्ठणनिसीयणायमणे । आलोयणपडिसुणणा पुव्वालवणे य आलोए ॥ १ ॥
तह उवदंसनिमंतण खद्धाइयणे तह अपडिसुणणे । खद्धंत्ति य तत्थ गए किं तुम तज्जाय नो सुमणे ॥ २ ॥
नो सरसि कहं छेत्ता परिसं भित्ता अणुट्ठियाइ कहे । संथारपायघट्टण चिट्ठे उच्चासणाईसु ॥ ३ ॥

आसां व्याख्या—इहाकारणे रत्नाधिकस्याऽऽचार्यादेः शिष्यकेणाऽऽशातनाभीरुणा सामान्येन पुरतो गमनादि न कार्यं, कारणे तु मार्गादिपरिज्ञानादौ ध्यामलदर्शनादौ च विपर्ययः अत्र सामाचार्यनुसारेण स्वबुद्ध्याऽऽलोचनीयः, तत्र पुरतः—अग्रतो गन्ताऽऽशातनायानेव, तथाहि—अग्रतो न गन्तव्यमेव, विनयभङ्गादिदोषात्, 'पक्ख'त्ति पक्षाभ्यामपि गन्ताऽऽशातनायानेव, अत पक्षाभ्यामपि न गन्तव्यमुक्तदोषप्रसङ्गादेव, आसन्नः पृष्ठतोऽप्यासन्नं गन्तैवमेव वक्तव्यः, तत्र निश्वासक्षुतश्लेष्मकणपातादयो दोषाः, ततश्च यावता भूभागेन गच्छत एते न भवन्ति तावता गन्तव्यमिति, एवमक्षरगमनिका कार्या, असम्मोहार्थं तु दशाश्रुतस्कन्धप्रकटार्थव्याख्यायापन्त, तद्यथा—'पुरओ'त्ति सेहे रायणियस्स पुरओ गंता भवइ आसायणा सेहस्स १, पक्खसत्ति सेहे राइणियस्स पक्खे गंता भवइ आसायणा सेहस्स २, आसण्णत्ति सेहे राइणियस्स णिसीययस्स

१ पुरत इति शैक्षो रात्निकस्य पुरतो गन्ता भवत्याशातना शैक्षस्य १, पक्षेति शैक्षो रात्निकस्य पक्षयोर्गन्ता भवत्याशातना शैक्षस्य २ आसन्नमिति शैक्षो रत्नाधिकस्य निषीदत

आराहणाएँ मरुदेवा ओसप्पिणीए पढम सिद्धो ॥ ११२० ॥

अस्य व्याख्या—विणीयाए णयरीए भरहो राया, उसहसामिणो समोसरणं, प्राकारादिः सर्वः समवसरणवर्णकोऽभिधातव्यो यथा कल्पे,—सा मरुदेवा भरहं विभूसिय दट्ठूण भणइ—तुज्झ पिया एरिसिं विभूतिं चइत्ता एगो समणो हिंडइ, भरहो भणइ—कत्तो मम तारिसा विभूई जारिसा तातस्स ?, जइ न पत्तियसि तो एहि पेच्छामो, भरहो निग्गओ सव्वबलेण, मरुदेवावि निग्गया, एगंमि हत्थिंमि विलग्गा, जाव पेच्छइ छत्ताइछत्त सुरसमूह च ओवयत, भरहस्स वत्थाभरणाणि ओमिलायंताणि दिट्ठाणि, दिट्ठा पुत्तविभूई ! कओ मम एरिससि, सा तोसेण चिंतिउमारद्धा, अपुव्वकरणमणुपविट्ठा, जाती नत्थि, जेण वणस्सइकाइएहिंतो उवट्टित्ता, तत्थेव हत्थिवरगयाए केवलनाणं उप्पण्णं, सिद्धा, इमीए ओसप्पिणीए पढमसिद्धा । एवमाराधना प्रति योगसङ्ग्रहः कर्तव्य इति १२ ।

---

१ विनीतायां नगर्यां भरतो राजा ऋषभस्वामिनः समवसरणं सा मरुदेवी भरत विभूषितं दृष्ट्वा भणति—तव पितेदृशीं विभूतिं मुक्त्वैकः श्रमणो हिण्डते भरतो भणति—कुतो मम तादृशी विभूतिर्यादृशी तातस्य ? यदि न प्रत्येषि तदेहि प्रेक्षावहे, भरतो निर्गतः सर्वबलेन मरुदेव्यपि निर्गता, एकस्मिन् हस्तिनि विलग्ना, यावत् प्रेक्षते छत्रातिच्छत्रं सुरसमूहं चावपतन्त भरतस्य वस्त्राभरणान्यवम्लानप्रायाणि दृष्टानि दृष्टा पुत्रविभूतिः ! कुतो ममेदृशी ! इति सा तावच्चिन्तयितुमारब्धा, अपूर्वकरणमनुप्रविष्टा, जातिस्मृतिर्नास्ति येन वनस्पतिकायिकादुद्वृत्ता तत्रैव वरहस्तिस्कन्धगतायाः केवलज्ञानमुत्पन्नं सिद्धा अस्यामवसर्पिण्यां प्रथमः सिद्धः ।

गारूण सयमेव भावलिंगं पडिवज्जित्ता कयसामाइओ पडिमं ठिओ, जावपरिं सइओ, सिद्धो, एवं सगपरिण्णाए जोगा संगहिया भवंति १०। संगाणं च परिण्णत्ति गयं, इयाणिं पायच्छित्तकरणम्ति, जहाविहीए वृषस्स, विही नाम जहा सुत्ते भणियं जो जित्तिएण सुज्झइ तं सुट्ठु ददइत्ति देंतेण जोगा संगहिया भवंति दोण्हवि करेंतदेंतयाणं, तस्योदाहरणं प्रति गाथापूर्वार्धमाह—

पायच्छित्तपरूवण आहरणं तत्थ होइ धणगुत्ता।

इमस्स वक्खाणं—एगत्थ णयरे धणगुत्ता आयरिया, ते किर पायच्छित्तं जाणंति दाउं छउमत्थगावि होंतगा जहा एत्तिएण सुज्झइ वा नयत्ति, इंगिएण जाणइ, जो ताण मूले वहइ ताहे सो सुहेण णित्थरइ तं चाइयार ठिओ य सो होइ अब्भहियं च निज्जरं पावेइ, तहा कायव्व, एवं दाण य करणे य जोगा संगहिया भवंति, पायच्छित्तकरणेत्ति गयं ११। इयाणिं आराहणा य मारणंतित्ति, आराहणाए मरणकाले योगाः सङ्गृह्यन्ते, तत्रोदाहरणं प्रति गाथापश्चार्धमाह—

---

1 यतना स्वयमेव भावलिङ्गं प्रतिपद्य कृतसामायिकः प्रतिमां स्थितः यावत् सादितः, सिद्धः, एवं शकपरिज्ञया योगाः संगृहीता भवन्ति। सङ्गानां च परिज्ञेति गतं। इदानीं प्रायश्चित्तकरणमिति यथाविधि वृषस्य विधिर्नाम यथा सूत्रे भणितं यो यावता शुध्यति तं सुष्ठु ददद् इतरा योगाः संगृहीता भवन्ति द्वयोरपि कुर्वद्ददतोः तस्योदाहरणं। अस्य व्याख्यानं—एकत्र नगरे धनगुप्ता आचार्याः। ते किल प्रायश्चित्तं जानन्ति दातुं छद्मस्था अपि सन्तो यथैतावता शुध्यति वा नवेति इङ्गितेन जानाति यस्तेषां मूले वहति तदा स सुखेन निस्तरति तं चातिचारं स्थितश्च भवति स। अभ्यधिकं च प्राप्नोति निर्जरां तथा कर्तव्यं एवं दाने करणे च योगाः संगृहीता भवन्ति, प्रायश्चित्तकरणमिति गतं। इदानीमाराधना च मारणान्तिकीति आराधनया मरणकाले योगाः संगृह्यन्ते,

'विगिंचेहिंति, सो स गहाय अडविं गओ, एगत्थ रुक्खदहुच्छायाए विगिंचामि, पयायधं मुयवस्स हत्यो छिप्पो, सो तण एगत्थ फुसिओ, तेण गंधेण कीडियाओ आगयाओ, जा जा खाइ सा सा मरइ, तेण चिंतियं-मए एगेण समप्पउ मा जीवघाओ होउत्ति एगत्थ थंडिले आलोइयपडिक्कंतेणं मुहाणंतगं पडिलेहित्ता अणिंदंतेण आहारियं, वेयणा य तिव्वा जाया अहियासिया, सिद्धो, एव अहियासेयव्वं, उदए मारणंतियत्तिगयं २९। इयाणिं सगाणं च परिहरणंति, सगो नाम 'पत्ती सङ्गे' भावतोऽभिष्वङ्गः स्नेहगुणतो रागः भावो व अभिसंगो येनास्य सङ्गेन भयमुत्पद्यते स जाणणापरिण्णाए णाऊण पच्चक्खाणपरिण्णाए पच्चक्खाएयव्वं, तत्थोदाहरणगाहा—

नयरी य चंपनामा जिणदेवो सत्थवाहअहिछत्ता। अडवी य तेण अगणी सावयसगाण वोसिरणा ॥१३१९॥

इमीए वक्खाणं—चंपाए जिणदेवो नाम सावगो सत्थवाहो उच्छोसेत्ता अहिछत्तं पयाइ, सो सत्थो पुलिंदएहिं विलो छिओ, सो सावगो नासंतो अडविं पविट्ठो जाव पुरओ अग्गिभयं मग्गओ वग्घभयं दुहओ पयायं, सो भीओ, असरण

१ सकेति स तं गृहीत्वाऽटवीं गतः एकत्र वृक्षदग्धच्छायायां त्यजामीति पात्रबन्धं मुञ्चतो हस्तो लिप्तः स तेनैकत्र स्पृष्टः तेन गन्धेन कीटिका आगताः या या खादति सा सा म्रियते तेन चिन्तितं-मयैकेन समाप्यतां मा जीवघातो भूदिति एकत्र स्थण्डिले मुखानन्तकं प्रतिलिख्य आलोचितप्रतिक्रान्तेनानिन्दता आहारित वेदना च तीव्रा जाताऽध्यासिता सिद्धः एवमध्यासितव्यं उदयो मारणान्तिक इति गतं इदानीं सङ्गानां च परिहरणमिति सङ्गो नाम भावतः अभिष्वङ्गः स ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यातव्यः तत्रोदाहरणगाथा। अस्या व्याख्यान—चम्पायां जिनदेवो नाम श्रावकः सार्थवाह उद्घोष्य अहिच्छत्रां व्रजति स सार्थः पुलिन्द्रैर्विलोलितः, स श्रावको नश्यन् अटवीं प्रविष्टो यावत् पुरतोऽग्निभयं पृष्ठतो व्याघ्रभयं द्विधातः प्रपातं स भीतः अशरणं

गोऊण सपमेव भावलिंगं पडिवज्जित्ता कयसामाइओ पडिमं ठिओ, सायरिएहिं खामिओ, ठिओ, एवं सगपरिण्णाए जोगा संगहिया भवंति १०। संगाणं च परिण्णत्ति गयं, इयाणिं पायच्छित्तकरणन्ति, अहाविहीए दायव्वं, तिविहं नाम जहा सुत्ते भणियं जो जित्तिएण सुज्झइ तं सुट्ठु चउसंभिणं देंतेण जोगा संगहिया भवंति दोण्हवि करेंतदेंतयाणं, तस्सोदाहरणं प्रति गाथापूर्वार्धमाह—

पायच्छित्तपरूवण आहरणं तत्थ होइ धणगुत्ता।

इमस्स वक्खाणं—एगरथ णयरे धणगुत्ता आयरिया, ते किर पायच्छित्तं जाणंति दाउं छउमत्थगावि होतगा जहा पत्तिएण सुज्झइ वा नवत्ति, इंगिएण जाणइ, जो ताण मूले वहइ ताहे सो सुहेण णित्थरइ तं चाइयारं ठिओ य सो होइ अब्भहियं च निज्जरं पावेइ, तहा कायव्व, एवं दाणे य करणे य जोगा संगहिया भवंति, पायच्छित्तकरणेत्ति गयं ११। इयाणिं आराहणा य मारणंतित्ति, आराहणाए मरणकाले योगाः सङ्गृह्यन्ते, तत्रोदाहरणं प्रति गाथापश्चार्धमाह—

---

1 ग्रहणा सप्तमेन भावलिङ्गं प्रतिपद्य कृतसामायिकः प्रतिमां स्थितः आचार्यैः क्षामितः स्थितः, एवं स्वकपरिज्ञया योगाः संगृहीता भवन्ति। पञ्चमी च परिज्ञेति गतः। इदानीं प्रायश्चित्तकरणमिति यथाविधि दातव्यं त्रिविधमपि यथा सूत्रे भणितं यो यावता शुध्यति तं सुष्ठु चतुष्कं ददता योगाः संगृहीता भवन्ति द्वयोरपि कुर्वद्ददतोः तस्योदाहरणम्। अस्य व्याख्यान—एकत्र नगरे धनगुप्ता आचार्याः ते किल प्रायश्चित्तं जानन्ति दातुं छद्मस्था अपि सन्तो यथा प्रत्ययेन शुध्यति वा नवेति इङ्गितेन जानन्ति यस्तेषां मूले वहति तदा स सुखेन निस्तरति तं चातिचारं स्थितश्च भवति सः अभ्यधिकां च प्राप्नोति निर्जरां तथा कर्तव्यं एवं दाने करणे च योगाः संगृहीता भवन्ति प्रायश्चित्तकरणमिति गतः। इदानीमाराधना च मारणान्तिकीति आराधनया मरणकाले योगाः संगृह्यन्ते,

दइ, भणइ–एत्तो ठियगा पदह, आयरिया पारद्धा, अण्णया ते अवरोप्पर मंतेंति–किं मण्णे होज्ज गवेसामोत्ति, एगो ओयरगवारे ठिओ निवसेइ, थिरं च ठिओ, आयरिओ न चलइ न भासइ न फंदइ ऊसासनिस्सासोवि नत्थि, सुहुमो पिर तेसिं भवइ, सो गंतूण कहेइ अण्णेसिं, ते दट्ठा, अज्जो! तुम आयरिए कालगएवि न कहेसि?, सो भणइ–न कालग यत्ति, झाणं झायइत्ति, मा वाघायं करेहित्ति, अण्णे भणंति–पवइओ एसो लिंगी मत्ते वेयालं साहेउकामो उक्खलगुणा आयरिया तेण ण कहेइ, अज्ज रत्तिं पेच्छहिह, ते आरद्धा तेण समं भंडिउं, तेण वारिया, ताहे ते राया उस्सारेऊण कहित्ता आणीओ, आयरिया कालगया सो लिंगी न देइ नीणेउं, सोवि राया पिच्छइ, तेणवि पत्तीयं कालगओत्ति, पूसमित्तस्स ण पत्तियइ, सीया सज्जीया, ताहे णिच्छयो णाओ, विणासिया होहिंति, पुव्व भणिओ सो आयरिएहिं–जाहे अगणी अत्तो वा अण्णओ होज्जत्ति ताहे मम अंगुट्ठए छिवेज्जाहि, छित्तो, पडिबुद्धो भणइ–किं अज्जो! वाघाओ कओ?, पिच्छह

---

१ ददाति भणति–अत्र स्थिता वन्दध्व आचार्या व्यापृताः, अन्यदा ते परस्परं मन्त्रयन्ते–किं मन्ये भवेद् गवेषयाम इति एकोऽपवरकद्वारे स्थित्वा निभालयति, स्थिरं च स्थितः आचार्यो न चलति न भाषते न स्पन्दते उच्छ्वासनिःश्वासावपि न स्तः सूक्ष्मो स्थिरं तेषां भवतः स गत्वा कथयति अन्येभ्यः ते दृष्ट्वा आर्य! त्वमाचार्येषु कालगतेष्वपि न कथयसि स भणति–न कालगता इति ध्यानं ध्यायन्ति मा व्याघातं कार्षीरिति अन्ये भणन्ति–प्रव्रजित एष लिङ्गी मन्ये वेतालं साधयितुकामो लक्षणयुक्ता आचार्यास्तेन न कथयति, अद्य रात्रौ प्रेक्षध्वं ते आरब्धास्तेन समं भण्डयितुं तेन वारिताः तदा ते राजानं कथयित्वाऽऽनीतवन्तः, आचार्याः कालगताः स लिङ्गी न ददाति निष्काशयितुं, सोऽपि राजा प्रेक्षते तेनापि प्रत्ययितं कालगता इति पुष्यमित्रस्य न प्रत्ययति शिबिका सज्जिता तदा निश्चयो ज्ञातो विनाशिता भविष्यामि पूर्वं भणितश्च आचार्यैः–यदाऽग्निरन्यो वाऽन्यको भवेत् तदा ममाङ्गुष्ठं स्पृशेः स्पृष्टः प्रतिबुद्धो भणति–किमार्य! व्याघातः कृतः! प्रेक्षध्वमेते–

एएहिं सीसेहिं गुज्झ करेंति, भवाडिया, परिसयं किर ठाण पविसियव्वं, तो जोगा संगहिया भवंति २८। झाणसंवरजोगे त्ति गयं, इयाणिं उदए मारणंतिएत्ति, उदए जइ किर उदओ मारणंतिओ मारणंती वेयणा वा तो अहियासेयव्वं, तस्थोदाहरणगाहा—

रोहीडगं च नयरं ललिआ गुट्ठी अ रोहिणी गणिआ। धम्मरुइ कडुअतुंबिपदाणाययणे अ कसुवए ॥१११८॥

इमीए वक्खाणं—रोहिडए णयरे ललियागोट्ठी रोहिणी जुण्णगणिया अण्ण जीवणिरुवायं अकरंती तीसे गोट्ठीए भत्तं परधिया, एवं कालो वच्चइ, अण्णया तीए कडुयदोद्धियं गहिय, तं च बहुसंभारसंभियं उवक्खडियं विण्णस्सइ जाव मुहे ण कीरइ ताव, तीए चिंतियं—खिंसीया होमि गोट्ठीएत्ति अण्णं उवक्खडेइ, एयं भिक्खयराण दिज्जिहित्ति, मा दव्वमेवं णासउ, जाव धम्मरुई णाम अणगारो मासक्खमणपारणए पविट्ठो, तस्स दिण्णं, सो गओ उवस्सयं, आलोएइ गुरूणं, तेहिं भायणं गहिय, सारगंधो य णाओ, अंगुलिए चिण्णासियं, तेहिं चिंतियं—जो एवं आहारेइ सो मरइ, भणिओ

1 गुह्याङ्ग स्त्रियः कुर्वन्ति, निर्भर्त्सिताः, इतरं किल स्थानं प्रवेष्टव्यं ततो योगाः संगृहीता भवन्ति। ध्यानसंवरयोगा इति गतं इदानीमुदयो मारणान्तिक इति यदि किलोदयो मारणान्तिको मारणान्तिकी वेदना वा तदाऽध्यासितव्यं तत्रोदाहरणगाथा। अस्या व्याख्यानं—रोहितके नगरे ललितागोष्ठी रोहिणी जीर्णगणिका अन्य आजीविकोपायमकुर्वाणा तस्या गोष्ठ्या भक्तं करोति एवं कालो व्रजति, अन्यदा तया कटुकं तौम्बिकं पक्वं तच्च बहुसंभा-रसंभृतमुपस्कृतं विनश्यति यावत् मुखे न दीयते तावत् तया चिन्तितं—निन्दिता भविष्यामि गोष्ठ्या इति अन्यदुपस्करोति एतद् भिक्षाचरेभ्यो दीयते इति मा द्रव्यमेवं विनश्येत् यावत् धर्मरुचिरनगारो मासक्षपणपारणके प्रविष्टः तस्मै दत्तं स गतः उपाश्रयं, आलोचयति गुरून् तैर्भाजनं गृहीतं विस्रगन्ध-श्च ज्ञातः अङ्गुल्या विज्ञातं तैश्चिन्तितं—य एतमाहारयति स म्रियते, भणितः—

दई, भणइ—एत्तो ठियगा वंदह, आयरिया वावडा, अण्णया ते भयरोप्परं मंतंति—किं मण्णे होज्जा गवेसामोत्ति, एगो ओयरगबारे ठिओ निवज्झेइ, चिरं च ठिओ, आयरिओ न चलइ न भासइ न फंदइ ऊसासनिस्सासोवि नत्थि, सुहुमो किर तेसिं भयइ, सो गतूण कहेइ अण्णोसिं, ते रुट्ठा, अज्जो ! तुमं आयरिए कालगएवि न कहेसि !, सो भणइ—न कालगएत्ति, झाणं झायइत्ति, मा वाघायं करेहिसि, अण्णे भणंति—पवइओ एसो लिंगी मण्णे वेयालं साहेउकामो उक्खणजुत्ता आयरिया तेण ण कहेइ, अज्ज रत्तिं पेच्छहिह, ते आरद्धा तेण समं भंडिउं, तेण वारिया, ताहे ते रायाणं कहित्ता आणीओ, आयरिया कालगया सो लिंगी न देइ नीणेउं, सोवि राया पिच्छइ, तेणवि पत्तीयं कालगओत्ति, पूसमित्तस्स ण पत्तियइ, सीया सज्जीया, ताहे णिच्छयो णायो, विणासिया होहिंति, पुण भणिओ सो आयरिएहिं—आहे भगणी अज्जो वा अब्भओ होज्जत्ति ताहे मम अंगुट्ठए छिवेज्जाहि, छिक्को, पडिबुद्धो भणइ—किं अज्जो ! वाघाओ कओ !, पिच्छह

---

१ ददाति भणति—अत्र स्थिता वन्दध्वं आचार्या व्यापृताः, अन्यदा ते परस्परं मन्त्रयन्ते—किं मन्ये भवेद् गवेषयाम इति एकोऽपवरकद्वारे स्थितो निभालयति चिरं च स्थितः, आचार्यो न चलति न भाषते न स्पन्दते उच्छ्वासनिःश्वासावपि न स्तः। सूक्ष्मौ किल तेषां भवतः। स गत्वा कथयति अन्येभ्यो। ते रुष्टा आर्य ! त्वमाचार्यान् कालगतानपि न कथयसि स भणति—न कालगता इति ध्यानं ध्यायन्ति मा व्याघातं कार्षीत अन्ये भणन्ति—प्रव्रजित एष लिङ्गी मन्ये वैतालं साधयितुकामो लक्षणयुक्ता आचार्यास्तेन न कथयति अद्य रात्रौ प्रेक्षध्वं ते आरब्धास्तेन समं भण्डयितुं, तेन वारिताः तदा ते राजानं कथयित्वाऽऽनीतवन्तः आचार्याः कालगताः स लिङ्गी न ददाति निष्काशयितुं, सोऽपि राजा प्रेक्षते तेनापि प्रतीतं कालगत इति, पुष्यमित्राय न प्रत्याययति शिबिका सज्जिता तदा निश्चयो ज्ञातो विनाशिता भविष्यन्ति पूर्वं भणितः स आचार्यैः—यदाऽग्निरन्यो वाऽभ्रमो भवेत् तदा ममाङ्गुष्ठं स्पृशेः प्रतिबुद्धो भणति—किमार्य ! व्याघातः कृतः ! प्रेक्षध्वमेतै—

चिंतेइ—गुरुकुलवासो न जाओ, इयाणि करेमि जो उवएसो, तेण ठवणायरिओ कओ, पढमावासगमादीचक्कवालसामायारी सव्वा विभासियव्वा, एवं किर सो सव्वत्थ न चुक्को, खणे २ उवउज्जइ—किं मे कयं ?, एवं किर साहुणा कायव्वं, एवं तेण जोगा संगहिया भवंति २७ । छउमत्थेत्ति गयं, इयाणिं झाणसंवरजोगेत्ति, झाणेण जोगा संगहिया, तत्थोदाहरणं—

णयरं च सिंबवद्धण मुंडिम्बयअज्जपूसभूई य । आणापाणुपूसमित्ते सुहुमे झाणे विवादो य ॥ १३१७ ॥

इमीए वक्खाणं—सिंबवद्धणे णयरे मुंडिम्बगो राया, तत्थ पूसभूई आयरिया बहुस्सुया, तेहिं सो राया उवसामिओ सड्ढो जाओ, ताण सीसो पूसमित्तो बहुस्सुओ ओसण्णो अण्णत्थ अच्छइ, अण्णया तेसिं आयरियाणं चिंता—सुहुमं झाणं पविसामि, त महापाणसमं, स पुण जाहे पविसइ ताहे एवं जोगसन्निरोहं करेइ जह न किंचिवि चेयइ, तेसिं च जे मूले ते अगीयत्था, तेहिं पूसमित्तो सद्दाविओ, आगओ, कहियं, स तेण पडिवन्नं, ताहे एगत्थ उववरए निव्वाघाए झायंति, सो तेसिं होयं न

---

१ चिन्तयति—गुरुकुलवासो न जातः इदानीं करोमि च उपदेशः, तेन स्थापनाचार्यः कृतः प्रथमावश्यकादिचक्रवालसामाचारी सर्वा विभाषितव्या एवं किल स सर्वत्र न स्खलितः, क्षणे क्षणे उपयुङ्क्ते—किं मे कृतं ?, एवं किल साधुना कर्तव्यं एवं तेन योगाः संगृहीता भवन्ति । छद्मस्थ इति गतं इदानीं ध्यानसंवरयोग इति ध्यानेन योगाः संगृहीताः तत्रोदाहरणम् । अस्या व्याख्यानं—सिंहवर्धने नगरे मुण्डिकाम्रको राजा तत्र पुष्यभूतय आचार्या बहुश्रुता तैः स राजोपशमितः श्राद्धो जातः तेषां शिष्यः पुष्यमित्रो बहुश्रुतोऽवसन्नोऽन्यत्र तिष्ठति अन्यदा तेषामाचार्याणां चिन्ता—सूक्ष्मं ध्यानं प्रविशामि तत् महाप्राणसमं तत् पुनर्यदा प्रविशति तदैव योगसंनिरोधः क्रियते यथा न किंचित् चिन्त्यते तेषां च ये पार्श्वे तेऽगीतार्थाः तैः पुष्यमित्रः शब्दितः आगतः कथितं, स (तत्) तेन प्रतिपन्नं तदैकान्तवरके निर्व्याघाते ध्यायति स तेषामापृच्छ्य च

नूणं सदोसाणि पुप्फाणि, जइ य भणीहामि एएहिं पुप्फेहिं अच्चणिया अचोक्खा विसभावियाणि वा ता गामेलगयण होहिंति तथाएणं वारेमित्ति, सा य रंगओइण्णिया, अण्णया मंगल गिज्जइ, सा इमं गीतियं पगीया—

पस्से वसंतमासे आमोअ पमोअए पवत्तंमि । मुत्तूण कण्णिआरए भमरा सेवंति चूअकुसुमाइ ॥ ११९५ ॥

गीतिं, इमा निगदसिद्धेव, सो चिंतेइ—अपुव्वा गीतिया, तीए णाय—सदोसा कणियारत्ति परिहरतीए गीयं नच्चियं च सविलासं, न य तत्थ छलिया, परिहरिय अप्पमत्ता नई गीय न कीर चुक्का, एव साहुणावि पंचविह पमाए रक्खंतेणं जोगा संगहिया २६ । इयाणिं लवालवेत्ति, सो य अप्पमाओ लवे अद्धलवे वा पमायं न आइयव, तत्थोदाहरणगाहा—

भरुयच्छंमि य विजए नडपिडए वासवासनागघरे । ठवणा आयरियस्स (उ) सामायारीपउंजणया ॥११९६॥

इमीए वक्खाण—भरुअच्छे णयरे एगो आयरिओ, तेण विजओ नाम सीसो उज्जेणी कज्जेण पेसिओ, सो जाइ, तस्स गिलाणकज्जेण केणइ वक्खेवो, सो अंतरा अकालवासेण रुद्धो, अंतरावणउज्झियंति नडपिडए गामे वासावासं ठिओ, सो

---

१ नूनं सदोषाणि पुष्पाणि यदि चाभणिष्य एतैः पुष्पैरर्चनिकाऽचोक्षा विषभावितानि वा तदा ग्रामेलकजनमस्मिन्निति तथात्वेन वारयामि इति सा च रङ्गावतीर्णाऽन्यदा मङ्गलं गायति सेमां गीतिं प्रगीतवती—गीतिः इयं स चिन्तयति अपूर्वा गीतिः तया ज्ञातं—सदोषाणि कर्णिकाराणि इति परिहरन्त्या गीतं नर्तितं च सविलासं न च तत्र छलिता परिहृत्य (तानि), अप्रमत्ता नूनं गीते च न किल स्खलिता एवं साधुनाऽपि पञ्चविधात् प्रमादात् रक्षणपरा योगाः संगृहीताः । इदानीं लवालव इति स चाप्रमादः लवेऽर्धलवे वा प्रमादं न कर्तव्यं तत्रोदाहरणगाथा—अस्या व्याख्यानं—भृगुकच्छे नगरे एक आचार्यः तेन विजयो नाम शिष्य उज्जयिनीं कार्येण प्रेषितः स याति तस्य ग्लानकार्येण केनचित् व्याक्षेपः सोऽन्तराऽकालवर्षेण रुद्धः अन्तरापण उज्झितमिति नडपेटके ग्रामे वर्षावासं स्थितः स

चिंतेइ–गुरुकुलवासो न जाओ, इदाणिं करेमि जो उवएसो, तेण ठवणायरिओ कओ, एवमावासगमादीचक्कवालसामायारी सव्वा विभासियव्वा, एवं किल सो सव्वत्थ न चुक्को, खणे २ उवउज्जइ–किं मे कयं ?, एवं किर साहुणा कायव्वं, एवं तेण जोगा संगहिया भवंति २७ । लवालवेत्ति गयं, इयाणिं झाणसंवरजोगेत्ति, झाणेण जोगा संगहिया, तत्थोदाहरणं—

णयरं च सिंबवद्धण मुंडिम्बगअज्जपूसभूई य । आयाणपूसमित्ते सुहुमे झाणे विवादो य ॥ १३१७ ॥

इमीए वक्खाणं—सिंबवद्धणे णयरे मुंडिम्बगो राया, तस्स पूसभूई आयरिया बहुस्सुया, तेहिं सो राया उवसामिओ सड्ढो जाओ, ताण सीसो पूसमित्तो बहुस्सुओ ओसण्णो अण्णत्थ अच्छइ, अण्णया तेसिं आयरियाणं चिंता–सुहुमं झाणं पविस्सामि, तं महापाणसमं, तं पुण जाहे पविसइ ताहे एवं जोगसंनिरोहं करेइ जह न किंचिवि चेयइ, तेसिं च जे मूले ते अगीयत्था, तेहिं पूसमित्तो सद्दाविओ, आगओ, कहियं, स तेण पडिवन्नं, ताहे एगत्थ उववरए निव्वाघाए झायंति, सो तेसिं दारं न

---

१ चिन्तयति–गुरुकुलवासो न जातः इदानीं करोमि च उपदेशः तेन स्थापनाचार्यः कृतः, एवमावश्यकादिचक्रवालसामाचारी सर्वा विभाषितव्या एवं किल स सर्वत्र न स्खलितः, क्षणे क्षणे उपयुज्यते–किं मे कृत्यं ? एवं किल साधुना कर्तव्यं एवं तेन योगाः संगृहीता भवन्ति । लवालव इति गतं इदानीं ध्यानसंवरयोग इति, ध्यानेन योगाः संगृहीताः तत्रोदाहरणं । अथवा ध्यानसंवरयोगेन–सिंहवर्धने नगरे मुण्डिकाम्रको राजा तत्र पुष्यभूतय आचार्या बहुश्रुताः तैः स राजोपशमितः श्राद्धो जातः, तेषां शिष्यः पुष्यमित्रो बहुश्रुतोऽवसन्नोऽन्यत्र तिष्ठति अन्यदा तेषामाचार्याणां चिन्ता–सूक्ष्मं ध्यानं प्रविशामि तत् महाप्राणसमं तत् पुनर्यदा प्रविशति तदैव योगसंनिरोधः क्रियते यथा न किंचित् चिन्त्यते तेषां च ये पार्श्वे तेऽगीतार्थाः तैः पुष्यमित्रः शब्दितः आगतः कथितं च (स) तेन प्रतिपन्नं तदेकस्मिन्नपवरके निर्व्याघाते ध्यायति स तेषामागम्य च

कण्ठ्या । एवं सो विहरइ। ते चत्तारि विहरमाणा खिइपइट्ठियणयरमज्झे चउद्दारं देवउलं, पुव्वेण करकंडू पविट्ठो, दक्खिणेण दुम्मुहो, एव सेसावि, किह साहुस्स अण्णहामुहो अच्छामित्ति तेण दक्खिणेणावि मुह कय, नमी अवरेण, तओ वि मुह, गंधारो उत्तरेण, तओ वि मुह करेंति । तस्स य करकंडुस्स बहुसो कंडू, सा अत्थि चेव तेण कंडूयणगं गहाय मसिण मसिणं कण्णो कंडूइओ, तं तेण एगत्थ संगोवियं, त दुम्मुहो पेच्छइ,–'जया रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा। सव्वमेय परिच्चज्ज, संचय किं करेसिमं? ॥ १ ॥ सिलोगो कंठो जाव करकंडू पडिवयणं न देइ ताव नमी वयणमिम भणइ–जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू । तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भवं? ॥ २ ॥ सिलोगो कंठो, कि तुम परस्स आउत्तिगोसि । गंधारो भणइ–जया सव्वं परिच्चज्ज मोक्खाय घडसी भव । पर गरिहसी कीस?, अत्तनीसेसकारए ॥ ३ ॥ सिलोगो कंठो, तं करकंडू भणइ–मोक्खमग्गं पवण्णाण, साहूणं बंभयारिण। अहियत्थं निवार ते, न दोस वत्तुमरिहसि ॥ ४ ॥ सिलोगो–'रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परिअत्तउ । भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिणी ॥ ५ ॥ सिलोगो, श्लोकद्वयमपि कण्ठ्यं । तथा—

१ एव स विहरति । ते चत्वारो विहरन्तः क्षितिप्रतिष्ठितनगरमध्ये चतुर्द्वारं देवकुलं (तत्र) पूर्वेण करकण्डूः प्रविष्टः दक्षिणेन दुर्मुखः एवं शेषा अपि कथं साधोरन्यतोमुखस्तिष्ठामीति तेन दक्षिणस्यामपि मुखं कृतं नमिरपरेण ततोऽपि मुखं गान्धार उत्तरेण ततोऽपि मुखं कुर्वन्तीति । तस्य च करकण्डोर्बह्वी कण्डूः साऽस्त्येव तेन कण्डूयनं गृहीत्वा मसृणं मसृणं कर्णः कण्डूयितः तत् तेनैकत्र संगोपितं तत् दुर्मुखः प्रेक्षते श्लोकः कण्ठ्यः यावत् करकण्डूः प्रतिवचनं न ददाति तावत् नमिर्वचनमिदं भणति । श्लोकः कण्ठ्यः, किं त्वमेतस्याऽऽयुक्तक इति? गान्धारो भणति–श्लोकः कण्ठ्यः तं करकण्डूर्भणति–श्लोकः, श्लोकः

जहा जलताइ(त) कट्ठाइं, सवेहाइँ न थिर जले। घट्टिया घट्टिया झत्ति, तम्हा सहह घट्टणं ॥ ११११ ॥
सुचिरपि वकुडाइ होहिंति अणुपमज्जमाणाई । करमद्दिदारुयाइ गयंकुसागारवेंटाइ ॥ ११११ ॥

इदमपि गाथाद्वयं कण्ठ्यमेव, दाणे सव्वाण दव्वविउस्सग्गो, एवं रज्जाणि चत्तियाणि, भावविउस्सग्गो कोहादीणं, विउ स्सग्गेत्ति गय २५, इयाणिं अप्पमाएत्ति, ण पमाओ अप्पमाओ, तस्योदाहरणगाहा—

रायगिहमगहसुदरि मगहसिरी पउमसत्थपक्खेवो । परिहरियमप्पमत्ता नट्ट गीयं नवि य चुक्का ॥ १११४ ॥

इमीए वक्खाणं—रायगिहे णयरे जरासंधो राया, तस्स सव्वप्पहाणाओ दो गणियाओ—मगहसुंदरी मगहसिरी य, मग हासिरी चिंतेइ—जइ एस न होज्जा ता मम अन्नो माणं न खंडेज्जा, राया य करयलत्थो होज्जत्ति, सा य तीसे छिद्दाणि मग्गइ, ताहे मगहासिरी नट्टदिवसम्मि कण्णियारेसु सोवण्णियाओ सवलियाओ विसभूवियाओ सूईओ केसरसरिसियाओ खित्ताओ, ताओ पुण तीसे मगहसुंदरीए मयहरियाए ऊहियाओ, कहं भमरा कण्णियाराणि न अल्लियंति चूएसु निलेंति!,

१ तत्र सर्वेषां द्रव्यव्युत्सर्गः, एवं राज्यान्युज्झितानि, भावव्युत्सर्गः क्रोधादीनां । व्युत्सर्ग इति गतं इदानीमप्रमाद इति न प्रमादोऽप्रमादः तत्रो- दाहरणगाथा । अस्या व्याख्यानं—राजगृहे नगरे जरासन्धो राजा तस्य सर्वप्रधाने द्वे गणिके—मगधसुन्दरी मगधश्रीश्च मगधश्रीश्चिन्तयति यद्येषा न भवेत् तदा मम नान्यो मानं खण्डयेत्, राजा च करतलस्थो भवतीति सा च तस्याश्छिद्राणि मार्गयति तदा मगधश्रीर्नृत्तदिवसे कर्णिकारेषु सौवर्णिका मक्षिका विषभा- विताः सूचयः केसरसदृशाः क्षिप्तवती ताः पुनस्तस्या मगधसुन्दर्या महत्तरिकया ज्ञाताः, कथं भ्रमराः कर्णिकारेषु नागच्छन्ति ? चूतेषु गच्छन्ति

कण्ठ्या । एवं सो विहरइ। ते चत्तारि विहरमाणा खिइपइट्ठियणयरमज्झे चउद्दारं देवउलं, पुवेण करकंडू पविट्ठो, दक्खिणेणं दुम्मुहो, एव सेसावि, किह साहुस्स अवहामुहो अच्छामित्ति तेण दक्खिणेणावि मुह कय, नमी अवरेण, तओ वि मुह, गंधारो उत्तरेण, तओ वि मुह कयंति । तस्स य करकंडुस्स बहुसो कंडू, सा अत्थि चेव तेण कंडूयणगं गहाय मसिण मसिण कण्णो कंडूइओ, तं तेण एगत्थ संगोवियं, त दुम्मुहो पेच्छइ,–'जया रज्जं च रट्ठं च, पुरं अंतेउरं तहा । सव्वमेय परिच्चज्ज, संचयं किं करेसिमं ? ॥ १ ॥ सिलोगो कंठो जाव करकंडू पडिवयणं न देइ ताव नमी वयणमिमं भणइ–जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू । तेसिं किच्चं परिच्चज्ज, अन्नकिच्चकरो भवं ? ॥ २ ॥ सिलोगो कंठो, किं तुम एयस्स आउत्तिगोत्ति । गंधारो भणइ–जया सव्व परिच्चज्ज मोक्खाय घडसी भवं । परं गरिहसी कीस ?, अत्तनीसेसकारए ॥ ३ ॥ सिलोगो कंठो, तं करकंडू भणइ–मोक्खमग्गं पवण्णाणं, साहूण बंभयारिणं । अहियत्थं निवारन्ते, न दोसं वत्तुमरिहसि ॥ ४ ॥ सिलोगो–'रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परिअत्तउ । भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिणी ॥ ५ ॥ सिलोगो, श्लोकद्वयमपि कण्ठ्यं । तथा—

१ एव स विहरति । ते चत्वारो विहरन्तः क्षितिप्रतिष्ठितनगरमध्ये चतुर्द्वारं देवकुलं (तत्र) पूर्वेण करकण्डुः प्रविष्टः दक्षिणेन दुर्मुखः एवं शेषा अपि कथं साधोरन्यतोमुखस्तिष्ठामीति तेन दक्षिणस्यामपि मुख कृत नमिरपरेण तस्यामपि मुखं गान्धार उत्तरेण तस्यामपि मुख कृतमिति । तस्य च करकण्डोर्बहुशी कण्डूः साऽस्त्येव तेन कण्डूयन गृहीत्वा मसृण मसृण कर्णः कण्डूयितः तत् तेनैकत्र संगोपितं तत् दुर्मुखः प्रेक्षते श्लोकः कण्ठ्यः यावत् करकण्डुः प्रतिवचनं न ददाति तावत् नमिर्वचनमिदं भणति । श्लोकः कण्ठ्यः, किं त्वमेतस्याऽऽयुक्तक इति ? गान्धारो भणति–श्लोकः कण्ठ्यः तं करकण्डुर्भणति–श्लोकः, श्लोकः

जहा जलताइ(त) कहाइं, सबेहाएँ न थिर जले। घडिया घडिया हसि, तम्हा सहइ घहणं ॥ १११२ ॥
सुचिरंपि यकुडाइ होहिंति अणुपमअमाणाइं। करमविदारुयाइ णयकुसागारबंढाइ ॥ १११३ ॥

इयमपि गाथाद्वय कण्ठ्यमेव, साणं सवाण दव्वविउस्सग्गो, जं रज्जाणि उज्झियाणि, भावविउस्सग्गो कोहादीणं, विउस्सग्गेत्ति गय २५, इयाणिं अप्पमाएत्ति, ण पमाओ अप्पमाओ, एत्थोदाहरणगाहा—

रायगिहमगहसुदरि मगहसिरी पउमसत्थपक्खेवो। परिहरियअप्पमत्ता नई गीय नवि य चुक्का ॥ १११४ ॥

इमीए वक्खाण—रायगिहे णयरे जरासंधो राया, तस्स सव्वप्पहाणाओ दो गणियाओ—मगहसुंदरी मगहसिरी य, मगहासिरी चिंतेइ—जइ एस न होज्जा ता मम अण्णो माण न खंडेज्जा, राया य करयलत्थो होज्जत्ति, सा य तीसे छिद्दाणि मग्गइ, ताहे मगहासिरी नट्टदिवसमि कण्णियारेसु सोवण्णियाओ संवडियाओ विसभूवियाओ सूचीओ केसरसरिसियाओ खित्ताओ, ताओ पुण तीसे मगहसुंदरीए मयहरियाए कहियाओ, कहं भमरा कण्णियाराणि न अल्लियंति चूएसु निलेंति?,

---

१ अयं सर्वेषां द्रव्यव्युत्सर्गः यत् राज्यान्युज्झितानि, भावव्युत्सर्गः क्रोधादीनां। व्युत्सर्ग इति गतं इदानीमप्रमाद इति न प्रमादोऽप्रमादः अत्रो दाहरणगाथा। अस्या व्याख्यान—राजगृहे नगरे जरासन्धो राजा तस्य सर्वप्रधाने द्वे गणिके—मगधसुन्दरी मगधश्रीश्च मगधश्रीश्चिन्तयति यद्येषा न भवेत्तदा मम कश्चो मान खण्डयेत्, राजा च करतलस्थो भवेदिति सा च तस्याश्छिद्राणि मार्गयति तदा मगधश्रीर्नृत्यदिवसे कर्णिकारेषु सौवर्णिका मक्षिका विषभा- विताः सूच्यः केसरसदृशाः परिक्षिप्ताः, ताः पुनस्तस्या मगधसुन्दर्या महत्तरिकया कथिताः कथं भ्रमराः कर्णिकारेषु नागच्छन्ति? चूतेषु गच्छन्ति

घन्तः, के ?–दीप्ता अपि–रोषणा अपीत्यर्थः, दर्पितवृषभा–बलोन्मत्तबलीवर्दा इत्यर्थः, सुतीक्ष्णशृङ्गा अपि शारीरेण बलेन । पौराणः गतदर्पः गलक्षयन बलवृषभोष्ठः, स एवाय वृषभोऽधुना पद्मुगपरिघट्टणं सहइ, धिगसारः ससार इति, सर्वप्राणभृता चैवेयं धार्तेति तस्मादलमनेनेति, एय सम्बुद्धो, जातीसरण, निग्गओ, विहरइ । इओ पचालेसु जणवएसु कपिल्ले णयरे दुम्मुहो राया, सोवि इंदकेउं पासइ लोएण महिज्जंतं अणेयकुडभीसहस्सपडिमंडियाभिरामं, पुणोवि लुप्पंत, पडियं च अमेज्झमुत्ताणमुवरिं, सो संबुद्धो, तथाऽऽह भाष्यकारः—

जो इंदकेउं समलंकिय तु, दट्ठु पडंत पविलुप्पमाण ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया ण, पचालराया वि समिक्ख धम्म ॥ २१० ॥ (भा०)

निगदसिद्धैव, विहरइ । इओ य विदेहाजणवए महिलाए णयरीए नमी राया, गिलाणो जाओ, दवीओ चदण घसति तस्स दाहपसमणनिमित्त, वलयाणि खलखलति, सो भणइ—कण्णाघाओ, न सहामि, एक्केक्क अवणीए जाव एक्को अच्छइ,

---

१ एव संबुद्धः जातो स्मरणं निर्गतः विहरति। इतश्च पाञ्चालेषु जनपदेषु काम्पील्ये नगरे दुर्मुखो राजा सोऽपि इन्द्रकेतुं पश्यति लोकेन मह्यमानं अनेककुडभीपताकासहस्रपरिमण्डिताभिरामं, पुनरपि लुप्यमानं, पतितं चामेध्यमूत्राणामुपरि स संबुद्धः विहरति। इतश्च विदेहजनपदे मिथिलायां नगर्यां नमी राजा ग्लानो जातः, देव्यश्चन्दनं घर्षयन्ति तस्य दाहप्रशमननिमित्तं वलयानि खल्खलन्ति स भणति–कर्णाघातः, न सहे एकैकमपनयन्त्यां यावद् एककस्तिष्ठति,

सद्दो नत्थि, राया भणइ–ताणि वलयाणि न खलखलेंति ?, अवणीयाणि, सो तेण दुक्खेण अब्भाहओ परलोगाभिमुहो चिंतेइ–बहुयाण दोसो एगस्स न दोसो, संबुद्धो, तथा चाह–

बहुयाण सद्दय सोचा, एगस्स य असद्दयं । वलयाणं नमीराया, निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥ २११ ॥ (भा०)

कण्हा, विहरइ । इओ य गंधारविसए पुरिमपुरे णयरे नग्गई राया, सो अन्नया अणुजत्तं निग्गओ, पेच्छइ चूयं कुसुमियं, तेण एगा मंजरी गहिया, एवं खंधावारेण लएतेण कट्ठावसेसो कओ, पडिनियत्तो पुच्छइ–कहिं सो चूयरुक्खो ?, अमच्चेण कहियं–एस सोत्ति, कह कट्ठाणि कओ ?, तओ भणइ–जं तुब्भेहिं मंजरी गहिया पच्छा सव्वेण खंधावारेण गहिया, सो चिंतेइ–एव रज्जसिरित्ति, जाव रुद्धी ताव सोहेइ, अलाहि एयाए, संबुद्धो । तथा चाह–

जो चूयरुक्खं तु मणाहिरामं, समंजरिं पल्लवपुप्फचित्तं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं, गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥ २१२ ॥ (भा०) ॥

---

१ शब्दो नास्ति राजा भणति–तानि वलयानि न खल्खलायन्ति ? अपनीतानि स तेन दुःखेनाभ्याहतः परलोकाभिमुखश्चिन्तयति–बहूनां दोषो नैकस्य दोषः संबुद्धः । विहरति इतश्च गान्धारविषये पुरिमपुरे नगरे नग्गती राजा सोऽन्यदाऽनुयात्रायै निर्गतः प्रेक्षते चूतं कुसुमितं तेनैका मञ्जरी गृहीता एवं स्कन्धावारेण गृह्णता काष्ठावशेषः कृतः प्रतिनिवृत्तः पृच्छति–क स चूतवृक्षः ? अमात्येन कथितं–स एष इति कथं काष्ठीकृतः ? ततो भणति–युष्माभिः मञ्जरी गृहीता पश्चात् सर्वेण स्कन्धावारेण गृहीता, स चिन्तयति–एवं राज्यश्रीरिति, यावदृद्धिस्तावत् शोभते अलमनया संबुद्धः ।

वन्तः, के ?–दीप्ता अपि–रोपणा अपीत्यर्थः, दर्पितवृषभा–बलोन्मत्तबलीवर्दा इत्यर्थः, सुतीक्ष्णशृङ्गा अपि शारीरेण बलेन । पौराणः गलदर्पः गलनयनः चलवृषभोष्ठः, स एवाय वृषभोऽधुना पक्षगपरिघट्टण सहइ, धिगसारः संसार इति, सर्वमाणभूता चैवेय वार्तेति तस्मादलमनेनेति, एवं सम्बुद्धो, जातीसरण, निग्गओ, विहरइ । इओ पचालसु जणवएसु कंपिल्ले णयरे दुम्मुहो राया, सोवि इंदकेउं पासइ लोएण महिज्जंतं अणेयकुडभीसहस्सपडिमंडियाभिरामं, पुणोवि लुप्पंतं, पडियं च अमेज्झमुत्ताणमुवरिं, सो संबुद्धो, तथाऽऽह भाष्यकारः—

जो इंदकेउं समलंकियं तु, दट्ठु पडतं पविलुप्पमाणं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं, पंचालराया वि समिक्ख धम्मं ॥ २१० ॥ (भा०)

निगदसिद्धैव, विहरइ । इओ य विदेहाजणवए महिलाए णयरीए नमी राया, गिलाणो जाओ, दवीओ चंदण घसति तस्स दाहपसमणनिमित्त, वलयाणि खलखलंति, सो भणइ–कण्णाघाओ, न सहामि, एक्केक्क अवणीए जाय एक्कको अच्छइ,

---

१ एवं संबुद्धः, जातेः स्मरणं निर्गतः विहरति । इतश्च पाञ्चालेषु जनपदेषु काम्पील्ये नगरे दुर्मुखो राजा सोऽपि इन्द्रकेतुं पश्यति लोकेन महमान मनेककुड्यभीसहस्रपरिमण्डिताभिरामं पुनरपि लुप्यमानं, पतितं चामेध्यमूत्राणामुपरि स संबुद्धः विहरति। इतश्च विदेहजनपदे मिथिलायां नगर्यां नमी राजा ग्लानो जातः देव्यश्चन्दनं घर्षयन्ति तस्य दाहप्रशमननिमित्तं, वलयानि खलखलायन्ते स भणति–कर्णाघातः न सहे एकैकमपनयन्ति यावत् एकैकं तिष्ठति,

सद्दो नत्थि, राया भणइ—ताणि पलयाणि न लउलओत्ति ?, मयणीयाणि, सो तेण दुक्खेण अब्भाहओ परलोगाभिमुहो चिंतेइ—बहुयाण दोसो एगस्स न दोसो, संबुद्धो, तथा चाह—

बहुयाण सद्दयं सोच्चा, एगस्स य असद्दयं । वलयाण नमीराया, निक्खंतो मिहिलाहिवो ॥ २११ ॥ (भा०)

कण्ड्या, विहरइ । इओ य गंधारविसए पुरिमपुरे णयरे नग्गई राया, सो अन्नया अणुजत्तं निग्गओ, पेच्छइ चूयं कुसुमियं, तेण एगा मंजरी गहिया, एव खंधावारेण छिंदंतेण कट्ठावसेसो कओ, पडिनियत्तो पुच्छइ—कहिं सो चूयरुक्खो ?, अमच्चेण कहियं—एस सोत्ति, कह कट्ठाणि कओ ?, तओ भणइ—जं तुब्भेहिं मंजरी गहिया पच्छा सव्वेण खंधावारेण गहिया, सो चिंतेइ—एवं रज्जसिरित्ति, जाव रिद्धी ताव सोहेइ, अरिद्धि एयाए, संबुद्धो । तथा चाह—

जो चूयरुक्खं तु मणाभिरामं, समंजरिं पल्लवपुप्फचित्तं ।
रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं, गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥ २१२ ॥ (भा०) ॥

---

१ शब्दो नास्ति राजा भणति—तानि वलयानि न शब्दयन्ति ? अपनीतानि स तेन दुःखेनाभ्याहतः परलोकाभिमुखश्चिन्तयति—बहूनां दोषो नैकस्य दोषः संबुद्धः । विहरति इतश्च गान्धारविषये पुरिमपुरे नगरे नग्गती राजा सोऽन्यदाऽनुयात्रायै निर्गतः पश्यति चूतं कुसुमितं तेनैका मञ्जरी गृहीता एवं स्कन्धावारेण गृह्णता काष्ठावशेषः कृतः प्रतिनिवृत्तः पृच्छति—क स चूतवृक्षः ? अमात्येन कथित—स एष इति कथं काष्ठीकृतः ? ततो भणति—युष्माभिः मञ्जरी गृहीता पश्चात् सर्वेण स्कन्धावारेण गृहीता, स चिन्तयति—एवं राज्यश्रीरिति, यावदृद्धिस्तावत् शोभते अऋद्ध्याऽऽपगतया संबुद्धः ।

मम गामति, भणइ—जं ते रुच्चइ त गेण्हह, सो भणइ—ममं चंपाए घरं तहिं देहि, ताहे दहियाहणस्स छेदं देइ, ददि मम एगं गामं अह तुज्झ जं रुच्चइ गामं वा णयरं वा त देमि, सो रुट्ठो—दुट्ठमायगो न जाणइ अप्पयं तो मम छेदं देइत्ति, दूएण पडियागएण कहियं, करकंडुओ रुट्ठो, गओ रोहिज्जइ, जुद्धं च वट्टइ, तीए संजतीए सुयं, मा जणक्खओ होउत्ति करकंडु ओसारेत्ता रहस्सं भिंदइ—एस तव पियत्ति, तेण ताणि अम्मापियराणि पुच्छियाणि, तेहिं सब्भावो कहिओ, नाममुद्दा कंबलरयणं च दाविय, भणइ, माणेण—ण ओसरामि, ताहे सा चंपं अइगया, रण्णो घरमेंती णाया, पायवडियाओ दासीओ परुण्णाओ, रायाएवि सुयं, सोवि आगओ वंदित्ता आसणं दाऊण तं गब्भं पुच्छइ, सा भणइ—एस सुमं जेण रोहिओत्ति, तुट्ठो निग्गओ, मिलिओ, दोवि रज्जाइं दहिवाहणो तस्स दाऊण पव्वइओ, करकंडू महासासणो जाओ, सो य किर गोउलप्पिओ, तस्स अणेगाणि गोउलाणि, अण्णया सरयकाले एगं गोवच्छगं गोरगत्तं सयं पेच्छइ, भणइ—एयस्स

---

१ मम ग्राममिति भणति—यत्ते रोचते तं गृहाण स भणति—मम चम्पायां गृहं तत्र देहि तदा दधिवाहनाय छिद्रं ददाति यदि मम एकं ग्रामं ददत्र यो रोचते ग्रामो वा नगरं वा तं ददामि, स रुष्टः—दुष्टमायको न जानाति आत्मानं ततो मम छिद्रं दास्यतीति दूतेन प्रत्यागतेन कथितं करकण्डू रुष्टः गतो रोधयति, युद्धं च वर्तते तदा संयत्या श्रुतं मा जनक्षयो भूदिति करकण्डूमपसार्य रहस्यं भिनत्ति—एष तव पितेति तेन तौ मातापितरौ पृष्टौ ताभ्यां सद्भावः कथितः नाममुद्रा कम्बलरत्नं च दर्शिते भणति मानेन—नापसरामि तदा सा चम्पामतिगता राज्ञो गृहमायान्त्या दास्यः पादपतिताः रोदितुं लग्नाः राजाऽपि श्रुत सोऽपि आगतो वन्दित्वाऽऽसनं दत्वा तं गर्भं पृच्छति सा भणति—एष स येन त्वद् इति तुष्टो निर्गतः मिलितौ द्वे अपि राज्ये दधिवाहन तस्मै दत्वा प्रव्रजितः, करकण्डूर्महाशासनो जातः, स च किल गोकुलप्रियः तस्यानेकानि गोकुलानि, अन्यदा शरत्काले एकं गोवत्सं गौरगात्रं स्वयं प्रेक्षते भणति—एतस्य

मायरं मा दुहेज्जइ, जया वड्डिओ होइ तया अन्नाणं गावीणं दुद्धं पाएज्जइ, तो गोवाला पडिसुणेंति, सोवि उच्चत्तविसाणो सच्छवसहो जाओ, राया पेच्छइ, सो जुण्णिभूओ कओ, पुणो कालेण आगओ पेच्छइ महाकायं वसहं पट्टएहिं परिघट्टिज्जंतं, गोवे पुच्छइ—कहिं सो वसहोत्ति ?, तेहिं दाविओ, पेच्छंतो तओ विसण्णो चिंतेंतो संबुद्धो, तया चाह भाष्यकारः—

सेयं सुजायं सुविभत्तसिंगं, जो पासिया वसभं गोट्ठमज्झे ।

रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं, कलिंगरायावि समिक्ख धम्मं ॥ २०७ ॥ (भा०) ॥

गोट्ठंगणस्स मज्झे ढेक्कियसद्देण जस्स भज्जंति । दित्तावि दरियवसहा सुतिक्खसिंगा सरीरेण ॥ २०८ ॥ (भा०) ॥

पोराणयगयदप्पो गलंतनयणो चलंतवसभोट्ठो । सो चेव इमो वसहो पड्डयपरिघट्टणं सहइ ॥ २०९ ॥ (भा०) ॥

गाथात्रयस्य व्याख्या—श्वेत–शुक्लं सुजातं–गर्भदोषविकल (सुविभक्त) शृङ्गं–विभागस्थसमशृङ्गं यं राजा दृष्ट्वा–अभिसमीक्ष्य वृषभ–प्रतीतं गोष्ठमध्ये–गोकुला सः पुनश्च तेनैवानुमानेन ऋद्धिं–समृद्धिं सम्पदं विभूतिमित्यर्थः, तथैव राजा चाऋद्धिं च संप्रेक्ष्य–असारतयाऽऽलोच्य कलिङ्गा–जनपदास्तेषु राजा कलिङ्गराजः, असावपि समीक्ष्य धर्म–पर्यालोच्य धर्मं सम्बुद्ध इति वाक्यशेषः । किं चिन्तयन् ?—'गोट्ठंगणस्स मज्झे' त्ति गोष्ठाङ्गणस्यान्तः ढेक्कितशब्दस्य यस्य भग्न-

१ मातरं मा दुग्ध यदा वर्धितो भवेत् तदाऽन्यासां गवां दुग्धं पाययेत ततो गोपालाः प्रतिशृण्वन्ति सोऽप्युच्चत्वविषाणः स्वच्छवृषभो जातः राजा प्रेक्षते स पुनः जीर्णः कृतः पुनः कालेनागतः प्रेक्षते महाकायं वृषभं महिषीवालैर्वृषभार्जं गोपान् पृच्छति–क स वृषभ इति तैर्दर्शितः, प्रेक्षमाणस्ततो विषण्णश्चिन्तयन् संबुद्धः । * समत्थाइ प्र

मम गामंति, भणइ—जं ते रुच्चइ त गेण्ह, सो भणइ—ममं चंपाए घरं तहिं देहि, ताहे दहिवाहणस्स लहं देह, दहि मम एगं गामं अह तुम्ह जं रुच्चइ गामं वा णयरं वा त देमि, सो रुट्ठो—दुट्ठमायगो न जाणइ अप्पय तो मम लेहं देइत्ति, दूएण पडियागएण कहियं, करकंडुओ रुट्ठो, गओ रोहिज्जइ, जुद्धं च वट्टइ, तीए सजतीए सुयं, मा जणक्खओ होउत्ति करकंडु ओसारेत्ता रहस्सं भिंदइ—एस तव पियत्ति, तेण ताणि अम्मापियराणि पुच्छियाणि, तेहिं सब्भावो कहिओ, नाम मुद्दा कंबलरयणं च दावियं, भणइ, माणेण—न ओसरामि, ताहे सा चेव अइगया, रण्णो घरमतेंती णाया, पायपडियाओ दासीओ परुण्णाओ, रायाएवि सुयं, सोवि आगओ वदित्ता आसणं दाऊण त गब्भं पुच्छइ, सा भणइ—एस तुमं जेण रोहिओसि, तुट्ठो निग्गओ, मिलिओ, दोवि रज्जाइ दहिवाहणो तस्स दाऊण पव्वइओ, करकंडू महासासणो जाओ, सो य किर गोउलप्पिओ, तस्स अणेगाणि गोउलाणि, अण्णया सरयकाले एगं गोवच्छगं गोरगत्तं सय पेच्छइ, भणइ—एयस्स

---

१ मह्यं ग्राममिति, भणति—यत्ते रोचते त गृहाण स भणति—मम चम्पायां गृहं तत्र देहि तदा दधिवाहनाय लेखं ददाति देहि मे एकं ग्रामं अहं तव यो रोचते ग्रामो वा नगरं वा तं ददामि स रुष्टः—दुष्टमातङ्गो न जानाति आत्मानं ततो मह्यं लेखं ददातीति दूतेन प्रत्यागतेन कथितं करकण्डू रुष्टः गतो रोधयति, युद्धं च वर्तते, तया संयत्या श्रुतं मा जनक्षयो भूदिति करकण्डूमपसार्य रहस्यं भिनत्ति—एष तव पितेति तेन तौ मातापितरौ पृष्टौ ताभ्यां सद्भावः कथितः नाममुद्रा कम्बलरत्नं च दर्शिते, भणति मानेन—नापसरामि तदा सा चम्पामतिगता राज्ञो गृहमायान्ती ज्ञाता पादपतिता दास्यो रोदितुं लग्नाः राज्ञाऽपि श्रुतं सोऽपि आगतो वन्दित्वाऽऽसनं दत्त्वा तं गर्भं पृच्छति सा भणति—एष स येन त्वं रुद्ध इति तुष्टो निर्गतः मिलितौ द्वे अपि राज्ये दधिवाहनस्तस्मै दत्त्वा प्रव्रजितः, करकण्डूर्महाशासनो जातः स च किल गोकुलप्रियः, तस्यानेकानि गोकुलानि अन्यदा शरत्काले एकं गोवत्सकं गौरगात्रं स्वयं प्रेक्षते भणति—एतस्य

मायरं मा दुहेज्जइ, जया वड्ढिओ होइ तया अमाणं गावीणं जुज्झ पायज्जइ, तो गोवाला पडिसुणेंति, सोवि तव्वयविसाणो लक्खवसहो जाओ, राया पेच्छइ, सो तुट्ठिक्कमो कओ, पुणो कालेण आगओ पेच्छइ महाकायं वसहं पड्डएहिं परिभवंतं, गोवे पुच्छइ–कहिं सो वसहोत्ति ?, तेहिं दाविओ, पेच्छंतो तओ विसण्णो चिंतंतो संबुद्धो, तथा चाह भाष्यकारः—

सेयं सुजायं सुविभत्तसिंगं, जो पासिया वसभं गोट्ठमज्झे ।

रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहिया णं, कलिंगराया वि समिक्ख धम्मं ॥ २०७ ॥ (भा०) ॥

गोट्ठंगणस्स मज्झे ढेक्कियसद्देण जस्स भज्जंति । दित्तावि दरियवसहा सुतिक्खसिंगा सरीरेण ॥ २०८ ॥ (भा०) ॥

पोराणयगयदप्पो गलंतनयणो चलंतवसमोट्ठो । सो चेव इमो वसहो पड्डयपरिघट्टण सहइ ॥ २०९ ॥ (भा०) ॥

गाथात्रयस्य व्याख्या—श्वेत–शुक्लं सुजात–गर्भदोषविकलं (सुविभक्त) शृङ्ग–विभागस्य समशृङ्गं यं राजा दृष्ट्वा–अभिसमीक्ष्य वृषभ–प्रतीतं गोष्ठमध्ये–गोकुलान्तः पुनश्च तेनैवानुमानेन ऋद्धिं–समृद्धिं सम्पदं विभूतिमित्यर्थः, तद्विपरीतां चाऋद्धिं च संप्रेक्ष्य–असारतयाऽऽलोच्य कलिङ्गा–जनपदास्तेषु राजा कलिङ्गराजः, असावपि समीक्ष्य धर्म–पर्यालोच्य धर्मं सम्बुद्ध इति वाक्यशेषः । किं चिन्तयन् ?–'गोट्ठंगणस्स मज्झे' त्ति गोष्ठाङ्गणस्यान्तः ढेकितशब्दस्य यस्य भग-

---

१ मायरं मा दुहेज्ज यदा वर्धितः भवेत् तदाऽन्यासां गवां युद्ध पाययेत ततो गोपालाः प्रतिशृण्वन्ति सोऽप्युन्नतमविषाणः लक्षणवृषभो जातः राजा प्रेक्षते स तुष्टः कृतः पुनः कालेनागतः प्रेक्षते महाकायं वृषभं प्रतिपीडयन्तं गोपान् पृच्छति–क स वृषभ इति दर्शितः, प्रेक्षमाणस्ततो विष ण्णश्चिन्तयन् संबुद्धः । * समत्वाद् प्र०

मम गामंति, भणइ—जं ते रुच्चइ तं गेण्हइ, सो भणइ—ममं चंपाए घरं ताहिं देहि, ताहे दहियाहणस्स छेदं देइ, दहि मम एगं गाम अह तुज्झ जं रुच्चइ गामं वा णयरं वा त देमि, सो रुट्ठो—दुट्ठमायगो न जाणइ अप्पय तो मम छेद देइत्ति, दूएण पडियागएण कहियं, करकंडुओ रुट्ठो, गओ रोहिज्जइ, जुद्धं च वट्टइ, तीए सजतीए सुय, मा जणक्खओ होउत्ति करकंडु ओसारेत्ता रहस्सं भिंदइ—एस तव पियत्ति, तेण ताणि अम्मापियराणि पुच्छियाणि, तेहिं सब्भावो कहिओ, नाम मुद्दा कम्बलरयण च दावियं, भणइ, माणेण—ण ओसरामि, ताहे सा चंप अइगया, रण्णो परमत्तेवी णाया, पायवडियाओ दासीओ परुण्णाओ, रायाएवि सुय, सोवि आगओ वंदित्ता आसणं दाऊण तं गब्भं पुच्छइ, सा भणइ—एस सुम जेण रोहिओत्ति, तुट्ठो निग्गओ, मिलिओ, दोवि रज्जाइ दहियाहणो तस्स दाऊण पव्वइओ, करकंडू महासासणो जाओ, सो य किर गोउलप्पिओ, तस्स अणेगाणि गोउलाणि, अण्णया सरयकाले एग गोवच्छगं गोरगत्तं सयं पेच्छइ, भणइ—एयस्स

1 मह्यं ग्राममिति भणति—यदि रोचते तं गृहाण स भणति—मम चम्पायां गृहं तव देहि तदा दधिवाहनाय छेदं ददामि यदि मे एकं ग्रामं नगरं वा यो रोचते ग्रामो वा नगरं वा न ददामि स रुष्टः—दुष्टमायको न जानाति आत्मानं ततो मह्यं छेदं दास्यतीति दूतेन समागतेन कथितं करकण्डू रुष्टः गता रोधयति युद्धं च वर्तते तदा संयता सुव्रता मा जनक्षयो भूदिति करकण्डूमपसार्य रहस्यं भिनत्ति—एष तव पितेति तेन तौ मातापितरौ पृष्टौ ताभ्यां सद्भावः कथितः नाममुद्रा कम्बलरत्नं च दर्शिते, भणति मानेन—नापसरामि तदा सा चम्पामतिगता राज्ञो गुरुमातेति ज्ञाता पादपतिता दास्यो रोदितुं लग्नाः राज्ञाऽपि श्रुतं सोऽपि आगतो वन्दित्वाऽऽसनं दत्त्वा तं गर्भं पृच्छति सा भणति—एष स एव इति ततो निर्गतौ मिलितौ द्वे अपि राज्ये दधिवाहन स्तस्मै दत्त्वा प्रव्रजितः करकण्डूर्महाशासनो जातः स च किल गोकुलप्रियः, तस्यानेकानि गोकुलानि अन्यदा शरत्काले एकं गोवत्सकं गौरगात्रं स्वयं प्रेक्षते भणति—एतस्य

दारओ पुच्छिओ-किं न देसि ?, भणइ-अहं एयस्स दंडगस्स पहावेणं राया भविस्सामि, ताहे कारणिया हसिऊण भणंति-जया तुमं राया भविस्सासि तया एयस्स मरुयस्स गामं देज्जासि, पडिवण्णं तेण, मरुएण अण्णे मरुया बितिज्जा गहिया जहा मारेमो तं, तस्स पिउणा सुयं, ताणि तिण्णिवि नट्ठाणि जाव कंचणपुरं गयाणि, तत्थ राया मरइ, रज्जारिहो अण्णो नत्थि, आसो अहियासिओ, सो तस्स सुत्तगस्स मूलमागओ पयाहिणं काऊण ठिओ, जाव लक्खणपाढएहिं दिट्ठो लक्खणजुत्तोत्ति जयसद्दो कओ, नदितूराणि आहयाणि, इमोवि वियंभंतो वीसत्थो उट्ठिओ, आसे विलग्गो, मायंगोत्ति धिज्जाइया न देंति पवेसं, ताहे तेण दंडरयणं गहियं, जलिउमारद्धं, भीया ठिया, ताहे तेण वाडहाणगा हरिएसा धिज्जाइया कया, उक्तं च-दधिवाहनपुत्रेण, राज्ञा तु करकण्डुना । वाटहानकवास्तव्याश्चाण्डाला ब्राह्मणीकृताः ॥ १ ॥ तस्स पिइयरनामं अवइण्णगोत्ति, पच्छा से तं चेडगरूयकयं नामं पइट्ठियं, करकंडुत्ति, ताहे सो मरुगो आगओ, भणइ-देह

---

१ दारकः पृष्टः-किं न ददासि ? भणति-अहमेतस्य दण्डकस्य प्रभावेण राजा भविष्यामि तदा कारणिका हसित्वा भणन्ति-यदा त्वं राजा भविष्यसि तदा एतस्य ब्राह्मणाय ग्रामं दद्याः प्रतिपन्नं तेन ब्राह्मणेन अन्ये ब्राह्मणा द्वितीया गृहीता यथा मारयामस्तं, तस्य पित्रा श्रुतं ते त्रयोऽपि नष्टाः यावत् काञ्चनपुरं गताः तत्र राजा मृतः राज्यार्होऽन्यो नास्ति अश्वोऽधिवासितः, स तस्य सुप्तस्य पार्श्वमागतः प्रदक्षिणां कृत्वा स्थितो यावल्लक्षणपाठकैर्दृष्टो लक्षणयुक्त इति जयशब्दः कृतः नन्दितूर्याण्याहतानि अयमपि विजृम्भमाणो विश्वस्त उत्थितः अश्वे विलग्नः मातङ्ग इति धिग्जातीया न ददति प्रवेशं तदा तेन दण्डरत्नं गृहीतं ज्वलितुमारब्धं भीताः स्थिताः तदा तेन वाटधानवास्तव्या हरिकेशा धिग्जातीयाः कृताः । तस्य पितृकृतनामावकीर्णक इति पश्चात्तस्य तत् चेटकृतं नाम प्रतिष्ठितं, करकण्डूरिति तदा स ब्राह्मण आगतः, भणति-देहि

तेण अप्पणो भज्जाए समप्पिओ, सा अज्जा तीए पाणीए सह मेत्तियं वहेइ, सा य अज्जा संजतीहिं पुच्छिया—किं गब्भो ?, भणइ—मयगो जाओ, तो मए उज्झिओत्ति, सोवि संवड्ढइ, ताहे दारगेहिं सम रमंतो डिंभाणि भणइ—अहं तुब्भं राया मम तुब्भे करं देह, सो सुक्ककच्छूए गहिए, ताणि भणइ—ममं कंडुयह, ताहे करकंडुत्ति नाम कयं, सो य तीए संजतीए अणुरत्तो, सा से मोदगे देइ, जं वा भिक्खं लहइ, संवड्ढिओ मसाणं रक्खइ, तत्थ य दो संजया केणइ कारणेण तं मसाणं गया, जाव एगत्थ वंसीकुडंगे दंडगं पेच्छंति, तत्थेगो दंडलक्खणं जाणइ, सो भणइ—जो एयं दंडगं गण्हइ सो राया हवइ, किंतु पडिच्छियव्वो जाव अण्णाणि चत्तारि अंगुलाणि वड्ढइ, ताहे जोग्गोत्ति, तेण मायंगेण एगेण य धिज्जाइएण सुयं, ताहे सो मरुगो अप्पसागारिए तं चउरंगुलं खणिऊण छिंदइ, तेण य चेडेण दिट्ठो, उद्दालिओ, सो तेण मरुएण करणं नीओ, भणइ—देहि मे दंडगं, सो भणइ—न देमि, मम मसाणे, धिज्जाइओ भणइ—अण्णं गिण्ह, सो नेच्छइ, मम एएण कज्जं, सो

---

1 तेनात्मनो भार्यायै समर्पितः सा आर्या तया पाण्या सह मैत्री वहति सा चार्या संयतीभिः पृष्टा—क गर्भः ? भणति—मृतको जातस्ततो मयो ज्झित इति सोऽपि संवर्धते तदा दारकैः समं रममाणो डिम्भान् भणति—अहं भवतां राजा मह्यं यूयं करं दत्त स शुष्ककण्ड्वा गृहीतः तान् भणति—मां कण्डूयत, तदा करकण्डूरिति नाम कृतं स च तस्यां संयत्यां अनुरक्तः सा तस्मै मोदकान् ददाति यां वा भिक्षां लभते संवृद्धः श्मशानं रक्षति तत्र च द्वौ साधू केनचित्कारणेन तत् श्मशानं गतौ यावदेकत्र वंशीकुडङ्गे दण्डं प्रेक्षेते तत्रैको दण्डलक्षणं जानाति स भणति—य एनं दण्डकं गृह्णाति स राजा भवति किन्तु प्रतीक्षितव्यो यावदन्यान् चतुरोऽङ्गुलान् वर्धते तदा योग्य इति तदैव मातङ्गेनैकेन च धिग्जातीयेन श्रुतं तदा स मरुकोऽल्पसागारिके तं चतुरङ्गुलं खनित्वा छिनत्ति तेन च चेटेन दृष्टः उद्दालितः स तेन मरुकेण करणं (न्यायालयं) नीतः, भणति—देहि मह्यं दण्डकं स भणति—न ददामि, मम श्मशाने धिग्जातीयो भणति—अन्यं गृहाण स नेच्छति ममैतेन कार्यं, स

निराणंदो गओ चंपं णयरिं, सावि हत्थिणा णीया णिम्माणुसं अडविं जाव तिसाइओ पेच्छइ दह महइमहालयं, तत्थ अइण्णो, अभिरमइ हत्थी, इमावि सणिइओइण्णा उत्तिण्णा, दहाओ दिसा अयाणंती एगाए दिसाए सागारं भत्तं पच्चक्खाइत्ता पहाविया, जाव दूरं गया ताव तावसो दिट्ठो, तस्स मूलं गया, अभिवादिओ, तत्थ गच्छइ, तेण पुच्छिया—कओ अम्मो! इहागया?, ताहे कहेइ सब्भावं, चेडगस्स धूया, जाव हत्थिणा आणिया, सो य तावसो चेडगस्स नियल्लओ तेण आसासिया—मा बीहिहिसि, ताहे वणफलाइं देइ, अच्छावेत्ता कइवि दियहे अडवीए निप्फेडिया एत्तोहिंतो अम्हाणं अगइविसओ, एत्तो परं हलवाहिया भूमी, त न कप्पइ मम अतिक्कमिउं, जाहि एस दंतपुरस्स विसओ, दंतवक्को राया, निग्गया तओ अडवीओ, दंतपुरे अज्जाण मूले पव्वइया, पुच्छियाए गब्भो नाइक्खिओ, पच्छा नाए मयहरियाए आलोचेइ, सा वियाता समाणी सह णाममुद्दियाए कंबलरयणेण य वेढिउं सुसाणे उज्झेइ, पच्छा मसाणपालो पाणो, तेण गहिओ,

---

1 निरानन्दो गतश्चम्पां नगरीं साऽपि च नीता निर्मानुषामटवीं यावत्तृषार्दितः प्रेक्षते ह्रदं महातिमहान्तं तत्रावतीर्णः अभिरमते हस्ती इयमपि शनैरवतीर्णोत्तीर्णा ह्रदात् दिशोऽजानन्ती एकस्यां दिशि साकारं भक्तं प्रत्याख्याय प्रधाविता यावद्दूरं गता तावत्तापसो दृष्टः तस्य मूलं गता अभिवादितः तत्र च ... तेन पृष्टा—कुतोऽम्ब! इहागता?, तदा कथयति सद्भावं, चेटकस्य दुहिता यावद्धस्तिनाऽऽनीता स च तापसश्चेटकस्य निजकः तेनाश्वासिता—मा भैषीरिति तदा वनफलानि ददाति आसयित्वा कतिचिद्दिवसान् अटवीतो निष्काशिता इतोऽस्माकमविषयो गतेः अतः परं हलकृष्टा भूमिः, तद् न कल्पतेऽस्माकमतिक्रमितुं याहि दन्तपुरस्य विषय एषः, दन्तवक्त्रो राजा निर्गता ततोऽटव्याः दन्तपुरे आर्याणां मूले प्रव्रजिता पृष्टया गर्भो नाख्यातः पश्चात् ज्ञाते महत्तरिकाया आलोचयति सा प्रसूता सती सह नाममुद्रया रत्नकम्बलेन च वेष्टयित्वा श्मशाने उज्झति पश्चात् श्मशानपालः पाणस्तेन गृहीतः

पेत्ता, भिक्खं गहियं, एवं उत्तरगुणा न भग्गा । एवं उत्तरगुणपच्चक्खाणं २१, पच्चक्खाणित्ति गयं २१ । इयाणिं विउस्सग्गोत्ति, विउस्सग्गो दुविहो—दव्वओ भावओ य, तत्थ दव्वविउस्सग्गे करकंडादओ उदाहरणं, तथाऽऽह भाष्यकार —

करकंडू कलिंगेसु, पंचालेसु य दुम्मुहो । नमीराया विदेहेसु, गंधारेसु य णग्गती ॥ २०५ ॥ (भा०) ॥

वसभे य इंदकेऊ वलए अंबे य पुप्फिए बोही । करकंडुदुम्मुहस्सा, नमिस्स गंधाररन्नो य ॥ २०६ ॥ (भा०) ॥

इमीए वक्खाणं—चंपाए दहिवाहणो राया, चेडगधूया पउमावई देवी, तीसे डोहलो—किहऽहं रायनेवत्थेण नेवत्थिया उज्जाणकाणणाणि विहरेज्जा [1], ओलुग्गा, रायापुच्छा, साहे राया य सा य देवी जयहत्थिंमि, राया छत्तं धरेइ, गयाणि उज्जाणं, पढमपाउसो य वट्टइ, सो हत्थी सीयलएण मट्टियागंधेण अब्भाहओ वणं संभरिऊण वियट्टो वणाभिमुहो पयाओ, जणो न तरइ ओलग्गिउं, दोवि अडविं पवेसियाणि, राया वडरुक्खं पासिऊण देविं भणइ—एयस्स वडस्स हेट्ठेण जाहिति तो तुमं सालं गेण्हिज्जासित्ति, सुसजुत्ता अच्छ, तहत्ति पडिसुणेइ, राया दच्छो तेण साला गहिया, इयरी दिया, सो वहण्णो,

१ प्राप्तो भैक्षं गृहीत्वा एवमुत्तरगुणा न भग्नाः एवमुत्तरगुणप्रत्याख्यानम् । प्रत्याख्यानमिति गतं इदानीं व्युत्सर्ग इति व्युत्सर्गो द्विविधः द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यव्युत्सर्गे करकण्ड्वादय उदाहरणं तथाह—अनयोर्व्याख्यानं—चम्पायां दधिवाहनो राजा चेटकदुहिता पद्मावती देवी। तस्या दोहद—कथमहं राजनेपथ्येन नेपथ्यितोद्यानकाननानि विहरेयं, अवमा, राजपृच्छा तदा राजा सा च देवी जयहस्तिनि राजा छत्रं धारयति गतोद्यानं प्रथमप्रावृट् च वर्तते स हस्ती शीतलेन मृत्तिकागन्धेनाभ्याहतो वनं स्मृत्वा गतो वनाभिमुखः प्रधावितः जनो न शक्नोत्यवलगितुं द्वावपि अटवीं प्रवेशितौ राजा वटवृक्षं दृष्ट्वा देवीं भणति—एतस्य वटस्याधस्तात् यास्यति ततस्त्वं शाखां गृहीता इति सुसंयुक्ता तिष्ठ तथेति प्रतिपन्नवती राजा दक्षेण शाखा गृहीता इतरा इता सोऽटवीं प्रविष्टा।

निराणंदो गओ चेवं णयरिं, सावि हत्थिणा नीया णिम्माणुसं अडविं जाव विसाइओ पेच्छइ दह महइमहालयं, तस्स पहुणो, अभिरमइ हत्थी, इमावि सणिइमोइया उत्तिण्णा, दहाओ दिसा अयाणंती एगाए दिसाए सागारं भत्तं पच्चक्खाइत्ता पहाविया, जाव दूरं पत्ता ताव तावसो दिट्ठो, तस्स मूलं गया, अभिवादिओ, तस्स गच्छइ, तेण पुच्छिया–कओ अम्मो! इहागया?, ताहे कहेइ सब्भावं, चेडगस्स धूया, जाव हत्थिणा आणिया, सो य तावसो चेडगस्स नियल्लओ तेण आसासिया–मा बीहिहिसि, ताहे वणफलाइं देइ, अच्छावेत्ता कइवि दियहे अडवीए निप्फेडिया एत्तोहितो अम्हाणं अगड्डविसओ, एत्तो परं हलवाहिया भूमी, तं न कप्पइ मम अतिक्कमिउं, ताहि एस दंतपुरस्स विसओ, दंतवक्के राया, निग्गया तओ अडवीओ, दंतपुरे अज्जाण मूले पव्वइया, पुच्छियाए गब्भो नाइक्खिओ, पच्छा नाए मयहरियाए साओ सेइ, सा वियाता समाणी सह णाममुद्दियाए कंबलरयणेण य वेढिउं सुसाणे उज्झेइ, पच्छा मसाणपालो पाणो, तेण गहिओ,

1 निरानन्दो गतश्चैव नगरीं साऽपि च सा नीता निर्मानुषामटवीं यावद्विषादितः पश्यति हृदं महातिमहालयं तस्य प्रभोः। अभिरमते हस्ती इयमपि शनैरुत्तीर्णा हृदात् दिशोऽजानन्ती एकस्यां दिशि साकारं भक्तं प्रत्याख्याय प्रधाविता यावद्दूरं प्राप्ता तावत्तापसो दृष्टः तस्य मूले गता अभिवादितः, तस्य च गच्छति तेन पृष्टा–कुतोऽम्ब! इहागता? तदा कथयति सद्भावं, चेटकस्य दुहिता यावद्धस्तिनाऽऽनीता स च तापसश्चेटकस्य निजकः तेनाश्वासिता–मा भैषीरिति तदा वनफलानि ददाति अवस्थाप्य कतिचिद्दिवसान् अटवीतो निष्काशिता इतोऽस्माकमविषयो गतेः अतः परं हलकृष्टा भूमिः। तन्न कल्पते ममातिक्रमितुं यदि एष दन्तपुरस्य विषयः दन्तवक्रो राजा निर्गता ततोऽटव्याः दन्तपुरे आर्याणां मूले प्रव्रजिता पृष्टया गर्भो नाख्यातः। पश्चात् ज्ञाते महत्तरिकायाः श्राद्धी जनयति सा प्रजाता सती सह नाममुद्रया रत्नकम्बलेन च वेष्टयित्वा श्मशाने उज्झति पश्चात् श्मशानपालः पाणस्तेन गृहीतः

फोडीयरिसचिलाए जिणदेवे रयणपुच्छ कहणा य । साएए सत्तुंजे वीरकहणा य समोसढी ॥ ११२० ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—साएए सत्तुंजए राया, जिणदेवो सावगो, सो दिसाजत्ताए गओ कोडीवरिसं, ते मिच्छा, तत्थ चिलाओ राया, तेण तस्स रयणाणि अप्पाणागारे पोत्ताणि मणी य जाणि तत्थ नत्थि ताणि ढोइयाणि, सो चिलाओ पुच्छइ—अहो रयणाणि रुवियाणि, कहिं एयाणि रयणाणि ?, साहइ—अम्ह रज्जे, चिंतेइ—जइ नाम मनुग्गहज्जा, सो राया भणइ—अहंपि जामि रयणाणि पेच्छामि, तुज्झं तणगस्स रण्णो वीहेमि, जिणदेवो भणइ—मा वीहहि, साह तस्स रण्णो लेहं पेसेइ, तेण भणिओ—एतचि, आणिओ सावगेण, सामी समोसढो, सत्तुंजओ निग्गओ सपरिवारो महया इड्ढीए, सयणसमूहो निग्गओ, चिलाओ पुच्छइ—जिणदेवो ! कहिं जणो जाइ ?, सो भणइ—एस सो रयणवाणियओ, भणइ—तो जामो पेच्छामोत्ति, दोवि जणा निग्गया, पेच्छंति सामिस्स छत्ताइछत्तं सीहासणं, विभासा, पुच्छइ—कहं रयणाइं, साह

---

१ साकेते शत्रुञ्जयो राजा जिनदेवः श्रावकः स दिग्यात्रया गतः कोटीवर्षं ते म्लेच्छाः तत्र चिलातो राजा तेन तस्य रत्नानि चित्रिताकाराणि वस्त्राणि मणयश्च यानि तत्र न सन्ति तानि ढौकितानि स चिलातः पृच्छति—अहो रत्नानि सुरूपाणि क्वैतानि रत्नानि ? कथयति—अस्माकं राज्ये चिन्तयति—यदि नाम संपृच्छेत स राजा भणति—अहमप्यागच्छामि रत्नानि प्रेक्षे परं त्वदीयात् राज्ञो बिभेमि जिनदेवो भणति—मा भैषीः तदा तस्य राज्ञः लेखं प्रेषयति तेन भणितं आयात्विति आनीतः श्रावकेण स्वामी समवसृतः शत्रुञ्जयो निर्गतः सपरीवारो महत्या ऋद्ध्या सजनसमूहो निर्गतः चिलातः पृच्छति—जिनदेव ! क्व जनो याति ? स भणति—एष रत्नवणिक् सः भणति—तर्हि यावः प्रेक्षावहे इत्यपि द्वौ निर्गतौ प्रेक्षेते—स्वामिनश्छत्रातिच्छत्रं सिंहासनं विभाषा पृच्छति—क्व रत्नानि ?, तदा

सामी भावरयणाणि दव्वरयणाणि य पण्णवेइ, सिस्सो भणइ–मम भावरयणाणि देहित्ति भणिओ रयहरणगोच्छगाइ साहिअंति, पवइओ, एवं मूलगुणपच्चक्खाणं, इयाणिं उत्तरगुणपच्चक्खाणं, तत्थोदाहरणगाहा—

वाणारसी य णयरी अणगारे धम्मघोस धम्मजसे । मासस्स य पारणए गोउलगंगा य अणुकंपा ॥ १५११ ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं–वाणारसीए दुवे अणगारा वासावासं ठिया–धम्मघोसो धम्मजसो य, ते मासं खमणेण अच्छंति, चउत्थपारणए मा णियावासो होहितित्ति पढमाए सज्झायं बीयाए अत्थपोरिसी तइयाए उग्गाहेत्ता पहाविया, सारइएणं उण्हेण अब्भाहया तिसाइया गंगं उत्तरंता मणसावि पाणियं न पत्थेंति, उत्तिण्णा, गंगादेवया आउट्टा, गोउलाणि विउव्वित्ता सपाणीया गोवग्गा दधिघिमाला, साहू सद्दावेइ–एह साहू भिक्खं गेण्ह, ते उवउत्ता दट्ठूण ताए रूवं, सा तेहिं पडिसिद्धा पहाविया, पच्छा ताए अणुकंपाए माधवयुक्तं विउव्वियं, भूमी उल्ला, सियलेण वाएण अप्पाइया गामं

१ स्वामी भावरत्नानि द्रव्यरत्नानि च प्रज्ञापयति शिष्यको भणति–मम भावरत्नान्यर्पयत इति भणितो रजोहरणगोच्छकादि दर्शयन्ति प्रव्रजितः एवं मूलगुणप्रत्याख्यानं इदानीमुत्तरगुणप्रत्याख्यानं तत्रोदाहरणगाथा–वाराणस्यां द्वावनगारौ वर्षावासं स्थितौ–धर्मघोषो धर्मयशाश्च तौ मासक्षपणमासक्षपणेन तिष्ठतः चतुर्थपारणके मा नित्यवासिनौ भूवेति प्रथमायां स्वाध्यायं द्वितीयस्यामर्थपौरुषीं (कृत्वा) तृतीयस्यामुद्ग्राह्य प्रधावितौ शारदिकेनोष्णेनाभ्याहतौ तृषार्दितौ गङ्गामुत्तरन्तौ मनसाऽपि पानीयं न प्रार्थयतः, उत्तीर्णौ गङ्गादेवताऽऽवर्जिता गोकुलानि विकुर्व्य सपानीयान् गोवर्गान् दधिघृतमालाः (?) साधू शब्दयति–आयात साधू ! भिक्षां गृह्णीतं तावुपयुक्तौ दृष्ट्वा तस्या रूपम्, सा ताभ्यां प्रतिषिद्धा प्रधाविता पश्चात् तयाऽनुकम्पया वर्षाद्दर्दलं विकुर्वितं भूमिरार्द्रा (जाता) शीतलेन वायुनाऽऽप्यायितौ ग्राम

अत्तदोसोयसंहारो कओ, मरामित्ति सव्व सावज्ज पच्चक्खायं, कहयि कम्मक्खओयसमेणं पउणो, तहावि पव्वज्जाय चेव, पव्वज्जं कयाइओ, सुहज्झवसाणस्स णाणमुप्पण्णं जाव सिद्धो। अत्तदोसोवसंहारोत्ति गयं, २१। इयाणिं सव्वकामविरत्तयत्ति, सव्वकामेसु विरंचियव्व, तत्थोदाहरणगाथा—

उज्जेणिदेवलासुय अणुरत्ता लोयणा य पउमरहो। सगयओ मणुमइया असिपगिरी अज्जसकासा ॥ १३०॥

व्यास्या कथानकादयसेया, तच्चेदं—उज्जेणीए नयरीए देवलासुओ राया, तस्स भज्जा अणुरत्ता लोयणा नाम, अन्नया सो राया सेज्जाए अच्छइ, देवी वाले वीयरेइ, पलियं दिट्ठं, भणइ—भट्टारगा! दूओ आगओ, सो ससंभमं भयहरिसाइओ उट्ठिओ, कहिं सो?, पच्छा सा भणइ—धम्मदूओत्ति, सणियं अंगुलीए वेढित्ता उक्खय, सोवण्ण थाले खोमजुयलेण पढित्ता णयरे हिंडाविओ, पच्छा अधिर्ति करेइ—अम्हाए पलिए अम्ह पुव्वया पव्वयंति, अहं पुण न पव्वइओ, पउमरहं रज्जे ठवेउण पव्वइओ, देवीवि, संगओ दासो मणुमइया दासी ताणिवि अणुरागेण पव्वइयाणि, सव्वाणिवि असियगिरितावसासमं तत्थ

---

१ आत्मदोषोपसंहारः कृतः म्रिये इति सर्वं सावद्यं प्रत्याख्यातं कथमपि कर्मक्षयोपशमेन प्रगुणः तथापि प्रव्रज्याया एव प्रव्रज्यां कृतवान् शुभाध्यवसायस्य ज्ञानमुत्पन्नं यावत् सिद्धः। आत्मदोषोपसंहार इति गतं इदानीं सर्वकामविरक्ततेति सर्वकामेषु विरक्तव्यं। उज्जयिन्यां नगर्यां देवलासुतो राजा तस्य भार्याऽनुरक्ता लोचना नाम्नी अन्यदा स राजा शय्यायां तिष्ठति देवी वालान् वीजयति (शोधयति) देव्या वाले पलितं दृष्टं भणति—भट्टारक! दूत आगतः स ससंभ्रमं भयहर्षाभ्यां उत्थितः क सः?, पश्चात् सा भणति—धर्मदूत इति शनैरुत्खाय वेष्टयित्वोत्पाटितं सौवर्णे स्थाले क्षौमयुगलेन वेष्टयित्वा नगरे हिण्डितः पश्चादधृतिं करोति—अस्मत्पलिते अस्माकं पूर्वजाः प्राव्राजिषुः अहं पुनर्न प्रव्रजितः पद्मरथं राज्ये स्थापयित्वा प्रव्रजितः देव्यपि संगतो दासो मनुमतिका दासी तावप्यनुरागेण प्रव्रजितौ सर्वेऽप्यसितगिरितापसाश्रमस्थ

गेवाणि, संगयओ मधुमतिगा य केणइ कालंतरेण सव्वाइयाणि, देवीएवि गब्भो नक्कामो पुव्वं रण्णो, पडिस्सारद्धो, राया भणिति पगओ—भयसो आमोत्ति भइ, तावसओ पच्छण्णं सारवेइ, सुकुमाला देवी वियायंती मया, तीए दारिया जाया, सा अमाणं तावसीणं थणय पियइ, संवड्ढिया, ताहे से मक्कसंकासत्ति नामं कयं, सा जोव्वणत्था जाया, सा पियरं अडवीओ आगयं विरसामेइ, सो तीए जोव्वणे अज्झोववण्णो, अज्जं हिज्जो लएमिति अच्छइ, अण्णया पहाविओ गिण्हामित्ति रुक्खगकडे आयडिओ, पडिओ चिंतेइ—धिरत्थी इहलोए फल परलोए न नज्जइ किं होसित्ति सयुद्धो, ओहिनाण, भणइ—भवियय भो खलु सव्वकामविरत्तेणं अम्हपण भासइ, धूया विरत्तण संजतीए दिण्णा, सोवि सिद्धो। एव सव्वकामविरत्तिएण जोगा संगहिया भवति। सव्वकामविरत्तत्ति गय २२, इयाणि पच्चक्खाणित्ति, पच्चक्खाणं च दुविहं—मूलगुणपच्चक्खाण उत्तरगुणपच्चक्खाण य, मूलगुणपच्चक्खाणे उदाहरणगाहा—

---

१ ततः संगतो मधुमतिका च केनचित्कालान्तरेण प्रव्रजितौ देव्यापि गर्भो नाख्यातः पूर्वं राज्ञः वर्धितुमारब्धः राजाऽभणि भगतः भगवता आमोऽयं तापसात् प्रच्छन्नं संरक्षति सुकुमाला देवी प्रजनयन्ती मृता तस्या दारिका जाता धात्र्यायां तापसीनां स्तन पिबति संवर्धिता तदा तस्या मर्कसंकाशेति नाम कृतं सा यौवनस्था जाता सा पितरमटवीत आगत विश्रमयति स तस्या यौवनेऽध्युपपन्नः अद्य श्वो लास्यामीति तिष्ठति अन्यदा प्रधावितो ग्रहीष्यामीति वृक्षकाण्डे आस्फलितः, पतितश्चिन्तयति—धिग् धिग् इहलोके फल परलोके न ज्ञायते किं भविष्यतीति संबुद्धः अवधिज्ञानं भणति—भवितव्यं भोः खलु सर्वकामवि रक्तेन अस्माकम् भाषते दुहिता विरक्तेन संयतीभ्यो दत्ता, सोऽपि सिद्धः। एवं सर्वकामविरक्तेन योगाः संगृहीता भवन्ति। सर्वकामविरक्तेति गतं इदानीं प्रत्याख्यानमिति प्रत्याख्यानं च द्विविधं—मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यान च मूलगुणप्रत्याख्याने उदाहरणगाथा—

साहू जाया, एसा भावपणिहित्ति । पणिहित्ति गयं १८। अहा इयाणिं सुविहित्ति, सुविहीए जोगा संगहिया, विधिरनुत्ता विधी जस्स इहा, शोभनो विधिः सुविधिः, तत्थोदाहरणं जहा सामाइयनिज्जुत्तीए अणुकंपाए अक्खाणगं—

बारवई वेयरणी धन्नंतरि भविय अभविए विज्जे । कहणा य पुच्छियमि य गइनिद्देसे य संबोही ॥ ११०५ ॥

सो वानरजूहवई कंतारे सुविहियाणुकंपाए । भासुरवरबोंदिधरो देवो वेमाणिओ जाओ (८४७) ॥ ११०६ ॥

जाव साहू साहरिओ साहूण समीवं । सुविहित्ति गयं १९ । इयाणिं संवरेत्ति, संवरेण जोगा संगहिज्जंति, तत्थ पडिवक्खेणं उदाहरणगाहा—

वाणारसी य कोट्ठे पासे गोवालभद्दसेणे य । नंदसिरी पउमसिरी रायगिहे सेणिए वीरे ॥ १२०७ ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—रायगिहे सेणिएण वद्धमाणसामी पुच्छिओ, एगा देवी णट्टविहिं उवदंसेत्ता गया का एसा ?, सामी भणइ—वाणारसीए भद्दसेणो जुण्णसेट्ठी, तस्स भज्जा नंदा, तीए धूया नंदसिरी वरगविवज्जिया,

---

१ साधू जातौ एषा भावप्रणिधिरिति । प्रणिधिरिति गतं, इदानीं सुविधिरिति सुविधिना योगाः संगृह्यन्ते विधिर्यस्य शोभनः, यथा सामायिक-निर्युक्तौ अनुकम्पायामाख्यानकं—द्वारवती वैतरणिः धन्वन्तरिर्भव्योऽभव्यश्च वैद्यौ । कथनं च पृष्टे च गतिनिर्देशश्च संबोधिः ॥ १ ॥ स वानरयूथपतिः कान्तारे सुविहितानुकम्पया । भासुरवरबोन्दीधरो देवो वैमानिको जातः ॥ २ ॥ यावत् साधुः संहृतः साधूनां समीपं सुविधिरिति गतं । इदानीं संवर इति, संवरेण योगाः संगृह्यन्ते तत्र प्रतिपक्षेणोदाहरणगाथा । राजगृहे श्रेणिकेन वर्धमानस्वामी पृष्टः एषा देवी नाट्यविधिमुपदर्श्य गता केयं ? स्वामी भणति—वाराणस्यां भद्रसेनो जीर्णश्रेष्ठी, तस्य भार्या नन्दा, तस्या दुहिता नन्दश्रीरिति वरवर्जिता

तेत्थ कोहए चेइए वासस्सामी समोसढो, नंदसिरी पव्वइया, गोवालीए सिस्सिणिया दिण्णा, पुव्वं रागेण विहरित्ता पच्छा ओसन्ना जाया, हत्थे पाए धोवेइ, अहा बोधती विभासा, वारिज्जंती पडेरूपं विभवाए वसहीते ठिया, तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंता चुल्लहिमवंते पउमदहे सिरी जाया देवगणिया, एतीए संवरो न कओ, परिवज्जणो सो न सहारे'त्ति भत्तदोसोवसहारो कायव्वो, जइ किंचि कहामि तो बुगुणो बंधो होहितित्ति, तत्थ उदाहरणगाहा—

वारवइ अरहमित्ते अणुद्धरी चेव तह्य जिणदेवो । रोगस्स य उप्पत्ती पडिसेहो अत्तसंहारो ॥ १३०८ ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—वारवतीए अरहमित्तो सेट्ठी, अणुद्धरी भज्जा, सावयाणि, जिणदेवो पुत्तो, तस्स रोगा उप्पण्णा, न तीरइ तिगिंच्छिउं, वेज्जो भणइ—मंसं खाहि, नेच्छइ, सयणपरियणो अम्मापियरो य पुत्तणेहेणाणुजा णंति, निव्वंधेवि कह सुचिरं रक्खियं वयं भंजामि, उक्तं च—"वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, न चापि भग्नं चिरसञ्चितं व्रतम्"

१ तत्र कोष्ठके चैत्ये वार्यस्वामी समवसृतः, नन्दश्रीः प्रव्रजिता गोपाल्यै शिष्या दत्ता पूर्वक्रमेण विहृत्य पश्चादवसन्ना जाता हस्तौ पादौ प्रक्षालयति, यथा बोधती विभाषा वार्यमाणोत्थाय विभक्तायां वसतौ स्थिता, तस्य स्थानस्यानालोचितप्रतिक्रान्ता क्षुल्लहिमवति पद्मह्रदे श्रीर्जाता देवगणिका, एतया संवरो न कृतः प्रतिषेधः स न कर्तव्यः, अन्ये भणन्ति—हस्तिनीरूपेण वातमुत्सृजति (शब्दं करोति) तदा श्रेणिकेन पृष्टः, संवर इति मतं इदानीमात्मभावः आत्मदोषोपसंहारः कर्तव्यः यदि किञ्चित् कथयिष्यामि तर्हि द्विगुणो बन्धो भविष्यतीति तत्रोदाहरणगाथा—द्वारवत्यामर्हन्मित्रः श्रेष्ठी, अनुद्धरी भार्या श्राद्धौ जिनदेवः पुत्रः तस्य रोगा उत्पन्नाः न शक्यन्ते चिकित्सितुं वैद्यो भणति—मांसं खादय नेच्छति स्वजनपरिजनौ मातापितरौ च पुत्रस्नेहेनानुजानीतः, निर्बन्धेऽपि कथं सुचिरं रक्षितं व्रतं भनज्मि,

भरुयच्छे जिणदेवो भयतमिच्छे कुलाण भिक्खू य। पइठाण सालवाहण गुग्गुल भगव य णहवाणे ॥१३०४॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—भरुयच्छे णयरे नहवाहणो राया कोससमिद्धो, इओ य पइट्ठाणे सालवाहणो राया बलसमिद्धो, सो नहवाणं रोहेइ, सो कोससमिद्धो जो हत्थं वा सीसं वा आणेइ तस्स सयसहस्सग पिय देइ, ताहे तेण नहवाहणमणूसा दिवे २ मारेंति, सालवाहणमणुस्सावि केवि मारित्ता आणेंति, सो तेसिं न किंचि देइ, सो खीणजणा पडिआइ, नासित्ता पुणोवि बितियवरिसे एइ, तत्थवि तहेव नासइ, एवं कालो वच्चइ, अण्णया अमच्चो भणइ—मम अव राहेत्ता निव्विसयं आणवेह माणुसगाणि य बंधाहि, तेण तहेव कयं, सोवि निग्गतूण गुग्गुलभारं गहाय भरुयच्छमागओ, एगत्थ देवउले अच्छइ, सामंतरज्जेसु कुइ—सालवाहणेण अमच्चो निच्छूढो, भरुयच्छे णाओ, केणति पुच्छिओ को सोत्ति, भणइ—गुग्गुलभगवं नाम अहंति, जेहिं णाओ ताण कहेइ जेण विहाणेण निच्छूढो, अहा छुहु से गणत्ति, पच्छा नहवाहणेण

---

१ भृगुकच्छे नगरे नभोवाहनो राजा कोशसमृद्धः इतश्च प्रतिष्ठाने शालवाहनो राजा बलसमृद्धः स नभोवाहनं रुणद्धि, स कोशसमृद्धो यो हस्तं वा शीर्षं वाऽऽनयति तस्मै शतसहस्रमेव ददाति तदा तेन नभोवाहनमनुष्या दिवसे २ मार्यन्ते शालवाहनमनुष्या अपि केचनापि मारयित्वाऽऽनीयन्ते स तेभ्यः किमपि न ददाति स क्षीणजनः प्रतियाति भूयः पुनरपि द्वितीयवर्षे आयाति तत्रापि तथैव नश्यति एवं कालो व्रजति अन्यदाऽमात्यो भणति—मामपराध्य निर्विषयमाज्ञापय मनुष्यांश्च बधान तेन तथैव कृतं, सोऽपि निर्गत्य गुग्गुलभारं गृहीत्वा भृगुकच्छमागतः एकत्र देवकुले तिष्ठति सामन्तराजेषु किंवदन्ती—शालवाहनेनामात्यो निष्काशितः भृगुकच्छे ज्ञातः, केनचित् पृष्टः, कः स इति भणति गुग्गुलभगवान् नामाहमिति, यैर्विज्ञातः कथयति येन विधिना निष्काशितः, यथा कर्तुं (अपराध) ते गतमस्मि पश्चान्नभोवाहनेन

सुयं, मणुस्सा विसज्जिया नेच्छइ कुमारामच्चत्तणस्स गंधंपि सोउं, सो य राया सव्वं आगओ, ठविओ अमच्चो, वीसंभं जाणिऊण भणइ—पुण्णेण रज्जं लब्भइ, पुणोवि अण्णस्स जम्मस्स पत्थयणं करेहि, ताहे देवकुलाणि थूभतलागवावीण खणावणादिएहिं दव्वं खइयं, सेठमाहणो आवाहिओ, पुणोवि ताविज्जइ, अमच्चं भणइ—तुमं परिमोत्ति, सो भणइ—पडामि अवेवरियाण आभरणेणंति, पुणो गओ पइठाणंति, पच्छा पुणो संवेवरिओ णिवाहेइ, तम्मि णिहिए साख्वाहणो आवाहिओ, नत्थि दायव्वं, सो घिणट्ठो, नट्ठं नयरंपि गहियं, एसा दव्वपणिही भावपणिहीए उदाहरणं—भरुयच्छे जिणदेवो नाम आयरिओ, भदंतमित्तो कुणालो य सच्चणिया दोवि भायरो वाई, तेहिं पडहओ निक्काडिओ, जिणदेवो चेइय-वंदगो गओ सुणेइ, वारिओ, रायउले वादो जाओ, पराजिया दोवि, पच्छा ते चिंतेइ—विणा एएसिं सिद्धंतेण न तीरइ एएसिं उत्तरं दाउं, पच्छा माइठाणेण ताण मूले पव्वइया, विभासा गोविन्दवत्, पच्छा पढंताण उवगयं, भावओ पडिवण्णा,

---

१ श्रुत मनुष्या विसृष्टा नेच्छति कुमारामात्यत्वमपि श्रोतुं, स च राजा सर्वस्वमागतः स्थापितोऽमात्यः, विश्रम्भं ज्ञात्वा भणति—पुण्येन राज्यं लभ्यते पुनरप्यन्यस्य जन्मनः पथ्यादनं कुरु तदा देवकुलानि स्तूपतडागवापीनां खननादिभिः सर्वं द्रव्यं क्षपितं शालवाहन आहूतः पुनरपि ताप्यते अमात्यं भणति—त्वं परिमोऽसि स भणति—पटच्चरस्तेनानामाभरणेनापि पुनर्गतः प्रतिष्ठानमिति पश्चात् पुनः सान्तःपुरिको निर्वाहयति तस्मिन् निष्ठिते शालवाहन आहूतः नास्ति दातव्यं स विनष्टः, नष्टं नगरमपि गृहीतं एषा द्रव्यप्रणिधिः। भावप्रणिध्युदाहरणं—भृगुकच्छे जिनदेवो नामाचार्यः भदन्तमित्रः कुणालश्च सौगतौ द्वावपि भ्रातरौ वादिनौ ताभ्यां पटहको निष्कासितः जिनदेवः चैत्यवन्दनार्थं गतः शृणोति वारितः राजकुले वादो जातः पराजितौ द्वावपि पश्चात्तौ चिन्तयतः—जिनेन्द्राणां सिद्धान्तेन न एतेषामुत्तरं दातुं शक्यते, पश्चात् मातृस्थानेन तेषां पार्श्वे प्रव्रजितौ विभाषा गोविन्दवत् पश्चात्पठतोरुपगतं, भावतः प्रतिपन्नौ २ सावित्तइओ * पडिमोत्ति

'पिंडेत्ता आगया, महासमरसंगामो जाओ, पच्छा वारत्तगो चिंतेइ—एएण कारणेण भगव नेच्छइत्ति, सोऽणं अगसपचखाण उवगओ, जाई संभरिया, संबुद्धो, देवयाए भंडगं उवणीयं, सो वारत्तरिसी विहरंतो सुसुमारपुरं गओ, तत्थ धुंधुमारो राया, तस्स अंगारवई धूया, साविया, तत्थ परिव्वायगा उवागया, वाए पराजिया, पदोसमावन्ना से सावत्तए पाडेमित्ति चित्तं फलए लिहित्ता उज्जेणीए पज्जोयस्स दंसेइ, पज्जोएण पुच्छिय, कहियं चणाए, पज्जोओ तस्स दूयं पेसइ, सो धुंधुमारेण असक्कारिओ निच्छूढो, भणइ पिवासाए—विणएणं वरिज्जइ, दूएण पडियागएण बहुतरं पज्जोयस्स कहियं, आसुरुत्तो, सव्वबलेण निग्गओ, सुंसुमारपुरं वेढेइ, धुंधुमारो अंतो अच्छइ, सो य वारत्तगरिसी एगत्थ नागघरे चच्चरमूले ठिएल्लगो, सो राया भीओ एस महाबलवगोत्ति, नेमित्तगं पुच्छइ, सो भणइ—जाव—जाव नेमित्तं गेण्हामि, चेडगरूयाणि रमंति ताणि भेसावियाणि, तस्स वारत्तगस्स मूलं आगयाणि रोवंताणि, ताणि भणियाणि—मा बीहेहित्ति, सो आगंतूण भणइ—मा

1 पिण्डयित्वा आगताः, महासमरसंग्रामो जातः, पश्चाद्वारत्रकश्चिन्तयति—एतेन कारणेन भगवानेच्छतीति सोऽयमश्रमणप्रायोग्युपगतः, जातिः स्मृता, संबुद्धः देवतयोपकरणमुपनीतं स वारत्रकर्षिर्विहरन् शिशुमारपुरं गतः तत्र धुन्धुमारो राजा तस्याङ्गारवती दुहिता श्राविका तत्र परिव्राजिका आगता वादे (तया) पराजिता ततः प्रद्वेषमापन्ना सापत्न्ये पातयामीति चित्रं फलके लिखित्वोज्जयिन्यां प्रद्योताय दर्शयति प्रद्योतेन दृष्टं, कथितं चानया प्रद्योत तस्मै दूतं प्रेषयति स धुन्धुमारेणासत्कृतो निष्काशितः, भणितः पिपासया-विनयेन मिलते, दूतेन प्रत्यागतेन बहुतरं प्रद्योताय कथितं क्रुद्धः सर्वबलेन निर्गतः, शिशुमारपुरं वेष्टयति, धुन्धुमारोऽन्तः तिष्ठति, स च वारत्रकर्षिरेकत्र चत्वरमूले स्थितोऽस्ति स राजा भीत एष महाबल इति, नैमित्तिकं पृच्छति, स भणति—यावत् यावन्निमित्तं गृह्णामि चेटा रमन्ते ते भापिताः वारत्रकस्य पार्श्वमागता रुदन्तः, ते भणिता—मा भैष्ट, स आगत्य भणति—मा

घोरेहिति, मुच्छं गओ, ताहे मरुतएण ओतरणत्थाणं उवरिं पडिओ, पज्जोओ वेढित्ता गहिओ, णयरिं आणिओ, बाराणि बद्धाणि, पज्जोओ भणिओ—कओमुहो ते आओ जाउ ?, भणइ—जं जाणसि तं करेह, भणइ—किं तुमे महासासणेण वहिएण ?, ताहे से महाविभूईए अंगारवई परिण्णा, दाराणि मुक्काणि, तत्थ अच्छइ, अण्णे भणंति—तेण धुंधुमारेण देवयाए उववाओ कओ, तीए चेडरूवाणि बिउव्विया णिमित्तं गहियंति, ताहे पज्जोओ णयरे हिंडइ, पेच्छइ अप्पसागारियं रायाणं, अंगारवतिं पुच्छइ—कहं अहं गहिओ ?, सा साहुवयणं कहेइ, सो तस्स मूलं गओ, भणामि निमित्तिगखमणंति, सो उवसंतो जाव पव्वइओ, चेडरूवाणि संभरियाणि । चंदजसाए सुजायस्स धम्मघोसस्स वारत्तगस्स एतेसिं संवेगेणं जोगा संगहिया भवंति, केई तु सुरवरं जाव मियावई पव्वइया परंपरओ एवंपि कहेइ १७ । संवेगत्ति गयं, इयाणिं पणिहित्ति, पणिही नाम माया, सा दुविहा—दव्वपणिही य भावपणिही य, दव्वपणिहीए उदाहरणगाहा—

---

1 घोरयिष्यति मूर्च्छां गतः, ततो मरुतकेन अवतरणस्थानमुपरि पतितः, प्रद्योतो वेष्टयित्वा गृहीतः नगरीमानीतः द्वाराणि बद्धानि प्रद्योतो भणितः—कुतोमुखस्ते यातो यामि ?, भणति—यज्जानासि तत् कुरुत, भणति—किं त्वया महाशासनेन विनाशितेन ? तदा तस्मै धुन्धुमारेण महाविभूत्याऽङ्गारवती दत्ता द्वाराणि मुक्तानि, तत्र तिष्ठति, अन्ये भणन्ति—तेन धुन्धुमारेण देवताया उपवासः कृतः, तया चेटरूपाणि विकुर्वित्वा निमित्तं गृहीतमिति, तदा प्रद्योतो नगरे हिण्डमानः पश्यति अल्पसागारिकं राजानं अङ्गारवतीं पृच्छति—कथं गृहीतः, सा साधुवचनं कथयति, स तस्य पार्श्वं गतः, अन्ये नैमित्तिकक्षपणकमिति स उपशान्तो यावत् प्रव्रजितः चेटरूपैः स्मृतैः । चन्द्रयशसः सुजातस्य धर्मघोषस्य वारत्तकस्य एतेषां संवेगेन योगाः संगृहीता भवन्ति केचित्तु सुरवरं यावत् मृगावती प्रव्रजिता (परम्) परम्परकः एवमपि कथयन्ति । संवेग इति गतः, इदानीं प्रणिधिरिति प्रणिधिर्माया सा द्विविधा—द्रव्यप्रणिधिश्च भावप्रणिधिश्च द्रव्यप्रणिधौ-उदाहरणगाथा—

'पिंडेत्ता आगया, महासमरसंघाओ जाओ, पच्छा वारत्तगो चिंतेइ—एएण कारणेण भगव नेच्छइत्ति, सोहणं अज्झवसाण उवगओ, जाई संभरिया, संवुत्तो, देवयाए भंडगं उवणीयं, सो वारत्तरिसी विहरंतो सुंसुमारपुरं गओ, तत्थ धुंधुमारो राया, तस्स अंगारवई धूया, साविया, तत्थ परिव्वायगा उवागया, वाए पराजिया, पदोसमावन्ना से सावत्तए पाडेमित्ति चित्त फलए लिहित्ता उज्जेणीए पज्जोयस्स दंसेइ, पज्जोएण पुच्छिए, कहियं जणाए, पज्जोओ तस्स दूयं पेसइ, सो धुंधुमारेण असक्कारिओ निच्छूढो, भणइ पिवासाए—विणएणं परिज्जइ, दूएण पडियागएण बहुतरगं पज्जोयस्स कहियं, आसुरुत्तो, सव्वबलेणं निग्गओ, सुंसुमारपुरं वेढेइ, धुंधुमारो अंतो अच्छइ, सो य वारत्तगरिसी एगत्थ नागघरे चच्चरमूले ठिओ, सो राया भीओ एस महाबलगोत्ति, नेमित्तगं पुच्छइ, सो भणइ—जाइ—जाव नेमित्त गेण्हामि, चेडरूवाणि रमंति ताणि भेसावियाणि, तस्स वारत्तगस्स मूलं आगयाणि रोयंताणि, ताणि भणियाणि—मा बीहेहित्ति, सो आगंतूण भणइ—मा

---

1 पिण्डयित्वा आगताः, महासमरसंघातो जातः, पश्चाद्वारकश्चिन्तयति—एतेन कारणेन भगवान्नेच्छतीति सोऽनर्थमध्यवसानमुपगतः, जातिः स्मृता संवृत्तः देवतोपकम्पनमुपनीतं स वारकर्षिर्विहरन् सुंसुमारपुरं गतः तत्र धुन्धुमारो राजा तस्याङ्गारवती दुहिता, श्राविका तत्र परिव्राजिका आगता वादे (तया) पराजिता ततः प्रद्वेषमापन्ना सापत्न्ये पातयामीति चित्रं फलके लिखित्वोज्जयिन्यां प्रद्योताय दर्शयति प्रद्योतेन दृष्टे, कथितं यावता, प्रद्योत तस्मै दूतं प्रेषयति, स धुन्धुमारेणासत्कृतो निष्काशितः, भणितः पिपासया-विनयेन म्रियते, दूतेन प्रत्यागतेन बहुतरं प्रद्योतस्य कथितं क्रुद्धः सर्वबलेन निर्गतः, सुंसुमारपुरं वेष्टयति धुन्धुमारोऽन्तः तिष्ठति, स च वारकर्षिरेकत्र चत्वरमूले स्थितोऽस्ति स राजा भीत एव महाबल इति, नैमित्तिकं पृच्छति, स भणति—यावत् यावन्निमित्तं गृह्णामि चेटा रमन्ते ते भापिताः वारकस्य पार्श्वमागता रुदन्तः, ते भणिताः—मा बिभीतेति स आगम्य भणति—मा

देवाणे, सचायरो राया निग्गओ खामिओ, अम्मापियरो रायाणं च आपुच्छित्ता पव्वइओ, अम्मापियरोवि अणुपव्वइयाणि, ताणि सिद्धाणि, सोऽवि धम्मघोसो निव्विसओ भमंतो खेणं तस्स गुणा लोए पयरंति, यथा नेत्रे तथा शीलं, यथा नासा तथाऽऽर्जवम् । यथा रूपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ॥ १ ॥ अथवा–विषमसमैर्विषमसमाः, विषमैर्विषमाः समैः समाचाराः । करचरणकर्णनासिकदन्तोष्ठनिरीक्षणैः पुरुषाः ॥ २ ॥ पच्छा सो य निव्विसमावण्णो सव्वं मए भोगच्छोभेण विणासिओत्ति निग्गओ, हिंडंतो रायगिहे णयरे थेराणं अंतिए पव्वइओ, विहरंतो बहुस्सुओ वारत्तपुरं गओ, तत्थ अभयसेणो राया, वारत्तओ अमच्चो, भिक्खं हिंडंतो वारत्तगस्स घरं गओ धम्मघोसो, तत्थ महुघयसंजुत्तं पायसथालं णीणीयं, तओ बिंदू पडिओ, सो पारिसाडित्ति निच्छइ, वारत्तओ ओलोयणगओ पेच्छइ, किं मन्ने नेच्छइ ?, एवं चिंतेइ जाव (ताव) तत्थ मच्छिया उलीणा, ताओ घरकोइलिया पेच्छइ, तंपि सरडो, सरडंपि मज्जारो, तंपि पच्चंतियसुणओ, तंपि वत्थव्वगसुणओ, ते दोवि भंडणं लग्गा, सुणयसामी उवट्ठिया, भंडणं जायं, मारामारी, बाहिं निग्गया पाहुणगा बलं

१ तदा च, सचमत्या राजा निर्गतः क्षामितः, मातापितरौ राजानं चापृच्छ्य प्रव्रजितः। मातापितरावपि अनुप्रव्रजितौ तौ सिद्धौ। सोऽपि धर्मघोषो निर्विषयं भ्रमन् यत्र तस्य गुणा लोके प्रचरन्ति पश्चात् स च निर्विषमापन्नः सर्वं मया भोगक्षोभेण विनाशितं इति निर्गतः, हिण्डमानो राजगृहे नगरे स्थविराणामन्तिके प्रव्रजितः विहरन् बहुश्रुतो वारत्रपुरं गतः तत्राभयसेनो राजा वारत्रकोऽमात्यः भिक्षां हिण्डमानो वारत्रकस्य गृहं गतो धर्मघोषः तत्र मधुघृतसंयुक्तं पायसस्थालमानीतं ततो बिन्दुः पतितः स पारिशाटिरिति नेच्छति वारत्रकोऽवलोकनगतः पश्यति किं मन्ये नेच्छति एवं यावच्चिन्तयति तावत्तत्र मक्षिका आलीनाः ताः (ताः) गृहकोकिला तामपि सरटः सरटमपि मार्जारः तमपि प्रात्यन्तिकः श्वा तमपि वास्तव्यः श्वा तौ द्वावपि भण्डयितुं लग्नौ श्वस्वामिनावु पस्थितौ युद्धं जातं, हन्ताहन्त्यादि, बहिर्निर्गताः प्राघूर्णकाः बल

अच्छइ वीसत्थो मारिज्जिहितित्ति दिणे २ पगट्ठा अभिरमंति, तस्स रूवं सीउं समुदायारं दट्ठूणं चिंतेइ—नवर अंतेवरियादि समं विणट्ठोत्ति तेण मारिज्जइ, किह वा एरिस रूवं विणासेमित्ति उस्सारित्ता सब परिकहइ, छेद च दरिसेइ, तेण सुजा एण भण्णइ—जं आणसि तं करेइ, तेण भणियं—तुमं न मारेमित्ति, नवरं पच्छण्णं अच्छाहि, तेण चदजसा भगिणी दिण्णा, सा य तज्जाइणी तीए सह अच्छइ, परिभोगदोसेण स पट्टइ सुजायस्स ईसि सकवं, सामि तेण सावियां कया, चिंतइ—मम कएण एसो विणट्ठोत्ति संवेगमावण्णा भत्त पच्चक्खाइ, तेण चेव निज्जामिया, देवो जाओ, ओहिं पउंजइ, दट्ठूणागओ, वंदित्ता भणइ—किं करेमि ?, सोवि संवेगमावण्णो चिंतेइ—जइ अम्मापियरो पेच्छिज्जामि तो पव्वयामि, तेण दवेण सिला विउव्विया नगरस्सुवरिं, नागरा राया य धूयपडिग्गहहत्था पायवडिया विण्णवेंति, देवो वासेइ—हा ! दासचि सुजाओ समणो वासओ अमच्चेण अकज्जे दूसिओ, मज्ज भे चूरेमि, तो नयरि मुयामि जइ तं आणेह पसादेह य, कहिं ?, सो भणइ—एस

---

१ तिष्ठतु विश्वस्तो मार्यते इति दिने २ पृच्छन्ती अभिरमेते तस्य रूपं शील समुदाचारं दृष्ट्वा चिन्तयति—नवरमन्तःपुरिकाभिः समं विनष्ट इति तेन मार्यते कथं वेदृशं रूपं विनाशयामीति ? अपसार्य सर्वं परिकथयति लेखं च दर्शयति तेन सुजातेन भण्यते—यदाज्ञापयसि तत् कुरु, तेन भणित—त्वां न मार यामीति नवरं प्रच्छन्नं तिष्ठ तेन चन्द्रयशा भगिनी दत्ता सा च तज्जातीया (त्वग्दोषयुक्ता) तया सह तिष्ठति परिभोगदोषेण तत् वर्धते सुजातस्येषत् संक्रान्तं साऽपि तेन श्राविकीकृता चिन्तयति मम कृतेनैव विनष्ट इति संवेगमापन्ना भक्तं प्रत्याख्याति तेनैव निर्यामिता देवो जातः अवधिं प्रयुनक्ति दृष्ट्वा आगता, वन्दित्वा भणति—किं करोमि ?, सोऽपि संवेगमापन्नश्चिन्तयति—यदा मातापितरौ प्रेक्षे तदा प्रव्रजामि तेन देवेन शिला विकुर्विता नगरस्योपरि नागरा राजा च धूपकडुच्छुकहस्ताः पादपतिता विज्ञपयन्ति देवो भाषते—हा दासा इति सुजातः श्रमणोपासकोऽमात्येनाकार्ये दूषितः अथ भवतश्चूर्णयामि नगरीं परं मुञ्चामि यदि तमानयत प्रसादयतेन च ? स भणति—एष

देज्जाये, सणायरो राया निग्गओ सामिओ, अम्मापियरो रायाणं च आपुच्छित्ता पव्वइओ, अम्मापियरोवि अणुपव्वइयाणि, ताणि सिद्धाणि, सोऽवि धम्मघोसो निव्विसओ माणसो जेणं तस्स गुणा लोए पयरंति, यथा नेत्रे तथा शीलं, यथा नासा तथाऽऽर्जवम् । यथा रूपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ॥ १ ॥ अथवा–विषमसमैर्विषमसमाः, विषमैर्विषमाः समैः समाचाराः । करचरणकर्णनासिकदन्तोष्ठनिरीक्षणैः पुरुषाः ॥ २ ॥ पच्छा सो य निव्वेयमावण्णो सव्वं मए भोगक्खेमं विणासिओत्ति निग्गओ, हिंडंतो रायगिहे णयरे थेराणं अंतिए पव्वइओ, विहरंतो बहुस्सुओ वारत्तपुरं गओ, तत्थ अभयसेणो राया, वारत्तओ अमच्चो, भिक्खं हिंडंतो वारत्तगस्स घरं गओ धम्मघोसो, तत्थ महुघयसंजुत्तं पायसपायं णीणीयं, तओ बिंदू पडिओ, सो पारिसाडित्ति निच्छइ, वारत्तओ ओलोयणगओ पेच्छइ, किं मन्ने नेच्छइ ?, एवं चिंतेइ जाव (ताव) तत्थ मच्छिया वलीणा, ताओ घरकोइलिया पेच्छइ, तंपि सरडो, सरडंपि मज्जारो, तंपि पच्चंतियसुणओ, तंपि वत्थव्वगसुणओ, ते दोवि भंडणं लग्गा, सुणयसामी उवट्ठिया, भंडणं जायं, मारामारी, बाहिं निग्गया पाहुणगा बल

१ ततोऽसौ सनागरो राजा निर्गतः स्वामितः, मातापितरौ राजानं चापृच्छ्य प्रव्रजितः मातापितरावपि अनुप्रव्रजितौ तौ सिद्धौ । सोऽपि धर्मघोषो निर्विषयो मानसो येन तस्य गुणा लोके प्रचरन्ति, पश्चात् स च निर्वेदमापन्नः सर्वं मया भोगक्षेमं विनाशितं इति निर्गतः हिण्डमानो राजगृहे नगरे स्थविराणामन्तिके प्रव्रजितः विहरन् बहुश्रुतो वारत्तपुरं गतः अभयसेनो राजा वारत्तकोऽमात्यः भिक्षां हिण्डमानो वारत्तकस्य गृहं गतो धर्मघोषः तत्र मधुघृतसंयुक्तं पायसपात्रमानीतं ततो बिन्दुः पतितः, स परिशाटिरिति नेच्छति वारत्तकोऽवलोकनगतः पश्यति किं मन्ये नेच्छति एवं यावच्चिन्तयति तावत्तत्र मक्षिका लग्नाः ताः (ताः) गृहकोकिला खादति तत्र सरटमपि मार्जारः तमपि प्रत्यन्तिकः श्वा तमपि वास्तव्यः श्वा तौ द्वावपि भण्डयितुं लग्नौ श्वस्वामिनावु पस्थितौ, युद्धं जातं दण्डादण्डि, बहिर्निर्गताः प्राघूर्णकाः बल

अस्या व्याख्या कथानकादवसेया तच्चेदं—चपाए मित्तप्पभो राया, धारिणी देवी, धणमित्तो सत्थवाहो, धणसिरी भज्जा, तीसे ओवाइयलद्धओ पुत्तो जाओ, लोगो भणइ—जो एत्थ धणसमिद्ध सत्थवाहकुले जाओ तस्स सुजायंति, निवित्ते बारसाहे सुज्जाओत्ति से नामं कयं, सो य किर देवकुमारो जारिसो तस्स ललियमण्णे अणुसिक्खंति, ताणि य सावगाणि, तत्थेव णयरे धम्मघोसो अमच्चो, तस्स पियगू भज्जा, सा सुणेइ—जहा एरिसो सुज्जाओत्ति, अण्णया दासीओ भणइ—जाहे सुज्जाओ इओ वोलेज्जा ताहे मम कहेज्जाह जाव त णं पेच्छेज्जामित्ति, अण्णया सो मित्तवद्दपरियारिओ तेणवण एति, दासीए पियंगूए कहिय, सा निग्गया, अण्णाहि य सवत्तीहिं दिट्ठो, ताए भण्णइ—धण्णा सा जीसे भागायडिओ, अण्णया ताओ परोप्परं भणंति—अहो लीला तस्स, पियंगू सुज्जायस्स वेसं करेइ, आभरणविभूसणेहिं विभूसिया रमइ, एवं वचइ सविलासं, एव हत्थसोहा विभासा, एवं मित्तेहि समंपि भासइ, अमच्चो अइगओ, नीसद्द अंतेउरंति पाए सणियं निक्खिवंतो

1 चम्पायां मित्रप्रभो राजा धारिणी देवी धनमित्रः सार्थवाहः धनश्रीर्भार्या तस्या उपयाचितलब्धः पुत्रो जातः लोको भणति—योऽत्र धनसमृद्धे सार्थवाहकुले जातस्तस्य सुजातमिति निर्वृत्ते द्वादशाहे सुजात इति तस्य नाम कृतं स च किल देवकुमारो यादृशः तस्य ललितमन्येऽनुशिक्षन्ते ते श्रावका' तत्रैव नगरे धर्मघोषोऽमात्यः तस्य प्रियङ्गुः भार्या सा शृणोति यथेदृशः सुजात इति अन्यदा दासीर्भणति—यदा सुजातोऽत्र व्यतिव्रजेत् तदा मम कथयेत यावत् प्रेक्षिष्ये इति अन्यदा स मित्रवृन्दपरिवारितस्तेनाध्वना याति दास्या प्रियङ्गवे कथितं सा निर्गता अन्याभिश्च सपत्नीभिर्दृष्टः तया भण्यते—धन्या सा यस्या भाग्ये आपतितः अन्यदा ताः परस्परं भणन्ति—अहो लीला तस्य, प्रियङ्गुः सुजातस्य वेषं करोति आभरणविभूषणैर्विभूषिता रमते एवं व्रजति सविलासं, एवं हस्तशोभा विभाषा एवं मित्रैः सममपि भाषते, अमात्योऽभिगतः निःशब्दमन्तःपुरमिति पादौ शनैः निक्षिपन्

धारिणिहेन्दं पक्षोपार, दिहा विलुईती, को चिंतेइ–विजइं अंतेउरंति, भणइ–पच्चण्णा होह, मा भिच्चे रायस्से सारा-
पिंतेइ, तओ रायाओति, भणणया कुलकेहेहिं पुरिसा कया, भो मिच्छपइस्स विमस्सो, तेण छेत्ता विछक्खिया सेर्णति,
सुआओ वयओ–मिच्छभरायाणं मारेहि, तुमं पगओ राउछे, तओ भरारक्खिम करेमि, तेण ते छेत्ता रण्णो पुरओ कइया,
जहा तुमं मारेयव्वोत्ति, राया कुविओ, तेवि छेहारिया वज्झा आणत्ता, तेसं ते पच्छण्णा कया, मिच्छमो चिंतेइ–अह
छोयनायं कज्जिहि वो पउरे लोओ होहिथि, ममं च तस्स रण्णो भयसो दिज्ज, तओ उवायेण मारेमि, तस्स मिच्छइस्स
एग पच्चंतणयरं अरक्खुरी नाम, तत्थ तस्स मणूसो चेयणओ नाम, तस्स छेहे पेइ (प्रं० ११०००) अहा सुभायं पेसेमि तं
मारेहिथि, पेसिओ, सुभायं सहायेता भणइ–वच अरक्खुरी, तत्थ रायकज्जाणि पेच्छाहि गओ तं णयरिं अरक्खुरिं नाम, दिहो

1 धारिणिहेन्दं पक्षोपत्रति उवा धीयओ, ण चिन्तयति–विजयमत्तःपुरमिति भणति–प्रच्छन्नं भवत, मा भिदे राजो सैराण्यम् सुमतिरिति मारयिष्यति सुबाहुं, चिरेणेति च पिता च तस्य रत्नो मित्रो स्थित, मा तयो विश्वासो भूत्विति उपाय चिन्तयति कूट उपाय इति भण्यता कुलैः (पुरुषाः) पुरुषाः कृताः, यो मिथ्यामस्स विश्वः तेन लेख निसृष्टाना इति सुबाहो वक्तव्य–मिथ्यमसतां मारय त्वं मयको राज्यकुले, तत्र तावेव कृत्वा अ. तेन ते लेखा राज्ञः पुरतो वाचिता यथा त्वं मारयितव्य इति, राजा कुपित, ते लेखाहारका वध्या आज्ञाता, तेन ते प्रच्छन्ना कृताः मिथ्यमश्चिन्तयति–यदि ज्ञातव्यं लिख्यते यदा पुरे लोको भविष्यतीति मध्ये च तस्य राज्ञोऽभयो दास्यति तत उपायेन मारयामि तस्य मिथ्यमस्यैक प्रत्यन्तनगरमरक्षुरं नाम तत्र तस्य मनुष्यश्चन्द्रयशो नाम, तस्मै लेखं ददाति–यथा सुबाहुं प्रेषयामि तं मारयिष्यसि प्रेषितः, सुबाहुं सहायिष्या भणति–अरक्षुरं तत्र राजकार्याणि प्रेक्षस्व, गतः तो अरक्षुरी नाम, दृष्ट।

नं छभामि, न य यट्टइ उप्पयइउं, तस्सवि अधिती आया, भणइ—खेता ! एक्कसिं कहिंचि ठाहिं मग्गाहि, भणइ—मग्गामि अइ खिणीओ होसि एक्कसि नयर अइ, पव्वइयाणं मूल गया, पव्वइयगा खुहिया, सो भणइ—न करेहिति, तहवि निच्छंति, आयरिया भणंति—मा अज्जो ! एवं होह, पाहुणगा भये, अज्जकल्लं जाहिंति, ठिया, ताहे खुल्लओ तिण्णि २ उच्चारपास वणाणं बारस भूमीओ पडिलेहित्ता सव्वा सामायारी, विभासियव्वा अवितहा, साहू तुट्ठा, सो निवओ अमयघुग्गो आओ, तरसमजोगेण पंचवि पडिस्सगसयाणि ताणि अमाणियाणि आराहियाणि, निग्गंतु न दिंति, एव पच्छा सो विणओवगा जाओ, एव कायव १५ । विणओवएत्ति गयं, इयाणिं धिइमई यत्ति, धितीए जो मतिं करेइ तस्स योगाः समुहीता भवन्ति, तस्योदाहरणगाहा—

नयरी य पंडुमहुरा पंडववसे मई य सुमई य । वारीयसमारुहणे उप्पाइय सुद्धियविभासा ॥ ११०१ ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—णयरी य पंडुमहुरा, तत्थ पंच पंडवा, तेहिं पव्वयंतहिं पुत्तो रज्जे ठविओ,

---

१ न क्षमे न च वर्तते उत्पतितुं, तस्याप्यधृतिर्जाता भणति—वृद्ध ! एकदा कुत्रापि स्थितिमन्वेषय भणति—मार्गयामि यदि विनीतो भवसि एकदा नगरं यदि प्रव्रजितानां मूलं गतौ प्रव्रजिताः क्षुब्धाः स भणति—न करिष्यतीति तथापि नेच्छन्ति आचार्या भणन्ति—मैवं भवतार्या प्राघूर्णको भवतां अद्य कल्ये यास्यत इति स्थितौ तदा क्षुल्लकः त्रिशः २ उच्चारप्रस्रवणयोर्द्वादश भूमीः प्रतिलिख्य सर्वा समाचारीः (करोति) विभाषितव्या अवितथा साधवस्तुष्टाः, स निम्नकेऽमृतक्षुल्लको जातः तरतमयोगेन पञ्चापि प्रतिश्रयशतानि तानि समीकृतानि आराद्धानि निर्गन्तुं न ददति एव स पश्चात् स विनयोपगो जातः एव कर्तव्य । विनयोपग इति गतं इदानीं धृतिमतिरिति धृतौ यो मतिं करोति तस्य—तदोदाहरणगाथा । नगरी च पाण्डुमथुरा तत्र पञ्च पाण्डवाः, तैः प्रव्रजद्भिः पुत्रो राज्ये स्थापितः

ते अरिट्ठनेमिस्स पायमूले पव्वइया, हत्थकप्पे भिक्खं हिंडिता सुणेंति–अरहा सामी कालगओ, गहियं भत्तपाणं विगिंचित्ता सेत्तुंजे पव्वए भत्तपच्चक्खायं करेंति, णाणुप्पत्ती, सिद्धा य। तत्थ वसे अण्णो राया पंडुसेणो नाम, तस्स दो धूयाओ–मई सुमई य ताओ उज्जंते चेइयवंदियाओ सुरट्ठं चारिवसभेण [चारिवसभो नाम वहणं तेण] समुद्देण एइ, उप्पाइयं उट्ठियं, लोगो खंदरुद्दे नमंसइ, इमाहि धणियतरागं अप्पा संजमे ओइओ, एसो सो कालोत्ति, भिन्नं वहणं, संजयत्तंपि सिणायगत्तंपि कालगयाओ सिद्धाओ, एगत्थ सरीराणि उच्छलियाणि, सुट्ठिएण लवणाहिवइणा महिमा कया, देवुज्जोए ताहे तं पभासं तित्थं जायं, दोहिवि ताहि धीतीए मतिं करेंतीहि जोगा संगहिया, धितिमई पत्ति गयं १९, इयाणिं संवेगेत्ति, सम्यक् वेगः संवेगः तेण संवेगेण जोगा संगहिया भवति, तत्रोदाहरणगाथाद्वयं—

चंपाए मित्तपभे धणमित्ते धणसिरी सुजाते य। पियगू धम्मघोसे य अरक्खुरी चेव चंदघोसे य ॥ ११०२ ॥
वद्धजसा रायगिहे वारत्तपुरे अभयसेण वारत्ते। सुसुमार धुंधुमारे अंगारवई य पज्जोए ॥ ११०३ ॥

---

१ तेऽरिष्टनेमेः पादमूले प्रव्रजिताः, हस्तिकल्पे भिक्षामटन्तः शृण्वन्ति–यथा स्वामी कालगतः गृहीतं भक्तपानं त्यक्त्वा शत्रुञ्जये पर्वते भक्तप्रत्याख्यानं कुर्वन्ति ज्ञानोत्पत्तिः सिद्धाश्च। तत्र वसत्यन्यो राजा पाण्डुषेणो नाम तस्य द्वे दुहितरौ–मतिः सुमतिश्च, ते उज्जयन्ते चैत्यवन्दिके सुराष्ट्रं चारिवृषभेण प्रवहणेन समुद्रेण आयातः उत्पातः उत्थितः लोकः स्कन्दरुद्रौ नमस्यति आभ्यां धनिकतरमात्मा संयमे योजितः एष स काल इति भिन्नं प्रवहणं संयतत्वमपि स्नातकत्वमपि कालगते सिद्धे एकत्र शरीरे उच्छलिते सुस्थितेन लवणाधिपतिना महिमा कृतः देवोद्योते तत्र प्रभासाख्यं तत्तीर्थं जातं, द्वाभ्यामपि ताभ्यां धृतौ मतिं कुर्वतीभ्यां योगाः संगृहीताः। धृतिमतिरिति गतं इदानीं संवेग इति तेन संवेगेन योगाः संगृहीता भवन्ति।

संजमे समाहितवरो जाओ, णाणमुप्पण्णं, जाव सिद्धो ११ । समाहित्ति गयं, आयारेत्ति इयाणिं, आयारउवगच्छणयाए योगाः समुच्यन्ते, एत्थोदाहरणगाहा—

पाडलिपुत्त हुयासण जलणसिहा चेव जलणदहणे य । सोहम्मपलियपणए आमलकप्पाइ णट्टविही ॥ १२९९ ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—पाडलिपुत्ते हुयासणो माहणो, तस्स भज्जा जलणसिहा, सावगाणि, तेसिं दो पुत्ता–जलणो दहणो य, चत्तारिवि पव्वइयाणि, जलणो उज्जुसंपण्णो, दहणो मायाबहुलो, एहित्ति वच्चइ, वच्चाहि एइ, सो तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंतो कालगओ, दोवि सोधम्मे उववण्णा सक्कस्स अब्भिंतरपरिसाए, पंच पलिओवमाति ठिती, सामी समोसढो आमलकप्पाए अंबसालवणे चेइए, दोवि देवा आगया, नट्टविहिं दापेंति दोवि जणा, एगो उज्जुगं विउव्विस्सामित्ति उज्जुग विउव्वइ, इमस्स विवरीयं, तं च दट्ठूण गोयमसामिणा सामी पुच्छिओ, ताहे सामी तेसिं पुव्वभवं कहेइ–मायादोसोत्ति,

---

1 संयमे समाहितवरो जातः ज्ञानमुत्पन्नं यावत् सिद्धः । समाहितेति गतं आचार इतीदानीं आचारोपगततया योगाः अत्रोदाहरणगाथा । पाटलिपुत्रे हुताशनो ब्राह्मणः तस्य भार्या ज्वलनशिखा श्राविका, तयोर्द्वौ पुत्रौ–ज्वलनो दहनश्च चत्वारोऽपि प्रव्रजिताः ज्वलन ऋजुसंयतः दहनो माया बहुलः, आयाहीति भणति अन्यत्र गच्छति स तस्य स्थानस्यानालोचितप्रतिक्रान्तः कालगतः द्वावपि सौधर्मे शक्रस्य अभ्यन्तरपर्षदि पञ्च पल्योपमानि स्थितिः, स्वामी समवसृतः आमलकल्पायामाम्रशालवने चैत्ये द्वावपि देवावागतौ नृत्यविधिं दर्शयतः द्वावपि अन्यौ एक ऋजु विकुर्वामीति ऋजुकं विकुर्वति, अन्यः विपरीतं, तच्च दृष्ट्वा गौतमस्वामिना स्वामी पृष्टः तदा स्वामी तयोः पूर्वभवं कथयति–मायादोष इति

एवं आपारोवणमवणेण जोगा संगहिया भवति १४। आयारोवणेत्ति गयं, इयाणिं सिमओवगयत्तणेण जोगा संगहिया भवंति, तस्स उदाहरणगाहा—

उज्जेणी अवरिसी मालुग तह निंबए य पव्वज्जा। संकमणा य परगणे अविणय विणए य पडिवत्ती॥ १६००॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेद—उज्जेणीए अंबरिसी माहणो, मालुगा से भज्जा, सड्डाणि, निंबगो पुत्तो, मालुगा कालगया, सो पुत्तेण सम पव्वइओ, सो दुव्विणीओ काइयभूमीए कंटए निक्खिवइ सज्झायं पट्ठविस्साणे छीयइ, असज्झायं करेइ, सव्वं च सामायारी वितहं करेइ, कालं उवहणइ, ताहे पव्वइया आयरियं भणंति—अहवा एसो अच्छउ अहया अम्हेत्ति, निच्छूढो, पियावि से पिट्ठओ जाइ, अन्नस्स आयरियस्स मूलं गओ, तत्थवि निच्छूढो, एवं किर उज्जेणीए पंच पडिस्सगसयाणि सव्वाणि हिंडियाणि, निच्छूढो य सो संतो सन्नाभूमीए रोवइ, सो भणइ—किं खंता! रोयसित्ति?, तुमं नामं कयं निंबओत्ति एयं न अण्णहत्ति, एएहिं सयमागेहिं आयारेहिं तुज्झंतेण एण्हिं च थक्केवि ठायं

1 एवमापादोपनयनतया योगाः संगृहीता भवन्ति। आचारोपण इति गतं इदानीं विनयोपगतत्वेन योगाः संगृहीता भवन्ति तस्योदाहरणगाथा। उज्जयिन्यामम्बर्षिर्ब्राह्मणः मालुका तस्य भार्या, श्राद्धो निम्बकः पुत्रः। मालुका कालगता स पुत्रेण समं प्रव्रजितः स दुर्विनीतः कायिकीभूमौ कण्टकान् निक्षिपति स्वाध्यायं प्रस्थापयत्सु (साधुषु) क्षौति अस्वाध्यायं करोति सर्वां च सामाचारी वितथां करोति कालमुपहन्ति तदा प्रव्रजिता आचार्यं भणन्ति—अथ वैष तिष्ठतु अथवा वयमिति निष्काशितः, पिताऽपि तस्य पृष्ठे याति अन्यस्याचार्यस्य मूलं गतः तत्रापि निष्काशितः एवं किलोज्जयिन्यां पञ्च प्रति-श्रयशतानि सर्वाणि हिण्डितौ निष्काशितश्च सः संज्ञाभूमौ रोदिति स भणति—किं क्षान्त? रोदिषीति?, त्वं नाम इदं निम्बक इति एतावन्मात्रेणैव पूर्वं मार्गैः (ताणि) रायुकाश्रमति स्थिति

ताहे सो त भणइ–सोर्यंति, भणइ–सच्चंति, पुच्छिओ किं सच्च ?, पुणो ओहासइ, वासुदेवेण भणियं–जदि त एवं पुच्छिय तहिं एयंपि पुच्छियं होंतति खिंसिओ, तेण भणिय–सच्चं भट्टारओ न पुच्छिओ, विचिंतेउमारद्धो, जाई सरिया, पच्छा अतीव सोयंतो पत्तेयबुद्धो जाओ, पढमज्झयण सो चेव वदइ, एवं सोएण जोगा समाहिया भवंति ११। सोएत्ति गय, इयाणि सम्मदिट्ठित्ति, समदंसणविसुद्धीएवि किल योगाः सङ्गृह्यन्ते, तत्थ उदाहरणगाहा—

सागेयम्मि महाबल विमलपहे चेव चित्तकम्मे य। निप्फत्ति छट्ठमासे भूमीकम्मस्स करण य ॥ १२९७ ॥

अस्या व्याख्या कथानकादवसेया, साएए महब्बलो राया, अत्थाणीए दूओ पुच्छिओ–किं नत्थि मम ज अन्नसिं रायाण अत्थित्ति ?, चित्तसभत्ति, कारिया, तत्थ दोण्णि चित्तकरायमसिमा विक्खाता विमला प्रभाकरश्च, तेसिं अद्धद्धेण अप्पिया, जवणियंतरिया चित्तेइ, एगेण निम्मवियं, एगेण भूमी कया, राया तस्स तुट्ठो, पूइयो य पुच्छिओ य,–प्रभाकरो पुच्छिओ भणइ–भूमी कया, न ताव चित्तेमित्ति, राया भणइ–केरिसया भूमी कयत्ति ?, जवणिया अवणीया, इयर चित्त कम्मं

१ तदा स तं भणति–शौचमिति भणति सत्यमिति पृष्टः किं सत्यं ? पुनरपभ्राजते वासुदेवेन भणितं–यत्र एवमेव पृष्टं तत्रेदमपि प्रष्टव्यमभविष्यदिति निर्भर्त्सितः, तेन भणितं–सत्यं भट्टारको न पृष्टः विचिन्तयितुमारब्धः जातिः स्मृता पश्चादतीव शोचयन् प्रत्येकबुद्धो जातः प्रथममध्ययनं स एव (वदति) वदति। एवं शौचेन योगाः संगृहीता भवन्ति। शौचमिति गत इदानीं सम्यग्दृष्टिरिति सम्यग्दर्शनविशुद्धयापि तत्रोदाहरणगाथा। साकेते महाबलो राजा आस्थान्यां दूतः पृष्टः–किं नास्ति मम यदन्येषां राज्ञां अस्ति ? चित्रसभेति कारिता तत्र द्वौ चित्रकरौ तावन्मात्रौ अर्धार्धेन अर्पितवान् यवनिकान्तरितौ चित्रयतः एकेन निर्मितं एकेन भूमी कृता राजा तस्मै तुष्टः पूजितश्च पृष्टश्च प्रभाकरः पृष्टो भणति–भूमी कृता न तावत् चित्रयामीति, राजा भणति–कीदृशी भूमिः कृतेति, यवनिकाऽपनीता इतरचित्रकर्म

निम्मकयरं दीसइ, राया कुविओ, विसविओ–पभा एत्थ संकंतत्ति, तं छाइयं, नवरं कुंडं, तुडेण एवं चेव अच्छउत्ति भणिओ, एवं संमत्तं विसुद्धं कायव, तेनैव योगाः सगृहीता भवन्ति १२। सम्यग्दष्टिरिति गतं, इयाणिं समाहित्ति समाधान, तस्योदाहरणगाहा—

णयर सुदसणपुर सुसुणाए सुजस सुव्वए चेव। पव्वज्ज सिक्खमादी एगविहारे य फासणया ॥ १२९८ ॥

व्याख्या–कथानकादवसेया, तच्चेदम्—सुदंसणपुरे सुसुनागो गाहावई, सुजसा से भज्जा, सङ्गाणि, ताण पुत्तो सुव्वओ नाम सुहेण गब्भे अच्छिओ सुहेण वड्ढिओ एवं जाव जोव्वणत्थो संबुद्धो आपुच्छित्ता पव्वइओ पढिओ, एक्कल्लविहारपडिमं पडिवण्णो, सक्कपसंसा, देवेहिं परिक्खिओ अणुकूलेण, धण्णो कुमारबंभचारी एगेण, बीएण को एयाओ कुलसंताणच्छेदगाओ अधण्णोत्ति?, सो भगवं समो, एवं मायापियाणि सविसयपसत्ताणि दंसियाणि, पच्छा मारिज्जंतगाणि, कलुणं कूवेंति, तहावि समो, पच्छा सव्वोउय पिउविता दिव्वाए इत्थियाए सविब्भम पलोइयं मुक्कदीहनीसाससगूहो, तहावि

1 निर्मक्तरं दृश्यते राजा कुपितः, विषाक्तः–प्रभाऽत्र संक्रान्तेति तच्छादितं नवरं कुण्डं तुष्टेनैवमेव तिष्ठत्विति भणितः एवं सम्यक्त्वं विशुद्धं कर्त्तव्यं। इदानीं समाधिरिति तस्योदाहरणगाथा। सुदर्शनपुरे शिशुनागः श्रेष्ठी सुयशास्तस्य भार्या श्राद्धे, तयोः पुत्रः सुव्रतो नाम सुखेन गर्भे स्थितः सुखेन वृद्धः एवं यावत् यौवनस्थः संबुद्धः आपृच्छ्य प्रव्रजितः पठितः एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपन्नः शक्रप्रशंसा देवैः परीक्षितोऽनुकूलेन धन्यः कुमारब्रह्मचारी एकेन द्वितीयेन क एतस्मात् कुलसन्तानच्छेदकादधन्य इति?, स भगवान् समः, एवं मातापितरौ सविषयप्रसक्तौ दर्शितौ, पश्चात् मार्यमाणौ करुणं कूजतः, तथापि समः, पश्चात् सर्वर्त्तुकवनं विकुर्वितं दिव्यया स्त्रिया सविभ्रमं प्रलोकितं मुक्तदीर्घनिःश्वाससगूढः तथापि

अण्णे भणंति—एएहिं सेण्णिहिएहिं मग्गिओ, दयाए न देइ, नियसरीरसपसंडपयअणेण कतिवयसंडेसु कएसु सेट्ठी चिंतेइ—अहोऽहं धण्णो ! जेण इमाए वेयणाए पाणिणो ण ओइयत्ति, सत्तं परिक्खिऊण सुरवरो सयं चेव पडिबुद्धो, पिहमया या कया, एए देवाधुषि: श्रावकत्वं, सर्वज्ञुची सामिस्स दो सीसा—धम्मघोसो धम्मजसो य, एगस्स असोगवरपायवस्स हेट्ठा गुणेंति, से पुव्वण्हे ठिया अवरण्हवि छाया ण परावत्तइ, एगो भणइ—तुम्ह सिद्धी, बीओ भणइ—तुम्ह लद्धी, एगो काइग भूमीए गओ, बितिओवि तहेव, नायं जहा एगस्सवि न होइ एस लद्धी, पुच्छिओ सामी—कहेइ तस्स उप्पत्ती—

सोरियससुद्दविजए जन्नजसे चेव जन्नदत्ते य । सोमित्ता सोमजसा उंछविही नारदुप्पत्ती ॥ १२९५ ॥

अणुकंपा वेयड्डो मणिकंचण वासुदेव पुच्छा य । सीमंधरजुगबाहू जुगंधरे चेव मद्दबाहू ॥ १२९६ ॥

गाथाद्वितयम्, अस्य व्याख्या—सोरियपुरे समुद्दविजओ जया राया आसि तया जण्णजसो तावसो आसी, तस्स भज्जा सोमित्ता, तीसे पुत्तो जन्नदत्तो, सोमजसा सुण्हा, ताण पुत्तो नारदो, ताणि उंछवित्तीणि, एगदिवसं जेमेंति एगदिवसं

1 अन्ये भणन्ति—अतेषु सन्निहितेषु मार्गितः दयया न ददाति निजशरीरखण्डखण्डैः अपपमाने कतिपयेषु खण्डेषु कृतेषु श्रेष्ठी चिन्तयति—अहो अहं धन्यो येन अनयाऽनया वेदनया प्राणिनो न योजिता इति सत्त्वं परीक्ष्य सुरवरः स्वयमेव प्रतिबुद्धः पिहमया वा कृता। । स्वामिनो द्वौ शिष्यौ—धर्मघोषो धर्मयशाश्च एकस्य वराशोकपादपस्याधस्तात् गुणयन्तौ तौ पूर्वाह्ने स्थितौ अपराह्णेऽपि छाया न परावर्तते एको भणति—तव सिद्धिः द्वितीयो भणति—तव लब्धिः एकः कायिकीभूमिं गतः द्वितीयोऽपि तथैव, ज्ञात यथा नैकस्याप्येषा लब्धिरस्ति, पृष्टः स्वामी कथयति तस्योत्पत्तिं । शौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयो यदा राजाऽऽसीत् तदा यज्ञयशास्तापस आसीत् तस्य भार्या सौमित्री आसीत् तस्याः पुत्रो यज्ञदत्तः, सोमयशाः सुषा तयोः पुत्रो नारदः तानुञ्छवृत्तीन्येक-स्मिन् दिवसे जेमन्त एकस्मिन् । २ गइपदि

देवयाओ करेति, ताणि तं नारदं असोगरुक्खहेट्ठे पुत्तगं ठविऊण दिवसं पडंति, इओ य वेयड्ढाए वेसमणकाइया देवा जंभगा तेणं २ वीतीवयंति, पेच्छंति दारगं, ओहिणा आभोएंति, सो ताणं देवनिकायाओ चुओ तो तं अणुकंपाए तं छाहिं थंभेंति–दुक्खं उण्हे अच्छइत्ति, पडिनियत्तेहिं नीसीहिओ सिक्खाविओ य–पण्णत्तवस्, केइ भणंति–एसा असोग-पुच्छा, नारदुप्पत्ती य, सो उम्मुक्कबालभावो तेहिं देवेहिं पुव्वभवपियत्ताए विज्जाजंभएहिं पन्नत्तिमादियाओ सिक्खाविओ, सो मणिपादुयाहिं कंचणकुंडियाए आगासेण हिंडइ, अण्णया बारवइमागओ, वासुदेवेण पुच्छिओ–किं सोयं इति ?, सो ण तरति वियागरेउं, सक्खेवो कओ, अण्णाए कहाए उट्ठेत्ता पुव्वविदेहे सीमंधरसामिं जुगबाहुवासुदेवो पुच्छइ–किं सोयं ?, तित्थगरो भणइ–सच्चं सोयंति, तेण एगेण पएण सव्वं पज्जाएहिं ओवधारियं, पुणो अवरविदेहं गओ, जुगंधरतित्थगरं महाबाहू नाम वासुदेवो पुच्छइ तं चेव, तस्सवि सक्खं उवगयं, पच्छा बारवइमागओ वासुदेवं भणइ–किं ते तया पुच्छियं ?,

---

1 दिवसे चरणार्थं गच्छतः, तौ च नारदमशोकवृक्षस्याधस्तात् पूर्वाह्णे स्थापयित्वोच्छतः, इतश्च वैताढ्ये वैश्रमणकायिका देवा जृम्भकास्तेनाध्वना व्यतिव्रजन्ति प्रेक्षन्ते दारकं, अवधिनाऽऽभोगयन्ति स तेषां देवनिकायाच्च्युतः, ततस्तदनुकम्पया तां छायां स्तम्भयन्ति–दुःखमुष्णे तिष्ठतीति प्रतिनिवृत्तैः शिक्षितः (मुक्ता विद्याः) शिक्षिता, केचिद् भणन्ति–एषाऽशोकवृक्षस्य नारदोत्पत्तिश्च उन्मुक्तबालभावस्तैः पूर्वभवपितृतया विद्याजृम्भकैः प्रज्ञप्त्यादिकाः शिक्षितः स मणिपादुकाभ्यां काञ्चनकुण्डिकयाऽऽकाशेन हिण्डते, अन्यदा द्वारवतीमागतो, वासुदेवेन पृष्टः–स न शक्नोति वक्तुं, संक्षेपः कृतः अन्यया कथयोत्थाय पूर्वविदेहेषु सीमन्धरस्वामिनं युगबाहुवासुदेवः पृच्छति– किं शौचं? तीर्थकरो भणति–सत्यं शौचमिति तेनैकेन पदेन सर्वं पर्यायैरवधारितं पुनरपरविदेहेषु युगन्धरतीर्थंकरं महाबाहुनामा वासुदेवः पृच्छति तदेव तस्यापि साक्षादुपगतं, पश्चात् द्वारवतीमागतो वासुदेवं भणति–किं त्वया तदा हरी

चत्तारि कसाया जहा ते वावीसं कुमारा तहा वावीस परीसहा जहा ते दो मणूसा तहा रागद्दोसा जहा धितिगा विधेयणा तहा आराहणा जहा निव्वुत्तीदारिया तहा सिद्धी। विविक्खत्ति गय ९, इयाणिं अज्जवत्ति, अज्जव नाम उज्जुयत्तणं, तत्थुदाहरणगाहा—

चंपाए कोसियज्जो अंगरिसी रुद्दए य आणत्ते। पथग जोइजसाविय अब्भक्खाणे य संबोही ॥ ११९१ ॥

इमीए वक्खाण—चंपाए कोसिअज्जो नाम उवज्झाओ, तस्स दो सीसा—अंगरिसी रुद्दओ य, अंगओ भद्दओ, तेण से अंगरिसी नाम कय, रुद्दओ सो गंठिछेदओ, ते दोवि तेण उवज्झाएण दारुगाण पट्ठविया, अंगरिसी अडवीओ भारं गहाय पडिएत्ति, रुद्दओ दिवसे रमित्ता वियाले सभरिय ताहे पट्ठाविओ अडविं, त च पेच्छइ दारुगभारएण एन्तग चिंतेइ य—निच्छूढोमि उवज्झाएणंति, इओ य जोइजसा नाम वच्छवाली पुत्तस्स पंथगस्स भत्त नेऊण दारुगभारं एण एइ, रुद्दएण सा एगाए खड्डाए मारिया, तं दारुगभारं गहाय अण्णेण मग्गेण पुरओ आगओ उवज्झायस्स हत्थ

[illegible]

भुणमाणो कहेइ—जहा णेण तुज्झ सुंदरसीसेण ओहअसा मारिया, रमणविभासा, सो आगओ, भाविओ धणसंवे चिंतेइ—सुह ज्झवसाणेण जाती सरिया संजमो केवलनाणं देवा महिमं करेंति, देवेहिं कहियं, जहा एएण अब्भक्खाणं दिन्नं, रुद्दगो लोगेण हीलिज्जइ, सो चिंतेइ—सच्चं मए अब्भक्खाणं दिन्नं, सो चिंतेंतो संबुद्धो पत्तेयबुद्धो, इयरो बंभणो बंभणी य दोवि पव्वइयाणि, तप्पच्चयाणाणि सिद्धाणि चत्तारिवि, एवं कायव्वं वा न कायव्वं वेति १०। भणियमित्ति गयं, इयाणिं सुइत्ति, सुइं नाम सच्चं, सच्चं च संजमो, सो चेव सोयं, सत्यं प्रति योगाः समृहीता भवन्ति, तत्रोदाहरणगाथा—

सोरिअ सुरवरेवि अ सिट्ठी अ धणंजए सुभद्दा य। वीरे अ धम्मघोसे धम्मजसेऽसोगपुच्छा य ॥ १२९४ ॥

सोरियपुरं णयरं, तत्थ सुरवरो जक्खो, तत्थ सेट्ठी धणंजओ नाम, तस्स भज्जा सुभद्दा, तेहिं सुरवरो नमंसिओ, पुत्तकामेहिं उवाइय सुरवरस्स कयं—जइ पुत्तो आयइ तो महिससएणं अच्चणं करेमि, ताणं संपत्ती जाया, ताणि संबुज्झेहिंति सामी समोसढो, सेट्ठी निग्गओ, संबुद्धो, अणुव्वयाणि गिण्हामित्ति जाइ जक्खो अणुजाणइ, सोवि अक्खो उवसामिओ,

---

1 रुद्रदत्तकथयति—यथाऽनेन तव सुन्दरशिष्येण ज्योतिर्वेधा मारिता रमणविभाषा स आयातः निर्वासितो धनतृष्णे चिन्तयति—शुभाध्यवसायेन जातिः स्मृता संयमः केवलज्ञानं महिमानं देवाः कुर्वन्ति देवैः कथितं यथैतेनाभ्याख्यानं दत्तं, रुद्रको लोकेन हील्यते स चिन्तयति—सत्यं मयाभ्याख्यानं दत्तं स चिन्तयन् संबुद्धः प्रत्येकबुद्धः इतरो ब्राह्मणो ब्राह्मणी च द्वे अपि प्रव्रजिते तत्प्रत्ययाज्ज्ञानाच्चत्वारोऽपि सिद्धाः। एवं कर्तव्यं वा न कर्तव्यं वेति। भणितमिति गतं इदानीं शुचिरिति शुचिर्नाम सत्यं, सत्यं च संयमः स एव शौचं शौरिपुरं नगरं तत्र सुरवरो यक्षः तत्र श्रेष्ठी धनञ्जयो नाम तस्य भार्या सुभद्रा नाम्ना सुरवरो नमस्कृतः पुत्रकामाभ्यामुपयाचितं सुरवरस्य कृतं—यदि पुत्रो भविष्यति तर्हि महिषशतेन पूजां करिष्यामि तयोः संपत्तिर्जाता तानि संभोत्स्यन्त इति स्वामी समवसृतः, श्रेष्ठी निर्गतः, संबुद्धः अणुव्रतानि गृह्णामीति यदि यक्षोऽनुजानीते सोऽपि यक्ष उपशान्तः,

चत्तारि कसाया जहा ते बावीसं कुमारा तहा बावीस परीसहा जहा ते दो मणूसा तहा रागदोसा जहा धिसिगा विपेयया तहा आराहणा जहा निज्जुसीदारिया तहा सिद्धी । तितिक्खत्ति गयं ९, इयाणिं अज्जवत्ति, अज्जव नाम उज्जुयत्तणं, तदुदाहरणगाहा—

चंपाए कोसियज्जो अंगरिसी रुद्दए य आणत्ते । पंथग जोइजसाविय अब्भक्खाणे य सपोही ॥ १२९३ ॥

इमीए वक्खाणं—चंपाए कोसिअज्जो नाम उवज्झाओ, तस्स दो सीसा—अंगरिसी रुद्दओ य, अंगओ भद्दओ, तेण से अंगरिसी नाम कयं, रुद्दओ सो गंठिछेदओ, ते दोवि तेण उवज्झाएण दारुगाण पट्ठविया, अंगरिसी अडवीओ भारं गहाय पडिएति, रुद्दओ दिवसे रमित्ता वियाले संभरिय ताहे पहाविओ अडविं, तं च पेच्छइ दारुगभारएण एन्तगं, चिंतेइ य—निच्छूढोमि उवज्झाएणत्ति, इओ य जोइजसा नाम वच्छवाली पुत्तस्स पंथगस्स भत्तं नेऊण दारुगभारएण एइ, रुद्दएण सा एगाए खड्डाए मारिया, तं दारुगभारं गहाय अण्णेण मग्गेण पुरओ आगओ उवज्झायस्स हाथ

1 चत्वारः कषाया यथा ते द्वाविंशतिः कुमारास्तथा द्वाविंशतिः परीषहा यथा तौ द्वौ पुरुषौ तथा रागद्वेषौ यथा दुर्बलिका वेदध्या यथाऽऽराधना तथा निर्यूथिदारिका तथा सिद्धिः । तितिक्षेति गतं इदानीमार्जवमिति आर्जवं नाम ऋजुत्वं तदुदाहरणगाथा अथवा व्याख्यान—चम्पायां कौशिकार्यो नामोपाध्यायः तस्य द्वौ शिष्यौ—अङ्गर्षिः रुद्रकश्च अङ्गको भद्रकस्तेन तस्याङ्गर्षिः नाम कृतं रुद्रकः स ग्रन्थिच्छेदकः तौ द्वावपि तेनोपाध्यायेन दारुकेभ्यः प्रस्थापितौ अङ्गर्षिरटवीतो भारं गृहीत्वा समेति रुद्रको दिवसे रन्त्वा विकाले स्मृतं यदा तदा प्रधावितोऽटवीं, तं च प्रेक्षते दारुकभारेणागच्छन्तं चिन्तयति च निष्काशितो उपाध्यायेनेति इतश्च ज्योतिर्यशा नाम वत्सपालिका पुत्रस्य पन्थकस्य भक्तं नीत्वा दारुकभारेणागच्छति सा रुद्रकेण गर्तायां मारिता तं दारुकभारं गृहीत्वाऽन्येन मार्गेण पुरत आगत उपाध्यायस्य हस्ते

धुणमाणो करेइ—अहो णेण तुम्ह सुंदरसीसेण ओइअसा मारिया, रमणविमासा, सो आगओ, भाविओ वणसंडे चिंतेइ—सुह ज्झवसाणेण खाती सरिया संजमो केवलनाणं देवा महिमं करेंति, देवेहिं कहिय, अहो एएण अब्भक्खाणं दिन्नं, कहगो लोगेण हीलिज्जइ, सो चिंतेइ—सच्चं मए अब्भक्खाणं दिन्नं, सो चिंतेंतो संबुद्धो पत्तेयबुद्धो, इयरो बंभणो बंभणी य दोवि पव्वइयाणि, सप्पण्णणाणाणि सिद्धाणि चत्तारिवि, एवं कायव्वं वा न कायव्व वेति १०। अज्जवत्ति गयं, इयाणिं सुइत्ति, सुई नाम सच्चं, सच्चं च संजमो, सो चेव सोयं, सत्यं मति योगाः सङ्गृहीता भवन्ति, तथोदाहरणगाथा—

सोरिअ सुरवरेवि अ सिट्ठी अ धणंजए सुभद्दा य। वीरे अ धम्मघोसे धम्मजसेऽसोगपुच्छा य ॥ ११९४ ॥

सोरियपुरं णयरं, तत्थ सुरवरो जक्खो, तस्स सेठी धणंजओ नाम, तस्स भज्जा सुभद्दा, तेहिं सुरवरो नमंसिओ, पुत्तकामेहिं उवाइयं सुरवरस्स कयं—जइ पुत्तो जायइ तो महिससएणं अच्चं करेमि, ताणं संपत्ती जाया, ताणि संबुज्झेहिन्ति सामी समोसढो, सेठी निग्गओ, संबुद्धो, अणुव्वयाणि गिण्हामित्ति जइ जक्खो अणुजाणइ, सोवि जक्खो उवसामिओ,

---

१ हाहा कथयति—अनेन तव सुन्दरशिष्येण ओष्ठिकेन मारिता रमणविमासा, स आगतः भावितो वनखण्डे चिन्तयति—शुभाध्यवसायेन खातिः स्मृता संयमः केवलज्ञानं महिमानं देवाः कुर्वन्ति देवैः कथित अनेनाभ्याख्यानं दत्तं कथको लोकेन हील्यते स चिन्तयति—सत्यं मयाभ्याख्यान दत्त स चिन्तयन् संबुद्धः प्रत्येकबुद्धः इतरो ब्राह्मणो ब्राह्मणी च द्वे अपि प्रव्रजिते उत्पन्नज्ञानात्पोऽपि सिद्धाः। एवं कर्तव्यं वा न कर्तव्य वेति। आर्जवमिति गतं इदानीं शुचिरिति, शुचिर्नाम सत्य, सत्यं च संयमः स एव शौच सौर्यपुरं नगरं तत्र सुरवरो यक्षः तत्र श्रेष्ठी धनञ्जयो नाम तस्य भार्या सुभद्रा ताभ्यां सुरवरो नमस्कृतः पुत्रकामाभ्यामुपयाचितं सुरवरस्य कृत—यदि पुत्रो भविष्यति तर्हि महिषशतेन अर्चां करिष्यामि, ततो संपत्तिर्जाता तानि संभात्स्यत इति स्वामी समवसृतः, श्रेष्ठी निर्गतः, संबुद्धः, अणुव्रतानि गृह्णामीति यदि यक्षोऽनुजानीते सोऽपि यक्ष उपशान्तः।

जहा सा एइ, हट्ठतुट्ठो, उस्सियपडागं णयरं कयं, रंगो कओ, तत्थ चक्कं, एगंमि अक्खे अट्ठ चक्काणि, तेसिं पुरओ धीया ठविया, सा पुण विंधियव्वा, राया सबलो निग्गओ सह पुत्तेहिं, ताहे सा कण्णा सव्वालंकारविभूसिया एगंमि पासे अच्छइ, सो रंगो रायाणो य ते य दंडभडभोइया आरिसो दोवतीए, तत्थ रण्णो जेट्ठपुत्तो सिरिमाली कुमारो, एसा दारिया रज्जं च भोत्तव्वं, सो तुट्ठो, अहं नूणं अण्णेहिंतो राईहिं अब्भहिओ, ताहे सो भणिओ-विंधाहित्ति, ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे तं धणुं घेत्तूण चेव न चाएइ, किहवि अणेण गहियं, तेण जत्तो वच्चइ तत्तो वच्चइत्ति कंडं मुक्कं, एवं कस्सइ एगं अरयं वोलिय कस्स दो तिण्णि अण्णेसिं बाहिरेण चेव निंति, तेणावि अमच्चेण सो नत्तुगो पसाहिउं तद्दिवसमाणीओ तत्थऽच्छइ, ताहे सो राया ओहयमणसंकप्पो करयलपल्हत्थमुहो-अहो अहं पुत्तेहिं लोगमज्झे विगोविओत्ति अच्छइ, ताहे सो अमच्चो पुच्छइ-किं तुब्भे देवाणुप्पिया ओहय जाव झियायह ?, ताहे सो भणइ-

---

१ यथा सैति हृष्टतुष्टः, उच्छ्रितपताकं नगरं कृतं रङ्गः कृतः, तत्र चक्रं, एकस्मिन् अक्षे अष्ट चक्राणि तेषां पुरतः पुत्तलिका स्थापिता सा पुनर्वेद्धव्या राजा सबलो निर्गतः सह पुत्रैः तदा सा कन्या सर्वालङ्कारविभूषिता एकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठति स रङ्गः ते राजानो दण्डिकभटभोजिका यादृशो द्रौपद्याः तत्र राज्ञो ज्येष्ठः पुत्रः श्रीमाली कुमारः एषा दारिका राज्यं च भोक्तव्यं स तुष्टः अहं नूनमन्यराजभ्योऽभ्यधिकः तदा स भणितः-विध्येति तदा सोऽकृतकरणस्तस्य समूहस्य मध्ये तद्धनुर्ग्रहीतुमेव न शक्नोति कथमप्यनेन गृहीतं तेन यतो गच्छति ततो गच्छतीति काण्डं मुक्तं, एवं कस्यचिदेकमरकं व्यतिक्रान्तं कस्यचिद् द्वौ त्रीणि अन्येषां बहिरेव निर्गच्छति तेनाप्यमात्येन स नप्ता प्रसाध्य तद्दिवसमानीतस्तत्र तिष्ठति, तदा स राजोपहतमनःसंकल्पः करतलन्यस्तमुखः अहो अहं पुत्रैर्लोकमध्ये विगोपित इति तिष्ठति तदा सोऽमात्यः पृच्छति-किं यूयं देवानुप्रिया अपहतमनःसंकल्पा यावद् ध्यायथ ? तदा स भणति-

वेयरिं जाहे कयुईकमो, ताहे भणइ—अत्थि पुत्तो तुब्भं अण्णोवि, कहिं ?, सुरिंददत्तो नाम कुमारो, तं सोवि ता विण्णा-
सउ मे, ताहे तं राया पुच्छइ—कओ मम एस पुत्तो ?, ताहे ताणि सिट्ठाणि रहस्साणि, ताहे राया तुट्ठो भणइ—सेयं तव
पुत्ता ! एए अट्ठ चक्के भेत्तूण रज्जसोक्खं निव्वुइदारियं पाविहिह, ताहे सो कुमारो ठाणं आलीढं ठाइऊण गिण्हइ धणू,
लक्खाभिमुहं सरं संधेइ, ताणि चेडरूवाणि ते य कुमारा समंतओ रोडंति, अण्णे य दोण्णि पुरिसा असिग्गहत्था, ताहे सो
पणामं रण्णो उवज्झायस्स य करेइ, सोवि से उवज्झाओ भयं दावेइ—एए दोण्णि पुरिसा जइ फिडिसि सीसं ते छिंदइ (छिंदंति)
तेसिं दोण्हवि पुरिसाण ते य चत्तारि ते य बावीसं अगणंतो ताण अट्ठण्हं रहचक्काणं छिड्डं जाणिऊण एगंमि छिड्डे नाऊण
अच्छियाए दिट्ठीए तंमि लक्खे तेण अण्णंमि य मणं अकुणमाणेण सा धीइगा अच्छिंमि विद्धा, तत्थ उक्कुट्ठिसीहनाय-
साहुकारो दिण्णो, एसा दव्वट्ठितिक्खा, एसा चेव विभासा भावे, उवसंहारो जहा कुमारो तहा साहू जहा ते चत्तारि तहा

---

1 एवंविधे व्यतिकरे तदा भणति—अस्ति पुत्रो युष्माकमन्योऽपि, क ? सुरेन्द्रदत्तो नाम कुमारः, तत् सोऽपि तावत् परीक्ष्यतां मम तदा तं राजा पृच्छति—कुतो मम पुत्र एषः, तदा तानि शिष्टानि रहस्यानि, तदा राजा तुष्टो भणति—श्रेयस्तव पुत्र ! एतानि अष्ट चक्राणि भित्त्वा राज्यसौख्यं निर्वृतिं दारिकां च प्राप्नुहि, तदा च कुमारः स्थानमालीढं स्थित्वा गृह्णाति धनुः लक्ष्याभिमुखं शरं संदधाति ते चेटरूपाः च कुमाराः सर्वतो कोलाहलं कुर्वन्ति अन्यौ च द्वौ पुरुषौ गृहीतासी पार्श्वे स्थितौ तदा च प्रणामं राज्ञ उपाध्यायस्य च करोति सोऽपि उपाध्यायो भयं दर्शयति—एतौ द्वौ पुरुषौ यदि स्खलसि शीर्षं ते पातयिष्यतः। तौ द्वावपि पुरुषौ तांश्च चतुरश्चेटान् द्वाविंशतिं कुमारांश्च अगणयन् तेषामष्टानां रथचक्राणां छिद्रं ज्ञात्वा एकस्मिन् छिद्रे ज्ञात्वा अनिमिषया दृष्ट्या तस्मिन् लक्ष्ये अन्यस्मिंश्च मनोऽकुर्वता तेन सा पुत्तलिकाऽक्षिणि विद्धा उत्कृष्टसिंहनादसाधुकारो दत्तः, एषा द्रव्यस्थितिः, एवमेव विभाषा भावे, उपसंहारो यथा कुमारस्तथा साधुः यथा ते चत्वारस्तथा

जहा सा पइ, इंदपुरो, इंदपुरगागे णयरे कयं, रंगो कओ, तत्थ चक्कं, एग्य एगंमि अक्खे अट्ठ चक्काणि, तेसिं पुरओ धीया ठविया, सा पुण विंधियव्वा, राया सबलो निग्गओ सह पुत्तेहिं, ताहे सा कण्णा सव्वालंकारविभूसिया एगमि पासे अच्छइ, सो रंगो रायाणो य ते य दंडभडभोइया सारिसो दीवसीए, तत्थ रण्णो जेट्ठपुत्तो सिरिमाली कुमारो, एसा दारिया रज्जं च भोत्तव्वं, सो तुट्ठो, अहं नूणं अण्णेहिंतो राईहिं अब्भहिओ, ताहे सो भणिओ-विंधहत्ति, ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे त धणुं घेत्तूण चेव न चाएइ, किहवि अणेण गहियं, तेण अत्तो वच्चइ तत्तो वच्चइत्ति कंडं मुक्कं, एवं कस्सइ एगं अरयं वोलिय कस्स दो तिण्णि अण्णेसिं बाहिरेण चेव निंति, ताहेवि अमच्चेण सो नत्तुगो पसाहिय सदिवसमाणीओ तत्थऽच्छइ, ताहे सो राया ओहयमणसंकप्पो करयलपल्हत्थमुहो-अहो अहं पुत्तेहिं लोगमज्झे विगोविओत्ति अच्छइ, ताहे सो अमच्चो पुच्छइ-किं तुब्भे देवाणुप्पिया ओहय जाव झियायह ?, ताहे सो भणइ-

---

१ यथा सेति इन्द्रपुरः, इन्द्रपुरपत्तने नगरे कृतं रङ्गः कृतः तत्र चक्रं, एकस्मिन् अक्षेऽष्ट चक्राणि तेषां पुरतः पुत्रिका स्थापिता सा पुनर्वेद्धव्या राजा सबलो निर्गतः सह पुत्रैः तदा सा कन्या सर्वालङ्कारविभूषिता एकस्मिन् पार्श्वे तिष्ठति स रङ्गः ते राजानो दण्डिकभटभोजिकाः सादृशो दीपिकया तत्र राज्ञो ज्येष्ठः पुत्रः श्रीमाली कुमारः एषा दारिका राज्यं च भोक्तव्यं स तुष्टः अहं नूनमन्यराजभ्योऽभ्यधिकः तदा स भणितः-विध्येति, तदा सोऽकृतकरणस्तस्य समूहस्य मध्ये तद्धनुर्ग्रहीतुमेव न शक्नोति कथमप्यनेन गृहीतं, तेन यतो व्रजति ततो व्रजत्विति काण्डं मुक्तं, एवं कस्यचिदेकमरकमतिक्रम्य कस्यचिद् द्वौ त्रीन् अन्येषां बहिरेव निर्गच्छन्ति तेनाप्यमात्येन स नप्ता प्रसाध्य तद्दिवसमानीतस्तत्र तिष्ठति तदा स राजोपहतमनःसंकल्पः करतलपर्यस्तमुखः अहो अहं पुत्रैर्लोकमध्ये विगोपित इति तिष्ठति, तदा सोऽमात्यः पृच्छति-किं यूयं देवानुप्रिया उपहतमनःसंकल्पा यावद् ध्यायत ? तदा स भणति-

ताए सो दिवसो सिट्ठो मुहुत्तो वेला जं च राएण उल्लवियं साइसंकारो तेण तं पत्तए लिहियं, सो य सारवेइ, नवण्हं मासाण दारओ जाओ, तस्स दासचेडाणि तद्दिवसं जायाणि, तं०—अग्गियओ पव्वयओ बहुलिगो सागरगो, ताणि सहजायाणि, तेण कलायरियस्स उवणीओ, तेण लेहाइयाओ बावत्तरिं कलाओ गहियाओ, जाहे ताओ गाहेइ आयरिओ ताहे ताणि कुट्टंति विकड्ढंति य, पुव्वपरिचएण ताणि रोवंति सोवि ताणि न गणेइ, गहियाओ कलाओ, जे अन्ने गाहिज्जंति बावीसपि कुमारा, जस्स अण्णिज्जंति आयरियस्स तं पिट्टंति भत्थएहि य हणंति, अह उवज्झाओ ते पिट्टइ अपढंते ताहे साहंति माइमिस्सिगाणं, ताहे ताओ भणंति—किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि?, ताहे न सिक्खियाई। इओ य महुराए जियसत्तू राया, तस्स सुया निव्वुई नाम कण्णया, सा अलंकिया रण्णो उवणीया, राया भणइ—जो रोयइ सो ते भत्ता, ताहे ताए णायं—जो सूरो वीरो विक्कंतो सो पुण रज्जं दिज्जा, ताहे सा य बलं वाहणं गहाय गया इंदपुरं णयरं, रायस्स बहवे पुत्ता सुपत्तिआ, तूओ पयट्टो, ताहे आयारिया सव्वे रायाणो, ताहे तेण रायाणएण सुयं—

---

१ तया स दिवसो मुहूर्तो वेला यच्च राज्ञोक्तं सत्कारः (सद् सर्वमुक्तं) तेन तत् पत्रके लिखितं स च संरक्षति नवसु मासेषु दारको जातः, तस्य दासचेटास्तद्दिवसे जाताः तद्यथा—अग्निः पर्वतकः बहुलिकः सागरः ते सहजाताः तेन कलाचार्यायोपनीतः तेन लेखादिका द्वासप्ततिः कलाः गृहीताः यदा ता माहयत्याचार्यस्तदा ते कुट्टयन्ति विकर्षयन्ति च, पूर्वपरिचयेन ते रुदन्ति सोऽपि तान् न गणयति गृहीताः कलाः तेऽन्ये ग्राह्यन्ते द्वाविंशतिरपि कुमाराः यस्मै अर्प्यन्ते आचार्याय तं पिट्टयन्ति भस्त्रकैश्च घ्नन्ति अथोपाध्यायस्तान् पिट्टयति अपठतः तदा कथयन्ति मातृप्रभृतीनां तदा ता भणन्ति—किं सुलभानि पुत्रजन्मानि तस्मात् न शिक्षिताः। इतश्च मथुरायां जितशत्रू राजा तस्य सुता निर्वृतिनाम्नी कन्या, साऽलङ्कृता राज्ञे उपनीता राजा भणति—यो रोचते स ते भर्त्ता तदा तया ज्ञातं—यः शूरो वीरो विक्रान्तः स पुना राज्यं दद्यात्, तदा सा बलं वाहनं च गृहीत्वा गता इन्द्रपुरं नगरं राज्ञो बहवः सुताः सुरूपाः दूतः प्रवर्तितः तदाऽऽहूता अखिला राजानः, तदा तेन राज्ञा सुत

मारेह त्ति, भणंति ते तहा करेहित्ति भणिया नेच्छति, खुड्डगकुमारस्स मग्गेण छगा पयइया, सव्वहिं छोभो परिचत्तो, एवं अछोभया कायव्वा, अछोभेत्ति गयं ८। इयाणिं तितिक्खत्ति दारं, तितिक्खा कायव्वा—परीसहोवसग्गाणं अतिसहणं भणियं होइ, तत्रोदाहरणगाथाद्वयम्—

इंदपुरे इंददत्ते बावीस सुया सुरिंददत्ते य। महुराए जियसत्तू सयंवरो निव्वुईए उ ॥ १२९१ ॥
अग्गियए पव्वयए बहुली तह सागरे य बोद्धव्वे। एगदिवसेण जाया तत्थेव सुरिंददत्ते य ॥ १२९२ ॥

अस्य व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्—इंदपुरं णयरं, इंददत्तो राया, तस्स इट्ठाण वराण देवीण बावीस पुत्ता, अण्णे भणंति—एगाए देवीए, ते सव्वे रण्णो पाणसमा, अहेगा धूया अमच्चस्स, सा अ पर परिणतेण दिट्ठा, सा अण्णया कयाइ ण्हाया समाणी अच्छइ, ताहे रायाए दिट्ठा, कस्सेसा ?, तेहिं भणियं—तुब्भं देवी, ताह सो ताए समं एक रत्ति वुच्छो, सा य रितुण्हाया, तीसे गब्भो लग्गो, सा अमच्चेण भणिपल्लिया—जया तुब्भ गब्भो लग्गइ तया मम साहेज्जादि,

१ मारय इति भणन्ति ते तथा करिष्यति भणिता नेच्छति क्षुल्लककुमारस्य मार्गेण छगाः प्रवर्तिताः सर्वत्र क्षोभः परित्यक्तः एवमक्षोभता कर्तव्या अक्षोभ इति गतं। इदानीं तितिक्षेतिद्वारं तितिक्षा कर्तव्या—परीषहोपसर्गाणां अधिसहनं भणितं भवति। इन्द्रपुरं नगरं इन्द्रदत्तो राजा तस्येष्टानां वराणां देवीनां द्वाविंशतिः पुत्राः अन्ये भणन्ति—एकस्या देव्याः ते सर्वे राज्ञः प्राणसमाः अथैकाऽमात्यस्य दुहिता सा अपरं परिणयता दृष्टा सा अन्यदा कदाचित् स्नाता सती तिष्ठति, तदा राज्ञा दृष्टा कस्यैषा ? तैर्भणितं—युष्माकं देवी तदा स तया सममेकां रात्रिमुषितः, सा च ऋतुस्नाता तस्या गर्भो लग्नः साऽमात्येन भणितपूर्वा—यदा तव गर्भो भवेत्तदा मह्यं कथयेः

ताए सो दिवसो सिद्धो मुहुत्तो वेला जं च राएण उछवियं साहंकारो तेण तं पत्तए लिहियं, सो य सारवेइ, नवण्हं मासाण दारओ जाओ, तस्स दासचेडाणि तद्दिवसं जायाणि, तं०—अग्गियओ पव्वयओ बहुलिगो सागरगो, ताणि सहजायाणि, तेण कलायरियस्स उवणीओ, तेण लेहाइयाओ बावत्तरिं कलाओ गहियाओ, जाहे ताओ गाहेइ आयरिओ ताहे ताणि कुट्टंति विकड्ढंति य, पुव्वपरिचएण ताणि रोवंति सोवि ताणि न गणेइ, गहियाओ कलाओ, ते अन्ने गाहिज्जंति बावीसंपि कुमारा, अन्नस्स भणिज्जंति आयरियस्स तं पिट्टंति मत्थए य हणंति, अह उवज्झाओ से पिट्टइ अपढंते ताहे साहेंति माइमिस्सिगाणं, ताहे ताओ भणंति—किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि ?, ताहे न सिक्खियाइं। इओ य महुराए जियसत्तू राया, तस्स सुया निव्वुई नाम कण्णया, सा अलंकिया रण्णो उवणीया, राया भणइ—जो रोयइ सो ते भत्ता, ताए ताए णायं—जो सूरो धीरो विक्कतो सो पुण रज्जं दिज्जा, ताहे सा य बलं वाहणं गहाय गया इंदपुरं णयरं, रायस्स बहवे पुत्ता सुणच्छिया, इओ पयट्टो, ताहे आवाहिया सव्वे रायाणो, ताहे तेण रायाएण सुयं–

१ तस्मा स दिवसो मुहूर्तो वेला यच्च राज्ञोत्सवं समन्तात् (यत् सर्वसुखं) तेन तत् पत्रके लिखितं स च संरक्षति नवसु मासेषु दारको जातः, तस्य दासचेटकाश्चत्वारस्तद्दिवसे जाताः तद्यथा—अग्निः पर्वतको बहुलिकः सागरः ते सहजाताः तेन कलाचार्यायोपनीतः तेन लेखादिका द्वासप्ततिः कलाः गृहीताः यदा ता ग्राहयत्याचार्यस्तदा ते कुट्टयन्ति विकर्षयन्ति च पूर्वपरिचयेन ते रुदन्ति सोऽपि तान् न गणयति गृहीताः कलाः तेऽन्ये ग्राह्यन्ते द्वाविंशतिरपि कुमाराः अन्यस्मिन्नाचार्ये नाम्नापि च पिट्टयन्ति मस्तके च घ्नन्ति अथोपाध्यायस्तान् पिट्टयति अपठन्तस्तदा कथयन्ति मातृमिश्रेभ्यः तदा ता भणन्ति—किं सुलभानि पुत्रजन्मानि तदा(ते) न शिक्षिताः। इतश्च मथुरायां जितशत्रू राजा तस्य सुता निर्वृतिर्नाम कन्या अलंकृता राज्ञ उपनीता राजा भणति—यो रोचते स ते भर्ता तदा तया ज्ञातं—यः शूरो धीरो विक्रान्तः स पुना राज्यं दद्यात्, तदा सा बलं वाहनं च गृहीत्वा गता इन्द्रपुरं नगरं राज्ञो बहवः पुत्राः श्रुताः इतः प्रवर्तिता तदाऽऽहूता भणिता राजानः, तदा तेन राज्ञा श्रुतं.

भारेह यत्ति, भणति ते तहा करेहित्ति भणिया नेच्छति, खुड्डगकुमारस्स मग्गेण छगा पवइया, सवर्हि खोभो परिचत्तो, एवं अखोभया कायवा, अखोभेत्ति गयं ८ । इयाणिं तितिक्खत्ति दारं, तितिक्खा कायवा—परीसहोवसग्गाण अहिसहणं भणियं होइ, तत्रोदाहरणगाथाद्वयम्—

इंदपुर इंददत्ते बावीस सुया सुरिंददत्ते य । महुराए जियसत्तू सयवरो निव्वुईए उ ॥ १२९१ ॥
अग्गिमए पव्वयए बहुली सह सागरे य बोद्धव्वे । एगदिवसेण जाया तत्थेव सुरिंददत्ते य ॥ १२९२ ॥

अस्य व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्—इंदपुरं णयरं, इंददत्तो राया, तस्स इट्ठाण वराण देवीणं बावीसं पुत्ता, अण्णे भणंति—एगाए देवीए, ते सव्वे रण्णो पाणसमा, अण्णेगा धूया अमच्चस्स, सा य परं परिणयेण दिट्ठा, सा अण्णया कयाइ ण्हाया समाणी अच्छइ, ताहे रायाए दिट्ठा, कस्सेसा ?, तेहिं भणियं—तुब्भं देवी, ताहे सो ताए समं एक्कं रत्तिं वुच्छो, सा य रितुण्हाया, तीसे गब्भो लग्गो, सा अमच्चेण भणियल्लिया—जया तुब्भ गब्भो लग्गइ तया मम साहेज्जाहि,

१ मारय वेति भणन्ति ते तथा कुर्विति भणिता नेच्छन्ति, क्षुल्लककुमारस्य मार्गेण छगाः प्रव्रजिताः, सर्वैः क्षोभः परित्यक्तः एवमक्षोभता कर्त्तव्या अक्षोभ इति गतं । इदानीं तितिक्षेतिद्वारं तितिक्षा कर्त्तव्या—परीषहोपसर्गाणामधिसहनं भणितं भवति । इन्द्रपुरं नगरं इन्द्रदत्तो राजा तस्येष्टानां वराणां देवीनां द्वाविंशतिः पुत्राः अन्ये भणन्ति—एकस्या देव्याः ते सर्वे राज्ञः प्राणसमाः अथैकाऽमात्यस्य दुहिता सा परं परिणयता दृष्टा सा अन्यदा ऋतुस्नाता सती तिष्ठति, तदा राज्ञा दृष्टा कस्यैषा ? तैर्भणितं—युष्माकं देवी, तदा स तया सममेकां रात्रिमुषितः सा च ऋतुस्नाता तस्या गर्भो लग्नः साऽमात्येन भणितपूर्वा—यदा तव गर्भो भवेत्तदा मह्यं कथये।

इयं मिगइसिरीव, पेत्थंतरे खुडुएण कंबलरयणे छूढं, जसभद्देण जुवराइणा कुंडलं सयसहस्समोल्लं, सिरिकंताए सत्थवाहिणीए हारो सयसहस्समोल्लो, जयसंधिणा अमच्चेण कडगो सयसहस्समोल्लो, कण्णवालो मिंठो तेण अंकुसो सयसहस्सो, कंबलं कुंडलं (कडयं) हारेगावली अंकुसोत्ति पयाइं सयसहस्समोल्लाइं, जो य किर तत्थ तूसइ वा देइ वा सो सव्वो लिहिज्जइ, जइ जाणइ तो सुट्ठो अह न याणइ तो दंडो तेसिंति सव्वे किड्डिया, पभाए सव्वे सद्दाविया, पुच्छिया, खुड्डगो ! तुब्भे कीस दिन्नं !, सो जहा पियामारिओ तं सव्व परिकहेइ जाव न समत्थो संजममणुपालेउं, तुब्भं मूलमागओ रज्जं मग्गिउसामित्ति, सो भणइ—देमि, सो खुड्डगो भणइ—अलाहि, सुमिणसय वट्टइ, मरिज्जा, पुणरुओवि संजमो नासिहित्ति, जुवराया भणइ—तुम मारेउं मग्गामि थेरो राया रज्जं न देइत्ति, सोवि दिज्जंत नेच्छइ, सत्थवाहभज्जा भणइ—बारस वरिसाणि पउत्थस्स, पहे पट्ठइ, अज पयसेमि धीमंसा वट्टइ, अमच्चो—अण्णरायाणएहिं सम घडामि, पच्चंतरायाणो हत्थिमेंठं भणंति—हत्थिं माणेहि

1 अयान्तरे क्षुल्लककुमारेण कम्बलरत्नं क्षिप्तं यशोभद्रेण युवराजेन कुण्डलं शतसहस्रमूल्यं श्रीकान्तया सार्थवाह्या हारः शतसहस्रमूल्यः जयसन्धिनाऽमात्येन कटकं शतसहस्रमूल्यं कर्णपालो मण्ठस्तेनाङ्कुशः शतसहस्रमूल्यः कम्बलं कुण्डलं (कटकं) हार एकावलिका अङ्कुश इमेतानि शतसहस्रमूल्यानि पदानि, यश्च किल तत्र तुष्यति ददाति वा स सर्वो लिख्यते यदि जानाति तदा सुष्ठु अथ न जानाति तदा दण्डस्तेषामिति सर्वे किड्डिताः प्रभाते सर्वे शब्दिताः पृष्टाः, क्षुल्लक ! त्वया किं दत्तं ? स यथा पिता मारितः तत् सर्व परिकथयति यावत् समर्थः संयममनुपालयितुं युष्माकं पार्श्वमागतः राज्यमभिकाङ्क्षामीति स भणति ददामि स क्षुल्लको भणति अलं स्वप्नान्तो वर्तते म्रिये पुनरुक्तोऽपि संयमो नङ्क्ष्यतीति युवराजो भणति—त्वां मारयितुं मृगये स्थविरो राजा राज्यं ददातीति सोऽपि दीयमानं नेच्छति सार्थवाहभार्या भणति—द्वादश वर्षाणि प्रोषितस्य, पथि वर्तते अद्य प्रवेशयामीति विमर्शोऽभूत्, अमात्यः—अन्यराजभिः समं घटयामि प्रत्यन्तराजानो हस्तिमेण्ठं भणन्ति—हस्तिनमानय

तीए मूले तेणेव कमेण पव्वइया सह धारिणी सद्दा विभासियव्वा, नयरं तीए दारओ न छड्डिओ खुड्डगकुमारोत्ति से नामं कयं, सो जोव्वणत्थो जाओ, चिंतेइ–पव्वज्जं न तरामि काउं, मायरं आपुच्छइ–जामि, सा अणुसासइ तहवि न ठाइ, सा भणइ–सो साइ मज्झिमिस्स बारस वरिसाणि करेहि, भणइ–करेमि, पुण्णेसु आपुच्छइ, सा भणइ–मयहरियं आपुच्छामि, तीसेवि बारस वरिसाणि, ताहे आयरियस्सवि वयणेण बारस, उवज्झायस्स बारस, एवं अडयालीसं वरिसाणि अच्छा विओ तहवि न ठाइ, विसज्जिओ, पच्छा मायाए भण्णइ–मा जहिं वा तहिं वा वच्चाहि, महल्लपिया तुज्झ पुंडरीओ राया, इमा ते पितिसंतिया मुद्दिया कंबलरयणं च मए नितीए नीणीय एयाणि गहाय वच्चाहिंत्ति, गओ णयरं, रण्णो जाण सालाए आवासिओ कल्ले रायाणं पेच्छिहामित्ति, अब्भंतरपरिसाए पेच्छणयं पेच्छइ, सा नट्टिया सव्वरत्तिं नच्चिऊण पभा यकाले निद्दाइया, ताहे सा धोरिगिणी चिंतेइ–तोसिया परिसा बहुगं च लद्धं जइ एत्थ पियट्टइ तो परिसियामोत्ति, ताहे इमं गीतियं पगाइया–'सुट्ठु गाइयं सुट्ठु नच्चियं सुट्ठु वाइयं साम सुंदरि। अणुपालिय दीहराइयओ सुमिणंते मा पमायए॥ १॥

---

१ तस्मा मूले तेनैव क्रमेण प्रव्रजिता सह धारिणी तथा विभाषितव्या नगरं तया दारको न त्यक्तः क्षुल्लककुमार इति तस्य नाम कृतं स यौवनस्थो जातः चिन्तयति–प्रव्रज्यां न शक्नोमि कर्तुं, मातरमापृच्छते–यामि सा अनुशास्ति तथापि न तिष्ठति सा भणति–मम मध्यमिच्च द्वादश वर्षाणि कुरु भणति–करोमि पूर्णेषु आपृच्छते सा भणति–महत्तरिकामापृच्छे तस्या अपि द्वादश वर्षाणि तत आचार्यस्यापि वचनेन द्वादश उपाध्यायस्य द्वादश एवमष्टचत्वारिंशत् वर्षाणि स्थापितस्तथापि न तिष्ठति विसृष्टः पश्चात् मात्रा भण्यते–मा यत्र वा तत्र वा यासीः, पितृव्यस्तव पुण्डरीको राजा इयं च ते पितृसत्का मुद्रिका कम्बलरत्नं मया निर्गच्छन्त्याऽऽनीतं एते गृहीत्वा व्रज गतो नगरं राज्ञो यानशालायामुषितः कल्ये राजानं प्रेक्षिष्ये इति अभ्यन्तरपर्षदि प्रेक्षणकं प्रेक्षते, सा नर्तकी सर्वरात्रं नर्तित्वा प्रभातकाले निद्रायिता तदा सा नर्तकी चिन्तयति–तोषिता पर्षत् बहु च लब्धं यद्यत्र प्रमाद्यति तर्हि अपभ्राजिताः स्म इति तदेमां गीतिकां प्रगीतवती–सुष्ठु गीतं सुष्ठु नर्तितं सुष्ठु वादितं श्यामाङ्गि सुन्दरि। अनुपाल्य दीर्घरात्रं स्वप्नान्ते मा प्रमादीः॥ १॥

ताओ भणंति—भत्त पच्चक्खायओ एत्थं साहू अम्हे अच्छामो, दोवि रायाणो ठिया, दिवसे २ महिमं करेंति, कालगओ, एव ते य गया रायाणो, एव तस्स अनिच्छमाणस्सवि जाओ इयरस्स इच्छमाणस्सवि न जाओ पूयासक्कारो, जहा धम्म सद्धेण तहा कायव्वं। अण्णायएत्तिगयं ७। इयाणिं अलोभेत्ति, लोभविवेगयाए जोगा संगहिया भवंति अलोभया तेण कायव्वा, कह? तत्थोदाहरणमाह—

साएए पुंडरीए कंडरिए चेव देविजसभद्दा। सावत्थिअजियसेणे कित्तिमई खुड्डगकुमारो ॥ १२८८ ॥
जसभद्दे सिरिकंता जयसंधी चेव कण्णपाले य। नट्टविही परिओसे दाणं पुच्छा य पव्वज्जा ॥ १२८९ ॥
सुट्ठु वाइय सुट्ठु गाइयं सुट्ठु नच्चिय साम सुंदरि!। अणुपालिय दीहराइयओ सुमिणंते मा पमायए ॥१२९०॥

द्वारगाथात्रयम्, अस्य व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—सागेय णयरं, पुंडरिओ राया, कंडरिओ जुवराया, जुवरन्नो देवी जसभद्दा, तं पुंडरीओ चक्कमंती दट्ठूण अज्झोववन्नो, नेच्छइ, तहेव जुवराया मारिओ, सावि सत्थेण समं पलाया, अहुणोववन्नगब्भा पत्ता य सावत्थिं, तत्थ य सावत्थीए अजियसेणो आयरिओ, कित्तिमती मयहरिया, सा

---

१ ता भणन्ति—भक्तप्रत्याख्यातोऽत्र साधुः ततो वयं स्थिताः द्वावपि राजानौ स्थितौ दिवसे २ महिमानं कुरुतः कालगतः। एवं तौ राजानौ च गतौ। एवं तस्यानिच्छतोऽपि जातः महिमा, इतरस्येच्छतोऽपि न जातः पूजासत्कारः यथा धर्मश्रद्धया तथा कर्तव्यं। अज्ञातकमिति गतं इदानीं अलोभ इति लोभविवेकिनो योगाः संगृहीता भवन्ति अलोभता तेन कर्तव्या कथं? तत्रोदाहरणमाह। साकेतं नगरं पुण्डरीको राजा कण्डरीको युवराजः युवराजस्य देवी यशोभद्रा तां चङ्क्रमन्तीं दृष्ट्वा पुण्डरीकोऽभ्युपपन्नः नेच्छति, तथैव युवराजो मारितः साऽपि सार्थेन समं पलायिता अधुनोत्पन्नगर्भा प्राप्ता च श्रावस्तीं, तत्र च श्रावस्त्यामजितसेन आचार्यः कीर्तिमतिर्महत्तरिका, सा

चिंतेई—मा अणक्खओ होउत्ति रहस्सं भिंदामि, अतेउरमइगया, मणिप्पहं ओसारेत्ता भणइ—किं माउगेण समं कलहेसि ?, सो भणइ—कहन्ति, ताहे तं सव्वं संबधं अक्खायं, जइ न पत्तियसि तो मायरं पुच्छाहि, पुच्छइ, तीए णायं अयसस रद सभेओ, कहिय सहावत्तं रहवद्धणसंतगाणि आभरणगाणि नाममुद्दाइ दाइयाइ, पत्तीओ भणइ—अह पत्ताहे ओसरामि तो मम अयसो, अज्जा भणइ—अह त पडिबोहेमि, एवं होउत्ति, निग्गया, अवत्तिसेणस्स निवेइयं, पवइया दट्ठुमिच्छइ, अइ यया, पाए दट्ठूण णाया अंगपाडिहारियाहिं, पायवडियाओ परुण्णाओ, कहिय तस्स तव मायत्ति, सो य पायवडिओ परुण्णो, तस्सवि कहेइ—एस मे माया, दोवि भाईं मिलिया, अवरोप्परमवयासेऊण परुण्णा, किंचि कालं कोसंबीए अच्छित्ता दोवि उज्जेणिं पाविया, मायावि सह मयहारियाए पणीया, जाहे य वच्छयातीरे पव्वय पत्ता, ताहे जे तंमि जणवए साहुणो ते पव्वए ओरुभंते चडंते य दट्ठूण पुच्छिया, ताहे ताओवि वंदिउ गयाओ, बितियदिवसे राया पट्ठाविओ,

1 चिन्तयति—मा जनक्षयो भूदिति रहस्य भिनद्मि अन्तःपुरमतिगता मणिप्रभमपसार्य भणति—किं भ्राता सम कलहयसि ? स भणति—कथमिति तदा तं सर्वं सम्बन्धमाख्यातवती यदि न प्रत्येषि तर्हि मातरं पृच्छ पृच्छति तया ज्ञात—अयशो रहस्यभेदः कथितं यथावृत्त राष्ट्रवर्धनसत्कानि आभरणानि नाममुद्राश्च दर्शितानि प्रत्ययितो भणति—यद्यधुनाऽपसरामि तर्हि मेऽयशः आर्या भणति—अहं त प्रतिबोधयामि एवं भवत्विति निर्गता अवन्तीषेणाय निवेदितं, प्रव्रजिता द्रष्टुमिच्छति अतिगता, पादौ दृष्ट्वा ज्ञाताऽन्तःपुरप्रतिहारिणीभिः पादपतिताः प्ररुदिताः कथितं तस्य तव मातेति स च पादपतितः प्ररुदितः, तस्यापि कथयति एष तव भ्राता द्वावपि भ्रातरौ मिलितौ परस्परमालिङ्ग्य प्ररुदितौ कञ्चित्कालं कौशाम्ब्यां स्थित्वा द्वावप्युज्जयिनीं प्राप्तौ मातापि सह महत्तरिकया नीता यदा च वत्सकातीरे पर्वतं प्राप्ता तदा ये तस्मिन् जनपदे साधवस्तान् पर्वतादवतरत आरोहतश्च दृष्ट्वा पृष्टवती तदा ता अपि वन्दितुं गताः द्वितीयदिवसे राजा प्रस्थितः,

भणमाहिलीए रिक्षो अणुराए, सो य पुत्तो, सा य संजतीहिं पुच्छिया भणइ—जहा गब्भं जायं तं मए विगिंचियं, तइयं होहिति, ताहे अंतेउरं णीइ मतीइ य, अंतेउरियाहिं समं सिविया जाया, तस्स मणिप्पहोत्ति णामं कयं, सो राया मओ, मणिप्पभो राया जाओ, सो य तीए संजईए निरायं अणुरत्तो, सो य अवंतिवद्धणो पच्छायावेण मायावि मारिओ ताबि देवी न आमत्ति भाउनेहेण अवंतिसेणस्स रज्जं दाऊण पव्वइओ, सो य मणिप्पहो कप्पागं मग्गइ, सो न देइ, ताहे सव्व-बलेण कोसंबिं पहाविओ। ते य दोवि अणगारा परिकम्मे समत्ते एगो भणइ—जहा विणयवतीए इड्ढी तहा ममवि होउ, णयरे भत्तं पच्चक्खायं, बीओ धम्मजसो विभूसं नेच्छंतो कोसंबीए उज्जेणीए य अंतरा वच्छगातीरे पव्वयकंदराए भत्त-पच्चक्खायं। ताहे सेण अवंतिसेणेण कोसंबी रोहिया, तत्थ जणो अप्पणो अद्दण्णो, न कोइ धम्मघोसस्स समीवं अल्लियइ, सो य ठितिपमत्थमलभमाणो कालगओ, बारेण निप्फेडो न लब्भइ पागारस्स उवरिएण अहिक्खित्तो। सा पव्वइय

१ भणमाहिलीय अनुरागे दृष्टः स च पुत्रः, सा च संयतीभिः पृष्टा भणति—यद् गर्भं जातं तन्मया त्यक्तं, तृतीयं (दिवसं ?) भविष्यतीति, तदाऽन्तःपुरं नीता, अन्तःपुरिकाभिः समं शिबिका जाता तस्य मणिप्रभ इति नाम कृतं स राजा मृतः मणिप्रभो राजा जातः स च तस्यां संयत्यां नितरामनुरक्तः, स चावन्तिवर्धनः पश्चात्तापेन मायया(पि) मारितः तामपि देवी न प्रत्यैति भ्रातृस्नेहेनावन्तीसेनस्य राज्यं दत्त्वा प्रव्रजितः स च मणिप्रभः कल्पकं मार्गयति स न ददाति, तदा सर्वबलेन कौशाम्बीं प्रधावितः। तौ च द्वावप्यनगारौ परिकर्मणि समाप्ते (अनशनोपवासे) एको भणति—यथा विनयवत्या ऋद्धिस्तथा ममापि भवतु, नगरे भक्तं प्रत्याख्यातं, द्वितीयो धर्मयशा विभूषामनिच्छन् कौशाम्ब्या उज्जयिन्याश्चान्तरा वत्सकातीरे पर्वतकन्दरायां भक्तं प्रत्याख्यातवान्। तदा तेनावन्तीसेनेन कौशाम्बी रुद्धा तत्र सर्व जनः पीडितः न कोऽपि धर्मघोषस्य समीपमागच्छति स च स्थितिसमर्थमलभमानः कालगतः द्वारेण निष्क्रमणं न लभ्यते (इति) प्राकारस्योपरितनभागे क्षिप्तः। सा प्रव्रजिता

रट्ठवद्धणो य, पालगो अवंतिवद्धणं रायाणं रट्ठवद्धणं जुवरायाणं ठवित्ता पव्वइओ, रट्ठवद्धणस्स भज्जा धारिणी, तीसे पुत्तो अवंतिसेणो। अन्नया उज्जाणे राइणा धारिणी सव्वंगे वीसत्था अच्छंती दिट्ठा, अज्झोववन्नो, दूती पेसिया, सा नेच्छइ, पुणो २ पेसइ, तीए अधोभावेण भणियं—भाउस्सवि न लज्जसि ?, ताहे तेण सो मारिओ, विभासा, तंमि वियाले सयाणि आभरणगाणि गहाय कोसंबिं सत्थो वच्चइ, तत्थ एगस्स वुड्ढस्स वाणियगस्स लग्गीणा, गया कोसंबिं, संजईओ पुच्छित्ता रण्णो जाणसालाए ठियाओ तत्थ गया, वंदित्ता साविया पव्वइया, तीए गब्भो अहुणोववन्नो साहुणा माण पव्वाविहिंति(त्ति) तं न अक्खियं, पच्छा णाए मयहरियाए पुच्छिया—सब्भावेण कहिओ जहा रट्ठवद्धणभज्जाऽहं, संजती मज्झेऽसागारियं अच्छाविया, वियाया रत्तिं, मा साहूणं उड्डाहो होहितित्ति णाममुद्दा आभरणाणि य उक्खिणित्ता रण्णो अंगणए ठवित्ता पच्छन्ना अच्छइ, अजियसेणेणागासतलगएणं पभा मणीण दिया दिट्ठा, दिट्ठो य, गहिओ, णेण

---

१ राष्ट्रवर्धनस्य पालकोऽवन्तीवर्धनं राजानं राष्ट्रवर्धनं युवराजं स्थापयित्वा प्रव्रजितः राष्ट्रवर्धनस्य भार्या धारिणी, तस्याः पुत्रोऽवन्तीसेनः। अन्यदो द्याने राज्ञा धारिणी सर्वाङ्गेषु विश्वस्ता तिष्ठन्ती दृष्टा अध्युपपन्नः दूती प्रेषिता सा नेच्छति पुनः २ प्रेषते तया ह्रियमाणया भणित—भ्रातुरपि न लज्जसे ? तदा तेन स मारितः विभाषा, तस्मिन् विकाले सकलान्याभरणानि गृहीत्वा कौशाम्बीं सार्थो गच्छति तस्मिन् वृद्धस्य वणिजः पार्श्वमाश्रिता याता कौशाम्बीं संयत्यः पृष्टा राज्ञो यानशालायां स्थिताः तत्र गता वन्दित्वा श्राविका प्रव्रजिता तस्या गर्भोऽधुनोत्पन्नः साधवो मा प्रव्राजयिषुरिति तदाख्यातं पश्चात् ज्ञात महत्तरिकया पृष्टा—सद्भावः कथितः यथा राष्ट्रवर्धनस्य भार्याऽहं संयतीमध्येऽसागारिके स्थापिता प्रजनितवती रात्रौ मा साधूनामुड्डाहो भूदिति नाममुद्रा आभरणानि चोत्क्षिप्य राज्ञोऽङ्गणे स्थापयित्वा प्रच्छन्ना तिष्ठति, अजितसेनेनाकाशतलगतेन मणीनां प्रभा दिव्या दृष्टा दृष्टश्च गृहीतः अनेन

साहू पेसिया, आणिओ, देवयाए भणियं—बिज्ञगिर दिअहिंपि दिट्ठं, ठियं, सिक्खविओ य—न य एवं कायव्वं । निप्पडि कम्मत्ति गयं १। इयाणिं अनायएत्ति, कोऽर्थः ?—पुव्विं परीसहसमत्थाण जं उवहाणं कीरइ तं जहा लोगो न याणाइ तहा कायव्वंति, माय मा कयं न नज्जेज्जा पच्छन्नं वा कयं नज्जेज्जा, तत्थोदाहरणगाहा—

कोसंबिय जियसेणे धम्मवसू धम्मघोस धम्मजसे । विगयभया विणयवई इड्डिविभूसा य परिकम्मे ॥ १२८६ ॥

इमीए वक्खाणं—कोसंबीए अजियसेणो राया, धारिणी तस्स देवी, तत्थवि धम्मवसू आयरिया, ताणं दो सीसा—धम्मघोसो धम्मजसो य, विणयवई मयहरिया, विगयभया तीए सिस्सिणीया, तीए भत्तं पच्चक्खायं, संघेण महया इड्डिसक्कारेण निज्जामिया, विभासा, ते धम्मवसुसीसा दोवि परिकम्मं करेंति, इओ य—

उज्जेणिवतिपज्जोयणपालगसुपरट्ठवद्धणे चेव । धारिय(णि) अवंतिसेणे मणिप्पभा वच्छगातीरे ॥ १२८७ ॥

व्याख्या—उज्जेणीए पज्जोयसुया दो भायरो पालगो गोपालओ य, गोपालओ पव्वइओ, पालगस्स दो पुत्ता—अवंतिवद्धणो

---

१ साधवः प्रेषिताः, आनीताः देवतया भणिताः—बीजपूरवनं इत इतः स्थिताः चिकित्सा—न चैवं कर्तव्यं। निष्प्रतिकर्मेति गतं। इदानीमज्ञात इति पूर्वं परीषहसमर्थैर्यदुपधानं क्रियते तद् यथा लोको न जानाति तथा कर्तव्यमिति यावत् मा कृतं न ज्ञायेत पश्चाद् वा कृतं ज्ञायेत। अत्रोदाहरणगाथा— कौशाम्ब्यामजितसेनो राजा धारिणी तस्य देवी तत्रापि धर्मवसव आचार्याः तेषां द्वौ शिष्यौ—धर्मघोषो धर्मयशाश्च विनयवतीमहत्तरिका विगतभया तस्याः शिष्या तया भक्तं प्रत्याख्यातं, सङ्घेन महता ऋद्धिसत्कारेण निर्यामिता, विभाषा, तौ धर्मवसुशिष्यौ द्वावपि परिकर्म कुरुतः, इतश्च उज्जयिन्यां प्रद्योतसुतौ द्वौ भ्रातरौ—पालको गोपालकश्च, गोपालकः प्रव्रजितः पालकस्य द्वौ पुत्रौ—अवन्तीवर्धनो

देस पुत्ताणि अणुसज्जति ॥ एवं शिक्षां प्रति योगाः सङ्गृहीता भवन्ति यथा स्थूलभद्रस्वामिनः । शिक्षेति गत ५ । इयाणि निप्पडिकम्मयत्ति, निप्पडिकम्मत्तणेण योगाः सङ्गृह्यन्ते, तत्र वैधर्म्योदाहरणमाह—

पइठाणे नागवसू नागसिरी नागदत्त पव्वज्जा । एगविहा सट्ठाणे देवय साहू य मिल्लगिरे ॥ १२८५ ॥

अस्याक्षार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—पइट्ठाणे णयरे नागवसू सेट्ठी णागसिरी भज्जा, सड्ढाणि दोवि, तेसिं पुत्तो नागदत्तो निव्विण्णकामभोगो पव्वइओ, सो य पेच्छइ जिणकप्पियाण पूयासक्कारे, विभासा जहा ववहारे पडिमापडिवन्नाण य पडिनियत्ताण पूयाविभासा, सो भणइ—अहंपि जिणकप्पं पडिवज्जामि, आयरिएहिं वारिओ, न ठाइ, सयं चव पडिवज्जइ, निग्गओ, एगत्थ वाणमंतरघरे पडिमं ठिओ, देवयाए सम्मद्दिट्ठियाए मा विणिरिसहितिति इत्थिरूवेण उवहार गहाय आगया, वाणमंतर अच्चित्ता भणइ—गिण्ह खवणत्ति, पललभूय कूर भक्खरूवाणि नाणापगाररूवाणि गहियाणि, लाइत्ता रत्तिं पडिम ठिओ, जिणकप्पियस्स न मुचति, पोट्टसरणी जाया, देवयाए आयरियाण कहियं, सो सीसो अमुगत्थ,

---

१ तथा पूर्वोऽपि मनुसम्पन्ते । प्रतिष्ठाने नगरे नागवसुः श्रेष्ठी नागश्रीर्भार्या श्राद्धे द्वे अपि तयोः पुत्रो नागदत्तो निर्विण्णकामभोगः प्रव्रजितः स च प्रेक्षते जिनकल्पिकानां पूजासत्कारौ विभाषा यथा व्यवहारे प्रतिमाप्रतिपन्नानां च प्रतिनिवृत्तानां पूजाविभाषा स भणति—अहमपि जिनकल्पं प्रतिपद्ये आचार्यैर्वारितः न तिष्ठति स्वयमेव प्रतिपद्यते निर्गतः एकत्र व्यन्तरगृहे प्रतिमया स्थितः देवता सम्यग्दृष्टिः मा विनङ्क्षीदिति स्त्रीरूपेणोपहारं गृहीत्वाऽऽगता, व्यन्तरमर्चयित्वा भणति—गृहाण क्षपक इति पललभूतं (मिश्रं) कूरं भक्ष्यरूपाणि नानाप्रकाररूपाणि गृहीतानि खादित्वा रात्रौ प्रतिमां स्थितः जिनकल्पिकत्वं न मुञ्चति अतिसारो जातः, देवतयाऽऽचार्याणां कथितं, स शिष्योऽमुक

थूलभद्दस्स य ताओ सत्तवि भगिणीओ पव्वइयाओ, आयरिए भायगे य वंदिउं निग्गयाओ, वक्खाणे किर ठविएल्लगा आयरिया, वंदित्ता पुच्छंति—कहिं जेट्ठज्जो ?, एयाए देवउलियाए गुणेइत्ति, तेणं ताओ दिट्ठाओ, तेण चिंतियं—भगिणीण इड्ढिं दरिसेमित्ति सीहरूवं विउव्वइ, ताओ सीहं पेच्छंति, ताओ नट्ठाओ, भणंति—सीहेण खइओ, आयरिया भणंति—न सो सीहो थूलभद्दो सो, ता जाह एत्ताहे, आगयाओ वंदिओ, खेमं कुसलं पुच्छइ, जहा सिरियओ पव्वइओ भत्तच्छेदेण कालगओ, महाविदेहे य पुच्छिया तित्थयरा, देवयाए नीया, अज्जा ! दो अज्झयणाणि भावणाविमुत्ती आणियाणि, एवं वंदित्ता गयाओ, बिइयदिवसे उद्देसकाले उवट्ठिओ, न उद्दिसति, किं कारणं ?, उवउत्तो, तेण जाणियं, कल्लसणगेण, भणइ,—न पुणो काहामि, ते भणंति—न तुम काहिसि, अन्ने काहिंति, पच्छा महया किलेसेण पडिवण्णा, उवरिल्लाणि चत्तारि पुव्वाणि पढाहि, मा पुण अण्णस्स दाहिसि, ते चत्तारि तओ वोच्छिण्णा, दसमस्स दो पच्छिमाणि वत्थूणि वोच्छिण्णाणि,

---

1 स्थूलभद्रस्य च ताः सप्तापि भगिन्यः प्रव्रजिताः, आचार्यान् भ्रातरं च वन्दितुं निर्गताः, व्याख्याने किल स्थिता आचार्याः, वन्दित्वा पृच्छन्ति—क ज्येष्ठार्यः ?, एतस्यां देवकुलिकायां गुणयति तेन ता दृष्टाः तेन चिन्तितं—भगिनीनां ऋद्धिं दर्शयामीति सिंहरूपं विकुर्वति ताः सिंहं पश्यन्ति ता नष्टाः, भणन्ति—सिंहेन खादितः, आचार्या भणन्ति—न स सिंहः स्थूलभद्रः स तद् यातामुना आगताः वन्दितः, क्षेमं कुशलं च पृच्छति यथा श्रीयकः प्रव्रजितो भक्तच्छेदेन कालगतः महाविदेहेषु च पृष्टास्तीर्थकराः देवतया नीता आर्ये ! द्वे अध्ययने भावनाविमुक्ती आनीते एवं वन्दित्वा गते द्वितीयदिवसे उद्देशकाले उपस्थितः नोद्दिशन्ति किं कारणं ? उपयुक्तः तेन ज्ञातं कल्लसणीयेन भणति—न पुनः करिष्यामि ते भणन्ति—न त्वं करिष्यसि अन्ये करिष्यन्ति एवं महता क्लेशेन प्रतिपन्नाः, उपरितनानि चत्वारि पूर्वाणि पठ मा पुनरन्यस्मै दाः तानि चत्वारि ततो व्युच्छिन्नानि दशमस्य द्वे पश्चिमे वस्तुनी व्यवच्छिन्ने

अंसो संघाडओ विसज्जिओ, जो संघस्स आणं अइक्कमइ तस्स को दंडो?, ते गया, कहियं, भणइ—मा एवं करेउ, संघो करेउ पसायं, पडिच्छउ, अहं सत्तण्हं पाडिपुच्छाणं देमि, भिक्खायरियाए आगओ १ कालवेलाए २ सण्णाए आगओ ३ वेयालियाए ४ मा उग्घाडेह पेसेह मेहावी सत्त पडियाओ देमि, भिक्खायरियाए आगओ १ कालवेलाए २ सण्णाए आगओ ३ वेयालियाए ४ पडिपुच्छा आवस्सए तिण्णि ७, महापाणं किर जया अइयओ होइ तया उप्पण्णे कज्जे अंतोमुहुत्तेण चउद्दस पुव्वाणि अणुपेहइ, उक्कड्ओवक्कड्याणि करेइ, ताहे थूलभद्दप्पमुहाणं पंच मेहावीणं सयाणि गयाणि, ते प (प)ढिया पायणं, मासेणं एगेणं दोहिं तिहिं सव्वे ऊसरिया न तरंति पडिपुच्छएण पढिउ, नवर थूलभद्दसामी ठिओ, थेवावसेसे महापाणे पुच्छिओ—न हु किलंमसि?, भणइ—न किलामामि, खमाहि कंचि कालं तो दिवसं सव्वं वायणं देमि, पुच्छइ—किं पढियं कित्तियं वा सेसं?, आयरिया भणंति—अट्ठासी य सुत्ताणि, सिद्धत्थगमंदरे उवमाण भणिओ, एत्तो ऊणतरेण कालेण पढिहिसि मा विसाय वच्च, समत्ते महापाणे पढियाणि नव पुव्वाणि दसमं च दोहिं वत्थूहिं ऊणं, एयंमि अंतरे विहरंता गया पाडलिपुत्तं,

1 तैरन्यः संघाटको विसृष्टः यः संघस्याज्ञामतिक्राम्यति तस्य को दण्डः? ते गताः कथितं भणति—नद्‌पाल्मके ते भणन्ति मा प्रमीलतः प्रेषयन्तु मेधाविनः सप्त वाचना ददामि भिक्षाचर्याया आगतः कालवेलायां संज्ञाया आगतो विकाले आवश्यके कृते तिस्रः महाप्राणं किल यदातिगतो भवति तदोत्पन्ने कार्येऽन्तर्मुहूर्तेन चतुर्दश पूर्वाणि अनुप्रेक्षते उत्क्रमिकापक्रमिकाणि करोति तदा स्थूलभद्रप्रमुखाणां पञ्च मेधाविनां शतानि गतानि ते वाचनां प्रतिगृह्य एकमासेन द्वाभ्यां त्रिभिः सर्वेऽपसृता न शक्नुवन्ति प्रतिपृच्छकेन (विना) पठितुं नवरं स्थूलभद्रस्वामी स्थितः स्तोकावशेषे महाप्राणे पृष्ट—नैव क्लाम्यसि? भणति—न क्लाम्यामि प्रतीक्षस्व कञ्चित् कालं ततो दिवसं सर्वं वाचनां दास्यामि पृच्छति—किं पठितं कियद् शेषं? आचार्या भणन्ति—अष्टाशीतिः सूत्राणि सिद्धार्थकमन्दरोपमानं भणितं इत ऊनतरेण कालेन पठिष्यसि मा विषादं यासीः समाप्ते महाप्राणे पठितानि नव पूर्वाणि दशमं च द्वाभ्यां वस्तुभ्यामूनं एतस्मिन्नन्तरे विहरन्तो गताः पाटलिपुत्रं

थूलभद्दस्स य ताओ सत्तवि भगिणीओ पव्वइयाओ, आयरिए भाउगं च वंदिउं निग्गयाओ, उज्जाणे किर ठविएल्लगा आयरिया, वंदित्ता पुच्छंति–कहिं जेट्ठज्जो ?, एयाए देउलियाए गुणेइत्ति, तेणं ताओ दिट्ठाओ, तेण चिंतियं–भगिणीणं इड्ढि दरिसेमित्ति सीहरूवं विउव्वइ, ताओ सीहं पेच्छंति, ताओ नट्ठाओ, भणंति–सीहेण खइओ, आयरिया भणंति–न सो सीहो थूलभद्दो सो, ता जाह एत्ताहे, आगयाओ वंदिओ, खेमं कुसलं पुच्छइ, जहा सिरियओ पव्वइओ अब्भत्तट्ठेण काल-गओ, महाविदेहे य पुच्छिया तित्थयरा, देवयाए नीया, अज्जा ! दो अज्झयणाणि भावणाविमुत्ती आणियाणि, एवं वंदित्ता गयाओ, बिइयदिवसे उद्देसकाले उवट्ठिओ, न उद्दिसंति, किं कारणं ?, उवउत्तो, तेण जाणियं, कल्लत्तणेण, भणइ,–न पुणो काहामि, ते भणंति–न तुमं काहिसि, अन्ने काहिंति, पच्छा महया किलेसेण पडिवण्णा, उवरिल्लाणि चत्तारि पुव्वाणि पढाहि, मा पुण अण्णस्स दाहिसि, ते चत्तारि तओ वोच्छिण्णा, दसमस्स दो पच्छिमाणि वत्थूणि वोच्छिण्णाणि,

---

१ स्थूलभद्रस्य च ताः सप्तापि भगिन्यः प्रव्रजिताः, आचार्यान् भ्रातरं च वन्दितुं निर्गताः उद्याने किल स्थिता आचार्याः, वन्दित्वा पृच्छन्ति–क ज्येष्ठार्यः ?, एतस्यां देवकुलिकायां गुणयति तेन ता दृष्टाः तेन चिन्तितं–भगिनीभ्यः ऋद्धिं दर्शयामीति सिंहरूपं विकुर्वन्ति ताः सिंहं पश्यन्ति ता नष्टाः भणन्ति–सिंहेन खादितः आचार्या भणन्ति–न स सिंहः स्थूलभद्रः सः तद् यातेदानीम् आगताः वन्दितः, क्षेमं कुशलं च पृच्छति यथा श्रीयकः प्रव्रजितोऽभक्तार्थेन कालगतः महाविदेहेषु च पृष्टास्तीर्थकराः, देवतया नीता आर्ये ! द्वे अध्ययने भावनाविमुक्ती आनीते, एवं वन्दित्वा गताः द्वितीयदिवसे उद्देशकाले उपस्थितः नोद्दिशन्ति किं कारणं ? उपयुक्तः, तेन ज्ञातं कल्यत्वेन भणति–न पुनः करिष्यामि ते भणन्ति–न त्वं करिष्यसि अन्ये करिष्यन्ति पश्चात् महता क्लेशेन प्रतिपन्नाः उपरितनानि चत्वारि पूर्वाणि पठ मा पुनरन्यस्मै दाः तानि चत्वारि ततो व्युच्छिन्नानि दशमस्य द्वे पश्चिमे वस्तुनी व्यवच्छिन्ने

नेच्छइ, भणइ–जइ नवरि किंचि देसि, किं देमि ?, सयसहस्सं, सो मग्गिउमारद्धो, नेपालविसए सावगो राया, जो तर्हि जाइ तस्स सयसहस्समोल्लं कंबलं देइ, सो त गओ, दिन्नो रायाणएण, एइ, एगत्थ चोरहिं पंथो बद्धो, सउणो वासइ–सयसहस्सं एइ, सो चोरसेणावई जाणइ, नवरं एज्जंतं संजय पेच्छइ, वोलीणो, पुणोवि वासइ–सयसहस्सं गयं, तेण सेणावइणा गंतूण पलोइओ, भणइ–अत्थि कंबलो गणियाए नेमि, मुक्को, गओ, तीसे दिन्नो, ताए चंदणियाए छूढो, सो वारेइ–मा विणासेहि, सा भणइ–तुमं एयं सोयसि अप्पयं न सोयसि, तुमंपि एरिसो चेव होहिसि, उवसामिओ, इच्छामि अणुसट्ठी, इच्छामित्ति मिच्छामिदुक्कडं, गओ, पुणोवि आलोएत्ता विहरइ, आयरिएण भणियं–एवं अइदुक्करदुक्करकारगा थूलभद्दो, पुव्वपरिच्चिया असाविया य थूलभद्देण अहियासिया य, इयाणिं सड्ढा तुमे अदिट्ठदोसा पत्थियत्ति उवालद्धो, एव ते विहरंति, एवं सा गणिया रहियस्स दिण्णा नंदेण, थूलभद्दसामिणो अभिक्खणं गुणगहणं करेइ, न तहा उवचरइ,

1 नेच्छति भणति–यदि परं किञ्चिद्ददासि किं ददामि ? शतसहस्रं स मार्गयितुमारब्धः नेपालविषये श्रावको राजा यः तत्र याति तस्मै शतसहस्रमूल्यं कम्बलं ददाति स तं गतः दत्तो राज्ञा आयाति एकत्र चौरैः पन्था बद्धः, शकुनो रटति–शतसहस्रमायाति स चौरसेनापतिर्जानाति नवरमायान्तं संयतं पश्यति, पश्चाद्गतः पुनरपि रटति–शतसहस्रं गतं तेन सेनापतिना गत्वा प्रलोकितः भणति–अस्ति कम्बलो गणिकायै नयामि मुक्तो गतः तस्यै दत्तः तया चन्दनिकायां क्षिप्तः स वारयति–मा विनाशय सा भणति–त्वमेतं शोचसे आत्मानं न शोचसे त्वमपीदृशो भविष्यसि चैव उपशान्तः इच्छामि अनुशिष्टिं इच्छामीति मिथ्यादुष्कृतमिति गतः, पुनरपि आलोच्य विहरति आचार्येण भणितं–एवमतिदुष्करदुष्करकारकः स्थूलभद्रः पूर्वपरिचिता अश्राविका च स्थूलभद्रेण अध्यासिता च इदानीं श्राद्धा त्वयाऽदृष्टदोषा प्रार्थितेति उपालब्धः एवं ते विहरन्ति एवं सा गणिका रथिकाय दत्ता नन्देन स्थूलभद्रस्वामिनोऽभीक्ष्णं गुणग्रहणं करोति, न तथोपचरति

सो तीए अप्पणो विण्णाण दरिसितकामो असोगवणियं नेइ, भूमीगएण अंबगपिंडी पाडिया, कंडपुंखे अण्णोण्णं लाय
तेण हत्थब्भासं आणेत्ता अद्धचंदेण छिन्ना गहिया, तहवि न तूसइ, भणइ—किं सिक्खियस्स दुक्करं ?, सा भणइ—पेच्छ
ममंति, सिद्धत्थगरासिंमि नच्चिया सूईणं अग्गयंमि य, सो आउट्टो, सा भणइ—'न दुक्करं तोडिय अंबपिंडिया न दुक्करं
नच्चिउं सिक्खियाए। तं दुक्करं तं च महाणुभावं, जं सो मुणी पमयवणंमि वुच्छो ॥ १ ॥ तीए सोवि सावओ कओ।
तंमि य काले बारसवरिसिओ दुक्कालो जाओ, संजयाइ तओ समुद्दतीरे अच्छित्ता पुणरवि पाडलिपुत्ते मिलिया, तेसिं
अण्णस्स उद्देसो अण्णस्स खंड एव संघाडेतेहिं एक्कारस अंगाणि संघाइयाणि, दिट्ठिवाओ नत्थि, नेपालवत्तिणीए य
भद्दबाहू अच्छंति चोद्दसपुव्वी, तेसिं संघेण संघाडओ पट्ठविओ दिट्ठिवायं वाएहित्ति, गंतूण निवेइयं संघकज्जं, ते भणं-
ति—दुक्कालनिमित्तं महापाणं न पविट्ठोमि, इयाणिं पविट्ठो, तो न जाइ वायण दाउं, पडिणियत्तेहिं संघस्स अक्खायं, तेहिं

---

१ स तस्या आत्मनो विज्ञानं दर्शयितुकामोऽशोकवनिकां नयति भूमिगतेनाम्रपिण्डी पातिता काण्डपुङ्खेऽन्योन्यं लात्वा हस्ताभ्यासमानीयार्धचन्द्रेण छित्त्वा गृहीता
तथापि न तुष्यति भणति—किं शिक्षितस्य दुष्करं ? सा भणति—पश्य ममेति सिद्धार्थकराशौ नर्तिता सूचीनामग्रे च आवर्जितः सा भणति—न दुष्करं
त्रोटितायामाम्रपिण्ड्यां न दुष्करं नर्तनं(शिक्षितायाः)। तद्दुष्करं तच्च महानुभावं यत्स मुनिः प्रमदावने उषितः ॥१॥ तया सोऽपि श्रावकः कृतः। तस्मिंश्च
काले द्वादशवार्षिको दुष्कालो जातः, संयतादिकाः ततः समुद्रतीरे स्थित्वा पुनरपि पाटलिपुत्रे मिलिताः तेषामन्यस्योद्देशोऽन्यस्य खण्डमेव संघातयद्भिरेकादशाङ्गा-
नि संघातितानि, दृष्टिवादो नास्ति नेपालवर्तिन्यां च भद्रबाहवश्चतुर्दशपूर्वधराः तेषां संघेन संघाटकः प्रेषितो दृष्टिवादं वाचयेति, गत्वा निवेदितं
संघकार्य, ते भणन्ति—दुष्कालनिमित्तं महाप्राणं न प्रविष्टोऽस्मि इदानीं प्रविष्टो न वाचनां दातुं समर्थः प्रतिनिवृत्तैः संघायाख्यातं,

नेच्छइ, भणइ—जइ नवरि किंचि देसि, किं देमि ?, सयसहस्सं, सो मग्गिउमारद्धो, नेपालविसए सावगो राया, जो तहिं जाइ तस्स सयसहस्समोल्लं कंबलं देइ, सो तं गओ, दिन्नो रायाणएण, एइ, एगत्थ चोरेहिं पंथो बद्धो, सउणो वासइ—सयसहस्सं एइ, सो चोरसेणावई जाणइ, नवरं एज्जंतं संजयं पेच्छइ, मोलीणो, पुणोवि वासइ—सयसहस्सं गयं, तेण सेणावइणा गंतूण पलोइओ, भणइ—अत्थि कंबलो गणियाए नेमि, मुक्को, गओ, तीसे दिन्नो, ताए चंदणियाए छूढो, सो वारेइ—मा विणासेहि, सा भणइ—तुमं एयं सोयसि अप्पयं न सोयसि, तुमंपि एरिसो चेव होहिसि, उवसामिओ, इच्छामि दुक्खी, इच्छामिति मिच्छामिदुक्कडं, गओ, पुणोवि आलोएत्ता विहरइ, आयरिएण भणियं—एवं अइदुक्करदुक्करकारगो थूलभद्दो, पुव्वपरिचिया असाहिया य थूलभद्देण अहियासिया य, इयाणिं सड्ढा तुमे अदिट्ठदोसा पत्थियत्ति उवालद्धो, एवं ते विहरंति, एवं सा गणिया रहियस्स दिण्णा नंदेण, थूलभद्दसामिणो अभिक्खणं गुणग्गहणं करेइ, न तहा उवचरइ,

---

1 नेच्छति भणति—यदि परं किञ्चिद्ददासि किं ददामि ? शतसहस्रं स मार्गयितुमारब्धः नेपालविषये श्रावको राजा यः तत्र याति तस्मै शतसहस्रमूल्यं कम्बलं ददाति स तं गतः दत्तो राज्ञा आयाति एकत्र चौरैः पन्था बद्धः शकुनो रटति—शतसहस्रमायाति स चौरसेनापतिर्जानाति नवरमायान्तं संयतं पश्यति पलायितः पुनरपि रटति—शतसहस्रं गतं तेन सेनापतिना गत्वा प्रलोकितः भणति—अस्ति कम्बलो गणिकायै नयामि मुक्तो गतः तस्यै दत्तः तया चन्दनगृहे क्षिप्तः स वारयति—मा विनाशय, सा भणति—त्वमेनं शोचसे आत्मानं न शोचसे त्वमपीदृशो भविष्यसि चैव उपशान्तः इच्छामि दुःखि इच्छामीति मे मिथ्यादुष्कृतमिति गतः पुनरपि आलोच्य विहरति आचार्येण भणितं—एवमतिदुष्करदुष्करकारकः स्थूलभद्रः पूर्वपरिचिता अभाषिता च स्थूलभद्रेण अध्यासिता च इदानीं श्राद्धा त्वया अदृष्टदोषा प्रार्थितेति उपालब्धः एवं ते विहरन्ति एवं सा गणिका रथिकाय दत्ता नन्देन स्थूलभद्रस्वामिनोऽभीक्ष्णं गुणग्रहणं करोति, न तथोपचरति

पुढा परीसहपराजिओ आगओत्ति, भणइ—किं करेमि ?, पच्छाण घरे ठाणं देहि, दिण्णो, रत्तिं सव्वालंकारविभूसिया आगया, चाडुयं पकया, सो मंदरो इव निक्कंपो न सक्कए खोहेउं, ताहे धम्मं पडिसुणइ, साविया जाया, भणइ—जइ रायाभिओगेणं अण्णेण समं वसेज्जा इयरहा बंभचारिणिपायवयं सा गिण्हइ, ताहे सीहगुहाओ आगओ चत्तारि मासे उववासं काऊण, आयरिएहिं ईसित्ति अब्भुट्ठिओ, भणियं—सागयं दुक्करकारगस्सत्ति !, एवं सप्पइत्तो कूवफलओवि, पूलभद्दसामीवि तत्थेव गणियाघरे भिक्खं गेण्हइ, सोवि चउमासेसु पुण्णेसु आगओ, आयरिया संभमेण अब्भुट्ठिया, भणियं—सागयं ते अइदुक्कर २ कारगत्ति !, ते भणंति तिण्णिवि—पेच्छह आयरिया रागं वहंति अमच्चपुत्तोत्ति, बितियवरिसारत्ते सीहगुहाखमओ गणियाघरं वच्चामि अभिग्गहं गेण्हइ, आयरिया उवउत्ता, धारिओ, अपडिसुणेंतो गओ, वसही मग्गिया, दिण्णा, सा सभावेण उरालियसरीरा विभूसिया अविभूसियावि, धम्मं सुणेइ, तीसे सरीरे सो अज्झोववण्णो, ओभासइ, सा

---

१ तदा परीषहपराजित आयात इति भणति—किं करोमि ? उद्याने गृहे स्थानं देहि दत्त रात्रौ सर्वालङ्कारविभूषिता आगता चाटु प्रकृता स मेरुरिव निष्कम्पो न शक्यते क्षोभयितुं तदा धर्म शृणोति श्राविका जाता भणति—यदि राजाभियोगेनान्येन समं वसामि इतरथा ब्रह्मचारिणीव्रत सा गृह्णाति तदा सिंहगुहाया आगतश्चतुरो मासानुपवासं कृत्वा आचार्यैरीषदिति अभ्युत्थितः भणितं—स्वागतं दुष्करकारकस्येति ? एवं सर्पबिलस्थः कूपफलकस्थोऽपि स्थूलभद्रोऽपि स्वामी तत्रैव गणिकागृहे भिक्षां गृह्णाति सोऽपि चतुर्मास्यां पूर्णायामागतः आचार्याः संभ्रमेणोत्थिताः भणितं—स्वागतं तेऽतिदुष्करदुष्करकारकस्येति ! ते भणन्ति त्रयोऽपि—पश्यत आचार्या रागं वहन्ति अमात्यपुत्र इति द्वितीयवर्षारात्रे सिंहगुहाक्षपको गणिकागृहं व्रजामीति अभिग्रहं गृह्णाति आचार्या उपयुक्ताः वारितोऽप्रतिशृण्वन् गतः वसतिर्मार्गिता, दत्ता सा स्वभावेनोदारशरीरा विभूषिता अविभूषिताऽपि धर्मं शृणोति तस्याः शरीरे सोऽध्युपपन्नः, याचते, सा

जाओ, एय सुरं पाएहि, तीए भगिणी भणिया—तुमं मत्तिया एस अमत्तओ जे या त या भणिहिसि, एयंपि पाएहि, सा पपाइया, सो नेच्छइ, अन्नाहि ममं तुमे, ताहे सो तीए अविओग मग्गतो चंदप्पभं सुरं पियइ, लोगो जाणाइ खीरंति, कोसाए सिरियस्स कहियं, राया सिरियं भणइ—एरिसो मम हिओ तव पियाऽऽसी, सिरिओ भणइ—सच्चं सामी !, एएण मत्तवालएण एयं अम्ह कयं, राया भणइ—किं मज्जं पियइ ?, पियइ, कहं !, सो पेच्छइ, सो रायउलं गओ, तेणुप्पल भावियं मणुस्सहत्थे दिण्णं, एयं वररुइस्स दिज्जाहि, इमाणि अण्णेसिं, सो अत्थाणीए पहाइओ, त वररुइस्स दिण्णं, तेणुस्सिंघियं, भिंगारेण आगयं निच्छूढं, चाउव्वेज्जेण पायच्छित्तं से तत्त तउयं पेज्जाविओ, मओ। थूलभद्दसामीवि संभूयविजयाण सगासे घोराकार तवं करेइ, विहरंतो पाडलिपुत्तमागओ, तिण्णि अणगारा अभिग्गहं गिण्हति—एगो सीहगुहाए, त पेच्छंतो सीहो उवसंतो, अण्णो सप्पवसहीए, सोवि दिट्ठीविसो उवसंतो, अण्णो कूयफलए, थूलभद्दो कोसाए घरे, सा

---

1 जातः एवं सुरां पायय तया भगिनी भणिता—त्वं मत्ता एषोऽमत्तो यदा तदा भणिष्यसि एवमपि पायय साऽपायिता स नेच्छति अन्यथा मम त्वं तदा स तस्या अवियोगं मृगयमाणश्चन्द्रप्रभां सुरां पिबति लोको जानाति—क्षीरमिति कोशया श्रीयकाय कथित राजा श्रीयकं भणति—ईदृशो मम हितस्तव पिताऽभूत्, श्रीयको भणति—सत्यं स्वामिन् ! एतेन दुष्टमद्यपायिना एतदस्माकं कृतं राजा भणति किं मद्यं पिबति ? पिबति कथं ? तदि प्रेक्षस्व स राजकुलं गतः तेनोत्पलं भावितं मनुष्यहस्ते दत्तं एतत् वररुचये दद्याः इमान्यन्येभ्य स आस्थान्यां प्रधावितः तद् वररुचय एव दत्तं तेनाघ्रातं भृङ्गारेणागतं निष्ठ्यूतं चातुर्वैद्येन प्रायश्चित्ते स तप्तं त्रपुः पायितः मृतः। स्थूलभद्रस्वाम्यपि संभूतिविजयानां सकाशे घोराकारं तपः करोति विहरन् पाटलिपुत्रमागत त्रयोऽनगारा अभिग्रहं गृह्णन्ति—एकः सिंहगुहायां तं प्रेक्षमाणः सिंह उपशान्तः, अन्यः सर्पवसतौ सोऽपि दृष्टिविष उपशान्तः अन्यः कूपफलके स्थूलभद्रः कोशाया गृहे सा

तुडा परीसहपराजिओ आगओत्ति, भणइ–किं करेमि ?, वज्झाण घरे ठाणं देहि, दिण्णो, रत्तिं सव्वालंकारविभूसिया आगया, चाडुयं पकया, सो मवरो इव निक्कंपो न सक्कए खोहेउं, ताहे धम्मं पडिसुणइ, साविया जाया, भणइ–जइ रायावसेणं अण्णेण समं वसेज्जा इयरहा बंभचारिणियावयं सा गिण्हइ, ताहे सीहगुहाओ आगओ चत्तारि मासे उववासं काऊण, आयरिएहिं ईसित्ति अब्भुट्ठिओ, भणियं–सागयं दुक्करकारगस्सत्ति ?, एवं सप्पाइत्तो कूवफलहओवि, दूधमइ सामीवि तत्थेव गणियाघरे भिक्खं गेण्हइ, सोवि चउमासेसु पुण्णेसु आगओ, आयरिया संभमेण अब्भुट्ठिया, भणियं–सागयं ते अइदुक्कर २ कारगत्ति ?, ते भणंति तिण्णिवि–पेच्छह आयरिया रागं वहंति अमच्चपुत्तोत्ति, बितियवरिसारत्ते सीहगुहाखमओ गणियाघरं वच्चामि अभिग्गहं गेण्हइ, आयरिया उवउत्ता, वारिओ, अपडिसुणेंतो गओ, वसही मग्गिया, दिण्णा, सा सभावेण उरालियसरीरा विभूसिया अविभूसियावि, धम्मं सुणेइ, तीसे सरीरे सो अज्झोववन्नो, ओभासइ, सा

---

१ तुडा परीषहपराजित आयत इति भणति–किं करोमि ? उद्याने गृहे स्थानं देहि, दत्तं रात्रौ सर्वालङ्कारविभूषिता आयता चाटु प्रकृता स मेरुरिव निष्प्रकम्पो न शक्यते क्षोभयितुं, तदा धर्मं शृणोति श्राविका जाता भणति–यदि राजवशेनान्येन समं वसामि इतरथा ब्रह्मचारिणीव्रतं सा गृह्णाति तदा सिंहगुहायाः आगतश्चतुरो मासानुपवासं कृत्वा आचार्यैरीषदिति अभ्युत्थितः भणितं–स्वागतं दुष्करकारकस्येति ? एवं सर्पविलसरकः कूपफलकसहकोऽपि दूधभ्राजोऽपि स्वामी तत्रैव गणिकागृहे भिक्षां गृह्णाति सोऽपि चातुर्मास्यां पूर्णायामागतः आचार्याः संभ्रमेणोत्थिताः भणितं–स्वागतं तेऽतिदुष्करदुष्करकारक ? ते भणन्ति त्रयोऽपि–पश्यत आचार्या रागं वहन्ति अमात्यपुत्र इति द्वितीयवर्षारात्रे सिंहगुहाक्षपको गणिकागृहं व्रजामीति अभिग्रहं गृह्णाति आचार्या उपयुक्ताः वारितोऽप्रतिशृण्वन् गतः वसतिर्मार्गिता, दत्ता, सा स्वभावेनोदारशरीरा विभूषिता अविभूषितापि धर्मं शृणोति तस्याः शरीरे सोऽध्युपपन्नः, याचते, सा

देरिसेइ, ओहामिओ गओ, पुणोवि छिद्दाणि मग्गइ सगडालस्स एएण सव्व खोडियंति, अण्णया सिरीयस्स वियाहो, रण्णो अणुओगो सज्जिज्जइ, वररुइणा तस्स दासी ओलग्गिया, तीए कहियं—रण्णो भत्तं सज्जिज्जइ आओगो य, ताहे तेण चिंतियं—एयं छिड्डं, डिंभरूवाणि मोयगे दाऊण इमं पाढेइ—'रायनंदु नवि जाणइ जं सगडालो काहिइ। रायनंद मारेत्ता तो सिरियं रज्जे ठवेहिंत्ति ॥ १ ॥' ताइ पढंति, रायाए सुयं, गवेसामि, तं दिट्ठं, कुविओ राया, जओ जओ सगडालो पाएसु पडइ तओ तओ पराहुत्तो ठाइ, सगडालो घर गओ, सिरिओ नंदस्स पडिहारो, तं भणइ—किमहं मरामि सव्वा णिवि मरंतु ?, तुमं ममं रण्णो पायवडियं मारेहि, सो कण्णे ठएइ, सगडालो भणइ—अहं तालउडं विसं खामि, पायवडिओ य पमओ, तुमं ममं पायवडियं मारेहिसि, तेण पडिस्सुयं, ताहे मारिओ, राया उट्ठिओ, हाहा अकज्जं !, सिरियत्ति, भणइ—जो तुज्झ पावो सो अम्हवि पावो, सक्कारिओ सिरियओ, भणिओ, कुमारामच्चत्तणं पडिवज्जसु, सो भणइ—ममं जेट्ठो

---

१ दर्शयति अपभ्राजितो गतः पुनरपि छिद्राणि मार्गयति शकटालस्य एतेन सर्वं विनाशितमिति अन्यदा श्रीयकस्य विवाहः राज्ञो नियोगः प्रारब्ध वररुचिना तस्य दासी अवलगिता तया कथितं—राज्ञो भक्तं सज्जयते आयोगश्च तदा तेन चिन्तितं—एतत् छिद्रं डिम्भान् मोदकान् दत्वेदं पाठयति— नन्दः राजा नैव जानाति यत् शकटालः करिष्यति। नन्दराजं मारयित्वा ततः श्रीयकं राज्ये स्थापयिष्यती'ति ते पठन्ति राज्ञा श्रुतं गवेषयामि तद् दृष्टं कुपितो राजा यतो यतः शकटालः पादयोः पतति ततस्ततः पराङ्मुखस्तिष्ठति शकटालो गृहं गतः श्रीयको नन्दस्य प्रतीहारः स भणति—किमहं म्रिये सर्वेऽपि म्रियन्तां ? त्वं मां राज्ञः पादयोः पतितं मारय स कर्णौ स्थगयति शकटालो भणति—अहं तालपुटं विषं खादामि पादपतितः मृतः त्वं मां पादपतितं मारयः तेन प्रतिश्रुतं तदा मारितः राजोत्थितः—हा हा अकार्यं श्रीयक इति भणति—यो युष्माकं पापः सोऽस्माकमपि पापः सत्कृतः श्रीयकः भणितः—कुमारामात्यत्वं प्रतिपद्यस्व स भणति—मम ज्येष्ठो

भाया थूलभद्दो बारसमं वरिसं गणियाए घरं पविट्ठस्स, सो सद्दाविओ भणइ–चिंतेमि, सो भणइ–असोगवणियाए चिंतेहि, सो तत्थ अइगओ चिंतेइ–केरिसया भोगा रज्जवक्खित्ताण !, पुणरवि णरयं जाइव्व होहितित्ति, एते एयारिसया भोगा तओ पंचमुट्ठियं लोयं काऊण कंबलरयणं छिंदित्ता रयहरणं करेत्ता रण्णो पाससमागओ धम्मेण वड्ढाहि एवं चिंतियं, राया भणइ–सुचिंतियं, निग्गओ, राया भणइ–पेच्छह कवडत्तणेण गणियाघरं पविसइ नवित्ति, आगासतलगओ पेच्छइ, जहा मतकलेवरस्स जणो अवसरइ मुहाणि य ठएइ, सो भगवं तहेव जाइ, राया भणइ–निव्विण्णकामभोगो भगवंति, सिरिओ ठविओ, सो सम्भूयविजयस्स पासे पव्वइओ, सिरिओवि किर भाइनेहेण कोसाए गणियाए घरं अल्लियइ, सा य अणुरत्ता थूलभद्दे अण्णं मणुस्सं नेच्छइ, तीसे कोसाए सहरिसा भगिणी उवकोसा, तीए सह वररुई चिट्ठइ, सो सिरिओ तस्स छिद्दाणि मग्गइ, भाउज्जायाए मूले भणइ–एयस्स निमित्तेण अम्हे पितिमरणं पत्ता, भाइविओगं च पत्ता, तुज्झ विओओ

---

१ भ्राता स्थूलभद्रः द्वादशं वर्षं गणिकागृहं प्रविष्टस्य स आहूतो भणति–चिन्तयामि स भणति–अशोकवनिकायां चिन्तय स तत्रातिगतश्चिन्तयति कीदृशा भोगा राज्यव्याक्षिप्तानां ? पुनरपि नरकं पातव्यं भविष्यतीति एते यादृशा भोगास्ततः पञ्चमुष्टिकं लोचं कृत्वा कम्बलरत्नं छित्त्वा रजोहरणं कृत्वा राज्ञः पार्श्वमागतः धर्मेण वर्धस्वैवं चिन्तितं राजा भणति–सुचिन्तितं निर्गतो राजा भणति–पश्यामि कपटेन गणिकागृहं प्रविशति नवेति आकाशतलगतः प्रेक्षते यथा मृतकलेवरात् जनोऽपसरति मुखानि च स्थगयति स भगवान् तथैव याति राजा भणति–निर्विण्णकामभोगो भगवानिति श्रीयकः स्थापितः स संभूतिविजयस्य पार्श्वे प्रव्रजितः श्रीयकोऽपि किल भ्रातृस्नेहेन कोशाया गृहमागच्छति सा चानुरक्ता स्थूलभद्रेऽन्यं मनुष्यं नेच्छति तस्याः कोशाया कनी भगिन्युपकोशा तया सह वररुचिस्तिष्ठति स श्रीयकस्य छिद्राणि मार्गयति भ्रातृजायाया मूले भणति–एतस्य निमित्तेन अस्माकं पिता मरणं प्राप्तः, भ्रातृवियोगं च (प्राप्ता) प्राप्ताः तव वियोगो

पडिनियत्तो, इयरोवि विलक्खो नियत्तो पुच्छिओ छज्जइ अक्खिउं, पलयइ पडुगोत्ति अक्खायं, नट्ठा, नंदोवि कप्पएण भणिओ—सण्णह, पच्छा आसहत्थी य गहिया, पुणोवि ठविओ तंमि ठाणे, सो य निओगामच्चो विणासिओ, तस्स कप्पगस्स वंसो णंदवंसेण समं अणुवत्तइ, नवमए नंदे कप्पगवंसपसूओ सगडालो, थूलभद्दो से पुत्तो सिरिओ य, सत्त धीयरो य जक्खा जक्खदिन्ना भूया भूयदिण्णा सेणा वेणा रेणा, इओ य वररुइ धिज्जाइओ नंद अट्ठसएण सिलोगाणमोलग्गइ, सो राया तुट्ठो सगडालमुहं पलोएइ, सो मिच्छत्तंतिकाउं न पसंसेइ, तेण भज्जा से ओलग्गिया, पुच्छिओ भणइ—भत्ता ते ण पसंसइ, तीए भणियं—अहं पसंसावेमि, तओ सो तीए भणिओ, पच्छा भणइ—किह मिच्छत्तं पसंसामित्ति ?, एवं दिवसे २ महिलाए करणिं कारिओ अण्णया भणइ—सुभासियंति, ताहे दीणाराण अट्ठसयं दिण्णं, पच्छा दिणे २ पदिण्णा, सगडालो चिंतेइ—निट्ठिओ रायकोसोत्ति, नंदं भणइ—भट्टारगा ! किं तुब्भे एयस्स देह ?, तुब्भे पसंसिओत्ति, भणइ—अहं

---

१ प्रतिनियुक्तः, इतरोऽपि विलक्षो नियुक्तः पृष्टो कथते आख्यातुं, प्रलपति पठुक इति आख्यातं नष्टाः, नन्दोऽपि कल्पकेन भणितः—संज्ञापय पश्चाद् हस्तिनश्च गृहीताः। पुनरपि स्थापितस्तस्मिन् स्थाने स च नियोगामात्यो विनाशितः तस्य कल्पकस्य वंशो नन्दवंशेन सममनुवर्तते नवमे नन्दे कल्पकवंशप्रसूतः शकटालः स्थूलभद्रस्तस्य पुत्रः श्रीयकश्च सप्त दुहितरश्च यक्षा यक्षदत्ता भूता भूतदत्ता सेणा वेणा रेणा इतश्च वररुचिर्धिग्जातीयो नन्दमष्टशतेन श्लोकानां सेवते स राजा तुष्टः शकटालमुखं प्रलोकयति स मिथ्यात्वमितिकृत्वा न प्रशंसति तेन भार्या तस्याराद्धा पृष्टो भणति—भर्ता तव न प्रशंसति तया भणितं—अहं प्रशंसयामि ततः स तया भणितः पश्चात् भणति—कथं मिथ्यात्वं प्रशंसामि ! इति एवं दिवसे दिवसे महिलया कार्यं (प्रशंसाकिंवा) भणितोऽन्यदा भणति—सुभाषितमिति तदा दीनाराणामष्टशतं दत्तं पश्चाद्दिने दिने प्रदातुमारब्धः शकटालश्चिन्तयति—निष्ठितो राजकोश इति नन्दं भणति—भट्टारकाः ! किं यूयमेतस्मै दत्त !, त्वया प्रशंसित इति भणति—अहं

पेसंसामि छोइयकमाणि अनहाणि पढइ, राया भणइ—कई छोइयकमाणि ?, सगडालो भणइ—मम धूयाओवि पढंति, किमंग पुण अण्णो लोगो ?, जक्खा एगंपि सुयं गिण्हइ बितिया दोहिं तइया तिहिं वाराहिं, ताओ अण्णया पविसंति अंतेउरं, जवणियंतरियाओ ठवियाओ, वररुई आगओ थुणइ, पच्छा जक्खाए पढियं बितियाए दोण्णि तइयाए तिण्णि वारा सुयं पढियं एवं सत्तहिवि, रायाए पत्तियं, वररुईस्स दाणं वारियं, पच्छा सो ते दीणारे रत्तिं गंगाजले जंते ठवेइ, ताहे दिवसओ थुणइ गंगं, पच्छा पाएण आहणइ, गंगा देइत्ति एवं लोगो भणइ, कालंतरेण रायाए सुयं, सगडालस्स कहेइ—तस्स किर गंगा देइ, सगडालो भणइ—जइ मए गए देइ तो देइ, कल्लं वच्चामि, तेण पच्चइगो पुरिसो पेसिओ वियाले पच्छन्नं अच्छसु जं वररुई ठवेइ तं आणेज्जासि, गएण आणिया पोट्टलिया सगडालस्स दिण्णा, गोसे नंदोवि गओ, पेच्छइ थुणंतं, थुए निब्बुड्डो, हत्थेहिं पाएहिं य जंतं मग्गइ, नत्थि, विलक्खो जाओ, ताहे सगडालो पोट्टलियं रण्णो

---

1 प्रशंसामि शौचिककाव्यानि अनवद्यानि पठति राजा भणति—कथं शौचिककाव्यानि ? शकटालो भणति—मम दुहितरोऽपि पठन्ति किमङ्ग पुनरन्यो लोकः ? यक्षा एकशः श्रुतं गृह्णाति द्वितीया द्विकृत्वः तृतीया त्रिः ता अन्यदा प्रविशन्ति अन्तःपुरं यवनिकान्तरिताः स्थापिताः वररुचिरागतः स्तौति पश्चात् यक्षया एकशः द्वितीयया द्विकृत्वस्तृतीयया त्रिः श्रुतं पठितं एवं सप्तभिरपि राज्ञा प्रत्ययितं वररुचये दानं वारितं पश्चात्स तान् दीनारान् रात्रौ गङ्गाजले यन्त्रे स्थापयति तदा दिवसे स्तौति गङ्गां पश्चात्पादेनाहन्ति गङ्गा ददातीत्येवं लोको भणति कालान्तरेण राज्ञा श्रुतं शकटालस्य कथयति—तस्मै किल गङ्गा ददाति शकटालो भणति—यदि मयि गते ददाति तर्हि ददाति कल्ये व्रजामः तेन प्रत्ययितः पुरुषः प्रेषितो विकाले प्रच्छन्नं तिष्ठ यद्वररुचिः स्थापयति तदानयेः गतेनानीता पोट्टलिका शकटालाय दत्ता प्रत्यूषसि नन्दोऽपि गतः प्रेक्षते स्तुवन्तं स्तुत्वा मग्नः हस्ताभ्यां पादाभ्यां च यन्त्रं मार्गयति नास्ति, विलक्षो जातः तदा शकटालः पोट्टलिकां राज्ञे

पडिनियत्तो, इयरोवि विलक्खो नियत्तो पुच्छिओ लज्जइ अक्खिउं, पलवइ भड्डुगोत्ति अक्खाय, नट्ठा, नंदोवि कप्पएण भणिओ—सण्णाइ, पच्छा आसहत्थी य गहिया, पुणोवि ठविओ तंमि ठाणे, सो य निओगामच्चो विणासिओ, तस्स कप्पगस्स वंसो णंदवंसेण समं अणुवत्तइ, नवमए नंदे कप्पगवंसपसूओ सगडालो, थूलभद्दो से पुत्तो सिरिओ य, सत्त धीयरो य जक्खा जक्खदिन्ना भूया भूयदिण्णा सेणा वेणा रेणा, इओ य वररुइ धिज्जाइओ नंद अट्ठसएण सिलोगाणमोलग्गइ, सो राया तुट्ठो सगडालमुहं पलोएइ, सो मिच्छत्तंतिकाउं न पसंसेइ, तेण भज्जा से ओलग्गिया, पुच्छिओ भणइ—भत्ता ते ण पसंसइ, तीए भणियं—अहं पसंसावेमि, तओ सो तीए भणिओ, पच्छा भणइ—किह मिच्छत्तं पसंसामित्ति ?, एवं दिवसे २ महिलाए करणिं कारिओ अण्णया भणइ—सुभासियंति, ताहे दीणाराण अट्ठसयं दिण्णं, पच्छा दिणे २ पदिण्णा, सगडालो चिंतेइ—निट्ठिओ रायकोसोत्ति, नंद भणइ—भट्टारगा ! किं तुब्भे एयस्स देह ?, तुब्भे पसंसिओत्ति, भणइ—अहं

---

1 प्रतिनिवृत्तः इतरोऽपि विलक्षो निवृत्तः पृष्टो लज्जते आख्यातुं प्रलपति बटुक इति आख्यातं नष्टाः नन्दोऽपि कल्पकेन भणितः—संज्ञया पश्चादश्वा हस्तिनश्च गृहीताः पुनरपि स्थापितस्तस्मिन् स्थाने स च नियोगामात्यो विनाशितः तस्य कल्पकस्य वंशो नन्दवंशेन सममनुवर्त्तते नवमे नन्दे कल्पकवंशप्रसूतः शकटालः स्थूलभद्रस्तस्य पुत्रः श्रीयकश्च सप्त दुहितरश्च यक्षा यक्षदत्ता भूता भूतदत्ता सेना वेना रेना इतश्च वररुचिर्धिग्जातीयो नन्दमष्टशतेन श्लोकानां सेवते स राजा तुष्टः शकटालमुखं प्रलोकयति स मिथ्यात्वमितिकृत्वा न प्रशंसति तेन भार्या तस्याराद्धा पृष्टो भणति—भर्त्ता तव न प्रशंसति तया भणितं—अहं प्रशंसयामि ततः स तया भणितः पश्चात् भणति—कथं मिथ्यात्वं प्रशंसामि ? इति एवं दिवसे दिवसे महिलया कारणं (प्रशंसाक्रिया) कारितोऽन्यदा भणति—सुभाषितमिति तदा दीनाराणामष्टशतं दत्तं पश्चाद्दिने दिने प्रदातुमारब्धः शकटालश्चिन्तयति—निष्ठितो राजकोश इति नन्दं भणति—भट्टारकाः ! किं यूयमेतस्मै दत्थ ?, युष्माभिः प्रशंसित इति भणति—अहं

सो खेमेत्त, ताणि भणंति—अम्हे असमत्थाणि, भत्तं पच्चक्खामो, पच्चक्खायं, गयाणि देवलोगं, कप्पगो खेमइ, पचंतरा तीहि य सुय जहा कप्पगो विणासिओ, आमो गेण्हामोत्ति, आगएहिं पाडलिपुत्तं रोहियं, नंदो चिंतेइ—जइ कप्पगो होंतो न एवं अभिद्दवंतो, पुच्छिया बारपाला—अत्थि तत्थ कोइ भत्तं पडिच्छइ ?, जो तस्स दासो सोवि महामंतित्ति, तेहिं भणिय—अत्थि, ताहे आसंदएण उक्खिवत्ता नीणिओ, पिछुक्किओ विज्जेहिं सघुक्किओ बाहे कारिए पागारे दरिसिओ कप्पगो, दरिसिओ कप्पगोत्ति ते भीया दंडा सासंकिया जाया, नंद परिहीण णाऊण सुट्ठुतरं अभिद्दवंति, ताहे लेहो विसज्जिओ, जो तुज्झ सव्वेसिं अभिमओ सो एउ तो संधी वा जं तुब्भे भणिहिह तं करेहित्ति, तेहिं दूओ विसज्जिओ, कप्पओ विनिग्गओ, नदीमज्झे मिलिया, कप्पगो नावाए हत्थसण्णाहिं लवइ, उच्छुकलावस्स हेट्ठा उवरिं च छिन्नस्स मज्झे किं होइ, दहिकुंडस्स हेट्ठा उवरिं च छिन्नस्स धसत्ति पडियस्स किं होहिइत्ति ?, एवं भणित्ता तं पयाहिणं करेंतो

---

१ स क्षेमस्तु ते भणन्ति—वयमसमर्थाः भक्तं प्रत्याख्यामः प्रत्याख्यात गता देवलोकं कल्पको क्षेमस्ति प्रत्यन्तरास्त्रिभिः सुत यथा कल्पको विनाशितः ग्रामो गृह्णीम इति आगतौ पाटलिपुत्रं रुद्धं, नन्दश्चिन्तयति—यदि कल्पकोऽभविष्यत्तदा नैवमभ्यद्रोक्ष्यं पृष्टा द्वारपालाः—अस्ति तत्र कश्चित् ? भक्तं प्रतीच्छति ? कल्पकस्य दासः सोऽपि महामन्त्रीति तैर्भणितं—अस्ति तदाऽऽसनस्थेनोत्क्षिप्य निष्काशितः प्रक्षाल्यो वैद्यैः (प्रीतिमानीतः) पश्चात् बाह्ये प्राकारे दर्शितः कल्पकः दर्शितः सन् कल्पक इति ते भीताः दण्डाः साशङ्का जाताः नन्द परिहीनं ज्ञात्वा सुष्ठुतराम् अभिद्रवन्ति तदा लेखो विसृष्टः—यो युष्माकं सर्वेषामभिमतः स आयातु ततः सन्धि वा यद्यूयं भणिष्यथ तत् करिष्याम इति दूतो विसृष्टः कल्पको विनिर्गतः, नदीमध्ये मिलिताः कल्पके नावि हस्तसंज्ञाभिर्जल्पति इक्षुकलापस्याधस्तादुपरि च छिन्नस्य मध्ये किं भवति ? दधिकुण्डस्याधस्तादुपरि च छिन्नस्य वसगिति पतितस्य किं भवतीति एवं भणित्वा तान् प्रदक्षिणां कुर्वन्

भणइ–महाराय ! ज भणसि त करेमि, रयगसेणी आगया, रायाए समं वल्लयंत दट्ठूण नट्ठा, कुमारामच्चो ठिओ, एय सव रज्ज तदायत्त ठियं, पुत्ताथि से जाया, सीसे अण्णाणं च ईसरभूयाणं, अण्णया कप्पगपुत्तस्स वियाहो, तेण चिंतियं–सते नरस्स रण्णो भत्त दायव्वं, आहरणाणि रण्णो निओगो घडिज्जइ, ओ नंदेण कुमारामच्चो फेडिओ सो तस्स छिद्दाणि मग्गइ, कप्पगदासी दाणमाणसगहिया कया, जो थ तस्स सामिस्स दिवसोदंतो त कहेइ दिये २, सीए पडियण्णं, अण्णया भणइ–रण्णो निओगो घडिज्जइ, पुवामच्चो थ जो फेडिओ तेण छिद्द लद्धं, रायाए पायवडिओ विण्णवेइ–अइयि अम्ह तुम्ह अविगणिया तहावि तुम्ह संतिगाणि सित्थाणि धरेति अज्जवि तेण अयस्स कहेयव्वं जहा किर कप्पओ तुम्ह अहियं चिंतिन्तो पुत्त रज्जे ठवित्तकामो, रज्जनिओगो सज्जिज्जइ, पेसविया रायपुरिसा, सकुडुंबो कूवे छूढो, कोद्दवोदणसइया पाणियगलंतिया य दिज्जइ, सव्वं सारे सो भणइ–एएण सव्वेहिंवि मारियव्व, ओ ण एगो कुलुद्धारयं करेइ वेरनिज्जायण च

१ भणसि–महाराज ! यज्जनसि तद् करोमि रत्नश्रेणिरागता राज्ञा समं भुञ्जानयन्त दृष्ट्वा नष्टा कुमारामात्यःस्थितः एव सव राज्य तदायत्त स्थित पुत्रा अपि तस्य जाताः तस्या अन्यायां चेश्वरभूतानाम्, अन्यदा कल्पकपुत्रस्य विवाहो (जातः) तेन चिन्तित–साम्प्रतं राज्ञो भक्त दातव्यं आभरणानि राज्ञो नियोगो घट्यते यो नन्देन कुमारामात्यः स्फेटितः स तस्य छिद्राणि मार्गयति कल्पकदासो दानमानसंगृहीता कृता यम तस्य स्वामिनो दिवसोदन्तं कथयेः दिवा दिवा तया प्रतिपन्नं अन्यदा भणति–राज्ञो नियोगो घट्यते पूर्वामात्यश्च यः स्फेटितस्तेन छिद्र लब्ध राज्ञे पादपतितो विज्ञपयति–यद्यपि वयं युष्माकमविमतास्तथापि युष्माकस्कानि सिक्थूनि ध्रियन्तेऽद्यापि तेनास्य कथयितव्यं यथा किल कल्पको युष्माकमहित चिन्तयन् पुत्र राज्य स्थापयितुकामः राज्यनियोगः प्रगुणीक्रियते प्रेषिता राजपुरुषाः सकुटुम्बः कूपे क्षिप्तः कोद्रवौदनसेतिका पानीयस्य गलन्तिका (गगरी) च दीयते सर्वान् तदा स भणति–एतेन सर्वेऽपि मारयितव्याः योऽस्माकमेकः कुलोद्धारं करोति वैरनिर्यातन च

कप्पगस्स पोत्ताइ धोवसि नवत्ति !, भणइ—धोवामि, ताहे राणाए भणिओ—अइ एत्ताहे अप्पेइ तो मा दिज्जासित्ति, भण्णया इंदमहे से भणइ भज्जा—से ममयेताइ पोत्ताइं रयाविहि, सो नेच्छइ, सा अभिक्खणं वहेइ, तेण पडिवण्णं, तेण नीयाणि रयगहरं, सो भणइ—अहं विणा मोल्लेण रयामि, सो छणदिवसे पमग्गिओ, अज्जहिओत्ति कालं हरइ, सो छणो वोलीणो, तहवि न देइ, बीए वरिसे न दिण्णाणि, तइएवि वरिसे दिवे २ मग्गइ न देइ, तस्स रोसो जाओ, भणइ—कप्पगो न होमि जइ तव रुहिरेण न रयामि, अग्गिं पविसामि, अण्णदिवसे गओ छुरियं घेत्तूण, सो रयओ भज्जं भणइ—आणेहित्ति, दिण्णाणि, तस्स पोट्टं फालित्ता रुहिरेण रयाणि, रयगमज्जा भणइ—राणाए एसो मारिओ किमेएण अवरद्धं !, कप्पस्स चिंता जाया—एस रण्णो माया, तया मए कुमारामच्चत्तणं नेच्छियंति, जइ पवइओ होंतो किमेयं होयंति, वच्चामि सयं मा गोहेहि नेज्जीहामित्ति गओ रायकुलं, राया उट्ठिओ, भणइ—संदिसह किं करेमि !, तं मम चिंतणं चिंतियंति, सो

---

1 कल्पक त्वमसि महाकल्पसि कथेति ? भणति—महाकल्पामि तदा राज्ञा भणिता—यदा कुमारोऽर्पयति तर्हि मा दद्या इति कल्याणेऽस्मिन् तं भणति भार्या—अथ मम तानि ददासि रञ्जय स नेच्छति साऽभीक्ष्णं कथयति तेन प्रतिपन्नं तेन नीतानि रजकगृहं, स भणति—अहं विना मूल्येन रञ्जयामि स अन्य-दिवसे प्रमार्गितः अद्य श्वः (वा) इति कालमुत्क्षिपते स क्षणो व्यतिक्रान्तः तथापि न ददाति द्वितीये वर्षे न ददाति तृतीयेऽपि वर्षे दिवसे २ मार्गयति न ददाति तस्य रोषो जातः भणति—कल्पको न भवामि यदि तव रुधिरेण न रञ्जयामि वह्निं प्रविशामि अन्यदिवसे गतः क्षुरिकां गृहीत्वा स रजको भार्यां भणति—आनयेति ददाति तस्योदरं पाटयित्वा रुधिरेण रञ्जितानि रजकभार्या भणति—राज्ञैष मारितः किमेतेनापराद्धं, कल्पस्य चिन्ता जाता एष राज्ञो माया तदा मया कुमारामात्यत्वं नेष्टमिति यदि प्रव्रजितोऽभविष्यं किमिदमभविष्यदिति व्रजामि स्वयं मा बन्धयित्वा नैषीदिति इति गतो राजकुलं राजोत्थितः भणति—संदिश किं करोमि त्वं मम चिन्तितं चिन्तितं, स

नेच्छइ, दारियाओ लभमाणीओ नेच्छइ, अणेगेहिं सडिगसएहिं परिवारिओ हिंडइ, इओ य तस्स अइगमणनिग्गमणपहे एगो मरुओ, तस्स धूया जलूसतवाहिणा गहिया, लायन्नं सरीरस्स नत्थि अतीयरूविणित्ति न कोइ वरेइ, महती जाया, रुट्टिर से आगयं, तस्स कहियं मायाए, सो चिंतेइ—भंभयमज्झा एसा, कप्पगो सच्चसंधो तस्स उवाएण देमि, तेण दारं अगडे खओ, तत्थ ठविया, तेणतेण य कप्पगोऽतीति, महया सद्देण पकुविओ—भो भो कविला ! अगडे पडिया जो नित्थारेइ तस्सेवेसा, त सोऊण कप्पगो किवाए धाविओ उत्तारिया यऽणेण, भणिओ य—सच्चसंधो होज्जासि पुत्तगत्ति, ताहे तेण अणवायभएण पडियण्णा, तेण पच्छा ओसहसंजोएण लट्ठी कया, रायाए सुयं—कप्पओ पंडिओत्ति, सद्दाविओ विण्णविओ य रायाण भणइ—अहं ग्रासाच्छादन विनिर्मुच्य परिग्रहं न करेमि, कह इमं किच सपडियज्जामि ?, न तीरइ निरवराहस्स किंची काउं, ताहे सो राया छिद्दाइ मग्गइ, अण्णया रायाए आयाए साडीए निल्लेवगो सो सद्दाविओ, सुम

1 नेच्छति दारिका लभ्यमाना नेच्छति अनेकच्छात्रशतैः परिवृतो हिण्डते इतश्च तस्य प्रवेशनिर्गमपथे एको मरुकः तस्य दुहिता जलोदरव्याधिना गृहीता लावण्यं शरीरस्य नास्तीति अतीवरूपिणीति न कोऽपि वृणुते महती जाता ऋतुस्तस्य जातः तस्मै कथितं मात्रा स चिन्तयति–भम्भामध्या एषा कल्पकः सत्यसन्धस्तस्मै उपायेन ददामि तेन द्वारि अवटः खातः तत्र स्थापिता तेनाध्वना च कल्पक आयाति महता शब्देन प्रकूजितः—भो भो ! कपिल अवटे पतिता यो निस्तारयति तस्यैवैषा तच्छ्रुत्वा कल्पकः कृपया धावितः उत्तारिता चानेन भणितश्च सत्यसन्धो भव पुत्रक इति तदा तेन अवापवादभीतेन प्रतिपन्ना तत्र पश्चादौषधसंयोगेन कृता राज्ञा श्रुत—कल्पकः पण्डित इति शब्दितो विज्ञप्तश्च राजानं भणति न करोमि कथमिव इमं संप्रतिपत्स्ये ? न शक्यते निरपराधस्य किञ्चित् कर्तुं तदा स राजा छिद्राणि मार्गयति अन्यदा राज्ञा पाटके (तत्र) आयाया निर्लेपकः स शब्दितः स्व

अस्थाणीओ उट्ठित्ता निग्गओ, पुणो पविट्ठो, ते ण उट्ठेंति, तेण भणियं—गेण्हह एए गोहेत्ति, ते अवरोप्परं दट्ठूण हसंति, तेण अमरिसेण अत्थाणिमंडलियाए लिप्पकम्मनिम्मियं पडिहारजुयलं पलोइयं, ताहे तेण सरभसुट्ठाइएण असिहत्थेण मारिया केइ नट्ठा, पच्छा विणयं उवट्ठिया, स्वामिओ राया, तस्स कुमारामच्चा नत्थि, सो मग्गइ। इओ य कविलो नाम बंभणो णयरबाहिरियाए वसइ, वेयालियं च साहुणो आगया दुक्खं वियाले अतियसुमित्ति तस्स अग्गिहोत्तस्स घरए ठिया, सो बंभणो चिंतेइ—पुच्छामि ता णे किंचि आणंति नवत्ति ?, पुच्छिया, परिकहियं आयरिएहिं, सड्ढो जाओ तं चेव रयणिं, एवं काले वच्चंते अण्णया अण्णे साहुणो तस्स घरे वासारत्ते ठिया, तस्स य पुत्तो जायमेत्तओ अंबारेवईहिं गहिओ, सो साहूण भायणाणि कप्पेंताणं हेट्ठा ठविओ, नट्ठा वाणमंतरी, तीसे पया थिरा जाया, कप्पओत्ति से नामं कयं, ताणि दोवि कालगयाणि, इमोवि चोद्दससु विज्जाट्ठाणेसु सुपरिनिट्ठिओ णाम लभइ पाडलिपुत्ते, सो य संतोसेण दाणं

---

1 आस्थानिकाया उत्थाय निर्गतः पुनः प्रविष्टः, ते नोत्तिष्ठन्ति तेन भणितं—गृह्णीतैतान् बध्नीतेति ते परस्परं दृष्ट्वा हसन्ति तेनामर्षेणास्थानमण्डपिकायां लेप्यकर्मनिर्मितं प्रतीहारयुगलं प्रलोकितं तदा तेन सरभसोत्थितेन असिहस्तेन मारिताः केचिन्नष्टाः पश्चाद्विनयमुपस्थिताः स्वामितो राजा तस्य कुमारामात्या न सन्ति स मार्गयति। इतश्च कपिलो नाम ब्राह्मणो नगरबाहिरिकायां वसति विकाले च साधव आगताः दुःखं विकालेऽतियमुमिति तस्याग्निहोत्रस्य गृहे स्थिताः स ब्राह्मणश्चिन्तयति—पृच्छामि तावत् एते किंचिज्जानन्ति नवेति ? पृष्टाः परिकथितमाचार्यैः श्राद्धो जातस्तामेव रजनीं, एवं व्रजति काले अन्यदाऽन्ये साधवस्तस्य गृहे वर्षारात्रे स्थिताः तस्य च पुत्रः जातमात्रोऽम्बारेवतीभ्यां गृहीतः स साधूनां कल्पयतां भाजनानामधस्तात् स्थापितः नष्टे व्यन्तरी ततः प्रजा स्थिरा जाता कल्पक इति तस्य नाम कृतं तौ द्वावपि कालगतौ अयमपि चतुर्दशसु विद्यास्थानेषु सुपरिनिष्ठितो नाम (रेखां) लभते पाटलीपुत्रे स च संतोषेण दानं

रायावि पसुत्तो, तेण वट्टित्ता रण्णो सीसे निवेसिया, सत्थेव अछिलग्गो निग्गओ, घाणइलगावि न यारिंति पयइओत्ति, रुहिरेण आयरिया पव्वालिया, वट्टिया, पेच्छंति रायाणगं घायाइयं, मा पवयणस्स उड्डाहो होहिइत्ति आलोइयपडिक्कतो अप्पणो सीसं छिंदेइ, कालगओ सो एवं। इओ य ण्हावियसालिगए नावियदुयक्खरओ वयगहायस्स कहेइ–अहा ममऽज्झऽतेण णयरं वेढियं, पढाए विट्ठं, सो सुमिणसत्थं जाणइ, ताहे घरं नेऊण मत्थओ धोओ धूया य से दिण्णा, दिप्पिउमारद्धो, सीयाए णयरं हिंडाविज्जइ, सोवि राया अंतेउरसेज्जावसीहिं दिट्ठो सहसा, पुयिय, नायओ, अवत्तोत्ति अण्णेण दारेणं नीणिओ सक्कारिओ, आसो अहियासिओ, अब्भिंतरा हिंडाविओ मज्झे हिंडाविओ पाहिं निग्गओ रायकुलाओ तस्स ण्हावियदासस्स पट्टिं अडेइ पेच्छइ य णं तेयसा जलंतं, रायाभिसेएण अहिसित्तो राया जाओ, ते य दंडभडभोइया दासोत्ति तहा विणयं न करेंति, सो चिंतेइ जइ विणय ण करेंति कस्स अह रायत्ति

---

१ राजाऽपि प्रसुप्त, तेनोत्थाप्य राज्ञः शीर्षे निवेशिता तत्रैव कमसूरि (?) निर्गतः मार्गीहारिका अपि न वारयन्ति प्रव्रजित इति रुधिरेण चार्याः प्रक्षालिताः उत्थिताः प्रेक्षन्ते राजानं व्यापादितं मा प्रवचनस्योड्डाहो भूदिति आलोचितप्रतिक्रान्ता आत्मनः शीर्षं छिन्दन्ति कालगताः एवं। इतश्च नापितशालायां नापितदासस्य उपाध्यायाय कथयति–यथा ममाद्यान्त्रेण नगरं वेष्टितं प्रभाते स स्वप्नशास्त्रं जानाति तदा गृहं नीत्वा मस्तकं धौतं दुहिता च तस्मै दत्ता, दीपितुमारब्धा शिबिकया नगरं हिण्ड्यते सोऽपि राजा अन्तःपुरिकाशय्यापालिकाभिर्दृष्टः सहसा कूजितं ज्ञातः अमुक इत्यन्येन द्वारेण नीतः सत्कारिता अश्वोऽधिवासितः, अभ्यन्तरे हिण्डितो मध्ये हिण्डितः बहिर्निर्गतो राजकुलात् स नापितदासकं पृष्ठौ स्थापयति प्रेक्षते च तं तेजसा ज्वलन्तं राज्याभिषेकेणाभिषिक्तो राजा जातः ते च दण्डिकभुग्भयोजिका दास इति तथा विनयं न कुर्वन्ति स चिन्तयति–यदि विनयं न कुर्वन्ति कस्याहं राजेति

पाडलिपुत्तस्स उप्पत्ती । सो उदाई तत्थ ठिओ रज्जं भुंजइ, सो य राया ते दंडे अभिक्खणं ओलग्गावेइ, ते चिंतंति—कहमहो पयाए भारीए मुच्चिज्जामो ?, इओ य एगस्स रायाणस्स कम्हिवि अवराहे रज्जं हियं, सो राया नट्ठो, तस्स पुत्तो भमंतो उज्जेणिमागओ, एग रायाणं ओलग्गइ, सो य बहुसो २ परिभवइ उदाइस्स, ताहे सो रायपुत्तो पायवडिओ विण्णवेइ—अहं तस्स पीइं पियामि नवरं मम बितिज्जिओ होज्जासि, तेण पडिस्सुयं, गओ पाडलिपुत्तं, बाहिरिगमज्झिमगपरिसासु ओलग्गिऊण छिद्दमलभमाणो साहूणो अतिंति, ते अतीतमाणे पेच्छइ, ताहे एगस्स आयरियस्स मूले पव्वइओ, सव्वा परिसा आराहिया तस्स पव्वाया, सो राया अट्ठमिचउद्दसीसु पोसहं करेइ, तत्थायरिया अतिंति धम्मकहानिमित्तं, अण्णया वेयालियं, आयरिया भणंति—गेण्हह उवगरण रायउलमतीमो, ताहे सो झत्ति उट्ठिओ, गहियं उवगरणं, पुव्व संगोविया कंकलोहकत्तिया सावि गहिया, पव्वइया कया, अतिगया रायउलं, चिरं धम्मो कहिओ, आयरिया पसुत्ता,

---

१ पाटलिपुत्रस्योत्पत्तिः । स उदायी तत्र स्थितो राज्यं भुनक्ति, स च राजा तान् (सेवकान्) दण्डान् अभीक्ष्णं अवलगयति ते चिन्तयन्ति—कस्मात् एतस्मा भार्या मुच्येमहि इतश्चैकस्य राज्ञः कस्मिन्नपि अपराधे राज्यं हृत स राजा नष्टः तस्य पुत्रो भ्राम्यन् उज्जयिनीमागतः एकं राजानमवलगयति स च बहुशः २ परिभूयते उदायिना तदा स राजपुत्रः पादपतितो विज्ञपयति—अहं तस्य पीतिं पिबामि परं मम द्वितीयो भव तेन प्रतिश्रुतं गतः पाटलिपुत्रं बाह्यमध्यमगपर्षत्सु अवलग्य छिद्रमलभमानः साधव आयान्ति तान् आयातः प्रेक्षते तदैकस्याचार्यस्य मूले प्रव्रजितः सर्वा पर्षद् आराद्धा तस्य प्रव्राजा स राजाऽष्टमीचतुर्दश्योः पोषधं करोति तत्राचार्या आयान्ति धर्मकथानिमित्तं अन्यदा वैकालिके, आचार्या भणन्ति—गृहाणोपकरणं राजकुलमतिगच्छामः तदा स झटिति उत्थितः गृहीतमुपकरणं पूर्वसंगोपिता कङ्कलोहकर्तरिका सापि गृहीता, प्रव्रज्या कृता अतिगतौ राजकुलं चिरं धर्मः कथितः आचार्याः प्रसुप्ताः,

अइसएण, खामेइ, अच्छिति पगओ, ताहे सो केवली भणइ—तुब्भेवि चरमसरीरा सिज्झिहिह गंगं उत्तरता, तो ताहे चेव पडस्थिण्णो, णावावि जेण २ पासेणऽवलग्गइ त त निबुड्डइ मज्झे उद्दिया सव्वावि निबुड्डा, तेहिं पाणीए छूढो, नाण उप्पण्णं, देवेहिं महिमा कया, पयाग तत्थ तित्थ पवत्तं, से सीसकरोडी मच्छकच्छभेहिं खज्जती एगत्थ उच्छलिया पुलिणे, सा इओ तओ छुब्भमाणा एगत्थ लग्गा, तत्थ पाडलिबीय कहवि पविट्ठ, दाहिणाओ हणुगाओ करोडिं भिंदतो पायगो उट्ठिओ, विसालो पायवो जाओ, तत्थ तं चास पासंति, चिंतेंसि—एत्थ णयरे रायस्स सयमेव रयणाणि एहिंति त णयर निवेसिंति, तत्थ सुत्ताणि पसारिज्जति, नेमित्तिओ भणइ—ताव जाहि जाव सिया वासेति तओ नियत्तेज्जासित्ति, ताहे पुव्वाओ अंताओ अवरामुहो गओ तत्थ सिवा उद्दिया नियत्तो, उत्तरामुत्तो तत्थवि, पुणोवि पुव्वामुत्तो गओ तत्थवि, दक्खिणमुत्तो तत्थवि सिवाए वासियं, त किर पाडलसंठियं नयरं, णयरणाभिए य उदाइणा चेइहर कारावियं, एसा

---

१ अतिक्रमेण क्षमयति, अवर्ति भगवः तदा स केवली भणति यूयमपि चरमशरीराः सेत्स्यथ गङ्गामुत्तरन्तः ततस्तैः मोचीर्णः नावपि वर्तिता २ पार्श्वेऽवलगति येन २ मूर्छति मध्ये उपस्थापिताः सर्वेऽपि मूर्छिता है। पानीये क्षिप्तः ज्ञानमुत्पन्न देवैर्महिमा कृतः प्रयागे तत्र तीर्थं जातं तस्य शीर्षकरोटिका मत्स्यकच्छपैः खाद्यमानैकस्मिन्पर्यन्तेऽपि पुलिने सेतत्ताः क्षिप्यमाणैकत्र लग्ना तत्र पाटलाबीजं कथमपि प्रविष्टं दक्षिणाहनुतो करोटिं भित्त्वा पादपः उत्थितः पादपो विशालो जातः तत्र त चाष पश्यन्ति चिन्तयन्ति—अत्र नगरे राज्ञः स्वयमेव रत्नान्येष्यन्ति तत्र नगरं निवेशयिष्यामिति तत्र सूत्राणि प्रसार्यन्ते नैमित्तिको भणति—तावद्यावत् शिवा वाशयति ततो निवर्तयिष्यामिति तदा पूर्वस्मादन्तादपराभिमुखो गतस्तत्र शिवा रटिता निवृत्तः उत्तराभिमुखस्तथापि पुनरपि पूर्वाभिमुखो गतस्तथापि, दक्षिणाभिमुखस्तथापि शिवया वाशितं तत्किल पाटलकसंज्ञितं नगरं नगरनाभौ चोदायिना चैत्यगृहं कारितं, एवं

एव गओ, कालेण देवो देवलोयं दरिसेइ, तत्यवि तहेव पासंडिणो पुच्छिया जाहे न याणंति ताहे अण्णियपुत्ता पुच्छिया, तेहिं कहिया देवलोगा, सा भणइ—किह नरगा न गंमति ?, तेण साहुधम्मो कहिओ, रायाणं च आपुच्छइ, तेण भणियं—मुएमि जइ इहं चेव मम गिहे भिक्खं गिण्हइत्ति, तीए पडिस्सुयं, पव्वइया, तत्थ य ते आयरिया जंघाबलपरिहीणा ओमे पव्वइयगे विसज्जेत्ता तत्थेव विहरंति, ताहे सा भिक्खं अंतेउराओ आणेइ, एवं कालो वच्चइ, अण्णया तीसे भगवईए सोभणेणऽज्झवसाणेण केवलणाणमुप्पणं, केवली किर पुव्वपत्तं विणयं न लंघेइ, अण्णया य आयरियाण हियइच्छियं त आणेइ, सिंभकाले य जेण सिंभो ण उप्पज्जइ, एव सेसेहिवि, ताहे ते भणंति—जं मए चिंतियं तं चेव आणीयं, भणइ—जाणामि, किह ?, अइसएण, केणं ?, केवलेण, केवली आसाइओत्ति खामिओ, अण्णे भणंति—वासे पडंते आणियं, ताहे भणंति—किह अज्जे ! वासे पडंते आणेसि ?, सा भणइ—जेण २ अंतेण अचित्तो तेण २ अन्तेण आगया, कह आणासि ?,

---

१ एवं गता, कालेन देवो देवलोकं दर्शयति, तथापि तथैव पाषण्डिनः पृष्टा यदा न जानन्ति तदाऽन्निकापुत्राः पृष्टाः तैः कथिता देवलोकाः सा भणति—कथं नरका न गम्यन्ते ? तेन साधुधर्मः कथितः राजानं चापृच्छते तेन भणितं—मुञ्चामि यदीहैव मम गृहे भिक्षां गृह्णासि तया प्रतिश्रुतं, प्रव्रजिता तत्र च ते आचार्याः परिहीनजङ्घाबला अवमे प्रव्रजितान् विसृज्य तत्रैव विहरन्ति तदा सा भिक्षामन्तःपुरादानयति एवं कालो व्रजति अन्यदा तस्या भगवत्याः शोभनेनाध्यवसायेन केवलज्ञानमुत्पन्नं, केवली किल पूर्वप्रवृत्तं विनयं न लङ्घयति अन्यदा चाचार्याणां हृदयेप्सितं तदानयति श्लेष्मकाले च येन श्लेष्मा नोत्पद्यते, एवं शेषैरपि तदा ते भणन्ति—यन्मया चिन्तितं तदेवानीतं भणति—जानामि कथं ? अतिशयेन केन ? केवलेन क्षमिता केवल्याशातित इति अन्ये भणन्ति—वर्षति पर्जन्ये आनीतं तदा भणन्ति—कथमार्ये ! वर्षति पर्जन्ये आनयसि ?, सा भणति—येन येन मार्गेणाचित्तेन २ मार्गेणागता, कथं जानीषे ?,

ने पाडिहिंति, ताहे सो अण्णियपुत्तो उम्मुक्कबालभावो भोगे अवहाय पव्वइओ, थेरत्तणे विहरमाणो गंगायडे पुप्फभद्दं नामं णयरं गओ ससीसपरिवारो, पुप्फकेऊ राया पुप्फवती देवी, तीसे जमलगाणि दारगो दारिगा य जाया णि पुप्फचूलो पुप्फचूला य अण्णमण्णमणुरत्ताणि, तेण रायाए चिंतियं–जइ विओइज्जंति तो मरंति, ता एयाणि चेव मिहुणगं करेमि, मेलिया नागरा पुच्छिया–जत्थ जं रयणमुप्पज्जइ तस्स को वयसाइ राया णयरे वा अंतेउरे वा ?, एवं पत्तियावेइ, मायाए वारंतीए संजोगो पयाविओ, अभिरमंति, सा देवी साविया तेण निव्वेएण पव्वइया, देवो जाओ, ओहिणा पेच्छइ धूयं, तओ से अम्महिओ नेहो, मा नरगं गच्छिहिसि सुमिणए नरए दंसेइ, सा भीया रायाए अवयासेइ, एवं रत्तिं २, ताहे पासंडिणो सद्दाविया, कहेह केरिसा नरया ?, ते कहिंति, ते अण्णारिसगा, पच्छा अण्णियपुत्ता पुच्छिया, ते कहेउमारद्धा–'निच्चंधयारतमसा॰, सा भणइ–किं तुब्भेहिवि सुमिणओ दिट्ठो ?, आयरिया भणंति–तित्थयरोवएसोत्ति,

1 न भवतस्तातीति तदा सोऽर्णिकापुत्र उन्मुक्तबालभावो भोगानपहाय प्रव्रजितः स्थविरत्वे विहरन् गङ्गातटे पुष्पभद्रं नाम नगरं गतः सशिष्यपरिवारः पुष्पकेतू राजा पुष्पवती देवी तस्या युग्मं दारको दारिका च जाते पुष्पचूलः पुष्पचूला चान्योऽन्यमनुरक्ते तेन राज्ञा चिन्तितं–यदि वियोज्येते तर्हि म्रियेते तदेतावेव मिथुनं करोमि मेलयित्वा नागराः पृष्टाः–यत्र यद्रत्नमुत्पद्यते तस्य को व्यवस्यति राजा नगरे वा अन्तःपुरे वा? एवं प्रत्याययति मातरि वारयन्त्यां संयोगो घटितः अभिरमेते सा देवी श्राविका तेन निर्वेदेन प्रव्रजिता देवो जातः अवधिना प्रेक्षते दुहितरं ततस्तस्याभ्यधिकः स्नेहः मा नरकं गमिष्यति स्वप्ने नरकान् दर्शयति सा भीता राज्ञे कथयति एवं रात्रौ रात्रौ तदा पाषण्डिकाः शब्दिताः कथयत कीदृशा नरकाः ? ते कथयन्ति ते अन्यादृशाः पश्चादर्णिकापुत्राः पृष्टाः, ते कथयितुमारब्धाः–नित्यान्धकारतमिस्राः सा भणति–किं युष्माभिरपि स्वप्नो दृष्टः, आचार्या भणन्ति–तीर्थकरोपदेश इति

दो मेहुराओ–दक्खिणा उत्तरा य, उत्तरमहुराओ वाणिगदारगो दक्खिणमहुरं दिसाजत्ताए गओ, तस्स तत्थ एगेण वाणिय-गेण सह मित्तया, तस्स भगिणी अण्णिया, तेण भत्तं कयं, सा य जेमंतस्स वीयणगं धरेइ, सो तं पाएसु आरंभ वण्णं, दिण्णा, एवं कालो वच्चइ, अण्णया तस्स दारगस्स अंमापितीहिं लेहो विसज्जिओ–अम्हे अंधलीभूयाणि जइ जीवंताणि पेच्छसि तो एहि, सो लेहो उवणीओ, सो तं वाएइ अंसूणि मुयमाणो, तीए दिट्ठो, पुच्छइ, न किंचि साहइ, तीए लेहो गहिओ, वाइत्ता भणइ–मा अधिर्तिं करेहि, आपुच्छामि, ताए कहियं सव्वं अम्मापिऊणं, कहिए विसज्जि-याणि, निग्गयाणि दक्खिणमहुराओ, सा य अण्णिया गुव्विणी, सा अंतरा पंथे वियाया, सो चिंतेइ–अम्मापियरो नामं काहिंतित्ति न कयं, ताहे रमावेंतो परियणो भणेइ–अण्णियाए पुत्तोत्ति, कालेण पत्ताणि, तेहिवि से तं चेव नामं कयं अण्ण

1 द्वे मथुरे–दक्षिणा उत्तरा च उत्तरमथुराया वणिग्दारको दक्षिणमथुरां दिग्यात्रायै गतः तत्र तस्य एकेन वणिजा सह मैत्री तस्य भगिनी अर्णिका, तेन भक्तं कृतं, सा च जेमतो व्यजनकं धारयति स तां पादादारभ्य पश्यति अभ्युपपन्नः, मार्गिता ते भणन्ति–यदीहैव स्थास्यसि यावदेव्यसि तावद् दास्यामः कार्यं (भवेत्) तदा दत्ता मतिवर्ष दत्ता, एवं कालो व्रजति अन्यदा तस्य दारकस्य मातापितृभ्यां लेखो विसृष्टः वयमन्धीभूतौ यदि जीवन्तौ प्रेक्षितुमि-च्छसि तदागच्छ स लेख उपनीतः, स तं वाचयति मुञ्चन्नश्रूणि तया दृष्टः पृच्छति न किञ्चिदपि कथयति तया लेखो गृहीतो वाचयित्वा भणति–मा धृतिं कार्षीः आपृच्छे तया कथितं सर्वं मातापितृभ्यां, कथिते विसृष्टौ निर्गतौ दक्षिणमथुरायाः सा चार्णिका गुर्वी साऽन्तरा पथि प्रसूतवती स चिन्तयति–मातापितरौ नाम करिष्यत इति न कृत, तदा रमयन् परिजनो भणति–अर्णिकायाः पुत्र इति कालेन प्राप्तौ ताभ्यामपि तस्य तदेव नाम कृतमन्यद्

संगमाओ (ग्र० १७५००) एंति नवत्ति जहा निरयावलियाए ताहे पव्वइयाओ, ताहे कोणिओ चंपं आगओ, तत्थ सामी समोसढो, ताहे कोणिओ चिंतेइ—बहुया मम हत्थी चक्कवट्टीओ एवं आसरहाओ जामि पुच्छामि सामी अहं चक्कवट्टी होमि नहोमित्ति निग्गओ सव्वबलसमुदएण, वंदित्ता भणइ—केवइया चक्कवट्टी एस्सा ?, सामी भणइ—सव्वे अतीता, पुणो भणइ—कहिं उववज्जिस्सामि?, छट्ठीए पुढवीए, तमसप्पहंसो सव्वाणि एगिंदियाणि लोहमयाणि रयणाणि करेइ, ताहे सव्व बलेणं तिमिसगुहं गओ अट्ठमेणं भत्तेण, भणइ कयमालगो—अतीता बारस चक्कवट्टिणो जाहित्ति, नेच्छइ, हत्थिविलग्गो मणीं हत्थिमत्थए काऊण दंडेण दुवार आहणइ, ताहे कयमालगेण आहओ मओ छट्ठिं गओ, ताहे रायाणो उदाइं ठावंति, उदाइस्स चिंता जाया—एत्थ णयरे मम पिया आसि, अन्निहीए अण्णं णयरं कारावेइ, मग्गइ वत्थुंति पेसिया, तेवि एगाए पाडलाए उवरिं अवदारिएण तुडेण चास पासंति, कीडगा से अप्पणा चेव मुहं अतिंति, किह सा पाडलित्ति,

१ संग्रामात् आगमिष्यन्ति भवेति ? यथा निरयावलिकायां तदा प्रव्रजिताः। तदा कोणिकश्चम्पामागतः तत्र स्वामी समवसृतः तदा कोणिकश्चिन्त यति—बहवो मम हस्तिनश्चक्रवर्तिनः (यथा) एवमश्वरथाः यामि पृच्छामि स्वामिनं अहं चक्रवर्ती भवामि न भवामीति ? निर्गतः सर्वबलसमुदयेन वन्दित्वा भणति—कियन्तश्चक्रवर्तिन एष्याः ? स्वामी भणति—सर्वेऽतीताः पुनर्भणति—कोत्पत्स्ये ? षष्ठ्यां पृथ्व्यां तमःप्रभायां सर्वाण्येकेन्द्रियाणि रत्नानि लोहमयानि करोति तदा सर्वबलेन तमिस्रगुहां गतः अष्टमभक्तेन भणति कृतमालकः—अतीता द्वादश चक्रवर्तिनो याहीति नेच्छति हस्तिविलग्नो मणिं हस्तिमस्तके कृत्वा दण्डेन द्वारमाहन्ति तदा कृतमालकेनाहतो मृतः षष्ठीं गतः तदा राजान उदायिनं स्थापयन्ति उदायिनश्चिन्ता जाता—अत्र नगरे मम पिताऽऽसीत्, अन्यद् नगरं कारयति मार्गयत वास्तु इति प्रेषिताः तेऽप्येकस्याः पाटलायाः उपर्यवदारितेन तुण्डेन चाषं पश्यन्ति कीटकाः स्वयमेव मुखमायान्ति कथं सा पाटलेति ?,

दो मेहुराओ—दक्खिणा उत्तरा य, उत्तरमहुराओ वाणियदारगो दक्खिणमहुरं दिसाजत्ताए गओ, तस्स तत्थ एगेण वाणियगेण सह मित्तया, तस्स भगिणी अण्णिया, तेण भत्तं कयं, सा य खेमतस्स वीयणगं धरेइ, सो तं पाएसु आरंभ णिवण्णेति अज्झोववन्नो, मग्गाविया, ताणि भणंति—जइ इहं चेव अच्छसि जाव एक्कंपि ता दारगरूवं जाय तो देमो, पडिवण्णं, दिण्णा, एव कालो वच्चइ, अण्णया तस्स दारगस्स अंमापितीहिं लेहो विसज्जिओ—अम्हे अंधलीभूयाणि जइ जीवंताणि पेच्छसि तो एहि, सो लेहो उवणीओ, सो तं वाएइ अंसूणि मुयमाणो, तीए दिट्ठो, पुच्छइ, न किंचि साहइ, तीए लेहो गहिओ, वाइत्ता भणइ—मा अधितिं करेहि, आपुच्छामि, ताए कहियं सव्वं अम्हापिऊणं, कहिए विसज्जियाणि, निग्गयाणि दक्खिणमहुराओ, सा य अण्णिया गुव्विणी, सा अंतरा पंथे वियाया, सो चिंतेइ—अम्मापियरो नामं करिहितित्ति न कयं, ताहे रमावेंतो परियणो भणेइ—अण्णियाए पुत्तोत्ति, कालेण पत्ताणि, तेहिवि से तं चेव नामं कयं अण्णि

1 द्वे मथुरे—दक्षिणा उत्तरा च, उत्तरमथुराया वणिग्दारको दक्षिणमथुरां दिग्यात्रार्थं गतः तत्र तस्य एकेन वणिजा सह मैत्री तस्य भगिनी अर्णिका तेन भक्तं कृतं सा च क्षेमतो व्यजनकं धारयति स तां पादादारभ्य पश्यति अध्युपपन्नः मार्गिता ते भणन्ति—यदीहैव आस्से यावदेकमपि यावद् दारकरूपं जातं (भवेत्) तदा दद्मः प्रतिपन्नं दत्ता एव कालो व्रजति अन्यदा तस्य दारकस्य मातापितृभ्यां लेखो विसृष्टः अवमन्धीभूतौ यदि जीवन्तौ प्रेक्षितुमिच्छसि तदाऽऽयाः, स लेख उपनीतः स तं वाचयति मुञ्चन्नश्रूणि तया दृष्टः, पृच्छति न किञ्चिदपि कथयति तया लेखो गृहीतो वाचयित्वा भणति—माऽधृतिं कार्षीः आपृच्छे तया कथितं सर्वं मातापितृभ्यां कथिते विसृष्टौ निर्गतौ दक्षिणमथुरातः सा चार्णिका गुर्वी साऽन्तरा पथः प्रसूतवती स चिन्तयति—मातरपितरौ नाम करिष्यत इति न कृतं तदा रमयन् परिजनो भणति—अर्णिकायाः पुत्र इति कालेन प्राप्तौ ताभ्यामपि तस्य तदेव नाम कृतमन्य

दिट्ठो, पलाओ, मग्गओ लग्गइ, पच्छ हेट्ठा उवरिं च नासइ, कालसंदीवेण तिन्नि पुराणि विद्दविसा, सामिपायमूले अच्छइ, ताणि देवयाणि पइओ, ताहे ताणि भणंति—अम्हे विज्जाओ, सो भट्टारगपायमूलं गओत्ति तत्थ गओ, एक्कमेक्क खामिओ, अण्णे भणंति—उवणे महापायाले मारिओ, पच्छा सो विज्जाचक्कवट्टी विसेस सव्वतित्थगरे वंदित्ता णट्ट च दाइत्ता पच्छा अभिरमइ, तेण इंदेण नाम कय महेसरोत्ति, सोवि किर धिज्जाइयाण पओसमावण्णो धिज्जाइयकन्नगाण सयं २ विणासेइ, अन्नेसु अंतेउरेसु अभिरमइ, तस्स य भणंति दो सीसा—नंदीसरो नंदी य, एवं पुप्फगविमाणेण अभिरमइ, एव कालो वच्चइ, अन्नया उज्जेणीए पज्जोयस्स अंतेउरे सिवं मोत्तूण सव्वाओ विद्धंसेइ, पज्जोओ चिंतेइ—को उवाओ होज्जा जेण एसो विणासेज्जा !, तत्थेगा उमा नाम गणिया रूवस्सिणी, सा किर धूयग्गहणं गेण्हइ जाव तणतेण एइ, एवं वच्चइ काले तरुणो, ताए दोण्णि पुप्फाणि वियसियं मउलियं च, मउलियं पणामियं, महेसरेण वियसियस्स हत्थो पसारिओ,

---

१ दृष्टः पलायितः पृष्ठतो लगति, पृष्ठमधस्तादुपरि च नश्यति कालसंदीपेन त्रीणि पुराणि विद्राव्य स्वामिपादमूले तिष्ठति। तानि देवतानि प्रेषितानि(?) तदा तानि भणन्ति—वयं विद्याः स भट्टारकपादमूलं गत इति गतः तत्र एकैकेन क्षमितः अन्ये भणन्ति—उदके महापाताले मारितः पश्चात् स विद्याचक्रवर्ती विशेषेण सर्वतीर्थकरान् वन्दित्वा नृत्यं च दर्शयित्वा पश्चादभिरमते तेनेन्द्रेण नाम कृतं महेश्वर इति सोऽपि किल धिग्जातीनां प्रद्वेषमापन्नो धिग्जातीयकन्यकानां शतं १ विनाशयति, अन्येष्वन्तःपुरेषु अभिरमते तस्य च भण्येते द्वौ शिष्यौ—नन्दीश्वरो नन्दी च एवं पुष्पकेण विमानेन अभिरमते एवं कालो व्रजति अन्यदोज्जयिन्यां प्रद्योतस्यान्तःपुरे शिवां मुक्त्वा शेषा विध्वंसयति, प्रद्योतश्चिन्तयति—क उपायो भवेद् येन एष विनाशयेत ! तत्रैकोमानाम्नी गणिका रूपिणी सा किल धूप महणं गृह्णाति यदा तेन मार्यते इति एवं व्रजति काले अवतीर्णः, तया द्वे पुष्पे विकसितं मुकुलितं च मुकुलितमर्पयति महेश्वरेण विकसिताय हस्तः प्रसारितः

सो मज्जल पणामेइ पयस्स तुम्हे अरहसित्ति, कहं ?, ताहे भणइ–परिसिओ कण्णाओ मम्मं ताव पेच्छइ, तीए सह सवसइ हियहियओ कओ, एव वच्चइ कालो, सा पुच्छइ–काए वेळाए देवयाओ ओसरंति ?, तेण सिहं–जाहे मेहुणं सेवामि, तीए रण्णो सिहं मा मम्मं मारेहिसि, पुरिसेहिं अंगस्स उवरिं जोगा दरिसिया, एवं रक्खामो, ते य पओएण भणिया–सह पयाए मारेह मा य दुरारद्धं करेहिह, ताहे मणुस्सा पच्छण्णं गया, तेहिं संसट्ठो मारिओ सह तीए, ताहे नंदीसरो ताहिं विज्जाहिं अहिट्ठिओ आगासे सिलं विउव्विता भणइ–हा दास ! मओसित्ति, ताहे सनगरो राया उल्लपडसाडगो खमाहि एगावराहंति, सो भणइ–एयस्स जइ तवस्थ अच्चेह तो मुयामि, एवं च नयरे २ एव अवाउडियं ठावेहत्ति तो मुयामि, तो पडिवण्णो, ताहे आययणाणि कारावियाणि, एसा महेसरस्स उप्पत्ती । ताहे नगरिं सुण्णियं कोणिओ अइ गओ गद्दभनंगलेण गाहाविया, एत्यंतरे सेणियभज्जाओ कालियादिमाइयाओ पुच्छंति भगवं तित्थयरं–अम्हं पुत्ता

---

१ सा युष्मदर्थमस्येतस्य त्वमर्हसीति कथं ? तदा भणति-ईदृक्षा कन्या मां तावत् प्रेक्षते तया सह संवसति हृतहृदयः कृतः एवं व्रजति कालः सा पृच्छति–कस्यां वेलायां देवता अपसरन्ति वेबोर्ढे–यदा मैथुनं सेवे तथा राज्ञे कथितं मा मां मारयतेति पुरुषैरङ्गस्योपरि योगा दर्शिताः, एवं रक्षामः ते च प्रयोगेण भणिताः–सहैतया मारयत मा दुरारब्धं कार्ष्ट तदा मनुष्याः प्रच्छन्नं गताः तैः संश्लिष्टो मारितः सह तया, तदा–नन्दीश्वरस्ताभिर्विद्याभिरधिष्ठित आकाशे शिलां विकुर्व्य भणति–हा दास ! हतोऽसीति तदा सनगरो राजाऽऽर्द्रशाटिकापटः क्षमस्वैकमपराधमिति स भणति यदि एनमेतदवस्थं अर्चयत तदा मुञ्चामि एवं च नगरे २ एवमप्रावृतं स्थापयतेति तदा मुञ्चामि तदा प्रतिपन्नं तदाऽऽयतनानि कारितानि एषा महेश्वरस्योत्पत्तिः । तदा नगरीं शून्यां कोणिकोऽतिगतः गर्दभलाङ्गलेन कृता अत्रान्तरे श्रेणिकभार्याः कालिकादिकाः पृच्छन्ति भगवन्तं तीर्थकरं–अस्माकं पुत्राः

दिट्ठो, पलाओ, मग्गओ लग्गइ, एव हेट्ठा उवरिं च नासइ, कालसंदीवेण तिन्नि पुराणि विउव्विया, सामिपायमूले अच्छइ, ताणि देवयाणि पइओ, ताहे ताणि भणंति—अम्हे विज्जाओ, सो भट्टारगपायमूलं गओत्ति तत्थ गओ, एक्कमेक्क खामिओ, अण्णे भणंति—उवणे महापायाले मारिओ, पच्छा सो विज्जाचक्कवट्टी तिसंझं सव्वतित्थगरे वंदित्ता णट्टं च दाइत्ता पच्छा अभिरमइ, तेण इंदेण नामं कयं महेसरोत्ति, सोवि किर धिज्जाइयाण पओसमावण्णो धिज्जाइयकन्नगाण सयं २ विणासेइ, अन्नेसु अंतेउरेसु अभिरमइ, तस्स य भणंति दो सीसा—नंदीसरो नंदी य, एय पुप्फएण विमाणेण अभिरमइ, एव कालो वच्चइ, अन्नया उज्जेणीए पज्जोयस्स अंतेउरे सिव मोत्तूण ससाओ विद्धंसेइ, पज्जोओ चिंतेइ—को उवाओ होज्जा जेण एसो विणासेज्जा ?, तत्थेगा उमा नाम गणिया रूवस्सिणी, सा किर धूवग्गहणं गेण्हइ आहे तणंतेण पइ, एवं वच्चइ काले वइण्णो, ताए दोण्णि पुप्फाणि वियसियं मउलियं च, मउलिय पणामियं, महेसरेण वियसियस्स हत्थो पसारिओ,

1 ततः पलायितः पृष्ठतो लगति एवमधस्तादुपरि च नश्यति कालसंदीपेन त्रीणि पुराणि विकुर्वितानि स्वामिपुरस्तिष्ठति ता देवताः प्रहताः तदा ता भणन्ति—वयं विद्याः स भट्टारकपादमूलं गत इति गतः तत्र एकैकेन क्षमितः अन्ये भणन्ति—उदके महापाताले मारितः पश्चात् स विद्याचक्रवर्ती त्रिसन्ध्यं सर्व तीर्थकरान् वन्दित्वा नृत्यं च दर्शयित्वा पश्चादभिरमते तेनेन्द्रेण नाम कृतं महेश्वर इति सोऽपि किल धिग्जातीनां प्रद्वेषमापन्नो धिग्जातीयकन्यकानां शतं २ विनाशयति अन्येष्वन्तःपुरेषु अभिरमते तस्य च भण्येते द्वौ शिष्यौ—नन्दीश्वरो नन्दी च एव पुष्पकेण विमानेन अभिरमते एवं कालो व्रजति अन्यदोज्जयिन्यां प्रद्योतस्यान्तःपुरे शिवां मुक्त्वा शेषा विध्वंसयति प्रद्योतश्चिन्तयति—क उपायो भवेद् येन एष विनाश्येत ? तत्रैकोमानाम्नी गणिका रूपिणी सा किल धूप प्रहणं गृह्णाति यदा तेन मार्गयति एवं व्रजति काले अवतीर्णः तया द्वे पुष्पे विकसितं मुकुलितं च मुकुलितमर्पयति महेश्वरेण विकसिताय हस्तः प्रसारितः

कामविकारो जाओ, सङ्घपकुले बद्धाविओ, समोसरणं गओ साहुणीहिं सह, तत्थ य कालसंदीवो पंदित्ता सामिं पुच्छइ–कओ मे भय ?, सामिणा भणियं–एयाओ सच्चईओ, ताहे तस्स मूलं गओ, अवण्णाए भणइ–अरे तुमं ममं मारेहिसि त्ति पाएसु बला पाडिओ, उसट्टिओ, परिवायगेण तेण संवड्ढिओ, सिक्खाओ सिक्खाविओ, महारोहिणिं च साहेइ, इमं सत्तमं भवं, पंचसु मारिओ, छट्ठे छम्मासावसेसाउएण नेच्छिया, अह सोहेमुमारओ अणाहमडए चितिं काऊण उज्जालेत्ता अल्लचंम चियडित्ता वामेण अंगुट्ठएण ताव चंकमइ जाव कट्ठाणि डज्झंति, एत्थंतरे कालसंदीवो आगओ कट्ठाणि छुब्भइ, सत्तरत्ते गए देवया सयं उवट्ठिया–मा विग्घं करेहि, अहं एयस्स सिज्झिउकामा, सिद्धा भणइ–एगं अंगं परिवज जेण पविसामि सरीरं, तेण निलाडेण पडिच्छिया, तेण अइयया, तत्थ बिलं जायं, देवयाए से तुट्ठाए तइयं अच्छि कयं, तेण पेढालो मारिओ, कीस णेण मम माया रायधूयत्ति विद्धंसिया, तेण से रुद्दो नामं जायं, पच्छा कालसंदीवं आमोएइ,

1 कामविकारो जातः महाकुले वर्धितः समवसरणं गतः साध्वीभिस्सह तत्र च कालसंदीपको वन्दित्वा स्वामिनं पृच्छति–कुतो मे भय ? स्वामिना भणितं–एतस्मात् सत्यकेः तदा तस्य पार्श्वं गतः, अवज्ञया भणति–अरे त्वं मां मारयिष्यसीति पादयोर्बलात् पातितः उत्थितः परिव्राजकेन तेन संवर्धितः पाठितः शिक्षिता विद्याः शिक्षितः महारोहिणीं च साधयति अयं सप्तमो भवः पञ्चसु मारितः षष्ठे षण्मासावशेषायुष्कतया नेष्टा अथ सात्यकिपुत्रः अनाथमृतकेन चितिकां कृत्वा प्रज्वाल्य आर्द्रचर्म मात्वा वामेनाङ्गुष्ठेन तावत् चङ्क्रमति यावत् काष्ठानि ज्वलन्ति अत्रान्तरे कालसंदीपक आगतः काष्ठानि क्षिपति सप्तरात्रे गते देवता स्वयमुपस्थिता–मा विघ्नं कार्षीः अहमेतस्य सेत्स्यमाना सिद्धा भणति–एकमङ्गं परित्यज येन प्रविशामि शरीरं तेन ललाटेन प्रतीष्टा तेनातिगता तत्र बिलं जातं देवतया तस्यै तुष्टया तृतीयमक्षि कृतं तेन पेढालो मारितः कथं मम माता राजपुत्रीति विध्वस्ता तेन तस्य रुद्रो नाम जातः पश्चात् कालसंदीपमाभोगयति,

आणणया ॥ २ ॥ पडिचरणोमासणया कोणियगणियत्ति गमणनिग्गमणं । वेसालि अक्षा घेप्पइ चदिक्कर अभो गवे सामि ॥ ३ ॥ वेसालिगमण मग्गण साईकारावणे य आउट्टा । थूभ नरिंदनिवारण इट्टगनिक्काउणविणासो ॥ ४ ॥ पडियागमणे रोहण गहमहल्लवाहणापइण्णाय । चेडगनिग्गम वहपरिणओ य मायाउ उयालद्धो ॥ ५ ॥" कोणिओ भणइ–चेडग ! किं करेमि !, जाव पुक्खरिणीओ उट्ठेमि ताव मा नगरीं असीहि, तेण पडिवण्णं, चेडगो सव्वलोहियं पडिमं गलए बंधिऊण उइण्णो, धरणेण समयण नीओ कालगओ देवलोगं गओ, वेसालिजणो सवो महेसरेण नीलवंतमि साहरिओ। को महेसरोत्ति ?, तस्सेव चेडगस्स धूया सुजेट्ठा वेरग्गा पव्वइया, सा उवस्सयस्सतो आयावेइ, इओ य पेढालगो नाम परिव्वायओ विज्जासिद्धो विज्जाउ दाउकामो पुरिसं मग्गइ, जइ बंभचारिणीए पुत्तो होज्जा तो समत्थो होज्जा, त आयावेंतीं दट्ठूणं भूमिगावामोहं काऊण विज्जाविवज्जासो तत्थ सेरिसु काले जाए गब्भे अतिसयणाणीहिं कहिए–न एयाए

1 आगमनं ॥ २ ॥ प्रतिचरणमवमासनं कोणिकगणिकेति गमनं निर्गमनं । वैशाली यथा गृह्यते चक्रिवरानभवतो यावेपमामि ॥ ३ ॥ वैशालीगमनं मार्गेन समन्तादवरणेमावार्जिता । स्तूपः नरेन्द्रनिवारणं इष्टिकानिष्कासन विनाशः ॥ ४ ॥ पतिते गमय रोधः (वृत्ति) महाभटवाहनप्रतिज्ञाया । चेटकनिर्गमो वधपरिणतश्च मायोपालब्धः ॥ ५ ॥ कोणिको भणति–चेटक ! किं करोमि ? यावत् पुष्करिण्या आगच्छामि तावन्मा नगरीं याही। तेन प्रतिपन्नं चेटकः सकललोहमयीं प्रतिमां गले बद्ध्वा अवतीर्णः धरणेन समयं नीतः कालगतो देवलोक गतः वैशालीजनः सर्वो महेश्वरेण नीलवति मृहतः । को महेश्वर इति ?, तस्यैव चेटकस्य दुहिता सुज्येष्ठा वैराग्यात्प्रव्रजिता सोपाश्रयसाम्प्रतातपयति इतश्च पेढालको नाम परिव्राट् विद्यासिद्धो विद्या दातुकामः पुरुषं मार्गयति यदि ब्रह्मचारिण्याः पुत्रो भवेत् तर्हि समर्थो भवेत् तामातापयन्तीं दृष्ट्वा भूमिकाव्यामोहं कृत्वा विद्याविपर्यासः तत्र स्मृतश्च (ततः) काले जाते गर्भेऽतिशयज्ञानिभिः कथित–मेतस्याः

मारिज्जइ, अमरिसिओ भणइ—मारिज्जउ, ताहे इंगालखड्डा कया, ताहे सेयणओ ओहिणा पेच्छइ न वोलेइ लड्डुं, कुमारा भणंति—तुज्झ निमित्तं इमं आवई पत्ता तोवि निच्छसि ?, ताहे सेयणएण खंधाओ ओयारिया, सो य ताए खड्डाए पडिओ मओ रयणप्पहाए नेरइओ उववण्णो, तेवि कुमारा सामिस्स सीसत्ति वोसिरंति देवयाए साहरिया जत्थ भयवं तित्थयरो विहरइ, तहवि णयरी न पडइ, कोणियस्स चिंता, ताहे कूलवालगस्स रुट्ठा देवया आगासे भणइ—'समणे जइ कूलवालए मागहियं गणियं लगेहिती । राया य असोगचंदए, वेसालिं नगरिं गहिस्सइ ॥ १ ॥ सुणेंतओ चेव चंपं गओ कूलवालयं पुच्छइ, कहियं, मागहिया सद्दाविया विस्सासिया जाया, पव्वाविया, का तीसे उप्पत्ती जहा णमोक्कारे पारिणामियबुद्धीए थूभेत्ति—'सिद्धसिलायलगमणं खुड्डगसिलछोट्टणा य विक्खंभो । सावो मिच्छावाइत्ति निग्गओ कूलवालतवो ॥ १ ॥ तावसपक्खी नइवारण य कोहे य कोणिए कहणं । मागहिगमणं वंदण मोदगअइसार

---

१ मार्यते, अमर्षितो भणति—मार्यतां तदाऽङ्गारगर्ता कृता तदा सेचनकोऽवधिना पश्यति नाभिक्रामति गर्तां कुमारौ भणतः—तव निमित्तमिदमापत्तिः प्राप्ता तथापि नेच्छसि तदा सेचनकेन स्कन्धादवतारितौ स च तस्यां गर्तायां पतितो मृतो रत्नप्रभायां नैरयिक उत्पन्नः तावपि कुमारौ स्वामिनः शिष्याविति व्युत्सृजन्तौ देवतया संहृतौ यत्र भगवान् तीर्थकरो विहरति तथापि नगरी न पतति कोणिकस्य चिन्ता तदा कूलवालकस्य रुष्टा देवताऽऽकाशे भणति—श्रमणः कूलवालको यदि मागधिकां वेश्यां गमिष्यति । राजा चाशोकचन्द्रो वैशालीं नगरीं ग्रहीष्यति ॥ १ ॥ शृण्वन्नेव चम्पां गतः कूलवालकं पृच्छति कथितं मागधिका शब्दिता विश्वासिता जाता प्रव्राजिता का तस्या उत्पत्तिर्यथा नमस्कारे पारिणामिकीबुद्धौ स्तूप इति सिद्धशिलातलगमनं क्षुल्लकेन शिलालोठनं च विष्कम्भः (पादप्रसारिका) । शापो मिथ्यावादीति निर्गतः कूलवालकतपः ॥ १ ॥ तापसपक्षी नदीवारणं च कोपे कोणिकस्य (देवतया) कथितं । मागधिकागमनं वन्दनं मोदकाः अतीसारः

सत्तावण्ण, ताहे जुद्धं संपलग्गं, कोणियस्स कालो दंडणायगो, दो वूहा कया, कोणियस्स गरुडवूहो चेडगस्स सागरवूहो, सो जुज्झंतो कालो ताव गओ जाव चेडगो, चेडएण य एगस्स य सरस्स अभिग्गहो कओ, सो य अमोहो, तेण सो कालो मारिओ, भग्गं कोणियबलं, पडिनियत्ता सए २ आवासे गया, एवं दसहि दिवसेहिं दसवि मारिया चेडएण कालादीया, एक्कारसमे दिवसे कोणिओ अट्ठमभत्तं गिण्हइ, सक्कचमरा आगया, सक्को भणइ—चेडगो सावगोत्ति अहं न पहरामि नवरं सारक्खामि, एत्थ दो संगामा महासिलाकंडओ रहमुसलो भाणियव्वो जहा पण्णत्तीए, ते किर चमरेण विउव्विया, ताहे चेडगस्स सरो वइरपडिरूवगे अप्फिडिओ, गणरायाणो नट्ठा सणयरेसु गया, चेडगोवि वेसालिं गओ, रोहगसज्जो ठिओ, एवं बारस वरिसा जाया रोहिज्जंतस्स, एत्थ य रोहए हल्लविहल्ला सेयणएण निग्गया बलं मारेंति दिवे दिवे, कोणिओवि परिखिज्जइ हत्थिणा, चिंतेइ—को उवाओ जेण मारिज्जेज्जा ?, कुमारामच्चा भणंति—जइ नवरं हत्थी

1 सप्तपञ्चाशत्, तदा युद्धं प्रवृत्तं कोणिकस्य कालो दण्डनायकः, द्वौ व्यूहौ कृतौ कोणिकस्य गरुडव्यूहश्चेटकस्य सागरव्यूहः स युध्यमानः कालस्तावद्गतो यावच्चेटकः, चेटकेन चैकस्य शरस्याभिग्रहः कृतः स चामोघः तेन स कालो मारितः भग्नं कोणिकबलं प्रतिनिवृत्ताः स्वके २ आवासे गताः एवं दशभिर्दिवसैर्दशापि मारिताश्चेटकेन कालादयः एकादशे दिवसे कोणिकोऽष्टमभक्तं गृह्णाति शक्रचमरावागतौ शक्रो भणति—चेटकः श्रावक इत्यहं न प्रहरामि नवरं संरक्षयामि, अत्र द्वौ संग्रामौ महाशिलाकण्टकरथमुशलौ भणितव्यौ यथा प्रज्ञप्तौ तौ किल चमरेण विकुर्वितौ तदा चेटकस्य शरो वज्रप्रतिरूपके स्खलितः गणराजा नष्टाः स्वनगरेषु गताः चेटकोऽपि वैशालीं गतः, रोधकसज्जः स्थितः, एवं द्वादश वर्षाणि जातानि रुध्यमाने अत्र च रोधके हल्लविहल्लौ सेचनकेन निर्गतौ बलं मारयतः दिवसे दिवसे कोणिकोऽपि परिखिद्यते हस्तिना, चिन्तयति—क उपायो येन मार्यते, कुमारामात्या भणन्ति—यदि नवरं हस्ती

एवं बहुसो २ भणंतीए चिंतं उप्पण्णं, अण्णया हल्लविहल्ले भणइ—रज्जं अद्धं अद्धेण विरिंचामो सेयणगं मम देह, ते वि मा सुरक्खं चिंतियं देसोवि भणंति गया समयणं, पच्छाए रत्तीए समतेउरपरिवारा वेसालिं अज्जमूलं गया, कोणियस्स कहियं—नट्ठा कुमारा, तेण चिंतियं—तेवि न जाया हत्थीवि नत्थि, चेडयस्स दूयं पेसइ, अमरिसिओ, जइ गया कुमारा गया नाम, हत्थिं पेसेह, चेडगो भणइ—जहा तुमं मम नत्तुओ तहा एएवि, कह एयाणिं सरणागयाण हरामि, न देमित्ति दूओ पडिगओ, कहियं च, पुणोवि दूयं पट्ठवेइ—देह, न देह तो जुज्झसज्जा होह पमित्ति, भणइ—जहा ते रुच्चइ, ताहे कोणिएण कालाइया कुमारा दसवि आयाहिया, तत्थेक्केक्कस्स तिण्णि २ हत्थिसहस्सा तिण्णि २ आससहस्सा तिण्णि २ रहसहस्सा तिण्णि २ मणुस्सकोडिओ कोणियस्सवि एत्तियं सयाणिवि तित्तीसं ३३, तं सोऊण चेडएण अट्ठारसगणरायाणो मेलिया, एवं ते चेडएण सम एगूणवीसं रायाणो, तेसिंपि तिण्णि २ हत्थिसहस्साणि तह चेव नवरं सव्वं संखेवेण

---

१ एवं बहुशो २ भणन्त्या चिन्तयामि अन्यदा हल्लविहल्लौ भणति—राज्यमर्धमर्धं विभजाम। चेटकं मर्म दत्तं तौ तु मा सुराणं चिन्तितं गतौ भणन्तौ गतौ समवनं पश्चात् रात्र्यां सान्तःपुरपरिवारौ वैशाल्यमार्यं (मातामहं) पादमूलं गतौ कोणिकाय कथितं—नष्टौ कुमारौ तेन चिन्तितं—तावपि न जातौ हस्त्यपि नास्ति, चेटकाय दूतं प्रेषयति, अमर्षितो यदि गतौ कुमारौ गतौ नाम हस्तिनं प्रेषय चेटको भणति—यथा त्वं मम नप्ता तथैतावपि कथमिदानीं शरणागतयोर्हरामि न ददामीति दूतः प्रतिगतः कथितं च पुनरपि दूतं प्रस्थापयति—देहि न ददासि तदा युद्धसज्जो भवेरिति भणति—यथा ते रोचते तदा कोणिकेन कालाद्याः कुमाराः दशाप्याहूताः तत्रैकैकस्य त्रीणि २ हस्तिसहस्राणि त्रीणि २ अश्वसहस्राणि त्रीणि २ रथसहस्राणि तिस्रो २ मनुष्यकोटयः कोणिकस्याप्येतावत् सर्वाण्यपि त्रयस्त्रिंशत्, तत् श्रुत्वा चेटकेनाष्टादश गणराजा मेलिताः, एवं ते चेटकेन सममेकोनविंशती राजानः। तेषामपि हस्तिनां त्रिसहस्री २ तथैव नवरं सर्वं संक्षेपेण

मुणेंतओ चेव उट्ठाय लोहदंडं गहाय नियलाणि भंजामित्ति पधावि गा नेहेण भणति–एस सो पावो लोह
दंडं गहाय एइत्ति, सेणिएण चिंतियं–न नज्जइ कुमारेण मारेहितित्ति १ ोस साइय आव एइ ताव मओ, सुहुयर
भवित्ती आया ताहे डज्झिऊण घरमागओ रज्जपुरामुक्कतत्तीओ तं चेव चिं ाच्छइ, कुमारामच्चाहिं चिंतियं–नट्ठं रज्ज
होहित्ति तंचिए तासणे लिहित्ता अक्खराणि जुण्णं काऊण राइणो उवणीयं, ९ पिउणो कीरइ पिंडदाणादी, णित्थारि
ज्जइ, सप्पभिति पिंडनिवेयणा पवत्ता, एवं कालेण विसोगो जाओ, पुणरवि सयणपरिभोए य पियसंतिए दट्ठूण अद्धिती
होहित्ति तओ निग्गओ चंपारायहाणीं करेइ, ते हल्लविहल्ला सेयणएण गंधहत्थिणा सम सभवणसु य उज्जाणसु य पुक्ख
रिणीएसु अभिरमति, सोवि हत्थी अंतेउरियाए अभिरमावेइ, ते य पउमावई पेच्छइ, णयरमज्झेण य ते हल्लविहल्ला हारेण
कुंडलेहि य देवदुसेण विभूसिया हत्थिखंधवरगया दट्ठूण अद्धितिं पगया कोणियं विण्णवेइ, सो नेच्छइ पिउणा दिण्णंति,

---

१ मुञ्चमेवोत्थाय लोहदण्डं गृहीत्वा निगडान् भनज्मि इति प्रधावितः चेटेन रक्षपालकाः भणन्ति–एष स पापो लोहदण्ड गृहीत्वाऽऽयाति भणितेन वि न्तितं ज्ञायते (केन) कुमारेण मारयिष्यतीति तालपुटं विषं खादितं यावदेति तावन्मृतः सुष्ठुतरमधृतिर्जाता तदा दग्ध्वा गृहमागतो राज्यधुराविमुक्ततप्तिकस्तदेव चिन्तयन् तिष्ठति कुमारामात्यैश्चिन्तितं–राज्यं नङ्क्ष्यतीति ताम्रिके शासने लिखित्वाऽक्षराणि जीर्णानि कृत्वा राज्ञ उपनीतं एवं पितुः क्रियते पिण्डदानादि, निस्तार्यते तत्प्रभृति पिण्डनिवेदना प्रवृत्ता एवं कालेन विशोको जातः पुनरपि शयनपरिभोगांश्च पितृसत्कान् दृष्ट्वाऽधृतिर्भविष्यतीति निर्गतश्चम्पां राजधानीं करोति, तौ हल्लविहल्लौ सेचनकेन हस्तिना समं स्वभवनेषु उद्यानेषु पुष्करिणीषु चाभिरमेते सोऽपि हस्ती अन्तःपुरिका अभिरमयते तौ च पद्मावती प्रेक्षते नगरमध्येन च तौ हल्लविहल्लौ हारेण कुण्डलाभ्यां देवदूष्येण च विभूषितौ वरहस्तिस्कन्धगतौ दृष्ट्वाऽधृतिं प्रगता कोणिकं विज्ञपयति स नेच्छति पित्रा दत्तमिति

एवं बहुसो २ भणतीए चित्तं उप्पण्णं, अण्णया हल्लविहल्ले भणइ–रज्जं अद्धं अद्धेण विरिंचामो सेयणगं मम देह, ते दि मा सुरक्खं चिंतियं देमोत्ति भणंति गया समयण, एक्काए रत्तीए सभंतेउरपरिवारा वेसालिं अज्जमूलं गया, कोणियस्स कहियं–नट्ठा कुमारा, तेण चिंतियं—तेवि न जाया हत्थीवि नत्थि, चेडयस्स दूयं पेसइ, अमरिसिओ, अह गया कुमारा गया नाम, हत्थिं पेसेह, चेडगो भणइ–जहा तुमं मम नत्तुओ तहा एएवि, कह इयाणिं सरणागयाण हरामि, न देमित्ति दूओ पडिगओ, कहियं च, पुणोवि दूयं पट्ठवेइ–देह, न देह तो जुज्झसज्जा होह एमित्ति, भणइ–जहा ते रुच्चइ, ताहे कोणिएण कालाइया कुमारा दसवि आवाहिया, तत्थेक्केक्कस्स तिन्नि २ हत्थिसहस्सा तिन्नि २ आससहस्सा तिन्नि २ रह-सहस्सा तिन्नि २ मणुस्सकोडिओ कोणियस्सवि एत्तियं सव्वाणिवि तित्तीसं ३३, तं सोऊण चेडएण अट्ठारसगणरायाणो मेलिया, एवं ते चेडएण समं एगूणवीसं रायाणो, तेसिंपि तिन्नि २ हत्थिसहस्साणि सह चेव नवरं सव्वं संखेवेण

१ एवं बहुशो २ भणन्त्या चित्तमुत्पादितं अन्यदा हल्लविहल्लौ भणति–राज्यमर्धमर्धं विभजामः सेचनकं मह्यं दत्तं तौ तु मा सुरक्षं चिन्तितं ददावेति भणन्तौ गतौ समयं एकया रात्र्या सान्तःपुरपरिवारौ वैशाल्यमार्ये (मातामह) पार्श्वं गतौ कोणिकाय कथितं–नष्टौ कुमारौ तेन चिन्तितं–तावपि न जातौ हस्त्यपि नास्ति, चेटकाय दूतं प्रेषयति, अमर्षितो यदि गतौ कुमारौ गतौ नाम हस्तिनं प्रेषय चेटको भणति–यथा त्वं मम नप्ता तथैतावपि कथमिदानीं शरणागतयोर्हरामि न ददामीति दूतः प्रतिगतः कथितं च पुनरपि दूतं प्रस्थापयति–देहि न ददासि तर्हि युद्धसज्जो भवेति भणति–यथा ते रोचते तदा कोणिकेन कालादिकाः कुमारा दशाप्याहूताः, तत्रैकैकस्य त्रीणि २ हस्तिसहस्राणि त्रीणि १ अश्वसहस्राणि त्रीणि १ रथसहस्राणि तिस्रो २ मनुष्यकोट्यः कोणिकस्याप्येतावत् सर्वाण्यपि त्रयस्त्रिंशत् तत् श्रुत्वा चेटकेनाष्टादश गणराजा मेलिताः, एवं ते चेटकेन सममेकोनविंशती राजानः तेषामपि हस्तिना त्रि-स्त्री २ तथैव नवरं सर्वं संक्षेपेण

सुणेंतओ चेव उठाय लोहदंडं गहाय नियलाणि भंजामित्ति पहाविओ, रक्खवालगा नेहेणं भणंति—एस सो पावो लोह दंडं गहाय एइत्ति, सेणिएण चिंतियं—न नज्जइ कुमारेण मारेहितित्ति तालउडं विसं खइयं जाव एइ ताव मओ, सुट्ठुयरं अधिती जाया ताहे डहिऊण घरमागओ रज्जधुरामुक्कतत्तीओ तं चेव चिंततो अच्छइ, कुमारामच्चेहिं चिंतियं—नट्ठं रज्जं होइत्ति तंबिए सासणे लिहित्ता अक्खराणि जुण्णं काऊण राइणो उवणीयं, एवं पिउणो कीरइ पिंडदाणादी, नित्थारि ज्जइ, तप्पभिति पिंडनिवेयणा पवत्ता, एवं कालेण विसोगो जाओ, पुणरवि सयणपरिभोए य पियसंतिए दट्ठूण अधिती होहितित्ति तओ निग्गओ चंपारायहाणीं करेइ, ते हलविहल्ला सेयणएण गंधहत्थिणा समं सभवणेसु य उज्जाणेसु य पुक्ख रिणीएसु अभिरमंति, सोवि हत्थी अंतेउरियाए अभिरमावेइ, ते य पउमावई पेच्छइ, णयरमज्झेण य ते हलविहल्ला हारेण कुंडलेहि य देवदूसेण विभूसिया हत्थिखंधवरगया दट्ठूण अद्धितिं पगया कोणियं विण्णवेइ, सो नेच्छइ पिउणा दिण्णोत्ति,

---

१ अस्वस्थेनोत्थाय लोहदण्डं गृहीत्वा निगडान् भनज्मि इति प्रधावितः। चेटैः राजपालकाः भणन्ति—एष स पापो लोहदण्डं गृहीत्वाऽऽयाति श्रेणिकेन चिन्तितं न ज्ञायते (केन) कुमारेण मारयिष्यतीति तालपुटं विषं खादितं यावदेति तावन्मृतः। सुष्ठुतराधृतिर्जाता तदा दग्ध्वा पुरमागतो राज्यधुरामुक्ततप्तिस्तदेव चिन्तयन् तिष्ठति, कुमारामात्यैश्चिन्तितं—राज्यं नङ्क्ष्यतीति ताम्रके शासने लिखित्वाऽक्षराणि जीर्णानि कृत्वा राज्ञ उपनीतं एवं पितुः क्रियते पिण्डदानादि, निस्तार्यते, तत्प्रभृति पिण्डनिवेदना प्रवृत्ता, एवं कालेन विशोको जातः पुनरपि शयनपरिभोगांश्च पितृसत्कान् दृष्ट्वाऽधृतिर्भविष्यतीति निर्गतश्चम्पां राजधानीं करोति तौ हल्लविहल्लौ सेचनकेन हस्तिना समं स्वभवनेषु उद्यानेषु पुष्करिणीषु चाभिरमेते सोऽपि हस्ती अन्तःपुरिका अभिरमयते तौ च पद्मावती प्रेक्षते नगरमध्येन च तौ हल्लविहल्लौ हारेण कुण्डलाभ्यां देवदूष्येण च विभूषितौ वारहस्तिस्कन्धगतौ दृष्ट्वाऽधृतिं प्रगता कोणिकं विज्ञपयति स नेच्छति पित्रा दत्तमिति

कोणिओ कालादीहिं दसहिं कुमारेहिं समं मंतेइ–सेणियं बंधेत्ता एक्कारसभाए रज्जं करेमोत्ति, तेहिं पडिसुयं, सेणिओ बद्धो, पुव्वण्हे अवरण्हे य कससयं दवावेइ, चेल्लणाए कयाइ ढोयं न देइ, भत्तं वारियं, पाणियं न देइ, ताहे चेल्लणा कहवि कुम्मासे वालेहिं बंधित्ता सयाइं च सुरं पवेसेइ, सा किर धोवइ सयवारे सुरा पाणियं सव्वं होइ। अण्णया तस्स पउमावईए देवीए पुत्तो उदायिकुमारो जेमंतस्स उच्छंगे ठिओ, सो थाले मुत्तेति, न चालेइ मा दूमिज्जिहित्ति (चत्तिए) मुत्तियं तत्तियं कूरं अवणेइ, मायं भणति–अम्मो ! अण्णस्सवि कस्सवि पुत्तो पिओ अत्थि ?, मायाए सो भणिओ–दुरात्मन् तव अंगुली किमिए वमती पिया मुहे काऊण अच्छियाइओ, इयरहा तुमं रोवंतो अच्छियाइओ, ताहे चित्ते मउयं जायं, भणइ–किह !, तो खाइ पुण मम गुलमोयए पेसेइ !, देवी भणइ–मए ते कया, जं तुमं सदा पिइवेरिओ उदरे आरद्धोत्ति सव्वं कहेइ, तहावि तुज्झ पिया न विरज्जइ, सो तुमे पिया एवं वसणं पाविओ, तस्स अरती जाया,

---

1 कोणिकः कालादिभिर्दशभिः कुमारैः समं मन्त्रयति–श्रेणिकं बद्ध्वा एकादशभागान् राज्यस्य कुर्म इति तैः प्रतिश्रुतं श्रेणिको बद्धः पूर्वाह्णे अपराह्णे च कशाशतं दापयति चेल्लणायाः कदाचिदपि गमनं (कर्तुं) न ददाति भक्तं वारितं पानीयं न ददाति तदा चेल्लणा कथमपि कुल्माषान् बालेषु बद्ध्वा स्वयं च सुरां प्रवेशयति सा किल प्रक्षालयति शतकृत्वा सुरा पानीयं सर्वं भवति। अन्यदा तस्य पद्मावत्या देव्याः पुत्र उदायिकुमारो जेमत उत्सङ्गे स्थितः स स्थाले मूत्रयति, न चालयति मा रौत्सीदिति (चालयति) मूत्रितं तावन्तं कूरमपनयति मातरं भणति–अम्ब ! अन्यस्यापि कस्यापि पुत्र इष्टोऽस्ति ! माता स भणितः–तवाङ्गुली कृमीन् वमन्ती पिता (तव) मुखे कृत्वा स्थितवान्, इतरथा त्वं रुदन् स्थितवान् तदा चित्ते मृदु जातं भणति–कथं किं गुडमोदकान् प्रेषयति ! देवी भणति–मया ते कृताः, यत्त्वं सदा पितृवैरिकः, उदरे (गर्भभावात्) आरभ्येति सर्वं कथितं तथापि तव पिता न त्वयि द्वेषी स त्वया पितैवं व्यसनं प्रापितः, तस्यारतिर्जाता,

तावसउडया भग्गा तेहिं तावसेहिं रुट्ठेहिं सेणियस्स रण्णो कहियं, ताहे सेणिएण गहिओ, एसा सेयणगस्स उप्पत्ती। पुव्वभवो तस्स–एगो धिज्जाइओ जण्णं जयइ, तस्स दासो तेण जण्णवाडे ठविओ, सो भणइ–जइ सेसं मम देहि तो ठामि इयरहा ण, एवं होउत्ति सोवि ठिओ, सेसं साहूण देइ, देवाउयं निबद्धं देवलोगाओ चुओ सेणियस्स पुत्तो नंदिसेणो जाओ, धिज्जाइओऽवि संसारं हिंडित्ता सेयणगो जाओ, जाहे किर नंदिसेणो विलग्गइ ताहे ओहयमणसंकप्पो भवइ, विमणो होइ, ओहिणा जाणइ, सामी पुच्छिओ, एयं सव्वं कहेइ, एस सेयणगस्स पुव्वभवो। अभओ किर सामिं पुच्छइ–को अपच्छिमो रायरिसित्ति?, सामिणा उदायणो वागरिओ, अओ परं बद्धमउडा न पव्वयंति, ताहे अभएण रज्जं दिज्जमाणं न इच्छियं, पच्छा सेणिओ चिंतेइ–कोणियस्स रज्जं दिज्जिहित्ति हल्लस्स हत्थी दिन्नो विहल्लस्स देवदिन्नो हारो, अभएण पव्वयंतेण नंदाए य खोमजुयलं कुंडलजुयलं हल्लविहल्लाणं दिण्णाणि, महया विभवेण अभओ समाऊओ पव्वइओ, अण्णया

---

१ तापसोटजा भग्नास्तैस्तापसैः रुष्टैः श्रेणिकस्य राज्ञः कथितं तदा श्रेणिकेन गृहीतः, एषा सेचनकस्योत्पत्तिः। तस्य पूर्वभवः–एको धिग्जातीयो यज्ञं यजते तस्य दासो यज्ञपाटे तेन स्थापितः स भणति–यदि शेषं मह्यं ददासि तर्हि तिष्ठामि इतरथा न एवं भवत्विति सोऽपि स्थितः शेषं साधुभ्यो ददाति देवायुर्निबद्धं देवलोकाच्च्युतः श्रेणिकस्य पुत्रो नन्दिषेणो जातः धिग्जातीयोऽपि संसारं हिण्डित्वा सेचनको जातः यदा किल नन्दिषेण आरोहति तदापहतमनःसंकल्पो भवति विमनस्को भवति अवधिना (विभङ्गेन) जानाति स्वामी पृष्टः एतत् सर्वं कथयति एष सेचनकस्य पूर्वभवः। अभयः किल स्वामिनं पृच्छति–कोऽपश्चिमो राजर्षिरिति? स्वामिनोदायनो व्याकृतः अतः परं बद्धमुकुटा न प्रव्रजिष्यन्ति, तदाऽभयेन राज्यं दीयमानं नेष्टं पश्चात् श्रेणिकश्चिन्तयति–कोणिकाय राज्यं दास्यते इति हल्लाय हस्ती दत्तः विहल्लाय देवदत्तो हारो दत्तः अभयेन प्रव्रजता नन्दायाः क्षौमयुगलं कुण्डलयुगलं च हल्लविहल्लाभ्यां दत्ते, महता विभवेनाभयः समातृकः प्रव्रजितः, अन्यदा

तत्थ एगंमि कुंडलजुयलं एगंमि देवदूसजुयलं, तुट्ठाए गहियाणि, एवं हारस्स उप्पत्ती । सेयणगस्स का उप्पत्ती ?, एगम्मि वणे हत्थिजूहं परिवसइ, तंमि जूहे एगो हत्थी जाए जाए हत्थिचेल्लए मारेइ, एगा गुव्विणी हत्थिणिगा, सा य ओसरिता एक्कल्लिया चरइ, अण्णया कयाइ तणपिंडियं सीसे काऊण तावसासमं गया, तेसिं तावसाणं पाएसु पडिया, तेहिं पायं-सरणागया सराई, अण्णया तत्थ चरंती पियाया पुत्तं, हत्थिजूहेण समं चरंती छिद्देण आगंतूण थणं देइ, एवं संवड्ढइ, तत्थ तावसपुत्ता पुप्फआईओ सिंचंति, सोवि सोंडाए पाणियं नेऊण सिंचइ, ताहे नामं कयं सेयणओत्ति, संवड्ढिओ मय-गलो जाओ, ताहे णेण जूहवई मारिओ, अप्पणा जूहं पडिवण्णो, अण्णया तेहिं तावसेहिं राया गामं दाहितित्ति लोभ-गेहिं लोभित्ता रायगिहं नीओ, णयरं पवेसेत्ता बद्धो आलाणे, अण्णया कुलवती तेण चेव पुव्वब्भासेण दुक्को किं पुत्ता ! सेयणग ओप्पुग च से पणामेइ, तेण सो मारिओ, अण्णे भणंति—जूहवइत्तणे ठिएणं मा अण्णावि पियातित्ति ते

---

१ तत्रैकस्मिन् कुण्डलयुगलमेकस्मिन् देवदूष्ययुगलं तदा गृहीतावपि एवं हारस्योत्पत्तिः । सेचनकस्य कोत्पत्तिः ? एकत्र वने हस्तियूथं परिवसति तस्मिन् यूथे एको हस्ती जातान् जातान् हस्तिकलभान् मारयति एका गुर्वी हस्तिनी सा अपसृत्यैकाकिनी चरति अन्यदा कदाचित् तृणपिण्डिकां शीर्षे कृत्वा तापसाश्रमं गता तेषां तापसानां पादयोः पतिता, तैरपि शरणागता रक्षिता, अन्यदा तत्र चरन्ती प्रजनितवती पुत्रं हस्तियूथेन समं चरन्ती अन्तरे आगत्य स्तन्यं ददाति, एवं संवर्धते, तत्र तापसपुत्राः पुष्पवाटीः सिञ्चन्ति, सोऽपि शुण्डया पानीयमानीय सिञ्चति तदा नाम कृतं सेचनक इति संवृद्धो मदकलो जातः, तदा तेन यूथपतिर्मारितः, आत्मना यूथं प्रतिपन्नं, अन्यदा तैस्तापसै राजा ग्रामं दास्यतीति लोभयित्वा लोभकै राजगृहं नीतः । नगरं प्रवेश्य बद्धः आलाने, अन्यदा कुलपतिस्तेनैव पूर्वाभ्यासेनागतः, किं पुत्र सेचनक ! वशं च तस्मै क्षिपति तेन स मारितः अन्ये भणन्ति—यूथपतित्वे स्थितेन माऽन्यापि प्रसविष्यतीति ते

पीउग्गं, अण्णया महिससयाणि पंच पुत्तेण से पलावियाणि, तेण विभंगेण दिट्ठाणि मारियाणि य, सोलस य रोगायंका पाउब्भूया विवरीया इंदियत्था जाया सं दुग्गंधं त सुगंधं मण्णइ, पुत्तेण य से अभयस्स कहिय, ताहे चदणिउदगं दिज्जइ, भणइ—अहो मिट्ठं विट्ठेण आलिप्पइ पूइमंसं आहारो, एवं किलिऊण मओ अहे सत्तम गओ, ताहे सयणेण पुत्तो स ठवि ज्जइ सो नेच्छइ, मा नरग जाइस्सामित्ति सो नेच्छइ, ताहे भणंति—अम्हे विगिंचिस्सामो तुम नवर एक्कं मारेहि सेसप सवे परियणो मारेहिति, इयरीए महिसओ विइए कुहाडो य रत्तचंदणेणं रत्तकणवीरेहिं, दोवि हंडीया मा तेण कुहाडएण अप्पा हओ पडिओ विलवइ, सयणं भणइ—एयं दुक्खं अवणेह, भणंती—न तीरंति, तो कह भणह—अम्हे विगिंचामोत्ति ?, एवं पसंगेण भणिय, तेण देवेण सेणियस्स तुट्ठेण अट्ठारसवंको हारो दिण्णो दोण्णि य अक्खलियवट्टा दिण्णा, सो हारो चेल्ल णाए दिण्णो पियत्ति काउं, वट्टा नंदाए, ताए रुट्ठाए किमहं चेडरूवत्तिकाऊण अनिरक्खिया खंभे आयडिया भग्गा,

---

१ प्रायोग्य अन्यदा महिषपञ्चशती पुत्रेण तस्य पलायिता तेन विभङ्गेन दृष्टा मारिता च षोडश रोगातङ्काः प्रादुर्भूताः विपरीता इन्द्रियार्था जाता यद् दुर्गन्धं तत्सुगन्धि मन्यते पुत्रेण च तस्याभयाय कथितं तदा चन्दनोदकं दीयते भणति—अहो मिष्टं विष्ठयोपलिप्यते पूतिमांसमाहारः एवं क्लिष्ट्वा मृतो ऽधः सप्तम्यां गतः तदा स्वजनेन तस्य पुत्रः स्थाप्यते स नेच्छति मा नरकं गममिति स नेच्छति ते भणन्ति—वयं विमोक्ष्यामस्त्वं परमेकं मारय शेषान् सर्वान् परिजनो मारयिष्यति द्वितीयया महिषो द्वितीयया कुठारो रक्तचन्दनेन रक्तकणवीरैः (अर्चितौ) द्वावपि मा दर्शिता भूत तेन कुठारेणात्मा हतः पतितो विलपति स्वजनं भणति—एतद् दुःखमपनयत भणन्ति—न शक्यते, तत् कथं भणत—वयं विमोक्ष्याम इति ? प्रसङ्गेन भणितं तेन देवेन श्रेणिकस्य तुष्टेनाष्टादशसरिको हारो दत्तः द्वौ चाखण्डितवृत्तौ वृत्तौ स हारश्चेल्लणायै दत्तः प्रियेतिकृत्वा वृत्तौ नन्दायै तया रुष्टया किमहं चेटरूपेतिकृत्वा दूरं क्षिप्ता स्तम्भे आपतितौ भग्नौ,

देभो सेडुगयस्तंतं सामी कहेइ, जाव देवो जाओ, ता तुब्भेहिं छीए किं एवं भणइ ?, भगवं ममं भणइ–किं संसारे अच्छह निव्वाणं गच्छेति, तुमं पुण जाव जीवसि ताव सुहं मओ नरयं जाहिसित्ति, अभओ इहवि चेइयसाहुपूयाए पुण्णं समज्जिणइ मओ देवलोगं जाहिति, कालो जइ जीवइ दिवसे २ पंच महिससयाइं घायएइ मओ नरयं गच्छइ, राया भणइ–अहं तुब्भेहिं नाहेहिं कीस नरयं जामि ? केण उवाएण वा न गच्छेज्जा ?, सामी भणइ–जइ कविलं माहणिं भिक्खं दावेसि कालसूरियं सूणं मोएसि तो न गच्छसि नरयं, वीमंसियाणि सव्वप्पगारेण नेच्छंति, सो य किर अभवसिद्धीओ कालो, भिक्खाइयाणिया कविला न पडिवज्जइ जिणवयणं, सेणिएण भिक्खाइणी भणिया सामेण–साहू वंदाहि, सा नेच्छइ, मारेमि ते, तहावि नेच्छइ, कालोवि नेच्छइत्ति, भणइ–मम गुणेण एसिमो जणो सुहिओ नगरं च, एत्थ को दोसो ?, तस्स पुत्तो पालगो नाम सो अभएण उवसामिओ, कालो मरिउमारद्धो, तस्स पंचमहिसगसयघाएहिं से रूयं अहे सत्तमया

1 ततः सेडुकवृत्तान्तं स्वामी कथयति यावद्देवो जातः। तर्हि युष्माभिः क्षुते किमेवं भणति ? आह भगवान् मां भणति किं संसारे तिष्ठ निर्वाणं गच्छेति त्वं पुनर्यावज्जीवसि तावत्सुखितो मृतो नरकं यास्यसीति अभय इहापि चैत्यसाधुपूजया पुण्यं समुपार्जयति मृतो देवलोकं यास्यति कालिको यदि जीवेत् दिवसे २ महिषपञ्चशती व्यापादयति मृतो नरकं गमिष्यति राजा भणति–अहं युष्मासु नाथेषु कथं नरकं गमिष्यामि ? केन वोपायेन न गच्छेयं ? स्वामी भणति–यदि कपिलां ब्राह्मणीं भिक्षां दापयसि कालसौकरिकात् सूनां मोचयसि तदा न गच्छसि नरकं मीमांसितौ सर्वप्रकारेण नेच्छतः, स किलाभव्यसिद्धिकः कालिकः भिक्षादायिका कपिला न प्रतिपद्यते जिनवचनं श्रेणिकेन भिक्षादायिका भणिता स्वाम्ना–साधून् वन्दस्व सा नेच्छति मारयामि त्वां तथापि न प्रतिपद्यते कालिकोऽपि नेच्छतीति भणति–मम गुणेनायं जनः सुखी नगरं च अत्र को दोषः तस्य पुत्रः पालको नामधेयेन स उपशमितः कालिको मर्तुमारब्ध तस्य महिषपञ्चशता घातेनायोग्यतया सप्तमी–

ऊणो भणइ—किह ते नहं, भणइ—देवेहि मे नासिय, ताणि पेच्छइ—सडसडिताणि, किह सो तुब्भेवि मम सिंघइ ?, ताहे ताणि भणंति—किं तुमे पावियाणि ?, भणइ—चाउंति, सो ऊणण सिंसिओ, ताहे नट्ठो गओ रायगिह दारपालिएण सम दारे वसइ, तत्थ वारअक्खणीए सो मरुओ भुंजइ, अण्णया वहू वंडेरया सइया, सामिस्स समोसरण, सो वारपालिओ त ठवेत्ता भगवओ वदओ पइ, सो वार न छड्डेइ, तिसाइओ मओ वावीए मंडुक्को जाओ, पुव्वभवं संभरइ, उत्तिण्णो वावीए पहाइओ सामिवदओ, सेणिओ य नीति, तत्थेगेण वारपालिओ किसोरेण अक्कंतो मओ देवो जाओ, सक्को सेणियं पसंसइ, सो समोसरणे सेणियस्स मूले कोढियरूवेण निविट्ठो तं चिरिका फोडित्ता सिंचइ, तत्थ सामिणा छिय, भणइ—मर, राणिय जीव, अभय जीव वा मर वा, कालसोरिय मा मर मा जीव, सेणिओ कुविओ भट्टारओ मर भणिओ, मणुस्सा स ण्णिया, उट्ठिए समोसरणे पलोइओ, न तीरइ णाउ देवोत्ति, गओ परं, बिइयदिवसे पए आगओ, पुच्छइ—सो कोत्ति ?,

---

१ ततो भणति—क्व तव नष्टं ?, भणति—देवैर्मे नाशितं ते पश्यन्ति—कथितसडितानि (पूतीनि स्थानानि) कथं तव पूयमपि मां जिघ्रति? तदा त भणन्ति—किं त्वया प्रापिताः ? भणति—चारुमिति स जनेन निर्भर्त्सितः तदा नष्टो गतो राजगृहं द्वारपालकेन समं द्वारे वसति तत्र द्वारपालावासे स म एको भुङ्क्ते अन्यदा बहवो दर्दुरा मुक्ताः स्वामिनः समवसरणं स द्वारपालस्तं स्थापयित्वा भगवद्वन्दको गतः स द्वारं न त्यजति तृषार्दितो मृतो वाप्यां मण्डूको जातः पूर्वभव स्मरति अवतीर्णो वाप्याः प्रधावितः स्वामिवन्दकः श्रेणिकश्च निर्गच्छति द्वारपाल एकेन किशोरेणाक्रान्तो मृतो देवो जातः शक्रः श्रेणिक प्रशंसति स समवसरणे श्रेणिकस्य मूले (अन्तिके) कुष्ठिरूपेण निविष्टः तं स्फोटकान् स्फोटयित्वा सिञ्चति तत्र स्वामिना क्षुत भणति—म्रियस्व भणितं प्रशंसति ... राज्ञि जीव अभय जीव वा म्रियस्व वा कालसौकरिक मा म्रियस्व मा जीव श्रेणिकः कुपितः भट्टारकं (प्रति) म्रियस्वेति भणितं मनुष्याः संज्ञिताः उत्थिते समवसरणे प्रलोकित , न शक्यते ज्ञातु देव इति, गतो परं द्वितीयदिवसे मगे आगतः, पृच्छति—स क इति

ठमो सेडुगमत्तर्ठ सामी कहेइ, जाव देवो जाओ, ता तुब्भेहिं छीए किं एवं भणइ ?, भगवं ममं भणइ–किं संसारे अच्छह निव्वाणं गच्छेसि, तुमं पुण जाव जीवसि ताव सुहं मओ नरयं जाहिसित्ति, अभओ इहवि चेइयसाहुपूयाए पुण्णं समज्जिणइ मओ देवलोगं जाहिति, कालो जइ जीवइ दिवसे २ पंच महिससयाइं वावाएइ मओ नरए गच्छइ, राया भणइ–अहं तुब्भेहिं नाहेहिं कीस नरयं जामि ? केण उवाएण वा न गच्छेज्जा ?, सामी भणइ–जइ कविलं माहणिं भिक्खं दावेसि कालसूरियं सूणं मोएसि तो न गच्छसि नरयं, वीमंसियाणि सव्वप्पगारेण नेच्छंति, सो य किर अभवसिद्धीओ कालो, धिज्जाइयाणिया कविला न पडिवज्जइ जिणवयणं, सेणिएण धिज्जाइणी भणिया सामेण–साहू वंदाहि, सा नेच्छइ, मारेमि ते, तहावि नेच्छइ, कालोवि नेच्छइत्ति, भणइ–मम गुणेण पत्थिओ जणो सुहिओ नगरं च, एत्थ को दोसो ?, तस्स पुत्तो पालगो नाम सो अभएण वयसामिओ, कालो मरिउमारद्धो, तस्स पंचमहिसगसयघातहिं से ऊणं अहे सत्तमया

---

१ ततः सेडुकमात्रं स्वामी कथयति यावद्देवो जातः तर्हि युष्माभिः क्षुते किमेवं भणति ? आह भगवान् मां भणति किं संसारे तिष्ठसि निर्वाणं गच्छेति त्वं पुनर्यावज्जीवसि तावत्सुखितो मृतो नरकं यास्यसीति अभय इहापि चैत्यसाधुपूजया पुण्यं समुपार्जयति मृतो देवलोकं यास्यति कालिको यदि जीवेत् दिवसे २ महिषपञ्चशतीं व्यापादयति मृतो नरकं गमिष्यति राजा भणति–अहं युष्मासु नाथेषु कथं नरकं गमिष्यामि ? केन वोपायेन न गच्छेयम् ? स्वामी भणति–यदि कपिलां ब्राह्मणीं भिक्षां दापयसि कालशौकरिकात् सूनां मोचयसि तदा न गच्छसि नरकं, प्रज्ञापितौ सर्वप्रकारेण नेच्छतः, स किलाभव्यसिद्धिकः कालिकः धिग्जातीया कपिला न प्रतिपद्यते जिनवचनं श्रेणिकेन धिग्जातीया भणिता साम्ना–साधून् वन्दस्व सा नेच्छति मारयामि त्वां तथापि न प्रतिपद्यते कालिकोऽपि नेच्छतीति भणति–मम गुणेनैतावान् जनः सुखी नगरं च अत्र को दोषः तस्य पुत्रः पालको नामनामेन स उपशमितः, कालिको मर्तुमारब्धः, तस्य महिषपञ्चशतघातकस्य सप्तमी–

गुब्विणी पइ भणइ–धम्मोल्ल विडवेहि, कं मग्गामि ?, भणइ–रायाण पुप्फेहि ओलग्गाहि, न य पारिज्जिहिसि, सो य उवगिओ पुप्फफलादीहिं, एव कालो वच्चइ, पज्जोओ य कोसंबिं आगच्छइ, सो य सयाणिओ तस्स भएण जउणाए दाहिण कूलं उद्धवित्ता उत्तरकूल एइ, सो य पज्जोओ न तरइ जउणं उत्तरिउं, कोसंबीए दक्खिणपासे खंधावारं निवेसित्ता चिट्ठइ, सा चेइ–जे य तस्स तणहारिगाई तेसिं घायस्सिओ गहियओ कण्णनासादि छिंदइ सयाणि य मणुस्सा एवं परिखीणा, एगाए रत्त ए पलाओ, त च तेण पुप्फपुडियागएण दिट्ठं, रण्णो य निवेइयं, राया तुट्ठो भणइ–किं देमि ?, भणति–बंभणिं पुच्छामि, पुच्छिएसा भणइ–अग्गासण कूर मग्गाहित्ति, एव सो जेमेइ दिवसे २ दीणारं दइ दक्खिणं, एवं ते कुमारामच्चा चिंतेंति–एस रण्णो अग्गासणिओ दाणमाणग्गहीओ कीरवत्ति ते दीणारा देंति, सखादाणिओ जाओ, पुत्तावि से जाया, सो तं बहुय जेमेयवं, न तीरइ, ताहे दक्खिणालोभेण वमेउं २ जिमिओ, पच्छा स कोढो

1 गुर्वी पति भणति–धर्मोल्लमुपार्जय कं मार्गयामि ? भणति–राजानमवलग पुष्पैः न च पार्यसे स चावलगः पुष्पफलादिभिः एवं कालो व्रजति प्रद्योतश्च कौशाम्बीमायच्छति स च शतानीकस्तस्य भयेन यमुनाया दक्षिण कूलं उत्पाट्योत्तरकूलं गच्छति स च प्रद्योतो न शक्नोति यमुनामुत्तरीतुं, कौशाम्ब्या दक्षिणपार्श्वे स्कन्धावारं निवेश्य तिष्ठति तदा प्रवीति–ये च तस्य तृणहारकादयस्तेषां घाताधिको गृहीतः कर्णनासादि छिनत्ति शतानि च मनुष्याणां एवं परिक्षीणानि एकस्यां रात्रौ पलायितः तच्च तेन पुष्पपुटिकागतेन दृष्टं राज्ञे च निवेदितं राजा तुष्टो भणति–किं ददामि ?, भणति–ब्राह्मणीं पृच्छामि पृष्टा भणति–अग्रासनेन सह कूरं मार्गयेति एवं स जेमति दिवसे २ ददाति दीनारं दक्षिणां एव ते कुमारामात्याश्चिन्तयन्ति एष राज्ञोऽग्रासनिको दानमानगृहीतः क्रियतामिति दीनारान् ददति बहुदानीयो जातः पुत्रा अपि तस्य जाताः स तद् बहुकं जेमितव्यं न शक्यते तदा दक्षिणालोभेन वमित्वा २ जिमितः पश्चात्तस्य कुष्ठ

आओ, अभिमरणेन, ताहे कुमारामच्चा भणंति–पुत्ते ! विसज्जेह, ताहे से पुत्ता जेमेह, ताणवि तहेव, संतती कालंतरेण पिउणा लक्खिरमारद्धा, पच्छिमे से निलओ कओ, तामोवि से सुण्हाओ न तहा पडिचरमारद्धाओ, पुत्तावि नाढायंति, तेण चिंतियं–एयाणि मम दव्वेण वड्ढियाणि मम चेव नाढायंति, तहा करेमि जहेयाणिवि वसणं पाविंति, अण्णया तेण पुत्ता सद्दाविया, भणइ–पुत्ता ! किं मम जीविएणं !, अम्ह कुलपरंपरागओ पसुवहो तं करेमि, तो अणसणं काहामि, तेहिं से कालगओ छगलओ दिण्णो, सो तेण अप्पगं उव्वट्टावेइ, उल्लोलियाओ य खवावेइ, जाहे जाय सुगहिओ एस कोढेणंति ताहे छोमाणि उप्पाडेइ कुसिचि दन्ति, ताहे मारेत्ता भणइ–तुब्भेहिं चेव एस खाएयव्वो, तेहिं खइओ, कोढेण गहियाणि, सोवि उद्वेत्ता नट्ठो, एगत्थ अडवीए पव्वयदरीए णाणाविहाणं रुक्खाणं तयापत्तफलाणि पडंताणि तिफला य पडिया, सो सारएण उण्हेण कढो आओ, तं निविण्णो पियइ, तेणं पोट्टं भिण्णं, सोहिए सज्जो जाओ, आगओ सगिहं,

1 यावत् तदा कुमारामात्या भणन्ति–पुत्रान् विसृज यदा तव पुत्रा जेमन्ति, तेषामपि तथैव संततिः कालान्तरे पितुर्लक्षितुमारब्धा, पश्चिमे तस्य निलयः कृतः, ता अपि तस्य स्नुषा न तथा प्रतिचरितुमारब्धाः पुत्रा अपि नाद्रियन्ते, तेन चिन्तितं–एते मम द्रव्येण वृद्धा मामेव नाद्रियन्ते तथा करोमि यथैतेऽपि व्यसनं प्राप्नुवन्ति अन्यदा तेन पुत्राः शब्दिताः, भणति–पुत्राः ! मम किं जीवितेन ? अस्माकं कुलपरम्परागतः पशुवधः तं करोमि ततोऽनशनं करिष्यामि तैस्तस्मै कृष्णच्छागको दत्तः स तेनात्मीय (तनु) मुद्वर्तयति अवगुण्ठितांश्च खादयति यदा ज्ञातं सुगृहीत एष कुष्ठेनेति तदा रोमाण्युत्पाटयति इति दन्ति तदा मारयित्वा भणति–युष्माभिरेवैष खादितव्यः तैः खादितः कुष्ठेन गृहीताः, सोऽप्युत्थाय नष्टः एकत्र अटव्यां पर्वतदर्यां नानाविधानां वृक्षाणां त्वक्पत्रफलानि पतन्ति त्रिफला च पतिता, स शारदेन उष्णेन क्वथः जातः ततो निर्विण्णः पिबति तेनोदरं भिन्नं शुद्धौ सज्जो जातः आगतः स्वगृहं,

गुब्विणी पई भणइ—धयमोल्लं विढवेहि, कं मग्गामि ?, भणइ—रायाण पुप्फेहि ओलग्गाहि, न य पारिस्सिहिसि, सो य उलग्गिओ पुप्फफलादीहिं, एवं कालो वच्चइ, पज्जोओ य कोसंबिं आगच्छइ, सो य सयाणिओ तस्स भएण जउणाए दाहिणं कूलं उद्धवित्ता उत्तरकूलं एइ, सो य पज्जोओ न तरइ जउणं उत्तरिउं, कोसंबीए दक्खिणपासे खंधावारं निवेसित्ता चिट्ठइ, ता चेइ—जे य तस्स तणहारिगाई तेसिं सायस्सिओ गहियओ कण्णनासादि छिंदइ सयाणि य मणुस्सा एवं परिक्खीणा, एगाए रत्ति ए पलाओ, स च तेण पुप्फपुडियागएण दिट्ठ, रण्णो य निवेइय, राया तुट्ठो भणइ—किं देमि ?, भणति—बंभणिं पुच्छामि, पुच्छिया भणइ—अग्गासण कूर मग्गाहित्ति, एव सो जेमेइ दिवसे २ दीणार देइ दक्खिणं, एय ते कुमारामच्चा चिंतेंति—एस रण्णो अग्गासणिओ दाणमाणग्गहीओ कीरउत्ति से दीणारा देंति, सच्चादाणिआ जाओ, पुत्ताविं से जाया, सो तं बहुयं जेमेयव्वं, न तीरइ, ताहे दक्खिणालोभेण वमेउं २ जिमिओ, पच्छा स कोढो

---

१ गुर्वी पतिं भणति—धवमूल्यमुपार्जय कं मार्गयामि ? भणति—राज्ञामवकाश पुष्पैः न च श्राम्यसे स चावलग्नः पुष्पफलादिभिः एवं कालो व्रजति प्रद्योतश्च कौशाम्बीमागच्छति स च शतानीकस्तस्य भयेन यमुनाया दक्षिणं कूलं उत्सृज्योत्तरकूलं गच्छति स च प्रद्योतो न तरति यमुनामुत्तरीतुं कौशाम्ब्या दक्षिणपार्श्वे स्कन्धावारं निवेश्य तिष्ठति तदा भवन्ति—ये च तस्य तृणहारकादयस्तेषां सामागमितो गृहीतः कर्णनासादि छिनत्ति सर्वाणि च मनुष्याणां एवं परिक्षीणानि एकस्यां रात्रौ पलायिताः तच्च तेन पुष्पपुटिकागतेन दृष्टं राज्ञे च निवेदितं राजा तुष्टो भणति—किं ददामि ? भणति—ब्राह्मणीं पृच्छामि पृष्टा भणति—अग्रासनेन सह कूरं मार्गयेति एष स जेमति दिवसे २ ददाति दीनारं दक्षिणा एवं ते कुमारामात्याश्चिन्तयन्ति एष राज्ञोऽग्रासनिको दानमानगृहीतः क्रियतामिति दीनारान् ददति बहुदानीयो जातः पुत्रा अपि तस्य जाताः स तद् बहुकं जेमितव्यं न शक्नोति तदा दक्षिणालोभेन वान्त्वा २ जिमितः पश्चात्तस्य कुष्ठ

आभो, अभिमत्तखेन, ताहे कुमारामच्चा भणंति—पुत्ते ! विसज्जेह, ताहे से पुत्ता खेमेइ, ताणवि तहेव, संतती कालंतरेण पिउणा छज्जिरमारद्धा, पच्छिमे से निलओ कओ, ताओवि से सुण्हाओ न तहा वट्टिउमारद्धाओ, पुत्तावि नाढायंति, तेण चिंतियं—एयाणि मम दव्वेण वड्ढियाणि मम चेव नाढायंति, तहा करेमि जहेयाणिवि वसणं पाविंति, अन्नया तेण पुत्ता सद्दाविया, भणइ—पुत्ता ! किं मम जीवियव्वेणं !, अम्ह कुलपरंपरागओ पसुवहो तं करेमि, तो अणसणं काहामि, तेहिं से कालगओ छगलओ दिण्णो, सो तेण अब्भंगं उव्वट्टावेइ, उल्लोछियाओ य खावेइ, जाहे नाय सुगहियो एस कोढणंति ताहे लोमाणि उप्पाडेइ कुसिंचि पन्ति, ताहे मारेत्ता भणइ—तुब्भेहिं चेव एस खायव्वो, तेहिं खइओ, कोढेण गहियाणि, सोवि उट्ठेत्ता नट्ठो, एगत्थ अडवीए पव्वयदरीए णाणाविहाणं रुक्खाणं तयापत्तफलाणि पडंताणि तिफला य पडिया, सो तारएण उण्हेण कओ आओ, तं निविण्णो पियइ, तेणं पोट्टं भिण्णं, सोहिए सज्जो जाओ, आगओ सगिहं,

1 जातं यदा कुमारामात्या भणन्ति—पुत्राः विसृज तदा तस्य पुत्रा क्षेमन्ति, तेषामपि तथैव संततिः कालान्तरे पितुर्मृत्युमारब्धा, पश्चिमे तस्य निलयः कृतः, ता अपि तस्य स्नुषा न तथा वार्धक्यमारब्धाः पुत्रा अपि नाद्रियन्ते, तेन चिन्तितं—एते मम द्रव्येण पुष्टा मामेव नाद्रियन्ते तथा करोमि यथैतेऽपि व्यसनं प्राप्नुवन्ति अन्यदा तेन पुत्राः शब्दिताः, भणति—पुत्राः ! मम किं जीवितेन ! अस्माकं कुलपरम्परागतः पशुवधः तं करोमि ततोऽनशनं करिष्यामि तैस्तस्य कृष्णच्छगलको दत्तः, स तेनाभ्यङ्ग (वत्तु) मुद्वर्तयति भक्तखिचत्ता खादयति यदा ज्ञातं सुगृहीत एव अनेनेति तदा रोमाण्युत्पाटयति प्रक्षिप्ता यान्ति तदा मारयित्वा भणति—युष्माभिरेवैव खादितव्यः तैः खादितः कुष्ठेन गृहीताः सोऽप्युत्थाय नष्टः एकत्र अटव्यां पर्वतदर्यां नानाविधानां वृक्षाणां त्वक्पत्रफलानि पतन्ति त्रिफला च पतिता, स घारतेन तस्मिन् जलस्थे जातः, ततो निर्विण्णः पिबति, तेनोदरं भिन्नं गुरी ततो जातः आगतः स्वगृहं,

आगओ दुवारपालेहिं पिट्टिओ, अइवारा एइ सइवारा राया पडिलग्गइ, सो निग्गओ, अह अधितीए निग्गओ पवइओ एणा धरिसिओ, नियाणं करेइ—एयस्स वहाए उववज्जामित्ति, कालगओ, अप्पिड्ढिओ वाणमंतरो जाओ, सोऽवि राया तावसभत्तो तावसो पवइओ सोवि वाणमंतरो जाओ, पुर्वि राया सेणिओ जाओ, कुंटी समणो कोणिओ, सं चेव चेल्लणाए पोट्टे उववण्णो तं चेव चिंतेइ—कहं रायाण अक्खीहिं न पेक्खेज्जा !, तीए चिंतियं—एयस्स गब्भस्स दोसोत्ति गब्भं, साडणेहिवि न पडइ, डोहलकाले दोहलो, किह !, सेणियस्स उदरवलिमंसाणि खायज्जा, अपूरंते परिहायइ, न य अक्खाइ, णिब्बंधे सबहसावियाए कहिय, तओ अभयस्स कहियं, ससगचम्मेण समं मंसं कप्पेत्ता वलीए उवरिं दिन्न, तीसे ओलोयणगयाए पिच्छमाणीए दिज्जइ, राया अलियए मुच्छियाणि करेइ, चेल्लणा जाहे सेणियं चिंतेइ ताहे अद्धितीए उप्पज्जइ, जाहे गब्भं चिंतेइ ताहे कह सवं खाएज्जत्ति !, एवं विणीओ दोहलो, णवहिं मासेहिं दारगो जाओ, रण्णो णिवेइय, तुट्ठो, दासीए छड्डाविओ असोगवणियाए, कहियं

---

१ आगतो द्वारपालैः पिट्टितः अतिवारा आयाति सतिवारा राजा प्रतिभज्यते, स निर्गतः [illegible] पूतेन धर्षितः निदानं करोति— एतस्य वधायोपपद्ये इति कालगतः अल्पर्द्धिको व्यन्तरो जातः, सोऽपि राजा तापसभक्तः तापसः प्रव्रजितः सोऽपि व्यन्तरो जातः पूर्वं राजा श्रेणिको जातः कुन्टीश्रमणः कोणिकः, स एव चेल्लणाया उदरे उत्पन्नः स एव चिन्तयति—कथं राजानमक्षिभ्यां न प्रेक्षेय तया चिन्तितं—एतस्य गर्भस्य दोष इति गर्भं पातनैरपि न पतति, दोहदकाले दोहदः कथं !, श्रेणिकस्योदरवलिमांसानि खादेयं, अपूर्यमाणे परिहीयते न चाख्याति निर्बन्धे शपथशापितया कथितं ततोऽभयाय कथितं, शशकचर्मणा समं मांसं कल्पयित्वा वल्या उपरि दत्तं तस्या अवलोकनगतायै प्रेक्षमाणायै दीयते राजा अलीकमूर्छा करोति चेल्लणा यदा श्रेणिकं चिन्तयति तदाऽधृतिरुत्पद्यते, यदा गर्भं चिन्तयति तदा कथं सर्वं खादेयमिति एवमपनीतो दोहदः नवसु मासेषु दारको जातः राज्ञे निवेदितं तुष्टः दास्या त्याजितोऽशोकवनिकायां, कथितं

'सेणियस्स, आगओ, अंबाडिया, किं से पढमपुत्तो उज्झिओत्ति ?, तओ असोगवणियं, तेणं सो उज्जीविओ, असोगचंदो से नाम कयं, तत्थवि कुक्कुडिपिंछएणं कोणंगुलीऽविद्धा, सुकुमालिया सा न पउणइ, कूणिया जाया, ताहे से दारयस्स नामं कयं कूणिओत्ति, जाहे य त अंगुलिं पूइ गलति सेणिओ मुहे करेइ ताहे ठाति, इयरहा रोवइ, सो य संवड्ढइ, इओ य अण्णे दो पुत्ता चेल्लणाए जाया—हल्लो विहल्लो य, अण्णे सेणियस्स बहवे पुत्ता अण्णासिं देवीणं, जाहे य किर उज्जाणियाखधावारो जाओ, ताहे चेल्लणा कोणियस्स गुडमोयए पेसेइ हल्लविहल्लाणं खंडकए, तेण वेरेण कोणिओ चिंतइ एए सेणिओ मम देइत्ति पओसं वहइ, अण्णया कोणियस्स अट्ठहिं रायकण्णाहिं समं विवाहो जाओ, जाव उप्पिं पासायवरगओ विहरइ, एसा कोणियस्स उप्पत्ती परिकहिया। सेणियस्स किर रण्णो जावतियं रज्जस्स मोल्लं तावतियं देवदिन्नस्स हारस्स सेयणगस्स गंधहत्थिस्स, एएसिं उप्पत्ती परिकहेयव्वा, हारस्स का उप्पत्ती—कोसंबीए णयरी जियसत्तू

---

1 श्रेणिकस्य आगतः अम्बाडया किं तव प्रथमपुत्र उज्झित इति? ततोऽशोकवनिकायां तेन स उज्जीवितः अशोकचन्द्रस्तस्य नाम कृतं तत्रापि कुक्कुटपिच्छेन कोणेऽङ्गुलिर्भिन्ना सुकुमारिका सा न प्रगुणीभवति यदा जाता तदा तस्य दारकस्य नाम कृतं कूणिक इति यदा च तस्या अङ्गुल्याः पूतिः स्रवति श्रेणिको मुखे करोति तदा उपरतस्तिष्ठति इतरथा रोदिति स च संवर्धते इतश्चान्यौ द्वौ पुत्रौ चेल्लणाया जातौ हल्लो विहल्लश्च अन्ये श्रेणिकस्य बहवः पुत्रा अन्यासां देवीनां यदा च किल उद्यानिकास्कन्धावारो जातस्तदा चेल्लणा कोणिकाय गुडमोदकान् प्रेषयति हल्लविहल्लाभ्यां खण्डखाद्यान् तेन वैरेण कोणिकश्चिन्तयति एतान् श्रेणिको मह्यं ददातीति प्रद्वेषं वहति अन्यदा कोणिकस्याष्टभिः राजकन्याभिः समं विवाहो जातः यावत् उपरि प्रासादवरगतो विहरति एषा कोणिकस्योत्पत्तिः परिकथिता। श्रेणिकस्य किल यावद् राज्यस्य मूल्यं तावद् देवदत्तस्य हारस्य सेचनकस्य गन्धहस्तिनः, एतयोरुत्पत्तिः परिकथयितव्या, हारस्य कोत्पत्तिः ?—कौशाम्ब्यां जितशत्रुः

रूवं ?, अभओ भणइ–को समत्थो तस्स रूवं काउं ?, जं वा तं वा लिहियं, दासचेडीहिं कण्णंतउरे कहियं, ताओ भणियाओ–आणेह ताव तं पट्टगं, दासीहिं मग्गिओ न देइ, मा मज्झ सामिए अवन्नं काहिहि, बहुयाहिं जायणियाहिं दिण्णो, पच्छण्णं पवेसिओ, दिट्ठो सुजेट्ठाए, दासीओ विभिण्णरहस्साओ कयाओ, सो वाणियओ भणिओ–कहं सेणिओ भत्ता भविज्जइ ?, सो भणइ–जइ एवं तो इहं चेव सेणियं आणेमि, आणिओ सेणिओ, पच्छन्ना सुरंगा खया जाव कण्णंतउरं, सुजेट्ठा चेल्लणं आपुच्छइ–जामि सेणिएण समंति, दोवि पहावियाओ, जाव सुजेट्ठा आभरणाणं गया ताव मणुस्सा सुरंगाए उम्मुग्गा चेल्लणं गहाय गया, सुजेट्ठाए आरावो मुक्को, चेडगो सन्नद्धो, वीरंगओ रहिओ भणइ–भट्टारगा ! मा तुब्भे वच्चह, अहं आणेमित्ति निग्गओ, पच्छओ लग्गइ, तत्थ दरीए एगो रहमग्गो, तत्थ ते बत्तीसंपि सुलसापुत्ता ठिया, ते वीरंगएण एक्केण सरेण मारिया, जाव सो ते रहे ओसारेइ ताव सेणिओ पलाओ, सोवि नियत्तो, सेणिओ सुजेट्ठं सलवइ,

१ रूपं ? अभयो भणति–कः समर्थस्तस्य रूपं कर्तुं ? यद्वा तद्वा लिखितं दासचेटीभिः कन्यान्तःपुरे कथितं ता भणिताः–आनयत तावत् तं पट्टं दासीभिर्मार्गितो न ददाति मा मम स्वामिनोऽवज्ञां कार्षीत् बहुकाभिर्याचनाभिर्दत्तः प्रच्छन्नं प्रवेशितः दृष्टः सुज्येष्ठया दास्यो विभिन्नरहस्याः कृताः स वणिग् भणितः–कथं श्रेणिको भर्त्ता भवेत् ? स भणति–यद्येवं तदेहैव श्रेणिकमानयामि आनीतः श्रेणिकः प्रच्छन्ना सुरङ्गा खाता यावत्कन्यान्तःपुरं सुज्येष्ठा चेल्लणामापृच्छति–यामि श्रेणिकेन सममिति द्वे अपि प्रधाविते यावत् सुज्येष्ठा आभरणेभ्यो गता तावत् मनुष्याः सुरङ्गायां उन्मग्नाश्चेल्लणां गृहीत्वा गताः, सुज्येष्ठयाऽऽरावो मुक्तः, चेटकः सन्नद्धः, वीराङ्गदो रथिको भणति–भट्टारकाः ! मा यूयं व्रजत अहमानयामीति निर्गतः पृष्ठतो लगति तत्र दर्यामेको रथमार्गः तत्र ते द्वात्रिंशदपि सुलसापुत्राः स्थिताः, ते वीराङ्गदेनैकेन शरेण मारिताः स यावत्तान् रथान् अपसारयति तावत् श्रेणिकः पलायितः सोऽपि निवृत्तः श्रेणिकः सुज्येष्ठां संलपति

सा भणइ—अहं चेल्लणा, सेणिओ भणइ—तुब्भेच्छुरिया तुमं चेव, सेणियस्स हरिसोवि विसाओवि विसाओ रहियमारणेण हरिसो चेल्लणालंभेण, चेल्लणाएवि हरिसो तस्स रूवेणं विसाओ भगिणीवंचणेण, सुजिट्ठावि चिरत्तु कामभोगाणंति पव्वतिया, चेल्लणाएवि पुत्तो जाओ कोणिओ नाम, तस्स का उप्पत्ती ?, एगं पच्चंतणयरं, तत्थ जियसत्तुरण्णो पुत्तो सुमंगलो, अमच्चपुत्तो सेणगोत्ति पोट्टिओ, सो हसिज्जइ, पाणिए सब्बोअएहिं मारिज्जइ सो दुक्खाविज्जइ सुमंगलेण, सो तेण निव्वेएण बालतवस्सी पव्वइओ, सुमंगलोवि राया जाओ, अण्णया सो तेण ओगासेण वोलेंतो पेच्छइ तं बालतवस्सिं, रण्णा पुच्छियं—को एसत्ति ?, लोगो भणइ—एस एरिसं तवं करेति, रायाए अणुकंपा जाया, पुव्विं दुक्खावियगो, निमंतिओ, मम घरे पारेहित्ति, मासक्खमणे पुण्णे गओ, राया पडिलग्गो न दिण्णं दारपालेहिं दारं, पुणोवि उट्ठियं पविट्ठो, संभरिओ, पुणो गओ निमंतेइ, आगओ, पुणोवि पडिलग्गो राया, पुणोवि उट्ठियं पविट्ठो, पुणोवि निमंतेइ तइयं, सो तइयाए

---

१ सा भणति—अहं चेल्लणा श्रेणिको भणति—युष्मेद्भ्याऽऽत्वरिता त्वमेव श्रेणिकस्य हर्षोऽपि विषादोऽपि विषादो रथिकमारणेन हर्षोऽनुपमलाभेन चेल्लणाया अपि हर्षस्तस्य रूपेण विषादो भगिनीवञ्चनेन युष्मेऽपि चिरस्तु कामभोगानिति भावयित्वा चेल्लणाया अपि पुत्रो जातः कोणिकनामा तस्य कोत्पत्तिः ? एवं प्रत्यन्तनगरं तत्र जितशत्रुराजस्य पुत्रः सुमङ्गलः अमात्यपुत्रः सेनक इति महोदरः स हस्यते पाणिना वयस्यैर्मार्यते स दुःख्यते सुमङ्गलेन, स तेन निर्वेदेन बालतपस्वी प्रव्रजितः सुमङ्गलोऽपि राजा जातः, अन्यदा स तेनावकाशेन व्यतिव्रजन् पश्यति तं बालतपस्विनं राज्ञा पृष्ट—क एष इति ? लोको भणति—एष ईदृशं तपः करोति राज्ञोऽनुकम्पा जाता पूर्वं दुःखितो निमन्त्रितः मम गृहे पारयेति मासक्षपणे पूर्णे गतः राजा प्रतिरुग्णः (ग्लानो जातः) न दत्तं द्वारपालैर्द्वारं, पुनरप्युत्थित (प्युत्थितो) प्रविष्टः, संस्मृतः, पुनर्गत्वा निमन्त्रयति, आगतः, पुनरपि प्रतिरुग्णो राजा, पुनरप्युत्थितः प्रविष्टः, पुनरपि निमन्त्रयति तृतीयवारं, स तृतीयवारे

अम्बपकं गहाय निग्गया, तंपि भिण्णं, तइयंपि भिण्णं, तुट्ठो य साहइ, जहाविहिं बत्तीसगुलियाउ देइ, कमेण खादि, बत्तीसं पुत्ता होहिन्ति, जया य से किंचि पओयणं ताहे सभरिज्जासि एहामित्ति, ताए चिंतियं–केचिर बालरूवाण असुइयं मद्देस्सामि, एयाहिं सव्वाहिंवि एगो पुत्तो हुज्जा, खइयाओ, तओ णाहूया बत्तीस, पोट्ट वड्डइ, अद्धितीए काउस्सग्गं ठिया, देवो आगओ, पुच्छइ, साहइ–सव्वाओ खइयाओ, सो भणइ–दुट्ठु ते कयं, एगाउया होहिंति, देवेण उवसामियं च असायं, कालेणं बत्तीसं पुत्ता जाया, सेणियस्स सरिसवया वड्ढंति, तेऽविरहिया जाया, देवदिन्नत्ति विक्खाया। इओ य वेसालिओ चेडओ हेहयकुलसंभूओ तस्स देवीणं अन्नमन्नाणं सत्त धूयाओ, तंजहा–पभावई पउमावई मियावई सिवा जेट्ठा सुजेट्ठा चेल्लणत्ति सो चेडओ सावओ परविवाहकारणस्स पच्चक्खायं (ति) धूयाओ कस्सइ न देइ, ताओ मादिमिस्सगाहिं रायाणिं पुच्छित्ता अन्नेसिं इच्छियाणं सरिसयाणं देइ, पभावती वीईभए णयरे उदायणस्स दिण्णा पउमावई

---

१ अम्बपकं गृहीत्वा निर्गता तदपि भिन्नं तृतीयमपि भिन्नं तुष्टश्च कथयति यथाविधि द्वात्रिंशद्गुटिका ददाति क्रमेण खादयेः द्वात्रिंशत् पुत्रा भविष्यन्तीति यदा च ते किञ्चित् प्रयोजनं तदा संस्मरेः आगमिष्यामीति तया चिन्तितं–कियच्चिरं बालरूपाणामशुचि मर्दयिष्यामि एताभिः सर्वाभिरपि एकः पुत्रो भवतु खादिताः तत्र तस्या द्वात्रिंशत् उदरे वर्धन्ते महता कायोत्सर्गे स्थिता देव आगतः पृच्छति कथयति सर्वाः खादिताः स भणति–दुष्टं त्वया कृतं एकायुष्का भविष्यन्ति देवेनोपशमितं त्वसातं कालेन द्वात्रिंशत् पुत्रा जाताः श्रेणिकस्य सदृशवयसो वर्धन्ते तेऽविरहिता जाताः देवदत्ता इति विख्याताः इतश्च वैशालिकश्चेटको हैहयकुलसंभूतो तस्य देवीनामन्यान्यासां सप्त दुहितरः तद्यथा–प्रभावती पद्मावती मृगावती शिवा ज्येष्ठा सुज्येष्ठा चेल्लणेति स चेटकः श्रावकः परविवाहकरणस्य प्रत्याख्यातमिति दुहितॄः कस्मैचिद् न ददाति ता मातृमिश्रकादिभिः राज्ञां पृष्ट्वेप्सितेभ्यः ददाति उदायनो वीतभये प्रभावती वीतभये उदायनाय दत्ता पद्मावती

चंपाए दहिवाहणस्स मियावई कोसंबीए सयाणियस्स सिवा उज्जेणीए पज्जोयस्स जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स णंदिवद्धणस्स दिण्णा, सुजेट्ठा चेल्लणा य कण्णयाओ अच्छंति, तं अंतेउरं परिव्वाइगा अइगया ससमयं तासिं कहेइ, सुजेट्ठाए निप्पिट्ठपसिणवागरणा कया मुहमक्कडियाहिं निच्छूढा पओसमावण्णा निग्गया, अमरिसेण सुजेट्ठारूवं चित्तफलगे काऊण सेणियस्स उवगया, दिट्ठा सेणिएण, पुच्छिया, कहियं, अधितिं करेइ, दूओ विसज्जिओ वरगो, तं भणइ चेडगो—किहहं वाहियकुले देमित्ति पडिसिद्धो, घोरतरा अधिती जाया, अभयागमो जहा णाए, पुच्छिए कहियं—अच्छह वीसत्था, आणेमित्ति, अतिगओ नियघरं सवायं चिंतेंतो वाणियरूवं करेइ, सरभेयवण्णभेयाउ काऊण वेसालिं गओ, कण्णंतेउरसमीवे आवणं गिण्हइ, चित्तफलए सेणियस्स रूवं लिहइ, जाहे ताओ कण्णंतेउरवासीओ केज्जगस्स एंति ताहे सुबहुं देइ, ताओवि य दाणमाणसंगहियाओ करेइ, पुच्छंति—किमेयं चित्तफलए ?, भणइ—सेणिओ अम्ह सामी, किं परिसं तस्स

---

1 चम्पायां दधिवाहनाय मृगावती कौशाम्ब्यां शतानीकाय शिवोज्जयिन्यां प्रद्योताय ज्येष्ठा कुण्डग्रामे वर्धमानस्वामिनो ज्येष्ठस्य नन्दिवर्धनस्य दत्ता सुज्येष्ठा चेल्लणा च कन्ये तिष्ठतः तदन्तःपुरं प्रव्राजिकाऽतिगता स्वसमयं ताभ्यां कथयति सुज्येष्ठया निस्पृष्टप्रश्नव्याकरणा कृता मुखमर्कटिकाभिर्निष्काशिता प्रद्वेषमापन्ना निर्गता अमर्षेण सुज्येष्ठारूपं चित्रफलके कृत्वा श्रेणिकमुपगता दृष्टा श्रेणिकेन पृष्टा कथितं अधृतिं करोति दूतो विसृष्टो वरकः, तं भणति चेटकः—कथमहं वाहिककुलाय ददामीति प्रतिषिद्धः घोरतराऽधृतिर्जाता अभयागमो यथा ज्ञाते पृष्टे कथितं—तिष्ठत विश्वस्ताः आनयामीति अतिगतः निजभवनं स्वरूपं चिन्तयन् वणिग्रूपं करोति स्वरभेदवर्णभेदौ कृत्वा विशालां गतः कन्यान्तःपुरसमीपे आपणं गृह्णाति चित्रफलके श्रेणिकस्य रूपं लिखति यदा ता अन्तःपुरवासिन्यः कन्या आयान्ति तदा सुबहु ददाति ता अपि च दानमानसंगृहीताः करोति पृच्छन्ति—किमेतत् चित्रफलके ? भणति—श्रेणिकोऽस्माकं स्वामी किमीदृशं तस्य

दारुएहिं चियगा कीरउ, तत्थ पविसामि, राया विसण्णो, पुत्तो सक्कारेण विसज्जिओ, ताहे अभओ भणइ—अहं तुब्भहिं छलेणं आणिओ, तुब्भे दिवसओ आइच्चं दीवियं काऊण रडंत णयरमज्झेण जइ न हरामि तो अग्गिं पवीसामित्ति, तं भज्जं गहाय गओ, किंचि कालं रायगिहे अच्छित्ता दो गणियादारियाओ अप्पडिरूवाओ गहाय वाणियगवेसेण उज्जेणीए रायमग्गोगाढं आवासिं गेण्हइ, अण्णया दिट्ठाउ पज्जोएण, ताहिं विसविलासाहिं दिट्ठीहिं निज्झाइओ अंजली य से कया, भइयओ नियगभवणं, दूती पेसेइ, ताहिं परिकुवियाहिं धाडिया, भणइ—राया ण होदित्ति, बीयदिवसे सणियगं आरुसियाउ, तइयदिवसे भणिया—सत्तमे दिवसे देवकुले अम्ह देवजण्णगो तत्थ विरहो, इयरहा भाया रक्खइ, तेण य सरिसगो मणूसो पज्जोउत्ति नाम काऊण उम्मत्तओ कओ, भणइ—मम एस भाया सारवेमि णं, किं करेमि ? एरिसो भाइ नेहो, सो रुट्ठो रुट्ठो नासइ, पुणो हक्कारिऊण रडंतो पुणो २ आणिज्जइ रडेइ रे अमुगा अमुगा अहं पज्जोओ हीरामित्ति,

---

१ दारुभिश्चितिका क्रियतां तत्र प्रविशामि राजा विषण्णः पुत्रः सत्कृत्य विसृष्टः तदाऽभयो भणति—अहं युष्माभिश्छलेनानीतः युष्मान् दिवस आदिमं दीपिकां कृत्वा रटन्तं नगरमध्येन हरामि न यदि तदाऽग्निं प्रविशामीति तां भार्यां गृहीत्वा गतः कस्मिंश्चित्कालं राजगृहे स्थित्वा द्वे गणिकादारिके अप्रतिरूपे गृहीत्वा वणिग्वेषेणोज्जयिन्यां राजमार्गासन्नमावासं गृह्णाति अन्यदा दृष्टे प्रद्योतेन, ताभ्यां विषविलासाभिर्दृष्टिभिर्निध्यातः अञ्जलिश्च तया कृता गतो निजभवनं दूतीं प्रेषयते ताभ्यां परिकुपिताभ्यां धाटिता, भणति—राजा न भवतीति द्वितीयदिवसे सनैराखष्टे तृतीयदिवसे भणिता—सप्तम दिवसे देवकुलेऽस्माकं देवयज्ञस्तत्र विरहः इतरथा भ्राता रक्षति तेन च सदृशो मनुष्यः प्रद्योत इति नाम कृत्वोन्मत्तः कृतः भणति—ममैष भ्राता रक्षामि एनं किं करोमि भ्रातृस्नेह ईदृशः स रुष्टो रुष्टो नश्यति पुनः हक्कारयित्वा रटन् पुनः २ आनीयते रटति रे अमुका ! २ अहं प्रद्योतो ह्रिये इति

तेण सत्तमे दिवसे धूती पेसिया, एत्थ पच्छन्नत्ति भणिओ आगओ, गवक्खए विलग्गो, मणुस्सेहिं परिवओ पल्लंकेण समं, हीरइ दिवसओ नयरमज्झेण, चिंतीकरणमूलेण पुच्छिज्जइ, भणइ—विज्जघरं णेज्जइ, अम्हाओ आसरहेहिं उक्खित्तो पावि(ओ) रायगिहं, सेणियस्स कहियं, मासिं अच्छिया आगओ, अभएण वारिओ, किं कज्जस ?, सक्कारिया विसज्जिओ, पीई जाया परोप्परं, एवं ताव अभयस्स उप्पाणपरियावणिया, तस्स सेणियस्स चेल्लणा देवी, तीसे उप्पाणपारियावणिया कहिज्जइ, तत्थ रायगिहे पसेणइसंतिओ नागनामा रहिओ, तस्स सुलसा भज्जा, सो अपुत्तओ इंदक्खंदादी णमंसइ, सा साविया नेच्छइ, अन्नं परिणेहि, सो भणइ—तव पुत्तो तेण कज्जं, तेण वेज्जोवएसेण तिहिं सयसहस्सेहिं तिन्नि तेल्ल पुलया पक्का, सक्काउए संलावो—परिसा सुलसा सावियत्ति, देवो आगओ साहू, उज्जातियरूवेण निसीहिया कया, उट्ठिया पदइ, भणइ—किमागमणं तुम्हं ?, सयसहस्सपायतेल्लं तं देहि, वेज्जेण उवइट्ठं, देमित्ति अतिगया, उत्तारंतीए भिन्नं,

1 तेन सप्तमे दिवसे धूर्ती प्रेषिता एकाकी आपातितवति भणित आगतः, गवाक्षे विलग्नः मनुष्यैः प्रतिबद्धः पल्यङ्केन समं ह्रियते दिवसे दिवसे नगरमध्येन, चीविकरणमूलेन पृच्छ्यते, भणति—वैद्यगृहं नीयते अन्योऽश्वरथैश्च प्रापितो राजगृहं, श्रेणिकाय कथितं, मासिमात्रमुष्य आगतः अभयेन वारितः किं क्रियते ?, सत्कारिता विसृष्टाः, प्रीतिर्जाता परस्परं एवं तावद् अभयस्योत्पत्त्यापरिणामिकी तस्य श्रेणिकस्य चिल्लणादेवी तस्या उत्पत्त्यापरिणामिकी कथ्यते तत्र राजगृहे प्रसेनजित्को नागनामा रथिकः, तस्य भार्या सुलसा सोऽपुत्र इन्द्रस्कन्दादीन् नमस्यति सा श्राविका नेच्छति अन्यां परिणय स भणति—तव पुत्रेण कार्यं तेन वैद्योपदेशेन त्रिभिः शतसहस्रैः तैलकुप्यः पक्वाः, एकदा शक्रकथने संलापः—ईदृशी सुलसा श्राविकेति देव आगतः साधुः उ-आर्द्रीभूतरूपेण नैषेधिकी कृता, उत्थाय वन्दते, भणति—किमागमनं युष्माकं ?, शतसहस्रपाकतैलं देहि, वैद्येनोपदिष्टं ददामीति अतिगता उत्तारयन्त्या भिन्नं

एस चीओ चरो, अभएण भणियं—एसोवि तुब्भं चेव पासे अच्छउ, अण्णे भणंति—उज्जाणियागओ पज्जोओ इमा दारिया णिम्माया तत्थ गायिज्जिहित्ति, तस्स य जोगंधरायणो अमच्चो, सो उम्मत्तगवेसेण पढइ—यदि तां चैव तां चैव, तां चैवाऽऽयतलोचनाम्। न हरामि नृपस्यार्थे, नाहं योगंधरायणः॥ १॥ सो य पज्जोएण दिट्ठो, ठिओ काइयं वोसिरिउं, णाय रो य कओ पिसाउत्ति, सा य कंचणमाला यिभिन्नरहस्सा, वसंतमेंठेणवि चत्तारि मुत्तघडियाओ विलइयाओ घोसवती वीणा, कच्छाए वज्झतीए सच्चुरओ नाम मंतीए अधलो भणइ—कक्षायां वध्यमानायां, यथा रसति हस्तिनी। योजनानां शतं गत्वा, प्राणत्याग करिष्यसि॥ १॥ ताहे सव्वजणसमुद्दओ, मज्झे उदयणो, भणइ—एष प्रयाति सार्थः काञ्चनमाला वसन्तकश्चैव। भद्रवती घोषवती वासवदत्ता उदयनश्च॥१॥ पधाविया हत्थिणी, अनलगिरी जाव संनज्झइ ताव पणवीसं जोयणाणि गयाणि सनद्धो, मग्गलग्गो, अद्धूराए घडिया भग्गा, जाव स उस्सिघइ ताव अण्णाणिवि पंचवीस, एव तिण्णिवि,

---

१ एष द्वितीयो वरः अभयेन भणित—एषोऽपि युष्माकमेव पार्श्वे तिष्ठतु अन्ये भणन्ति—उद्यानिकायातः प्रद्योत इयं च दारिका निष्माता तत्र गास्यतीति तस्य च योगन्धरायणोऽमात्यः स उन्मत्तकवेषेण पठति—स च प्रद्योतेन दृष्टः स्थितः कायिकीं व्युत्स्रष्टुं नागरैश्च कृतः पिशाच इति सा च काञ्चनमाला विभिन्नरहस्या, वसन्तमेण्ठेनापि चतस्रो मूत्रघटिका विलगिताः घोषवती वीणा कक्षायां बध्यमानायां सत्कुरको नाम मन्त्री (सत्कोरको रसो नाम) मन्त्रिणाऽन्धो भण्यते—तदा सर्वजनसमुदयो मध्ये उदायनो वर्त्तते भणति—प्रधाविता हस्तिनी अनलगिरिर्यावत् संनह्यते तावत् पञ्चविंशतिं योजनानि गतः सज्जः मार्गलग्नः अर्द्धरात्रे घटिका भग्ना, यावज्जिघ्रति तावदन्याम्यपि पञ्चविंशतिं, एवं त्रीन् वारान्

नगरं च आगओ। अण्णया उज्जेणीए अग्गी उट्ठिओ, णयरं डज्झइ, अभओ पुच्छिओ, सो भणइ—विसस्स विसमोसहं अग्गेरग्गिरेव, ताहे अग्गीउ अण्णो अग्गी कओ, ताहे ठिओ, तइओ वरो, एसवि अच्छउ। अण्णया उज्जेणीए असिवं उट्ठियं, अभओ पुच्छिओ भणइ—अब्भितरियाए अत्थाणीए देवीओ विभूसियाओ एज्जंतु, जा तुम्हे रायालंकारविभूसिए जिणइ त मम कहेज्जह, तहेव कयं, राया पलोएइ, सव्वा हेट्ठामुही ठायंति, सिवाए राया जिओ, कहियं तव कुम्मासगाए, भणइ—रत्तिं अवसण्णा कुंभबलिए अच्चणियं करेज, जं भूयं उट्ठेइ तस्स मुहे कूरं छुब्भइ, तहेव कयंति, तियचउक्के मट्टालए य जाहे सा देवया सिवारूवेणं वासइ ताहे कूरं छुब्भइ, भणइ य—अहं सिवा गोपालगमायत्ति, एवं सव्वाणिवि निज्जियाणि, संती जाया, तस्स चउत्थो वरो। ताहे अभओ चिंतेइ—केच्चिरं अच्छामो ?, मग्गामोत्ति, भणइ—महाराया ! वरा दिज्जंतु, वरेहि पुत्ता !, भणइ—नलगिरिंमि हत्थिंमि तुब्भेहिं मिण्ठेहिं सिवाए उच्छंगे निवण्णो (अग्गिसाईमि)अग्गिभीरुस्स रहस्स

1 नगरं चागतः। अन्यदोज्जयिन्यामग्निरुत्थितः, नगरं दह्यते अभयः पृष्टः स भणति—तदाग्नेरग्नोऽग्निः अन्यस्मात् स्थितः तृतीयो वरः, एषोऽपि तिष्ठतु। अन्यदोज्जयिन्यामशिवमुत्थितं अभयः पृष्टो भणति—अभ्यन्तरिकायामास्थान्यां देव्यो विभूषिता आयान्तु या युष्मान् राजालङ्कारविभूषितान् जयति तां मह्यं कथयत तथैव कृते राजा प्रलोकयति सर्वा अधस्तान् तिष्ठन्ति (ग्रीवा नमयन्ते) शिवया राजा जितः कथितं तव कुल्माषा भणति—रात्रावव-सन्नाः कुम्भबलिकयाऽर्चनिकां कुर्वन्तु, यो भूत उत्तिष्ठति तस्य मुखे कूरं क्षिप्यते तथैव कृतमिति त्रिके चतुष्केऽट्टालके च यदा सा देवता शिवारूपेण रटति तदा कूरः क्षिप्यते भणति च—अहं शिवा गोपालकमातेति एवं सर्वेऽपि निर्जिताः शान्तिर्जाता तस्य चतुर्थो वरः। तदाऽभयश्चिन्तयति—कियच्चिरं तिष्ठामः ? याम इति भणति—महाराज ! वरान् ददतु, वृणुष्व पुत्र !, भणति—अनलगिरौ हस्तिनि युष्मासु मेण्ठेषु शिवाया उत्सङ्गे निषण्णोऽग्नि प्रविशामि अग्निभीरुरथस्य

उट्ठेत्ता पहाविओ, पुणो दूरं गंतु पच्चाहओ, तइयवि धारिओ चउत्थपि धारिओ, तेण चिंतिय–भवियव्वं कारणेणंति पज्जोयस्स मूलं गओ, निवेइयं रायकज्जं, तं च से परिकहियं, अभओ वियक्खणोत्ति सद्दाविओ, तं च से परिकहियं, अभओ तं अग्घाइत्ता भणइ–एत्थ दव्वसंजोएण दिट्ठीविसो सप्पो सम्मुच्छिओ आओ, जइ उग्घाडियं होंत तो दिट्ठीविसेण सप्पेण खाइओ होइ(न्तो), तो किं कज्जउ ?, वणनिउंजे मुयज्जइ, परंमुहो मुक्को, वणाणि दड्ढाणि, सो अन्तोमुहुत्तेण मओ, तुट्ठो राया, भणिओ–बंधणविमोक्खवज्जं वरं वरेहित्ति, भणइ–तुब्भं चेव हत्थे अच्छउ, अण्णयाऽनलगिरी वियट्टो न तीरइ घेत्तु, अभओ पुच्छिओ, भणइ–उदायणो गायउत्ति, तो उदायणो कहं बद्धोत्ति–तस्स य पज्जोयस्स धूया वासवदत्ता नाम, सा बहुयाउ कलाउ सिक्खाविया, गंधव्वेण उदयणो पहाणो सो घेप्पउत्ति, केण उवाएणंति ?, सो किर अ हत्थिं पच्छइ तत्थ गायइ जाव बंधंपि न याणइ, एवं कालो वच्चइ, इमेण जंतमओ हत्थी काराविओ, तं सिक्खावेइ, तस्स विसयए

१ उत्थाय प्रधावितः पुनर्दूरं गत्वा प्रत्याहृतस्तथापि धारितः तृतीयमपि धारितः तेन चिन्तितं–भवितव्यं कारणेनेति प्रद्योतस्य मूले गतो निवेदितं राजकार्यं तच्च तस्मै परिकथितं अभयो विचक्षण इति शब्दितः तच्च तस्मै परिकथितं अभयस्तद् आघ्राय शम्बलं भणति–अत्र द्रव्यसंयोगेन दृष्टिविषः सर्पः संमूर्च्छिमो जातः यद्युद्घाटितमभविष्यत्तदा दृष्टिविषेण सर्पेण खादितोऽभविष्यत्, तत् किं क्रियतां ? वननिकुञ्जे मुच्यत पराङ्मुखो मुक्तः वनानि दग्धानि सोऽन्तर्मुहूर्तेन मृतः, तुष्टो राजा भणितः–बन्धनविमोक्षवर्जं वरं वृणुष्वेति भणति–युष्माकमेव हस्ते तिष्ठतु, अन्यदाऽनलगिरिर्विकटो न शक्यते ग्रहीतुं अभयः पृष्टः भणति–उदायनो गायत्विति तत् उदायनः कथं बद्ध इति तस्य च प्रद्योतस्य दुहिता वासवदत्ता नाम्नी सा बहुकाः कलाः शिक्षिता गान्धर्वेणोदायनः प्रधानः स गृह्यतामिति केनोपायेनेति, स किल च हस्तिनं प्रेक्षते तत्र गायति यावद् बन्ध (बध) मपि न जानाति एवं कालो व्रजति अनेन यन्त्रमयो हस्ती कारितः तं शिक्षयति तस्य विषये

धारिज्जइ, तस्स पणचरेण कहियं, सो गओ तत्थ, खंधावारो पेरतेहिं अच्छइ, सो गायइ हत्थी ठिओ ढुक्को गहिओ य आणिओ य, भणिओ—मम धूया काणा तं सिक्खावेहि मा त पेच्छसु मा सा तुमं दट्ठूण लज्जिहितित्ति, तीसेवि कहियं—उवज्झाओ कोढिओत्ति मा दच्छिहिसित्ति, सो य जवणियंतरिओ तं सिक्खावेइ, सा तस्स सरेण हीरइ कोढिओत्ति न ओलोएति, अण्णया चिंतेइ—जइ पेच्छामि, तं चिंतेन्ती अण्णहा पढइ, तेण रुट्ठेण भणिया—किं काणे! विणासेहि!, सा भणइ—कोढिया! न याणसि अप्पाणयं, तेण चिंतियं जारिसो अहं कोढिओ तारिसा एसावि काणत्ति, जवणिया फालिया, दिट्ठा, परोप्परं संजोगो जाओ, नयरं कंचणमाला दासी जाणइ अम्मधाई य सा चेव, अण्णया आलाणखंभाओ नलगिरी फिट्टिओ, रायाए अभओ पुच्छिओ—उदायणो गायउत्ति, ताहे उदायणो भणिओ, सो भणइ—भद्दवतिं हत्थिणिं आरुहिऊण अहं दारिगा य गायामो, जवणियंतरियाणि गाणिं गीयंति, हत्थी गेएण अक्खित्तो गहिओ, इमाणिवि पलायाणि,

---

१ धारितः तस्य प्रद्योतेन कथितं स गतस्तत्र स्कन्धावारः पर्यन्तेषु तिष्ठति स गायति हस्ती स्थितः आसन्नीभूतो गृहीतश्चानीतश्च भणितो—मम दुहिता काणा तां शिक्षय मा च द्राक्षीः मा सा त्वां दृष्ट्वा लज्जिष्टेति तस्या अपि कथितं—उपाध्यायः कुष्ठीति मा द्राक्षीरिति स च यवनिकान्तरितस्तां शिक्षयति सा तस्य स्वरेणापहृता कुष्ठीति न पश्यति अन्यदा चिन्तयति—यदि पश्यामि तच्चिन्तयन्ती अन्यथा पठति तेन रुष्टेन भणिता—किं काणे! विनाशयसि! सा भणति—कुष्ठिन्! न आत्मानं जानासि तेन चिन्तितं—यादृशोऽहं कुष्ठी तादृशी एषापि काणेति यवनिका पाटिता दृष्टा परस्परं संयोगो जातः नवरं काञ्चनमाला दासी जानाति अम्बधात्री च सैव अन्यदाऽऽलानस्तम्भान्नलगिरिः स्फिटितः, राज्ञाऽभयः पृष्टः—उदायनो गायत्विति तदोदायनो भणितः स भणति—भद्रवतीं हस्तिनीमारुह्याहं दारिका च गायावः यवनिकान्तरिते गानं गायतः हस्ती गेयेनाक्षिप्तो गृहीतः इमे अपि पलायिते

जम्मभूमीउ णिक्खमणणाणणिव्वाणभूमीओ वंदावेसि, पुच्छइ—कओ ?, ताओ कहेंति—उज्जणीए अमुगो वाणियपुत्तो तस्स य भज्जा, सो कालगओ, तस्स भज्जाओ अम्हे पव्वइउंकामाओ, न तीरसि पव्वइएहिं चेइयाइं वंदिउं पच्छियव्वए, भणियाओ पाहुणियाउ होह, भणंति—भत्तपच्चक्खियाओ अम्हे, सुचिरं अच्छित्ता गयाओ, बितियदिवसे अभओ एक्कगो आसणं पग पगओ, एह मम घरे पारेयव्वं, भणंति—इमं पारग तुब्भे पारेह, चिंतेइ—मा मम घरं न आहिंति भणइ—एवं होउ, पज्जि मिओ, संजोइउं महुं पाइओ सुत्तो, ताहे आसरहेण पलाविओ, अतरा अण्णेवि रहा पुव्वट्ठिया, एव परंपरएण उज्जणिं पाविओ, उवणीओ पज्जोयस्स, भणिओ—कहिं से पंडिच्चं ?, धम्मच्छलेण घेत्तिओ, पज्जो, पुव्वाणीया से भज्जा सा उवणीया, तीसे का उप्पत्ती—सेणियस्स विज्जाहरो मित्तो तेण मित्तया थिरा होउत्ति सेणिएण से सेणा नाम भगिणी दिण्णा निब्बंधे कए, साविय विज्जाहरस्स इट्ठा, एसा धरणिगोयरा अम्हं पयहापत्ति विज्जाहरीहिं मारिया, तीसे धूया सा तेण मा एसावि

१ जन्मभूमीर्निष्क्रमणज्ञाननिर्वाणभूमीर्वन्दयति पृच्छति—कुतः ? ताः कथयन्ति—उज्जयिन्याममुको वणिक्पुत्रः तस्य च भार्या, स कालगतः तस्य भार्या वयं प्रव्रजितुकामाः, न शक्यते प्रव्रजिताभिरस्माभि चैत्यानि वन्दितुं, भणिताः—प्राघूर्णिका भवत भणन्ति—भक्तप्रत्याख्यायिन्यो वयं सुचिरं स्थित्वा गताः द्वितीयदिवसे अभयः एकाकी अश्वेन प्रभाते गतः आयात मम गृहे पारयतेति भणन्ति—इदं पारणकं यूयं पारयत चिन्तयति—मा मम गृहं नागमन् भणति—एवं भवतु, प्रतिमितः संयोज्य मधु पाययित्वा स्वापितः तदाऽश्वरथेन पलायितः अन्तरा अन्येऽपि रथाः पूर्वस्थापिताः एवं पारम्पर्येणोज्जयिनीं प्रापितः, प्रद्योतायोपनीतः भणितः—क्व ते पाण्डित्यं ?, धर्मच्छलेन वञ्चितो वन्दः पूर्वानीता तस्य भार्या सोपनीता तस्याः कोत्पत्तिः ? श्रेणिकस्य विद्याधरो मित्रं, ततो मैत्री स्थिरा भवत्विति श्रेणिकेन तस्मै सेनानाम्नी भगिनी दत्ता निर्बन्धे कृते सापि च विद्याधरस्येष्टा एषा धरणीगोचराऽस्माकं प्रभवति विद्याधरीभिर्मारिता तस्याः दुहिता सा तेन मैषापि

भारिखिहिहिसि सेणियस्स रवणीया लिखिमो (रज्जिया) य, सा जोवणत्था अभयस्स दिण्णा, सा विज्जाहरी अभयस्स इहा, सेसाहिं महिलाहिं मायंगी पडग्गिया, ताहिं विज्जाहिं महा नमोक्कारे पञ्चिवदिपरवाहरमे जाव पव्वतेहिं वसिहया सावसेहिं दिहा पुच्छिया कओसित्ति!, तीए कहियं, ते य सेणियस्स पञ्चया तावसा, तेहिं अम्ह मज्झगित्ति सारविया, अभया पहविया सिवाए सज्जोणीं नेऊण दिण्णा, एव तीए समं अभओ वसइ, तस्स पज्जोयस्स चत्तारि रयणाणि— लोहजंघो लेहारओ अग्गिभीरुरहोऽनलगिरी हत्थि सिवा देविसि, अन्नया सो लोहजंघो भरुयच्छं विसज्जिओ, ते लोका य चिंतेन्ति–एस एगदिवसेण एइ पंचवीसजोयणाणि, पुणो २ सद्दाविज्जामो, एवं मारेमो, जो अण्णो होहिति सो गणिएहिं दिवसेहिं एहिति, पच्चिरंपि कालं सुहिया होमो, तस्स संबलं पदिण्णं, सो नेच्छइ, ताहे विहीए से दयावियं, तस्सवि से विससजोइया मोयगा दिण्णा, सेसग संबलं हरियं, सो कइवि जोयणाणि गंतुं नदीतीरे खामित्ति जाव सउणो वारेइ,

---

१ मापतामिति भेमिकावोपवीता, स्वज (मवरोधाय) सा यौवनस्थाऽभयाय दत्ता सा विद्याधरीभयस्येष्टा, शेषाभिर्महिलाभिर्मातङ्गी अवकल्पिता ताभिर्विद्याभिर्मया नमस्कारे चतुरिन्द्रियोदाहरणे यावत् प्रत्यन्तैर्वसिता तापसैर्दृष्टा पृष्टा–कुतोऽसीति ! तया कथितं ते च श्रेणिकस्य पर्यन्तावसथाः, तैर मम मातेति संरक्षिता अन्यदा प्रस्थापिता उज्जयिनीं नीत्वा शिवायै दत्ता एवं तया सममभयो वसति तस्य प्रद्योतस्य चत्वारि रत्नानि–लोहजङ्घो लेखहारकोऽग्निभीरू रथोऽनलगिरिर्हस्ती शिवा देवीति, अन्यदा स लोहजङ्घो भृगुकच्छं प्रति विसृष्टः ते लोकाश्चिन्तयन्ति–एष एकदिवसेनायाति पञ्चविंशति योजनानि पुनः पुनः शब्दापयिष्यामहे, एनं मारयामः, योऽन्यो भविष्यति स बहुभिर्दिवसैरागमिष्यति इयच्चिरं कालं सुखिनो भविष्यामः तस्मै शम्बलं प्रदत्तं स नेच्छति तदा विधिना (नीत्वा) तस्मै दापितं, तस्यापि विषसंयुक्ता मोदका दत्ताः, शेष शम्बलं हृतं, स कतिचिद्योजनानि गत्वा नदीतीरे खादामीति यावच्छकुनो वारयति,

सेणिओ पुच्छिओ–भंभा, ताहे राया भणइ सेणियं–एस ते सत्थ सारो भंभित्ति ?, सेणिओ भणइ–आमं, सो य रण्णो अचेलपिओ, तेण से णामं कयं–भंभिसारोत्ति, सो रण्णो पिओ लक्खणजुत्तोत्ति, मा अण्णहिं मारिज्जिहित्ति न किंचिवि देइ, सेसा कुमारा भडचडगरेण निंति, सेणिओ ते दट्ठूण अधितिं करेति, सो तओ निप्फिडिओ बेण्णायडं गओ, जधा नमोक्कारे–अचियत्त भोगऽवाणं निग्गम बिण्णायडे य कासवए । लाभ परनयण नणुग धूया सुस्सूसिया दिण्णा ॥१॥ पेसण आपुच्छणया पंडरकुड्डत्ति गमणमभिसेओ । दोहल णाम णिरुत्ती कइ पिया मेत्ति रायगिहे ॥ २ ॥ आगमणऽभय गवगण खुड्डग छगणे य कस्स तं ? तुब्भ । कहण माउआणण विभूसणा धारणा माऊ ॥ ३ ॥ तं च सेणियं रज्जणिओ पज्जोओ रोहओ आइ, सो य चउण्णो, सेणिओ बीहेइ, अभओ भणइ–मा संकह, नासेमि से आयतिं, तेण खंधावार णिवेसआणएण भूमीगया दिणारा लोहसघाडएसु निक्खाया दंडवासत्थाणेसु, सो आगओ रोहइ, जुज्झिया कइयि दिवस,

---

१ श्रेणिकः पृष्टः–भम्भा, तदा राजा भणति श्रेणिक–एष ते सारो भम्भेति ? श्रेणिको भणति–ओम्, स च राज्ञोऽचेलप्रियः तेन तस्य नाम कृतं–भम्भसार इति स राज्ञः प्रियो लक्षणयुक्त इति मा अन्यैर्मारीति न किञ्चिदपि ददाति शेषाः कुमारा भटसमूहेन निर्गच्छन्ति श्रेणिकस्तान् दृष्ट्वाऽधृतिं करोति स ततः निर्गतो बेन्नातटं गतः यथा नमस्कारे–अप्रीतिर्भोगानामर्थं निर्गमो बेन्नातटे च उपकारः । लाभो पुरनयनं महा दुहिता शुश्रूषिका दत्ता ॥ १ ॥ प्रेषणं आपृच्छा पाण्डरकुड्या इति गमनमभिषेकः । दोहदो नाम निरुक्तिः क पिता मे इति राजगृहे ॥ २ ॥ आगमन अमात्यमार्गणं मुद्रिका ... च कस्य त्वं ? तव । कथनं मातुरानयनं विभूषणं धारणं मातुः ॥ ३ ॥ तं च श्रेणिकं राज्यपीतः प्रद्योतो रोधकं आयाति स चोदितः श्रेणिको बिभेति अभयो भणति मा शङ्किष्ठाः नाशयामि तस्यायतिमिति, तेन स्कन्धावारनिवेशनायकेन भूमिगता दीनारा लोहमयसम्पुटेषु निखाता दण्डवासस्थानेषु, स आगतो रुणद्धि योधिताः कतिचिद्दिवसान्

पेच्छा अभओ छोर्ह देइ, जहा तव दंडिया सवे सेणिएण भिण्णा पास माऽप्पिहिसि, अहय य पच्चओ अमुगस्स दंडस्स अमुग पएसं खणाह, तेण खयं, दिठो, नट्ठो य, पच्छा सेणिएण बलं विक्खोहियं, ते य रायाणो सवे पकंपिति—न एयस्स कारी अम्हे, अभएण एसा माया कया, तेण पत्तीयं। अण्णया सो अत्थाणीए भणइ—सो मम नत्थि ? जो तं आणेज, अण्णया एगा गणिया भणइ—अहं आणेमि, नवरं मम बितिज्जिगा दिज्जतु, दिण्णाओ से सत्त बितिज्जिगाओ अत्थो से उघति मज्झिमवयाओ, मणुस्साथि थेरा, तेहिं समं पवहणेसु बहुएण य भत्तपाणेण य पुव्वं च संबलमूले कसरसहुतणं गहेऊण गयाओ, अन्नेसु य गामणयरेसु जत्थ संजया सड्ढा य तहिं २ अइतिओ सुट्ठुयरं बहुसुयाओ जायाओ, रायगिहं गयाओ, बाहिं उज्जाणे ठियाउ चेइयाणि वदंतीउ घरचेइयपरिवाडीए अभयघरमइगयाओ निसीहियत्ति, अभओ दट्ठूण उम्मुक्कभूसणाउ उट्ठिओ सागयं निसीहियाएत्ति, चेइयाणि दरिसियाणि वंदियाणि य, अभयं वंदिऊण निविट्ठाओ,

---

१ पश्चादभयो छेद ददाति यथा तव दण्डिकाः सर्वे श्रेणिकेन भेदिता यस्य माऽर्प्येथाः अथ च न अभयोऽमुकस्य दण्डिकस्यामुकं प्रदेशं खन तेन खातं दृष्टो नष्टश्च पश्चाच्छ्रेणिकेन बलं विक्षोभितं ते च राजानः सर्वे प्रकम्पिता—नैतस्य कर्त्तारो वयं अभयेनैषा माया कृता तेन प्रत्ययितं। अन्यदा च आस्थानस्थो भणति—स मम नास्ति ? य आनयेत्, अन्यदैका गणिका भणति—अहमानयामि नवरं मम साहाय्यिका दीयन्तां दत्तास्तस्यै सप्त द्वैतीयिका यास्ते तत्र मध्यमवयसः मनुष्या अपि स्थविराः तैः समं प्रवहणेषु च बहुकेन भक्तपानेन च पूर्वमेव संबलीमूलं कसरप्रभृतिकं गृहीत्वा गताः अन्येषु च ग्रामनगरेषु यत्र संयताः श्राद्धाश्च तत्रातिप्रसक्ताः सुष्ठुतरं बहुश्रुता जाताः राजगृहं गताः बहिरुद्याने स्थिताश्चैत्यानि वन्दमाना गृहचैत्यपरिपाट्याऽभयगृहमभिगता नैषेधिकीति (भणितवन्त्यः) अभयो दृष्ट्वोन्मुक्तभूषणा उत्थितः स्वागतं नैषेधिकीभ्यामिति चैत्यानि दर्शितानि वन्दितानि च अभयं वन्दित्वा निविष्टाः

[1]सेणिओ पुच्छिओ—भंभा, ताहे राया भणइ सेणियं—एस से तत्थ सारो भंभित्ति, सेणिओ भणइ—आमं, सो य रण्णो अपत्तियओ, तेण से नामं कयं—भंभिसारोत्ति, सो रण्णो पिओ छउत्थसुओत्ति, मा अण्णेहिं मारिज्जिहित्ति न किंचिवि देइ, सेसा कुमारा अट्टचट्टगरेण निंति, सेणिओ से दट्ठूण अधितिं करेति, सो तओ निग्गिओ बेण्णायडं गओ जहा नमोक्कारे—अधियत्त भोगऽदाणं निग्गम बिण्णायडे य कासवए। लाभ परायण नट्ठुग भूया सुरगुलिया दिण्णा ॥१॥ पेसण आपुच्छणया पंडरकुड्डत्ति गमणमभिसेओ। दोहल णाम निरुत्ती कहं पिया गेहि रायगिहे ॥ २ ॥ आगमणऽमच्च मग्गण खुड्डग छगणे य कस्स तं ? तुब्भं। कड्ढणं माऊआणण विभूसणा पारणा माऊ ॥ ३ ॥ तं च सेणियं रज्जेणिओ पज्जोओ रोहओ जाइ, सो य सहण्णो, सेणिओ बीहेइ, अभओ भणइ—मा संकह, नासेमि से पायत्ति तेण खंधावार णिवेसआणएण भूमीगया दिणारा लोहसंपाडएसु निक्खाया दंडवासत्थाणेसु, सो आगओ रोहइ, सुगिराया कईवि दिवसे,

1 श्रेणिकः पृष्टः—भम्भा यदा राजा भणति श्रेणिकं—एष ते सारो भम्भेति ? श्रेणिको भणति—ओम् स च राज्ञोऽप्रत्ययितः तेन तस्य नाम कृत—भम्भसार इति स राज्ञः प्रियो ज्येष्ठपुत्र इति मा अन्यैर्मारीति न किञ्चिदपि ददाति शेषाः कुमारा अश्वरथेन निर्गच्छन्ति श्रेणिकमद्य दृष्ट्वाऽधृतिं करोति स ततः निर्गतो वेन्नातटं गतः यथा नमस्कारे—अप्रीतिर्भोगादानं निर्गमो वेन्नातटे च वैश्यदारः। लाभो परायणे नष्टा गुटिका मुद्रिका दत्ता ॥ १ ॥ प्रेषणं आपृच्छा पाण्डुरकुड्या इति गमनमभिषेकः। दोहदः नाम निरुक्तिः क पिता मे इति राजगृहे ॥ २ ॥ आगमनं अमात्यमार्गणं क्षुल्लको गोमयं च कस्य त्वं ? तव। कर्षणं मातुरानयनं विभूषणं पारणं मातुः ॥ ३ ॥ तं च श्रेणिकं राज्यनिमित्तं प्रद्योतो रोधकमायाति स बोधितः श्रेणिको बिभेति अभयो भणति मा शङ्कध्वं नाशयामि तस्य पादमिति तेन स्कन्धावारनिवेशनापकेन भूमिगता दीनारा लोहभाण्डकेषु निक्षिप्ता दण्डवासस्थानेषु, स आगतो रुणद्धि घोषिताः कतिचिद्दिवसान्

कालेण तस्स वत्थूणि खीणाणि, पुणोवि वत्थुं मग्गिज्जइ, तत्थ एगो वसहो अण्णेहिं पारद्धो एगंमि रण्णे अच्छइ, न तीरइ अन्नेहिं वसहेहिं पराजिणिउं, तत्थ उसभपुरं निवेसियं, पुणरवि कालेण उच्छन्नं, पुणोवि मग्गति, कुसथंबो दिट्ठो अतीवपमाणाकितिविसिट्ठो, तत्थ कुसग्गपुरं जाय, तमि य काले पसेणई राया, तं च णयरं पुणो २ अग्गिणा डज्झइ, ताहे लोगभयजणणनिमित्त घोसावेइ—जस्स घरे अग्गी उट्ठेइ सो णगराओ निच्छुब्भइ, तत्थ महाणसियाणं पमाएण रण्णो चेव घराओ अग्गी उट्ठिओ, ते सच्चपइण्णा रायाणो—अइ अप्पगं ण सासयामि तो कहं अन्नंति निग्गओ णयराओ, तस्स गाउयमित्ते ठिओ, ताहे दवभडभोइया वाणियगा य तत्थ वच्चंति भणंति—कहिं वच्चह?, आह—रायगिहंति, कओ एह? रायगिहाओ, एवं णयरं रायगिहं जाय, जया य राइणो गिहे अग्गी उट्ठिओ तओ कुमारा जं जस्स पियं आसो हत्थी वा त तेण णीणिए सेणिएण भंभा णीणिया, राया पुच्छइ—केण किं णीणियंति ?, अण्णो भणइ—मए हत्थी आसो एवमाइ,

1 कालेन तस्य वस्तूनि क्षीणानि पुनरपि वास्तु मार्ग्यते तत्रैको वृषभोऽन्यैः प्रारब्ध एकस्मिन्नरण्ये तिष्ठति न शक्यतेऽन्यैर्वृषभैः पराजेतुं, तत्र वृषभपुरं निवेशितं पुनरपि कालेनोच्छिन्नं पुनरपि मार्ग्यते कुशस्तम्बो दृष्टोऽतीवप्रमाणाकृतिविशिष्टः तत्र कुशाग्रपुरं जातं तस्मिंश्च काले प्रसेनजित् राजा तच्च नगरं पुनः २ अग्निना दह्यते तदा लोकभयजननिमित्तं घोषयति—यस्य गृहेऽग्निरुत्तिष्ठति स नगरात् निष्काश्यते तत्र महानसिकानां प्रमादेन राज्ञ एव गृहात् अग्निरुत्थितः ते सत्यप्रतिज्ञा राजानः—यद्यात्मानं न शास्मि तदा कथमन्यमिति निर्गतो नगरात् तस्मात् गव्यूतमात्रे स्थितः तदा दण्डि कभटभोजिका वणिजश्च तत्र व्रजन्तो भणन्ति—क्व व्रजथ ? आह राजगृहमिति कुत आयाथ ? राजगृहात् एवं नगरं राजगृहं जातं यदा च राज्ञो गृहेऽग्नि रुत्थितस्तदा कुमारा यद्यस्य प्रियमश्वो हस्ती वा तत्तेन निष्काशितं श्रेणिकेन ढक्का नीता राजा पृच्छति—केन किं नीतमिति ? अन्यो भणति—मया हस्ती अश्वः एवमादि।

पायएहिं लोहियगंधेण सिवाए सपेल्लियाए आगमण, सिवा एगं पायं खायइ, एगं चिल्लगाणि, पढमे जामे जण्णुयाणि बीए ऊरू तइए पोट्ट कालगओ, गंधोदगपुप्फवास, आयरियाण आलोयणा, अज्जाणं परपर पुच्छा, आयरिएहिं कहियं, सव्विहीए सुण्हाहिं समं गया मसाणं, पव्वइयाओ य, एगा गुव्विणी नियत्ता, तेसिं पुत्तो तत्थ देवकुलं करेइ, त इयाणिं महाकालं आयं, लोएण परिग्गहियं, उत्तरचूलियाए भणियं पाडलिपुत्तेति, समत्तं अणिस्सियतवो महागिरीण ४। इयाणिं सिक्खत्ति पय, सा दुविहा—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य, तत्थ—

खितिपइट्ठियउसभकुसग्गं रायगिह चंपपाडलीपुत्त। नंदे सगडाले थूलभद्दसिरिए वररुची य ॥ १२८४ ॥

एईए वक्खाणं—अतीयअद्धाए खिइपइट्ठियं णयरं, जियसत्तू राया, तस्स णयरस्स वत्थूणि उस्सण्णाणि, अण्णं णयरट्ठाणं वत्थुपाढएहिं मग्गावेइ, तेहिं एगं चणयक्खेत्तं अतीव पुप्फेहिं फलेहि य उवचयं दट्ठुं, चणयणयरं निवेसिय,

---

१ पादपो। रुधिरगन्धेन शिवायाः सपिल्लुकाया आगमनं एकं पादं शिवा खादति एकं शिशवः प्रथमे यामे जानुनी द्वितीये ऊरुणी तृतीये उदरं कालगतः। गन्धोदकपुष्पवर्षं आचार्येभ्य आलोचना आर्याणां परस्परेण पृच्छा आचार्यैः कथितं सर्वाभ्यो स्नुषाभिः समं गता श्मशानं प्रव्रजिताश्च एका गर्भिणी निभृता तेषां पुत्रस्तत्र देवकुलं करोति इदानीं महाकालं आर्यं लोकेन परिगृहीतं उत्तरचूलिकायां भणितं पाटलिपुत्रमिति समाप्तं अनिश्रितोपधानं महागिरीणां ४। इदानीं शिक्षेति पदं सा द्विविधा-ग्रहणशिक्षाऽऽसेवनाशिक्षा च तत्र-अस्या व्याख्यानं-अतीताद्धायां क्षितिप्रतिष्ठितं नगरं जितशत्रू राजा तस्य नगरस्य वास्तूनि उत्सन्नानि अन्यनगरस्थानं वास्तुपाठकैर्मार्गयति तैरेकं चणकक्षेत्रं अतीव पुष्पैः फलैश्चोपचितं दृष्ट्वा चणकपुरं निवेशितं

एवा गयग्गपयस्स उप्पत्ती, तत्थ महागिरीहिं भत्तं पच्चक्खायं देवत्तं गया, सुहत्थीवि उज्जेणिं जियपडिमं वंदया गया, उज्जाणे ठिया, भणिया य साहुणो—वसहिं मग्गहत्ति, तत्थ एगो संघाडगो सुभद्दाए सिट्ठिभज्जाए घरं भिक्खस्स अइगओ, पुच्छिया ताए—कओ भगवंतो!, तेहिं भणियं—सुहत्थिस्स, वसहिं मग्गामो, जाणसालाउ दरिसियाउ, तत्थ ठिया, अन्नया पओसकाले आयरिया नलिणिगुम्मं अज्झयणं परियट्टंति, तीसे पुत्तो अवंतिसुकुमालो सत्ततले पासाए बत्तीसाहिं भज्जाहिं समं उवललइ, तेण सुत्तविउद्धेण सुयं, न एयं नाडगंति भूमीओ भूमीय सुणंतो २ उत्तिण्णो, बाहिं निग्गओ, कत्थ एरिसंति जाई सरिया, तेसिं मूलं गओ, साहइ—अहं अवंतिसुकुमालोत्ति नलिणिगुम्मे देवो आसि, तस्स उस्सुगो पव्वयामि, असमत्थो य अहं सामण्णपरियागं पालेउं, इंगिणिं साहेमि, तेवि मोयाविया, तेणं पुच्छियत्ति, नेच्छंति, सयमेव लोयं करेति, मा सयंगिहीयलिंगो हवइत्ति लिंगं दिण्णं, मसाणे कंथेरे कुडंगं, तत्थ भत्तं पच्चक्खायं, सुकुमालपाएहिं

---

१ एवं गजाग्रपदकस्य उत्पत्तिः। तत्र महागिरिभिर्भक्तं प्रत्याख्याय देवत्वं गताः। सुहस्तिनोऽपि उज्जयिनीं जीवत्प्रतिमावन्दकाः गताः। उद्याने स्थिताः। भणिताश्च साधवः वसतिं मार्गयतेति तत्रैकः संघाटकः सुभद्रायाः श्रेष्ठिभार्याया गृहं भिक्षार्थं प्रविष्टः। पृष्टवती—कुतो भगवन्तः! तैर्भणितं—सुहस्तिनः, वसतिं मार्गयामः। यानशाला दर्शिता। तत्र स्थिताः अन्यदा प्रदोषकाले आचार्या नलिनीगुल्ममध्ययनं परिवर्तयन्ति तदा। पुत्रोऽवन्तीसुकुमारः सप्ततले प्रासादे द्वात्रिंशता भार्याभिः सममुपलालयति तेन सुप्तप्रबुद्धेन श्रुतं नैतन्नाटकमिति भूमेर्भूमिमुत्तीर्णः। अथवा बहिर्निर्गतः केदमिति जातिः स्मृता तेषां मूलं गतः, कथयति—अहं अवन्तिसुकुमार इति नलिनीगुल्मे देवोऽभवं तदुत्सुकः। प्रव्रजामि असमर्थश्चाहं श्रामण्यं पालयितुं इङ्गिनीं करोमि तेऽपि (भणन्ति—) मातृमोचयित्वा, तेन पृच्छति, नेच्छति, स्वयमेव लोचं करोति मा स्वयंगृहीतलिङ्गो भूदिति लिङ्गं दत्तं श्मशाने कंथेरकुडङ्गे तत्र भक्तं प्रत्याख्यातं सुकुमारको।

कओ एसि ?, तत्थ सो एलकच्छओ, अण्णे भणंति—सो चेव राया, ताहे दसण्णपुरस्स एलकच्छं नामं जायं, तत्थ गयग्गपयओ पव्वओ, तस्स उप्पत्ती, तत्थेव दसण्णपुरे दसण्णभद्दो राया, तस्स पंचसयाणि देवीणोरोहो, एवं सो ओव्वणण रूवेण य पडिबद्धो एरिसं अण्णस्स नत्थित्ति, तेणं कालेण तेण समएणं भगवओ महावीरस्स दसण्णकूडे समोसरणं, ताहे सो चिंतेइ—तहा कल्ले वंदामि जहा केणइ न अण्णेण वंदियपुव्वो, तं च अज्झत्थियं सक्को णाऊण एइ, इमोवि महया इड्ढीए निग्गओ वंदिओ य सव्विड्ढीए, सक्कोवि एरावण विलग्गो, तत्थ अट्ठ दंते विउव्वेइ, एक्केक्क दंते अट्ठट्ठ वावीओ एक्केक्काए वावीए अट्ठट्ठ पउमाई एक्केक्कं पउमं अट्ठपत्तं पत्ते य २ बत्तीसइबद्धनाडगं, एव सो सव्विड्ढीए एरावणविलग्गो आयाहिण पयाहिण करेइ, ताहे तस्स हत्थिस्स दसण्णकूडे पवए य पयाणि देवप्पहावेण उट्ठियाणि, तेण णामं कयं गयग्गपदग्गोत्ति, ताहे सो दसण्णभद्दो तं पेच्छिऊण एरिसा कओ अम्हारिसाणमिड्ढी ?, अहो कएल्लओऽणेण धम्मो, अहमवि करमि, ताहे सो पव्वइए,

---

१ कुत आगतोऽसि ? तत्र स एलकाक्षः अन्ये भणन्ति—स एव राजा, तदा दशार्णपुरस्यैलकाक्षं नाम जातं तत्र गजाग्रपदः पर्वतः तस्योत्पत्तिः—दशार्णपुरे दशार्णभद्रो राजा तस्य पञ्चशतानि देवीनामवरोधः एवं स यौवनेन रूपेण च प्रतिबद्धोऽन्यस्येदृशं नास्तीति तस्मिन् काले तस्मिन् समये भगवतो महावीरस्य दशार्णकूटे समवसरणं तदा स चिन्तयति—तथा कल्ये वन्दिताहे यथा केनापि नान्येन वन्दितपूर्वः। तदध्यवसितं च ज्ञात्वा शक्र आगात् अयमपि महत्या ऋद्ध्या निर्गतो वन्दितश्च सर्वर्द्ध्या शक्रोऽप्यैरावणं विलग्नः तत्राष्ट दन्तान् विकुर्वति एकैकस्मिन् दन्तेऽष्टाष्ट वाप्यः एकैकस्यां वाप्यामष्टाष्ट पद्मानि एकैकं पद्ममष्टपत्रं पत्रे पत्रे च द्वात्रिंशद्बद्धं नाटकं एवं स सर्वर्द्ध्या ऐरावणविलग्न आदक्षिणं प्रदक्षिणं करोति तदा तस्य हस्तिनो दशार्णकूटे पदानि च तानि देवतानुभावेनोत्थितानि तेन नाम कृतं गजाग्रपदक (नाम) इति तदा स दशार्णभद्रस्तं प्रेक्ष्य ईदृशी कुतोऽस्मादृशानामृद्धिः ? अहो कृतोऽनेन धर्मः अहमपि करोमि, तदा स प्रव्रजति

गयमापदग्गे भंदया, तस्स कहं एलगच्छं नामं ?, तं पुणं दसण्णपुरं नगरमासी, तत्थ सावियां एगस्स मिच्छदिट्ठिस्स दिण्णा, वेयालियं आवस्सयं करेति पच्चक्खाइ य, सो भणइ—किं रत्तिं उट्ठिया कोइ जेमेइ ?, एवं उवहसइ, अण्णया सो भणइ—अहंपि पच्चक्खामि, सा भणइ—भंजिहिसि, सो भणइ—किं अण्णयावि अहं रत्तिं उट्ठेत्ता जेमेमि ?, दिण्णं, देवया चिंतेइ—सावियं उवासेइ अज्ज णं उवालभामि, तस्स भगिणी तत्थेव वसइ, तीसे रूवेण रत्तिं पहेणयं गहाय आगया, पच्चक्खाइओ, सावियाए वारिओ भणइ—तुब्भच्चएहिं आळपाळेहिं किं ?, देवयाए पहारो दिण्णो, दोवि अच्छिगोळगा भूमीए पडिया, सा मम अयसो होहितित्ति काउस्सग्गं ठिया, अड्ढरत्ते देवया आगया भणइ—किं साविए !, सा भणइ—मम एस अयसोत्ति ताहे अण्णस्स एळगस्स अच्छीणि सप्पएसाणि तक्खणमारियस्स आणेत्ता लाइयाणि, तओ से सयणो भणइ—तुब्भे अच्छीणि एळगस्स जारिसाणित्ति, तेण सव्वं कहियं, सड्ढो जाओ, जणो कोउहल्लेण एति पेच्छगो, सव्वरज्जे फुडं भण्णइ—

1 गजाग्रपदकक्षत्कथा तत्र कथमेडकाक्षं नाम ? तत् पूर्वं दशार्णपुरं नगरमासीत्, तत्र श्राविका एकस्मै मिथ्यादृष्टये दत्ता विकाले आवश्यकं करोति प्रत्याख्याति च स भणति—किं रात्रावुत्थाय कोऽपि जेमति ? एवमुपहसति अन्यदा स भणति—अहमपि प्रत्याख्यामि सा भणति—भङ्क्ष्यसि स भणति—किमन्यदाऽप्यहं रात्रावुत्थाय जेमामि दत्तं देवता चिन्तयति—श्राविकामुपासयते अद्यैनमुपालभे तस्य भगिनी तत्रैव वसति तस्या रूपेण रात्रौ प्रहेणकं गृहीत्वाऽऽगता प्रत्याख्यायकः श्राविकया वारितो भणति—त्वदीयैः प्रलापैः किं ? देवतया प्रहारो दत्तः द्वावप्यक्षिगोलकौ भूमौ पतितौ सा ममायशो भविष्यतीति कायोत्सर्गे स्थिता अर्धरात्रे देवताऽऽगता भणति—किं श्राविके ? सा भणति—ममैषोऽयश इति तदाऽन्यस्यैडकस्याक्षिणी सप्रदेशे तत्क्षणमारितस्यानीय योजितानि ततस्तस्य स्वजनो भणति—तवाक्षिणी एडकस्य यादृशे इति, तेन सर्वं कथितं श्राद्धो जातः जनः कुतूहलेनायाति प्रेक्षकः सर्वराज्ये स्फुटं भण्यते—

करेंति, ते विहरंता पाडलिपुत्त गया, तत्थ वसुभूती सेट्ठी, तेसिं अंतिय धम्म सोच्चा सावगो जाओ, सो अण्णया भणइ अज्जसुहत्थि–भयव ! मज्झ दिन्नो संसारनित्थरणोवाओ, मए सयणस्स परिकहिय त न तहा लग्गई, तुब्भेवि ता अण भिओएण गंतूण कहेहित्ति, सो गंतूण पकहिओ, तत्थ य महागिरी पविट्ठो, ते दट्ठूण सहसा उट्ठिओ, वसुभूती भणइ– तुब्भवि अन्ने आयरिया ?, ताहे सुहत्थी तेसिं गुणसथवं करेइ, जहा–जिणकप्पो अतीतो तहावि एए एय परिकम्मं करेंति, एवं तेसिं चिरं कहित्ता अणुव्वयाणि य दाऊण गओ सुहत्थी, तेण वसुभूइणा जेमिया ते भणिया–जइ एरिसो साहू एज्ज तो से तुब्भे उज्झियगाणि एव करेज्ज, एवं दिण्णे महाफलं भविस्सइ, बीयदिवसे महागिरी भिक्खस्स पविट्ठा, त अपुव करण दट्ठूण चिंतेइ–दव्वओ ४, णायं जहा णाओ अहति तहेव अब्भमित्ते नियत्ता भणंति–अज्जो ! अणेसणा कया, केणं ? तुमे जेणासि कल्लं अब्भुट्ठिओ, दोवि जणा वतिदिस गया, तत्थ जियपडिमं वंदित्ता अज्जमहागिरी एलकच्छं गया

१ कुर्वन्ति ते (सुहस्तिनः) विहरन्तः पाटलीपुत्रं गताः तत्र वसुभूतिः श्रेष्ठी तेषामन्तिके धर्मं श्रुत्वा श्रावको जातः सोऽन्यदा भणति आर्यसुह स्तिन्–भगवन् ! मह्यं दत्तः संसारनिस्तरणोपायः मया स्वजनाय परिकथितं तत्र तथा लगति यूयमपि तद् अनभियोगेन गत्वा कथयतेति स गत्वा प्रकथितः तत्र च महागिरिः प्रविष्टः तान् दृष्ट्वा सहसोत्थितः वसुभूतिर्भणति–युष्माकमप्यन्ये आचार्याः ?, तदा सुहस्तिनस्तेषां गुणसंस्तवं कुर्वन्ति यथा जिनकल्पोऽतीतस्तथाप्येते एवं परिकर्म कुर्वन्ति एवं तेभ्यश्चिरं कथयित्वाऽणुव्रतानि च दत्त्वा गतः सुहस्ती तेन वसुभूतिना जेमितास्ते भणिता–यदेतादृशः साधुरागच्छेत् तदा तस्मै यूयमुज्झितधर्मकमेव कुर्यात्, एवं दत्ते महाफलं भविष्यति द्वितीयदिवसे महागिरिर्भिक्षायै प्रविष्टः तदपूर्वकरणं दृष्ट्वा चिन्तयति द्रव्यतः ४ ज्ञातं यथा ज्ञातोऽहमिति तथैवाभ्यागता निर्गता भणन्ति–आर्य ! अनेषणा कृता कथं ? त्वं येनासि कल्येऽभ्युत्थितः द्वावपि जनौ विदिशं गतौ तत्र जीव त्प्रतिमां वन्दित्वा आर्यमहागिरय एडकाक्षं गताः

सकलागमज्ञं पाडलएण विमाणेण, तस्सवि य रण्णो अधिती आया, पज्जोण भेसिओ सवेग—जइ पव्वइसिओ मुच्चसि, पव्वइओ, थेराण अंतिए अभिग्गहं गेण्हइ—जइ भिक्खागओ संभरामि ण अमेमि, जइ दरसिमिओ ता सेसगं विगिंचामि, एवं तेण किर भगवया एगमवि दिवसं नाऽऽहारियं, तस्सवि दव्वावई, दव्वस्स भावावई, भावाईसु दव्वम्मतत्ति गयं १। इयाणिं अणिस्सिओवहाणेत्ति, न निस्सितमनिस्सितं, दव्वोपधानं उपधानकमेव भावोपधानं तपः, सो किर अणिस्सिओ कायव्वो इह परत्थ य, जहा केण कओ ?, एत्थोदाहरणगाहा—

पाडलिपुत्त महागिरि अज्जसुहत्थी य सेट्ठि वसुभूती। वइदिस उज्जेणीए जियपडिमा एलकच्छ य ॥ १२८१ ॥

इमीए वक्खाणं—अज्जथूलभद्दस्स दो सीसा—अज्जमहागिरी अज्जसुहत्थी य, महागिरी अज्जसुहत्थिस्स उवज्झाया, महागिरी गणं सुहत्थिस्स दाऊण वोच्छिण्णो जिणकप्पोत्ति, तहवि अपडिबद्धया होउत्ति गच्छपडिबद्धा जिणकप्पपरिकम्मं

---

१ सकलागमज्ञं पाडलेन विमानेन तस्यापि च राज्ञोऽधृतिर्जाता प्रद्योतेन भाषितः संवेगेन—यदि प्रव्रजसि तर्हि मुच्यसे प्रव्रजितः स्थविराणामन्तिकेऽभिग्रहं गृह्णाति—यदि भिक्षागतः स्मरामि न समामि यदि अर्धजिमितस्तदा शेषं त्यजामि एवं तेन किल भगवतैकस्मिन्नपि दिवसे नाहृतं तस्यापि द्रव्यापद् द्रव्यस्य भावापद् आपत्सु द्रव्यमेतदिति गतं १। इदानीमनिश्रितोपधानमिति तत्र निश्रमनिश्रितं कर्तव्यं इह परत्र च यथा केन कृतं ? अत्रोदाहरणगाथा—

२ अस्या व्याख्यान—आर्यस्थूलभद्रस्य द्वौ शिष्यौ—आर्यमहागिरिरार्यसुहस्ती च महागिरिरार्यसुहस्तिन उपाध्यायः। महागिरिर्गणं सुहस्तिने दत्त्वा व्युच्छिन्नो जिनकल्प इति, तथाप्यप्रतिबद्धता भवत्विति गच्छप्रतिबद्धा जिनकल्पपरिकर्मणा

अस्या व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—उज्जेणी णयरी, तत्थ वसू वाणियओ, सो चपं जाउकामो उग्घोसण कारेइ सह [जाए] धणो, एवं अणुसयेइ धम्मघोसो नामणगारो, तेसु दूरं अडयिमइगएसु पुलिंदेहिं विठोलिओ सत्थो इओ तइओ नट्ठो, सो अणगारो अण्णेण लोएण समं अडविं पविट्ठो, ते मूलाणि खायति पाणियं च पियति, सो निमतिज्जइ, नेच्छइ आहारज्जाए, एगत्थ सिलायले भत्तं पच्चक्खाय, अहीणस्स अहियासेमाणस्स केवलणाणमुप्पण्णं सिद्धो, दढधम्मयाए जोगा संगहिया, एसा दव्वावई, खेत्तावई खेत्ताणं असईए कालावई ओमोदरियाइ, भावावईए उदाहरणगाहा—

महुराए जउण राया जउणावंकेण वक्कमणगारे । वहण य कालकरणं सक्कागमण य पव्वज्जा ॥ १२८२ ॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदं—महुराए णयरीए जउणो राया, जउणावंकं उज्जाणं अवरेण, तत्थ जउणाए कोप्परो दिण्णो, तत्थ दंडो अणगारो आयावेइ, सो रायाए निंतेण दिट्ठो, तेण रोसेण असिणा सीसं छिन्नं, अन्ने भणंति—फलेण आहओ, सव्वेहिंवि मणुस्सेहिं पत्थररासी कओ, कोवोदयं पइ तस्स आवई, कालगओ सिद्धो, देवागमणं महिमाकरणं

१ उज्जयिनी नगरी तत्र वसुर्वणिक्, स चम्पां यातुकाम उद्घोषणां कारयति सह धनः, एवमनुज्ञापयति धर्मघोषो नामानगारः तेषु दूरमटवीम तिगतेषु पुलिन्दैर्विलोडितः सार्थः इतस्ततो नष्टः सोऽनगारोऽन्येन लोकेन सममटवीं प्रविष्टः ते मूलानि खादन्ति पानीयं च पिबन्ति स निमन्त्र्यते नेच्छ-ति आहारजातं एकत्र शिलातले भक्तं प्रत्याख्याय अहीनमध्यासीनस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं सिद्धः दृढधर्मतया योगाः संगृहीताः एषा द्रव्यापद् क्षेत्रापद् क्षेत्राणामसति कालापद् अवमोदरिकादि भावापदुदाहरणगाथा । २ मथुरायां नगर्यां यमुनो राजा यमुनावक्रमुद्यानमपरस्मिन् तत्र यमुनायां स्कन्धावारो दत्त तत्र दण्डोऽनगार आतापयति, स राज्ञा निर्गच्छता दृष्टः तेन रोषेणासिना शीर्षं छिन्नं अन्ये भणन्ति—बीजपूरेणाहतः सर्वैरपि मनुष्यैः प्रस्तरराशिः कृतः कोपोदयं प्रति तस्य आपद्, कालगतः सिद्धः देवागमनं महिमकरणं

भणीयमलत्तग कंकणं च गहाय अडविं गओ, दंता छन्ना पुंजो कओ, तेण तणपिंडिगाण मज्झे बंधिया सगडं भरेत्ता आणीया, णयरे पवेसिज्जतेसु वसहेण तणपिंडगा कड्डिया, तओ पयडत्ति दंतो पडिओ, नगरगोत्तिएहिं दिट्ठो गहिओ रायाए उवणीओ, वज्झो णीणिज्जइ, अमच्चो सोऊण आगओ, रायाए पायवडिओ विन्नवेइ, जहा एए मए आणाविया, सो पुच्छिओ भणइ—अहमेयं न याणामि कोत्ति, एवं ते अवरोप्परं भणंति, रायाए सवहसाविया पुच्छिया, अमच्चो छिण्णो, परिकहियं, पूएत्ता विसज्जिया, एवं निरवलावेण होयव्व आयरिएणं । बितिओ—एगेण एगस्स हत्थे णासं वा किंचि पणामियं, अंतरा पडियं, तत्थ भाणियव्वं—मम दोसो इयरेणावि भणंति । निरवलावेत्ति गयं २ । इयाणिं आवईसु दढधम्मत्तणं कायव्वं, एवं जोगा संगहिया भवंति, ताओ य आवईओ चत्तारि, तं०—दव्वावई ४, उदाहरणगाहा—

उज्जेणीए धणवसु अणगारे धम्मघोस चंपाए । अडवीए सत्थविब्भम वोसिरणं सिज्झणा चेव ॥ १२८१ ॥

---

१ भणितव्यमलक्तककङ्कणानि च गृहीत्वाऽटवीं गतः दन्ताः छन्नाः पुञ्जः कृतः तेन तृणपिण्डिकानां मध्ये बद्ध्वा शकटं भृत्वाऽऽनीताः। नगरे प्रविश्यमानेषु वृषभेण तृणपिण्डिकाः कृष्टाः, ततः प्रकटिता इति दन्ताः पतिताः, नगरगुप्तिकैर्दृष्टो गृहीतश्च राज्ञ उपनीतः वध्यो निष्काश्यते अमात्यः श्रुत्वाऽऽगतः राज्ञः पादयोः पतित्वा विज्ञपयति—यथा मयैते आनायिताः स पृष्टो भणति—अहमेनं न जानामि क इति एवं तौ परस्परं भणतः राज्ञा सत्यशापितौ पृष्टौ अमात्य इदं परिकथितं, पूजयित्वा विसृष्टौ । एवं निरपलापेन भवितव्यमाचार्येण । द्वितीयः—एकेनैकस्य हस्ते न्यासं वा किञ्चिद् अन्तरा पतितं तत्र भणितव्यं—मम दोषः इतरेणापि भणति । निरपलापमिति गतम् २ । इदानीमापत्सु दृढधर्मता कर्तव्या एवं योगाः संगृहीता भवन्ति ताश्चापदश्चतस्रः तद्यथा—द्रव्यापद् ४ उदाहरणगाथा—

अस्या व्याख्या—कथानकादवसेया, तच्चेदं—दंतपुरे णयरे दंतवक्को राया, सच्चवई देवी, तीसे दोहलो—कहं दंतमए पासाए अभिरमिज्जइ ?, रायाए पुच्छिय, दंतनिमित्तं घोसावियं रण्णा¹ जहा—उचियं मोल्लं देमि, जो न देइ तस्स राया सरीरनिग्गहं करेइ, तत्थेव णयरे धणमित्तो वाणियओ, तस्स दो भारियाओ, धणसिरी महंती पउमसिरी उ दइरिया पीययरी यत्ति, अण्णया सवत्तीणं भंडणं, धणसिरी भणइ—किं तुमं एव गविया ? किं तुज्झ महाओ अहिय, जहा सच्चईए तहा ते किं पासाओ कीरेज्जा ?, सा भणइ—जइ न कीरइ तो अहं नेवत्ति उवगरए (घरए) बारं बंधित्ता ठिया, वाणियओ आगओ पुच्छइ—कहिं पउमसिरी ?, दासीहिं कहियं, तत्थेव अइयओ, पसाएइ, न पसीयइत्ति, जइ नत्थि न जीवामि, तस्स मित्तो दढमित्तो नाम, सो आगओ, तेण पुच्छियं, सव्वं कहेइ, भणइ—कीरउ, मा इमाए मरंतीए तुमंपि मरिज्जासि, तुमंमि मरंते अहं, रायाए य घोसावियं, तो पच्छन्नं कायव्वं ताहे सो दढमित्तो पुलिंदगपाउग्गाणि

---

१ दन्तपुरे नगरे दन्तवक्त्रो राजा सत्यवती देवी तस्या दोहदः कथं दन्तमये प्रासादेऽभिरमे राज्ञा पृष्ट दन्तनिमित्तं घोषितं राज्ञा यथा उचितं मूल्यं ददामि यो न ददाति तस्य राजा शरीरनिग्रहं करोति तत्रैव नगरे धनमित्रो वणिक्, तस्य द्वे भार्ये धनश्रीर्महती पद्मश्रीस्तु कनी प्रियतरा चासि अन्यदा सपत्न्योर्भण्डनं धनश्रीर्भणति—किं त्वमेव गर्विता ? किं तव मम अधिकं, यथा सत्यवत्याः किं प्रासादः क्रियते ? सा भणति—यदि न क्रियते तदाहं नव अपवरके द्वारं बद्ध्वा स्थिता वणिगागतः पृच्छति—क पद्मश्रीः ? दासीभिः कथितं तत्रैवाभिगतः, प्रसादयति न प्रसीदतीति यदि नास्ति न जीवामि तस्य मित्रं दृढमित्रो नाम स आगतः तेन पृष्टं सर्वं कथयति भणति—क्रियतां मा अस्याः म्रियमाणायाः त्वमपि मृथाः त्वयि म्रियमाणेऽहं राज्ञा च घोषितं तत्प्रच्छन्नं कर्तव्यं, तदा स दृढमित्रः पुलिन्द्रग्रामोपगामि

अट्टणेण फलहियमल्लो भणिओ—कहेहि पुत्ता ! जं ते दुक्खावियं, तेण कहियं, मच्छियाउऽक्खेवेणं पुरस्सरीकयं, मच्छियस्सवि रण्णा संमद्दगा पेसिया, भणइ—अहं तस्स पिउपि ण बिभेमि, को सो वराओ ?, बितियदिवसे समजुज्झा, ततियदिवसे अंबियपहारो वइसाह ठिओ मच्छिओ, अट्टणेण भणिओ फलिहित्ति, तेण फलहिग्गाहेण गहिओ सीसे, तं कुंडियनालगंपिव एगंते पडियं, सक्कारिओ गओ उज्जेणिं, पंचलक्खणाण भोगाण आभागी जाओ, इयरो मओ, एवं जहा पडागा तहा आराहणपडागा, जहा अट्टणो तहा आयरिओ, जहा मल्लो तहा साहू, पहारा अवराहा, जो ते गुरुणो आलोएइ सो निस्सल्लो निव्वाणपडागं तेल्लोक्करंगमज्झे हरइ, एवं आलोयणं प्रति जोगसंगहो भवति । एए सीस गुणा, निरवलावस्स जो अन्नस्स न कहेइ परिस्समेतेण पडिसेवियत्ति, एत्थ उदाहरणगाहा—

दंतपुरदंतवक्के सच्चवती दोहले य वणयरए । धणमित्त धणसिरी य पउमसिरी चेव दढमित्तो ॥ १२८० ॥

---

१ अट्टनेन कर्पासमल्लो भणिता—कथय पुत्र ! यत्ते दुःखितं तेन कथितं, क्षपित्वा अक्लेशेन पुरस्सरीकृत्य मात्स्यिकस्यापि राज्ञा संमर्दकाः प्रेषिताः भणति—अहं तस्य पितुरपि न बिभेमि, कः स वराकः, द्वितीयदिवसे समयुद्धौ तृतीयदिवसे महाराज्ञे वैशाख स्थितो मात्स्यिकः अट्टनेन भणितः—फलिहीति तेन फलहीग्राहेण गृहीतः शीर्षे तद् कुण्डिकानालमिवैकान्ते पतितं सत्कारितो गत उज्जयिनीं पञ्चलक्षणानां भोगानामाभागी जातः इतरो मृतः एवं यथा पताका तथाऽऽराधनापताका यथाऽट्टनस्तथा आचार्यः यथा मल्लस्तथा साधुः प्रहारा अपराधाः यस्तान् गुरुसमक्षमालोचयति स निःशल्यो निर्वाणपताकां त्रैलोक्यरङ्गमध्ये हरति, एवमालोचनां प्रति योगसंग्रहो भवति । एते शिष्यगुणाः निरपलापस्य—योऽन्यस्मै न कथयति—परिश्रमेणैव प्रतिसेवितमिति अत्रोदाहरणगाथा ।

न्वित योग्यो, यथा जातो यथार्थकः । द्विजोऽपि तथा नून, गुणमिथ्यमनामकः ॥ २५५ ॥ ततो निवेदितास्तेन, सर्वे रत्नगुणागुणाः ।
मात्रिसम प्रयत्नेन, दिव्यरत्नसमुपार्जनम् ॥ २५६ ॥ तदभावरूपपेक्षेण, द्विजा सर्वं कुतूहलम् । कालादिपरिहारेण, कृत्वम् सत्रमसद्गतम्
॥ २५७ ॥ ततः प्रभृति संजातो, द्विजोऽपि विचक्षणः । सम परीक्षकस्तेषां, रत्नानामवने रतः ॥ २५८ ॥ अथ पारगतः पार्श्वे,
तस्य मूढस्य सादरम् । सोऽप्युक्तोऽहं प्रयास्यामि, मित्र! किं वर्तते तव? ॥ २५९ ॥ मूढः प्राह वयस्य! त्वं, किं गतेन करिष्यसि? ।
रमणीयमिदं द्वीपं, किं न पश्यसि सर्वतः? ॥ २६० ॥ पद्मखण्डगृहोद्यानसरोवरविभूषितम् । विहारारामपुष्पाढ्यं, वनराजिविराजि
तम् ॥ २६१ ॥ तदत्र सुचिरं तावत्स्थानयित्वा परं सुखम् । पश्चात्स्वस्थानगमनं, करिष्यामो यथेच्छया ॥ २६२ ॥ श्रुत मयाऽपि मो-
हित्य, रत्नानां मित्र! वर्तते । तदाकर्णित तेन, चारोर्योद्विग्नचेतसा ॥ २६३ ॥ अथाम्रशङ्खोन्मिभकाचखण्डादिपूरितम् । तद्दृष्ट्वा वि
स्मयमेवं, स चारुश्चारुचेतनः ॥ २६४ ॥ अहो वराको मूढोऽयं, मूढ एव न संशयः । यतः कुतूहलेनोच्चैर्मूढलोकेन वञ्चितः ॥२६५॥
यथापि क्षिप्यामीमं, यथेष विभिवर्तते । एवं विचिन्त्य तेनोक्तं, चारुणा शुचिचारुणा ॥ २६६ ॥ न युक्तं कौतुकं कर्तुमत्र मित्र! वना-
दिषु । आत्मवञ्चनमेवाहि, रत्नादिव्याधकम् ॥ २६७ ॥ वञ्चितश्च दृढं मित्र!, मूढलोकेन पापिना । अरत्नानि गृहीतानि, रत्नबुद्ध्या
त्वया त्वया ॥ २६८ ॥ इदं कचवरं सर्वं, तच्छीघ्रं संपरित्यज । सुरत्नानि गृहाण त्वं, तेषामेतच्च लक्षणम् ॥ २६९ ॥ ततो यावत्किला-
ख्याते, स चारु रत्नलक्षणम् । तावदुद्वेजितो मूढस्य प्रतीपसमापत ॥ २७० ॥ नाहं यास्यामि गच्छ त्वं, प्रभूतो यत्र कुत्रचित् । वयस्य!
एवमेव त्वं, यत्त्वमेव प्रभाषसे ॥ २७१ ॥ निराकरोपि त्वं तावदेक सुखकारियाम् । द्वितीय मामक रत्नसञ्चय कूपपस्तम् ॥ २७२ ॥
प्रभासराणि यथेवं, रत्नानि न भवन्ति ते । पर्याप्तमपरैस्तात!, तावकैर्मम रत्नकैः ॥ २७३ ॥ ततश्चारुः पुनर्यावद्द्यापये स्फुरितापरः ।

प्रपूचस्तावसिरतरं प्रतीक्षमवोषत ॥ ३७४ ॥ कर्तुं कुरु ममानेन, तावकीनेन मित्रक[1] । शिक्षणेन निजस्थानं, गच्छ शीघ्रं निराकुलः
॥ ३७५ ॥ तदाकर्ण्य निजे चित्ते, चारुणा परिचिन्तितम् । नैवास्य शिक्षणं कर्तुं, मूढस्य मत पार्यते ॥ ३७६ ॥ इदम्—उपदेशं सदा
तस्य, चारोः कुर्वाणयोर्मुदा । ते मूढे रत्नबोधिस्थे, वयोर्योग्यचिकयोः ॥ ३७७ ॥ ततमारः परित्यज्य, स मूढ कृतनिश्चयः । सार्धं
योग्यहितज्ञाभ्यां, गतः स्वस्थानमुत्सुकैः ॥ ३७८ ॥ रत्नानां विनियोगं च, कुर्वाणास्तत्र ते भ्रम । अनन्तानन्दसन्तोषपूरिताः सुखमासते
॥ ३७९ ॥ मूढस्तु दुःखदारिद्र्यमासन समभावत । निष्कासितस्ततो द्वीपात्, केनचित्कुक्षमुमुक्षा ॥ २८० ॥ प्रक्षिप्तः सागरे घोरे,
पाथोभिः परिपूरिते । अरट्टघटपर्यन्ते, दुरन्तावर्तभीषणे ॥ ३८१ ॥ तदिदं ते मयाऽऽख्यातं, सूरिप्रोक्तं कथानकम् । यच्छ्रुता मम स
जात, भद्र[1] वैराग्यकारणम् ॥ ३८२ ॥ ततो गृहीतभावार्थः मोत्फुल्लमुखपङ्कजः । सोऽकलङ्को मुनिं नत्वा, प्रभुयोऽन्यमुनिं प्रति ॥३८३॥
मयोक्त—भावयामि मित्र! भावार्थं, पृष्टे वैराग्यकारणे । असम्बद्धं किमाख्यातं, मुनिनेदं कथानकम् ? ॥ ३८४ ॥ अकलङ्केनोक्त—
भद्र! घनवाहन नेदमसम्बद्धमुदाहरणं, आकर्णय स्वमस्य भावार्थं मयोक्त, एष दत्तावधानोऽस्मि, अकलङ्केनोक्त—यसन्तपुरस्थानीयोऽ-
सांव्यवहारिको जीवराशिः वाणिजकाः पुनर्यथार्थनामानस्ततो निर्गताः सर्वे जीवाः, समुद्रः पुनरत्र जन्मजरामरणसलिलो मिथ्या
दर्शनादिरविगम्भीरो महाभीषणकषायपातालः सुदुर्लभ्यमहामोहावर्तरौद्रो विचित्रदुःखौघदुष्टजलचरपूरितो रागद्वेषपवनपवनविक्षोभितः
संयोगवियोगवीचीनिचयचटुलः भवभ्रमभोरमनेकलोकोऽनवलोकितपरापरपारः संसारविस्तारो विज्ञेयः, रत्नद्वीपस्थानीयोऽत्र मनुष्यभवो
मन्तव्यः काननादिकुतूहल तु विषयाभिलापो द्रष्टव्यः भवसङ्कल्पकर्दककाचशकलादिकल्पाः सर्वज्ञप्रणीतधर्मविपरीताः कुधर्मा बोद्धव्याः
मूढलोकः कुतीर्थिकवर्गो ज्ञातव्यः, बोहित्थस्थानीयानि पुनरत्र जीवस्वरूपाणि वर्तन्ते, स्वस्थानगमन मोक्षावाप्तिर्मन्तव्या आत्मलाभरूप

स्तात्सा:, यस्तु मूलस्योपरि कुठो भरेम: स सत्कर्मपरिणामो विज्ञेय:, समुद्रमज्जनमपेक्षस्तु मूलस्यानन्त्यमवभ्रमण इष्टव्यमिति । एव च
स्थिते भो भो भव्यजना'—सर्वः कथानकस्यास्य, भावार्थः सुपरिस्फुटः । तथापि ते प्रबोधाय, विशेषेणाभिधीयते ॥ २८५ ॥ तत्र यथा
तेन धारणा निर्गत्य वसन्तपुरात्प्रस्थिता समुद्रं समासाद्य रत्नद्वीप विज्ञाता: कृत्रिमाकृत्रिमरत्नविशेष: न कृत काननादिषु कौतुक ज-
नित्वा मूर्खलोका: न गृहीतानि कृत्रिमरत्नानि कृत विशिष्टरत्नमहणवाणिज्य व्यापार: सुन्दररत्ननिचय: भावर्जिता विशिष्टलोका: पूरित
बोहित्थ सञ्जात: सार्थसाधक इति, तथा भद्र' भव्यतया सुन्दरतमा जीवा निष्क्रम्यासांव्यवहारिकजीवराशेरतीत्यानन्त ससारविस्तारं
संप्राप्य मनुष्यभावं लघुकर्मतया विजानन्ति हेयोपादेयविभाग चिन्तयन्ति च ते—"यथाऽतिदुर्लभमिदं मानुष्यमाकरो भावरत्नानां का-
"रणं निर्वाणसुखस्य समासमिदमधुनाऽस्माभि: समारूढा वय महत्तरां कोटिं तत्र युक्तोऽस्माकमधुना विपादपि विपमतरो विपाकेषु विष
"यवनादिषु प्रतिबन्ध:, समासादयन्ति च ते सर्वज्ञोपज्ञ धर्ममार्गं, ततो न विप्रलभ्यन्ते कुतीर्थिकै: न प्रवर्तन्ते कुधर्ममहणे कुर्वन्ति
"साधुधर्माङ्गीकरणलक्षण वाणिज्य गृह्णन्ति क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितप:संयमसत्यशौचाकिञ्चनत्वब्रह्मचर्यसन्तोषप्रशमादिकं प्रविशिष्टं गुण
"रत्ननिचयं भावयन्ति सद्गुरुसाधुसाधर्मिकजन पूरयन्ति सद्गुणानामात्मानं संजायन्ते स्वकार्यनिष्पादका" इति १ । यथा च योग्यत
तत्र रत्नद्वीपे विज्ञात गुणदोषविचारण कृतं किंचिद्द्रव्यार्थं वाणिज्य केवल सञ्जातमस्य काननादिदर्शनव्यसन तत्परायणेन गमितोऽन
र्थको बहु: कालो मीलितानि कालेन भूयसा स्तोकान्यपि रत्नकानि न विहितो विशिष्टरत्नसंचय इति, तथा भद्र! घनवाहन भव्यतया
सुन्दरतरा जीवा: सम्प्राप्य मनुष्यजन्म लघुकर्मतया जानन्ति गुणागुणपरीक्षण कुर्वन्ति सर्वज्ञदर्शनमवाप्य भावकोचितं क्रियन्ति सद्गुण-
ग्रहणवाणिज्य केवल दुर्जयत्वेन लोभस्य चतुरक्षयेन्द्रियग्रामस्य सजायते तेषां धनविषयादिषु ममत्वव्यसन तत्परायणाश्च ते गमयन्ति

१ २

निरर्थकं भूयांसं कालं तथापि मीलयन्ति ते भूयसा कालेन भावकधर्मोचितानि कियन्त्यपि गुणरत्नानि न विदधति साधुधर्मसाध्यं विशिष्टगुणरत्नसञ्चयमिति २ । यथा च तेन द्वितीयेन प्राप्तेनापि रत्नद्वीपे विज्ञाय स्वयं रत्नपरीक्षणं धारिता परोपदेशयोग्यता कृत विहारारामादिषु महत्तरं कौतुकं न विहितं सुरतमण्यं न लक्षितास्ते वञ्चका धूर्तलोकाः गृहीतानि चिकिचिकायमानानि काचशकलादीनि जनिता तेषु सुन्दराणीति बुद्धिः वञ्चितश्चाप्तोपदेशात्पूर्वमात्मेति, तथा भद्र धनवाहन ! भव्यतया सुन्दरा जीवाः समासाद्य मनुष्यभावं मनाग्गुरुकर्मतया न विजानन्ति स्वयं कर्तुं धर्मगुणदोषपरीक्षणं धारयन्ति परोपदेशयोग्यतां कुर्वन्ति विषयधनादिषु महत्तरं प्रतिबन्धं न विदधति सर्वज्ञप्रणीतसद्धर्मोपार्जने न लक्षयन्ति कुतीर्थिकवञ्चकतां गृह्णन्ति प्रशमसत्यादभावितसाररहितानि दम्भप्रधानतया बहिर्भिः किचिकायमानकृत्रिमरत्नतुल्यानि कुधर्मानुष्ठानानि जनयन्ति तेषु सुन्दराणीति बुद्धिं वञ्चयन्ति च सद्गुरूपदेशात्पूर्वमात्मानमिति ३ । यथा च तेन मूढेन रत्नद्वीपगतेनापि न विहितं स्वयं रत्नगुणदोषपरीक्षणं नापि प्रतिपन्नं परोपदेशेन अनुशीलितं वनदेवकुलादिगोचरसतत्त्वकौतुकं विक्षिप्तानि सत्यरत्नानि गृहीतानि काचशकलादीनि कृतस्तेषु सद्भावाभिनिवेशः मोषितो धूर्तलोकेन वञ्चितो नितान्तमात्मेति, तथा भद्र ! धनवाहन लब्ध्वापि मनुष्यभवमभव्यतया दूरभव्यतया वाऽतिक्लिष्टतमा जीवाः गुरुतरकर्मभराक्रान्ततया न विदन्त्येव स्वयं कर्तुं धर्मगुणदोषपरीक्षणं नापि प्रतिपद्यन्ते परोपदेशेन अनुशीलयन्ति विषयधनादिषु गाढलौल्यं विक्षिपन्ति प्रशमसत्यादीनि सद्भूतानुष्ठानानि गृह्णन्ति धर्मबुद्ध्या स्नानहोमयागादीनि जीवघातोपमर्दकारीणि कदनुष्ठानानि कुर्वन्ति तेषु तत्त्वाभिनिवेशं मोषयन्ति कुतीर्थिकैः वस्तेव वञ्चयन्ति ते नितान्तमात्मानमिति ४ । यथा च स चारु पूरयित्वा बोहित्थं कृतकृत्यः स्वयं गन्तुकामः स्वस्थाने योग्यं प्रत्याह—यथाऽहं गमिष्यामि मित्र ! किं भवतो वर्तते, योग्येनोक्तं—न पूर्यते ममाद्यापि बोहित्थं स्तोकान्येव मयोपार्जितानि रत्नानि, चारु-

स्त्वत्समाः, यस्तु मूढस्योपरि कुपितो नरेन्द्रः स सत्कर्मपरिणामो विज्ञेयः, समुद्रमध्यप्रक्षेपस्तु मूढस्यानन्तभवभ्रमणं द्रष्टव्यमिति । एवं च स्थिते भो भो घनवाहन!—सर्वः कथानकभावार्थः सुपरिस्फुटः । तथापि ते प्रबोधाय, विशेषेणाभिधीयते ॥ २८५ ॥ तत्र यथा तेन चारुणा निर्गत्य वसन्तपुराद्गत्वा समुद्रं समासाद्य रत्नद्वीपं विज्ञातः कृत्रिमाकृत्रिमरत्नविशेषः न कृतं काननादिषु कौतुकमुपेक्षिता धूर्तलोकाः न गृहीतानि कृत्रिमरत्नानि कृतं विशिष्टरत्नग्रहणमात्मानश्च यपात्तः सुन्दरयानपात्रः आवर्जिता विशिष्टलोकाः पूरितपोषितं सञ्जातः स्वार्थसाधक इति, तथा भद्र! सम्यक् सुन्दरतमा जीवा निष्क्रम्यासांव्यवहारिकजीवराशेरतीत्यानन्तं संसारविस्तारं समाप्य मनुष्यभावं लघुकर्मतया विज्ञानमिव हेयोपादेयविभागं चिन्तयन्ति च ते—"यथाऽतिदुर्लभमिदं मानुष्यमाकरो भावरत्नानां का-
"र्यं निर्वाणसुखस्य समासमिदमधुनाऽस्माभिः समारूढा वयं महत्तरां कोटिं तस्मात् युक्तोऽस्माकमधुना विपादपि विषमतरो विपाकेषु विष-
"यधनादिषु प्रतिबन्धः, समासादयन्ति च ते सर्वज्ञोपज्ञं धर्ममार्गं, ततो न विप्रलभ्यन्ते कुतीर्थिकैः न प्रवर्तन्ते कुधर्ममध्ये कुर्वन्ति
"साधुधर्माङ्गीकरणलक्षणं वाणिज्यं गृह्णन्ति क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिञ्चनत्वब्रह्मचर्यसम्योपशमभावादिकं प्रतिक्षणं गुण-
"रत्ननिचयं आवर्जयन्ति सद्गुरुसाधुसाधर्मिकजनं पूरयन्ति सद्गुणानामात्मानं सञ्जायन्ते स्वकार्यनिष्पादका" इति १ । यथा च योगवन् तत्र रत्नद्वीपे विज्ञातगुणदोषविचारः कृतं किंचिद्ग्रहणार्थं वाणिज्यं केवलं संजातमस्य काननादिदर्शनव्यसनं तत्परायणेन गमितोऽनन्तको बहुः कालो मीलितानि काचेन भूयसा किमल्पमपि रत्नकानि स विहितो विशिष्टरत्नलाघव इति, तथा भद्र! घनवाहन भव्यतया सुन्दरतरा जीवाः समाप्य मनुष्यजन्म लघुकर्मतया जानन्ति गुणागुणपरीक्षणं कुर्वन्ति सर्वज्ञदर्शनमवाप्य श्रावकोचितं क्रियदपि सद्गुणग्रहणमात्मनश्च केवलं दुर्बलत्वेन लोभस्य चटुकत्वेन्द्रियग्रामस्य संजायते तेषां धनविषयादिषु ममत्वव्यसनं तत्परायणाश्च ते गमयन्ति

१ २

“शान्तो ध्वनादिजीवमलमलक्षालनसलिलं तपो दायक निःसङ्गाभिसन्धोद्यानामनागतकर्मकचवरनिवारकः संयमो भावको भवभ्रमणभया-
“भावितभूरिभावद्योंणा, तदेवमपि जानतां भवतां भो भद्राः ! केयमविद्या कोऽयं मोहः केयमात्मवञ्चनता केयमात्मवैरिकता केन यूयं
“गृध्यथ विषयेषु मुह्यथ कलत्रेषु लुभ्यथ धनेषु स्निह्यथ स्वजनेषु हृष्यथ यौवनेषु तुष्यथ निजरूपेषु पुष्यथ प्रियसङ्गमेषु रुष्यथ हितोप
“देशेषु दूष्यथ गुणेषु नश्यथ सन्मार्गात्सक्तास्थप्यसारदर्शेषु सहायेषु प्रीयध्वं सांसारिकसुखेषु न पुनर्यूयमभ्यस्यथ ज्ञानं मानुषीकुरुथ दर्शनं
“नानुतिष्ठथ चारित्रं नाचरथ तपः न कुरुथ संयमं न सपादयथ सद्भूतगुणसम्भारभाजनमात्मानमिति, एवं च स्थितानां भवतां भो
“भद्रा ! निरर्थकोऽयं मनुष्यभवो निष्फलमसारदक्षसभिधानं निष्प्रयोजनो भवतां परिज्ञानाभिमानोऽकिञ्चित्करमिव भगवद्दर्शनासादनं, एव
“हि स्वार्थभ्रंशः परमवशिष्यते, स च भवतामनन्तसमाक्रमयति, न पुनश्चिरादपि विषयादिषु सन्तोषः, तत्र युष्माकमासितुं भवादृशां,
“अतो मुञ्चत विषयप्रतिबन्धं परिहरत स्वजनस्नेहादिकं विरहयत धनभवनममत्वव्यसनं परित्यजत निःशेषं सांसारिकमलजाम्बालं गृ-
“हीत भागवतीं भावदीक्षां विधत्त सम्यग्ज्ञानादिगुणगणसञ्चयं पूरयत तेनास्मान् भवत स्वार्थसाधका यावत्सन्निहिता भवतां वयं । अन्य-
“थाऽस्मदुपदेशाभावे सद्बुद्धिविकला यूयं स्वार्थभ्रष्टा एव सर्वथा भविष्यथेति” । तदिदं भगवता स मुनीनामुपदेशवचनाद्युपाकम्यागमे-
मुपलभ्य ते योग्यकल्पा देशविरता नितरां क्लाम्यन्ते स्वचरितेन न पुनः अट्टोत्तराणि न कुर्वन्ति मनोदुष्प्रणिधानं, किं तर्हि ?, प्रतिप
द्यन्ते हितमिति तत्साधुवचनं आचरन्ति यथोक्तविधानेन स्वीकुर्वन्ति पारमेश्वरं महाव्रतं तिष्ठन्ति पूरयन्तो शुभसंस्कारात्मधानपात्रमिति
२ । यथा च स पारगतो हितज्ञानान्वर्णं विहितं स्वस्थानगमनार्थं तदामन्त्रण ततो दर्शितं तस्मै हितज्ञेन स्वयमुपार्जितं तत्कालसकलादिकं
निवेदितं काननादिकोशसारमात्मचेष्टितं, तथा भद्र घनवाहन ! भद्रकेभ्यो भव्यमिथ्यादृष्टिभ्यः संपूर्णगुणाः सुसाधवो यदत्र सद्धर्मक-

मोक्ष—किं पुनरत्र कारणं?, ततो योग्येन कथितं तदुपार्जनविभ्रमूढमात्मनः काननादिकुतूहलं, तथा भद्र! धनवाहन चारुरूपा भग- वन्तो मुनयो भवताऽस्मात् तपःसंयमप्रशमसन्तोषज्ञानदर्शनादीनां भावरत्नानां निष्ठितार्थाः स्वयं जिगमिषवो मोक्षलक्षणे स्वस्थाने ये नगरूपाणां देशविरतानां मोक्षगमनार्थमात्मसमर्पणमिव कुर्वाणाः कुर्वन्ति धर्मदेशनां, ते तु निषेधमस्यात्मनः लोकगुप्तस्य, ततः साधवो ब्रुवते भो भद्र! मनुष्यभावे आसीन सर्वेषां सद्गुणाधारेण तर्कि न सम्पूर्णगुणा जाता यूयं यथा वयं?, ततः कथयन्ति ते देशविरताः सम्पू- र्णगुणोपार्जनविमूढमात्मनो धनविषयादिषु ममत्वव्यसनं, ततो यथा चारुणा योग्यं प्रत्युक्तं—यथा भद्र! न युक्तं ते प्राप्तस्य रत्नद्वीप- काननादिकुतूहलं कर्तुं बन्धनमिवमात्मनो महाविघ्नः सुरत्नग्रहणस्य ज्ञानादिषु च स्व सुरत्नानां सुरत्नेष्वर्थी तथाप्यनादरमेव तेषु कुर्वाणः किमात्मनो वैरित्वमसे?, न च चिरेणापि ते कौतुकपरिपूर्तिः स्वार्थे मतिसमितरत्ना निरर्थकं रत्नद्वीपागमनं, ततो भद्र! मुञ्च मना- ङ्कौतुकं कुरु मयि समीहिते सुरत्नोपार्जनमन्यथा स्वार्थभ्रष्टो भविष्यसि, ततोऽत्यन्तकुशलो योग्यः प्रतिपन्न चारुवचनमनुष्ठितं विधा- नेन तथाऽतः सुरत्नानां पोतिरत्नभरणेन स्वार्थसाधक इति, तथा भद्र! धनवाहन मुनयोऽपि देशविरतानेवमाचक्षते, यथा "भो भद्रा! न "युक्तं पुण्यात्प्राप्तमवाप्ते मनुष्यभावे जानतां जिनवचनाद्धुरवस्थं भवतां भवनैर्गुण्यसाक्षात्कायकृतिकृमजालविल्वां वेदयतां यौवनस्य "सन्ध्याभ्ररागभङ्गुरतां पश्यतां जीवितस्य मर्मोपघातशकुनिगणचञ्चलतां भावयतां स्वजनवर्गस्नेहादेरपरिपुष्टिविलसितदृष्टनष्टतां कर्तुमिति "इदं धनविषयादिममत्वव्यसनं बन्धनमिवमात्मनो महान्तरायो ज्ञानादिसाधनस्य जानन्ति च भद्राः यथा परिणामदारुणा विषया "कारणं चित्तमित्रलानां नरकद्वारका योषितोऽमूमिः सम्प्राप्तसुखानां हेतुभूतमार्तरौद्रध्यानानां सुगतिमार्गप्रदीपो ज्ञानं जनकं मानसाद्या "नां कर्मनिगर्वोद्धिपातदारुणम्बो दर्शनं सम्पादनमनन्तमनःप्रमोदानां सुखेमाक्षेपमोक्षनिक्षेपणं चारित्रं समयकं निरन्तरविघोस्त

१ १

“मानां अनादिजीवसमभ्याक्रान्तसञ्चितं तपो दायकं निःसङ्गादिसम्बोधानामनागतकर्मोपचयनिवारकः संयमो भावको भवभ्रमणभया-
“तिसमूरिभावहर्षाणां, तदेवमपि जानन्तो भवन्तो भो भद्राः! केयमविद्या कोऽयं मोहः केयमात्मवञ्चनता केयमात्मवैरिकता कथं यूयं
“गृध्यथ विषयेषु मुह्यथ कलत्रेषु लुभ्यथ धनेषु स्निह्यथ स्वजनेषु हृष्यथ यौवनेषु तुष्यथ निजरूपेषु पुष्यथ प्रियसङ्गमेषु रुष्यथ हितोप
“देशेषु दूष्यथ गुणेषु नश्यथ सन्मार्गात्सक्तस्थाप्यमार्गेषु सहायेषु प्रीयथ सांसारिकसुखेषु न पुनर्भूयमभ्यसथ ज्ञानं नानुशीलयथ दर्शनं
“नानुतिष्ठथ चारित्रं नाचरथ तपः न कुरुथ संयमं न सम्पादयथ सद्भूतगुणसम्भारभाजनमात्मानमिति, एवं च तिष्ठतां भवतां भो
“भद्राः! निरर्थकोऽयं मनुष्यभवो निष्फलमस्मादृशसन्निधानं निष्प्रयोजनो भवतां परिज्ञानाभिमानोऽकिञ्चित्करमिव भगवद्दर्शनासादनं, एव
“हि सार्वभौमः परमभक्षिष्यते, स च भवतामप्रतमाक्रमयति, न पुनश्चिरादपि विषयादिषु सन्तोषः, तत् युक्तमेवमासितुं भवादृशां,
“भद्रो मुञ्चत विषयप्रसङ्गं च परिहरत स्वजनस्नेहादिकं विरचयत धनभवनममत्वव्यसनं परित्यजत निःशेषं सांसारिकमञ्जाल्यादि गृ-
“हीत भागवतीं भावदीक्षां विधत्त सञ्ज्ञानादिगुणगणसञ्चयं पूरयत येनास्मान् भवत स्वार्थसाधका भावसन्निहिता भवतां वयं । अन्य-
“थाऽस्मदुपदेशाभावे सद्बुद्धिविकला यूयं स्वार्थभ्रष्टा एव सर्वथा भविष्यथेति” । ततिर भगवता सन्मुनीनामुपदेशवचनामृतमुपालम्भगर्भ
मुपलभ्य ते योग्यकल्पा देशविरता नितरां लज्जन्ते स्वचरितेन न वदन्ति प्रत्युत्तराणि न कुर्वन्ति मनोदुष्टमभिमानं, किं तर्हि?, प्रतिप
द्यन्ते हितमिति तत्साधुवचनं आचरन्ति यथोक्तविधानेन स्वीकुर्वन्ति पारमेश्वरं महाव्रतं तिष्ठन्ति पूरयन्तो गुणरत्नैरात्मभाजनमिति
२ । यथा च स चारुर्गतो द्वीपात्सर्वं विहितं स्वस्थानगमनार्थं तदाभयाचे तथैव वर्णितं तथैव हितज्ञेन स्वयमुपार्जितं तत्काचशकलादिक
निवेदितं काननादिकौतुकसारमात्मचेष्टितं, तथा भद्र धनवाहन! भद्रकेभ्यो भव्यमिथ्यादृष्टिभ्यः सम्पूर्णगुणाः सुसाधवो यत्र सम्यक्-

जनानामभिमुखीभवन्ति तदारण्या हित्वा समीपगमनमभिधीयते, ततः कुर्वन्ति ते साधवस्तेषां भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टीनां धर्मदेशनया मोक्षगमन प्रत्यामप्यर्थं तेऽपि च तेभ्यो दर्शयन्ति यथा वयमपि कुर्म एव धर्मं यतोऽनुतिष्ठामो नित्यस्नानं जुहुमोऽग्निहोत्रं ददामश्चिलसमिधः प्रयच्छामो गोभूमिहिरण्यादीनि कारयामो वापीकूपतडागप्रभृतीनि परिणयामः कन्यका इत्यादिक कार्यसङ्कल्पादिदर्शन, अन्यच्च—ते सुखासुखो निवेदयन्ति यथा—भो भट्टारकाः ! सुखेन वयमास्महे यतो भक्षयामो मांसं पिबामो मद्यं भास्वादयामो विचित्रं सुरसं भोजनं रमयामो वरस्त्रियः परिदध्मः सुकुमारोज्ज्वलवसनानि मानयामः पञ्चसुगन्धिकोन्मिश्रं ताम्बूलं विलसामो विविधमाल्यविलेपनैः मीलयामो धननिचयं विचरामो यथेष्टचेष्टया न सहामो रिपुगन्धं प्रकाशयामो निजकीर्तिं दर्शयामः स्वस्य देवरूपतां अनुभवामो मनुष्यभवसारमित्यादि, तदिदं काननादिकौतुकसारमास्मचेष्टितकथन, ततो यथा तेन चारणा कृपापरिगतहृदयेन हितस्य प्रत्यभिहित मनुज—वयस्य ! वञ्चितोऽसि त्वं पापिना पूर्वलोकेन मुग्धतया न जानीषे विधातुं रत्नगुणदोषपरीक्षां, अन्यच्च न युक्तं तव कर्तुं रत्नद्वीपसमागतस्य काननादिकौतुकं विप्रलम्भस्तवैव परमार्थेन, ततो हितस्येन गृहाण तदीयवत्सलतां सविधः परिज्ञानातिरेक, ततो निवर्तितं का ननादिकौतुकं, दृष्टश्च स चारु रत्नलक्षणं दर्शितः क्षिप्रभावः, चारुरपि रचितस्तद्गुणैः निवेदित रत्नलक्षणं भाव्हितस्तदुपार्जनोपाय हि तस्मात्कृपा संजातो विचक्षणः परीक्षको रत्नानां, ततः परिहृत्य कृत्रिमरत्नानि सपदि सत्यरत्नमहार्घ्योपद इति, यथा भद्र ! धनवाहन सन्तुनयोऽपि करुणापरिगतमानसास्तानेव तस्तो भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टीनिदमाचक्षते, मनुष्य—भो भद्राः सत्यं धर्मशीला यूयं कुरुथ धर्ममात्मबुद्ध्या केवलं मुग्धतया न जानीथ तद्विशेषं वञ्चिता यूयं कुधर्मशास्त्रकारैः, न खलु हिंसाकर्माणि धर्मसाधनानि भवन्ति, सत्वभूतदयाप्रधानो हि भगवान् विशुद्धधर्मः, तद्विरोधीनि च यागहोमादीनि, तत्र युक्तं धर्मबुद्ध्या भवतामधर्मासेवन, पशुनर्मूम यूयं यथा

—सुखेन वयं तिष्ठामो यतो भक्षयामो मांसमित्यादि, तदपि मुग्धताविजृम्भितमेव भवतां हास्यप्रायं विवेकिनां, यतः "सन्निहिताशेषापाये
"काये चलत्सु विविधयोगेषु त्वरागामिन्यां जरायां मनःशरीरसन्तापकारिषु रागाद्युपद्रवेषु मायाचरे यौवने सर्वव्यसनकारिणीषु स
"म्पत्सु मनोवाहिनीष्टवियोगे चित्तवैधुर्यकारिणि विप्रियसम्प्रयोगे सततमागामुके मरणे सर्वथाऽशुचिनिधाने शरीरे पुद्गलपरिणाममात्र
"निःसारेषु विषयेषु असह्यदुःखसङ्घपरिपूरिते जगति वर्तमानानामसुमतां कीदृक्ष नाम सुखं ?, परमार्थतो दुःखेऽपि सुखविपर्यास एव
"भवतां, कर्मजनितः खल्वेष विभ्रमः कारणमनन्तभवभ्रमणस्य, ततो भो भद्राः! कृच्छ्रेण प्राप्ते मनुष्यभवे सन्निहितायां धर्मसामग्र्यां
"सत्यसदुपदेशे स्वाधीने गुणाधाने प्रकटे ज्ञानादिमोक्षमार्गे अनन्तानन्दरूपे जीवे तस्य स्वरूपलाभलक्षणे मोक्षे ज्ञानभक्त्यनुष्ठानमात्रायत्ते
"तल्लाभे न युक्त भवतामीदृशमात्मवञ्चनं कर्तुं" तदिदं सन्मुनिवचनसाकर्ण्य ते हिताहितस्या अप्रकम्प्यमिथ्यादृष्टयो जीवा निर्भिन्दन्ति
तेषां भगवतां स मुनीनां वत्सलत्वां लक्षयन्ति परिज्ञानातिरेकं, ततो निवर्तयन्ति तदुपदेशेनात्मानमशुभवासनाविक्षेपात् सन्तो धनविषय-
गृद्धिमविगणय्य पृच्छन्ति च विशेषतो मुनिजनं ते धर्ममार्गं पर्यवन्ति क्षिप्रमार्गं रचयन्ति गुरूनपि विनयादिगुणैः, ततः प्रसन्नतया
गुरवस्तेभ्यो गृहस्थावस्थोचितं साधुवसायोग्यं च प्रतिपादयन्ति धर्ममार्गं ग्राहयन्ति तदुपार्जनोपायं महायत्नेन यदुत—भो भद्राः! सद्धर्म
साधनयोग्यत्वमात्मनोऽभिलषद्भिर्भवद्भिस्तावदिदमादौ कर्तव्यं भवति यदुत "सेवनीया दयालुता न विधेयः परपरिभवः मोक्तव्या को
"पनता वर्जनीयो दुर्जनसंसर्गः विरहितव्याऽलीकवादिता अभ्यसनीयो गुणानुरागः न कार्या चौर्यबुद्धिः त्यजनीयो मिथ्याभिमानः
"वारणीयः परदाराभिलाषः परिहर्तव्यो धनादिगर्वः विधेया दुःखितदुःखत्राणेच्छा पूजनीया गुरवः वन्दनीया देवसङ्घाः सन्मानीय
"परिजनः पूरणीयः प्रणयिलोक अनुवर्तनीयो मित्रवर्गः न भाषणीयः परावर्णवादो ग्रहीतव्याः परगुणाः लज्जनीय निजगुणविकत्थनेन

धनानामभिमुखीभवन्ति तथारत्ना द्वितयसमीपगमनमभिधीयते, ततः कुर्वन्ति ते साधवस्तेषां भद्रकसम्यग्मिथ्यादृष्टीनां धर्मदेशनया मोक्षगमनं प्रयासमयं, तेऽपि च तेभ्यो दर्शयन्ति यथा वयमपि कुर्म एव धर्मं यतोऽनुतिष्ठामो निजस्थाने जुहुमोऽग्निहोत्रं ददामश्चित्तसमिधं प्रयच्छामो गोभूमिहिरण्यादीनि कारयामो वापीकूपतडागप्रभृतीनि परिणयामः कन्यका इत्यादिक कापथकथानिदर्शनेन, अन्यच्च—ते सुसाधुभ्यो निवेदयन्ति यथा—भो भट्टारकाः ! सुखेन वयमास्महे यतो भक्षयामो मांसं पिबामो मद्यं आस्वादयामो विविधं सुरसं भोजनं रमयामो वरस्त्रियः परिदध्मः सुकुमारोज्ज्वलवसनानि मानयामः पञ्चसुगन्धिकोन्मिश्रं ताम्बूलं विलसामो विविधमाल्यविलेपनैः क्रीडयामो धननिचयं विचरामो यथेष्टचेष्टया न सहामो रिपुगन्धं प्रकाशयामो निजकीर्तिं दर्शयाम स्वस्य देवरूपतां अनुभवामो मनुष्यभवसारमित्यादि, तदिदं काननादिकौतुकसारमारमचेष्टितकल्पनं, ततो यथा तेन चारुणा कृपापरिगतहृदयेन हितज्ञ प्रत्यभिहितः यदुत—वयस्य ! वञ्चितोऽसि त्वं पापिना पूर्वलोकेन मुग्धतया न जानीषे विषयान् रत्नगुणदोषपरीक्षां, अन्यच्च न युक्तं तव कर्तुं रत्नद्वीपमागतस्य काननादिकुतूहलं विप्रलम्भरूपं परमार्थेन, ततो हितज्ञेन निश्चित्य तदीयवचसस्तस्य लक्षितः परिज्ञानातिरेकः, ततो निवर्तितं काननादिकौतुकं, पृष्टश्च स चारु रत्नलक्षणं दर्शितः शिष्यभावः, चारुरपि रचितवत्तद्गुणैः निवेदितं रत्नलक्षणं माहितत्त्वदुपार्जनोपायं हि ताम्रारुणा संजातो विचक्षणः परीक्षको रत्नानां, ततः परित्यज्य कृत्रिमरत्नानि संपन्नः सत्यरत्नग्रहणोद्यत इति, तथा भद्र ! धनवाहन सम्प्रत्योऽपि करुणापरिगतमानसास्तानेव भवतो भद्रकसम्यग्मिथ्यादृष्टीनित्थमाचक्षते, यदुत—भो भद्राः ! सत्यं धर्मैषिणः यूयं कुरुथ धर्मं मात्रपुत्राः केवलं मुग्धतया न जानीथ तद्विशेषं वञ्चिता यूयं कुधर्मशास्त्रकारैः, न खलु हिंसकर्माणि धर्मसाधनानि भवन्ति, सतभूतयागप्रधानो हि भगवान् विशुद्धधर्मः, तद्विरोधीनि च यागहोमादीनि, तन्न युक्तं धर्मबुद्ध्या भवतामधर्मासेवनं, यत्पुनर्ब्रूथ यूयं यथा

—सुखेन वयं तिष्ठामो यतो मन्यामो मासमित्यादि, तदपि मुग्धताविजृम्भितमेव भवतां हास्यमात्रं विवेकिनां, यतः "सन्निहिताश्लेषापाये
"काये वसत्सु विविधरोगेषु क्षयगामिन्यां जरायां मनःशरीरसन्तापकारिषु राजाद्युपद्रवेषु यायावरे यौवने सर्वव्यसनकारिणीषु च
"म्यसु मनोरमिनीष्टवियोगे चित्तवैधुर्यकारिणि विप्रियसम्प्रयोगे सततमागामुके मरणे सर्वथाऽशुचिनिपाते शरीरे पुद्गलपरिणाममात्र
"निःसारेषु विषयेषु प्रसरद्दुःखसहस्रपरिपूरिते जगति वर्तमानानामस्मादृशां कीदृशं नाम सुखं?, परमार्थतो दुःखेऽपि सुखविपर्यास एव
"भवतां, कर्मजनितः स एव विभ्रमः कारणमनन्तभवभ्रमणस्य, ततो भो भद्राः! कथञ्चित् प्राप्ते मनुष्यभवे सन्निहितायां धर्मसामग्र्यां
"सत्सु सदुपदेशे स्वाधीने गुणाधाने प्रकटे ज्ञानादिमोक्षमार्गे अनन्तानन्दरूपे जीवे तस्य स्वरूपलाभलक्षणे मोक्षे ज्ञानश्रद्धानुष्ठानमात्रायत्ते
"तल्लाभे न युक्त भवतामीदृशमात्मवञ्चनं कर्तुं" इति सद्गुरुवचनमाकर्ण्य ते हितमतुल्या भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टयो जीवा विभिद्यन्ति
तेषां भगवतां च मुनीनां वत्सलत्वं जनयन्ति परिज्ञानातिरेकं, ततो निवर्तयन्ति तदुपदेशेनानादिकुभवासनाविशेषात् सन्तो धनविषय
गृद्धिमविलम्ब्य पृच्छन्ति च विशेषतो मुनिजन ते धर्ममार्गं दर्शयन्ति शिष्यभावं रचयति गुरूनपि विनयादिगुणैः, तत प्रसन्नहृदया
गुरवस्तेभ्यो गृहस्थावस्थोचितं साधुधर्मयोग्यं च प्रतिपादयन्ति धर्ममार्गं भावयन्ति तदुपायेनोपायं महाप्रयत्नेन वदन्ति—भो भद्राः! सद्धर्म
साधनयोग्यत्वमात्मनोऽभिलषद्भिर्भवद्भिस्तावदिदमादौ कर्तव्यं भवति यदुत "सेवनीया दयालुता न विधेयः परपरिभवः मोक्तव्या को-
"पनता वर्जनीयो दुर्जनसंसर्गः विरहितव्याऽलीकवादिता अभ्यसनीयो गुणानुरागः न कार्या चौर्यबुद्धिः त्यजनीयो मिथ्याभिमानः
"वारणीयः परदाराभिलाषः परिहर्तव्यो धनादिगर्वः विधेया दुःखितदुःखत्राणेच्छा पूजनीया गुरवः वन्दनीया देवसङ्घाः सन्माननीयः
"परिजनः पूरणीयः प्रणयिलोकः अनुवर्तनीयो मित्रवर्गः न भाषणीयः परावर्णवादो ग्रहीतव्याः परगुणाः लज्जनीयं निजगुणविकत्थनेन

"स्वल्पमपीयोऽपि सुकृतं भवितव्यं परार्थे समर्पणीयः प्रथमं विशिष्टलोकः अनुमोदनीयो धार्मिकजनः न विधेयं परमर्मोद्घट्टनं भवि-
"तव्यं सुवेषाचारैः", ततो भविष्यति भवतां सर्वलोकोपादेयसद्धर्मानुष्ठानयोग्यता, तत्र च "गृहस्थैः सद्भिः परिहर्तव्योऽकल्याणमित्रयोग
"सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि न लङ्घनीयोचितस्थितिः अपेक्षितव्यो लोकमार्गः माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमेतत्तन्त्रैः प्रवर्तितव्यं
"दानादौ कर्तव्योदारपूजा भगवतां निरूपणीयः साधुविशेषः श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं भावनीयं महायत्नेन अनुप्रेक्षितव्यो विधानेन
"अवलम्बनीयं धैर्यं पर्यालोचनीयाऽऽयतिः अवलोकनीयो मृत्युः भवितव्यं परलोकप्रधानैः सेवितव्यो गुरुजनः कर्तव्यं योगपट्टदर्शनं
"स्थापनीयं रूपादि मानसे निरूपयितव्या धारणा परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः प्रयतितव्यं योगशुद्धौ कारयितव्यं भगवद्भुवनबिम्बादिकं
"लेखनीयं भुवनेशवचनं कर्तव्यो मङ्गलजपः प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं गर्हितव्यानि दुष्कृतानि अनुमोदयितव्यं कुशलं पूजनीया मन्त्रदेवताः
"श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि भावनीयमौदार्यं वर्तितव्यमुत्तमज्ञातेन" ततो भविष्यति भवतां साधुधर्मानुष्ठानपात्रता । ततः "कृतपरिहर-
"न्याय्यसङ्गमैः परतत्त्वमोचिभिर्मौनमुनिभिः सद्भिर्भवद्भिरासेवनीया ग्रहणशिक्षा विधेया वस्तुतत्त्वजिज्ञासा मृगणीयः स्वपरसमय-
"विना परिहृतनिरतेन पराशयवेदिना यथार्थाभिमानेन गुरुणा सम्यक् सम्बन्धः प्रयोक्तव्यो गुरुविनयः अनुष्ठेया विधिपरता कर्तव्यो
"मण्डलीनिपाताभावो यत्नः अनुपालनीयो ज्येष्ठक्रमो भजनीयोचितासनक्रिया हेयो विकथादिविक्षेपः शीलनीया भावसारमुपयोगप्रथा
"तथा शिक्षणीयोऽर्थं श्रवणविधिः आचरणीया बोधपरिणतिः भवितव्यं सम्यग्ज्ञानस्थिरतायां कार्यं मनःस्थैर्यं न विधेयो ज्ञानमदोत्सेकः
"नोपहसनीयाल्पप्रज्ञाः परित्याज्यो विवादः परिहार्यमयुक्तयुक्तिमेलकरणं न विधेयः कुपात्रे शास्त्रनियोगः" ततो भविष्यति भवतां पात्रता
अनुमता गुणवतां विमलवती समस्तीः श्लाघ्यो भावसम्पदा, ततः संजनिष्यन्ते भवतामुपरि समस्ता गुरवः संप्रदापयिष्यन्ति सिद्धा

म्ससाराणि प्रवर्तिष्यन्ते भवतां शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणा इति । तथा "अनुशीलनीया भवद्भिरासेवना शिक्षा समाचरणीया प्रत्युपेक्षणा भजनीया प्रमार्जना आस्थेयाऽऽलोचना सात्म्यीभावमानेतव्या भिक्षाचर्या प्रतिक्रमणीयेर्यापथिका शिक्षणीया निर्दोषभोजनता विधेया भाजनपरिकर्मणा अनुष्ठेयाऽऽसनिकी विचारचर्या निरीक्षणीयाः स्थण्डिलभूमयः कर्तव्यं समस्तो पाधिविशुद्धमावश्यक प्रवर्तितव्य यथागमं कालग्रहणे आम्नातव्यः पञ्चविधः स्वाध्यायः तवेयमभ्यसनीया प्रतिदिनक्रिया पालनीयः पञ्च विधोऽप्याचारः आसेवनीये चरणकरणे अङ्गाङ्गीभावमानेयोऽप्रमादः स्वायत्तमत्तुमविहारितया" ततो भविष्यति भवतां मोक्षगमनम् इत्येवं गुणसन्दोहः, तदेवं ते भगवन्तः सन्मुनयो दर्शयन्ति तेभ्यः सद्गुणार्जनोपाय, ततस्ते तदुपदेशेन भद्रकमभ्यमिथ्यादृष्टयः सत्त्वा यन्ते विचक्षणाः भवन्ति परीक्षका मार्गमानां विलक्षयन्ति कुधर्मासेवने रमन्ते सद्गुणोपादाने वदन्ति च—यथा भो भो भट्टारकाः!— अपायहेतुभिर्भोगैर्धूर्तोपकारेश्च तीर्थिकैः । एतावन्तं चयं कालं, वञ्चिता मोहदोषतः ॥ २८६ ॥ अधुना बोधिता धन्यैर्भवद्भि रतिवत्सलैः । यथाऽऽदिष्ट करिष्यामो, नाथाः! सर्वं पुरोदितम् ॥ २८७ ॥ यथोपबृंहिता धन्यैः, साधुभिस्ते मनोहरैः । यथोपदिष्ट कुर्वाणा, जायन्ते स्वार्थसाधकाः ॥ २८८ ॥ २। यथा च स चारुर्गतो भूतसमीप इव गमनार्थमामन्त्रय, भूतेनोक्त—वयस्य! किं गतेन करिष्यसि? रमणीयतममिदं द्वीपं, तथाहि—पश्य पश्य भूषितमिद पद्मखण्डैर्विराजित गृहोद्यानैर्मण्डित सरोवरैः कमनीयं विहार-रामैः स्पृहणीय सुगन्धिपुष्पभरेण पुरामिर्वनराजिभिरभिलषणीयं सुन्दरलोकयोगेन तदत्र मानयित्वा सुचिरं सुखं पश्चात्स्वस्थानगमन करिष्यामो, न च मे गमन रोचते, भूत च मयाऽपि बोहित्थ पर्यन्ते, यतो दर्शितं तत्कालवशकुतूहलपूरित चारोः, अनेन संभावा चारो करुणा, एतत्सोपदेशो यथा—न युक्त ते काननादिकौतुक कुलानि च त्वया गृहीतानि रत्नपुञ्जा तत्परित्यज्य मित्रामूनि गृहाण

"अर्थव्ययभीरोऽपि सुकृतं यतितव्यं परार्थे समापणीयः प्रथमं विशिष्टलोकः अनुमोदनीयो धार्मिकजनः न विधेयं परमर्मोद्घट्टनं भवि
"तव्यं सुवेषाचारैः", ततो भविष्यति भवतां सर्वसौख्यसद्धर्मानुष्ठानयोग्यता, तत्र च "गृहस्थे सद्भिः परिहर्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः
"सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि न लङ्घनीयोचितस्थितिः अपेक्षितव्यो लोकमार्गः माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमेतत्तन्त्रैः प्रवर्तितव्यं
"दानादौ कर्तव्योदारपूजा भगवतां निरूपणीयः साधुविशेषः श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं भावनीयं महायत्नेन अनुष्ठेयस्तदर्थो विधानेन
"अवलम्बनीयं धैर्यं पर्यालोचनीयाऽऽयतिः अवलोकनीयो मृत्युः भवितव्यं परलोकप्रधानैः सेवितव्यो गुरुजनः कर्तव्यं योगपट्टदर्शनं
"स्थापनीयं तद्रूपादि मानसे निरूपयितव्या धारणा परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः प्रयतितव्यं योगशुद्धौ कारयितव्यं भगवद्भुवनबिम्बादिकं
"लेखनीयं भुवनेशवचनं कर्तव्यो मङ्गलजपः प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं गर्हितव्यानि दुष्कृतानि अनुमोदयितव्यं कुशलं पूजनीया मन्त्रदेवताः
"श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि भावनीयमौदार्यं वर्तितव्यमुत्तमज्ञानेन" ततो भविष्यति भवतां साधुधर्मानुष्ठानभाजनता । ततः "कृतवद्भिर
"स्वजनसङ्गत्यागे परद्रव्यमोक्षिभिर्मोक्षमुनिभिः सद्भिर्भवद्भिरासेवनीया महत्त्वशिक्षा विधेया वस्तुतत्त्वजिज्ञासा भजनीयः अप्रमत्तत्वे
"विना परीक्षितनिरवद्येन पराक्षयवेदिना यथार्थाभिमानेन गुरुणा सम्यक् सम्बन्धः प्रयोक्तव्यो गुरुविनयः अनुष्ठेया विधिपरता कर्तव्यो
"अध्ययनीयपथाभावो यत्नः अनुपालनीयो व्रतकल्पो भजनीयोचितावसनक्रिया हेयो विकथादिविक्षेपः शीलनीया भावसारमुपयोगप्रथा
"भवता विधेयनीयोऽयं भवयविधिः आचरणीया योगप्रतिपत्तिः पठितव्यं सम्यग्ज्ञानक्षिरवायां कार्यं मनःस्थैर्यं न विधेयो ज्ञानमूर्त्सेकः
"नोपहसनीयाऽल्पप्रज्ञाः परित्याज्यो विवादः परिहार्यं मनुष्यदुर्विभेदकरणं न विधेयः कुपात्रे शास्त्रनियोगः" ततो भविष्यति भवतां पात्रता
बहुमता गुणस्थानानां विमलपदवी क्षपणीः क्षामणो भावसम्पदा, ततः संजनिष्यन्ते भवतामुपरि सप्रसादा गुरवः संप्रदापयिष्यन्ति सिद्धा

न्तराणि प्रवर्धिष्यन्ते भवतां शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणा इति । तथा "अनुशीलनीया भवद्भिरासेवना "शिक्षा समाचरणीया प्रत्युपेक्षणा भजनीया प्रमार्जना सात्मीभावमानेतव्या भिक्षाचर्या प्रतिक्रमणीयैर्यापथिका दातव्याऽऽलोचना "क्षपणीया निर्दोषभोजनता विधेया भाजनपरिकर्मणा अनुष्ठेयाऽऽगमिकी विचारचर्या निरीक्षणीयाः स्थण्डिलभूमयः कर्तव्य समस्तो "पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिविधिः यथागमं कालग्रहणे आभाव्यः पञ्चविधः स्वाध्यायः सदैवमभ्यसनीया प्रतिदिनक्रिया पालनीयः पञ्च "विधोऽप्याचारः आसेवनीये चरणकरणे अनुस्ताडीभावमानेयोऽप्रमादः स्थातव्यमप्रतिबद्धविहारितया" ततो भविष्यति भवतां मोक्षगमनम- "नयो गुणसन्दोहः, यदेव ते भगवन्तः सन्मुनयो दर्शयन्ति तेभ्यः सद्गुणार्जनोपायं, यतस्ते तदुपदेशेन मन्दकमभ्यमिथ्यादृष्टयः संजा यन्ते विचक्षणाः भवन्ति परीक्षका मार्गज्ञानां विरज्यन्ति कुधर्मासेवने रमन्ते सद्गुणोपादाने वदन्ति च—यथा भो भो भट्टारकाः !— अपायहेतुभिर्भोगैर्धूर्ताकारैश्च तीर्थिकैः । एतावन्तं वयं कालं, वञ्चिता मोहदोषतः ॥ १८६ ॥ अधुना बोधिता धन्यैर्भवद्भि रवितत्सकैः । यथाऽऽदिष्टं करिष्यामो, नाथाः ! सर्वं पुरोदितम् ॥ १८७ ॥ यथोपदर्शिता वाक्यैः, साधुभिस्ते मनोहरैः । यथोपदिष्ट कुर्वाणा, जायन्ते स्वार्थसाधकाः ॥ १८८ ॥ २। यथा च स चारुर्गतो मूढसमीप इव गमनार्थमामन्त्र्य, मूढेनोक्तं—वयस्य ! किं गतेन करिष्यसि ? रमणीयतममिदं द्वीपं, तथाहि—पश्य पश्य भूषितमिव पद्मखण्डैर्विराजित गृहोद्यानैर्मण्डित सरोवरैः कमनीयं विहारा रामैः सुखर्णोर्यं सुगन्धिपुष्पभरधुराभिर्वनराजिभिरभिलषणीय सुन्दरलोकयोगेन तदत्र मानयित्वा सुचिरं सुखं पश्चात्स्वस्थानगमन करिष्यामो, न च मे गमनं रोचते, मूढं च मयाऽपि बोहित्थ वर्तते, ततो दर्शितं तस्कापलककलाविपूरितं चारोः, अनेन सञ्जाता चारोः करुणा, एवमस्योपदेशो यथा—न युक्तं ते काननादिकौतुककुसुमानि च त्वया गृहीतानि रमणुक्ता तत्परित्यज सित्रामूनि गृहाण

“अर्तव्यसनीयोऽपि सुकृतं भवितव्यं परार्थे संभाषणीयः प्रथमं शिष्टलोकः अनुमोदनीयो धार्मिकजनः न विधेयं परमर्मोद्घट्टनं भवि
“तव्यं सुवेषाचारैः”, ततो भविष्यति भवतां सर्वलोकप्रसन्नमार्गानुष्ठानयोग्यता, तत्र च “गृहस्थैः सद्भिः परिहर्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः
“सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि न लङ्घनीयोचितस्थितिः अपेक्षितव्यो लोकमार्गः माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमेतत्तन्त्रैः प्रवर्तितव्यं
“दानादौ कर्तव्योदारपूजा भगवतो निरूपणीयः साधुविशेषः श्रोतव्यं विधिना धर्मशास्त्रं भावनीयं महायत्नेन अनुप्रेक्षणीयस्तदर्थो विधानेन
“अवलम्बनीयं धैर्यं पर्यालोचनीयाऽऽयतिः अवलोकनीयो मृत्युः भवितव्यं परलोकप्रधानैः सेवितव्यो गुरुजनः कर्तव्यं योगपट्टदर्शनं
“स्थापनीयं तद्रूपादि मानसे निरूपयितव्या धारणा परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः प्रयतितव्यं योगशुद्धौ कारयितव्यं भगवद्भुवनबिम्बादिक
“लेखनीयं भुवनेशवचनं कर्तव्यो मङ्गलजपः प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं गर्हितव्यानि दुष्कृतानि अनुमोदयितव्यं कुशलं पूजनीया मन्त्रदेवता
“श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि भावनीयमौदार्यं वर्तितव्यमुत्तमज्ञातेन” ततो भविष्यति भवतां साधुधर्मानुष्ठानभाजनता । ततः “कृतमिह
“न्यग्रसङ्गाभ्यां परदत्तभोजिभिर्धर्मधनैर्मुनिभिः सद्भिर्भवद्भिरासेवनीया महत्क्षिप्ता विधेया वस्तुतत्त्वजिज्ञासा मृगणीयं स्वपरतत्त्वे
“विना परिग्रहनिरपेक्षेण पराक्रमयतिना यथार्थाभिमानेन गुरुणा सम्यक् सम्बन्धः प्रयोक्तव्यो गुरुविनयः अनुप्रेक्ष्या विधिपरता कर्तव्यो
“मण्डलीनिषद्याचारो यत्नः अनुपालनीयो ज्येष्ठक्रमो भवनीयोचितासनक्रिया देयो विकथादिविक्षेपः शीलनीया भावसारमुपयोगप्रधा
“नता क्षिपणीयोऽल्प भक्षणविधिः आचरणीया बोधपरिणतिः यतितव्यं सम्यग्ज्ञानस्थिरतायां कार्यं मनःस्थैर्यं न विधेयो ज्ञानस्योत्सेकः
“नोपहसनीयाऽल्पप्रज्ञाः परिभाव्यो विचारः परिहार्यमनुमानयुक्तिभेदकरणं न विधेयः कुपात्रे शास्त्रनियोगः” ततो भविष्यति भवतां पात्रता
श्रुतस्य शुभध्यानो विग्रहवती प्रमभीः साम्यो भावसम्पदां, ततः संपत्स्यन्ते भवतामुपरि समस्ता गुरवः समर्पयिष्यन्ति सिद्धा

स्वसाराणि प्रवर्धिष्यन्ते भवतां शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणा इति । तथा "अनुशीलनीया भवद्भिरासेवना
"शिक्षा समाचरणीया मत्युपेक्षणा भवनीया प्रमार्जना सात्म्यीभावमानेतव्या भिक्षाचर्या प्रतिक्रमणमीर्यापथिका दातव्याऽऽलोचना
"शिक्षणीया निर्दोषभोजनता विधेया भाजनपरिकर्मणा अनुष्ठेयाऽऽगमिकी विचारचर्या निरीक्षणीयाः स्थण्डिलभूमयः कर्तव्यं समस्तो
"पाधिविशुद्धमावश्यक प्रवर्तितव्य यथागमं कालग्रहणे आश्रयणम्यः पञ्चविध स्वाध्याय तदेवमभ्यसनीया प्रतिदिनक्रिया पालनीयः पञ्च
"विधोऽप्याचारः आसेवनीये परमकरणे नवाङ्गीभावमानेयोऽप्रमादः स्वावश्यमस्तुभविहारितया" ततो भविष्यति भवतां मोक्षगमनम
इत्यो गुणसन्दोहः, तदेव ते भगवन्तः सम्मुनयो दर्शयन्ति तेभ्यः सद्गुणार्जनोपाय, ततस्ते तदुपदेशेन मद्रकमभ्यमिष्याष्टपः सद्या
यन्ते विचक्षणाः भवन्ति परीक्षका भावरत्नानां विदधन्ति कुधर्मसेवन रमन्ते सद्गुणोपादाने वदन्ति च—यथा भो भो भट्टारकाः!—
मपायहेतुभिर्भोगैर्धूर्ताकारैश्च तीर्थिकैः । प्रतारिता वयं कालं, यावत्ता मोहदोषतः ॥ १८६ ॥ अधुना बोधिता यूयमेवाद्भि
रविवत्सकैः । यथाऽऽदिष्टं करिष्यामो, भावाः! सर्वं पुरोदितम् ॥ १८७ ॥ यथोपदृष्टिता यायैः, साधुभिस्ते मनोहरैः । यथोपदिष्ट
कुर्वाणा, जायन्ते स्वार्थसाधकाः ॥ १८८ ॥ १। यथा च स पारगौतो मूढसमीप इव गमनार्थमामन्त्रण, मूढेनोक्त—वयस्य! किं गतेन
करिष्यसि? रमणीयतममिद द्वीप, तथाहि—पश्य पश्य भूपितमिव पद्मखण्डैर्विराजित गृहोद्यानैर्मण्डितं सरोवरैः कमनीयं विहारा
रामैः सुहृदोर्य सुगन्धिपुष्पभरबन्धुराभिर्वनराजिभिरभिरूपणीयं सुन्दरलोकयोगेन तदत्र मानयित्वा सुचिरं सुख पश्चात्तस्यानगमन
करिष्यामो, न च मे गमन रोचते, सुख च मयाऽपि बोद्धित्य वर्तते, ततो दर्शित तत्काचमणकलावितपूरित चारोः, अनेन सद्यावा चारोः
करणा, इत्यस्योपदेशो यथा—न युक्तं ते काननादिषौत्सुक्य कुरत्नानि च त्वया गृहीतानि रत्नबुद्धा तत्परित्यज्य मिथ्रामूनि गृहाण

सुखानि तेषां चेव समर्प्य, ततः प्रद्विष्टो मूढः प्राह च—नाहं यास्यामि गच्छ त्वं यत्र प्रवृत्तोऽसि, मित्रमेव न भवसि त्वं मम यस्त्वं मामकीनानि भास्वररत्नानि लुम्पसि अलं मे तावकरत्नैः पुनः कृपयोपदेशदानोद्यतो निराकृतप्रसरः, अनेन सत्कारणारोपणापनीयोऽयमिति निश्चयः, तथा भद्र! यन्माहुन धारकल्पा भगवन्तो मुनयो मूढस्थानीयेभ्यो दूरभव्येभ्योऽभव्येभ्यो वा यदा धर्मोपदेशायाभिमुखीभवन्ति तदा तेषां तत्समीपगमनमभिधीयते, ततः कुर्वन्ति ते सद्धर्मदेशनया मोक्षगमनं प्रति तदामन्त्रणं, ततस्ते मूढकल्पा अन्धाः सत्त्वेवमाचक्षीरन्—भद्रन्त भो भोः श्रमणकाः! किं तेन यौष्माकीणेन मोक्षेण न प्रयोजनं?, भवतामप्यलमेव तत्र गमनेन, तथाहि—न तत्र खाद्यं नो पेयं, न विलासा न भूषणः। न विम्बः प्रियसंयोगो, न कान्ताः कमलेक्षणाः ॥ २८९ ॥ न भाषणं सखि मन्म, न गीतं नापि नर्तनम्। न हास्यं हन्त यौष्माकः, स मोक्षो ननु बन्धनम् ॥ २९० ॥ अमन्दरमणीयोऽयमस्माकं प्रतिभासते। सदा संसारविस्तारमिथ्याहारविपाकः ॥ २९१ ॥ यतोऽत्र सन्ति संसारे, खाद्यपेयविभूतयः। विलासा भूषणं नाथ, कामदाः पद्मलोचनाः ॥ २९२ ॥ यथेष्टचेष्टाचारित्वं, गीतनृत्यविलेपनम्। विद्यते सर्वमेवात्र, सम्पूर्णं सुखसाधनम् ॥ २९३ ॥ अतो विमुच्य संसारं, सुखसम्भारपूरितम्। भो भोः श्रमणका! यूयं, न मोक्षं गन्तुमर्हथ ॥ २९४ ॥ वरमत्र मोक्षवादेन, संसारे सुन्दरा स्थितिः। मानयित्वा सुखं दिव्यं, पश्चान्मोक्षे गमिष्यथ ॥ २९५ ॥ यश्च सद्धर्मवादोऽयं, भवतां मनसि स्थितः। अस्माकमपि सोऽस्त्येव, किं यूयं धर्मगर्विताः? ॥ २९६ ॥ तथाहि—भूरिभिर्मेषवैश्छागैः, शूकरैश्च निपातितैः। कुर्महे चण्डिकादीनां, वयं रुधिरतर्पणम् ॥ २९७ ॥ गोमेधमश्वमेधं च, नरमेधं तथाऽऽदरैः। कुर्मो मार्गं चतुर्वेदं, भूतग्रामविमर्दनम् ॥ २९८ ॥ कुयोनिवर्तिनः सत्त्वान्, निःशेषान् दुःखपीडितान्। हत्वा हत्वा वयं दुःखान्मोचयामः कृपापराः ॥ २९९ ॥ पापर्द्धौ जीवसङ्घातं, मारयित्वा दिने दिने। मांसावारितसत्रं च,

प्रपञ्चमो यथेच्छया ॥ ४०० ॥ इत्येवमादिभिर्धर्मैः, कथञ्चनतया मम । भावत्कस्यास्य धर्मस्य, न शक्तिं वत कुर्महे ॥ ४०१ ॥ त-
दिद मूढकल्पानामभव्यानां प्रभाषितम् । आकर्ण्य मुनयो धीरा, जायन्ते करुणापराः ॥ ४०२ ॥ ततस्ते तत्प्रबोधार्थमित्थमाचक्षते
सदा । भो भद्रा ! नैव युक्तोऽयं, भवतां भवविभ्रमः ॥ ४०३ ॥ "एते हि भोगा नागानां, भोगा इव सुदारुणाः । पर्यन्तकटुकाः पा-
"पातीव्रसङ्कवर्धनाः ॥ ४०४ ॥ नार्योऽनार्या कृताकार्याः, सर्वमायाकरण्डिकाः । विकासनृत्यसङ्गीतविब्बोकाद्या विडम्बनाः ॥४०५॥
"मोक्षस्तु भद्राः सततमनन्तानन्दसुन्दरः । जीवस्यात्मव्यवस्थान, निःशेषक्लेशवर्जितः ॥ ४०६ ॥ मनुष्यभवमासाद्य, तन्न युक्त भवा
"दृशाम् । तायपेयविकासादिकौतुकेनास्य बन्धनम् ॥ ४०७ ॥ एतेषु सक्ता भोगेषु, कतिचिद्दिनभाविषु । मा मोक्षमार्गमुत्सृज्य, गच्छ-
"तानन्तके भवे ॥ ४०८ ॥ धर्मानुष्ठानयुक्त्या च, यदिदं मारणादिकम् । मूय कुरुत तत्पाप, सर्वं संसारवर्धनम् ॥ ४०९ ॥ कुशास्त्र-
"कारमोहेन, मा कुरुध्वमदेहसम् । अहिंसात्मक धर्म, कुरुध्व दोषसूदनम् ॥ ४१० ॥" अथेदृशं मुनीनां ते, वाक्यमाकर्ण्य पेशलम् ।
मूढकल्पा जनास्तूर्ण, प्रद्वेषं यान्ति पापिनः ॥ ४११ ॥ वदन्ति च ततो रुष्टा, भो भो श्रमणका ! वयम् । शिक्षणीया न युष्माभिर्यात
यात यथाऽऽगताः ॥ ४१२ ॥ भोगाभिन्दथ पापिष्ठा, धर्म चास्मभिप्रेतितम् । ततो नो वैरिका यूयं, नेष्यामोऽन्तकमन्दिरम् ॥ ४१३ ॥
ईदृशोऽपीह सद्धर्मो, यद्ययं वो न रोचते । ततोऽस्तु युष्मदीयेन, धर्मेण पुरुषाधमाः ! ॥ ४१४ ॥ निवेदयत सद्धर्मं, निजेभ्य श्रमणा
धमाः । आत्मीयजनकेभ्यो भो, न त्वस्माकं प्रयोजनम् ॥ ४१५ ॥ सविद मूढजन्तूनां, वाक्यमाकर्ण्य साधव । अमुः करुणया याव
भूयो धर्मस्य लक्षणम् ॥ ४१६ ॥ तावत्ते निवर्त्य श्रुत्वा, दष्टौष्ठा रक्तलोचनाः । गाढप्रहारदानादौ, प्रवर्तन्ते न संशय ॥ ४१७ ॥ तद-
स्याचारस वीक्ष्य, मुनयो मूढचेष्टितम् । निश्चिन्वन्ति निजे चित्ते, नैते साध्याः कथञ्चन ॥ ४१८ ॥ ततस्ते साधवस्तेषामुपेक्षां कुर्वते

सुखानि तेषां चेव लभ्यन्, ततः प्रद्विष्टो मूढः प्राह च—नाहं यास्यामि गच्छ त्वं यत्र प्रभूतोऽसि, मित्रमेव न भवसि त्वं न यस्त्व ग्रामकीणामपि भास्वररत्नानि दूषयसि अत्र मे तावकलापैः पुनः कृपयोपदेशदानोद्यतो निराकृतमाह, अनेन सद्भावमार्गेऽप्रज्ञापनीयोऽयमिति निश्चय, तथा भद्र! धनवाहन चाण्डकल्पा भगवन्तो मुनयो मूकस्थानीयेभ्यो दूरभव्येभ्योऽभव्येभ्यो वा यदा धर्मोपदेशाय समभिमुखीभवन्ति तदा तेषां तत्समीपगमनमभिधीयते, ततः कुर्वन्ति ते सद्धर्मदेशनया मोक्षगमन प्रति तदाभस्थ्य, ततस्ते मूककल्पा जन्तवः तस्यैवमाचक्षीरन्—यदुत भो भोः श्रमणकाः! किं तेन यौष्माकीणेन मोक्षेण नः प्रयोजनं?, भवतामप्यलमेव तत्र गमनेन, यथाहि—न यत्र खाद्यं नो पेयं, न विलासा न भूषणम्। न स्त्रियः प्रियसंयोगो, न कान्ताः कमलेक्षणाः ॥ ३८९ ॥ न मात्स्य सखि भस्म, न गीतं नापि नर्तनम्। न हास्य इत्य यौष्माकः, स मोक्षो ननु बन्धनम् ॥ ३९० ॥ अत्यन्तरमणीयोऽयमस्माकं प्रतिभासते। सदा संसारविस्तारप्रियाकारविपातकः ॥ ३९१ ॥ यतोऽत्र सन्ति संसारे, खाद्य पेय विभूतयः। विलासा भूषण नाथ, कामदाः पद्मलोचनाः ॥ ३९२ ॥ यथेष्टचेष्टाचारित्व, गीतं नृत्यं विलेपनम्। विद्यते सर्वमेवात्र, सम्पूर्ण सुखसाधनम् ॥ ३९३ ॥ अतो विमुच्य संसारं, सुखसम्भारपूरितम्। भो भोः श्रमणका! मूक, न मोक्षं गन्तुमर्हथ ॥ ३९४ ॥ सदृशं मोक्षवादेन, संसारे सुन्दरा स्थितिः। मानयित्वा सुखं नित्यं, पश्चान्मोक्षे गमिष्यथ ॥ ३९५ ॥ यश्च सद्धर्मवादोऽयं, भवतां मनसि स्थितः। अस्माकमपि सोऽस्त्येव, किं भूय धर्मगर्विता? ॥ ३९६ ॥ तथाहि—भूरिभिर्मेदिपैश्छागैः, भूतैश्च विधाविधैः। कुर्महे चण्डिकादीनां, यत्र रुधिरतर्पणम् ॥३९७॥ गोमेधमश्वमेधं च, नरमेधं तथाऽपरैः। कुर्मो मार्गं चतुर्वेदं, भूतधात्वमर्दनम् ॥ ३९८ ॥ कुयोनिवर्तिनः सत्त्वान्, निःशेषान् दुःखपीडितान्। हत्वा हत्वा वयं तु प्राप्नोमः कृपापराः ॥ ३९९ ॥ पापकर्मा जीवसङ्घात, मारयित्वा दिने दिने। मांसादारितसत्र च,

प्रवध्यामो यथेच्छया ॥ ४०० ॥ इत्येवमादिभिर्धर्मैः, कृतकृत्यतमा वयम् । भावत्कस्मात्र धर्मेऽस्य, न शर्म तत्र कुर्महे ॥ ४०१ ॥ त
मिदं मूढकल्पानामस्माकं प्रभाषितम् । आकर्ण्य मुनयो धीरा, जायन्ते करुणापराः ॥ ४०२ ॥ ततस्ते तत्प्रबोधार्थमित्थमाचख्युरे
तदा । भो भद्रा! नैव युक्तोऽयं, भवतां भवविभ्रमः ॥ ४०३ ॥ "एते हि भोगा नागानां, भोगा इव सुदारुणाः । पर्यन्तकटुकाः पा
"पाशीप्रसंक्लेशवर्धनाः ॥ ४०४ ॥ नार्योऽनार्याः कृताकार्याः, सर्वमायाकरण्डिकाः । विलासनृत्यसङ्गीतविब्बोकाद्या विडम्बनाः ॥४०५॥
"मोक्षस्तु भद्राः सततमनन्तानन्दसुन्दरः । जीवस्यासम्यवस्थानं, निःशेषक्लेशवर्जितः ॥ ४०६ ॥ मनुष्यभवमासाद्य, तत्र युक्तं भवा
"दृशाम् । खाद्यपेयविलासादिकौतुकेनात्मवञ्चनम् ॥ ४०७ ॥ एतेषु सक्ता भोगेषु, कतिचिद्दिनभाविषु । मा मोक्षमार्गमुत्सृज्य, गच्छ
"तानन्तके भवे ॥ ४०८ ॥ धर्मानुष्ठानयुक्ता च, यदिदं मारणादिकम् । यूयं कुरुथ तत्पापं, सर्वं संसारवर्धनम् ॥ ४०९ ॥ कृत्यास्त
"कारमोहेन, मा कुरुध्वमतो रक्षम् । अहिंसाद्यात्मकं धर्मं, कुरुध्वं दोषसूदनम् ॥ ४१० ॥" अथेदत्त मुनीनां ते, वाक्यमाकर्ण्य पेशलम् ।
मूढकल्पा जनास्तूर्णं, प्रद्वेषं यान्ति पापिनः ॥ ४११ ॥ वदन्ति च ततो रुष्टा, भो भोः श्रमणका! वयम् । शिक्षणीया न युष्माभियात
यात यथाऽऽगताः ॥ ४१२ ॥ भोगाभिनन्दा पापिष्ठा, धर्मं चाऽऽत्मभिपेविसम् । ततो नो वैरिका यूयं, नेष्यामोऽन्यत्कमन्दिरम् ॥ ४१३ ॥
ईदृशोऽपीह सद्धर्मो, यद्वय वो न रोचते । ततोऽस्तं युष्मदीयेन, धर्मेण पुरुषाधमाः! ॥ ४१४ ॥ निवेदयत सद्धर्मं, निर्गम्यः श्रमणा
धमाः । आत्मीयजनकेभ्यो भो, न स्वसाकं प्रयोजनम् ॥ ४१५ ॥ तदिदं मूढमन्तूनां, वाक्यमाकर्ण्य साधवः । भूयः करुणया याव
द्भूयो धर्मस्य लक्षणम् ॥ ४१६ ॥ तावत्ते नितरां क्रुद्धा, दष्टौष्ठा रक्तलोचनाः । गाढप्रहारदानादौ, प्रवर्तन्ते न संशयः ॥ ४१७ ॥ तत
स्तादृशं वीक्ष्य, मुनयो मूढचेष्टितम् । निबिम्बन्ति निजे चित्ते, नैते साध्याः कथञ्चन ॥ ४१८ ॥ ततस्ते साधवस्तेषामुपेक्षां कुर्वते

मतः । न भवेद्दोहने चित्तं, स ध्याभावे विनिश्चिते ॥ ४१९ ॥ ४ । ततो यथा चारुपदस्य कुर्वतोस्तयोर्योग्यद्विजयोर्भुवे रमाना यो- ह्रिस्ये द्वे तौ च गृहीत्वा गतमारः समान आशाद्वयोऽपि राजविनियोगेन सततमनन्यानन्दभाजन, मूढस्तु कुमरिवकुटेन मरणविना निष्फा सिततसो द्वीपात् मक्षितः समुद्रे सजातोऽनन्तदुःखमरभाजनमिति, तथा भद्र! घनवाहन मुनीनामुपदेशः पूर्वोक्त कुर्वतां तेषा एतवि रवाना भद्रकमम्यमिष्यादृष्टीनां च क्रमेण कृते पारमेश्वरे प्रवचने वर्तन्ते ज्ञानादयो गुणाः भ्रियन्ते तेषामात्मानः ततः सर्वेऽपि ग च्छन्ति परमपदे आनन्दे सततमनन्तानन्दसन्दोहभाजो ज्ञानदर्शनचारित्रविनियोगेन, मूढमन्तवस्तु कुर्वन्ति पापमरपूरणं, ततः कुस्तैव स्वकर्मपरिणामभुजा निर्वासन्ते मनुष्यभवरत्नद्वीपात् पात्यन्ते संसारसागरे भवन्ति निरन्तरदुःखसम्भारभाजनमिति । ततश्च—एवं कथानकस्यास्य, ज्ञात्वा भावार्थमीदृशम् । मर्म मम्रचित्तो जातः, साधुर्मो घनवाहन ॥ ४२० ॥ एवंविधविवेकस्य, कारण कर्मवारणे । को वा कथानक मत्र, श्रुते नो मुनिर्वा भवेत् ? ॥ ४२१ ॥ रत्नद्वीपसमे प्राप्त, मानुष्ये भद्र भाविकैः । रत्नैभूत्वाऽऽत्मबोधित्य, को न गच्छेन्निर्वाणम् ? ॥ ४२२ ॥ ततो मद्रेऽप्रदीप्तसद्भेते दक्षिणमीदृशमकलङ्कवचनमाकर्णयतो मे जृम्भिता मही कर्मस्थितिः सजातो भद्र कमारः मुसायिव मनागकलङ्क वचन तथापि स्थितोऽहं मौनेनैव, प्राप्तोऽकलङ्कः सहितो मया पद्ममुनिसमीप वन्दितो मुनिवरः धर्म- लाभितोऽनेन कृता प्रस्तावना पृष्ट सोऽपि वैराग्यकारण, मुनिनोक्तं—नगरी संसृतिर्नाम, मत्स्यनादिरनन्तिका । तदीयो दुःखमार्गो मे, जातो वैराग्यकारणम् ॥ ४२३ ॥ अकलङ्केन चिन्तित—अरघट्टः पुरा चाहग्, मुनिना मे निवेदितः । मून मो दुःखमार्गोऽपि, तादृशो- ऽय भविष्यति ॥ ४२४ ॥ ततः मोक्तमकलङ्केन—निवेदय महाभाग!, मममेतं स्फुटाक्षरैः । दुःखमार्गः स संजातो, यस्ते वैराग्यकार णम् ॥ ४२५ ॥ मुनिराह महाभागो, सोऽत्र ध्यानस्थितो मुनि । मनेन जन्मसन्तानः, स दृष्टो मम दर्शितः ॥ ४२६ ॥ चित्राश्रितः

सुवीर्थाभिर्मवावपनर्पक्तिभिः । भूरिभि सुदाहुःखाद्यैः, स पण्यैः परिपूरितः ॥ ४२७ ॥ माकुलैः सञ्चमोपुत्रैः, क्रयविक्रयतत्परैः । जीवनाभिज्ञकैर्नित्य, स्वार्थनिष्ठैर्निषेवितः ॥ ४२८ ॥ पुण्यापुण्याभिधानैश्च, लोकोत्कृष्टविसम्भ्रमैः । मूल्यैः पण्यानि लभ्यन्ते, स्वानुरूपाणि तत्र भोः ! ॥ ४२९ ॥ नित्य व्यवहरन्येष, सर्वोऽपि पादितापमः । अपुण्यजीवरोगैश्च, भूरिभिः परिपूरित ॥ ४३० ॥ महामोहाभिधानोऽत्र, यत्राधिकृत लभ्यते । कामकोपादयस्तस्य, पुरुषाः परिचारकाः ॥ ४३१ ॥ घोरैर्जीवाघमर्णानां, कर्मास्यैर्धनिकैः सदा । क्रियते परपथ यत्र, दुर्मोचमतिदारुणम् ॥ ४३२ ॥ सदा कलकलायन्ते, लोकोद्वेगविधायिनः । मत्ताः कषायनामानस्तत्र दुर्दान्तदिम्भकाः ॥ ४३३ ॥ अनेकाश्चर्यभूयिष्ठो, विचित्रः सदवाकुलः । नान्यो जगति तादृशो, हट्टमार्गो नरोत्तम ! ॥ ४३४ ॥ केवल ते मया लोका, यावत्सम्यग् निरीक्षिताः । दृष्टे सर्वेऽपि विज्ञातास्तावदत्यन्तदुःखिताः ॥ ४३५ ॥ अथानेन महाभाग !, मुनिना मम लोचने । अञ्जिते कृपया भद्र !, ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥ ४३६ ॥ ततो विमलदृष्टिस्ताहृशो दूरे व्यवस्थितः । मया हट्टास्समुत्तीर्णो, मठो नाम शिवालयः ॥ ४३७ ॥ तमानन्दा मया दृष्टाः, सततानन्दसुन्दराः । सद्बुद्धिलक्षा भो लोका !, मुक्ताख्या मायवर्जिताः ॥ ४३८ ॥ ततो मे तत्र तपमो, हट्टमार्गे गृहत्तमः । तस्तो भद्र ! निर्वेदो, मठोन्मायक एव च ॥ ४३९ ॥ तदशार्थं महाभागो, मुनिः प्रोक्तस्तदा मया । हट्टमेनं परित्यज्य, मठे यामः शिवालये ॥ ४४० ॥ यतः—नास्ति मे क्षणमप्यत्र, रतिर्नाथ ! सुदारुणे । हट्टमार्गे प्रजामोऽद्य त्वया सार्धं शिवालये ॥४४१॥ मुनिनोक्त यदीच्छा ते, मठे गन्तुं नरोत्तम ! । गृहाण मामिकां दीक्षां, ततोऽस्य मापिकामरम् ॥ ४४२ ॥ मयोक्त दीयतां नाथ !, मा विलम्बो विधीयताम् । ततो दत्ता ममानेन, दीक्षेय पारमेश्वरी ॥ ४४३ ॥ उपदिष्टं च कर्तव्य, मठप्रापणकारणम् । अहं तदेव कुर्वाणो, भद्र ! तिष्ठामि साम्प्रतम् ॥ ४४४ ॥ मकलङ्केनोक्त—कीदृशं नाथ ! कर्तव्य, गुरुणा ते निवेदितम् ।

सद्गुलेन मठे तत्र, भगवन्गन्तुमिच्छसि ? ॥ ४४५ ॥ मुनिनोक्तं—आकर्णय—अभिहितोऽहं भगवता तदाऽनेन गुरुणा यथा सौम्य ! अस्ति शासकूवतः परिग्रहे कायाभिमानः पञ्चाक्षनामगवाक्षो निवासार्थमपवरक , तत्र च कार्मणशरीरनामकमपवरकगवाक्षाभिमुखक्षयोपशमा भिधानरम्य गर्भगृहकं, तत्र च चित्ताभिधानमतिवरक वानरकीवरूप ?, मयोक्तं—बाढं समस्तमस्ति, गुरुणोक्तं—यद्येव ततो गृहीते नैव तेन सर्वेण शासकूवता प्रव्रजितम्य यतो न शक्यते तत्काण्ड एव विरहयितु, मयोक्तं—यदाज्ञापयति नाथ , ततः प्रव्रजितोऽहं, गुरुणोक्तं—भद्र ! स्वयत वानरकीवरूप सुरक्षितं कर्तव्य, मयोक्तं—यदादिशन्ति नाथा, केवलं कुतो भयमिति कथयन्तु भगवन्तः, ततोऽभिहितमनेन मुनिना—यथा "सौम्य ! विद्यन्ते तत्र गर्भगृहके वसतोऽस्य भूयांसः सदुपद्रवकारिणो यतो मध्यते बराककिर् "कषायनामकैर्मद्रुकमूषकैः तरलतरीक्रियते नोकषायाख्यैर्वेगपटुभिर्दुष्टवृश्चिकैः ग्लायते संज्ञाख्याभिः क्रूरमाजारीभि विलुप्यते रागद्वेष "नामकाभ्यां मीषणकोलेम्बुराभ्यां मस्यते महामोहसंज्ञेनातिरौद्रमार्जारेण उपताप्यते परीषहोपसर्गैः सतत त्रोटयद्भिर्दंशमशकैः सिद्ध "तीक्ष्यते दुष्टाभिसन्धिवितर्कांख्यैर्मत्कुणैर्भयपङ्क्तिमत्कुणैः उपद्रूयते ऽलीकचिन्तासंज्ञाभिगृहकोकिलिकाभिः अभिभूयते दारुणाकारैः "प्रमादकञ्चुकैः दुयते ऽनवरतमविरतिनाम्नाऽनामकेन पद्पविकाजालेन अन्धीक्रियते मिथ्यादर्शनसंज्ञेनातिघोरेण तमसा" तदेवमते भद्र ! तत्र गर्भगृहके ससदस्यामिनोऽस्य वराकस्योपद्रवविशेषाः, तदिदमेवमादिभिरुपद्रवैरुपद्रुत चित्ताभिधानं वानरकीवरूपं वेदनातुर निःसहतया निपतति रौद्रध्यानाभिधाने सुमतिविवादिराज्ञारकुण्डे कथितुनः भविष्यनेकदुविकल्पाख्यज्वालमुआलावनकृण्डे गौरवे गाढमार्तध्यानाभिधाने महाबिले, तदिदमप्रमत्तेन भवता सतत रक्षणीय, मयोक्तं—भदन्त ! कः पुनरस्य रक्षणोपायः, गुरुराह—भद्र ! ये ते विद्यन्ते तत्रापवरके पञ्च गवाक्षास्तेषां द्वारेषु विषयनामानः पञ्चैव विषवृक्षा विद्यन्ते, ते चातिदारुणाः स्वरूपेण, यतस्ते नाम-

ऽमीषु वानरलीवरूपं विह्वलयन्ति गन्धेनापि मूर्च्छयन्ति दर्शनेनापि तरलयन्ति स्मरणेनापि मारयन्ति स्पर्शनेनास्वादनेन च पुनर्जीवितं निपातयन्ति तत्र किमाश्चर्यं?, ते चासामीभिरुपद्रवैरुपद्रुतस्य विह्वलतया सहकाराम्रका इति प्रतिभासन्ते, ततो निर्गच्छसि तदभिमुख वैर्गवाक्षैर्गोचराभिलापेण रम्यते सुन्दराणीति बुद्ध्या केषुचित्स्कन्धेषु विद्वेष्टि न सुन्दराणीति बुद्ध्या कानिचित्स्कन्धानि भ्रमसि लो ल्पातिरेकेणानवरतं तच्छाखान्तरेषु लुठति चित्तमर्कटमित्रयसवे तदधोवर्तिनि पत्रफलकुसुमरजःकचवरे, ततस्तेषु परिभ्रमतित्रसु सुप्तस्य कर्मपरमाणुनिचयसंज्ञेन तदीयफलकुसुमरेणुना आर्द्रीक्रियते भोगस्नेहनामकेन मकरन्दबिन्दुनिस्यन्दसन्दोहसर्पेण, ततो मया गृहीत तद्वचनभावार्थेन चिन्तितं—अये! वृक्षास्तावदेते सामान्यरूपाः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा भविष्यन्ति कुसुमानि पुनरपरिस्फुटास्तद्विशेषाः फलानि तु परिस्फुटास्तद्विशेषा एव शाखान्तराणि पुनस्तदाधारवस्तुस्थानानि, तेषु च सञ्चरण चित्तवानरलीवरूपस्य लोकोपचारेणाभिहित, यदाहुर्लौकिकाः 'अमुत्र गतं मे चित्त'मिति, एवं च स्थिते गुरुः मयैव तावत्समस्तं मुनिना भाषितं भोत्स्यते चेति विचिन्त्य मया-ऽभिहितं—भदन्त! ततस्ततः?, गुरुराह—ततो भद्र! भोगस्नेहार्द्रीभूते कर्मपरमाणुप्रचयरजोगुण्ठिते तत्र चित्तवानरलीवरूपशरीरे चिक्कणतया स्थैर्यस्य भेदकतया विषरूपस्वादस्य रजसः संजायन्ते पतानि सपद्यते जर्जरीभावः व्याप्यते समन्तान्मध्यदेशः पूर्यते विषरूपेण तेन रजसा, ततो भजते कृष्णरूपतां तच्छरीरं कथित्स्वपयते रक्तीभावः, ततस्तत्र गर्भगृहके वर्तमान तदेषां सर्वेषां पूर्वोक्तानामुपद्रवविशेषाणां गम्य भवसि ततो बाध्यते नानाविधं वैरिति, तदेष भद्र! तस्य चित्तवानरलीवरूपस्य संरक्षणोपायो यदुत—गृहीत्वा स्वयीर्यसंयमात्महस्तेन दृढमप्रमादनामकं वज्रदण्डं तचित्तवानरलीवरूपं वैराग्यनामकैर्गवाक्षैर्विषयवृक्षफलभक्षणस्पृहया निर्गच्छदास्फोट्य निषारणीयं तथापि चटुलतया निस्सरत्पुनः पुनराक्रोशनीय, ततो निषिद्धबहिर्गमनस्य निवृत्तसहकाराम्रकाभिलाषस्य तस्य शोषमुपयातस्तसौ

यदुक्तेन मठे तत्र, भगवन्नानुमिच्छसि ? ॥ ४४५ ॥ मुनिनोक्तं—आकर्णय—अभिहितोऽहं भगवता तदाऽनेन गुरुणा यथा सौम्य ! अस्ति तावकूवतः परिमठे कमामिधानः पञ्चाक्षनामगवाक्षो निवासार्थमपवरक, तत्र च कार्मणशरीरनामकमपवरकगवाक्षाभिमुखक्षयोपशमाभिधानरम्य गर्भगृहकं, तत्र च चित्ताभिधानमविरलं वानरकीवरूप !, मयोक्तं—बाढं समस्तमस्ति, गुरुणोक्तं—यद्येवं ततो गृहीत नैव तेन सर्वेण तावकूवता प्रव्रजितव्य यतो न शक्यते तत्काण्ड एव त्यजयितुं, मयोक्तं—यदाज्ञापयति नाथः, ततः प्रव्रजितोऽहं, गुरुणोक्तं—भद्र ! त्वया वानरकीवरूप सुरक्षित कर्तव्यं, मयोक्तं—यदादिशति नाथः, केवलं कुतो भयमिति कथयन्तु भगवन्त, ततोऽभिहितमनेन मुनिना—यथा "सौम्य ! तिष्ठन्ते यत्र गर्भगृहके वसतोऽस्य भूयांसः स्वल्पद्रवकारिणो यतो भक्ष्यते बराकमिद 'कषायनामकैर्मूदुकमूषकैः तरक्षरीक्ष्यते नोकषायाख्यैर्बम्पद्भिर्दुष्टमूषिकैः प्राप्यते संज्ञाख्याभिः क्रूरमार्जारीभिः विलुप्यते रागद्वेष "नामकाभ्यां मीषणकोलेन्दुराभ्यां ग्रसते महामोहसंज्ञेनातिरौद्रमार्जारेण उपताप्यते परीषहोपसर्गाख्यैः सततं त्रोटयद्भिर्दंशमशकैः सिद्ध "छीक्ष्यते दुष्टाभिसन्धिवितर्काख्यैर्मनुष्यैर्भक्षयद्भिर्मत्कुणैः उपद्रूयतेऽशोकचिन्तासंज्ञाभिर्गृहकोकिलिकाभिः अभिभूयते दारुणाकारैः "प्रमादकृकलासैः लुप्यतेऽनवरतमविरतिनाम्याखुनामकेन पद्पतिकागच्छेन भ पीडियते मिथ्यादर्शनसंज्ञेनातिघोरेण तमसा" तदेवमते भद्र ! तत्र गर्भगृहके सततवासिनोऽस्य बराकस्योपद्रवविशेषाः, तदिदमेवमादिभिरुपद्रवैरुपद्रुतं चित्ताभिधानं वानरकीवरूपं वेदनाभरनिःसहतया निपतति रौद्रध्यानाभिधाने प्रज्वलितसातिरागारकुण्डे कदाचित्पुनः मविक्षसनेककुविकल्पाल्पजलावन्तुजालाबनरमुखे भीषणे गाढमार्तध्यानाभिधाने महाबिले, तदिदमप्रमत्तेन भवता सतत रक्षणीय, मयोक्तं—भदन्त ! कः पुनरस्य रक्षणोपायः, गुरुराह—भद्र ! ये ते तिष्ठन्ते तत्रापवरके पञ्च गवाक्षास्तेषां द्वारेषु विषयनामानः पञ्चैव विषवृक्षा तिष्ठन्ते, ते चातिदारुणाः स्वरूपेण, यतस्ते नाना-

अज्ञानीभावमाधत्ते, सा भोगक्लेशवासना । ततः संसारसंस्काराः, सञ्जायन्ते क्षतोपमाः ॥ ४५७ ॥ ततोऽत्र भ्रमयन्त्येव, सर्वे रागाद्युपद्रवाः । मूषकादिसमास्ते च, विवर्धन्ते प्रतिक्षणम् ॥ ४५८ ॥ भूयश्च प्रेर्यमाणं तैर्विषयेष्वेव धावति । पुनः कर्म पुनः क्लेशः, पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः ॥ ४५९ ॥ चक्रस्थलपर्यन्ते, सर्वेवविषचक्रके । निमग्न दुःखकोटीभिश्चित्तमेवात्र मुह्यते ॥ ४६० ॥ चक्रदण्डः समाम्नातो, गुरुणाऽनेन रक्षकः । गृहीतो वीर्यहस्तेन, सोऽप्रमादोऽत्र सत्तमः ॥ ४६१ ॥ तदेव करिष्यामि, सततं सुसमाहितः । गुरुदिष्टप्रमादस्य, तस्मादनुशीलनम् ॥ ४६२ ॥ चतुर—"सर्पोऽयमिन्द्रजाल वा, हरिश्चन्द्रपुरं तथा । शरीरं "भूयसो भोगा, यच्चान्यस्त्वनात्मिकम् ॥ ४६३ ॥ एव निश्चित्य सद्बुद्ध्या, भावयिष्यामि तत्त्वतः । ततः संसारजालान्ते, चित्तमन्यो "निवर्त्स्यति ॥ ४६४ ॥ मनाग्भ्यासयोगेन, निस्सरश्च पुनः पुनः । आत्मन्येवाऽऽश्रित्य चित्त, धारयिष्यामि यत्नतः ॥ ४६५ ॥ तथेव "शिक्षयिष्यामि, चित्त किं निर्गतेन ते ? । बहिः स्वरूपे तिष्ठ त्वं, येनानन्दे निलीयसे ॥ ४६६ ॥ संसारस्ते बहिर्भारः, स च दुःखम "राकरः । मोक्षः स्वरूपेऽस्मान, स चानन्दभराकरः ॥ ४६७ ॥ ततो बहिर्न युक्त ते, निर्गन्तु सुखलिप्सया । गुरुमात्मन्यवस्थान, "चित्त ! हित्वा बहिर्भ्रमम् ॥ ४६८ ॥ आत्मन्यवस्थितस्येह, जन्मन्येव सुखं तव । बहिर्निःसरतोऽत्रैव, दुःखं सततं दुष्यसे ॥ ४६९ ॥ "यथाहि—सर्वं दुःखं परायत्तं, सर्वमात्मवशं सुखम् । बहिश्च ते पराधीनं, स्वाधीनं सुखमात्मनि ॥ ४७० ॥ अन्यच्च—य "दात्मनो बहिर्भूतं, वस्तुजातं तव प्रियम् । तत्सर्वं नश्वरं दुःखं, निस्स्वभावं मलाविलम् ॥ ४७१ ॥ मत्सत्यं हे चित्त, ! किं "वृथा परिताम्यसि । किं वाऽऽत्मानं विमुच्यैव, बभ्रमीषि पुनः पुनः ॥४७२॥ यदि स्यात्सुन्दरं किंचिद्बहिस्तस्य निवारणम् । समवेतच "दुःखा(सौख्या)य, तच चित्त ! न विद्यते ॥ ४७३ ॥ धावमानं पुनर्घोरैर्भोगाङ्गारैर्निवारितम् । आत्मन्यानन्दरूपे त्वं, सुधा ताम्यसि चारि

मोगस्नेहसपावितः शरीरार्द्रीभावः, ततः शुष्कशरीरस्परिसटिष्यति प्रविश्य तत्रत्यो रोक्ष्यन्ति क्षतानि भपयासमति भजरता न भवि
ष्यति छुप्यता मिनश्यति रक्तीमावः भाविर्भविष्यति भवता सपत्सवे शरीरस्यैव समविष्यते दर्शनीयता, ततो न प्रभविष्यन्ति ते
प्रागुपवर्णिताः तत्रापि गर्भगृहके वर्तमानस्य तस्योपद्रवविशेषाः, किं च तेऽपि मार्जारमूषककोलोन्दुरादयस्तस्य वानरलीबरूपस्योपद्रव
कारिणः समस्तास्तेनैवाप्रमादनाम्नकेन भवता चूर्णनीयाः, ततस्तेषु सचूर्णितेषु गर्भगृहकमागसचारिष्णु वानरलीबरूप निवाध
भविष्यति, ततश्च भद्र ! तस्य संरक्षणोपायः, मयोक्त—भवन्त ! तस्कि पुनस्तेनेत्थ संरक्षितेन मम सेत्स्यति प्रयोजनं ?, भगवताऽभिहित
—ननु भद्र ! यन्मद्वतोऽभिप्रेत शिवालयमठगमन तस्यैतदेव चित्तवानरलीबरूपं सुसरक्षितमुपायभूत वर्तते ॥ यतदि रक्षित सम्यक्,
समवत्येव कारणम् । निर्बाध गमनस्योच्चैः, पुरुषस्य शिवाख्ये ॥ ४४६ ॥ तदभावत्र ते भद्र !, शिवाख्ये गमने मति । अस्य सरक्षणेऽ-
प्येवं, ततो यत्न समाचर ॥ ४४७ ॥ किं च—यावत् चहुकालीन, वर्तते भद्र ! दुस्तरम् । अस्य वानरलीबस्य, चरित ते मयोदितम्
॥ ४४८ ॥ तथाहि—तवैरुपद्रवैर्गाढ, पीडित मूषकादिभिः । वेदनाविह्वलं मोहादासवकेषु प्रवर्तते ॥ ४४९ ॥ ततश्च—शुष्यते रमसा
भूयो, मियते सन्ततिम्नुभिः । ततः क्षतानि जायन्ते, बाध्यते मूषिकादिभिः ॥ ४५० ॥ ततस्तद्भक्षणासक्ता, वर्धन्ते मूषिकादयः ।
भूयश्च बाध्यमान तैरासवकेष्वेव धावति ॥ ४५१ ॥ पुनर्गुण्ठनमेवास्य, च्छेदेन पुनरार्द्रता । पुनश्च क्षतसम्पत्तिः, पुन सर्वेऽप्युपद्रवाः
॥ ४५२ ॥ तदेव चक्रके भद्र !, गतमेतदनिर्ष्ठिते । न मुक्त्वा तावदीं रक्षां, निर्बाधं दृश्य जायते ॥ ४५३ ॥ ततो योऽयं मया प्रोक्तो,
ह्युः सरक्षणे वरः । स एव भवता नित्यमनुष्ठेयो नरोत्तम ! ॥ ४५४ ॥ ततो गृहीतभावार्थस्तदाऽहं पर्यचिन्तयम् । इद मया भदन्तेन,
प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥४५५॥ प्रभुत—रागाद्युपद्रुत चित्त, विषयेषु प्रवर्तत । तेषु चास्य प्रवृत्तस्य, वर्धते कर्मसञ्चयः ॥४५६॥

॥ ४९० ॥ तथैव नियमाज्जीवो, जीवन्नपि न वा भवेत् । यतः केवलिनो जीवा, भावचित्तविवर्जिताः ॥ ४९१ ॥ एवं च स्थिते—
मिथ्याज्ञानविपर्यासाज्जीवो रागादिसंगतः । सततं दुःखरूपेषु, सुखबुद्ध्या प्रवर्तते ॥ ४९२ ॥ ततः कर्माणुसङ्घातमादत्ते स्नेह
तन्तुभिः । ततो जन्मान्तरारम्भ, विषये तद्वशात्स्वयम् ॥ ४९३ ॥ पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिसन्ततिः । पुनश्च विषयाकांक्षा,
पुनस्ते स्नेहतन्तवः ॥ ४९४ ॥ पुनश्च कर्मग्रहणं, पुनर्जन्मसमुद्भवः । पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिकः क्रमः ॥ ४९५ ॥ एव या-
वदविच्छिन्नं, विपर्यासादिचक्रकम् । जीवस्य वर्तते तावदनिष्टा भवपद्धतिः ॥ ४९६ ॥ इदमप्यूहितं नाथ!, मया चक्रकमञ्जसा । यु
क्तमेतद्युक्तं वा, ब्रूत विज्ञातुमर्हथ ॥ ४९७ ॥ मुनिनोक्तं महाभाग!, युक्तमेतन्न संशयः । कथं वाऽयुक्तमेतारो, भवन्तीह भवाटवाः ?
॥ ४९८ ॥ मयाऽपीदं ततो भ्रात, गुरुभिश्च समर्थितम् । अनिष्टभवे हेतुर्विपर्यासादिचक्रकम् ॥ ४९९ ॥ अत एव परित्याज्यो, वि
पर्यासो विवेकिना । तदुच्छेदे प्रलीयन्ते, निर्मूलत्वेन शेषकाः ॥ ५०० ॥ अयमेव विवेकोऽत्र, तत्त्वज्ञानमिदं मतम् । अयं निराश्रवो
धर्मो, यद्विपर्यासवर्जनम् ॥ ५०१ ॥ अविपर्यस्तचित्तस्य, पुरुषस्याप्रमादिनः । मनोविकारजालं हि, स्वसाक्षिकं प्रकाश्यते
॥ ५०२ ॥ ततो विविक्तमात्मानं, सदानन्दं प्रपश्यतः । नास्य संजायते द्वेषो, दुःखे नापि सुखे स्पृहा ॥ ५०३ ॥ निरभिष्वङ्ग-
चित्तोऽसौ, ततः कर्माणुसञ्चयम् । विषयस्नेहमुक्तत्वान्न विधत्ते कदाचन ॥ ५०४ ॥ ततोऽसौ बीजविरहान्निःशेषत्वाद्भवान्तरम् । मु
क्तमारभेतात्मक विनिवर्तते ॥ ५०५ ॥ एवं च स्थिते—यत्कर्मैव धनं मोक्षं, यदेव भवचक्रकम् । अनयोर्यो विजानाति, प्रवर्त
ननिवर्तने ॥ ५०६ ॥ स किं शरीरे भोगेषु, धने वा भवभाविनि । अन्यत्र वा पदार्थे भो!, रागं कुर्यात्कदाचन ? ॥ ५०७ ॥ युग्मम् ।
यश्च सांसारिके कुर्यात्पदार्थे चित्तनिर्वृतिम् । नासावपि तत्त्वतो भ्रात, तेनेदं चक्रकद्वयम् ॥ ५०८ ॥ यतः—फलं ज्ञानक्रियायोगे,

"वम् ॥ ४७४ ॥ अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दमपूरिते । चित्त! कृत्वाऽऽत्मनि स्थानं, भव शीघ्रं निराकुलः ॥ ४७५ ॥ अत्र
"ये शिशवो नित्यं, भोगयोग्यस्य लोपने । समाते जायतेऽत्यय, रजःपातो न संशयः ॥ ४७६ ॥ ततश्च—सङ्क्लिष्टवासनाजन्या, भवा
'रोहन्ति दारुणाः । ततस्तापनिर्मुक्त, न त्वं भोगेषु रम्यसे ॥ ४७७ ॥ पिष्टीभावा बुधैः प्रोक्ता, भोगाभिघातेषु ते । अत एव मु
"हूर्तं ते, मासन्ते स्वास्थ्यकारिणः ॥ ४७८ ॥ मुहूर्तसुखमाधाय, ते भुक्ताः क्षतवर्धनम् । संक्लिष्टवासनाध्यानाज्जनयन्ति सुदा
"रुणम् ॥ ४७९ ॥ इतरथा—सक्लिष्टवासनोन्मुक्ते, स्वे तव शरीरके । निर्बाधे सततानन्दे, तदिच्छैव न जायते ॥ ४८० ॥ तदेव
"सलिले चित्त!, हित्वा सर्वं बहिर्भ्रमम् । स्वरूपे सतत तिष्ठ, कीन द्वन्द्व निराकुरम् ॥ ४८१ ॥" एव च शिक्षयित्वैव, चित्त सम्यग्
विभावतः । मयैव रक्षणोद्युक्तो, भविष्यामि समाहित ॥ ४८२ ॥ तथाऽनुशिष्टस्यैवास्यैव दुरात्मकम् । ममाभिराकरिष्यामि, बहिर्भो-
म्सुनः पुनः ॥४८३॥ कषायनोकषायाख्या, ये चोपद्रवकारिणः । मम तानपि निःशेषान्, हनिष्याम्यप्रमादतः ॥ ४८४ ॥ विद्योदयेन
ध्यानेन, प्रतिपक्षनिषेवया । यास्यन्ति प्रलय सर्वे, तूर्णं रागाद्युपद्रवाः ॥ ४८५ ॥ ततस्तेषु प्रलीनेषु, भविष्यन्ति न बाधकाः ।
परीषहोपसर्गाख्या, बहिर्भावतुपद्रवाः ॥ ४८६ ॥ आत्मारामं ततो भूत्वा, भविष्यमबहिर्भ्रमम् । रागाद्युपद्रवैर्मुक्त, मोक्षायैव घटिष्यते
॥ ४८७ ॥ एव परिकल्प्याद, हृदये सुविनिश्चितः । तदेव कुर्वमनिशमेष तिष्ठामि साम्प्रतम् ॥ ४८८ ॥ अकलङ्केनोक्त—साधु भ
दन्त! साधु सम्यग् कृत भवन्तेन गुरुवचनं सम्यक् धारण्य तदाचरन मयाऽपीव चक्क भगवन्निर्वेदविवमाकर्ण्यान्यदपि चक्रमभ्यू
हित तदुक्तमुक्त वाऽऽकर्णयतु भगवान्, मुनिनोक्तं—निवेदयतु भद्रः, अकलङ्केनोक्त—चित्तमेतद् द्विधा तावद्व्यतो भावतस्तथा ।
आप पर्याप्तिकुम्भस्याऽऽगृहीतं पुद्गलात्मकम् ॥ ४८९ ॥ तत्र प्रयुक्ते जीवस्य, भावचित्त निगद्यते । तत्कार्मणशरीरस्य, तेन भिन्न निवेद्यते

|| ४९० || तस्मिंश्च नियमाज्जीवो, जीवन्निव न वा भवेत् । यतः केवलिनो जीवा, मावस्थितिविवर्जिताः || ४९१ || एव च स्थिते—
मिथ्याज्ञानविपर्यासाज्जीवो रागादिसंगतः । सतत दुःखरूपेषु, सुखबुध्या प्रवर्तते || ४९२ || ततः कर्माणुसम्बन्धमावर्ते जीव
जन्तुभिः । ततो जन्मान्तरारम्भ, विमते तस्मादयम् || ४९३ || पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिसम्भविः । पुनश्च विषयाकांक्षा,
पुनस्ते स्नेहबन्धनाः || ४९४ || पुनश्च कर्मग्रहण, पुनर्जन्मसमुद्भवः । पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिकः क्रमः || ४९५ || एव या
वदविच्छिन्न, विपर्यासादिचक्रकम् । जीवस्य वर्तते तावदनिष्ठा भवपद्धतिः || ४९६ || स्वसम्भूतिरिदं नाथ', मया चक्रकमञ्जसा । मु
कमेतच्च मुक्त वा, यूयं विज्ञातुमर्हथ || ४९७ || मुनिनोक्त महाभाग', मुक्तमेतन्न संशयः । कथं वाऽमुक्तवेत्तारो, भवन्तीह भवादृशाः ?
|| ४९८ || मयाऽपीद ततो ज्ञात, गुरुभिश्च समर्थितम् । मनिष्ठितभवे हेतुर्विपर्यासादिचक्रकम् || ४९९ || अत एव परित्याज्यो, वि
पर्यासो विवेकिना । तदुच्छेदे प्रक्षीयन्ते, निर्मूलत्वेन शेषकाः || ५०० || अयमेव विवेकोऽत्र, तत्त्वज्ञानमिद मतम् । अय निराश्रवो
धर्मो, यद्विपर्यासवर्जनम् || ५०१ || अविपर्यस्तचित्तस्य, पुरुषस्याप्रमादिनः । मनोविकारजालं हि, स्वस्मादेव प्रकाश्यते
|| ५०२ || ततो विविक्तमात्मानं, सदानन्द प्रपश्यतः । नास्य संजायते द्वेषो, दुःखे नापि सुखे स्पृहा || ५०३ || निरभिष्वङ्ग-
चित्तोऽसौ, ततः कर्माणुसञ्चयम् । विषयसेवदुःखत्वात् विधत्ते क्वाचन || ५०४ || ततोऽसौ जीववीर्यशक्तिभिःस्वस्वास्थ्यान्तरम् । सु
खमात्मेवात्मकं विनिवर्तते || ५०५ || एवं च स्थिते—यत्कर्मबन्धन मोक्ष, यश्चेव भवचक्रकम् । अनयोर्यो विजानाति, प्रवर्त
ननिवर्तने || ५०६ || स किं शरीरे भोगेषु, धने वा भवभाविनि । अन्यत्र वा पदार्थे भो', राग कुर्यात्कदाचन ? || ५०७ || दुर्गमम् ।
यत्र सांसारिके कुर्यात्पदार्थे चित्तनिर्वृतिम् । भावापि तत्त्वतो ज्ञात, तेनेद चक्रकद्वयम् || ५०८ || यतः—फल ज्ञानक्रियायोगे,

"तम् ॥ ४७४ ॥ अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दप्रपूरिते । चित्त! कृत्वाऽऽत्मनि स्थानं, भव शीघ्र निराकुलः ॥ ४७५ ॥ अत्र
"ये विरक्तो मित्र, भोगलेशस्य लोपणे । सजाते जायतेऽस्य, रागाभावो न संशयः ॥ ४७६ ॥ तथा—संक्लिष्टवासनाजन्या, अन्या
'रोचन्ति दारुणाः । तदभ्यासविनिर्मुक्त, न त्वं भोगेषु रज्यसे ॥ ४७७ ॥ किम्पाकफला मुधैः प्रोक्ता, भोगाभिलाषलवेषु ते । अत एव दु
"र्दर्शं ते, मासस्ते स्वास्थ्यकारिणः ॥४७८॥ मुहूर्तसुखमाधाय, ते मुक्ताः क्षयवर्धनम् । सक्लिष्टवासनाध्यानाज्जनयन्ति सुदा
"रुणम् ॥ ४७९ ॥ इत्येवं—सक्लिष्टवासनोन्मुक्ते, स्थिते तव शरीरके । निर्वाणे सततानन्दे, तदिच्छैव न जायते ॥ ४८० ॥ तत्र
"सक्लिते चित्त !, हित्वा सर्वं बहिर्भ्रमम् । स्वरूपे सतत तिष्ठ, लीन एव निराकुलम् ॥ ४८१ ॥" एष च शिक्षयित्वेदं, चित्त सम्यग्
निशानतः । अस्यैव तत्समोपुक्तो, भविष्यामि समाहित ॥४८२॥ यथाऽनुशिष्टमप्येतदल्मेव दुरात्मकम् । यथाभिप्रकरिष्यामि, यद्विधा
स्पुनः पुनः ॥४८३॥ कषायनोकषायाद्या, ये चोपद्रवकारिणः । अस्य तानपि निःशेषान्, हनिष्याम्यप्रमादतः ॥ ४८४ ॥ विवेकोदयेन
ध्यानेन, प्रतिपक्षनिषेवया । यास्यन्ति प्रलयं सर्वे, तूर्णं रागाद्युपद्रवाः ॥ ४८५ ॥ ततस्तेषु प्रलीनेषु, भविष्यन्ति न बाधकाः ।
परीषहोपसर्गाद्या, बहिरङ्गाद्युपद्रवाः ॥ ४८६ ॥ आत्मारामस्ततो भूत्वा, भवित्वमपश्चिमम् । रागाद्युपद्रवैर्मुक्त, मोक्षायैव घटिष्यते
॥ ४८७ ॥ एवं परिकल्प्यात्र, हृदये सुविनिश्चितः । तदेव कुर्वन्निःशमेष तिष्ठामि साम्प्रतम् ॥ ४८८ ॥ अकलङ्केनोक्तं—साधु भ
दन्त' साधु सम्यग् युक्तं यदन्तेन गुरुवचन सम्यक् चारभ्य तथाचरण मयाऽपीद चरकं भगवन्निवेदितमाकर्ण्यान्यदपि प्रकरमप्र्
ष्टव्यमुक्त चाऽऽकर्णयतु भगवान्, मुनिनोक्तं—निवेदयतु भद्रः, अकलङ्केनोक्तं—चित्तमेतद् द्विधा तावदभ्यतो भावतस्तथा ।
भाव पर्याप्तिमुक्तस्याऽगृहीतं पुद्गलात्मकम् ॥ ४८९ ॥ तत्र प्रयुक्ते जीवस्तु, भावचित्त निगद्यते । तत्कार्मणशरीरस्थं, तेन भिन्न निवेद्यते

क्रमसङ्ख्येयाः समस्ता अप्यसंख्येया विद्यन्ते अध्यवसायस्थानाभिधानाः पत्रिकाः, तया प्रथमया विरचितास्तावदसङ्ख्येयाः प्रथमाः कृष्ण-वर्णाः एवं द्वितीयया द्वितीया नीलाभभासाः तृतीयया तृतीयाः कपोताभाः चतुर्थ्या च चतुर्थ्यस्तेजोभास्वराः पञ्चम्या पञ्चम्यो धवल-पद्मच्छायाः षष्ठ्या षष्ठ्यो विशुद्धस्फटिकनिर्मलाभाः पत्रिका इति, तत्राद्ययोषिद्विरचितनिर्मितासु पत्रिकासु वर्तमानं वानरलीलारूपमुत्प्लुत्यो-त्प्लुत्य बलात् धावति गवाक्षकैस्तेष्वाम्रकेषु लुठति तत्र रजःकचवरे गुण्ठ्यते तेन रजसा सिच्यते तैः स्नेहनिष्यन्दबिन्दुभिः, ततस्तथा गुण्ठितसर्वशरीरभूतं तेषां मूषकमार्जारकोलोन्दुरादीनां सर्वेषामुपद्रवविशेषाणामभिभवनीयं भवति, ततः कश्चिद्भटमिव लक्ष्यते कश्चिद् भू-र्जितमवसितस्ते कश्चित्क्रूरतां धारयति सर्वथा सततसंतप्त एवास्ते इति तथापि चानन्तदुःखपरम्पराकारणं संपद्यते, तस्मात्त्वया वानरलीव ताभ्यः पत्रिकाभ्यो निःसारणीयमुपर्यारोहणीयं, ततश्चतुर्थयोषिन्निर्मितासु तासु पत्रिकासु प्रतिक्षणमारोहतस्तस्य वानरलीलरूपस्य स्तोकीभविष्यति सन्तापः प्रतनुतां यास्यन्ति बाधाकारिणस्ते मूषकादयः क्षुद्रोपद्रवाः मनाक् स्वल्पीभविष्यत्याम्रकाभिलाषः ततः सोप-मीपमुपयास्यति सा मकरन्दनिष्यन्दार्द्रता परिक्षटिष्यति किञ्चिद्रजः ततो लप्स्यते मनाक् सुखासिकां भविष्यति तदपि तेजोभास्वरं पर्येन, तत पञ्चमाङ्गनाघटितपत्रिकासु भवता तदारोहणीयं, तासु चारोहतस्तस्य स्तोकतरीभविष्यति संतापः प्रतनुतरा भवि-ष्यन्त्युपद्रवाः स्वल्पतरः संपत्स्यतेऽपथ्याम्रकाभिलाषः शुष्कतरं भविष्यति शरीरकं निपतिष्यति तस्मात् मधुरो रेणुनिचयः, ततो मनागस्य रोत्स्यन्ति क्षुधाविशेषाः आस्कन्दिष्यतीव महाह्लादं धारयिष्यति धवलतां वर्धिष्यति शरीरेण भविष्यति विशालतरं, ततः षष्ठ-वनिताविरचितपत्रिकासु भवता तदारोहणीयं, तासु चारोहतस्तस्य स्तोकतमीभविष्यति दुःखासिका प्रलयं यास्यन्त्युपद्रवविशेषाः अत्यन्तस्वल्पतमीभविष्यत्याम्रकाभिलाषः त्रुटिष्यति रजःकचवरलोठनेच्छा सर्वथा शोषमुपयास्यति मकरन्दरसार्द्रता, ततः शुष्कतरशरीरयष्टि

सर्वमेवोपपद्यते । तयोरपि च तन्मात्रा, परमार्थेन नान्यथा ॥ ५०९ ॥ साध्यमर्थं परिज्ञाय, यदि सम्यक् प्रवर्तते । ततस्तत्साधयत्येव, तथा चाह महामतिः ॥ ५१० ॥ सम्यक्प्रवृत्तिः साध्यस्य, प्राप्त्युपायोऽभिधीयते । तत्प्राप्त्युपायत्व, न तस्य उपपद्यते ॥५११॥ असाध्यारम्भिमस्तेन, सम्यग्ज्ञानं न जातुचित् । साध्यानारम्भिणश्चेति, प्रथमन्योऽन्यसमयम् ॥ ५१२ ॥ अत एवागमज्ञस्य, या क्रिया सा क्रियोच्यते । आगमज्ञोऽपि यस्तस्यां, यथाशक्त्या प्रवर्तते ॥ ५१३ ॥ चिन्तामणिस्वरूपज्ञो, दौर्गत्योपद्रुतो न हि । तत्प्राप्त्युपायवैचित्र्ये, सतस्त्यत्र प्रवर्तते ॥५१४॥ न चासौ तत्स्वरूपज्ञो, योऽन्यत्रापि प्रवर्तते । मालतीगन्धगुणविद्भ्रमे न रमते धृतिः ॥५१५॥ यदेव स भवाभावान्मुक्तिमाप्नोति सत्वरः । अलमत्र प्रसङ्गेन, सम्यगभ्यूहितं त्वया ॥ ५१६ ॥ तदिद गुरुभिभद्र', कथम्य मे निवेदितम् । तस्य वानरजीवस्य, सत्त्व परित्राणम् ॥ ५१७ ॥ अकलङ्केनोक्त—केनोपायेन तमाय', वानरं नयनक्षमम् । शिवालयमठे तत्र, गुरुणा प्रतिपादितम् ॥ ५१८ ॥ मुनिनोक्त—आकर्णयतु भद्रः, प्रोक्तोऽद्य तदाऽनेन भगवता यथा—सौम्य ! तत्र गर्भगृहके लेश्या इति गोत्रेण प्रसिद्धाः कृष्णनीलकपोततैजसीपद्मशुक्लनामानः षडङ्गनाः परिपालिका विद्यन्ते, ताश्च तत्रैव गर्भगृहके समुत्पन्नास्तस्यैव समृद्धा सर्वदैवास्यैव चोपचयकारिण्यो वर्तन्ते, तासां च मध्ये प्रथमास्तिस्रो नार्यो यथाक्रमं क्रूरतमक्रूरतरक्रूराः स्वरूपेण कारणमनर्थपरम्पराणां प्रभूतास्तस्य वानरजीवरूपस्याशुभतरविशेषभूतास्तस्य गर्भगृहकस्य धारिकास्तदात्मन्यैव दुःखसङ्कुले दृढमार्गे निवारिकाः मठगमनस्य, उपरितनाः पुनर्भद्र ! तिस्रो नार्यो यथाक्रमं शुभशुभतरशुभतमाः स्वरूपेण कारणमाह्लादपरम्पराणां च प्रभूतास्तस्य वानरजीवरूपस्य शुभप्रविशेषभूतास्तस्य गर्भगृहकस्य निःसारिकास्तदात्मन्यसमात्मसातसम्पत्तिपूरितादृढमार्गोपशुद्धकारिका मठगमनस्य, ताभिश्च षड्भिरपि नारीभिर्विरचितस्तत्र गर्भगृहके स्वसामर्थ्याद्युपर्युपर्यारोहणार्थं परिणामो नाम दवरः, तत्र च ताभिरेव नारीभिर्यथानुपूर्व्यमुपर्युपरि विरचिताः प्रत्ये

कमसस्येयाः समता भव्यसस्येया विद्यन्ते अध्यवसायस्थानाभिधाना पत्रिकाः, तया प्रथमया विरचिताञ्जनवर्णलेश्याः प्रथमाः कृष्ण-वर्णाः एवं द्वितीयया द्वितीया नीलावभासाः तृतीयया तृतीयाः कपोताभाः चतुर्थ्या च चतुर्थ्यस्तेजोभास्वराः पञ्चम्या पञ्चम्यो मधूक-पद्मच्छायाः षष्ठ्या षष्ठ्यो विशुद्धस्फटिकनिर्मलाभाः पत्रिका इति, तत्राद्ययोषिद्विरचितनिर्मितासु पत्रिकासु वर्तमानं वानरलीलरूपमुद्धत्य एतस्मात् गवाक्षकैस्तेष्वाम्रकेषु लुठति तत्र रजःकचवरे गुण्ड्यते तेन रजसा भिद्यते तैः लोहनिष्यन्दबिन्दुभिः, ततस्तथा भवशतैर्जर्जरीभूतं तेषां मूषकमार्जारकोलोम्बुरादीनां सर्वेषामुपद्रवविशेषाणामभिभवनीय भवति, ततः कथितमिव स्वल्पत कथित् भू-मिसमवस्थितं कथित्तूरतो धारयति सर्वथा सततसंतप्त तदास्ते इति तथापि भानन्दसुःखपरम्पराकारण सपद्यते, तस्मात्तवता वानर-लीव ताभ्यः पत्रिकाभ्यो निःसारणीयमुपर्यारोहणीय, यद्यस्तुर्थयोषिद्विर्निर्मितासु तासु पत्रिकासु प्रतिक्षणमारोहतस्तस्य वानरलीलरूपस्य स्तोकीभविष्यति सन्तापः प्रयसुतां यास्यन्ति बाधाकारिणस्ते मूषकादयः क्षुद्रोपद्रवाः मनाक् स्वस्थीभविष्यत्याम्रकाभिलाषः ततः स्तोप-मीपदुपयास्यति सा मकरन्दनिष्यन्दार्द्रता परिश्लटिष्यति किंचिद्रजः यतो लप्स्यते मनाक् सुखासिकां भविष्यति तदपि तेजोभास्वरं पर्यन्त, ततः पञ्चमाङ्गनाघटितपत्रिकासु भवता तदारोहणीय, तासु चारोहतस्तस्य स्तोकतरीभविष्यति सतापः प्रतनुतरा भवि-ष्यन्त्युपद्रवाः स्वस्थतरः संपत्स्यतेऽपथ्याम्रकाभिलाषः शुष्कतरं भविष्यति शरीरक निपतिष्यति तस्माद् मधुतरो रेणुनिचयः, ततो मनागस्य रोहयन्ति क्षतविक्षेपाः आस्कन्दिष्यतीव महाहाव धारयिष्यति भवसत्वं वर्धिष्यति शरीरेण भविष्यति विशालतरं, ततः षष्ठक-न्यानिर्मितपत्रिकासु भवता तदारोहणीयं, तासु चारोहतस्तस्य स्तोकतमीभविष्यति दुःखासिका प्रलय यास्यन्त्युपद्रवविशेषाः अत्यन्त स्वस्थतमीभविष्यत्याम्रकाभिलाषः त्रुटिष्यति रजःकचवरलोठनेच्छा सर्वथा शोषमुपयास्यति मकरन्दरसार्द्रता, ततः शुष्कतरशरीरादि

क्षेपमनुभविष्यति भूमितो रेणुनिचयः संशमिष्यते तत्सततप्रभावं भविष्यति शुद्धस्फटिकनिर्मलता । अन्यच्च—यत्र योगिचित्तसमपारि
चपत्रिकामार्गेऽनुभवमारोहणतस्य भविष्यति मन्दः सुखकारितया शीतः सन्तापहारितया सुरभिः सद्भूतगुणगणकुसुमनमकरन्दरेणु
धारितया धर्मध्यानाभिधानः पवनः, तत्सम्बन्धे भविष्यसि तस्यतत्र प्रमुदितं, इतश्च भीतमिव तेभ्योऽपध्यानेभ्यो मूषकमार्जारकोलेन्दु
रश्मिककच्छकासगृहकोकिलिकादिभ्यो नानाविधोपद्रवेभ्यः समुद्विग्नमिव तेन वितथेन महान्धकारेण भावनारीकृतपविरचित पत्रिकामा
र्गमपहाय तत्र यतिसमयोचितयतिनिर्मिते भवविरक्षिते सततप्रकाशे पत्रिकामार्गे निलीनमास्ते यस्य वानरलीवरूपस्य सम्यग्पि वानरयूथ,
तपश्चारोहणतस्य तदसेवमधिष्ठित प्रशमसमसम्बोपसंयमसन्तोषादिनामकवानरपरिवारेण विशुद्धधर्ममहावानरेण समन्वित धृतिश्रद्धासु
खाविकाविविदिषाविज्ञप्तिसुखविविदिषारणामेधाप्रज्ञाम्भिनिःस्पृहतासिद्धाभिर्वरवानरीभिः सकुल धैर्यवीर्यौदार्यगाम्भीर्यशौण्डीर्यध्यानस्थान
तपःसत्त्वैराग्याकिञ्चन्यमार्दवार्जवप्रभृतिनामकैर्वरवानरलीवरूपैरुपविभ्रमिष्यति किंचिच्चराचिरकम्पोचितपत्रिकायां, तत्र तस्य भव
जीवपानरलीवरूपस्य शरीरं जीवितं सर्वस्व सहस्रमतिरिक्तकरणशील वर्तते, किंच—तद्वानरयूथमपि स्थिरं स्वरूपेण दिनकरभास्वरं च
येनाकारवशोद्गतो निरभिष्वङ्ग तेषु गवाक्षव्यवस्थितेषु सत्कारासारूपतया कल्पितेषु विषयवृक्षेषु विगतस्पृहं यथार्थनिपयसम्यक्त्वकुसु-
मरसः कपरकोठने, ततस्तेनात्मीयपानरयूथेन सह मीलित यथावत चित्तवानरलीवमत्यन्तप्रमुदित शीघ्र धारयस्युपर्युपरिपत्रिकासु
धावत्पर्यन्तनारीविरचितपत्रिकामार्गं, तत्र च करिष्यति तस्य तद्वानरयूथ शुक्लध्यानाभिधानेन गोशीर्षचन्दनरसेन स्नपन, ततोऽस्मि-
न्नेऽर्धमार्गमात्रे परमानन्दनिर्भरं भविष्यति तमिःसहं, ततो मारोहस्यसुपरितनपत्रिकासु, तस्मिन्नारूढे भद्र ! स्वमप्यारूढो भविष्यसि
मयस्वे जीवितमत्यर्थनमात्मभूतं च तद्वानरक, ततो निःसहीभूय तद्विमुच्य भवतोपरितनपत्रिकासु स्वयमेवारोहणीय, ततः पयस्वे परि

निरालम्बनतया गगने ततो विसुव्यापवरकमपरस्य गर्भगृहक
कामार्गमपि परित्यज्य स्वसामर्थ्येन स्थित्वा पञ्चसाक्षरोच्चारणमात्रकालं निरालम्बनतया पूर्वगतलोकमध्येऽनुभाव्योऽ-
परित्यज्य वानरक विपाकोद्भवनं भावयित्वा सुमार्गं गन्तव्यमेकक्षणेणोद्दीय तत्र मठे स्थातव्यमनन्तकाले नयनक्षम गुरुभिर्मे निवेदितमिति—अथ
नन्दानन्द इति, अथोक्तं—भवाप्यपयसि नाथः, तदेवमनेनोपायेन भद्र! तद्वानरक तत्र मठे ॥ ५१९ ॥ चाद चारूपविष्टे ते, गुरुणा मुनिस
निश्चित मौनीन्द्र, समाचार्यमिदं वचः । ततोऽकलङ्कस्तु नत्वा, मुनिमित्थमबोचत ॥ ५२० ॥ ततोऽगृहीतसङ्केते!, सम्यग्बोधविधित्सया । सोऽकलङ्को महाभागो, मां
तम! । सुन्दरं भवताऽऽरम्भि, गुरुमेतन्मुखात्स्वाम् ॥ ५२१ ॥ यत्र स्फुटाक्षरैः सर्वं, यत्नेन निवेदितम् । तत्त्वया विदितं भद्र!, किं वा नो? घनवाहन! ॥ ५२२ ॥ अनेन
प्रतीतमभावत ॥ ५२१ ॥ यत्र स्फुटाक्षरैः सर्वं, यत्नेन निवेदितम् । तत्त्वया विदितं भद्र!, संसारोदारकारणम् ॥५२३॥ सक्लेश्यापरिणामेन, क्लेशनिर्मोचनक्षमम् ।
हि समास्थाय, क्लेशनिर्मुक्तमञ्जसा । चित्तमेवात्मनो मुख्यं, शिवस्योचैश्चित्तमेवेह कारणम् । भवस्यापि तदेवेति, मुनयः सम
विशुद्धाध्यवसायेषु, गच्छदेवोपपद्यते ॥ ५२४ ॥ किंच—न केवलं शिवस्योचैश्चित्तमेवेह कारणम् । भवस्यापि तदेवेति, मुनयः सम
चक्षते ॥ ५२५ ॥ यतोऽपवरको योऽयं, यथैव गर्भगेहकम् । यत्र वानरकं भद्र!, तत्सर्वं प्राणिनां समम् ॥ ५२६ ॥ तत्र—यास्या
मो वर्णिताः पूर्वं, पत्रिकास्तत्र इरिरे । तद्वानरं तदास्य, विचित्रभवकारणम् ॥ ५२७ ॥ यस्मां यस्मां तदारूढ, करोत्युत्प्लवनं किल ।
तीव्र तत्पत्रिकास्वेषु, हठे नयति देहिनः ॥ ५२८ ॥ अथोक्तं—वयस्य! कोऽस्य भावितस्यार्थः?, अकलङ्केनोक्तं—आकर्णय—पक्ष्मेश्या-
ध्यवसायेषु, म्रियन्ते किल देहिनः । आरूढचित्तावारकाः, जायन्ते ते भवान्तरे ॥ ५२९ ॥ असङ्ख्याध्यवसायेषु, तदिदं वर्तमानकम् ।
विचित्रयोनिरूपस्य, भवस्यास्य विपाककम् ॥ ५३० ॥ सदोष भवहेतुस्ते, भवान्येषां च देहिनाम् । निर्दोष मोक्षहेतुस्ते, चित्त मो
घनवाहन! ॥ ५३१ ॥ एतेषं चित्तसत्रं, तदावृन्दवर्धन परम् । धर्मोऽधर्मः सुखं दुःखं, यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५३२ ॥ जीवाव

मावचित्ताव, नास्ति भेदः परस्परम् । आत्माऽतो रक्षितस्तेन, चित्तं येनाह रक्षितम् ॥ ५३३ ॥ यर्थाय भोगतोऽस्येन, यावद्यावति सर्वदा । चित्त कुत्स्नस्ते यावत्सुखगन्धोऽपि विद्यते ? ॥ ५३४ ॥ "यदेद नि स्पृह भूत्वा, परित्यज्य बहिर्भ्रमम् । स्थिरं संपद्यते चित्त, "तदा ते परमं सुखम् ॥ ५३५ ॥ मत्ते कोऽपरि कोपान्धे, निन्दाकर्तरि पोस्थिते । यदा सम भवेच्चित्त, तदा ते परम सुखम् ॥ ५३६ ॥ "स्वजने स्नेहसम्बद्धे, रिपुवर्गेऽपकारिणि । स्यात्तुल्य ते यदा चित्त, तदा ते परम सुखम् ॥ ५३७ ॥ रूपादिविषयग्रामे, सुन्दरेऽसु "न्दरेऽपि च । एकाकारं यदा चित्त, तदा ते परम सुखम् ॥ ५३८ ॥ गोशीर्षचन्दनालेपिवासीच्छेदकयोर्यदा । अभिन्नमिदपुति "स्यात्तदा ते परमं सुखम् ॥ ५३९ ॥ सांसारिकपदार्थेषु, अकुत्स्नेषु ते यदा । अस्पृष्टं चित्तपद्म स्यात्तदा ते परम सुखम् ॥ ५४० ॥ "दृष्टेपूद्दामलावण्य युवतीषु योषिताम् । निर्विकारं यदा चित्तं, तदा ते परम सुखम् ॥ ५४१ ॥ यदा सत्त्वैकसारत्वादर्थकामपराङ्मु "खम् । धर्मे रत भवेच्चित्त, तदा ते परमं सुखम् ॥ ५४२ ॥ रजस्तमोविनिर्मुक्त, स्तिमितोदधिसन्निभम् । निष्कल्लोल यदा चित्त, तदा "ते परम सुखम् ॥ ५४३ ॥ मैत्रीकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रमोदोदामभावनम् । यदा मोक्षैकतान तवदा ते परम सुखम् ॥ ५४४ ॥" इति चित्त निदानम्यो, नास्ति मे भवभाजन ! । नरस्य सुखसन्दोहे, सिद्धो हेतुर्मनागपि ॥ ५४५ ॥ ततोऽहमकलङ्कस्य, तादृशैर्वचनामृतैः । सिक्तोऽगृहीतसङ्केते', मनाक् प्रशममागतः ॥ ५४६ ॥ यतः—निबिडाऽपीह तादृशैर्मम दृष्टान्तमुद्गरैः । विदारिताऽकलङ्केन, भूयसी कर्मपद्धतिः ॥ ५४७ ॥ कर्मविवरमतीत्याह, भूयिष्ठां पूर्ववर्तिनीम् । अभ्यय सन्निधो भद्रे', कर्मग्रन्थेः सुदुर्भिदः ॥ ५४८ ॥ इत्थम— प्रज्ञामवेयमप्यार्ये, मया पूर्वं निवेदितम् । स्मरसि त्व विशालाक्षि', सुभसूरिवचस्तदा ॥ ५४९ ॥ ततोऽगृहीतसङ्केता, त प्रतीदमभा- षत । न स्मरामि विशेषेण, स्मारयावस्त्वमेव मे ॥ ५५० ॥ ततः संसारिजीवेन, सा मोक्ष तात्कोपना । इदं निवेदित भद्रे!, स्मर्तुं

गुपद्धरिपा ॥ ५५१ ॥ यथा मस्तुमकः पूर्वं, देशकालिकया गतः । मागतश्च यदोः कालाग्निचारो नाम चारकः ॥ ५५२ ॥ मार्गानु
सारितायुक्तो, मयथक निरीक्ष्य सः । समागतो रहस्सो, सथसेतस्यवेदयत् ॥ ५५३ ॥ यथुत—चारित्रधर्मराजेन, महामोहनरेश्वरः ।
सबलो यद्धुकेन, युध्यमानो मयेक्षितः ॥ ५५४ ॥ ततश्चारित्रधर्मीय, सैन्यं निर्जित्य दर्पितः । वेष्टयित्वा स्थितस्तात!, महामोहन-
राधिपः ॥ ५५५ ॥ मय तदात्स वीक्ष्य, निरुद्धं तेन दर्पिणा । यत्त चारित्रधर्मीयमागतोऽहं तवान्तिके ॥ ५५६ ॥ अगृहीतसङ्केत-
योर्क—स्वत स्तुत मया तात!, सर्वमेतमिवेदितम् । पूर्वमेव त्वया प्रायतोपदर्शनकाम्यया ॥ ५५७ ॥ अतः परं पुनर्येन, तात! कि-
पिहितमिदम् । तन्मम स्तुतपूर्वायै, सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥ ५५८ ॥ ततः ससारिजीवेन, सा प्रोक्ता मृगवीक्षणा । यथोऽहं कथयि
ष्यामि, समाकर्णय साम्प्रतम् ॥५५९॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यां, तमिरुद्ध समन्ततः । स्थित चारित्रधर्मस्य, सैन्य कालमनन्तकम् ॥ ५६० ॥
ततश्चराऽकस्मस्य, समीपे मम स्थितः । सैन्ये यत्तत्र भूतास्तः, सपमस्त निवोध मे ॥ ५६१ ॥ सर्वं विषण्णमालोक्य, सद्बुद्ध रिपुपी
डितम् । चारित्रधर्ममुद्दिश्य, सद्बोधः सममापत ॥ ५६२ ॥ न कर्तव्यो विषादोऽत्र, देवास्माभिर्यतोऽधुना । मन्मनोरथवृक्षस्य, दृश्यते
कुसुमोद्गमः ॥ ५६३ ॥ तथाहि—यावत्ससारिजीवोऽस्माम्, न जानीते महाप्रभुः । विपदस्तावदेवैता, देवास्माकं रिपूद्भवाः ॥ ५६४ ॥
यदा तु स विजानीयादस्माकं रूपमञ्जसा । तदा सपोपितास्तेन, भवामो रिपुघातकाः ॥ ५६५ ॥ इदं च दृश्यते देव!, चित्तवृत्तिम
हाटवी । यथाऽधुना मनाक् शुभ्रा, गाढतामसवर्जिता ॥ ५६६ ॥ तथाऽहं तर्कयामीव, देवोऽसौ सर्वनायकः । अस्माद्विक्षेपविज्ञानसमीपे
ननु वर्तते ॥ ५६७ ॥ युग्मम् । भय हि तामसे मथा, न दृष्टास्तेन जातुचित् । अधुना दर्शनस्यास्ति, वैमल्यं तस्य कारणम् ॥ ५६८ ॥
एव च स्थिते—स कर्मपरिणामाख्य, प्रभुं राजानमुत्तमम् । पार्श्वे ससारिजीवस्य, प्रेष्यतां कोऽपि मानवः ॥ ५६९ ॥ ततोऽनुकूलित

मामकचित्तात्र, नास्ति भेदः परस्परम् । आत्माऽतो रक्षितस्तेन, चित्तं येनेह रक्षितम् ॥ ५३३ ॥ अर्थाय भोगलोल्येन, धावद्धावति सर्वतः । चित्त कुतस्ते तावत्सुखगन्धोऽपि विद्यते ? ॥ ५३४ ॥ "यदैव निःस्पृहं भूत्वा, परित्यज्य बहिर्भ्रमम् । स्थिरं संपद्यसे चित्त, "तदा ते परमं सुखम् ॥ ५३५ ॥ भक्ते स्तोतरि कोपान्धे, निन्दाकर्तरि घोरिते । यदा सम भवेश्चित्त, तदा ते परम सुखम् ॥ ५३६ ॥ "स्वजने स्नेहसम्बद्धे, रिपुवर्गेऽपकारिणि । साम्यं ते यदा चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥ ५३७ ॥ शब्दादिविषयग्रामे, सुन्दरेऽसु-"न्दरेऽपि च । एकाकारं यदा चित्त, तदा ते परम सुखम् ॥ ५३८ ॥ गोशीर्षचन्दनालेपिवासीच्छेदकयोर्यदा । अभिन्नचित्तवृत्तिः "स्याच्चेत्तदा ते परमं सुखम् ॥ ५३९ ॥ सांसारिकपदार्थेषु, काञ्चनस्त्र्यादिषु ते यदा । भग्निह चित्तपर्व स्यात्तदा ते परम सुखम् ॥ ५४० ॥ "रूपेपूद्दामलावण्यवन्मुरगात्रेषु योषिताम् । निर्विकारं यदा चित्त, तदा ते परमं सुखम् ॥ ५४१ ॥ यदा सत्त्वैकसारत्वादर्थकामपराङ्मु-"खम् । धर्मे रतं भवेच्चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥ ५४२ ॥ रजस्तमोविनिर्मुक्त, स्तिमितोदधिसन्निभम् । निष्कल्लोलं यदा चित्त, तदा "ते परमं सुखम् ॥ ५४३ ॥ मैत्रीकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रमोदोदामभावनम् । यदा मोक्षैकतानं तत्तदा ते परम सुखम् ॥ ५४४ ॥" इति चित्त विज्ञायान्तो, नास्ति मो धनवाहन[1] । मत्ता सुखसन्दोहे, स्थितो हेतुर्भवक्षये ॥ ५४५ ॥ ततोऽहमकलङ्कस्य, तादृशैर्वचनामृतैः । सिक्तोऽगृहीतसङ्केते[1], भवान् महात्समागतः ॥ ५४६ ॥ यतः—निविडाऽपीह तादृशैर्मम दृष्टान्तसुन्दरैः । विदारिताऽकलङ्केन, भूयसी कर्मपद्धतिः ॥ ५४७ ॥ कर्मविवरितमतीत्यार्द्रं, भूयिष्ठां पूर्ववर्तिनीम् । भव्यप्य सस्मितो भद्रे[!], कर्मग्रन्थेः सुदुर्भिदः ॥ ५४८ ॥ इत्थम्—पद्मामदेवमठात्ते, मया पूर्वं निवेदितम् । स्मरसि त्वं विशालाक्षि[1], मुग्धसूरिवत्स्वरा ॥ ५४९ ॥ ततोऽगृहीतसङ्केता, त भवीदमसा-पत । न स्मरामि विशेषेण, स्मारयातस्त्वमेव मे ॥ ५५० ॥ ततः ससारिजीवेन, सा प्रोक्ता धारणोपमा । इद निवेदितं भद्रे[!], स्वपूर्वं

सन्निधौ । गुरोस्तस्य मया सार्धं, विहितं पादवन्दनम् ॥ ५८८ ॥ समागम्यानयोगेन, धर्मलाभपुरःसरम् । सूरिणा कोविदाख्येन, येन
सम्भाषणं कृतम् ॥ ५८९ ॥ अथाकलङ्कपृष्टस्य, कुर्वतो धर्मदेशनाम् । तस्य पार्श्वे महास्यैव, मया दृष्टः सदागमः ॥ ५९० ॥ ज्ञापित
माकलङ्केन, यथा भो भवजन्तु । आराधनीयः साधूनामेषामेष सदागमः ॥ ५९१ ॥ एते ह्यस्य सदाऽऽदेशं, कुर्वन्ति नवमस्तकाः ।
पयोऽस्य सूरिर्नीते, गुणसम्भारगौरवम् ॥ ५९२ ॥ तवैष ते हितो भद्र, धर्माधर्मविवेचकः । अतः सदुपदेशार्थमेन विज्ञातुमर्हसि
॥ ५९३ ॥ ममामीयां च साधूनां, सूरेश्चास्य परिस्फुटम् । यज्ञान भद्र सज्जावमस्यादेव सदागमात् ॥ ५९४ ॥ अतोऽयं कोविदा
चार्यः, सम्यक् ते करिष्यति । सार्धं सदागमेनोच्चैरमुना हितकारिणा ॥ ५९५ ॥ ततस्त्वमस्य सम्बन्धात्सर्वमात्महिताहितम् । क्रमेण
ज्ञास्यसे तात, तदेन शीघ्रमाश्रय ॥ ५९६ ॥ ततस्तदुपरोधेन, मया भद्रे सदागमः । प्रतिपन्नस्तदा किञ्चिदुष्टेनैवान्तरात्मना ॥ ५९७ ॥
ज्ञापिताश्च गुणाः केचित्तेन कोविदसूरिणा । दर्शितं चास्य विज्ञानं, मज्ञानं मम मानवत् ॥ ५९८ ॥ केवलं—अकलङ्कोपरोधेन, विदधे
चैत्यवन्दनम् । ददामि दानं साधुभ्यो, भावशून्यमहं तदा ॥ ५९९ ॥ एवं च भद्रकः किञ्चिदकलङ्कानुरोधतः । सञ्जातोऽहं तदा भद्रे !,
नमस्कारादिपाठकः ॥ ६०० ॥ अकलङ्कस्तु समास्य, मातापित्रादिकं जनम् । प्रतिपन्नस्तदा दीक्षां, कोविदाचार्यसन्निधौ ॥ ६०१ ॥
ततश्च—सुसाधुपरिवारेण, तेन कोविदसूरिणा । सार्धं गतो विहाराय, सोऽन्यत्र मुनिपुङ्गवः ॥ ६०२ ॥ ततश्च—यावत्सदागमस्तत्र,
मत्समीपमुपागतः । महामोहबले तावज्जात एवमभिप्रायो मे ॥ ६०३ ॥ ज्ञानसंवरणं ज्ञात्वा, सदागमभयातुरम् । ततः प्रोक्तो महामोहो,
रागकेसरिमन्त्रिणा ॥ ६०४ ॥ एतावन्तं वयं कालं, निश्चिन्ता देव संस्थिताः । यद्बलेन स विश्रब्धो, ज्ञानसंवरणो नृपः ॥ ६०५ ॥
यतः—दृष्टः सदागमस्तत्र, गत्वाऽभ्यर्णे व्यवस्थितः । देव संसारिजीवस्य, विरुद्धः स च भूपतेः ॥ ६०६ ॥ नोपेक्षणीय देवेन, स

स्तेन, देव ! कालेन भूयसा । भविष्यत्येव निर्भिद्य, सोऽस्मद्दर्शनलालसः ॥ ५७० ॥ तच्चारित्रधर्मेण, सद्बोध प्रति भाषितम् । साधु
भो गदित साधु, ब्रूहि कः प्रेषयोचितः ? ॥ ५७१ ॥ चारित्रधर्मीय, सद्बोधेन निवेदितम् । अय सदागमस्तत्र, देव ! प्रस्तापनोचितः
॥ ५७२ ॥ यतः परिचयस्तस्य यदाऽनेन भविष्यति । तदाऽस्मद्दर्शनाकाङ्क्षा, तस्य संपत्स्यते ध्रुवम् ॥ ५७३ ॥ स क्रमपरिप्रापमा-
स्मत्ततोऽस्मान् ज्ञापयिष्यति । तस्मै वयं भविष्यामस्ततः सानुग्रहाः ॥ ५७४ ॥ तच्चारित्रधर्मेण, प्रथम मभिभाषितम् । प्रवर्तितो
यथादिष्टं, मां मन्येष सदागमः ॥ ५७५ ॥ उक्तं राज्ञा सद्बोधः, किमेषोऽपि महीयसाम् ? । सम्यग्दर्शनसमामा, तस्य पार्श्वे महत्तम ?
॥ ५७६ ॥ सद्बोधेनोदित देव !, नादरेण महत्तमः । तस्य संसारिजीवस्य, गतः पार्श्वे न संशयः ॥ ५७७ ॥ किं च—सदागमोऽपि
सफलो, मुक्तोऽनेनोपपद्यते । मनेन सहितः सोऽस्मान्, सर्वानप्यवमोत्स्यते ॥ ५७८ ॥ किं तु मावसतोऽद्यापि, तेन नैष महीयते ।
प्रस्तावरहितं कार्यं, न कुर्वन्ति विचक्षणाः ॥ ५७९ ॥ नृपतिनोक्त—कदा पुनरहो मन्त्रिन् !, प्रस्तावोऽस्य भविष्यति । सद्बोधेनो
दित देव !, समाकर्णय कथ्यते ॥ ५८० ॥ यदा सदागमेनोच्चैः, रञ्जितोऽसौ भविष्यति । पार्श्वे तस्य तदा देव !, प्रेषणीयो महत्तमः
॥ ५८१ ॥ भूयो भूयो युतोऽनेन, वीर्यमासादयेद्यदा । संसारिजीवः प्रस्तावस्तदाऽस्याप्युपपत्स्यते ॥ ५८२ ॥ ततोऽभ्युपगते वाक्ये,
मन्त्रिमुख्येन भूभुजा । समागतः क्रमेणाय, मत्समीपे सदागमः ॥ ५८३ ॥ इतश्च—प्रयुक्तः पूर्वमेवासीन्महामोहादिभिश्चरी । ज्ञानसं
वरणो नाम, मत्समीपे नराधिपः ॥ ५८४ ॥ स हि चारित्रधर्मीयं, विरोधयते सदा बलम् । महामोहमहानीक, सदा पोषयते स्वकम्
॥ ५८५ ॥ एव च स्थिते—गाढेनैव निर्भिन्ना, निर्नष्टमदकारणाः । स्थिता रिपूनिराक्रम्य, महामोहादयः सदा ॥ ५८६ ॥ ततः
सदागमं वीक्ष्य, मदासन्नं समागतम् । ज्ञानसंवरणः क्षिप्रं, क्षीणवीनो व्यवसितः ॥ ५८७ ॥ मयाकृष्टः समाप्तो, ध्यानारूढस्य

मूढधीः । यच पौद्गलिकं किंचित्तदवस्थाविधायकम् ॥ ६२५ ॥ सदागमस्तदाचष्टे, यथेदं क्षणभङ्गुरम् । दुःखात्मकं मलक्लिन्नं, निःसमाव
नश्वरम् ॥ ६२६ ॥ तदत्र मूर्च्छा मा कार्षीर्मा कार्षीर्धनवाहन ! । आत्मा ते ज्ञानसद्वीर्यदर्शनानन्दपूरितः ॥ ६२७ ॥ तदत्रैव मुक्तस्ते,
चित्तावन्धो नरोत्तम ! । येन त्वं निर्वृतिं यासि, सततानन्दसुन्दराम् ॥ ६२८ ॥ वसुभिः कलापकम् । महामोहस्तु मे सर्वं, तद्वाक्यं ताम्र
सम्पदः । गात्र शब्दादिभोगांश्च, यच्चान्यदपि तादृशम् ॥ ६२९ ॥ स्थिरं सुखात्मकं चारु, निर्मलं हितमुत्तमम् । इत्येवं कथयत्युच्चैरुपदेशं
च यच्छति ॥ ६३० ॥ युग्मम् । यदुत—नास्ति जीवो न वा देवो, न मोक्षो न पुनर्भवः । न पुण्यपापे सद्भूते, भूतमात्रमिदं जगत्
॥ ६३१ ॥ अतो यावदयं देहो, विधत्ते धनवाहन ! । यथेष्टचेष्टया तावत्तिष्ठ स्वाद विधानितम् ॥ ६३२ ॥ सद्भोगैः प्रीणयाऽऽत्मानं,
मानयामलक्षेचनाः । भुङ्क्ष्व भुङ्क्ष्व यथाकामं, मा मूढवचनं कृथाः ॥ ६३३ ॥ परिग्रहस्तु मां ब्रूते, यथा भो धनवाहन ! । हिरण्यधा
न्यरत्नादिसम्भारं कुरु यत्नतः ॥ ६३४ ॥ यः प्राप्तं पालयत्यर्थमप्राप्तं ढौकयत्यलम् । न च सन्तोषमादत्ते, तस्य सौख्यम
नारतम् ॥ ६३५ ॥ अहं तु त्रितयस्यापि, वाक्यमाकर्ण्य तादृशम् । ईषदोलायितस्थित्ये, यावत्तातः सुलोचने ! ॥ ६३६ ॥ महामोह
बलेनासौ, ज्ञानसंवरणो नृपः । तावत्क्रमं परित्यज्य, मम पार्श्वे व्यवस्थितः ॥ ६३७ ॥ ततः सदागमेनोक्तं, यद्वाक्यं मनोहरम् ।
तस्यार्थो न मया ज्ञातस्तेन चित्तं न रञ्जितम् ॥ ६३८ ॥ यथाहस्तु पुनर्मैत्रे !, महामोहपरिग्रहौ । तथैव मामके चित्ते, यथा रम्य
सुवासिते ॥ ६३९ ॥ ततोऽहं तत्परित्यज्य, देवचन्दनपूजनम् । नमस्कारादिपाठं च, सजातो भोगमूर्च्छितः ॥ ६४० ॥ दानं च साधु-
वर्गादेर्विनिवार्य ततः परम् । धनसङ्ग्रहणे रक्तः, पीडयामि करैर्जनम् ॥ ६४१ ॥ सर्वसांसारिकार्येषु, मूर्च्छा गाढं विवर्धते । स महा-
मोहवीर्येण, रोचसे न सदागमः ॥ ६४२ ॥ तथाऽपि—परिग्रहस्य वीर्येण, सर्वथा न्यूनचेतसः । न ममेच्छा तदा पूर्णा, प्राप्तैः सर्वधनै

स्यादेतत्प्रयोजनम् । कुठारच्छेद्यतां कुर्यान्नखच्छेद्य न पण्डितः ॥ ६०७ ॥ मयामात्यवचः श्रुत्वा, महामोही महासभा । सा स हासमरोपेण, सर्वा क्षोभमुपागता ॥ ६०८ ॥ भ्रूभङ्गभ्रुकुटिभृद्भाल, दष्टोष्ठा भूमिवासिनः । एककाल महायोधाः, सर्वे भाषितुमुद्यताः ॥ ६०९ ॥ कथ!—मया स देव! हन्तव्यो, गत्वा पापः सदागमः । इत्येकैको महायोधो, महामोहमभाषत ॥ ६१० ॥ केनापि गर्वित वत्साः!, कुर्वन्तीह ममादराः । किं तु क्षय स हन्तव्यो, मया गत्वा दुरात्मकः ॥ ६११ ॥ यनाभिभूतः पापेन, ज्ञानसंवरणो नृपः । सत्ययुक्तः प्रहस्तेन, स मे मर्ममर्मर्ते ॥ ६१२ ॥ अन्यच—समुदायात्मको वत्सा!, वर्तेऽहं भो भवादृशाम् । अतो मया हतः सर्वैर्युष्माभिर्हत एव स ॥ ६१३ ॥ यथा—गते मयि गताः सर्वे, यूयं पातालमर्यतः । अतो गच्छाम्यहं वत्सा!, यूयमत्रैव तिष्ठत ॥ ६१४ ॥ किं तु—मत्प्रियागारपीयोऽहं, गतस्त्रान्तरात्मरा । सर्वैरिव ममायोग, भवद्भिः स्वामिवत्सलैः ॥ ६१५ ॥ अन्यच—योऽयं परिग्रहो वत्सा!, वल्लभो मे विशेषतः । रागकेसरिपुत्रस्य, सागरस्य वयस्यकः ॥ ६१६ ॥ नाहमेनं परित्यज्य, तत्र गन्तुं समुत्सहे । नयमेव महावीर्यः, सहायो मम सुन्दरः ॥६१७॥ युग्मम् । ततश्च—महमेक गृहीत्वैन, सत्सहायं परिग्रहम् । गच्छामि त्वरितं तत्र, सदागमविघातकः ॥ ६१८ ॥ ततो विज्ञाय निर्बन्ध, सर्वैः प्रणतमस्तकैः । एव विधीयतां देव!, तद्वचः परिपूरितम् ॥ ६१९ ॥ ततः समागतो भद्रे!, महामोहपरिग्रहौ । मत्समीपं कृतोत्साहौ, मया चेमौ विलोकितौ ॥ ६२० ॥ ततो मे मोहसम्बन्धयाभ्यां सार्धं सुनिर्भरः । ममाप्यभ्यासयोगेन, संजातस्तारलोचने! ॥ ६२१ ॥ इतश्चोपरतस्तातः, स जीमूतो नरेश्वरः । अहं च स्थापितो राज्ये, पञ्चभिरभिमदं तमैः ॥ ६२२ ॥ प्रणताः सर्वसामन्ता, रिपवो भृत्यतां गताः । ततः परिणतं राज्य, भूरिभूतिमनोहरम् ॥ ६२३ ॥ स च पुण्योदयस्तत्र, मम राज्यस्य कारणम् । महामोहमुखेनासौ, किं तु नो लक्षितो मया ॥ ६२४ ॥ इदम्—शरीरं विषया राज्यं, विविधान्य वि

तुष्टः स बालिशः । ततश्च चिन्तयत्येव, महाहर्षवशं गतः ॥ ६५१ ॥ धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं, यस्येयं मम सुन्दरी । मनोहरा श्रुति
र्भार्या, सपत्नी पुण्यकर्मणः ॥ ६५२ ॥ ततश्च तादृशं मत्वा, श्रुतौ स्नेहपरायणम् । बालिशं मधुरैर्वाक्यैः, स सङ्गः समभाषत ॥ ६५३ ॥
अत्यन्तसुन्दरो देव!, दैवेन हितकारिणा । देवेन सार्धं स्वामिन्याः, संयोगो घटितो ह्ययम् ॥ ६५४ ॥ तथाहि—रूपं वयः कुलं शीलं,
लावण्यं च परस्परम् । दम्पत्योः प्रेमसहितमनुरूपं सुदुर्लभम् ॥ ६५५ ॥ एतच्च युवयोः सर्वं, सपत्नं पुण्यकर्मणा । केवलं वर्त
तेऽत्र, प्रमापन्थो मनोहरः ॥ ६५६ ॥ ततः स बालिशेनोक्तः, शठात्मा वाससारकः । यथा कथं स वर्तेत?, स प्राह प्रियमेव
नाम ॥ ६५७ ॥ बालिशः प्राह किं तस्याः, प्रियं? सङ्ग! निवेद्यताम् । सङ्गेनोक्तं यथा देव!, प्रियोऽस्या मधुरो ध्वनिः ॥ ६५८ ॥
बालिशः प्राह यद्येवं, ततस्तस्य निवेदनम् । अमान्तः कारणाम्येनां, साधु साधु निवेदितम् ॥ ६५९ ॥ महाप्रसाद इत्येव, हृष्टः स
च तारकः । स्नेहाभिषेकसिक्तस्तेन, हृदये बालिशेन भोः! ॥ ६६० ॥ ततश्च काकलीगीतवेणुवीणाकलस्वनम् । तां श्रुतिं श्रावयन्नेष, बा
लिशो हृदि मोदते ॥ ६६१ ॥ चिन्तयति च—अहो सुखमहो स्वर्गस्तथाऽहो मम धन्यता । यस्येदृशी श्रुतिर्भार्या, सततानन्ददायिका
॥ ६६२ ॥ ततश्च—हृदये धारकं कृत्वा, तं सङ्गं स्नेहनिर्भरः । सुखे स लालनं कुर्वन्नास्ते नित्यं कलस्वनैः ॥ ६६३ ॥ अन्यच्च तेनान्य
कर्तव्यं, धर्मादूरेण स स्थितः । पिशाचग्रस्ततया जातो, हास्यमासौ विवेकिनाम् ॥ ६६४ ॥ इतश्च कोविदेनापि, प्रमितोऽस्य सदागमः ।
मत्तमेषा हिता भार्या, किं वा नेति? निवेद्यताम् ॥ ६६५ ॥ ततः सदागमेनोक्तं, न हिता ते नरोत्तम! । सत्सङ्गेय श्रुतिर्भार्या, तत्रा-
कर्ण्य कारणम् ॥ ६६६ ॥ इयं हि प्रहिता पूर्वं, रागकेसरिमन्त्रिणा । इदं जगद्वशीकर्तुं, पञ्चमानुषमध्यगा ॥ ६६७ ॥ इतश्च—स
कर्मपरिणामस्य, भ्रातृव्यो रागकेसरी । प्रसिद्धभरटो लोके, तस्यामात्यो विशेषतः ॥ ६६८ ॥ स कर्मपरिणामाख्यः, सार्वभौमो महा-

रपि ॥ ६४३ ॥ ततो मां तदर्शं भस्ता, दूरीभूतः सदागमः । अभ्यासमकामो सम्प्रुटौ, महामोहपरिग्रहो ॥ ६४४ ॥ अथान्यदा समा-
यातः, सोऽकलङ्कयुतः पुनः । शुभाशुभैः समाकीर्णः, सूरिः कोविदनामकः ॥ ६४५ ॥ ततोऽकलङ्कदाक्षिण्याद्दत्तोऽयं तस्य वन्दकः ।
दृष्टोऽकलङ्कः सूरिश्च, वन्दितो मुनिभिर्युतः ॥ ६४६ ॥ दृष्टश्च—ज्ञानालोकेन विज्ञात, तेन कोविदसूरिणा । मदीयं चरितं सोऽकार
कलङ्केन चाखिलम् ॥ ६४७ ॥ ततः प्रोक्तोऽकलङ्केन, सूरिर्नाथ¹ निवेद्यताम् । सदागमस्य माहात्म्यं, घनवाहनभूभुजे ॥ ६४८ ॥
तथा दुर्जनसङ्गे च, ये दोषाः सन्ति देहिनाम् । निवेदनीयास्तेऽप्यस्मै, विक्षेप येन बुध्यते ॥६४९॥ युग्मम् । ततः सदागमे भक्तो, दुष्ट
स्पर्शवर्जितः । इहामुत्र च येनायं, सुखसन्दोहमश्नुते ॥ ६५० ॥ कोविदसूरिणाऽभिहितं—एवं क्रियते, समाकर्णयतु महाराजः—ततो
अकलङ्कोपरोधेन भवभावं स्थितोऽत्र सूरेः महत्तरः, सूरिणाऽभिहितं—अस्ति क्षमातलं नाम नगरं तत्र स्वमलनिचयो नाम राजा
तस्य तदनुभूतिर्नाम महादेवी, तयोश्च कोविदबालिशाभिधानौ द्वौ तनयौ, इतश्च जन्मान्तरे तस्य कोविदस्यासीदनेन सदागमेन सह
परिचयः, ततो भावसुन्दरोऽयं तत्त्वीहापोहमार्गणगवेषणं कुर्वतः सदा तस्य आविर्भूतम् अनुग्रहविधानम्ः गृहीतोऽयं द्विगुणपुत्रा
मिवेति बालिशस्य तस्य स्वरूपं न प्रतिपन्नं तेन पापात्मना, इतश्च कर्मपरिणाममहाराजेन प्रहिता तयोः कोविदबालिशयोः स्वयंवरा
श्रुतिर्नाम कन्यका, तस्याश्च प्रहितोऽनुगामी सङ्गोऽतिचतुरः सम्बन्धघटनापटुः सङ्गो नाम दासदारकः, आगतः च पुरो दृष्टवती तौ
तया भ्रातरौ परिणीता सा ताभ्यां, अस्ति च तयोः कोविदबालिशयोः परिसरे निजदेहो नाम पर्वतः तस्यास्ति मूर्धाभिधानस्योपरि
महाकूटं तस्योभयपार्श्वयोर्विधेयं सपरिक्षेपे श्रवणनामिके द्वे अपवरिके हट्टे ते तया अभिरुचितस्वस्थानयोर्निवासः ततः स्थिता तयो-
रेव सा भर्तृनुज्ञाता सती, तत्र च कृतनिवासा सा श्रुतिस्ताभ्यां कोविदबालिशाभ्यां सार्धं विचरतीति ।—इतश्च तौ समासाद्य, परि

तुष्टः स बालिशः । ततश्च चिन्तयत्येव, महाहर्षवशं गतः ॥ ६५१ ॥ धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं, यस्येयं मम सुन्दरी । मनोहरा श्रुतिर्भार्या, सपन्ना पुण्यकर्मणः ॥ ६५२ ॥ ततश्च तादृक्ष मत्वा, श्रुतौ स्नेहपरायणम् । बालिशं मधुरैर्वाक्यैः, स सङ्गः समभाषत ॥ ६५३ ॥ भवानत्यन्तसुन्दरो देव!, दैवेन हितकारिणा । देवेन सार्धं स्वामिन्याः, संयोगो घटितो ध्रुवम् ॥ ६५४ ॥ तथाहि—रूपं वयः कुलं शीलं, लावण्यं च परस्परम् । दम्पत्योः प्रेमसहितमनुरूपं सुदुर्लभम् ॥ ६५५ ॥ एवञ्च युवयोः सर्वं, सपन्नं पुण्यकर्मणा । केवलं चर्चनीयोऽयं, प्रभावन्यो मनोहरः ॥ ६५६ ॥ ततः स बालिशेनोक्तः, शठात्मा हासदायकः । यथा कथं स वर्णेत?, स प्राह प्रियसेवनात् ॥ ६५७ ॥ बालिशः प्राह किं तस्याः, प्रियं? सङ्ग! निवेद्यताम् । सङ्गेनोक्तं यथा देव!, प्रियोऽस्या मधुरो ध्वनिः ॥ ६५८ ॥ बालिशः प्राह यद्येव, ततस्तस्य गवेषणम् । अभ्यान्तः कारयाम्येनां, साधु साधु निवेदितम् ॥ ६५९ ॥ महाप्रसाद इत्येव, तुष्टः स च चारकः । स्नेहाभिवेशितस्तेन, हृदये बालिशेन भोः! ॥ ६६० ॥ ततश्च काकलीगीतवेणुवीणादिकं स्वनम् । तां श्रुतिं भावयन्नेव, बालिशो हन्त मोदते ॥ ६६१ ॥ चिन्तयति च—अहो सुखमहो स्वर्गस्तथाऽहो मम धन्यता । यस्येदृशी श्रुतिर्भार्या, सततानन्ददायिका ॥ ६६२ ॥ ततश्च—हृदये चारकं कृत्वा, स सङ्गस्नेहनिर्भरः । श्रुत्वे स लालनं कुर्वन्नास्ते नित्यं कलस्वनैः ॥ ६६३ ॥ स्पर्शं वेमाप्य कर्णस्य, धर्मादूरेण स स्थितः । पितृप्रायतया ख्यातो, हास्यप्रासो विवेकिनाम् ॥ ६६४ ॥ इतश्च कोविदेनापि, भणितोऽयं सदागमः । मद्यसेपा स्थिता भार्या, किं वा नेति? निवेद्यताम् ॥ ६६५ ॥ ततः सदागमेनोक्तं, न स्थिता ते नरोत्तम! । सस्नेहं श्रुतिर्भार्या, तत्रा कर्मैव कारणम् ॥ ६६६ ॥ इयं हि प्रहिता पूर्वं, रागकेसरिसन्निधेः । इह जगद्वशीकर्तुं, पञ्चमानुषसम्पदा ॥ ६६७ ॥ इतश्च—स कर्मपरिणामस्य, भागन्यो रागकेसरी । प्रसिद्धमरटो लोके, तस्यामात्यो विशेषतः ॥ ६६८ ॥ स कर्मपरिणामाख्यः, सार्वभौमो नृपा

रपि ॥ ६४३ ॥ ततो मां तादृशं मत्वा, दूरीभूतः सदागमः । अन्यात्मजामी संतुष्टौ, महामोहपरिग्रहौ ॥ ६४४ ॥ अथान्यदा समायातः, सोऽकलङ्कयुतः पुनः । सुसाधुभिः समाकीर्णः, सूरिः कोविदनामकः ॥ ६४५ ॥ ततोऽकलङ्कशाखिन्यादृतोऽहं तस्य वन्दकः । गतोऽकलङ्कः सूरिश्च, वन्दितो मुनिभिर्युतः ॥ ६४६ ॥ इतश्च—ज्ञानालोकेन विज्ञाय, तेन कोविदसूरिणा । मदीयं चरितं सोपकारं अकलङ्केन भाषितम् ॥ ६४७ ॥ ततः प्रोक्तोऽकलङ्केन, सूरिर्नाथ! निवेद्यताम् । सदागमस्य माहात्म्यं, घनवाहनभूभुजे ॥ ६४८ ॥ तथा दुर्जनसङ्गे च, ये दोषाः सन्ति देहिनाम् । निवेदनीयास्तेऽप्यस्मै, विशेषं येन बुध्यते ॥६४९॥ युग्मम् । ततः सदागमे भक्तो, दुष्टसम्पर्कवर्जितः । सद्यश्च येनायं, सुखसन्दोहमश्नुते ॥ ६५० ॥ कोविदसूरिणाऽभिहितं—एवं क्रियते, समाकर्णयतु महाराजः—ततो अकलङ्कोपरोधेन अवसाय स्थितोऽहं सूरेः सकाशे, सूरिणाऽभिहितं—अस्ति क्षमातलं नाम नगरं तत्र स्वमलनिचयो नाम राजा तस्य तदनुभूतिर्नाम महादेवी, तयोश्च कोविदबालिशाभिधानौ द्वौ तनयौ, इतश्च जन्मान्तरे तस्य कोविदस्यासीदनेन सदागमेन सह परिचयः, ततो पापसुनरंवोऽयं तावदीहापोहमार्गणगवेषणं कुर्वतः सञ्जातं तस्य जातिस्मरणं प्रादुर्भूतानन्दः गृहीतोऽयं द्विगुणतरस्नेहेन निवेदितं बालिशाय एतस्य स्वरूपं न प्रतिपन्नं तेन पापात्मना, इतश्च कर्मपरिणाममहाराजेन भगिनी तयोः कोविदबालिशयोः स्वयंवरा श्रुतिर्नाम कन्यका, सा च प्रविशोऽभ्यागामी शब्दोऽविश्रुतः सम्यग्घटनापटुः सङ्गो नाम दासदारकः, आगता च द्वौ तावपि तौ तथा भ्रातरौ परिणीता सा ताभ्यां, अस्ति च तयोः कोविदबालिशयोः परिग्रहे निजदेहो नाम पर्वतः तस्यास्ति मूर्धाभिधानमुपरि महाकूटं तस्योभयपार्श्वयोर्विवरे सपरिक्षेपे श्रवणनामिके द्वे अपवरिके स्थिते ते तथा अभिरुचितस्थानयोर्निवासः ततः स्थिता तयो रेव सा भर्त्रनुज्ञाता सती, तत्र च कृतनिवासा सा श्रुतिस्ताभ्यां कोविदबालिशाभ्यां सार्धं विचरतीति ।—इतश्च तां समासाद्य, परि

॥ ६८७ ॥ अथ ताभ्यां समारब्धं, मधुरं कर्णपेशलम् । परस्परेर्ष्यया गीतं, परिपाट्या मनोरमम् ॥ ६८८ ॥ ततस्तौ क्षिप्तरागस्तौ, भूप! कोविदबालिशौ । रासभस्मिगुणोद्गीतमृत्या गाढं प्रबोधितौ ॥ ६८९ ॥ ततश्च—हृदयस्थितसङ्गेन, बालिशेन दुरात्मना । सा श्रुतिः स्थापिता, द्वारे तस्याकर्णनतत्परा ॥ ६९० ॥ तस्यामर्पितसद्भावः, सोऽपि तादात्म्यमागतः । रसेन निर्भरीभूतो, न चेतयति किंचन ॥ ६९१ ॥ तत स तेन सङ्गेन, स्ववीर्येण तथा कृतः । गन्धशैलसमो रम्भे, प्राहृत्य पतितो यथा ॥ ६९२ ॥ दुर्दान्तस्फोटपातेन, तेन गान्धर्वठिमरा । गात्रपातावष्टब्धा, बालिशे रोषमागताः ॥६९३॥ ततोऽभिद्रुतमेतैस्तैः परस्परं भरे रे—कस्कोऽयं लात लातेति, ततो बद्धश्च बालिशः । चूर्णितः सकल सर्वैर्दुःखमारेण मारितः ॥ ६९४ ॥ इतश्च—सदागमोपदेशेन, त्यक्तसङ्गः स कोविदः । तत्र गीते सदा मूर्च्छां, श्रुत्वा पुत्रोऽपि नो गतः ॥ ६९५ ॥ ततश्च पतितं दृष्ट्वा, बालिशं हन्यमानकम् । तस्मात्तूर्णमपक्रान्तो, गिरेस्तूनात्स कोविदः ॥ ६९६ ॥ सद्धर्मघोषनामानं, सूरिमासाद्य सुन्दरम् । जातो बालिशवृत्तान्त, दृष्ट्वा साधुः प्रबुद्धधीः ॥ ६९७ ॥ क्रमाच्च गुरुणा तेन निजस्थाने निवेशितः । स एषोऽहं महाराज!, विज्ञेयः कोविदस्त्वया ॥ ६९८ ॥ यदेव स कुमित्रेण, तेन सङ्गेन नाशित । महादुःखसमाक्रान्तो, भ्राता मे भूप! बालिश ॥ ६९९ ॥ अहं तु मोचितोऽनेन, सर्वथा हितकारिणा । सदागमेन निःशेषात्तस्माद्दुःखजालकात् ॥ ७०० ॥ मातश्च सततादाय, सांप्रतं कृष्यसयमः । अत एवास्य निर्देशमधुनाऽपि करोम्यहम् ॥ ७०१ ॥ सर्वेषोऽखिलभूताना, हितकारी सदागमः । दुष्टान्तरङ्गलोकेन, मैत्री पर्यन्तदारुणा ॥ ७०२ ॥ एवं स्थिते महाराज!, पुरुषेण हितेषिणा । त्यक्तव्यो दुष्टसम्पर्को, न च त्याज्यः सदागमः ॥ ७०३ ॥ ततश्चेदं गुरोर्वाक्यमाकर्ण्यात्यन्तपेशलम् । मयेऽगृहीतसङ्केते!, तदा मे हृदि संस्थितम् ॥ ७०४ ॥ अये! मा त्याजयत्येष, महामोहपरिग्रहो । सदैष कारयत्युच्चैरादरं च सदागमे ॥ ७०५ ॥ एष च

षिपः । शुभाशुभकरत्वेन, लोके विप्रासवो गवः ॥ ६६९ ॥ एव च स्थिते—इय परटकन्येति, मत्वा नाशीकरिष्यसि । अथ मनस
वस्तेन, रागद्वेषरसभिचा ॥ ६७० ॥ वास वस्याऽभवः सीय, सा सम्बन्धकारिणम् । महाराजसुतास्येन, स्थापितेय मुक्तिः पुरा
॥६७१॥ युग्मम् । स कर्मपरिणामोऽस्मा, जनकस्तेन गीयते । सुवेय परमार्थेन, रागकेसरिमभिप ॥६७२॥ जगतो बन्धकत्वेन, या च
तेन दुरात्मना । प्रयुक्तेय कुष्टात्मा, हिंसव हन्त विधते ? ॥ ६७३ ॥ सवम—यपपीय कथा भाया, मवता भवबन्धिका । मा कार्षी-
र्मद्र ! विश्वास तथाप्यस्याँ कथाचन ॥ ६७४ ॥ न चेय शक्यतेऽयापि, विहातु मित्रपत्रिका । केवल वर्जनीयोऽस्य, सर्वथा प्रासदारकः
॥ ६७५ ॥ अनेन रहिताऽत्यन्त, सुखिः सन्नेन पामिना । इय च विपमानापि, मद्र ! ते दोपकारिणी ॥ ६७६ ॥ यत—मनिष्टशब्द
विविध, मधुरध्वमिलोलुपा । अस्मात्संभावते सद्य श्रुतिरेषा न तु स्वयम् ॥ ६७७ ॥ यावच्च मेरयत्नेपा, रागद्वेषपरायणा । सो सद्गस
हिता तात !, वस्यते दुःखमालिका ॥ ६७८ ॥ यतोऽस्मिन् वर्जिते सम्बे, शब्दमवकलस्तरा । भवत्यपीय मध्यस्था, न ते तात ! सिपा-
दिका ॥ ६७९ ॥ तदेष मद्रे दुरात्मा, सर्वथा प्रासदारकः । दुःखकारणभूतस्ते, सद्यस्त्यजनमर्हति ॥ ६८० ॥ ततः प्रपद्य तद्वेष,
वत्सशागममाषितम् । कोविदेन परित्यक्तः, स सद्य द्रविदारकः ॥ ६८१ ॥ ततः श्रुता श्रुतोऽप्येष, सन्तोषसुस्थविवर्जितः । भावय
मपि साम् सर्वालोके स्वास्थ्योऽमवत्सुखी ॥६८२॥ एव च वर्तमानौ तौ, श्रुता कोविदबालिशौ । सद्यागमप्रभावौ, सुखदुःखप्रपूरितौ
॥ ६८३ ॥ यथास्ति तुङ्गशिखरो वरिष्ठो महागिरिः । सत्राप्यथा ससारूढौ, मूप ! कोविदबालिशौ ॥ ६८४ ॥ तथास्ति शिखरे
रम्य, विशाल देवनिर्मितम् । मदप्रमूढ मानुष्यैर्गत्वा मूमौ प्रतिष्ठितम् ॥ ६८५ ॥ इतश्च—एक गान्धर्वमिथुन, किन्नर च यथापरम् ।
गेये परस्परस्पर्धौ, तदा जाताऽनयोर्मयोः ॥ ६८६ ॥ ततः परीक्षकैर्युक्ते. ते रन्भे तत्र देविके । पक्षान्तमिति विज्ञाय, परीक्षार्थमुपागते

कलङ्कः कृपया, मत्समीपमुपागतः ॥ ७१९ ॥ ततः स मां महाभागो, दृष्ट्वा शोकवशीकृतम् । विमुक्ताशेषसत्कृत्यं, दययैवममापत
॥ ७२० ॥ किमिदं भो समारब्धं, भवता धनवाहन ! । किं मे विस्मारितं वाक्यं, किं वा त्यक्तः सदागमः ? ॥ ७२१ ॥ किमेष दुष्ट-
शोकेन, भवानेवं विलीकृतः । कृतं च यापतस्त्वेन, किमिदं बालचेष्टितम् ? ॥ ७२२ ॥ यां च त्वं स्मरसि नित्यं, देवीं मदनसुन्दरीम् ।
लोकोऽयं बाधते चित्तं, तत्कार्यं किं न बुध्यसे ? ॥ ७२३ ॥ तथाहि—सर्वेऽमी जन्तवो नित्यं, कृतान्तमुखकोटरे । वर्तन्तेऽत्र क्षणं
भूप !, यज्जीवन्ति तदद्भुतम् ॥ ७२४ ॥ स हि नापेक्षतेऽवस्थां, प्रेमाबन्धनसुन्दराम् । दलयत्येव भूतानि, भयबन्धुरवारणः ॥ ७२५ ॥
यद्यत्सज्जनसत्सम्यं, जननेत्रमनोहरम् । तत्सन्निपातयत्येष, कृतान्तहिमशीकरः ॥ ७२६ ॥ न मन्त्रा न धनं भूरि, न वैद्या न
च भेषजम् । न चाश्वा न देवेन्द्रा, मृत्यो रक्षन्ति देहिनम् ॥ ७२७ ॥ इत्थमप्रतीकारे, जाते मरणविधुरे । सिद्धोऽयं मार्ग इत्येवं,
ज्ञात्वा को विह्वलो भवेत् ? ॥ ७२८ ॥ एवं कुरुते नित्यमभ्रान्तो धर्मदेशनाम् । सोऽकलङ्को महाभागो, मम शोकापनेच्छया ॥ ७२९ ॥
भद्र पुनर्महामोहवशगत्वान्न लक्षये । नष्टबुद्धिः प्रलापेन, च शोकमनुवर्धयम् ॥ ७३० ॥ कथं !—हा बाले हा प्रिये मुग्धे, हा चा-
र्वङ्गि ! वरानने । हा पद्मनेत्रे हा सुभ्रु, हा कान्ते मधुभाषिणि ! ॥ ७३१ ॥ हा भर्तृवत्सले देवि !, हा हा मदनसुन्दरि ! । क्व गताऽसि
विहायेमं, रुदन्तं धनवाहनम् ? ॥७३२॥ दीयतां दर्शनं तूर्णं, समापो मे विधीयताम् । क्षीयतां मामके देहे, वैक्लव्यमपनीयताम् ॥७३३॥
इत्येवं मत्प्रभुचेरकलङ्कस्य धीमतः । भद्रे ! तथाविधं वाक्यं, न जानामि विचेतनः ॥ ७३४ ॥ दयापरीतचित्तोऽसौ, ततो मां वीक्ष्य
तादृशम् । अकलङ्कस्तदा भद्रे !, पुनः प्राह महामतिः ॥ ७३५ ॥ यथा "भो भो महाराज धनवाहन ! न युक्तमीदृशं भवादृशां विधातुं
"धातचरितं तत्परित्यज धीरतां धारय स्वस्थतां नयान्तःकरणं समुपलमानं विरहवेगमेकान्तेनाप्रिय महामोहं मुञ्च शोकं धि

स्थिते—अहं किं करवाणीति, यावच्चिन्तामुपागतः । तावत्समागच्छतानाकुलत्वेन भस्मितम् ॥ ७०६ ॥ यदुत—सुन्द भगवतो वाक्यं,
किं वा नो धनवान्‌त ! । मयोक्तं सुष्ठु भो सुन्द, स प्राह क्रियतामिदम् ॥ ७०७ ॥ ततो गाढरूक्षतयाऽतत्त्वेन साधं धर्मपरस्यापि चास्य
प्रभावतया भगवत्कोविदसूरिसन्निधानस्य प्रमादमवर्धितया कर्ममन्थिमानस्य अस्तुपरदानसामर्थ्यविकलत्वया च भवितव्यता तदाऽतत्वरू-
पतं सम्यग्भूतो भूयः सदागमः अनुशीलितं चैत्यवन्दनादिकं अनुष्ठितं पूर्वपठितादिकं प्रवर्तितं पुनर्दानादिकं इयद्भूतो महामो-
हपरिग्रहौ प्रच्छन्नोऽवस्थितवया न पुनर्मोक्षसारतया, ततोऽहं विगतमूर्च्छ इव सांसारिकपदार्थेषु सतृष्णचित्त इव विषयनिचयेषु यदा च
स्थितोऽवस्थितेन, ततो गतः सोऽन्यत्र विहाराय सह सूरिणा—तस्य दूरंगमत्वा, महामोहपरिग्रहौ । भूयोऽप्युपस्थितौ भद्रे', दूरीभूतः
सदागमः ॥ ७०८ ॥ ततः शिथिलितं कृत्यं, विस्मृता धर्मदेशना । सञ्जातोऽहं पुनस्तुल्यस्तद्दीपास्ते पलायमानः ॥ ७०९ ॥ ततो चिन्त
यमूर्च्छाम्भो, धनसञ्चयतत्परः । भूरिकन्याहिरण्याय, पीडयामि महीजनम् ॥ ७१० ॥ अन्यःपुरसहस्राणि, भूरिभोगपिपासया । हिरण्य
सत्कूपानां, मीलितानि सहानि च ॥ ७११ ॥ अहिरण्यीकृता पृथ्वी, महामोहवशेन च । तस्याप न जगत्यस्मि, यथदा न कृत मया
॥ ७१२ ॥ स च पुण्योदयोऽभीष्टं, सर्वं ढौकयते मम । मया तु तस्य विज्ञातं, ततोऽसौ कुपितो मनाक् ॥ ७१३ ॥ तदा मे महा-
देवी, नाम्ना मदनसुन्दरी । अनन्यबल्लभाऽमूत्सा, मृता शूलेन विह्वला ॥ ७१४ ॥ अत्रान्तरे समायातः, स्वामिभूतविभीषकः । अवि-
चारको भद्रे !, शोकनामा मनुष्यकः ॥ ७१५ ॥ स प्रणम्य महामोहं, स्वामिनं विहितादरः । तदत्रावसरे ज्ञात्वा, मामालिङ्गति मा-
यया ॥ ७१६ ॥ ततोऽहं कृतपूत्कारो, दैन्याक्रन्दनरोदनम् । स्मृत्वा स्मृत्वा करोम्युच्चैर्देवी मदनसुन्दरीम् ॥ ७१७ ॥ त्यक्तः शरीरसं-
स्कारो, राज्यकार्यं प्रमादितम् । जातो महदीवामस्ततोऽहं दुःखपूरितः ॥ ७१८ ॥ अथ मामकृतपाल्यं, कर्पूपिमनवार्षया । श्रुत्वाऽ-

सागरः, पृष्टोऽनेन रागकेसरी, कृता तेनानुज्ञा, बहुलिकयोक्तं—तात ! यत्र सागरो गच्छति तत्र ममापि यातव्यं, यतो विदितमेवेदं तातस्य
न खल्वेष सागरः क्षणमपि मया विना वर्तते, रागकेसरिणोक्तं—वत्से ! यद्येवं ततो गच्छतु भवती, किं च—इयमपि कृपणता सागरस्य
शरीरभूता जीवितभूता च वर्तते ततेयमपि गच्छतु येनास्य धृतिः संपद्यते, सागरेणोक्तं—तात ! महाप्रसादः, ततः समागतानि तानि म-
दभ्यर्णे, दृष्टौ तद्दर्शनेन महामोहपरिग्रहौ, समालिङ्गितोऽहं कृपणतया, ततः प्रवृत्ता ममेच्छा—यदुत किमनेन ममादृष्टपरलोकसाधने
व्यया दक्षसुतहेतुना धनेन व्ययितेन प्रयोजनं ?, अथ चाकलङ्कः प्रतिदिनं मामुत्साहयति यथा यदि भावस्तवकरणे नाद्यापि तवोत्साहः
ततो महाराज धनवाहन ! द्रव्यस्तवकरणे तावदादरं कुरुष्वेति, व्ययितं च सहारेण महत्तमं धनं वर्तते तदत्र किं करवाणीति चिन्तयतो
मे विहितं बहुलिकयाऽऽलिङ्गनं, ततः प्रादुर्भूता मे कुबुद्धिः—यथा प्रेषयामीतः केनचिद्वचनविन्यासेन तावदेनमकलङ्कं, ततो न भविष्यति
ममायं धनव्ययः, ततोऽभिहितो मयाकलङ्कः—यथा भदन्त ! मदुपकारार्थमिहागता यूयं, अद्य संपादितो ममोपकारः संपूर्णो भवतां मास
कल्पः ततस्ते युष्मद्दर्शनोत्सुकीभविष्यन्ति भगवन्तः कोविदाचार्याः संभविष्यतेऽस्माकमुपालम्भः ततो विहरत यूयं वयं च करिष्यामो
युष्मदादेशं, न भगवद्भिश्चिन्ता कार्येति, तदाकर्ण्य विहृतोऽकलङ्कः प्राप्तो गुरुसमीपं—ततो भूयोऽपि धर्मार्थं, विनिवार्य धनव्ययम् ।
संजातं सागरावेशादहं रक्तः परिग्रहे ॥ ७३६ ॥ ततः परिग्रहेणोक्तः, सागरो मित्रवत्सल ! । नीयमानः क्षयं साक्षादहमो रक्षित-
स्त्वया ॥ ७३७ ॥ त्वत्तोऽपि मे विशेषेण, सपत्नी भ्रातृवत्सला । यथा कृपणता मित्र !, मम जीवितदायिका ॥ ७३८ ॥ गाढं बहु
लिकाप्येषा, यया मदुपकारिणी । सोऽकलङ्को महाधूर्तो निर्वासितो यया ॥ ७३९ ॥ तथाऽत्र विहितं चारु, यदागत्य नरोत्तम ! ।
सदर्शितोऽर्थके भक्तिः, पालितोऽयं त्वया जनः ॥ ७४० ॥ एवं च मायया च, महामोहः परिग्रहम् । मत्सुताश्च यथा वत्स !, साधु

"विभव परिग्रह मनुवर्तय सदागम समाचर तदुपदिष्ट अनय मम चित्तप्रमोद, किं विस्मृत भवतोऽमुनैव तस्यानुचिन्तित भवप्रदीपनक ?,
"किं न स्मरसि तत्ससारापानक ? किं न चिन्तयसि त भवारघट्ट ? किं न ध्यायसि त सकर्मकजीवपट्टमठपृसान्त ? किं न पर्यालोच
"यसि तां मनुष्यजन्मरत्नद्वीपदुर्लभतां ? किं न निर्विद्यसे यसस्तत्र जन्मसन्तानदुर्गमार्गे ? किं विस्मारयसि तां चित्तवानरशरीररूपतरलता ?
"किं नानुशीलयसि तथैव सतत रक्षण ? किं बभ्रमीपि तेषु विषयविषवृक्षेषु ? किं लुठसि तस्मिन्नधनिपयसङ्गे पञ्चकुसुमफलरज रूपवरे किं
"निपातयसि जानमपि मोक्षमार्गमात्मानं घोरेषु महानरकेषु ? किं नावेदयसि तेनोपायेनात्मान यत्र सततानन्दे शिवालयमठे ?, संसारे
हि निवसता महाराज ! देहिनां करतलस्थानि व्यसनानि सुलभाः प्रियजनविप्रयोगाः अदूरगा महाव्याधय प्रत्यासन्नानि दुःखानि अत
"श्यमावीनि मरणानि, तत पुरुषस्य विमलविवेक एवात्र त्राण नापरमिति" । ततोऽहं मयेऽगृहीतसङ्केते ! गाढमसुप्त इव प्रतिबोधकध्व
निपरम्परया विषमूर्छित इव सत्कृतमन्त्रापमार्जनया मदिरामत्त इव शीघ्रभयदर्शनतया मूर्छित इव सलिलशीकरव्यजनक्रियया चन्मत्तक
इव सुवैद्यप्रयुक्तभेपजसामर्थ्या तथाऽकलङ्कवचनपद्धत्या सजातः प्रत्यागतचेतनः ॥ ततः शोकेन प्रणम्याभिहितो महामोह —यथा देव !
प्रत्यासन्न नायमकलङ्को सन्निहितेषु वर्तते, महामोहः प्राह—वत्स ! विषमोऽयमकलङ्कः प्रतारयति चमोऽमु पनवाहन, आवयोरपि
पतिकमन्यत्र भविष्यति तथापापि जानीमः तदूष्व तावत्त, केवल पुनः प्रतिजागरणं विधेय केनापि भवताऽऽवयोरिति, शोकेनोक्त—
यदाज्ञापयति देवः, ततो गतः शोकः प्रतिपन्न मयाऽकलङ्कवचन तत्स्वीकृतः सदागमः अवधीरितौ मनाक् महामोहपरिग्रहौ समालित
पूर्वपठित विहितोऽपूर्वश्रुतमहाव्रतः कारितानि जिनभवनबिम्बादीनि प्रवर्तितानि यात्रास्नात्रपात्रदानप्रभृतीनि, ततः कृतो मया तावदेष
गुणभाजनमिति सतुष्टोऽकलङ्कः, अत्रान्तरे प्रियमित्रपरिग्रहोन्मापकेन विपुरितहृदयः प्रवृत्तो मत्समीपागमनाय महामोहमतिसागरक

सागरः, पृष्टोऽनेन रागकेसरी, कृता येनानुज्ञा, नहुलिकयोक्तं—तात ! यत्र सागरो गच्छति तत्र मयापि यातव्यं, यतो विदितमेवेदं तातस्य न खल्वेष सागरः क्षणमपि मया विना वर्तते, रागकेसरिणोक्तं—वत्से ! यद्येवं ततो गच्छतु भवती, किं च—इयमपि कृपणता सागरस्य शरीरभूता जीवितभूता च वर्तते तदेषाऽपि गच्छतु येनास्य धृतिः संपद्यते सागरेणोक्तं—तात ! महाप्रसादः, ततः समागतानि तानि मे इत्यर्णे, दृष्टो यद्दर्शनेन महामोहपरिग्रहो, समालिङ्गितोऽहं कृपणतया, ततः प्रवृत्ता ममेच्छा—यदुत किमनेन ममादृष्टपरलोकसाधने ऽप्युपयोगरहितेनाऽनुपयुक्तेन धनेन व्ययितेन प्रयोजनं ?, अथ चाकलङ्कः प्रतिदिनं मामुत्साहयति यथा यदि भावस्तवकरणे नाद्यापि तवोत्साहः ततो महाराज धनवाहन ! द्रव्यस्तवकरणे तावदादरं कुरुष्वेति, व्ययितं च तद्द्वारेण बहुतमं धनं वर्तते तदत्र किं करवाणीति चिन्तयतो मे विहिता बहुलिकयाऽऽलिङ्गनं, ततः प्रादुर्भूता मे कुबुद्धिः—यथा प्रेषयामीत केनचिदुपनविन्यासेन तावदेनमकलङ्कं, ततो न भविष्यति ममायं धनव्ययः, ततोऽभिहितो मयाऽकलङ्कः—यथा भदन्त ! मदुपकारार्थमिहागता यूयं, अतः संपादितो ममोपकारः संपूर्णो भवतां मासकल्पः ततस्ते युष्मदर्शनमुन्मनीभविष्यन्ति भगवन्तः कोविदाचार्याः संजनिष्यतेऽस्माकमुपालम्भं यतो विहरत यूयं वयं च करिष्यामो युष्मदादेशं, न भगवद्भिश्चिन्ता कार्येति, तदाकर्ण्य विहृतोऽकलङ्कः प्राप्तो गुरुसमीपं—ततो भूयोऽपि धर्मार्थं, विनिवार्य धनव्ययम् । सञ्जातः सागरादेशादहं रक्तः परिग्रहे ॥ ७३६ ॥ तत परिग्रहेणोक्तं, सागरो मित्रवत्सलः ! । नीयमानं त्वया साक्षादहं भो रक्षित-स्त्वया ॥ ७३७ ॥ त्वत्तोऽपि मे विशेषेण, सपत्नी भ्रातृवत्सला । एषा कृपणता मित्र !, मम जीवितदायिका ॥ ७३८ ॥ गाढं बहुलिकाप्येषा, श्रेया मदुपकारिणी । सोऽकलङ्को महाशत्रुर्गाढं निर्वासितो यया ॥ ७३९ ॥ तदारु विहितं चारु, यदागत्य नरोत्तम ! । सदर्शिताऽऽत्मके भक्तिः, पालितोऽयं त्वया जनः ॥ ७४० ॥ एवं च भाषमाणं तं, महामोहः परिग्रहम् । प्रत्युवाच यथा वत्स !, साधु

"विरुम परिमह मनुवर्तय सदागम समाचर तदुपदेश जनय मम चित्तप्रमोद, किं विस्मृत भवतोऽधुनैव तत्साधुनिवेदित भवप्रदीपनक?,
'किं न स्मरसि वत्ससारापानक? किं न चिन्तयसि च भवारघट्ट? किं न ध्यायसि च सकर्मकजीवघट्टमठवृत्तान्त? किं न पर्यालोच
"यसि त्वां मनुष्यसम्मरमध्यपदुर्लभता? किं न निर्विद्यसे वसतात्र जन्मसन्तानदुर्मार्गे? किं विस्मारयसि त्वां चित्तवानरदीपरूपवरक्षां?
किं नानुशीलयसि धर्मैव सतत रक्षण? किं धावसीपि तेषु विषयविषवृक्षेषु? किं लुठसि वस्त्रिभवनधनिचयसमे पञ्चकुसुमफलरजःकपवर किं
'विपातयसि आत्मानमपि मोक्षमार्गमास्मान घोरेषु महानरकेषु? किं नारोहयसि तेनोपायेनात्मान तत्र सदानन्दे शिवालयमठे?, संसारे
"हि निवसतां महाराज! देहिनां करतलस्थानि व्यसनानि सुलभाः प्रियजनविप्रयोगाः भङ्गुरा महाव्याधयः प्रत्यासन्नानि तु तानि भव
'भयभाजीनि मरणानि, ततः पुरुषस्य विमलविवेक एवात्र त्राण नापरमिति"। ततोऽहं मेऽग्रहीतसङ्केते! गारुडमन्त्र इव प्रतिबोधकध्व
निपरम्परया विषघूर्णित इव सत्कारमन्त्रपमार्जनया मदिरामत्त इव क्षीणमदपवनतया मूर्छित इव सलिलशीकराभ्यञ्जनक्रियया उन्मत्तक
इव सुवैद्यप्रयुक्तभेषजमाहात्म्या तयाऽऽकूतवचनपटुतया सवाचः प्रत्यागतचेतनः॥ ततः शोकेन प्रणम्याभिहितो महामोह—यथा देव!
प्रसाद्य नायमकलङ्को मममिहासितु ददाति, महामोहः प्राह—वत्स! विषमोऽयमकलङ्कः प्रसारयति कर्णोऽमुं पनवाहन, भाववयोरपि
यत्किमप्यत्र मतिस्मति वमायापि आजीमः तद्गच्छ तावत्, केवलं पुन प्रतिजागरण विधेय केनापि भवताऽऽवयोरिति, शोकेनोक्त—
यथाज्ञापयति देवः, ततो गतः शोकः प्रतिपन्न मयाऽकलङ्कवचन बहुमीकृतः सदागमः भवनीरितौ मनाक् महामोहपरिग्रहौ तन्मध्य
पूर्वपठित विशिष्टोऽपूर्वमुसमत्पादरः कारितानि जिनभवनबिम्बादीनि प्रवर्तितानि यात्रास्नात्रपात्रदानप्रभृतीनि, ततः कृतो मया तावेव
गुणभाजनमिति सद्बोधोऽकलङ्कः, अत्रान्तरे भिन्नभिन्नपरिग्रहोन्मादकेन विधुरितहृदयः मन्त्री मत्समीपागमनाय महामोहप्रतिसागरकः

च सा कन्या, सततोद्दामलीलया । संसारातीतमाहात्म्या, मुनीनामपि वल्लभा ॥ ७६० ॥ सा सर्वसम्पदां मूलं, सा सर्वक्लेशनाशनी ।
निरन्तानन्दसन्दोहदायिका सा निगद्यते ॥ ७६१ ॥ भवता कन्यका चिन्त्या, यदाऽसौ घनवाहन । लप्स्यते मोक्षदाऽमुष्मात्सदागमोऽहो
वियोक्ष्यते ॥ ७६२ ॥ यत —सा कन्या विजवीर्येण, विरुद्धाऽनेन पापिना । न विद्यते सहावस्था, अनयोस्तेन हेतुना ॥ ७६३ ॥ किं
च—यथा निरीहता नाम, कन्याऽन्या विद्यतेऽनघा । चारित्रधर्मराजस्य, दुहिता सा मनोरमा ॥ ७६४ ॥ विरतेः कुक्षिसंभूता, प्रा-
णेभ्योऽप्यत्यन्तपूजिता । चारित्रधर्मराजीये, राज्ये सा सर्वसारिका ॥ ७६५ ॥ सद्द्यमस्य साऽभीष्टा, सद्बोधस्यातिवल्लभा । सन्तोषतन्त्रपालेन,
स्वामिभक्तेन वर्धिता ॥ ७६६ ॥ स्वभावसुन्दरा बाला, सपूर्णेच्छा न वाञ्छति । बलालङ्कारमाल्यादि सा विभूषणम् ॥ ७६७ ॥
स्वर्णेन विविधैर्भोगैर्विचित्रै रत्नराशिभिः । न क्षुभ्या लोभमानेषु, कन्यका सा निरीहता ॥ ७६८ ॥ सा निःशेषजगद्वन्द्या, सा मुनीनां
मनोहरा । सा दुःखोच्छेदिका धन्या, सा चित्तानन्ददायिका ॥ ७६९ ॥ तां कन्यां चारुलावण्यां, यदाऽसौ घनवाहनः । लप्स्यते वि
न्यस्य यात्याचरा नूनं परिग्रहः ॥ ७७० ॥ विरोधोऽस्ति यथा सार्धं यवस्तस्य दुरात्मनः । भवता वीक्ष्य पापोऽसौ, गाढभीतो विलीयते
॥ ७७१ ॥ अकलङ्केनोक्तं—कदा पुनरसौ धन्य, ते कन्ये परिणेष्यति । तयोर्दलनकारिण्यौ, भदन्त ! घनवाहनः ॥ ७७२ ॥ कोविद
सूरिणोक्तं—भूयसाऽपि कालेन, तयोर्लाभो नरोत्तम ! । लप्स्यते भवेभूनं, स तयोः परिणायकः ॥ ७७३ ॥ अथाकलङ्कः प्रत्याह,
युष्मभ्यं यदि रोचते । ततोऽहं लम्भयामीति, ते कन्ये घनवाहनम् ॥ ७७४ ॥ गुरुराह महाभाग !, नाधिकारो भवादृशाम् । कन्ययोः
प्रापणेऽप्यापि, तयोरेतेन हेतुना ॥ ७७५ ॥ स कर्मपरिणामाख्यस्ते कन्ये दापयिष्यति । घनवाहनराजाय, नोऽपरो दायकस्तयोः ॥७७६॥
दाप्यमाने पुनस्तेन, ते सार्धं कन्यके यदा । हेतुमात्रं भवन्स्तेन, यदा युष्मादृशा अपि ॥ ७७७ ॥ एवं च स्थिते—स एव योग्यतां

सापूरित त्वया ॥ ७४१ ॥ अय हि सागरो वत्स!, सवस्स मम जीवितम् । मदीयमीय निःक्षेप, भावयोऽत्र प्रतिष्ठितम् ॥ ७४२ ॥
अथ निर्मिथ्यमत्वे मे, सागरो मामके बठे । मस्तुतो रम्यपोम्योऽयमय ते रक्षमक्षमः ॥ ७४३ ॥ एव पोढासिवस्तेन, महामोहेन
सागरः । समागतो मां वशीकृत्य, स सदागमबाधकः ॥ ७४४ ॥ ततो विवर्धिताक्रोशो, दूरीकृतसदागमः । संजातस्तत्कृत्योऽत्र, यथा
पूर्वं तथा पुनः ॥ ७४५ ॥ ततो मदीयवृत्तान्तं, समाकर्ण्य कृपापरः । भूयः प्रवर्तितो मत्र!, सोऽकलङ्को मदन्तिकम् ॥ ७४६ ॥ ततः
कथमपागत, येन कोविदसूरयः । विज्ञापिता प्रजामीति, दीपयित्वा प्रयोजनम् ॥ ७४७ ॥ अथ निश्चित्य सद्भाव, माहुः कोविदसूरयः ।
निरर्थकोऽयं ते कुशलतो मा गास्तदन्तिकम् ॥ ७४८ ॥ यथाहि—यावत्तस्य समीपस्थौ, महामोहपरिग्रहौ । तावत्नापापि कर्मण्यः, स
तात! धनवाहनः ॥ ७४९ ॥ यतः—आगच्छन्ति तयोः पार्श्वे, नियमात्सागतादय । तेपामाश्रयभूतौ तौ, सर्वेषां मूलनायकौ ॥७५०॥
वशे च वर्तमानस्य, तस्य तेषां दुरात्मनाम् । कोपदेशाः क वा धर्मः, क सदागमसीठकः? ॥ ७५१ ॥ बधिरे कर्णजापोऽयमन्धे नृत्य
प्रदर्शनम् । ऊषरे बीजनिक्षेपस्तस्य या धर्मदेशना ॥ ७५२ ॥ यतः—असमस्पशस्य सत्कारस्तावत्कीनेन जायते । क्षपनेन ध्वस्तिर्गुर्वी,
साभ्यासस्य मयादृशाम् ॥ ७५३ ॥ अन्यच्च—बोधितो बोधितो भूयः, स होते भावनिद्रया । यावदेतौ समीपस्थौ, महामोहपरिग्रहौ
॥ ७५४ ॥ तदलं ते गतेनार्य!, धनवाहनसंनिधौ । स्वकार्यहानिदे कृत्ये, न वर्तन्ते विचक्षणाः ॥ ७५५ ॥ अकलङ्केनोक्त—भ-
दन्तानर्थसंछुम्यां, ताभ्यां सार्धं तपस्विनः । कदा पुनर्वियोगः स्याद्, धनवाहनभूभुजः? ॥७५६॥ गुरुणोक्त विजानन्ति, च मायेन मया
दृष्टाः । चारित्रधर्मराजस्य, प्रसिद्धो यो महत्तमः ॥ ७५७ ॥ चारित्रधर्मयुक्तेन, स्ववीर्येण विनिर्मिता । तेनास्ति मानसी कन्या, विद्या
नाम मनोहरा ॥ ७५८ ॥ सा सुरूपा विशालाक्षी, जगदाह्लादकारिणी । विज्ञातविश्वभावार्था, सर्वावयवसुन्दरी ॥ ७५९ ॥ निःस्पृहा

सद्भावेन मया नैव, विज्ञाता भवदुष्टता ॥ ७९६ ॥ तथा द्वेषगजेन्द्रोऽपि, सनिमित्तानिमित्तकम् । कुर्वन्नप्रीतिसन्तापं, नितरां मे विभु
म्भितः ॥ ७९७ ॥ तथा—तत्राविवेकिता भार्या, कार्याकार्यविचारणम् । कुर्वन्त वारयत्युच्चैस्तदा मा चक्षुर्वर्तिनम् ॥ ७९८ ॥ तथाहि—
शब्दे रूपे रसे गन्धे, स्पर्शे चात्यन्तलोलुपः । वशीकृतोऽत्र सपत्नो, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥ ७९९ ॥ प्रासेषु गाढमूर्च्छान्धोऽप्राप्ताकांक्षावि
डम्बितः । कृतो भोगेषु सर्वेषु, भार्यया भोगतृष्णया ॥ ८०० ॥ तथा—निर्वीरितमुखो हा हा, हासितोऽत्र निरर्थकम् । हासेन पटुशो
भद्रे!, सद्गाम्भीर्यविरोधिना ॥ ८०१ ॥ मूत्रश्लेष्मान्त्रमलपूर्णेषु योषिताम् । गात्रेषु रमितो भद्रे!, रत्याऽत्र विवशस्तदा ॥ ८०२ ॥
अरत्यापि महोद्वेगसन्तापाक्रान्तमानसः । कृतोऽत्र भूरिशो भद्रे!, कारणैरपरापरैः ॥ ८०३ ॥ मरिष्यामीति विभ्रान्तो, राज्यं वा मे
हरिष्यते । इत्यादि कारणं प्राप्य, भयेनाहं विनाटितः ॥ ८०४ ॥ मरणे स्निग्धबन्धूनामर्थनाशादिकं तथा । हेतुं समाप्य शोकेन, भूयो
भूयो विडम्बितः ॥ ८०५ ॥ तत्त्वमार्गविमुखात्मा, मिथ्याभिमानतः तिरोहितः । विवेकिनां सतां नीतस्तत्राऽत्र हि जुगुप्सया ॥ ८०६ ॥
तथा—रागकेसरिणः पुत्रा, येऽष्टौ पूर्वं विवर्णिताः । सुता द्वेषगजेन्द्रस्य, ये चाष्टौ परिकीर्तिताः ॥ ८०७ ॥ तैरत्र मे कषायाख्यैर्म
हामोहपितामहे । समीपस्थे कृतं यत्तु, तदाख्यातुं न पार्यते ॥ ८०८ ॥ युग्मम् । ज्ञानसंरक्षणलेशेन, रहितो मानवस्तदा । ज्ञानसंवर
णेनाहं, प्रबलेन कृतः पुनः ॥ ८०९ ॥ तथा—कुर्वन् पुरुषकारं, कादम्बभट्टचेतनः । दर्शनावरणेनाहं, स्थापितो गतदर्शनः ॥ ८१० ॥
तथा—कश्चिदाह्लादितोऽत्यन्तं, कश्चित्सन्तापपीडितः । कृतोऽत्र तेन चार्वङ्गि!, वेदनीयेन भूभुजा ॥ ८११ ॥ तथा—आयुष्कनामके
नापि, नरेन्द्रेण सुलोचने! । घनवाहनरूपेण, तत्राऽत्र धारितश्चिरम् ॥ ८१२ ॥ तथा—तेन नामाभिधानेन, भूभुजा वरलोचने! ।
शरीरे मामके चित्रं, निजवीर्यं निदर्शितम् ॥ ८१३ ॥ तथा गोत्रान्तरायाभ्यां, स्वमाहात्म्यं वरानने! । कृतमेव ममात्यर्थं, चरितार्थं

मत्वा, कथितं शापयिष्यति । धन्ये सुखप्रदे धन्ये, मनसाहनमुत्सुके ॥ ७७८ ॥ अतो विहाय तच्चिन्तां, स्वाध्यायध्यानतत्परः । विमु
क्तसुनिर्वन्धस्तिष्ठामि त्वं निराकुलः ॥ ७७९ ॥ ततस्तथेति भावेन, प्रतिपद्य गुरोर्वचः । स्थितोऽहङ्कारो निश्चिन्तस्तदा भद्रे' निराकुलः
॥ ७८० ॥ अहं तु तौ समाश्रित्य, महामोहपरिग्रहौ । मागत्यागत्य सम्भूतैरेकैकेन कदर्थितः ॥ ७८१ ॥ तथाहि—एके गच्छन्ति त-
त्रैव, मत्सागच्छन्ति चापरे । अन्ये तिष्ठन्ति मत्पार्श्वे, किञ्चिदासाद्य कारणम् ॥ ७८२ ॥ किं चात्र बहुनोक्तेन ?, समासात्ते निवेदये ।
भूरिभापितया त्वं मो, बाधाक माऽवजीगणः ॥ ७८३ ॥ चित्तवृत्तिमहाटव्यां, या नदी सा प्रमत्तता । तत्तद्विलसितं नाम, पयस्याः
पुलिनं पुरा ॥ ७८४ ॥ वर्णितं तत्र चोद्दिष्टश्चित्तविक्षेपमण्डपः । तृष्णा च वेदिका यस्यां, विपर्यासाख्यविष्टरम् ॥ ७८५ ॥ तन्निषण्णो
महामोहस्तस्याविद्या वपुर्लता । विमर्शेन प्रकर्षाय, या सा पूर्वं निवेदिता ॥ ७८६ ॥ स्मरसि त्वं विशालाक्षि !, चित्ते सर्वमिदं न वा ? ।
ततोऽगृहीतसङ्केता, प्राह बाढं स्मरामि भोः ॥ ७८७ ॥ चतुर्भिः कलापकम् । संसारिजीवस्तां प्राह, यथैव चारुलोचने' । ततस्ते ये
विमर्शेन, प्रकर्षाय विवर्णिताः ॥ ७८८ ॥ मिथ्यादर्शनसंज्ञाद्या, भूयांसो वेदिकाश्रिता । अन्ये सेवापरास्तत्र, स्थिता सुतरुमण्डपे
॥ ७८९ ॥ ते सर्वे मूढवो भद्रे', सकलत्राः सबान्धवा । समूलपरिवाराश्च, प्रत्येकं समुपागताः ॥ ७९० ॥ महामोहे समीपस्थे,
तदा मे सर्वनायके । न सोऽस्ति कश्चित्तत्सैन्ये, येनाहं न निपेवितः ॥ ७९१ ॥ ततश्च—गृद्धो विमूर्च्छितस्तेषु, भावेषु भवभाविषु ।
कथ्योऽत्र नष्टसन्मार्गो, महामूढतया तदा ॥ ७९२ ॥ सदागमं परित्यज्य, विधाय मतिविभ्रमम् । मिथ्यादर्शनसङ्गेन, भूयोऽत्र चापितं
तदा ॥ ७९३ ॥ तथा—पापानि धर्मबुद्ध्याऽत्र, कार्याणि पुनस्तदा । भूरिशः कारितो भद्रे !, कुत्सा तन्महेच्छया ॥७९४॥ शब्दादि
विषयग्रामे, निःसारे साधुमिन्द्रिये । विधापितो मनःप्रीतिं, रागकेसरिणा पुनः ॥ ७९५ ॥ तस्य भार्या पुनर्या सा, मूढता नाम विश्रुता ।

कर्मप्रीतिसम्ताप, नितरां मे विजृ-
म्भितः ॥ ७९७ ॥ यथा—तस्याविवेकिता भार्या, कार्याकार्यविचारणम् । कुर्वन्त वारयत्युच्चैस्तदा मां वशवर्तिनम् ॥ ७९८ ॥ तथाहि—
दर्शने रूपे रसे गन्धे, स्पर्शे चात्यन्तलोलुपः । वशीकृतोऽहं सपत्नो, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥ ७९९ ॥ प्रासेषु गाढमूर्च्छान्धोऽप्राप्ताकांक्षावि
डम्बितः । कृतो भोगेषु तत्रैव, भार्यया भोगतृष्णया ॥ ८०० ॥ यथा—निर्वासितमुखो हा हा, हासितोऽहं निरर्थकम् । हासेन पटुना
भद्रे!, सद्गाम्भीर्यविरोधिना ॥ ८०१ ॥ मूत्राबद्धरक्तमांसकलमपूर्णेषु योषिताम् । गात्रेषु रमितो भद्रे!, रत्याऽहं विवशस्तदा ॥ ८०२ ॥
भरतापि महोद्वेगसन्तापाक्रान्तमानसः । कृतोऽहं भूरिशो भद्रे!, कारणैरपरापरैः ॥ ८०३ ॥ मरिष्यामीति विभ्रान्तो, रात्र्या मे
हरिष्यते । इत्यादि कारणं प्राप्य, भयेनाहं विनाटितः ॥ ८०४ ॥ मरणं स्वजनबन्धूनामर्थनाशादिकं यथा । हेतुं समाप्य शोकेन, भूयो
भूयो विडम्बितः ॥ ८०५ ॥ सत्त्वमार्गविमुक्तस्मा, मिथ्याबुद्ध्या विरोधितः । विवेकिजनासक्तो नीतस्तदाऽहं हि जुगुप्सया ॥ ८०६ ॥
तथा—रागकेसरिणः पुत्रा, येऽष्टौ पूर्वं निवर्णिताः । सुता द्वेषगजेन्द्रस्य, ये चाष्टौ परिकीर्तिताः ॥ ८०७ ॥ तैस्तदा मे कषायास्त्वेमे
हामोहपितामहे । समीपस्थे कृथ यत्तु, सदास्माभिः न पार्यते ॥ ८०८ ॥ युग्मम् । ज्ञानप्रकाशलेशेन, रहितो भावतस्तदा । ज्ञानसंवर
णेनाहं, प्रबलेन कृतः पुनः ॥ ८०९ ॥ तथा—कुर्वन् पुरुषकारं च, काश्यमदचेतनः । दर्शनावरणेनाहं, स्थापितो गतदर्शनः ॥ ८१० ॥
तथा—कचिदाह्लादितोऽत्यन्त, कचित्सन्तापविह्वलः । कृतोऽहं येन चार्वङ्गि!, वेदनीयेन भूभुजा ॥ ८११ ॥ तथा—आयुष्कनामके
नापि, नरेन्द्रेण सुलोचने! । धनवाहनरूपेण, तदाऽहं धारितश्चिरम् ॥ ८१२ ॥ तथा—येन नामाभिधानेन, भूभुजा वरवीक्षणे! ।
शरीरे मामके चित्रं, निजवीर्यं विदर्शितम् ॥ ८१३ ॥ तथा गोत्रान्तरायाभ्यां, समाहास्य वरानने! । कृतमत्र समात्यर्थं, परिवार्य
निरर्थकम् ।
तथा द्वेषगजेन्द्रोऽपि, सनिमित्तामिमित्तकम् । कुर्वन्नेव मया नैव, मिताता भवदुद्धता ॥ ७९६ ॥

सदा पुनः ॥ ८१४ ॥ यथा—रौद्रार्तध्यानसंयुक्तः, पापात्मा पापचेष्टितः । विद्धिवोऽहं विशाखाधि', येन दुष्टाभिसन्धिना ॥८१५॥
यथाऽन्यैरपि तत्काले, महामोहे समीपगे । ममाविर्भावित भद्रे!, स्वं स्वं वीर्यं महाभटैः ॥८१६॥ अकलङ्केन मुक्त्वारनाम इव निश्चये ।
इत्थं वशीकृतोऽत्यन्तं, वैराद् मानकुमिः ॥ ८१७ ॥ अथान्यदा समायातो, मत्कर्दर्शनकाम्यया । महामोहनरेन्द्रस्य, समीपं मकरध्वजः
॥ ८१८ ॥ स च स्वीयां रतिं भार्या, रागकेसरिमन्त्रिणम् । पञ्चसायकसंयुक्त, सप वस्य कुटुम्बकम् ॥ ८१९ ॥ एवां सदा समासाद्य,
सामग्री कार्यसिद्धये । सनत्कुमारचक्रवत्सदा प्राप्तो मृगेक्षणे! ॥ ८२० ॥ ससस्तुष्टे महामोहो, मकरध्वजमीलनात् । सोऽप्यासाद्य महा-
मोहं, परं हर्षमुपागतः ॥८२१॥ ततस्तेन पुनः साक्षात्, संनद्धो गन्धवारणः । सपनोऽसौ महामोहो, जातो मेऽत्यन्तबाधकः ॥८२२॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धलुब्धोऽन्धसन्निभः । गाढं निर्नष्टसद्बोधः, सञ्जातोऽहं सतस्तदा ॥ ८२३ ॥ गर्ताशूकरसङ्काशो, वि-
षयाशुचिकर्दमे । रात्रिंदिवं निमग्नात्मा, स्थितोऽहं विगतत्रपः ॥ ८२४ ॥ सुभूयसाऽपि कालेन, न भोगैस्तृप्तिमागतः । घृतपा-
नेन किं जातः, पीनगण्डोऽत्र वानरः? ॥ ८२५ ॥ भुञ्जानस्य च मे भोगान्, वर्धते भोगतृष्णिका । सुतरामुल्लसत्येव, अखेन
वडवानलः ॥ ८२६ ॥ मकरध्वजोपदेशास्ते, साक्षाद्दूतनिर्मलः । तदा मे विस्मृताः सर्वे, महामोहमनापुताः ॥ ८२७ ॥ ततो मां
तादृशं दृष्ट्वा, भावशत्रुविचेष्टितम् । न मेऽवसर इत्येव, गतो दूरं सदागमः ॥ ८२८ ॥ यथाभिमतकामांश्च, सम्पादयति मे तदा । असौ
पुण्योदयोऽत्र तु, बिभूतस्य न सम्पदे ॥ ८२९ ॥ ततो विमुक्तनिःशेषराज्यकार्यो दिवानिशम् । अन्तःपुरगतः क्षेम, भुञ्जानोऽहमवस्थितः
॥ ८३० ॥ तथा—यां यां नारीं प्रपश्यामि, नगरे चारुविभ्रमाम् । कुलजामकुलजां वा, यां वा कश्चिन्निवेदयेत् ॥ ८३१ ॥ तां तां सदा
समाकृष्य, जनेभ्यो बलात्तया । अन्तःपुरे प्रवेश्याहं, करोमि निजपत्निकाम् ॥ ८३२ ॥ मुग्धम् ॥ न जानामि महापापं, नापश्ये दुःखा-

ध्यनम् । गमयामि न चायन्यो, चारके मभिमण्डलम् ॥ ८३३ ॥ ततो विरक्ता सामन्ताः, पुरं पोढ़ेगमागतम् । तादृक्षाचमशीलेन, कथिता मम पान्थवाः ॥ ८३४ ॥ यद्यतयोऽपि संपन्ना, मम निन्दाविधायका । गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, सम्बन्धो नाम कारणम् ॥ ८३५ ॥ मद तु तादृशी लोकानानोऽभ्यासगर्हणाम् । महामोहवशीभूतो, निन्द्यकर्मरतः स्थितः ॥ ८३६ ॥ या नीचकुलसजाता, यास्मागम्याः स्त्रियो नृणाम् । सर्वाः सेऽन्तःपुरे क्षिप्तास्ता मया पापकर्मणा ॥ ८३७ ॥ अमासीच कनिष्ठो मे, भ्राता नीरदवाहन । सत्यापरो विनीतात्मा, प्रख्यातः सारपौरुषः ॥ ८३८ ॥ ततश्च—मतो विरक्तैः सामन्तैः, पौरमभिमहत्तमैः । एकवाक्यतया सर्वैः, स प्रोक्तो रहसि स्थितः ॥८३९॥ यदुत—अगम्यगमनासक्तो, निर्मर्यादो विमूढधी । नष्टधर्मो यशोऽस्तुत्यो, य एष कुलदूषणः ॥८४०॥ सोऽयं सिंहासनस्येव, सारमेयो नराधमः । अस्य योग्यो न राज्यस्य, कुमार! घनवाहनः ॥ ८४१ ॥ अनेन हारित राज्य, यस्यानां साधन कृतम् । न मुच्यते ततोऽस्माकं, विनाशोऽप्यमुपेक्षितुम् ॥८४२॥ अतोऽद्य प्रविराज्येषु, पृच्छाम्यो नावगम्यते । यावत्तावत्कुमारोऽत्र, राजा भवितुमर्हसि ॥ ८४३ ॥ अन्यथा नैव ते भावा, न राज्यं न च भूतयः । न वय न यशो नैव, नगरं भो भविष्यति ॥ ८४४ ॥ एव प्रोक्तः स तैर्युक्तियुक्त नीरदवाहनः । तथैव दृष्टवाष्टः, पर्यालोचमुपागतः ॥ ८४५ ॥ इतश्च मामको भद्रे!, वयस्यो दुष्टचेष्टितैः । गाढमुद्वेजितश्चित्ते, मष्टः पुण्योदयस्तदा ॥ ८४६ ॥ पाप चात्मर्गळीभूत, प्रवृद्ध भावसञ्चयः । प्राचीयसी च सजाता, भूयः सा कर्मण स्थितिः ॥ ८४७ ॥ ततश्च वचन तस्य, मद्वोकैर्मर्भित पुर. । सचिते युक्तियुक्तत्वाच्च मे भ्रातुरथके ॥ ८४८ ॥ ततश्च—एष भवतु तनाकैस्तैर्लोकैर्वैरिकैरिव । आगत्याह इह चक्रो, मविरामदविह्वलः ॥ ८४९ ॥ तावतः परिवर्गस्य, मध्ये जातो न कश्चन । मत्पक्षे स मतो भद्रे!, येन मा भेवि वस्थितम् ॥ ८५० ॥ ततो नरकपाकामैस्तैर्मसूत्र नरकोपमे । क्षिप्तोऽह चारके सुभ्रु!, ज्ञातिमभिमहत्तमैः

यथा पुनः ॥ ८१४ ॥ यथा—रौद्रार्तध्यानसंयुक्तः, पापात्मा पापचेष्टित । विद्धितोऽहं विनाऽऽधिं', तेन दुष्टाभिधपिना ॥८१५॥
यथाऽन्यैरपि तत्काले, महामोहे समीपगे । ममाभिमोऽभिव मद्रे।, स स्वे वीर्ये महाभटैः ॥८१६॥ मत्कण्ठेन शुष्कवारनाय इव ध्रियते ।
स्म कर्णीकृतोऽस्त्व, चैव मापसुमिः ॥ ८१७ ॥ यथान्यदा समायातो, मत्करपनकाम्यया । महामोहनरेन्द्रस्य, समीप महदम्बर
॥ ८१८ ॥ स च क्षीणो रतिं मार्गो, रागकेसरिभक्षिणम् । यच्च मानुपसपुत्र, तच तस्य कुटुम्बकम् ॥ ८१९ ॥ यतां सपा समामाप,
सामग्री कार्येसिद्धये । सन्नद्धबद्धकवचा मासो मृगेक्षणे' ॥ ८२० ॥ ममस्तुष्टो महामोहो, मद्दम्भजम्मीलनात् । सोऽभ्यासाद महा-
मोदं, परं हर्षमुपागतः ॥८२१॥ ततश्चेन पुत्रः साक्षात्, संनद्धो गम्भवारण्यः । सपमोऽसौ महामोहो, जातो मेऽत्यन्तबान्धवः ॥८२२॥
धमरूपरसस्पर्शगन्धप्रधुष्पोऽन्यसन्निमः । गाढ निर्नष्टसद्बोधः, सञ्जातोऽह सततस्तदा ॥ ८२३ ॥ गर्तशूकरसङ्काशो, चि-
पपाशुचिकर्दमे । रात्रिंदिव निमग्नात्मा, स्थितोऽहं विगतत्रपः ॥ ८२४ ॥ सुभूयसाऽपि कालेन, न भोगैस्तृप्तिमागतः । धृतधा-
नेन किं साता, पीनगण्डोऽत्र वानरः! ॥ ८२५ ॥ भुञ्जानस्य च मे भोगान्, वर्धते भोगतृष्णिका । शुष्कशुकस्येव, यतेन
धवानलः ॥ ८२६ ॥ मन्मनोऽपरेभ्यस्त्वे, धमाङ्कनिर्मलः । यथा मे विस्मृताः सर्वे, महामोहप्रनाशकाः ॥ ८२७ ॥ ततो मां
तात्त्वं तस्य, मानमुनिवेष्टितम् । न मेऽवसर इत्येवं, गतो दूरं सदागमः ॥ ८२८ ॥ यथापिमन्मकामांश, सपाल्यत्वि मे तदा । असौ
पुष्पोत्कोऽयं तु, मिमूक्त न लभ्यते ॥ ८२९ ॥ ततो विशुद्धनिःशोपपाण्यकार्यो विकानिशम् । अन्तःपुरगतः चैव, भुञ्जानोऽत्यमबलिवः
॥ ८३० ॥ यथा—यां यां नारीं प्रपश्यामि, नगरे चारुविभ्रमाम् । कुलजामकुलजां वा, यां वा काञ्चिदिरेक्षेत् ॥ ८३१ ॥ तां तां तदा
समाकृष्य, जनेभ्यो बलात्तया । अन्तःपुरे प्रवेश्याहं, करोमि निजपत्निकाम् ॥ ८३२ ॥ युग्मम् ॥ न जानामि महापापे, मापेधे कुलक-

भयागतस्य, विहाय नगरं परम् । प्रायः समस्तस्थानेषु, भ्रमितोऽत्र महेच्छया ॥ ८७१ ॥ मुक्तः सपरिवारेण, महामोहेन सुन्दरि ! ।
कुर्वाणो निजभार्याभ्यां, क काद न विनाटितः ? ॥ ८७२ ॥ तया परिभ्रमणार्थं, सह्या निजभार्यया । मुक्तेन बहुशो भद्रे !, योनौ योनौ
विडम्बितः ॥ ८७३ ॥ यतः—गृहकोकिलिकासर्पमूषिकाकारधारकः । इष्टो निधानमासाद्य, तमाद्ये विहलो मृतः ॥ ८७४ ॥ एवं
पातन्तकाले मे, भ्रमतो गजगामिनी । घर्षणाघूर्णनन्यायात्प्रसभा भवितव्यता ॥ ८७५ ॥ अन्यच—भ्रान्ता इव मया सार्धं, भ्रमतो
ऽनन्तवर्त्मनि । किंचित्ते दुर्बलीभूता, महामोहादयस्तदा ॥ ८७६ ॥ पापं च प्रतनूभूतमीषत्कर्मविविक्तया । पुनर्भेभ्यः समीपस्था, स
माता मे वरानने ! ॥ ८७७ ॥ ततो मनुजगत्यन्तः, पाटके भरताभिधे । साकेतेऽत्र पुरे नीतो, भवितव्यतया तया ॥ ८७८ ॥ तत्रापि
भवत्र नन्दस्य, भार्याऽस्ति धनसुन्दरी । जनितस्तत्सुतत्वेन, गुटिकादानयोगतः ॥८७९॥ प्रतिष्ठितं च मे नाम, तथाऽयममृतोदरः ।
अथ क्रमेण समाप्तो, यौवनं काममन्दिरम् ॥ ८८० ॥ दृष्टः सुदर्शनो नाम, सुसाधुः कानने मया । कृपापरीतचित्तेन, कृता मे तेन
देशना ॥ ८८१ ॥ ततो भूयो मया भद्रे !, महात्माऽस्य सदागमः । विलोकितः समीपस्थस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥ ८८२ ॥ किंचिदत्र
कभावस्ताभ्रमस्कारापिपाठकः । जातोऽत्र भावकाकारधारको ग्रन्थतस्तदा ॥ ८८३ ॥ तपस्तदनुभावेन, पुरेऽत्र विबुधालये । भवचक्रस्थिते
नीतो, गुटिकायाः प्रभावतः ॥ ८८४ ॥ तत्र च—भावना व्यन्तरा ज्योतिश्चारिणः कल्पवासिनः । पाटकेषु वसन्त्येते, विबुधाः कुल-
पुत्रकाः ॥ ८८५ ॥ दशाष्टपञ्चभेदास्ते, प्रयः पूर्वे यथाक्रमम् । कल्पस्थास्तद्रतीताश्च, द्विभेदास्तुर्यपाटके ॥ ८८६ ॥ कल्पस्था द्वादशाधा-
ससस्थिता समुदाहृताः । नवपञ्चनिवासस्थास्तदतीताः प्रकीर्तिताः ॥ ८८७ ॥ तत्राद्ये पाटके भद्रे !, जातोऽत्र भावनस्तदा । आयमेव
स्थितेष्वेव, विबुधः कुलपुत्रकः ॥ ८८८ ॥ ततश्च—गतस्य तत्र पद्माक्षि !, विस्मृतो मे सदागमः । स्थितोऽयमपि मां हित्वा, कुर्वाणः

॥ ८५१ ॥ स च स्थापितो राज्ये, राज्ञा नीरथवाहनः । महाकष्टकष्टेनोच्चैर्मूत्रश्लेष्मोपनिर्भरे ॥ ८५२ ॥ दृष्टा कुस्वामिनाशन, दुष्टा सुस्वामिनो गुणैः । ते पौरसैनिका लोकास्ततः किं किं न कुर्वते ॥ ८५३ ॥ मह तु पाटके तत्र, पुरीषमलपिच्छिले । मूत्रापत्कैरत्यन्ता- त्युर्गन्धे गर्भसन्निभे ॥ ८५४ ॥ क्षुधा क्षामोदरो बद्धः, परिभूतो विगर्हितः । रसवतुभेष्टितैः क्षुद्रैर्बालकैरपि ताडितः ॥ ८५५ ॥ अन भ्यावनास्थाने, स्ववर्गेणावधीरितः । प्राप्य शारीरसन्तापं, नरकेष्विव नारकः ॥ ८५६ ॥ महामोहवशीभूते, राज्यभ्रष्टे तथा मयि । यः सन्तापो मनस्तापः, स स्वास्थ्यात्तु न पार्यते ॥ ८५७ ॥ तथाहि—ममेदं विपुलं राज्यं, मामकीना विभूतयः । अधुनाऽन्य प्रभोऽस्यार इति शोकेन पीडितः ॥ ८५८ ॥ सुखशालिस्थलोऽहमधुना त्वीदृशी गतिः । सर्वस्य परिभूतोऽस्मि त्यक्त्वा कदर्थितः ॥ ८५९ ॥ लुम्पन्ति मामकमिदं, राजसर्पोपमिक जनाः । पदे हा हा हतोऽस्मीति, बाधितो धनमूर्च्छया ॥८६०॥ तदेव नरकाकारे, पाटके दुःखपूरितः । तत्राहं स्थितो भद्रे !, सुचिरं पापकर्मणा ॥ ८६१ ॥ परिवारसमेतस्य, महामोहस्य दोषतः । तथाप्यहं न निर्विण्णः, संसारावासतो भने ! ॥ ८६२ ॥ कोपाग्न्यस्तेषु लोकेषु, पिशङ्कलोऽभूपितः । रौद्रध्यानानुगो नित्यं, भूरिकालमवस्थितः ॥ ८६३ ॥ अथ जीर्णा क्रम वैव, गुटिका मे चिरन्तनी । ततो वितीर्णा सा मम, भवितव्यतयाऽपरा ॥ ८६४ ॥ गतः पापिष्ठवासायां, पुरि सप्तमपाटके । अहं तस्याः प्रभावेन, जातः पापिष्ठरूपकः ॥ ८६५ ॥ गृहे तत्राप्रतिष्ठाने, निर्भिन्नो वज्रकण्टकैः । सागराणां त्रयस्त्रिंशत् कन्दुकक्षीणया ॥ ८६६ ॥ तदन्ते गुटिकादानाद्भवितव्यतया तया । पञ्चाक्षपशुसंस्थानमानीय स्फुटीकृतः ॥ ८६७ ॥ पुनर्नीतोऽप्रतिष्ठाने, समानी- तस्ततोऽप्यहम् । एवम गुटिकादानात्कार्कूलाकारधारकः ॥ ८६८ ॥ भूयः पापिष्ठवासायां, नीतोऽहं तुर्यपाटके । ततोऽप्यानीय पिण्डितो, मार्जारकारधारकः ॥ ८६९ ॥ सर्वेषु विपरूपाणि, अनन्ता मुहुर्मुहुः । दुःखसागरविस्तारं, दर्शयन्त्या क्षणे क्षणे ॥ ८७० ॥ तदस

*

प्रस्तावो हन्त मादृशाम् ॥ १०८ ॥ सद्बोधेनोक्त—चारु चारुमिदं तात !, सम्यक् सञ्चिन्तितोऽमुना । ततो विज्ञापितस्तेन, सद्बोधेन
नरेश्वरः ॥ १०९ ॥ ततश्च—चारित्रधर्मराजेन, वचनात्तस्य सन्निधिः । प्रहितो मत्समीपेऽसौ, सम्यग्दर्शननामकः ॥ ११० ॥ तेन
चोक्त—विधेयं नीयतां देव !, मामुत कन्यकाऽनया । यस्य संसारिजीवस्य, येन तोषोऽस्य जायते ॥ १११ ॥ सद्बोध प्राह नाद्यापि,
प्रस्तावोऽस्या महत्तम ! । नयने हन्त विद्यायास्तत्राकर्णय कारणम् ॥ ११२ ॥ स हि संसारिजीवस्तां, मुग्धबुद्धिर्न मोत्स्यते । विशेषतस्तु
तद्भावस्तामान्येन प्रपत्स्यते ॥ ११३ ॥ एवं च स्थिते—यावच्च तात्त्विकं रूपं, तदानेनावधारितम् । तावच्च मुच्यते तास्मिन्नेषा तस्मै सुक-
न्यका ॥ ११४ ॥ महाकुलप्रसूतो हि, कुर्यादस्याः परामवम् । ततः स्वाचित्तसन्तापो, मादृशां सम्भविष्यतः ॥ ११५ ॥ ततो गच्छ
विना विद्यां, त्वं तावत्तस्य सन्निधौ । कालेन भूयसा रूपं, मोत्स्यते हि स तावकम् ॥ ११६ ॥ ततश्च—यदा त्वद्यत्नेन विज्ञातं, रूपं
तव परिस्फुटम् । तदाऽहमागमिष्यामि, विद्यामादाय तेऽन्तिके ॥ ११७ ॥ तवागमस्य सानाथ्यं, महामोहादिघातनम् । तथा संसारि
जीवस्य, सुखसाद्भावितेऽदनम् ॥ ११८ ॥ देवे चाभिमुखीभावस्तस्य दर्शनकाम्यया । विद्यया रहितस्यापि, गच्छतस्तत्र ते गुणाः ॥११९॥
युग्मम् ॥ ततो यथादिष्टकार्यो, यथाऽऽज्ञापयति प्रभु । इत्युक्त्वा प्रस्थितस्तूर्णं, मत्समीपं महत्तम ॥१२०॥ इतश्चाहं तदा भद्रे !, नगरे
जनमन्दिरे । सुदरानन्दनन्दिन्योर्जातो नाम्ना विरोचनः ॥१२१॥ तत समाप्ततारुण्य, कानने चित्तनन्दने । गतस्तत्र मया दृष्टो,
धर्मघोषो मुनीश्वरः ॥ १२२ ॥ इतश्च मे तदा ह्रस्वा, वर्तते कर्मपद्धतिः । महामोहादयो जातास्तनवो सावमात्रतः ॥ १२३ ॥ ततश्च
—प्रणम्य तं महाभाग, निषण्णः शुद्धभूतले । भावोऽत्र मद्रकस्तेन, ज्ञानालोकेन धीमता ॥ १२४ ॥ किं च—कुर्वता मानसानन्दममृ
तक्षरणोपमम् । ततो मे कर्तुमारब्धा, मुनिना धर्मदेशना ॥१२५॥ कथम् ?—“मनुजजन्म जगत्यतिदुर्लभं, जिनमतं पुनरत्र विशेषतः ।

कालक्षापनाम् ॥ ८८९ ॥ ततो महर्षिसंपन्न, साध पत्योत्तम मुरा । मुख यथष्ट भुञ्जानः स्त्रिया... पार्श्वादपा ॥ ८९० ॥ ...
गुणिको यत्ता, भार्यया युक्तचित्तया । पुरेऽत्र मानवावासे, समानीतः पुनस्तया ॥८९१॥ तत्रापि च पुरुषस्य दत्तिय त्रिपदर्शना ।
माता यस्याः सुकम्पेन, यातोऽत्र च घनामकः ॥ ८९२ ॥ समासमुपमायन, सुन्दरास्यो मुनीश्वरः । दृष्टा मया सर्वारम्भसम भाव
सद्गमः ॥ ८९३ ॥ किञ्चित् पुनरप्यस्य, सम्बन्धि ज्ञानमस्पष्टम् । मातस्माद् यदा भद्र', भमया भावदर्जितः ॥ ८९४ ॥ गच्छरनु
मावेन भूयोऽत्र विमुपाक्वे । महर्षिर्विमुखस्तत्र, जातो भवान्तरपातक ॥ ८९५ ॥ न नीता विस्मृतत्वेन, मया यत्र सदागम । गतन
मानवावासे, पुनश्च प्रविष्टोऽस्मि ॥८९६॥ एव विचरताऽनन्ते, भवचक्रे पुनः पुनः । तथाऽनन्तेन कालेन, मया भावाभियागतः ॥८९७॥
भय सदागमो भद्रे', महात्मा प्रविष्टोऽस्मि । भनन्तवारा दृष्टोऽपि, विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥ ८९८ ॥ युग्मम् ॥ त्रिगुण च पुन
भ्रान्त्वा, भवचक्र निरन्तरम् । मासादितः कथञ्चित्, पुनरप सदागमः ॥ ८९९ ॥ यतः—भनन्तवाराः सप्तमः, भावतोऽत्र सुभावन',
दृष्यतो यतिरूपश्च, तत्र दृष्टः सदागमः ॥ ९०० ॥ विमुच्येम महामार्ग, भूयो भूयोऽन्तरान्तरा । भ्रान्तः समस्तस्थानेषु, कृता नाना
विडम्बनाः ॥ ९०१ ॥ कर्वीर्यिकमतिभ्राद, सदागमविदूषकः । अनन्तवाराः सप्ताभो, भवपाद निरन्तर ॥ ९०२ ॥ अन्यत्र भ्रमयता,
भवचक्रे भ्रमाश्रिते । कथिदीर्घो कथित्सूक्ष्मा, सजाता कर्मणः स्थितिः ॥ ९०३ ॥ कथित्र प्रबला जाता, महामोहादिराजभः । कथिरस
दागमो जात', प्रबलत्वनिवारकः ॥ ९०४ ॥ तत्प्रमानन्तवाराभियावदभ्यासमागतः । अथ सदागमकाभ्यात्र यथामिबोध म ॥९०५॥
सा किचित्सिर्मलीभूता, चित्तवृत्तिर्महाटवी । तत्रावसरे ज्ञात्वा, प्रभवः स महत्तमः ॥ ९०६ ॥ ... सद्बोधो, मत्समीपागमे
च्छया । भार्ये! विद्याख्या देवः, साम्प्रत गम्यतो मया ॥ ९०७ ॥ तत्कथा पूर्वनिर्दिष्टो, देवश्चात्र नरोत्तम । सोऽधुना बर्तते कथ,

प्रस्तावो हन्त मादृशाम् ॥ १०८ ॥ सद्बोधेनोक्तं—चारु चारुवित तात!, सम्यक् सवधितोऽवधिः । ततो विज्ञापितस्तेन, सद्बोधेन नरेश्वरः ॥ १०९ ॥ ततश्च—चारित्रधर्मराजेन, वचनात्तस्य मन्त्रिणः । प्रहितो मत्समीपेऽसौ, सम्यग्दर्शननामकः ॥ ११० ॥ तेन चोक्तं—विधेय नीयतां देव!, प्राशुव कन्यकाऽनघा । यस्य संसारिजीवस्य, येन योग्योऽस्य जायते ॥ १११ ॥ सद्बोधः प्राह नाद्यापि, प्रस्तावोऽस्या महत्तम! । नयने हन्त विद्यायास्तत्राकर्णय कारणम् ॥ ११२ ॥ स हि संसारिजीवस्तां, मुग्धबुद्धिर्न मोत्स्यते । विशेषतस्तु सदागमस्सामान्येन प्रपत्स्यते ॥ ११३ ॥ एवं च स्थिते—यावन्न तात्त्विकं रूपं, तदानेनावधारितम् । तावन्न युज्यते दातुमेषा तस्मै सुकन्यका ॥ ११४ ॥ अज्ञातकुलशीलो हि, कुर्यादस्याः पराभवम् । ततः स्यादिवतसंतापो, मादृशो तन्निमित्तकः ॥ ११५ ॥ ततो गच्छ विना विद्यां, स्व तावत्तस्य सन्निधौ । कालेन भूयसा रूपं, भोत्स्यते हि स तावकम् ॥ ११६ ॥ ततश्च—यदा त्वयेन विज्ञातं, रूपं तत्र परिस्फुटम् । तदाऽहमागमिष्यामि, विद्यामादाय तेऽन्तिके ॥ ११७ ॥ सदागमस्य सान्निध्यं, महामोहादिघातनम् । तथा संसारिजीवस्य, सुप्रसादादिवर्धनम् ॥ ११८ ॥ देवे चाभिमुखीभावस्तस्य दर्शनकाम्यया । विद्यया रहितस्यापि, गच्छतस्तत्र ते गुणा ॥११९॥ युग्मम् ॥ ततो महाविशालाक्षी, यथाऽऽज्ञापयति प्रभुः । इत्युक्त्वा प्रस्थितस्तूर्णं, मत्समीपं महत्तमः ॥१२०॥ इत्थमाह तदा भद्रे!, नगरे जनमन्दिरे । सनुरानन्दनन्दिन्योर्जातो नाम्ना विरोचनः ॥१२१॥ ततः समासतारुण्यः, कानने चित्तनन्दने । गतस्तत्र मया दृष्टो, धर्मघोषो मुनीश्वरः ॥ १२२ ॥ दृष्टश्च मे तदा ज्ञात्वा, वर्धते कर्मपद्धतिः । महामोहादयो जातास्तनवो भावतस्तथा ॥ १२३ ॥ ततश्च—प्रणम्य तं महाभागं, निषण्णः शुद्धभूतले । ज्ञातोऽहं भद्रकस्तेन, ज्ञानालोकेन धीमता ॥ १२४ ॥ किं च—कुर्वाणा मानसानन्दममृतक्षरणोपमम् । ततो मे कर्तुमारब्धा, मुनिना धर्मदेशना ॥१२५॥ कथम्?—“मनुजजन्म जगत्यतिदुर्लभं, जिनमतं पुनरत्र विशेषतः ।

कालमापन्नाम् ॥ ८८९ ॥ ततो महर्द्धिसपत्नः, सार्ध पल्योपम सुरा । सुख मथह सुखान , भिवो८ भाग्याढ्या ॥ ८९० ॥ सरन्त
गुलिको दत्त्वा, मार्यसा दुष्टचित्तया । पुरेऽह मानवावासे, समानीतः पुनस्तया ॥८९१॥ तत्रास्ति च भुवनस्य वनिजः त्रिपद्दर्शनः ।
भार्या तस्याः सुतत्वेन, जातोऽहं पद्मनामकः ॥ ८९२ ॥ समासुखभावन, सुन्दराख्यो दुर्नाभरः । दृष्टा मया गर्भस्थस्य भाव
सदागमः ॥ ८९३ ॥ सिद्धित पुनरप्यस्य, सम्यग्भि ज्ञानमस्पकम् । आवमाद् मया भद्र', भवन्ता भारदर्शिनः ॥ ८९४ ॥ ततस्तु
भावेन, भूयोऽहं विबुधाख्य । महर्द्धिर्विबुधस्तत्र, जातो व्यन्तरपाटक ॥ ८९५ ॥ न नीतो विस्मृतस्तेन, मया तत्र सदागम । ततः
मानवावासे, पुनश्च प्रतिबोधितः ॥८९६॥ एव विपरताऽनन्ते, भवचक्रे पुनः पुनः । तथाऽनन्तेन कालेन, मया भावानिपातवः ॥८९७॥
मय सदागमो भद्र', महात्मा प्रतिबोधितः । अनन्तवारा दृष्टोऽपि, विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥ ८९८ ॥ युग्मम् ॥ विस्मृत्य च पुन
र्भान्त्य, भवचक्र निरन्तरम् । आसामितः कथञ्चित्, पुनरेव सदागमः ॥ ८९९ ॥ यतः—अनन्तवाराः सप्तमः, भारतोऽहं सुलोचन',
दृश्यतो पतिरूपम, तत्र दृष्टः सदागमः ॥ ९०० ॥ विमुच्येम महाभाग, भूयो भूयोऽन्तरान्तरा । भ्रान्तः समस्तस्थानेषु, कृता नाना
विडम्बनाः ॥ ९०१ ॥ कुतीर्थिकवशिमाद्, सदागमविदूषकः । अनन्तवाराः सप्तमो, भवचक्र निरन्तके ॥ ९०२ ॥ अन्यत्र भ्रमतस्तत्र,
सदागमो जातः, प्रमत्तचित्तवारकः ॥ ९०४ ॥ वत्समानन्तवाराभिर्योगदन्यासमागतः । अथ सदागमस्यावज्ञां पतभिबोध म ॥९०५॥
सा किंचिन्निर्मलीभूता, चित्तवृत्तिर्महाटवी । तत्समावसरं ज्ञात्वा, प्रभितः स महत्तमः ॥ ९०६ ॥ तत्प्रभावेन सद्बोधो, मत्समीपागमे
च्छया । आर्ये' विज्ञाप्यतां देवः, साम्प्रतं गम्यतां मया ॥ ९०७ ॥ पत्तया पूर्वमिर्दिष्टो, देवस्माम नरोत्तम! । सोऽधुना वदते सदा,

नज्ञानकारणम् । गुरवः केवलं तस्याः, भवन्ति सहकारिणः ॥ ९३३ ॥ तथाहि—अकलङ्के यथा लभे, बोधार्थं मे सकोविदे । न मज्ञान ममोत्सन्न, तदा यत्नशतैरपि ॥ ९३४ ॥ ततः परं पुनर्जातोऽनन्तवारा वरानने ! । सदागमेन सम्बन्धः, भव्याशून्यस्तथाप्यभूत् ॥९३५॥ यतो यदा यदा पुंसो, यावती योग्यता भवेत् । तदा तदा भवत्यस्य, तावानेव गुणोद्भवः ॥ ९३६ ॥ अतः मज्ञानमात्रं मे, सूक्ष्मता नविवार्जितम् । धर्मबोधोपदेशैस्तैः, सजात योग्यतानुगम् ॥ ९३७ ॥ अन्यच्च—पल्योपमपृथक्त्वे तु, क्षीणे कर्मस्थितेस्तदा । गृहिधर्मो मया दृष्टः, सामान्याच विशेषतः ॥ ९३८ ॥ पालितानि तदावेशाद्व्रतानि नियमास्तथा । केचित्तदा मया भद्रे !, भव्यासद्धर्मबुद्धिना ॥ ९३९ ॥ तदस्यानुभावेन, सत्सुरे विबुधालय । कल्पवासिषु नीतोऽहं, गुटिकादानपूर्वकम् ॥ ९४० ॥ अथ सौधर्मकल्पेऽहं, भास्वराकारधारकः । समुत्थितः क्षणार्धेन, शयनाच्च कीदृशम् ? ॥९४१॥—दिव्यपल्यङ्कसत्तूलीरचित स्पर्शपेशलम् । कोमलामलसच्चेलच्छा दित चित्तनन्दनम् ॥ ९४२ ॥ सुमनोगन्धसम्पृक्तसदामोदमनुस्वरम् । दिव्यांशुकवरोल्लोचदृष्टिगोचरबन्धुरम् ॥ ९४३ ॥ युग्मम् । तत्र शोभमानेन, वाहुयुग्मेन विश्रितः । किरीटकटकेयूरहारकुण्डलभूषितः ॥ ९४४ ॥ भूषाङ्गरागताम्बूलवनमालाविराजितः । उपविष्टः क्षणाज्जातो, दोलितासितनिष्पन्दः ॥ ९४५ ॥ ततोऽहं जय नन्देति, जय भद्रेति भाषिभिः । सलेखा ललनालोका, लोलालोचनतारकाः ॥९४६॥ स्तुवन्तो मां मनोहारिवचनैः कर्णपेशलैः । देवोऽसि स्वामिकोऽस्माकमिति किङ्करतां गताः ॥९४७॥ युग्मम् ॥ ततोऽहं विस्मयोत्फुल्लोचनः पर्यचिन्तयम् । तां समृद्धिं विलोक्येदं, किं मया सुकृतं कृतम् ? ॥ ९४८ ॥ ततः प्रादुरभूज्ज्ञान, विमल विमलेक्षणे ! । मया विरोधनाद्यस्मादनेन सर्वोऽवधारितः ॥ ९४९ ॥ अत्रान्तरे समायातौ, महत्तमसत्तमौ । तौ च दृष्ट्वा मया ज्ञात, माहात्म्यमनयोरिदम् ॥ ९५० ॥ यतस्तौ पूर्ववद्भद्रे !, मतिपक्षौ सपाम्यवौ । कृत चोत्साय निःशेष, कर्तव्य विबुधोचितम् ॥ ९५१ ॥ तथाहि—

“यदिदमाप्य नरेण सुमेधसा, विहपनीयमतोऽपि परं पदम् ॥ १२६ ॥ इतरथा पुनरेव निरन्तके, निपतितस्य सुभीमभवाम्बुधे । कुशल
“मन्वसमुत्कटनाशल, ममु विनाऽसुखदुःखपरंपरा ॥ १२७ ॥ इयमवेत्य अनेन विधानतो, कुशलकर्म भवोदधितारकम् । इह विधेयमहो
“विफल मुधा, न करणीयमिद नरजन्मकम् ॥ १२८ ॥” अत्रान्तरे प्रत्यक्षीभूतो मे तस्य मुनेः समीपे भूयोऽपि भगवानय सदागमः,
ततो बुद्ध मया तस्य मुनेर्वचन, अभिहित च—यन्मया कर्तव्य तदादिशन्तु भगवन्तः, मुनिनोक्तं—भद्राकर्णय “भवभीरुणीयो भवता
“भवप्रपञ्च आराधनीयो विलीनरागद्वेषमोहोऽनन्तज्ञानदर्शनवीर्यानन्दपरिपूर्णः परमात्मा वन्दनीयास्तदुपदिष्टमार्गवर्तिनो भगवन्त
“साधवः प्रतिपत्तव्यानि जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणानि नव तत्त्वानि सर्वथा पेय जिनवचनामृत नेय तदाज्ञा
“ह्रीभावेन मनुष्ठेयमात्महित उपचेय कुशलमनुमभि कुशल विधेय निष्कलङ्कमन्तःकरण हेय कुविकल्पजल्पजाल अवसेय भगवद्वचनसारं
“विधेय रागादिविरोपहृन्त् लेय सुगुरुसदुपदेशभपत्त देय सतत सदाचरणे मानस भवगोय दुर्जनप्रणीतकुमतवचन निमेय महापुरुषवर्ग-
“मध्ये स्वरूप खेय निष्प्रकम्पचित्तेने”ति एव चोपदिशति मधुरभाषिणि भगवति धर्मघोषतपस्विनि समासोऽसौ सम्यग्दर्शननामा मह
पमः विलोकितो दुर्भेदकर्मग्रन्थिभेदद्वारेणासौ मया ततः सञ्जाता मे तत्र मुनिवचने रुच्या श्रद्धान प्रतिपन्नोऽसौ द्वितय प्रमुखा मह
यम", अभिहितो मुनिवरः—यदाज्ञापयति नाथस्तदेवाह करिष्ये, ततोऽभिवन्द्य त मुनिवर गतोऽह स्वभवने । ततः प्रभृति जातोऽह,
सम्यग्दर्शनसंयुतः । तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा, विक्षिप्ताज्ञानवर्जितः ॥ १२९ ॥ तदेव सत्य निःशङ्क, यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम् । एतावन्मात्रबुद्धो
ऽह, तदा जातो वरानने ! ॥ १३० ॥ सदागमो हि विज्ञान, समावेदयते तदा । केवलं सूक्ष्मभावेषु, न मे बोधः प्रवर्तते ॥ १३१ ॥
न सदावतथा सूक्ष्मविविक्तज्ञानहेतवः । गुरवः पटुवाचोऽपि, विना मे निजयोग्यताम् ॥१३२॥ ततः—सयोग्यतेय चार्वङ्गि!, मया

नज्ञातकारणम् । गुरव केवल तस्मात्, भवन्ति सहकारिणः ॥ ९३३ ॥ यथाहि—अकल्के यथा छभे, बोधार्थं मे सकोविदे । न भज्ञान
भमोसम, तदा भज्ञसचैरपि ॥ ९३४ ॥ ततः परं पुनर्भ्रान्तोऽनन्तवारा वरानने ! । सदागमेन सम्बन्धः, भज्ञाशून्यस्तथाप्यभूत् ॥ ९३५ ॥
भवो यथा यथा पुसो, यावती योग्यता भवेत् । तदा तदा भवत्यस्य, तावानेव गुणोद्भवः ॥ ९३६ ॥ अतः भज्ञानमात्रं मे, सूक्ष्मता
नविवर्जितम् । धर्मघोषोपदेशैस्तैः, सजात योग्यतानुगम् ॥ ९३७ ॥ अन्यच—पल्योपमपृथक्त्वे तु, क्षीणे कर्मस्थितेस्तदा । गृहिधर्मो
मया दृष्टः, सामान्याच्च विशेषतः ॥ ९३८ ॥ पालितवामि तदादेशात्प्रवामि नियमात्मया । केचिचदा मया भद्रे', भज्ञासद्बुद्धिना
॥ ९३९ ॥ ततस्तदनुभावेन, सत्पुरे विबुधालये । कल्पवासिषु नीतोऽहं, गुप्तिकारानपूर्वकम् ॥ ९४० ॥ अथ सौधर्मकल्पेऽहं, मारुत
राकारधारकः । समुत्थितः क्षणार्धेन, शयनात्तच्च कीदृशम् ? ॥९४१॥—दिव्यपल्यङ्कसत्पृष्ठीरचित स्पर्शपेशलम् । कोमलामलसवेलच्छा-
मित चित्तनन्दनम् ॥ ९४२ ॥ सुमनोगन्धसद्रूपस्तदामोदसुन्दरम् । दिव्यांशुकपटोल्लोचदृष्टिगोचरम पुरम् ॥ ९४३ ॥ युग्मम् । तत्र
योवनमानेन, भानुयुग्मेन विस्मितः । किरीटकटकेयूरहारकुण्डलभूषितः ॥ ९४४ ॥ भूपाङ्गरागताम्बूलवनमालाविराजितः । उपविष्ट
क्षणाद्याततो, पोषिताखिलविग्रहः ॥ ९४५ ॥ ततोऽहं जय नन्देति, सम भद्रेति भाषिणः । सलेखा ललनालोका, लोकलोचनचारवः
॥९४६॥ स्तुवन्तो मां मनोहारिवचनैः कर्णपेशलैः । देवोऽसि स्वामिकोऽस्माकमिति किङ्करतां गताः ॥९४७॥ युग्मम् ॥ ततोऽहं विस्मयो
त्फुल्ललोचनः पर्यचिन्तयम् । तां समृद्धिं विलोक्येत्थं, किं मया सुकृतं कृतम् ? ॥ ९४८ ॥ ततः प्रादुरभूज्ज्ञानं, विमल विमलेक्षणे ! ।
मया विरोचनाख्यस्य ऽवेन सर्वोऽवधारितः ॥ ९४९ ॥ अत्रान्तरे समायातौ, महत्तमसदागमौ । तौ च दृष्ट्वा मया ज्ञातं, माहात्म्यमन
योरिदम् ॥ ९५० ॥ ततस्तौ पूर्वगमुरु !, मत्प्रियौ सुखात्मकौ । कृत चोत्थाय निःशेषं, कर्तव्यं विबुधोचितम् ॥ ९५१ ॥ तथाहि—

"तदिदमाप्य नरेण सुमेधसा, विदपनीयमतोऽपि परं पदम् ॥ ९२६ ॥ इतरथा पुनरेव निरन्तके, निपतितस्य सुभीमभवाम्बके । कुशल-
"समवसमुत्कलनावन, ननु विनाऽमुम्नु सपरंपरा ॥ ९२७ ॥ इदमवेत्य अनेन विजानता, कुशलकम भवोदधितारकम् । इद विधेयमहो
"विफल मुधा, न करणीयमिद नरजन्मकम् ॥ ९२८ ॥" अत्रान्तरे प्रसन्नीभूतो मे तस्य मुनेः समीपे भूयोऽपि भगवानय सदागम ,
ततो मुक्तं मया तस्य मुनेर्वचन, अभिहित च—यन्मया कर्तव्य तदादिशन्तु भगवन्तः, मुनिनोक्त—भद्राकमय "भवधीरणीयो भवता
"भवप्रपञ्चः आराधनीयो विहीनरागद्वेषमोहोऽनन्तज्ञानदर्शनवीर्यानन्दपरिपूर्णः परमात्मा वन्दनीयास्तदुपदिष्टमार्गवर्तिनो भगवन्तः
"साधवः प्रतिपत्तव्यानि जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणानि नव तत्त्वानि सर्वथा चेय जिनवचनात्तत्व नेय सदाज्ञा
"दीभावेन अनुष्ठेयमात्महित उपचेय कुशलानुबन्धि कुशल विधेय निष्कलङ्कमन्तःकरण देय कुविकल्पजल्पजाल भवसेय भगवद्वचनसारं
"विधेय रागादिलोपकृत्यं हेय सुगुरुसदुपदेशभेषजं देय सतत सदाचरणे मानस भवगेय दुर्जनप्रणीतकुमततपन निमेय महापुरुषमार्ग-
"मध्ये स्वरूपं ध्येय निष्प्रकम्पचित्तेने"ति एव चोपदिशति मधुरभाषिणि भगवति धर्मघोषतपस्विनि समागतोऽसौ सम्यग्दर्शननामा मह
त्तमः विलोकितो दुर्भेदकर्मग्रन्थिभेदद्वारेणासौ मया ततः सञ्जाव मे तत्र मुनिवचने सरुच्या श्रद्धान प्रतिपन्नोऽसौ द्वितय मुमुक्षा मह
त्तमा, अभिहितो मुनिवरः—यदाज्ञापयति नाथस्तदेवाह करिष्ये, ततोऽभिवन्द्य त मुनिवरं गतोऽह स्वभवने । ततः प्रभृति जातोऽह,
सम्यग्दर्शनसयुतः । तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा, विशिष्टज्ञानवर्जितः ॥ ९२९ ॥ तदेव सत्य निःशङ्क, यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम् । एतावन्मात्रतुष्टो
ऽह, तदा जातो भवानने ॥ ९३० ॥ सदागमो हि विज्ञातं, समावेदयते तदा । केवल सूक्ष्मभावेषु, न मे बोध प्रवर्तते ॥ ९३१ ॥
न संजायान्तरा सूक्ष्मविविक्तज्ञानहेतवः । गुरवः पटुकायोऽपि, विना मे मिलनोन्मताः ॥९३२॥ यतः—सयोग्यतैव पार्श्वे हि', भद्र

स्वस्यापि सपत्नौ, ममेमौ स्वविगोचरौ । भुक्तं च सुचिरं विभ्य, सुखं यत्र मयाऽतुलम् ॥ १७० ॥ ततो मनुजगत्यन्तः, पाटके काञ्चने
पुरे । आगतस्य महामोहद्वेषतो विस्मृताविमौ ॥ १७१ ॥ इत्थं सद्भाविका धारा, दृष्टो दृष्टः पुनः पुनः । सदागमयुतो भद्रे!, नष्टो
ऽसौ मे महत्तमः ॥ १७२ ॥ यतः—विना विरतिभावेन, सद्भावीतेषु धामसु । श्रद्धानमात्रसन्तुष्टो, जातोऽहं भावकः पुरा ॥ १७३ ॥
तथा—अतुलाद्युपरोधाद्वा, कश्चिच्छ्रद्धानसंयुतः । जातः श्रमणवेषोऽहं, विरत्या रहितो द्विधि ॥ १७४ ॥ अन्यच—सद्भावीता मया
धारा, यत्र यत्र विलोकिता । महत्तमः पुनर्दृष्टस्तत्र तत्र सदागमः ॥ १७५ ॥ गृहिधर्मेऽपि च मूले, दृष्टः सामान्यरूपतः । कश्चित्क-
चिच्च दृष्टोऽपि, स महत्तमपार्श्वगः ॥ १७६ ॥ सम्यग्दर्शनयुक्तौ च, गृहिधर्मसदागमौ । सामान्यरूपौ यौ भद्रेऽसद्भावारा विलोकितौ
॥ १७७ ॥ तवेते महुसो दृष्टास्रयोऽपि वरबान्धवाः । जाताश्च सुखदास्तत्र, विमुक्तभ्रान्तवान्तरा ॥ १७८ ॥ अन्यच—दृष्टश्च केवलो
ऽप्येषोऽनन्तवारान् सदागमः । न त्वनेन विना दृष्टः, स सम्यग्दर्शनः क्वचित् ॥ १७९ ॥ अन्यच—यत्र यत्र समीपस्थ , सजातो मे
महत्तमः । तत्र तत्र वयस्यो मे, जातः पुण्योदयः पुरा ॥ १८० ॥ तेन चोत्पादिताः सर्वा, यथेष्टा भोगसम्पदः । वसतो मानवावासे,
पुरे च विबुधालये ॥ १८१ ॥ तथा—स्थिता कर्मस्थितिर्लम्बी, भीतभीताश्च शत्रवः । अन्तर्लीनाः स्थिता भद्रे!, महामोहादयस्तथा
॥ १८२ ॥ यत्र यत्र पुनर्जाताः, प्रबला भावशत्रवः । अथ पुण्योदयो नष्टस्तत्र तत्र वरानने! ॥ १८३ ॥ नष्टे च तत्र जाता मे,
सर्वा दुःखपरंपरा । भ्रमितोऽनन्तकालं च, भविचक्रतया तया ॥ १८४ ॥ तथा—स्थितिर्ग्रीयसी जाता, कर्मणः क्लिष्टतां गतम् ।
मानसं च पुनर्जातं, तत्त्वश्रद्धानवर्जितम् ॥ १८५ ॥ अथ एकोत्कटा जाता, भव यत्र महारयाः । ते भव्यास्तत्र तत्रैतौ, दूरीभूतौ सुबा
न्धवौ ॥ १८६ ॥ विशेषः पुनरेषोऽत्र, कथ्यते ते [illegible]

विविधरत्नसुरीचिरचिते, विकल्पनीरजखण्डमण्डिते । गुरुनितम्बपयोधरशालिभिः, सह वधूभिरमज्जि सरोवरे ॥ ९५२ ॥ तदनु निर्मलहाटकनिर्मितं, विसदरत्नविराजितकुट्टिमम् । कथु सलीलमवाप्य जिनालयं, सुदृढभक्ति कृत जिनवन्दनम् ॥ ९५३ ॥ अथ मुनि मेळपत्रकसञ्चयं, मणिमयं जिनभाषितपुस्तकम् । पुलककारि रसेन तु वाचितं, कथु विघाटय मनोरमपुस्तकम् ॥ ९५४ ॥ ततो यथेष्ट सम्पादितभोगसुखिताशयः । सागरद्वितयं तत्र, किञ्चिदून व्यवस्थितः ॥ ९५५ ॥ तदन्ते मानवावासमानीय विद्विषस्तया । भार्यायोऽत्र कलम्बास्यः, सद्गुर्मदनरेणयोः ॥ ९५६ ॥ इतश्च—तत्रायातस्य चार्वङ्गि¹, मम तौ चारणा ययौ । नागतौ विस्मृतस्तेन, महत्त्वमसदागमौ ॥ ९५७ ॥ सुतरां विस्मृतो मन्त्रे!, न दृष्टश्च तदा मया । गृहिधर्मो यतस्ताभ्यां, स निमुक्तो न दृश्यते ॥ ९५८ ॥ मार्गानवास नामस्थानं, केवल पापभीरुकः । स्थितो मन्त्रकभावेन, तत्राद् हंसगामिनि¹ ॥ ९५९ ॥ पुनस्तदनुभावेन, सत्सुरे विबुधालये । ज्योतिष्कारिषु नीतोऽहं, गुटिकादानपूर्वकम् ॥ ९६० ॥ स्थितस्तत्रापि सम्भोगसम्पत्तिप्रीणितेन्द्रियः । सुचिरं किं तु तौ दृष्टौ, महामोहपरिग्रहौ ॥ ९६१ ॥ सञ्जातश्च तयोर्भूयः, पक्षपातो दृढतरः । नितरां विस्मृतावेतौ, महत्त्वमसदागमौ ॥ ९६२ ॥ ततो जीवावसाने तौ, वितीर्य गुटिकां पुनः । पञ्चाक्षपशुसस्थाने, नीतोऽहं तरया तया ॥ ९६३ ॥ स्थितो दर्दुराकारधारकः केलिशीलया । ततः परं पुनर्भूरि, भ्रमितोऽहमिततरकम् ॥ ९६४ ॥ नानाविधेषु स्थानेषु, भ्रमयित्वा स्वमायया । आनीय मानवावासं, पुरे काम्पिल्यनामके ॥ ९६५ ॥ धरायां वसुबन्धोश्च, सद्धर्षासखनामकः । कृतोऽहं कृतसत्कर्मा, राजपुत्रो मनोरमः ॥ ९६६ ॥ तत्र वासाय शान्त्याख्यं, सूरिं सद्धर्मदेशकम् । दृष्टाविमौ पुनर्मन्त्रे¹, महत्त्वमसदागमौ ॥ ९६७ ॥ ततः परिचयात्ताभ्यां, तनूभूताः पुनर्मम । सम्बद्धाः सुदृढाभासा, महामोहादयस्तदा ॥ ९६८ ॥ अनात्मनयोः प्राप्य, माहात्म्यं चारुभाषिणि! । द्वितीयकल्पे संप्राप्तः, सत्सुरं विबुधालये ॥ ९६९ ॥ तत्र-

स्वस्यापि सपत्नौ, ममेमौ स्मृतिगोचरौ । मुक्तं च सुचिरं विम्य, सुख तत्र मयाऽनुभूतम् ॥ १७० ॥ ततो मनुजगतस्त्व, पाटके काञ्चने पुरे । भागतस्य महामोहद्वेषयो विस्मृताविमौ ॥ १७१ ॥ इत्य सङ्गाधिका भारा, दृष्टो दृष्ट पुनः पुनः । सदागमसुतो भद्रे !, नष्टो ऽसौ मे महत्तमः ॥ १७२ ॥ यतः—विना विरतिभावेन, सङ्गावीतेषु वासमु । भज्ञानमात्रसतुष्टो, जातोऽहं भावकः पुरा ॥ १७३ ॥ यथा—भनुसाधुपरोधाद्वा, कश्चिच्छ्रद्धानसयुत । जातः श्रमणवेषोऽहं, विरत्या रहितो इति ॥ १७४ ॥ अन्यच—सङ्गावीता मया भारा, यत्र यत्र विलोकितः । महत्तमः पुनर्दृष्टस्तत्र तत्र सदागमः ॥ १७५ ॥ गृहिधर्मेऽपि तन्मूले, दृष्टः सामान्यरूपतः । कश्चित्कचिच्च दृष्टोऽपि, स महत्तमपार्श्वगः ॥ १७६ ॥ सम्यग्दर्शनमुख्यौ च, गृहिधर्मसदागमौ । सामान्यरूपौ यो भद्रेऽसङ्ख्यवारा विलोकितौ ॥ १७७ ॥ तथैवे बहुशो दृष्टावयोऽपि वरवान्यथा । जाताश्च सुखदास्तत्र, विमुक्ताश्चान्तरान्तरा ॥ १७८ ॥ अन्यच—दृष्टश्च केवलो ऽप्येषोऽनन्तवाराः सदागम । न त्वनेन विना दृष्ट , स सम्यग्दर्शनः कचित् ॥ १७९ ॥ अन्यच—यत्र यत्र समीपस्थः, सजातो मे महत्तमः । तत्र तत्र वयस्यो मे, जातः पुण्योदयः पुरा ॥ १८० ॥ तेन चोत्पादिताः सर्वा, यथेष्टा भोगसम्पदः । पसतो मानवावासे, पुरे च विबुधालये ॥ १८१ ॥ तथा—स्थिता कर्मस्थितिर्छेम्नी, मीवमीवाश्च शत्रव । अन्तर्लीनाः स्थिता भद्रे[1], महामोहादयस्तथा ॥ १८२ ॥ यत्र यत्र पुनर्जाताः, प्रबला भावशत्रवः । मत्तः पुण्योदयो नष्टस्तत्र तत्र वरानने[1] ॥ १८३ ॥ नष्टे च तत्र जाता मे, सर्वा दुःखपरंपरा । भ्रमितोऽनन्तकाल च, भवितव्यतया तथा ॥ १८४ ॥ तथा—स्थितिर्द्राघीयसी जाता, कर्मणः छिद्रतां गतम् । मानस च पुनर्जात, वस्त्वश्रद्धानवर्जितम् ॥ १८५ ॥ अत एवोत्कटा जाता, यत्र यत्र महारयः । ते मत्तस्तत्र तत्रैतौ, दूरीभूतौ सुबान्धवौ ॥ १८६ ॥ विशेषः पुनरेषोऽत्र, कथ्यते ते निराकुलः । स मिथ्यादर्शनाख्येन, सम्यग्दर्शननामक ॥ १८७ ॥ ज्ञानसंवरणेनापि,

दूरं नीतः सदागमः । कथिचावपि निर्वित्य, ताभ्यामपि निराकृतौ ॥ ९८८ ॥ एवं चानन्तकालं ते, जयमङ्गपरायणाः । देवाकाडवत प्राप्य, जाता मद्रे! परस्परम् ॥ ९८९ ॥ अन्यच—आमकः पक्षपातोऽभूत्तयोरेव विशेषतः । तयोरेव यदा जातो, जयो मद्रसम्पयोः ॥ ९९० ॥ अन्यदा मानवावासमध्यवर्तिनि सुन्दरे । पुरे सोपारके पल्या, नीतोऽहं नीरजेक्षणे! ॥ ९९१ ॥ वणिजः शालिभद्रस्य, भार्याऽस्ति कनकप्रभा । तावत्सुताः सुतोऽभीति, तत्र नाम्ना विभूषणः ॥ ९९२ ॥ अथ सूरिं सुधाभूतमासाद्य शुभकानने । पुन र्दृष्टो मया भद्रे', महत्तमसदागमो ॥ ९९३ ॥ ततश्च—तत्त्वश्रद्धानसपन्नो, भावतो विरतिं विना । जातो गुरूपरोधेन, श्रमणोऽहं त ताऽनघे' ॥ ९९४ ॥ ततो गृहीतलिङ्गस्य, साधुमध्येऽपि तिष्ठतः । जात मे कर्मदोषेण, वैमाप्यनिरत मन ॥ ९९५ ॥ ततः प्रबलतां प्राप्ता, महामोहादयः पुनः । जातौ च भावतो दूरे, महत्तमसदागमौ ॥ ९९६ ॥ ततो निमित्तमासाद्य, निमित्तविरहेण वा । स्वभावादेव सम्पन्नस्तदाऽहं परनिन्दकः ॥९९७॥ तपस्विनां सुशीलानां, सदनुष्ठानधारिणाम् । अन्यषामपि कुर्वाणो, निन्दां नो शङ्कितस्तदा ॥९९८॥ किं बहुना?—तीर्थेश्वराणां सङ्घस्य, श्रुतस्य गणधारिणाम् । आशातना दधानेन, मया पृष्ठं न वीक्षितम् ॥ ९९९ ॥ एवं च—गृहीतयतिवेषोऽपि, पापात्मा गुणदूषकः । महामोहवशाज्जातो, मिथ्यादृष्टिः सुदारुणः ॥ १००० ॥ ततोऽतिघोरदु र्मेधकर्मसञ्चयपूरितः । संजातोऽहं पुनर्भद्रे!, तादृश्या पापचेष्टया ॥ १००१ ॥ ततोऽनन्तं पुनः कालं, दुःखसागरमध्यग । मायः समस्तस्थानेषु, भ्रमितोऽहं सुसार्थया ॥ १००२ ॥ समस्तास्पदपाशेन, भुवनोदरचारिणः । तदा स्पष्ट मयोपार्ध, भ्रमता वर्णनक्षमा ॥ १००३ ॥ न सा विषमं तदुःखं, न सा गाढविडम्बना । लोकेऽस्ति पद्मपत्राक्षि!, या न सोढा तदा मया ॥ १००४ ॥ एवं वदति संसारिजीवे विस्मितमानसा । भाताऽगृहीतसङ्केता, किंचिद्भावार्थकोविदा ॥ १००५ ॥ तथा प्रज्ञाविशालापि, श्रुत्वा तदादृशं वच ।

भसम्भ्रमजातसंवेगा, चिन्तयामास मानसे ॥ १००६ ॥ अद्भुत—अहो संसारिजीवस्य, महामोहपरिग्रहौ । मन्येऽहं सर्वपापेभ्यः, सका-
शाद्धिदारुणौ ॥ १००७ ॥ यथा—क्रोधादिभ्यो यदा जातमस्यानर्थकदम्बकम् । तदा नानेन कथितः, सम्यग्दर्शनमीलकः ॥ १००८ ॥
ततस्तैर्निर्गुणस्यास्य, यत्पापं विजृम्भितम् । आलोच्यमानं तन्मेऽद्य, नाश्चर्यं प्रतिभासते ॥ १००९ ॥ आभ्यां पुनरिदं सर्वं, सम्यग्दर्श
नमीलके । सञ्जातेऽपि कृतं दीर्घसंसारपतनादिकम् ॥ १०१० ॥ तदेतौ सगुणस्यापि, भावानर्थविधायकौ । तावेव दारुणौ नूनं, महामो
हपरिग्रहौ ॥१०११॥ अथवा—यत्रेमौ तत्र ते सर्वे, सन्ति क्रोधादयः स्फुटम् । समुदायात्मकस्तेषां, महामोहो हि वर्णितः ॥ १०१२ ॥
परिग्रहोऽपि सर्वेषां, तेषामाधारतां गतः । स हि लोभसखो कामं, महामोहबलाधिकः ॥ १०१३ ॥ तदेतौ गुणघाताय, सर्वेषां मूल-
नायकौ । जातौ संसारिजीवस्य, यत्तदाश्चर्यमीदृशम् ॥ १०१४ ॥ किं च—सद्गुणघाताय, सन्ति क्रोधादयोऽप्यलम् । अनयोस्तु
विशेषार्थमनेनेत्थमुदाहृतम् ॥ १०१५ ॥ अन्यच्च—तेऽन्याभ्यां हन्त निर्मुक्ता, न सन्त्येव कदाचन । किं तु प्रवर्धकावेतौ, ते तु ज्ञेयाः
पदातयः ॥ १०१६ ॥ अस्यैव च विशेषस्य, सिद्ध्यर्थममुना कृता । दोषसन्दर्शिकाऽमीषां, क्रमेणेत्थमुदाहृतिः ॥ १०१७ ॥ समस्तान
र्थसार्थस्य, तदिदं जनकाविमौ । अस्य संसारिजीवस्य, महामोहपरिग्रहौ ॥ १०१८ ॥ तथापि लोकः पापात्मा, गुरुवाक्यशतैरपि ।
नाचरत्यनयोस्त्यागं, यत्र किं तत्र कुर्महे ? ॥ १०१९ ॥ यद्यपि दुष्टा व्याख्याता, श्रुतिः कोविदसूरिणा । तथापि रम्यतेऽत्यर्थमस्यामेव
जडो जनः ॥ १०२० ॥ अथ प्रज्ञाविशाला सा, गाढं संवीक्ष्य भाविताम् । स भव्यपुरुषोऽवादीदम्ब ! किं चिन्तितं त्वया ? ॥ १०२१ ॥
तयोक्तं पुत्र ! ते सर्वं, कथयिष्ये निराकुला । एकाग्रमानसस्त्वं तावदस्य वाक्यं निशामय ॥ १०२२ ॥ किं च—वत्स ! मोत्तालतां कार्षीः,
किंचिदेव न समाप्यते । कथितप्रायमेतेन, सर्वमात्मविचेष्टितम् ॥ १०२३ ॥ ततस्तूष्णीं स्थिते तत्र, राजपुत्रे ससादरम् । संसारिजीवः

दूरं नीतः सदागमः । कथित्तावपि निर्बिस, ताभ्यामपि निराकृतौ ॥ ९८८ ॥ एवं चानन्तकालं ते, अयमङ्गपरायणाः । देशकालमवस
भाप्य, चावा मद्रे¹ परस्परम् ॥ ९८९ ॥ अन्यच—मानकः पद्मपावोऽभूत्तयोरेव विमपदः । तयोरेव सदा भावो, जयो मङ्गस्तत्स्पयो
॥ ९९० ॥ अन्यदा मानवावासमभ्यवर्तिनि सुन्दरे । पुरे सोपारके पल्न्या, नीतोऽहं नीरगेहके¹ ॥ ९९१ ॥ नमित्र शालिभद्रस्य,
भार्याऽस्ति कनकप्रभा । मावस्तस्याः सुतोऽस्मीति, तत्र नाम्ना विभूषणः ॥ ९९२ ॥ अथ सूरिं सुधाभूतमासाद्य शुभकानने । पुन
र्देष्टो मया मद्रे¹, महत्तमसदागमौ ॥ ९९३ ॥ ततश्च—तत्त्वश्रद्धानसपमो, भावतो विरतिं विना । जातो गुरूपरोधेन, श्रमणोऽहं त-
दाऽनघे¹ ॥ ९९४ ॥ ततो गृहीतलिङ्गस्य, साधुमध्येऽपि तिष्ठतः । जातं मे कर्मदोषेण, वैभाव्यनिरतं मन ॥ ९९५ ॥ ततः प्रमत्ततां
प्राप्ता, महामोहादयः पुन । जातौ च भावतो दूरे, महत्तमसदागमौ ॥ ९९६ ॥ ततो मिमित्तमासाद्य, निमित्तविरहम् वा । सम्भावास्य
सम्यक्त्वदाऽहं परनिन्दकः ॥९९७॥ तपस्विनां सुशीलानां, सदनुष्ठानचारिणाम् । अन्येषामपि कुर्वाणो, निन्दां नो दाक्षिण्यता ॥९९८॥
किं बहुना?—तीर्थेश्वराणां सङ्घस्य, श्रुतस्य गणधारिणाम् । आशातनां प्रधानेन, मया पृष्ठ न वीक्षितम् ॥ ९९९ ॥ एव
च—गृहीतयतिवेषोऽपि, पापात्मा गुणवृषकः । महामोहवशाज्जातो, मिथ्यादृष्टिः सुदारुणः ॥ १००० ॥ ततोऽतिघोरदु
र्भरकर्मसङ्घातपूरितः । समस्तोऽहं पुनर्भद्रे¹, तादृशा पापचेष्टया ॥ १००१ ॥ ततोऽनन्तं पुनः कालं, दुःखसागरमध्यगः । प्रायः
समस्तस्थानेषु, भ्रमितोऽहं समार्यया ॥ १००२ ॥ समस्तग्रन्थपाठेन, भुवनोदरचारिणः । यदा स्पृष्टं मयोपार्थे, भ्रमता कर्मयेक्षया
॥ १००३ ॥ न सा विषम दुःखं, न सा गाढविडम्बना । लोकेऽस्ति यत्पत्राक्षि¹, या न सोढा तदा मया ॥ १००४ ॥ एवं वदति
ससारिजीवे विस्मितमानसा । भावाऽगृहीतसङ्केता, किंचिद्भावार्थकोविदा ॥ १००५ ॥ तथा प्रज्ञाविशालापि, श्रुत्वा तद्वादृश वचः ।

अथ अष्टमः प्रस्तावः ।

अथास्ति मानवावासे, सत्पुरं सततोत्सवम् । सप्रमोदमिति ख्यातमचिन्त्यगुणभूषितम् ॥ १ ॥ दानवारिकृताकारो, महेभगतिविभ्रमः । पुरंदरसमो यत्र, नरवर्गो विराजते ॥ २ ॥ रूपलावण्यनेपथ्यनिर्विशेषोऽमरीजनैः । विलासिनीजनो यत्र, नेत्रोन्मेषैर्विशिष्यते ॥ ३ ॥ तत्रारिकरिसद्भावविपाटितकटस्थलः । निर्व्याजपौरुषख्यातो, राजाऽस्ति मधुवारणः ॥ ४ ॥ सर्वसाधारणं कृत्वा, विस्तीर्णं येन नो धनम् । रूपराशिवशारेण, सौविदल्ला न धारिताः ॥ ५ ॥ तस्यास्ति पद्मपत्राक्षी, रूपलावण्यशालिनी । प्रधानवंशसंभूता, महादेवी सुमालिनी ॥ ६ ॥ या हन्ति न्यक्कृताऽपि, राज्ञो हृदयनन्दिनी । इत्थं दर्शितवैचित्र्यापि, विचित्रगुणयोगिनी ॥ ७ ॥ अथ पुण्योदये नाथ, संयुक्तो निजभार्यया । मत्रेऽहमीवसङ्केते[1], तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः ॥ ८ ॥ निष्क्रान्तः कालपर्यायात्सर्वावयवसुन्दरः । छन्नः सोऽपि मया सार्धं, जातः पुण्योदयोऽनघे ! ॥ ९ ॥ जाते च मयि संजातमानन्दरसनिर्भरम् । उद्दामसुखसंगीतं, मधुवारणमन्दिरम् ॥ १० ॥ तथा—विहितं च नरेश्वरतोषकरं, वरवारवधूजनविलासधरम् । मधुवादनतादनगानपरं, मदिरामदघूर्णितपौरजनम् ॥ ११ ॥ वितताजनतर्पितवामनकं, कृतकुब्जककुब्जविलासनकम् । विहितार्थिमनोरथपूरणकं, कृतलोकचमत्कृति वर्धनकम् ॥ १२ ॥ ततः समुचिते काले, महानन्दपुरःसरम् । जनकेनैव मे नाम, स्थापितं गुणधारणः ॥ १३ ॥ पञ्चभिश्चारुधात्रीभिर्लालितोऽमरवदिति । ततोऽहं

मोचाय, शेषामास्मक्वामिकाम् ॥ १०२४ ॥ उक्तं च तेन—अन्यदा मार्यमा भद्र!, नीतोऽहं भद्रिले पुरे । तत्र स्फटिकपमस्र,
जातोऽहं सिद्धरथता ॥ १०२५ ॥ विमलानन्दनमारद्यारण्ये वर्धमानकः । सुमधुरमुनिं दृष्ट्वा, प्रबुद्धो जिनशासने ॥ १०२६ ॥ मतो
भूयो मया दृष्टौ, महत्यमसदागमौ । गृहिधर्मयुतो भद्र!, पालिताम्र प्रतापयः ॥ १०२७ ॥ सम्यग्ज्ञानतुष्टात्मा, विदग्धाद् चिरं ततः ।
किं तु सूक्ष्मपदार्थेषु विचिकित्सानवर्जितः ॥ १०२८ ॥ ततस्तदनुभावेन, जातः पुण्योदयोऽनघः । नीतस्तत्रापरस्थेऽहं, सुरे विबुधा-
लये ॥ १०२९ ॥ तत्रामितलसम्भारिभोगसम्मर्दसुन्दरे । धारयित्वा सुखेनोचैस्तत्र सागरसप्तकम् ॥ १०३० ॥ ततोऽपि मानवावासे,
तत्र विबुधालये । इत्थं च कारितो भद्र!, भूरिवारं गमागमम् ॥ १०३१ ॥ किं बहुना?—भद्र भवप्रपञ्चेन, तदत्रापि विशो
भिताः । प्रलोक ते मया कस्मात्, कथितुं बहुधा ॥ १०३२ ॥ एवं च स्थिते—ततो बहुशस्तथो, मानवावाससम्मुखम् ।
प्रस्थानं कारितो भद्र!, भवितव्यतया तथा ॥ १०३३ ॥ इति ॥ विमलमपि गुरुभ्यां मापित भूरिभव्याः!, मपनकलिकेतुर्यो महा-
मोहपक्षः । तमवनि गुरुवीर्योऽनन्तसंसारकारी, मनुजभवमवाप्तास्तस्य मा भूत वश्याः ॥ १०३४ ॥ सकलोपभवापकारम्, समत
कोपसर्वं च पश्चिमम् । इह परत्र च दुःखमराकरे, सपत्त मा मव कर्णसुखे मनो ॥ १०३५ ॥ एवमिनेन्द्रियसंक्षेपतपोभिरत्र, मद्यासने
वरिममात्मधिया विचिन्त्य । धर्मं शिवं च यदि वो रुचितं कर्णपिपूर्णं ततस्स करणे मदनो कुरुध्वम् ॥ १०३६ ॥

॥ इत्युपमितिभवप्रपञ्चकथायां महामोहपरिग्रहश्रवणेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम सप्तमः प्रस्तावः समाप्तः ॥

तस्य पुनः पुनः । अपश्यतः परीक्षार्थं, तदाऽत्यर्थं निमालये ॥ ३३ ॥ अथ विज्ञातसद्भावः, कलाकौशलकोविदः । निगूढं काञ्चली
कृत्वा, मामाह स कुम्भरः ॥ ३४ ॥ कुमार! किं स्थितेनात्र, गम्यतामधुना गृहे । क्रीडितं इयतीं वेळामपराह्णो हि वर्तते ॥ ३५ ॥ मयोक्त
रोचते सखे, सदेव क्रियतामिति । ततो गृहे गतावावां, तत्र च दिवसोषितम् ॥ ३६ ॥ अथ रात्रौ विविक्तायां, शय्यायां मम तिष्ठतः ।
सा चेतसि कृशाङ्गी, स्मात्कृत्य पुनरागता ॥ ३७ ॥ नाभविष्यद्व नेमित्तो, यदि पुण्योदयोऽन्वयः । तथा मे वर्तमानस्य, तदा भद्रे!
सहायकः ॥ ३८ ॥ ततः—सा क्षस्यभूता मे चित्ते, विक्रमन्ती मुहुर्मुहुः । अकरिष्यदवस्थां यां, साऽऽख्यातु नैव पार्यते ॥ ३९ ॥ केवल
निकटस्वामी, यतः पुण्योदयोऽन्वयः । ममाभूत्तेन सा जाता, नात्यर्थं तत्र बाधिका ॥ ४० ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । अनघः स करोत्येव, यत
पुण्योदयो नृणाम् । सांसारिकपदार्थेषु, निराबाधमिदं मनः ॥ ४१ ॥ तथापि तामनुस्मृत्य, मनाक् चिन्तामहं गतः । यथा कस्य पुनः सा
स्यात्कन्नीरक्तलोचना? ॥ ४२ ॥ चिन्तयित्वा गतो निद्रां, विभाता च विभावरी । प्रभाते च समायातो, मत्समीपं कुम्भरः ॥ ४३ ॥
ईषद्दर्शनलोभेन, तस्याः सोऽभिहितो मया । वयस्य! किं प्रभातेऽप्य, पुनराक्रममन्दिरे? ॥ ४४ ॥ ततः कुम्भरेणोक्तं, स्मितबन्धुरया
गिरा । किमिदं गम्यते? किं ते, विस्मृता तत्र कुञ्चिका? ॥४५॥ अये! ज्ञातो ममानेन, भाव इत्यवधार्य च । मया सोऽभिहितो मित्र!,
परिहासो विमुच्यताम् ॥४६॥ गम्यतां पुनरुद्याने, का कस्येति च वीक्ष्यताम् । उचिता कन्यका चेति, नेति वा सा परीक्ष्यताम् ॥ ४७ ॥
अन्यच—परमार्थं महीध्येऽद्य, विकल्पमिति मा कृथाः । कन्यका नैव गृह्णामि, तामिन्द्रस्यापि धावतः ॥ ४८ ॥ ततः कुम्भरः प्राह,
मित्र! मोत्ताम्यो गमः । गम्यतां क्रियते सर्वं, यद्भवस्ताय रोचते ॥ ४९ ॥ ततो गतौ पुनस्तत्र, कानने तमिस्थितम् । स्थान यत्र
पुरा दृष्ट, योषितोर्द्वितय परम् ॥ ५० ॥ अथादृष्ट्वा पुनस्तत्र, तां कुरङ्गकवीक्षणाम् । अहं तक्ष्यितया किंचिच्चितोद्वेगेन पीडितः ॥ ५१ ॥

धृतिमाधाय, सुखसागरमग्नगः ॥ १४ ॥ इतश्च—सगोत्रो मस्मित्रमित्र, जीवितादपि वल्लभः । नरेन्द्रोऽस्ति विद्याठाकुरस्य सूनुः
कुलधरः ॥ १५ ॥ स समश्चेद् वयसैव, वाग्वैभवेन सन्निभः । वयो ममापि संपन्नः, स वयसः कुलधरः ॥ १६ ॥ स च सच्छास्त्रयो
धन्यः, सुरूपः सुभगः कृती । समस्तगुणसंपन्नः, सम एव कुलधरः ॥ १७ ॥ तत्र सधर्मानोऽहं, तेन सार्धं सुमेधसा । सजातोऽ
र्पितसद्भावः, स्नेहनिर्भरमानसः ॥ १८ ॥ ततश्च—मम कुलक्रमाभ्यासो, श्रीडारसपरायणौ । सम्प्राप्तौ पाटलाक्रम्यभावौ मदनमन्दिरम्
॥ १९ ॥ इदम् नन्दनाकारं, पुरादूरे मनोरमम् । माहात्म्यमन्दिरं नाम, यत्रास्ति परमनन्दनम् ॥ २० ॥ तत्र विचित्रचमत्कारि, कोप
नाकारसमम् । भ्रमन्तभावयोर्मार्ग, सेवितं च दिने दिने ॥ २१ ॥ अन्यदा गतयोस्तत्र, दूरवर्ति परिस्फुटम् । योषितोर्द्वितय किञ्चिद्
दृष्टिगोचरमागतम् ॥ २२ ॥ तत्रैका रूपलावण्यविलासैः कामगेहिनीम् । हसन्तीव विभात्यासीत्, द्वितीया मनु तादृशी ॥ २३ ॥ अथ सा
सुन्दरी दूरतश्चक्षुर्गोचरगामिनम् । मां भूलताक्षुब्धकैर्विलासैरवालयत ॥ २४ ॥ तथा—चूतशाखां समालम्ब्य, लीलयोल्लासितस्तनी ।
मायिनीयपदिकासेन, पार्वती मामकं मनः ॥ २५ ॥ तथा—वक्रितं विस्मितं स्निग्धं, साकूतमतिलज्जितम् । वक्रितैः सस्मितैर्,
तत्तस्य मर्मवित्तम् ॥ २६ ॥ ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य, मनोनयननन्दनीम् । निर्भिन्नार्पितसद्भावो, रचितं मम मानसम् ॥ २७ ॥ ततो
मया चिन्तितं—किमियं सा रतिः साक्षात्किं पुरंदरकामिनी ? । किं वा अप्सरीरसुमेरुस्थं, वर्तते वनपारिणी ॥ २८ ॥ एवं च चिन्तय
नीतरसरीरप्रेरिता । मामहिकारलेखेस, पुण्ये नावः शुभानने ! ॥ २९ ॥ तामभिरीक्षितस्तेन, साकूतं भावचेतसा । तत्क्षणेन मयाऽप्यु
पैरप्यकारतत्र कृतम् ॥ ३० ॥ युग्मम् । चिन्तितं च मया हन्त, समाप्तमपरि विवेकिनाम् । अथ सकामया दृशा, परस्त्रीनिरीक्षणम्
॥ ३१ ॥ तस्मां दृष्टिपातं मे, दृष्टा निर्मलचेतसा । अहो कुलधरेणाम, न जाने किं विचिन्तितम् ? ॥ ३२ ॥ ततो लज्जाभरेणाहं, मुखं

वस्य पुन पुनः । अपश्यतः परीक्षार्थं, तथाऽत्वयं निमाल्ये ॥ ३३ ॥ अथ विज्ञातसद्भावः, कलाकौशलकोविदः । निगूढ काकली
कृत्वा, मामाह स कुलंधरः ॥ ३४ ॥ कुमार! किं स्थितेनात्र, गम्यतामधुना गृहे । कीदृशि वृत्ती वेलामपराह्णो हि वर्तते ॥ ३५ ॥ मयोक्त
रोचते यदे, तदेव क्रियतामिति । ततो गृहे गतावावां, कृतं च दिवसोचितम् ॥ ३६ ॥ अथ रात्रौ निविक्तायां, शय्यायां मम तिष्ठतः ।
सा चेतसि कृपाक्षी, सादृक्त्य पुनरागता ॥ ३७ ॥ नामविष्याच नेक्षिष्ठो, मयि पुण्योदयोऽनघः । यथा मे वर्तमानस्य, तथा भद्रे!
सहायकः ॥ ३८ ॥ ततः—सा सस्यभूता मे चित्ते, चिन्तान्ती मुहुर्मुहुः । भक्तिष्यदमस्तां चां, साऽस्मात् नैव पार्यते ॥ ३९ ॥ केवल
निकटस्थायी, यतः पुण्योदयोऽनघः । ममामूतेन सा ज्ञाता, नात्मर्थ तव बाधिका ॥ ४० ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । अतथः स करोत्येव, यत
पुण्योदयो नृणाम् । सांसारिकपदार्थेषु, निराबाधमिदं मनः ॥ ४१ ॥ तथापि तामनुस्मृत्य, मनाक् चिन्तामहं गतः । यथा कस्य पुनः सा
स्याभीलनीरजलोचना? ॥ ४२ ॥ चिन्तयित्वा गतो निद्रां, विभाता च विभावरी । प्रभाते च समायातो, मत्समीप कुलंधरः ॥ ४३ ॥
ईषद्दर्शनलोभेन , तस्याः सोऽभिहितो मया । वयस्य! किं प्रभातोऽद्य, पुनराह्लादमन्दिरे? ॥ ४४ ॥ ततः कुलंधरेणोक्त, स्मितबन्धुरया
गिरा । किमिदं गम्यते? किं ते, विस्मृता तत्र कुब्जिका? ॥४५॥ अये! ज्ञातो ममानेन, भाव इत्यवभार्य च । मया सोऽभिहितो मित्र!,
परिहासो विमुच्यताम् ॥४६॥ गम्यता पुनरुद्याने, का कस्येति च वीक्ष्यताम् । तथिता कन्यका चेति, नेति वा सा परीक्ष्यताम् ॥ ४७ ॥
अन्यच्च—परभार्या महीम्येऽहं, विकल्पमिति मा कृथाः । कन्यका चेम मुञ्चामि, शक्रिन्द्रस्यापि धावतः ॥ ४८ ॥ ततः कुलंधरः प्राह,
मित्र! मोत्ताळता गमः । गच्छावः क्रियते सर्वं, यद्यस्माय रोचते ॥ ४९ ॥ ततो गतौ पुनस्तत्र, कानने तमिलस्थितम् । स्थान यत्र
पुरा दृष्टं, योषितोऽस्तित्व परम् ॥ ५० ॥ अथादृष्टा पुनस्तत्र, तां कुब्जकमवीक्षणाम् । अहं तदिच्छया किंचिच्चित्तोद्वेगेन पीडितः ॥ ५१ ॥

तदा—वने पर्यटता त्वां नूनं, श्रीष्मापो ग्रहीष्ट । कुक्षंभरस्तो पावमिपम्भयस मूर्च्छे ॥ ५२ ॥ तावत्पूर्णेषु न्यासे , पतन्मरणिस्र नम् । भाकम्पे कम्पविरुद्धे, बद्धिता मम कन्धरा ॥ ५३ ॥ अथैका मध्यमावस्था, दृष्टा नारी मुनिमता । द्वितीया सा समायाता, पाऽ-सीयका द्वितीयिका ॥ ५४ ॥ ततः सकुक्षंभरेण मया कृतमभ्युत्थानं नामितमुत्तमाङ्गं, ततः सविशेषं निरीक्षिताऽहं तया मोदनाया, कृतमानन्दोदकबिन्दुपरिप्लुतनयनयुगलं, अभिहितं च—वत्स! चिरं जीव मदीयजीवितेनापि, कुक्षंभरोऽप्युक्त —पुत्र! दीर्घायुर्भव त्वं, अस्ति मदन्यां सह किंचित्कर्म्यं अतो राजपुत्रमुपवेशयितुमर्हसि वत्सः, कुक्षंभरेणोक्त—यथादिशत्यम्बा, ततः ममदमनन भूतक दर-विशति तत, ततो मातुरियं तयाऽभिहितं—वत्साकर्णय—अस्ति विद्याधरलोके वैताढ्यो नाम महागिरिः, तत्र गन्धसमृद्धं नाम नगरं, तदधिपतिर्विद्याधरचक्रवर्ती कनकोदरो नाम राजा, तस्याहं कामलता नाम महादेवी, न चाभूत्तस्यापत्यं ततो मूर्च्छितः विषण्णोऽसौ चिरतमवताऽहं च ततोऽपसार्य मयुक्तानि भेषजानि विहिता महाशास्त्रः दत्तान्युपयाचितशतानि पृष्टा नैमित्तिका उपचरिता मन्त्रवादिनः विन्यासितानि यन्त्राणि पीतानि मूलजालानि कृतानि कौतुकानि निःसारिता अवधूतयः धावितानि जातकानि अवतारिताः ग्रहाः मार्गिताः महाबलाः अभ्यर्थिता योगिनः कृत सर्वं मयुक्तं किंचित्केनापीति, ततो मध्यम वयसि प्रादुर्भूतो मे गर्भः महतो यत्ना क्रमेण च प्रसूताऽहं जाता देहमनवा विकचकमलमुखासयन्ती दारिका निवेदिता राज्ञे परितुष्टोऽसौ कारित महावर्धनकं मयि स्थितं प्रसवदिने नाम मदनमञ्जरीति, वर्धिता सा सुखसन्दोहेन समावेषमत्सम्तमभीशा, अनकपितपराविनरसेनवहारिकायुविता यथा मिथसखी उपलिका, माविता सार्धमनसा सा सकलाः कलाः प्राप्ता यौवनं, ततः कलासौष्ठवेन रूपातिशयेन च न ममोचितः पुरुषोऽस्तीति पुरुषा सजाता पुरुषद्वेषिणी सा वत्सा मदनमञ्जरी, तत कलिकावचनेन विज्ञाय तदाकूतं विषण्णाऽहं निवेदितं महारा-

अय संजातोऽसौ सचिन्त्यः कथमिय करिष्यत इति, ततः समुत्पन्नाऽस्य बुद्धिः कारितोऽनेन स्वयंवरामण्डपः समाहूताः सर्वे विद्याधर नरेन्द्राः समागता वेगेन कृतावलप्रविपत्तयः विरचिता मञ्चाः स्थिताः सर्वे यथास्थानं उपविष्टः स्वयंवरामण्डपमध्ये सपरिकरो राजा प्रविष्टाऽस्य विरचितवरनेपथ्याऽलङ्कारा वरमाल्याविविच्छित्तिवर्णनां गृहीत्वा वत्सां मदनमञ्जरी सह स्खलिकया, तां चापहसितामर-सुन्दरीलावण्यां कन्यामुपलभ्य प्रवृत्तचित्तक्षोभैरक्षुभ्यमाना अपि तस्यां विनिविष्टदृष्टिचेष्टाः स्थिताश्चित्रन्यस्ता इव निश्चलाः सर्वेऽम्बर चराः, वर्णिता मया नामतो गोत्रतो विभवतो निवासतो रूपतो गुणतश्चैतस्य प्रत्येकमेवे, तद्यथा—वत्से मदनमञ्जरि!—एषोऽमित प्रभो नाम, विद्युद्दन्तस्य नन्दनः । चतुर्दशिम वास्तव्यः, पुरे गगनवल्लभे ॥ ५५ ॥ सुराकारधरोऽशेषकलाकौशलकोविदः । केतौ मकरः ॥ ५७ ॥ कमनीयाकृतिर्वत्से¹, भूरिविद्याविशारदः । आकरो गुणरत्नानां, प्रसिद्धो गरुडध्वजः ॥ ५८ ॥ तथा—अयमपि च चारुमयूरेण, लसत्ताऽऽं विराजते ॥ ५६ ॥ तथा—एष भानुप्रभो नाम, नागकेसरिनन्दनः । महर्द्धिको महावीर्यो, गान्धर्वपुरना-रतिविलासो रतिमित्रसुतो महर्द्धिसंपन्नः । तदधिपतिरेष निवसति रथनूपुरचक्रवालपुरे ॥ ५९ ॥ कनकामरावतपुरेष निखिल-विज्ञानगुणगणोपेतः । ननु पश्य मदनमञ्जरि! वरवानरकेतुयष्टियुतः ॥ ६० ॥ तदेव यावदेकैक, वर्णयामि नरेश्वरम् । तावद्दिपावमा पत्रा, वत्सा मदनमञ्जरी ॥ ६१ ॥ तथाहि—दृष्टा सा तदा मया दुर्भगनारीव सपत्नीगुणेषु विपन्नसमुमट इव शत्रुवीर्येषु समत्सरवा वीव प्रतिवादिसौख्येषु सेर्ष्येव इव प्रतिवेधकौशलेषु सोत्सेकविज्ञानिक इव प्रतिविज्ञानिकनैपुणेषु केनचित्सादरमुपवर्ण्यमानेषु तेषु वि द्याधरनरेश्वरेषु मया तथा स्तूयमानेषु दृष्टी अपावयन्ती सजाता गाढ विद्राणवदना वत्सा मदनमञ्जरी, ततो हा किमेतदिति विचिन्त्य मयाऽभिहिता सा—यथा वत्से! मदनमञ्जरि किमभिरुचितः कश्चिदेतेषां मध्ये वत्सायै विद्याधरनरेन्द्रः?, तयोक्तं—अम्ब! सूर्यमपाक-

तदक्ष—वने पर्यटन् वां नूव, वीक्षमाणो मुहुर्मुहुः । कुवलयमुखो यावन्निपण्णस्तस्य भूतले ॥ ५२ ॥ तावत्पूर्णेरयन्दाशैः, पवमनर्घ्नस्य नम् । माकर्ण्य कस्मितस्थे, वलिता मम कन्धरा ॥ ५३ ॥ यावेका मध्यमावस्था, दृष्टा नारी सुविभ्रमा । द्विर्तीया सा समायाता, या— सीत्कृत्य द्विर्तीयिका ॥ ५४ ॥ ततः सकर्पूरेण मया कृतमभ्युत्थान मासितमुत्तमाङ्गं, ततः सविशाय विशाविकाभ्रं तया दोदन्यया, कृतमानन्दोदकबिन्दुपरिप्लुतनयनयुगलं, अभिहित च—वत्स! चिरं जीव मदीयजीवितेनापि, कुलपरोऽमुष्य—पुत्र! दीर्घायुष्य त्वं, अस्ति मवत्यां सह किञ्चित्कर्म्यं अतो राजपुत्रमुपवेशयितुमर्हसि वत्सः, कुलपरमोह—यदाभिहितमम्बा, ततः समुपविष्टन भूतले तत्र नगरं, तत्राधिपतिर्विद्याधरचक्रवर्ती कनकोदरो नाम राजा, तस्याः कामलता नाम महादेवी, न चाभूदपत्यं गतो भूरिकालः विपण्णोऽसौ निरपत्यतया अत्र च तयोऽपत्यार्थं प्रयुक्तानि भेषजानि विहिता महास्नानयः ग्रहाभ्युपयाचितशतानि पृष्टा नैमित्तिकाः कारयिता मन्त्रवादिनः चिन्तामणितानि सत्त्वानि पीतानि मूलजालानि कृतानि कौतुकानि निःसारिता भवधुतयः शोधितानि आवर्तानि भक्तारिताः ममाः प्रार्थिताः प्रयत्नरूपाः अभ्यर्थिता योगिनः कृत सर्वं न तु किञ्चित्केनापीति, ततो मध्यम वयसि प्रादुर्भूतो मे गर्भः महादेवी राजा क्रमेण च प्रसूताऽहं जाता देवप्रभया विकचकमलमुखसमवन्ती दारिका निवेदिता राज्ञे परितुष्टोऽसौ कारित महावर्धनकं प्रति स्थित प्रथमदिने नाम मदनमञ्जरीति, वर्धिता सा सुखसन्दोहेन सजाठेयमत्यन्तमभीष्टा, कनकप्रियपत्नीतनरसेनवरिकालुब्धिता तस्याः प्रियसखी लवङ्गिका, माग्निता सार्धमनया सा सकलाः कलाः प्राप्ता यौवन, ततः कलाकौशलेन रूपातिशयेन च न ममोचितः पुरुषोऽस्तीति मुक्ता संजाता पुरुषद्वेषिणी सा वत्सा मदनमञ्जरी, तत्र लवङ्गिकावचनेन विज्ञाय तदाकूतं विषण्णाऽहं निवेदित महारा-

तदा, पठितं कालनिवेदकेन—'उष्णक्षेप भो लोका!, भास्करः कथयत्यलम् । मा कुरुत चित्तसन्ताप, मा हर्षं मा च विह्वलम् ॥ ६१ ॥ यथैवानासीत्सिद्धोऽयमस्माकं भो दिने दिने । तथाऽऽवर्तक्रमः सर्वस्तथा बोऽपि भवे भवे ॥ ६२ ॥' एतदाकर्ण्य चिन्तितं नरपतिना—अये सुन्दरमनेन समर्थितः स्वार्थः, तथाहि—यथा देवरूपैः पूर्वनिरूपितं पदार्थाभिर्भवनमचीकर इत्युक्तं तथाऽनेनापि पठता भास्करस्य प्रतिदिनमुदयमध्यापवर्गनपुनरुदयादिपरं दिनो जन्मनि जन्मनि सुखदुःखसमाधिक सर्वं चिरमिरूपितमेवोपनमते तदलं तत्र विषादादिनेत्यावेदितमिति, अतः सुखस्थितमेवैव सर्वमास्ते किं नश्चिन्तयेत्याकलय्य निराकुलीभूतो राजा । इतश्च किमधुना कर्तव्यमिति पृष्टा लवलिकया मदनमञ्जरी, तयोक्तं—यदि तातोऽम्बा च मामुत्सकलयति ततोऽहं स्वयमेव पर्यट्य वसुन्धरामात्माभिरुचितं वरं वृणोमीति, ततः कथितं मे लवलिकया तद्वचनं निवेदितं मया राज्ञे, चिन्तितमनेन—सुन्दरमेवैतद् भणितं वत्सया, अयमेव तस्य दत्तनिर्दिष्टस्य वरस्य लाभोपाय इति विचिन्त्यानुज्ञाता वत्सा मदनमञ्जरी, ततो गृहीत्वेमामात्मसहचरीं लवलिकां निर्गता सा वरार्थं सकलभूतलावलोकनाय गतानि कतिचिद्दिनानि स्थितो राजाऽहं च वत्सास्नेहेन सोन्मादकौ स्थितो निमीलयन्तौ, अन्यदा समागतेयं सविषादा लवलिका, दृष्ट्वा चेमां झटकृत्य पतितमावयोर्हृदयं हा किमितीयमेकाकिनी सविषादा चोपलभ्यत इति भावनया, कृतोऽनया प्रणामः, मयोक्तं—अयि भद्रे! लवलिके कुशलं वत्सायाः, अनयोक्तं—अम्ब! कुशलं, मयोक्तं क पुनरिदानीं वर्तते वत्सा ?, अनयोक्तं—आकर्णयत्वम्बा—अस्ति तातविशो निर्गत्य विलोकितमावाभ्यामनेकग्रामनगरादिविभूषितं विविधवृत्तान्तभूरि भूमण्डलं प्राप्ते सप्रमोदपुरं दृष्टं ततो बहिराह्लादमन्दिरमुद्यानं तत्रावमावयोश्चित्तविलोकनकुतूहलं स्थिते तत्रोपरिष्ठात् दृष्टौ सुरवरकुमाराकारधारकौ तत्र द्वौ राजपुरुषौ तयोश्चैकमवलोकयन्ती प्राप्ताऽत्यन्तमशरीरशरप्रहारगोचरं प्रियसखी ततस्तद्दर्शनात्मरतिःसदेवावतीर्णा मया सार्धं

मासो वसन्तिसः स्नानात् मज्जनेतेयो दर्शनेन शिरो दुष्यति प्रसादेन युष्मदुपकर्णिवार्ताकठ्ठुमभयेन, वराकस्य विषण्णाऽस्र निर्गत राजे गवोऽसौ चिन्ता भमिष्ठिवमनेन नीयतां भवने वत्सा मा भूविपदुःखासिकयाऽस्याः शरीरपाटवमिति, ततस्तां गृहीत्वा निगताऽस्र स्वय वरसम्पपात् मामा स्वभवनं विपष्मेयं स्वस्तिका, भमिष्ठिसमनया—यथाऽम्ब! कः पुनरत्रसारिकायाः परिणयनापायो भविष्यति?, म योक्त—वत्से स्वस्तिके! वयमपि न जानीमः भवितुष्करदोषविशेष एव प्रियसखी भवत्येव मेव भवत्या यत्न करणीय समाश्वोऽस्मात्- मिशानीं मन्मसागतानां पर्यालोचनगोचर इति वदन्ती स्थूलमुक्ताफलकलापकस्तैनयनसलिलबिन्दुसन्दोहैः रोदितु प्रवृत्ताऽऽ, स्वस्तिकयोक्त —स्वामिनि! मुञ्च विषाद प्रमविष्यात्यद सर्वदारिका, न स्वल्पेषा चिनयसभस्य स्वजननीजनकयोः सन्तापकारिणी भविष्यति कथ चिष्यति यत्न करणीय, तत्रैव सखीकृत्वाऽमनया स्वस्तिकया ॥ इतस्र ते विद्याधराः स्वयंवरमण्डपात्पूर्ववदागमेव निगच्छन्तीयम कोऽन्य यो वत्सां मदनमञ्जरी हृतसर्वस्वा इव नष्टरत्ननिधाना इव मुद्गराहता इव विगलितविद्या इव सवया भवच्छाया विलक्षीभूताः सकोपाः सम्यः कनकोदरनरेन्द्रमसंभाष्य निर्गताः स्वयंवरमण्डपाद्रुषा गृहीत्वैवं दिश, ततो राजा मातः शोकातिरेक स्थित वपमित वरितं समागता रजनी न दृष्ट च प्रातोपिकमास्थान, सुप्तः केवलं तया गमितमाया चिन्तया विनिद्रयैव राज्ञा विभावरी ततोऽतिमरेण कम्पोऽन्येन मिथाम्बः भाव यत्र स्वप्नदर्शने, दृष्टानि नामतेव चत्वारि मानुषाणि—द्वौ पुरुषौ द्वे कन्ये, तैरभिहित—महाराज! कनको दर किं सुप्तस्त्वं तत्र जागर्षि?, नृपतिराह जागर्मि, तैरुक्त—यथेवं ततो मुञ्च विषाद निरूपितोऽस्माभिः पूर्वमेव वरो मदनमञ्जर्याः स एव भविष्यति भर्ता भवतामस्मत्परान्वेषणेन अस्माभिरेव च ज्ञेया संपादिता। अस्त्वस्मास्ते विद्याधरनरेन्द्रा यतो न प्रयच्छामो वय मेनामन्यस्मै वरायेति दृष्टानामि तानि गवाक्षदर्शनेन, अत्रान्तरे समावः प्राभातिकतूर्यनिर्घोषः प्रबुद्धो राजा स्वतः स्वमार्गः प्रहृष्टो

प्युक्तमनया—सखि! कमलिके नाहं गन्तुं पारयामि अलसं मे शरीरं न च मोक्तुम् मयेच्छुयान, ततो गच्छतु तूर्णं भवती सपादपिष्ठ सावाम्मयोर्वार्तामिति, ततो कथयित्वाऽभिमतं तस्मा निर्भय स्थापयित्वा तां गुप्तवरुगहनमध्ये रचयित्वा शिशिरपल्लवशयनीयं कार यित्वा न चलितव्यमितः स्थानाच्च विधेयमन्यदपि किंचिदसमञ्जसमित्यत्रार्थे शपथशतानि समागताऽहं त्वयाभिर्भूतासिद्ध्यामठं गगनमुत्प तन्ती वेगेन दृष्टेसदाकर्ण्य देवोऽम्बा च प्रमाण, ततो राज्ञोक्तं—देवि! तावत् त्वं त्वरया गच्छ तत्समीपं संधीरय वत्सां मदनमञ्जरी मह तु सामग्री विधायागमिष्यामि यतः साशङ्कं मे मनः सकोपा निर्गतास्ते विद्याधराः प्रयुक्तश्च तद्वृत्तान्तोपलम्भाय मया चटुलः ततः कृतसामग्रीकस्यैव मे तत्र गन्तुं युक्तं, नेतव्यं च तत्र गच्छद्भिः किंचिदाभृत अवश्यमुद्‌गतो भविष्यति मे कालविलम्ब तत्तूर्णं गच्छतु देवी, मयोक्तं—यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः, ततः पुरस्कृत्येमां छगलिकां गृहीत्वा चास्मत्कर्मां दासदारिकां चपलिकां समागताऽहं वेगेन, दृष्टा तत्रैव शिशिरपल्लवशयनीये निषण्णा परमयोगिनीव निरालम्बनं किंचिद्ध्यायन्ती वत्सा मदनमञ्जरी, तया तु न लक्षितमस्मदागमन मुपविष्टा वयं निकटे, छगलिकयोक्तं—भर्तृदारिके! समागतेयमम्बा किमेव तिष्ठसि?, ततो लब्ध्वा मनस्या चेतना मोटितमनया शरीरकं व्यापारिते लोचने विलोकिताऽहं, ततः ससम्भ्रममुत्थाय निपतिता सा मच्चरणयोः, मयोक्तं—वत्से! मदीयजीवितेनापि चिरं जीव तूर्णमायुषि इदयवल्लभं अविधवा भव सुभगा सपत्नस्येति, ततश्चोत्थाप्य समालिङ्गिता सभामाता मूर्धदेशे स्थापिता निजोत्सङ्गे चुम्बिता वदनकमले, अभिहिता च—वत्से! मदनमञ्जरि धीरा भव मुञ्च विषाद सिद्धमेव पश्य समीहितं भयमागत एव वर्तेते ते जनक च टिकाः रात्र्यत्र मयोचने वसन्तीति, ततः श्रुत्वो ममेयन्ति मागधेयानीति शनैर्वदन्ती स्थिताऽधोमुखी वत्सा, अत्रान्तरे गतोऽस्त दिन- करः समुल्लसित तिमिरं विस्फुरिततारकानिकरः विमुक्ताम्बरपाकाः मुकुलितं कमलवन निलीनाः शकुनयः प्रसरिताः कौशिकाः प्रहृष्ट

वृक्षे स्थिता तयोर्दृष्टिगोचरे मनाग्दूरवर्तिनि चूतवने तमेव राजकुमारमनिमिषिताक्षी निरीक्षमाणा ततः पातिता तेनापि तदभिमुख
दृष्टिः—ततः साऽमृतसिक्तेव, क्षिप्तेव सुखसागरे । तस्मिन्नवसरे दृष्टा, मया यान्ती रसान्तरम् ॥ ६४ ॥ आकृष्टेव यथाऽऽकृष्य, मेघ
शब्दे मयूरिका । विजृम्भते यथा बाला, न दृष्टाऽन्य' विजृम्भिता ॥ ६५ ॥ विकासयन्त्युरं कान्त, सरस च शरीरकम् । कपित्थस्य
पुष्पाभं, धारयन्ती मनोभवा ॥ ६६ ॥ मुञ्चतीव रसावेशात्कम्पतीव मुहुर्मुहुः । हसतीव विलासाढ्या, दृष्टिं ददाति वल्लभ ॥ ६७ ॥ त-
थ्या तादृशीं वीक्ष्य, तत्र निश्चितमानसाम् । कस्तु मया सहृष्टमदं दर्पमुपगता ॥ ६८ ॥ यदुत—अहो विदग्धा निर्मितमहो दु
ष्करोपिका । तथापि योजिताऽनेन, सूनुना मदसारिका ॥ ६९ ॥ अहो अस्य सुरूपत्वमहो लावण्यपूर्णता । अहो युक्तोऽनयोर्योगो,
रतिसम्मथयोरिव ॥ ७० ॥ अहो घटितमेवेदं, मिथुनं ननु वेधसा । सद्भावमीलनाथैव, सपत्न न समीहितम् ॥ ७१ ॥ अथ क्षणात्त
केनापि, कारणेन ससम्भ्रमः । सार्धं तेन वयस्येन, ततः स्थानाद्गतो युवा ॥ ७२ ॥ गते च तत्र सा बाला, धन्या तरलतारिका । स
ञ्जाता विह्वलाऽत्यन्त, यथा नष्टनिधानिका ॥ ७३ ॥ ततो मयोक्तं—मदसारिके! यथाभिलषितस्तुभ्यमेष तरुणस्ततो गम्यतां तातान्त-
समीपे निवेद्यतामेषोऽस्यैव सम्प्रमोदपुराधिपतेर्भुवनपालस्य सूनुर्भविष्यति कस्यान्यस्येदृशो रूपातिशयः ?, ततो दाप्यतामस्मै तातेना-
त्मा किमधुना विलम्बितेनेति, तयोक्तं—सखि लवलिके! रुचितोऽयं मे जनः कथं साक्षान्मम हृदये न रुचिता प्रायेणाहमस्मै
कथमन्यथा दर्शनमपक्रमण ?, मयोक्तं—स्वामिनि! मा मैवं वोचः, यतस्त्वि—किं न ते मर्दिता दृष्टिः, किं न ज्ञातः सतोषकः ?। स राज
पुत्रस्त्वां दृष्ट्वा, येनेत्थमभिधीयते ॥ ७४ ॥ अन्यथं रुचितासि त्वं, स्पष्टं मुग्धे वरानने! । मधौ मधुकरायेव, सरसा चूतमञ्जरी ॥ ७५ ॥
वैरम्यासेव येनेव, इत्थापक्रमणं कथम् । ततोऽनुष्ठीयतामेतत्स्वामिन्या मम भाषितम् ॥ ७६ ॥ ततः सखीभूता किञ्चिद्रागमुद्रिता तया-

प्युक्तमनया—सखि! कमलिके नाहं गन्तुं पारयामि असह्यं मे शरीरं न च मोक्तव्यं भयेदमुपात्तं, ततो गच्छतु तूर्णं भवती सपादयितु कार तावामयोर्वार्तामिति, ततो छादयित्वाऽनिवर्तकं तस्या शिरं च स्नापयित्वा तां गुप्ततरगहनमध्ये रचयित्वा शिशिरपल्लवशयनीयं यित्वा न चलितव्यमित्व स्थानाम विवेकमन्यदपि किंचिदसमञ्जसमित्यत्रार्थे शपथयामि समागताऽहं सुखाभिमुखीवासित्यामल गगनमुत्प सन्वी वेगेन इत्येतदाकर्ण्य देवोऽम्बा च प्रमाण, ततो राज्ञोक्तं—देवि! तावत् त्वं त्वरया गच्छ तत्समीप समीरय तस्यां मदनमञ्जरी अहं तु सामग्रीं विधायागमिष्यामि यतः साशङ्कं मे मनः सकोपा निर्गतास्ते विद्याधराः प्रयुक्तम तद्वृत्तान्तोपलम्भाय मया चटुलः ततः कुसुमसमीकस्यैव मे तत्र गन्तुं युक्तं, नेतव्य च तत्र गच्छन्तिः किंचित्कालमपि भवत्समुत्सुकतो भविष्यति मे कालविलम्ब तदुर्पं गच्छतु देवी, भयोक्त—यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः, ततः पुरस्कृत्यैतां कमलिकां गृहीत्वा चासमवशमां दासदारिकां धवलिका समागताऽहं वेगेन, दृष्टा तत्रैव शिशिरपल्लवशयनीये निषण्णा परमयोगिनीव निराकम्पन किंचिद्ध्यायन्ती यत्सा मदनमञ्जरी, तया तु न लक्षितमस्मदागमन उपविष्टा वयं निकटे, कमलिकयोक्तं—भर्तृदारिके! समागतेयमम्बा किमेवं तिष्ठसि?, ततो लब्ध्वा वत्सया चेतना मोटितमनया शरीरक व्यापारिते लोचने विलोकिताऽहं, ततः ससम्भ्रममुत्थाय निपतिता सा मच्चरणयो, मयोक्त—वत्से! मदीयजीवितेनापि चिरं जीव तूर्णमायुष्मति हृदयवल्लभ अविधवा भव सुभगा सपत्नीकेति, ततश्चोत्थाप्य समालिङ्गिता समाघ्राता मूर्धदेशे स्थापिता निजोत्सङ्गे चुम्बिता वदनकमले, अभिहिता च—वत्से! मदनमञ्जरि मीता भव मुग्धे विषादं त्यजस्व पश्य समीहितं अयमागत एव वर्तते ते जनकः च टिकाः तस्मात्र भयोसने अस्पन्दीति, ततः कृतो ममैयन्ति भागधेयानीति शनैर्वदन्ती स्थिताऽधोमुखी वत्सा, अत्रान्तरे गतोऽस्त दिन-करः समुल्लसितं तिमिरं विस्फुरितस्तारकानिकरः वियुक्तामकचाकाः मुकुलितं कमलवनं निलीनाः शकुन्तयः प्रसरिताः कौशिकाः प्रह्लादा

भूवेलायाः समुद्गतः शशधरः विलसिता चन्द्रिका, ततश्चित्तप्रमोदकारिणीभिः कथाभिर्विनोदयन्तीभिस्तां तस्या मदनमञ्जरीमधिकादि ताऽस्माभिः कथंचिद्रजनी समुद्गतो दिनकरः, मयोक्तं—हले कन्दलिके! क्षिप्ता गगनमार्गे निरूपय निजस्वामिवर्तनीं किमसौ चिरयति?, ततो यदाज्ञापयति स्वामिनीति वदन्ती क्षितेव नभस्तले कन्दलिका क्षिप्ता च क्षणमात्रं समवतीर्णा सहसा, मयोक्तं—हले! किं सहसा ऽसि किं समागतस्ते स्वामी?, अनयोक्तं—अम्ब! नाद्यापि समागतः स्वामी किं तु समागतौ द्वौ राजकुमारौ निरीक्षितं च ताभ्यां भर्तृ- दारिकादर्शनार्थं समस्तमुद्यानं केवलमतिगहनतयाऽस्य प्रवेशस्य न दृष्टा भर्तृदारिका, ततोऽसौ भर्तृदारिकादर्शनपर्युत्सुकः सविषादः समु- क्तस्तेन द्वितीयेन यथा—कुमार! गुणधारण! कीदृशी तावदत्रैव चूतवने तस्यैव च चूतस्याधो यत्र दृष्टाऽऽसीत्त्वया सा पटुपवनचलित- कुसुमस्तबकोत्क्षेपणा हृदयहारिणी किमन्यत्र पर्यटितेन? कदाचिदैवयोगात्पुनस्तत्रैवोपलभ्यत इति, तेनोक्तं—एवं भवतु, ततो गतौ तौ तदभिमुखं, इदमत्र मे हर्षकारणं, तस्ययोक्तं—भवतु मातः! किमेवं मां प्रतारयसि?, ततोऽनया तत्प्रत्यायनाय कृतानि शपथश- तानि तथापि न प्रत्यायिता तस्या मदनमञ्जरी, मयोक्तं—हले कन्दलिके! किमनेन बहुना?, दर्शय तावन्मे कुमारं येन तं स्वयमेवेक्षा- मीय तस्यामाश्वासयामि, अनयोक्तं—एषा सज्जाऽस्मि प्रवर्ततामम्बा, ततो विमुच्य तस्याः समीपे तां धवलिकां प्रवृत्ताऽहं, ततश्च नीताऽह- मेवमनया कन्दलिकया भवतः समीपं, तदेषोऽत्र कुमार! परमार्थः—तस्या कण्ठगतप्राणां, तां मे दुष्करदोषिकाम्। तत्प्रसादानुग्रहं कृत्वा, कुमारो रक्षितुमर्हति ॥ ७७ ॥ ततो विलोकितं मया कुलन्धरवदनं, तेनोक्तं—कुमार! गम्यतां कोऽत्र विरोधः?, ततः कृतमस्मा- भिस्तत्र गमनं, दृष्टा यथानिर्दिष्टा मदनमञ्जरी, ततोऽहं निमग्न इव सुधारसमये महाह्रदे अवतीर्ण इव रतिरससमये महासमुद्रे वर्तमान इव सर्वानन्दसन्दोहे परिपूर्ण इव सर्वमनोरथभरेण प्रीणिताशेषेन्द्रियग्राम इव सर्वोत्सवसमुदये समावस्थदर्शने सतीक्षि, तथा सापि

मामपश्यन्त्य प्राप्तः स एवायमिति हृष्टा चिरादृष्ट इत्युत्कण्ठिता कुतस्तस्यागमनमिति सवितर्का स्वप्नोऽयं भवेदिति सविषादा स्थिरः प्र
त्यय इति जातनिर्णया विरहेऽपि जीवितेति सलज्जा कथं मामेष प्रतिपद्यत इति सोद्वेगा निरीक्षते मामयमिति सप्रमोदेति सपत्ना सखी
प्रेमरसनिर्भरहृदया, अत एव पाण्डुतया पुलककलापेन विभूषिता स्वेदबिन्दुमौक्तिकनिकरेण च भृशं समुच्छ्वसितपवनेन हृदयहारिणी
सुललितलतेव कम्पमाना सर्वथा—मनागप्यन्यं रसं कंचिदत्यन्तप्रीतिनिर्भरा । मया सा स्निग्धलोचना, भजन्ती प्रविलोकिता ॥ ७८ ॥
ततोऽभिहिता कामलतया—सखे ! किं जातस्तेऽधुना कालिकावचने संप्रत्ययः ?, ततः स्मितेन रञ्जयन्ती मम हृदयमिव सुधाधवले
नापि विमलकपोलौ स्थिता साऽधोमुखी, जातः सर्वेषां प्रमोदः, अत्रान्तरे—कलसुवर्णरत्नौघप्रभाजालैः समन्ततः । प्रकाशितनभोभा
गैर्देवाकारानुकारिभिः ॥ ७९ ॥ भूरिविद्याधरैः सार्धं, शङ्खचारुलीलया । रत्नचूडो विमानौघसमागतः कनकोदरः ॥ ८० ॥ युग्मम् ।
सप्रमोदपुरं वीक्ष्य, सोऽवतीर्णः खगेश्वरः । आह्लादमन्दिरं प्राप्तो, दृष्टोऽस्माभिः सविस्मयम् ॥ ८१ ॥ ततः कृतमस्माभिरभ्युत्थान
नामितमुपभाग्य विहिता प्रतिपत्तिः उपविष्टाः सर्वे यथास्थानं विलोकितोऽहं स्निग्धदृष्ट्या सुचिरं कनकोदरेण नूनं स एवायमिति निश्चित्य
सुखप्रेक्षसा पृष्टा कामलता कथितोऽनया वृत्तान्तः, कनकोदरेणोक्तं—देवि ! निर्वहितमेव यस्माभिः दुष्करतोषिकात्मनीदृशपुरुषरत्ने यथाऽ-
मया कृतो मनोनिर्बन्धः, न खलु सखी पुरंदरमन्यत्र क्वचिदपि निवेशयते, कामलतयोक्तं—एवमेतन्नास्त्यत्र सन्देहः ॥ अत्रान्तरे समा
गतो वेगेन चटुलः, येन च निवेदितं किमपि कनकोदरस्य कर्णाभ्यर्णे, ततोऽस्मत्र कालविलम्बेनेति कामलतां प्रति यथा समालोच्य
सह कुसुमधरेण तत्रैव स्थाने संक्षेपतः कारितोऽहं पाणिग्रहणं मदनमञ्जर्याः कनकोदरेण निर्वर्तितो विवाहानन्दः प्रकटितानि तानि यत्र
वैडूर्येन्द्रनीलमहानीलकर्केतनपद्मरागमरकतचूडामणिपुष्परागचन्द्रकान्तसूर्यकान्तमेचकानर्घरत्नराशिपरिपूरितानि विमानानि, ततोऽभिहितः

मूर्च्छेवागता समुद्गतः शशधरः विकसिता चन्द्रिका, तदभिरामप्रमोदकारिणीभिः कथाभिर्विनोदयन्तीभिस्तां तस्या मदनमञ्जरीमतिवाहि-
ताऽस्माभिः कथञ्चिद्रजनी समुद्गतो दिनकरः, मयोक्तं—हले लवलिके ! क्षिप्ता गगनमार्गे निरूपय निजस्वामिवर्त्मां किमसौ चिरयति ?,
ततो यथाज्ञापयति स्वामिनीति वदन्ती क्षितेव नमस्तले लवलिका स्थित्वा च क्षणमात्रं समवतीर्णा सहर्षा, मयोक्तं—हले ! किं सहर्षा
ऽसि किं समागतस्ते स्वामी ?, अनयोक्तं—अम्ब ! नाद्यापि समागतः स्वामी किं तु समागतौ द्वौ राजकुमारौ निरीक्षितं च ताभ्यां भर्तृ
दारिकादर्शनार्थं प्रमदवनमुद्यानं चैत्यमविगाहनवमाऽस्य प्रवेशस्य न दृष्टा भर्तृदारिका, ततोऽसौ भर्तृदारिकादर्शनवञ्चितः सविषादः सम्मु-
खस्तेन द्वितीयेन यथा—कुमार ! गुणधारण ! सौधतां तावदत्रैव चूतवने तथैव च चूतस्यावो यत्र दृष्टाऽऽसीद्भवता सा चटुलपवनचलित
कुसुमपल्लवोल्लोचना हृदयतस्करी किमन्यत्र पर्यटितेन ? कदाचिद्दैवयोगात्पुनरत्रैवोपलभ्यत इति, तेनोक्तं—एवं भवतु, ततो गतौ
तौ तदभिमुखं, इदमत्र मे हर्षकारणं, तस्सयोक्तं—भवतु मातः ! किमेवं मां प्रतारयसि ?, ततोऽनया तत्प्रत्यायनार्थं कृतानि शपथश-
तानि तथापि न प्रत्यायिता तस्या मदनमञ्जरी, मयोक्तं—हले लवलिके ! किमनेन बहुना ?, दर्शय तावन्मे कुमारं येन त्वमेवेदा-
नीं तस्सामाचरामि, अनयोक्तं—एषा सज्जाऽस्मि भर्तृवाममस्त्वा, ततो विमुच्य तस्यासमीपे तां चलितौ मदूराऽत्र, ततश्च नीताऽह-
मेवमनया लवलिकया भवतः समीपं, तदेषोऽत्र कुमार ! परमार्थः—तस्सा कण्ठगतप्राणां, तां मे दुष्करतोपिकम् । तस्मात्प्रसादानुग्रहं
कृत्वा, कुमारो द्रष्टुमर्हति ॥ ७७ ॥ ततो विलोकितं मया कुलधरवदनं, तेनोक्तं—कुमार ! गम्यतां कोऽत्र विरोधः ?, ततः कृतमस्मा
भिस्तत्र गमनं, दृष्टा यथानिर्दिष्टा मदनमञ्जरी, ततोऽहं निमग्न इव सुधारससमये महाम्ब्रदे अवतीर्ण इव रतिरससमये महासमुद्रे वर्तमान
इव सर्वानन्दसन्दोहे परिपूर्ण इव सर्वमनोरथभरेण प्रीणितान्तःप्रेमप्रियमाम इव सर्वोत्सवसमुच्चये संभावतदर्शने सतीत्थं, तथा सापि

सविपाका स्थिरः प्र सवितर्कः स्वप्नोऽयं भवेदिति कुवलयागमनमिति
मामवलोक्य प्राप्तः स एवायमिति इत्थं चिरादृष्ट इत्युत्कण्ठिता समभोदेति सपत्ना संकी
मिलिष्यते मामयमिति योदेगा प्रतिपद्यत इति कथं मामेव लज्जा जीवितेति विरहेऽपि आत्मनिर्भया इति स्वय हृदयहारिणी
मन्थरा समुत्थानप्रसिद्धपवनेन स्वेदबिन्दुमौक्तिकनिकरेण पुलकजालकेन विभूषिता पाल्कथा एव अथ भैरसनिर्भरहृदया,
भजन्ती प्रविलोकिता ॥ ७८ ॥ तथा सा स्निग्धलोचनी, कश्चिदमन्दप्रीतिनिर्भरा । रस अनाख्येय सर्वथा— कम्पमाना मुकुलितनयनेव
सुधाधवले मम हृदयमिव रचयन्ती स्मितेन ततः सप्रत्ययः ?, स्वस्तिकाबन्धने किं तातस्तेऽधुना वत्से ! कामलतया— ततोऽभिहिता
प्रकाशितनभोमा- समन्ततः । कुसमूपणरत्नप्रभाजालैः अत्रान्तरे— प्रमोदः, सर्वथा जातः धाऽधोमुखी, क्षिता विमलकपोलौ नापि
युग्मम् । ॥ ८० ॥ कनकोदरः विमानोपभागत रत्नैर्मूत्वा । सकलपारलौकिक्या सार्धं, भूरिविद्याधरैः ॥ ७९ ॥ गैर्वाकारानुकारिभिः
कृतमस्माभिरभ्युत्थानं ततः ॥ ८१ ॥ सविस्मयम् दृष्टोऽस्माभिः प्राप्तो, आह्लादमन्दिर सखचरः । सोऽवतीर्णः वीक्ष्य, सममोदपुरं
निश्चित्य एवायमिति स नून कनकोदरेण सुचिरं स्निग्धदृष्ट्या विलोकितोऽहं यथास्थानं सर्वे उपविष्टाः प्रतिपत्तिः विहिता नामिततमुत्तमाङ्गं
यथाऽ- पुरुषरत्ने दुष्करशोचिकात्समीदृश वत्साया निर्बन्धितमेव देवि ! कनकोदरेणोक्त— कृतास्थः, कथितोऽनया कामलतया गृहा तुष्टचेतसा
समा अत्रान्तरे ॥ सन्देहः अत्र एवमेतदास्त्यन्त कामलतयोक्त— निवेशयते, सचिव अन्यत्र पुरंदरः शची खलु न मनोनिर्बन्धः, कृतो नया
समालोक्य सस्ता प्रति कामलतां कालविलम्बेनेति ततोऽलमत्र कर्णाभ्यर्णे, कनकोदराय किमपि निवेदित च तेन चतुरः, वेगेन गतो
मम वानि प्रकटितानि विवाहानन्तः निर्वर्तितो कनकोदरेण मदनमञ्जर्याः पाणिग्रहण कारितोऽहं सक्षेपतः स्थाने तत्रैव कुवलयेन सह
ततोऽभिहितः विमानानि, रत्नराशिपरिपूरितानि वैडूर्यमूर्तीमहानीलकर्केतनपद्मरागमरकतचूडामणिपुष्परागचन्द्रकान्तरूपकमेघकायनर्पयर

कुम्भरः कनकोदरेण—भद्र ! राजपुत्र कोशायमेवैयामिदानयत, ततो यथाऽस्माक दपत्रय स्वीकृत्वा मदनमञ्जरी यस्सा सर्पवान्यारि
सीकर्तुमर्हति राजपुत्रः, कुम्भरेणोक्त—यूयमेव प्रमाण किमत्र राजपुत्रस्य ?, न खलु गुरवो यथष्ट कारयन्तो राजपुत्राभ्ययनं कर्तुमर्हन्ति
ततः परितुष्टः कनकोदरः कृतकृत्योऽहमिदानीं निश्चिन्तीभूतो यस्सा मदनमञ्जरीति भावनया गता परमपरितोष कामलता दृष्टो ससखि
कासि परिजनः, तथाहि—कन्या शोककरी जाता, पि साकृद्धर्ममानिका । वितर्ककारिणी दाने, दौर्गत्ये गाढदुःखदा ॥८२॥
सानुरूपाय रुप्याय, धार्मिकाय धनैर्युता । किञ्च निश्चिन्तसाहतुः, सद्मन्त्रे प्रतिपादिता ॥ ८३ ॥ अवसरो रमपूगान्वो, दृष्टा
मदनमञ्जरीम् । मम स हृष्टः सपत्नः, सप पुः कनकोदरः ॥ ८४ ॥ अत्रान्तरे—सममोद्पुरसामे, मेघजालमिवाकुलम् । विद्याधरपत
दृग्दृश्यते स्म नमस्तले ॥ ८५ ॥ तत्र चमसितूणीरकुन्तनाराचमीषणम् । शक्तिप्रासधनुर्दण्डगदाशूलभयानकम् ॥८६॥ मेदुरैर्विमयाभा
सन्नाद्धं दर्पनिर्भरम् । मसङ्गमत्ताङ्कुरामत्रेयराधिपसङ्कुलम् ॥ ८७ ॥ सिंहनादमहोत्कृष्टिनिष्प्रानभृतदिक्पथम् । सनद्धसन्नद्धकोपा
न्धमटदारुणम् ॥८८॥ त्रिभिर्विशेषकम् । अथ सङ्ग्रामशौण्डीरं, सर्पमानं वधुवकः । क्षणादागतमभ्यर्णे, दृष्टमस्माभिरग्मुखैः ॥८९॥ ततः
कनकोदरेणोक्त—भो भो विद्याधरास्तूर्णं, सज्जीभवत सम्मुखाः । सोऽय पदुच्छ्रयान्तः, साम्प्रत स्फुटतां गतः ॥९०॥ तथाहि—सकोपा
स गताः पूर्वं, मामसमाप्य भप्यपात् । स्थितास्ते भीरुकेनैव, मत्सराप्मातचेतसः ॥ ९१ ॥ त एते खेचराः सर्वे, यथाछोप्य परस्परम् ।
समागताश्रयेर्प्पांता, हर्तां मदनमञ्जरीम् ॥ ९२ ॥ पवेपामिदमाकूत्य, किञ्चार्य गुणधारणः । हीनो भूगोचरोऽस्मत्तो, वय विद्याधरो
त्तमाः ॥ ९३ ॥ सर्वेते निपतन्नत्र, भावत्तावमन्दिरे । प्रेरयामः क्षणाद्यावत्तका इव वायसाम् ॥ ९४ ॥ अपसारयत बगन, भूमि
गोचरसन्मकाः । सन्तो यूयममीषा हि, मिथ्याभान खगोचरम ॥ ९५ ॥ अथ तत्स्वामिनो वाक्यमाकर्ण्य रणशालिनः । समुत्स्थितुमा

रम्यास्ते भूमिष्ठा नभश्चराः ॥ ९६ ॥ अत्रान्तरे मया चिन्तितम्—अहो न सुन्दरं जातमिदमेतेन हेतुना । यतो मत्कारणेऽमीषां, प्रक-
योऽत्र भविष्यति ॥ ९७ ॥ अथोत्पतितुकामेषु, तेषु तत्सम्मुखं तदा । नभःस्थिते परानीके, यस्मात् तमिबोध मे ॥ ९८ ॥ निर्व्यापारं
गताटोपं, निःशब्दं स्थिरलोचनम् । केनचिद्देव्यतां नीतं, स्तम्भितं तद्बलद्वयम् ॥ ९९ ॥ ततो निष्पन्दमस्माकं, तत्सैन्यद्वितयं तदा ।
भूम्याकाशसमस्थोऽन्य, चित्रन्यस्तमिवेक्षते ॥ १०० ॥ अथ तेषां नभःस्थानां, गतोऽहं दृष्टिगोचरम् । सम मदनमञ्जर्या, निविष्टो वरविष्टरे
॥ १०१ ॥ ततोऽस्मद्दर्शनात्तेषां, सर्वेषां मनसि स्थितम् । अहो रूपमहो मूर्तिरहो कान्तिरहो गुणाः ॥ १०२ ॥ अहो धैर्यमहो स्थैर्यं,
मरस्यास्य महात्मनः । अहो मदनमञ्जर्याः, पर्याप्तोचितकारिता ॥ १०३ ॥ ययाऽयमीदृशो भर्ता, गृहीतः स्वपरीक्षया । अमुनैव वय
नूनं, स्तम्भिता निजतेजसा ॥ १०४ ॥ तथाहि—सम मदनमञ्जर्या, दृश्यते मुत्कलः स्वयम् । मम सह वयस्येन, राजपुत्रो न शेषकाः
॥ १०५ ॥ सुष्ठु कृतमस्माभिर्नेरक्ष यदीदृशम् । जिघांसित महापापैः, प्राप्तमेतद्धि तत्फलम् ॥ १०६ ॥ तदेष स्वामिकोऽस्माकं, वय
मस्य पदातयः । एवं चिन्तयतां तेषां, प्रशान्तो मत्सरानलः ॥ १०७ ॥ ततस्ते तत्क्षणादेव, केनचिन्मुत्कलीकृताः । आगत्य पादयो
र्लग्न, पतिता मे नभश्चराः ॥ १०८ ॥ अथाभिधातुमारब्धा, ललाटे कृतकुड्मलाः । क्षन्तव्यं दुष्कृतं नाथ!, युक्तास्ते अधुना वयम्
॥ १०९ ॥ ततस्तदुचितं दृष्ट्वा, सपक्षो गतमत्सरः । जातश्च मुत्कलो भद्र!, ससैन्यः कनकोदरः ॥ ११० ॥ ततो नभश्चराः सर्वे,
क्षमयन्तः परस्परम् । आनन्दोदकपूर्णाक्षा, सञ्जाता मे वशाधिकाः ॥ १११ ॥ तं च वृत्तान्तमाकर्ण्य, स राजा मधुवारणः । जनको
मे समायातस्तत्रैवाराद्धमन्दिरे ॥ ११२ ॥ ततश्च—मयाऽम्बरचरैः सर्वैः, कृत्वाऽभ्युत्थानमादरात् । समं मदनमञ्जर्या, नत सार्थोऽपि
पूजम् ॥ ११३ ॥ ततोऽस्याऽन्य पुरैः सार्धं, शेषलोकाश्च ते मया । खेचरैश्च प्रणामादिविधिना बहुमानिताः ॥ ११४ ॥ तदनन्तरं च—

आनन्दपुलकोद्भेदसुन्दरं दधता वपुः । ह्यनीरमुताधेन, ताधेनाकिञ्चन क्षवम् ॥११५॥ ततः कुशधरेणाख्ये, भूपान्वो निखिलखदा । सुन्दो विनयनम्रेण, पद्माशुचो निवमिनः ॥ ११६ ॥ अथ ते खेचराः सर्वे, तावस्ताम प्रभाषिताः । देवोऽप स्वामिकोऽस्माक, रत्नशुभो जीर तापकः ॥ ११७ ॥ मम धन्यः कृतार्थोऽयं, भूपिताऽनेन मेदिनी । अचिन्त्यवरवीर्योऽयं, नास्ति लोकेऽप्यमूदृशः ॥ ११८ ॥ ततो-म्बरचरैरेवं, स्तूयमान विलोक्य माम् । तातः प्रमदमापन्नो, जननी च सुमालिनी ॥ ११९ ॥ तथाहि—अन्तःपुरे पुरे चैत्य, वाद्य-वृन्दैः समाकुलम् । मन्दिरेऽपि तादृशी दृष्टा, सनात रूपनिर्भरम् ॥ १२० ॥ ततः सर्वं प्रमोदेन, सम्मोदे तदा पुरे । प्रवेशुकामास्तोषण, जना किं किं न कुर्वते ॥ १२१ ॥ तथाहि—गगनचारिगणे विपचि स्थिते, मयि च तातयुते जयकुञ्जरे । करिवराम्बरवर्तिकुम्भपरे, करिणिकानिचिते दयिताजने ॥ १२२ ॥ विविधवाससविलासपरायणे, प्रमदनिर्भरगायनच पुर । वरविभूषणभास्वमनोहरे, विबुधकुम्भसमे निखिले जने ॥ १२३ ॥ नृत्त परिस्फुटमेव तदा नरैः, प्रमुदिताशयसौख्यभरेसुरैः । अमरलोकसमानमिद धन, पुरवरं च मुदेवि वि निर्मितम् ॥ १२४ ॥ प्रमुदितम्बपयोधरचारुभिः, प्रमदनृत्यपरैः प्रमदाजनैः । इति विलाससदायैर्वरलोचने, प्रविशति स्म स सपदनः पुरे ॥ १२५ ॥ ततो विपादरैः साथ, समन्तुः कलकोदरः । तातेनापमितोऽत्यर्थं, दानसन्मानपूजनैः ॥ १२६ ॥ किं बहुना ?—सव रत्नमय किं वा, किं वाऽमृतविनिर्मितम् । किं वा सुधारसापूर्णं, किं वा कामोपचारविगम् ? ॥ १२७ ॥ गतावाहारकरं प्रिये, पूर्णसवमनोरथम् । भक्रेऽद्यापिवसद्देहे ?, कथित मम चरितम् ॥१२८॥ तथाहि—समाप्तं कामसमस्त, कन्या मदनमञ्जरी । लाभाय रमयशीनां, स पूर्णोऽयंमनोरथः ॥ १२९ ॥ तथा—तातास्वापितत्तोषेण, बन्धुपौरसुखेन च । रिपूणां प्रतिघातेन, जातश्चित्तोत्सवो महान् ॥ १३० ॥ पत्न्यालापसन्तोषपरिपूरितमानसः । स्थिता प्रदोषे ताताविसर्जितोऽहं यथेच्छया ॥ १३१ ॥ ततः सकलसामन्तसनाथे देव

वादेव । सोऽपि भवनमध्यगा, स्थितः सभासदस्थाने ॥ १३२ ॥ तत्रागाद्दिव्यो दिव्यः, सुरक्षामृतसागरः । केवल क्षीरमुक्त्वामासदि
मितरां मया ॥ १३३ ॥ स्वप्ननिद्रासुप्तोऽभव, प्रबुद्धः सह कान्तया । कृत प्रभातकर्तव्य, तातास्मातन्वनादिकम् ॥ १३४ ॥ मया
तातः प्रभातेऽसौ, मत्समीपं कुलंधरः । स मां मन्मात् दृष्टोऽय, मया स्वप्नः स कीदृशः ? ॥ १३५ ॥ मानुषाणि मया पञ्च, भो द
क्षानि परिस्फुटम् । त्रय पुमांसो द्वे नार्यौ, चैभेदं तव भाषितम् ॥ १३६ ॥ प्रबुद्ध—य एष सुखसम्मोहसागरो गुणधारणे । संजातोऽय
कृतोऽस्माभिः, स सर्वो नाम संशयः ॥ १३७ ॥ तथाऽन्यदपि यत्किंचिदस्य पूर्वं परत्र च । सपर्येव यदस्माभिस्तदिव भो कुलन्धर
॥ १३८ ॥ एव तानि सुखापानि, मानुषाणि समागतः । गतान्यदर्शन सुखरूपोऽह गुणधारण ! ॥ १३९ ॥ न जाने कानि तान्यत्र,
मानुषाणि विशपतः । तथयन्ति सदा यानि, कार्याणि तव भावतः ॥ १४० ॥ मयोक्त कल्पतामेव, तातास्तिम्यस्त्वयाऽधुना । स्वप्नो
विज्ञायते येन, भावार्थोऽस्य परिस्फुटः ॥ १४१ ॥ ततो निवेदितस्तेन, विनस्साशयपूरिते । ताताऽऽस्थाने निमस्सभो, मदयसेन धीमता
॥ १४२ ॥ ततस्तातादिभिः सर्वैरन्यास्यतया तदा । निजबुद्ध्या विनिश्चित्य, स्वप्नार्थोऽय प्रभाषितः ॥ १४३ ॥—मनुकूलानि यथेन्ते,
देवरूपाणि कानिचित् । पैदीदृशी कुमारस्य, कृता कल्याणमालिका ॥ १४४ ॥ तैरेव प्रियमित्राय, कुमारस्य निवेदितम् । तोपास्त्वमा
न्यरे सर्वं, यथाऽस्माभिरिद कृतम् ॥ १४५ ॥ एतदाकर्ण्य मे चित्ते, पूर्वापरविरोधतः । स्मृत्वा कामलतावाक्य, सन्देहः समजायत
॥ १४६ ॥ यतो मया चिन्तित—कनकोदरराजेन, किं चत्वारि पुरा तथा । किं वा कुलधरेणाप, पञ्च दृष्टानि तानि वे ? ॥ १४७ ॥
कानि वा देवरूपाणि, ममैव कार्यचिन्तनम् । मनुकूलानि कुर्वन्ति, किं चोरीकृत्य कारणम् ? ॥ १४८ ॥ सर्वथा सर्वमेवेद, गहन प्रति
भासत । ममापापि न जानेऽहं, किमत्र तव कारणम् ? ॥ १४९ ॥ एव च स्थिते—यपतीन्द्रियवेपारं, कंचित्पश्यामि सन्मुनिम् ।

ततः प्रभाऽऽसमसन्देहमेन कुर्वा विनिर्णयम् ॥ १५० ॥ तदेवविषसद्भस्मारसम्बद्धकलितोऽप्यहम् । तदा तातारिनिर्दिष्टे, स्थाप त न
रूपये ॥ १५१ ॥ अथ ते खेचराः सर्वे, विनामि कतिचित्तदा । कनकोदरसयुक्ता , सस्थिता मम मन्दिरे ॥ १५२ ॥ अथान्तराप्रवाः।
समीक्षितास्ते यथेच्छया । ससानसम्पदा माता, भूतमात्र प्रपद मे ॥ १५३ ॥ ततो मदनमञ्जया, साध म रतिसागर । निमग्नस्ताम
रसेव, क्रीडया याम्ति वासराः ॥१५४॥ वर्धते च तदा सार्धमाडारोऽप्युत्तरायकः । सद्भावमीसनासारः, प्रमावत्या मनोहरः ॥ १५५॥
तावचिन्तितकार्येस, मणवाञ्छितमूमुखः । न मे तदा विभाताधि[1], चिन्तागन्धोऽपि विपत ॥ १५६ ॥ किं च—विद्याधरोपनीतेष,
मात्समूपाविनिर्मम । सपूर्णसर्वकामस्यास्वादा तृप्तिसुखासिका ॥ १५७ ॥ तदेव कौल्यर्दानारमा, प्रविष्टः सुखसागर । स्थितोऽत्र तत्र
पार्वेहि[1], समार्यः सङ्कुलपरः ॥ १५८॥ अन्यदा मित्रयुक्तेन, गतेनाक्षाडमन्दिरे । सभार्येण मया दृष्ट , फ दनामा मुनीश्वर ॥१५९॥
ततो विनयनम्रोऽहं, मणिपस्य यतीश्वरम् । तत्पार्श्वे भूतले शुद्धे, निपण्णो धर्मकाम्यया ॥ १६० ॥ अथ महारत्नजननी, भवतः कमल
सणा । विक्रिता मे यतीन्द्रेण, तेन सद्धर्मदेशना ॥ १६१ ॥ ता चाकण्यवता मद्रे!, विशुद्धनान्तरात्मना । आविर्भूतो मया दृष्टौ, पुनस्तौ
वरवान्धवौ ॥ १६२ ॥ तत्र प्रसमभिज्ञातौ, यथाऽस्य स सदागमः । अथ चासौ महाभागः, सम्यग्दर्शननामकः ॥ १६३ ॥ अथ प्र
पन्नौ भावेन, तौ मया वरलोचने[1] । गुरुवाक्यप्रमुखेन, हितकारितया नतौ ॥ १६४ ॥ इतश्च—देशनीयनरेन्द्रस्य, पदाविः परिपो
षितः । यः सातनामा राजेन्द्रः, सत्पुरे चित्तपालये ॥ १६५ ॥ सोऽत्यन्त मयि रक्तात्मा, मित्रभावविधित्सया । पूर्वमेव मया साध,
सम्प्रमोदेऽप्युपागतः ॥ १६६ ॥ प्राक् केवल विरोभूतः, सोऽकार्षीन्मे सुखासिकाम् । आविर्भूततरा जातौ, यदा मातो सुपान्धवौ
॥ १६७ ॥ ततश्च—या सरकत्वरलोपभोगजन्या सुखासिका । तत्रासी गुरुमूले मे, साऽनन्तगुणतां गता ॥ १६८ ॥ अन्यच—तदा

कुलपरेणापि, महत्तमसदागमौ । तथा भवनमत्यर्थौ, तौ प्रपन्नौ यथा मया ॥ १६९ ॥ ततोऽधिकतरं तुष्टस्तदाऽत्र स च मे मुनिः ।
विक्षेपतः करोत्येव, भूयः सद्धर्मदेशनाम् ॥ १७० ॥ अत्रान्तरे—चित्तवृत्तिमहाटव्यां, लीनलीनाः प्रकम्पिताः । भयेन रोधकं हित्वा
महामोहादयः स्थिताः ॥ १७१ ॥ ततश्च—चारित्रधर्मराजेन, मन्त्री सद्बोधनामकः । इदमुक्तस्तदा भद्रे!, मनाक् संतुष्टचेतसा ॥१७२॥
यदुत—सुन्दरोऽवसरो गन्तुं, विद्यामादाय तेऽधुना । आर्य! संसारिजीवस्य, पार्श्वे गाढं फलप्रदः ॥ १७३ ॥ तथाहि—शुभीभूताऽ
धुना किंचिच्चित्तवृत्तिमहाटवी । निरुद्धो रोधकोऽस्माकमीषद्दूरे च शत्रवः ॥ १७४ ॥ त कर्मपरिणामाख्यं, ततः पृष्ट्वा नरेश्वरम् । गच्छ
त्वं शीघ्रमादाय, विद्यामेनां सुकन्यकाम् ॥ १७५ ॥ कन्दसाधुसमीपस्थः, साम्प्रतं स चरेऽमेया । विज्ञातस्तत्र भावस्य, भवन्त प्रतिप
त्स्यते ॥ १७६ ॥ सद्बोधेनोदितं देव!, युक्तमेतन्न संशयः । किं तु कालविलम्बोऽत्र, युक्तोऽद्यापि प्रयोजने ॥ १७७ ॥ स हि पुण्यो
दयस्तस्य, स च साथो वयस्यकः । कियन्तमपि तत्कालमेतौ भोगफलप्रदौ ॥ १७८ ॥ अतोऽद्यापि फलादेशौ, गृहे त गुणधारणम् ।
कन्याविसुरससपूर्णं, वात्सल्याद्धारयिष्यत ॥ १७९ ॥ एवं च स्थिते—अभ्यास्ते स गृहे यावदनुवर्तनया तयोः । कन्याविविषयमास,
सुपरेतु च मन्यते ॥ १८० ॥ तावत्र युज्यते देव!, मम गन्तुं तदन्तिके । नयनं न च विद्याया, जायतीति कथंचन ॥ १८१ ॥ युग्मम् ।
केवलं प्रेष्यतामेष, देवेन निजचारकः । तदन्तिकेऽधुना तूर्णं, गृहिधर्मः समार्थकः ॥ १८२ ॥ प्रस्तावोऽस्याधुना देव!, तत्समीपेऽस्तिसु
स्मरः । गन्तु सपरिवारस्य, सर्वथैव कार्यसाधक ॥ १८३ ॥ गतमात्रमिमं देव!, स भावेन प्रपत्स्यते । भविष्यतीष्टा तस्यास्य, भार्या
सद्गुणरक्तता ॥ १८४ ॥ किं च—यदा सदागमस्यावत्तस्य पार्श्वे गतः पुरा । तदाऽस्य द्रव्यतस्तेन, भूरिवारा विलोकितः ॥ १८५ ॥
यदा तु तत्पार्श्वगतः, सम्यग्दर्शननामकः । महत्तमोऽतिवात्सल्याभीतस्तेनाप्ययं तदा ॥ १८६ ॥ पल्योपमपृथक्त्वे च, लङ्घिते तेन मा

ततः प्रज्ञाऽऽत्मसमेतश्मेन कुर्यां विनिणयम् ॥ १५० ॥ ततश्चिपसद्भस्यास्तम्तरस्फटिकाऽम्बरम् । तदा वातारिभिरिन, स्तम्भ त व
दृष्टये ॥ १५१ ॥ अथ ते दोषदाः सर्वे, मिनानि कविचिन्तना । कनकोररसपुष्पः, सम्भिता मम मन्दिर ॥ १५२ ॥ अथ दाम्रपा
प्रीणितास्ते यथेप्सया । सस्तानसम्पदा प्राप्ता, भूत्समाव मपप मे ॥ १५३ ॥ तदा मदनमथपा, माप म र्तिमन्दर । मिमदन्याम
रसेन, धीसया यान्ति वासराः ॥१५४॥ वर्धते च तथा साधमाडाशोऽमृवपायकः । सद्धर्मार्थनाशारः, प्रमादस्था मनोहर ॥ १५५॥
तावच्चिन्तितकार्येस, भजताखिलभूभुज । न मे तदा विधाव्याधि', चिन्तागन्धोऽपि विद्यत ॥ १५६ ॥ किं च—रिपावरानीकेष,
मास्वभूपादिमिर्मम । सपूर्णसर्वकामस्याभावा ददिसुधासिका ॥ १५७ ॥ ततश्च सोऽस्पर्दानात्मा, प्रविष्ट सुखसागर । स्थितोऽत्र मत
पार्वति', समार्थः सङ्कपरः ॥ १५८ ॥ अन्यदा मित्रयुक्तेन, गतेनाडाशमन्दिरे । सभार्येण मया दृष्टः, फन्दमासा दुर्नाधर ॥१५९॥
ततो विनयनम्रोऽहं, प्रणिपत्य यतीश्वरम् । तत्पापे भूतले शुद्धे, निपण्णो धर्मकाम्यया ॥ १६० ॥ अथ महाराजन्ता, चतस्र कमर
सका । सिद्धिता मे यतीन्द्रेण, तेन धर्मैषणा ॥ १६१ ॥ तां चाकर्णयता भद्रे!, विशुद्धेनान्तरात्मना । आविर्भूतौ मया दृष्टौ, पुनस्तौ
भरमाम्बतौ ॥ १६२ ॥ ततश्च प्रत्यभिज्ञातौ, यथाऽयं स सदागमः । अयं चासौ महाभागः, सम्यग्दर्शननामकः ॥ १६३ ॥ अथ म
पश्चौ भावेन, तौ मया वरलोचने! । गुरुवाक्यप्रयुक्तेन, हितकारितया मतौ ॥ १६४ ॥ इतश्च—वेरनीयनरेन्द्रस्य, पराविः परिस्थि
तिवः । सः सात्वनामा राजेन्द्रः, श्वसुरे मिथुनाश्रमे ॥ १६५ ॥ सोऽत्यन्तं मयि रक्तात्मा, मित्रभावविधित्सया । पूर्वमप मया साप,
समसोदेऽभ्युपागतः ॥ १६६ ॥ प्राक् कर्त्तर्क विरोधूतः, सोऽद्यापीन्म सुधासिकाम् । आविर्भूतवता तावो, यदा जातो सुधा पदो
॥ १६७ ॥ ततश्च—या सत्कृतरत्नोपभोगजन्या सुधासिका । तदानीं गुरुमूले मे, साऽनन्तगुणतां गता ॥ १६८ ॥ अन्यच्च—तदा

कुलपरम्पारि, मदृत्तमसदागमौ । तथा मदनमन्थर्मौ, तौ प्रथमौ यथा मया ॥ १६९ ॥ ततोऽधिकतरं तुष्टस्ताऽद्य स च मे मुनिः ।
विशेषतः करोत्येव, भूप सद्धर्मदेशनाम् ॥ १७० ॥ अत्रान्तरे—चित्तवृत्तिमहाटव्यां, लीनलीनाः प्रकम्पिताः । भयेन रोधक हित्वा
महामोहादयः स्थिताः ॥ १७१ ॥ ततश्च—चारित्रधर्मराजेन, मन्त्री सद्बोधनामकः । इदमुक्तस्तदा भद्रे, मनाक् सतुष्टचेतसा ॥१७२॥
मदुत्त—सुन्दरोऽवसरो गन्तु, विद्यामादाय तेऽधुना । भार्ये संसारिजीवस्य, पार्श्वे गाढ फलप्रद ॥ १७३ ॥ तथाहि—शुभीभूताऽ
धुना किंचिच्चित्तवृत्तिमहाटवी । निभृतो रोधकोऽस्माकमीषद्दूरे च शत्रवः ॥ १७४ ॥ स कर्मपरिणामाख्य, तव प्रष्टा नरेश्वरम् । गच्छ
त्व शीघ्रमादाय, विद्यामेना सुकन्यकाम् ॥ १७५ ॥ कन्दसाधुसमीपस्थ , साम्प्रत स चरैर्मया । विज्ञातस्तत्र चावस्थ, भवन्त प्रतिप
त्स्यते ॥ १७६ ॥ सद्बोधेनोदितं देव, युक्तमेतन्न संशयः । किं तु कालविलम्बोऽत्र, युक्तोऽद्यापि प्रयोजने ॥ १७७ ॥ स हि पुण्यो
दयस्तस्य, स च सातो वयस्यकः । कियन्तमपि तत्कालमेतौ भोगफलप्रदौ ॥ १७८ ॥ अतोऽद्यापि बलावेतौ, गृहे च गुणधारणम् ।
शब्दादिसुखसपूर्णे, चास्तस्याधारमित्यतः ॥ १७९ ॥ एव च स्थिते—अभ्यास्ते स गृह यावत्तनुवर्तनया तयो । शब्दादिविषयग्राम,
सुरसेषु च मन्यते ॥ १८० ॥ तावत्र युज्यते देव, मम गन्तु तदन्तिके । नयत न च विद्याया, आपटीति कथचन ॥ १८१ ॥ युग्मम् ।
केवल प्रेक्ष्यतामेष, दैवेन निजकारक । तदन्तिकेऽधुना पूर्ण, गृहिधर्मः समार्यकः ॥ १८२ ॥ प्रस्तावोऽस्याधुना देव, तत्समीपेऽविस्तु
न्दरः । गन्तु सपरिवारस्य, वर्तते कार्यसाधकः ॥ १८३ ॥ गतमात्रमिमं देव, स भावेन प्रपत्स्यते । भविष्यतीष्टा तस्यास्य, भाया
सद्गुणरक्तता ॥ १८४ ॥ किं च—यदा सदागमस्यायतस्य पार्श्वे गतः पुरा । तदाऽस्य प्रत्ययतस्तेन, भूरिशाय विलोकितः ॥ १८५ ॥
यदा तु तत्पार्श्वगतः, सम्यग्दर्शननामकः । महत्तमोऽविशत्तस्याभीतस्तेनाप्यय तदा ॥ १८६ ॥ पल्योपमपृथक्त्वे च, लङ्घिते तेन भा

वतः । प्रथमो गृहिधर्मोऽयं, पूर्वमासीत्ततः परम् ॥ १८७ ॥ यदा यदा पुनर्दृष्टो, मद्यमसदागमो । असाहाय्या भावतो वाराः, प्रथमोऽय
वदा वदा ॥ १८८ ॥ अधुना कथय देव!, यतोऽस्यार्थे सदागमः । तेनैव हन्त वस्तार्थे, विशेषेण प्रदर्शयत ॥ १८९ ॥ तद्रूपं यानु
वस्तार्थे, रचयत्येव त गुणैः । प्रस्तावो भावतो यत्र, ततो यान भविष्यति ॥ १९० ॥ अन्यच—महामोहादिसत्रासाधिपपुरेर्विगुदता ।
गृहिधर्मेऽपि तत्रसे, भवेदेव विशेषतः ॥ १९१ ॥ तथा—स स्वाद्भिमुखोऽस्माकमधेपेम निदक्षया । अनेन गृहिधर्मेण, पापस्येन
प्रयोजितः ॥ १९२ ॥ चेतःसुखासिका गुर्वी, सन्तुष्टिः कर्मतानसम् । भयभीतेरभावश्च, गृहिधर्मेण ते गुणा ॥ १९३ ॥
वसात्मनाप्यसामेव, गृहिधर्मसमन्विते । वासामोऽवसरं ज्ञात्वा, पप्रास्सर्वं वय पुनः ॥ १९४ ॥ सतिर मभिमो वाक्य, श्रुत्वा सर्वा
विनिर्मलम् । चारित्रधर्मराजेन, भणितो मिनवारकः ॥ १९५ ॥ स कर्मपरिणामस्य, गत्वा मूल तदाज्ञया । समागतो ममाभ्यण, तत्रे
वाष्पमन्दिरे ॥ १९६ ॥ अथ कन्दमुनेश्चार्थी, शृण्वतो धर्मदेशनाम् । आविर्भूतो ममामेऽसौ, मुनिना च प्रकाशितः ॥ १९७ ॥ गु
णरक्ततया मुक्तया प्रत्यमानुषैः । मयाऽतः प्रतिपन्नोऽसौ, पन्युमुखा नरोत्तमः ॥ १९८ ॥ तथा कुलपरेणापि, कान्तया च समा-
न्वतः । प्रथमो गृहिधर्मोऽस्मो, जाताऽस्मन्त सुखासिका ॥ १९९ ॥ अथ कन्दमुनिः पृष्टः, सन्देह पूर्वचिन्तितम् । त मया स्वप्रसयत,
सप्रार्थमुमुत्सया ॥ २०० ॥ ततः कन्दमुनिः प्राह, सप्रार्थस्य विनिर्णयः । अस्मातीन्द्रियवेत्तारं, विना नैवोपलभ्यते ॥ २०१ ॥
सन्ति मे केवलालोकभास्करा वरसूरयः । गुरवो निर्मला नाम, पूर्वदेशविहारिणः ॥ २०२ ॥ यत्र च—तत्पादमूल यास्यामि, वन्द
नार्थमह यदा । तदा तान् प्रश्नयिष्यामि, भद्र! तावकसंशयम् ॥ २०३ ॥ यतः—योऽय स्वप्रसाज्जातः, सन्देहस्ते मनोगतः । चिवित्व
तस्य भावार्थं, जिज्ञासन्ति महाधियः ॥ २०४ ॥ मयोक्त—भदन्त! यदि तेऽप्येव, गुरवस्ते कथयन । आगम्येपुरवश्यस्यासुन्दरादपि

॥ २०६ ॥ गुरुम् विज्ञाप्य ते नून, पूरयिष्ये मनोरथम् ॥ २०६ ॥ अथवा कथं
सुन्दरम् ॥ २०५ ॥ मुनिराह महाभाग!, गतोऽत्र वचनेन ते । गुरुम् विज्ञाप्य ते नून, पूरयिष्ये मनोरथम् ॥ २०७ ॥ केवल गृहिधर्मेऽत्र, सम्यग्दर्शनसयुते । सदागमे
छालोकलोकिवाकिलचेतसः । विज्ञाय भवदभिमतमागमिष्यन्ति ते स्वयम् ॥ २०७ ॥ केवल गृहिधर्मेऽत्र, सम्यग्दर्शनसयुते । सदागमे
च कर्तव्यो, भवता तावदादरः ॥ २०८ ॥ ततश्च—इत्थं कन्दमुनेर्वाक्यमाकर्ण्य श्रुतिपेशलम् । महाप्रसाद इत्येव, श्रुवाणोऽहं समार्थकः
॥ २०९ ॥ समित्रश्च तदा भद्रे!, विनयानम्रमस्तकः । प्रणम्य त महाभाग, काननात्भुवने गतः ॥ २१० ॥ सुगमम् । ततः सोऽपि
महाभागो, मुनिर्मुनिवरैर्युतः । गतो निर्मलसूरीणां, गुरूणां पादवन्दकः ॥ २११ ॥ अथ कालक्रमाद्भद्रे!, स राजा मधुवारणः । तदा
लोकान्तरीभूतः, पिता मे कर्ममर्मकः ॥ २१२ ॥ ततो राज्येऽभिषिक्तोऽहं, बन्धुमध्यमहत्तमैः । महानन्दविमर्देन, हर्षनिर्भरमानसे
॥ २१३ ॥ ततः परिभव राज्य, रक्त मे राजमण्डलम् । शत्रवः किङ्करीभूता, वशीभूताश्च खेचराः ॥ २१४ ॥ किं बहुना?—मरुतो
ऽपि ममाज्ञायां, वर्तन्ते नतमस्तकाः । वर्धेते कोशदण्डौ च, आयान्ते सर्वसम्पदः ॥ २१५ ॥ किं च—नाकुञ्चितं कचिन्नाप, न कृता
कोपदारुणा । दृष्टिस्वयापि मे आत, राज्य कण्टकवर्जितम् ॥ २१६ ॥ तथाप्येवविधेऽनल्पसुखसन्दोहकारणे । विद्यमानेऽपि नो आत,
मम लौल्याकुल मनः ॥ २१७ ॥ किं तर्हि?—सदागमे सदोद्योगी, सम्यग्दर्शनतत्परः । पुण्योदयेन सयुक्तो, गृहिधर्मे कृता
दरः ॥ २१८ ॥ सातेनाह्लादितो नित्य, स्थितोऽत्र सकलपरः । मम भवनमध्यर्थो, देववद्दिवि लीलया ॥ २१९ ॥ एव च तिष्ठतस्तत्र,
मग्नस्यानन्दसागरे । साम्राज्ये मम चार्वङ्गि!, भूरिकालोऽतिवाहितः ॥ २२० ॥ अथान्यदा सभास्थाने, प्रविश्य प्रियवारक । कल्याणो
नाम मामेव, प्रणिपत्य व्यजिज्ञपत् ॥ २२१ ॥ चतुर—आह्लादमन्दिरे देव!, देवदानवपूजिताः । समागता महाभागा, निर्मला
नाम सूरयः ॥ २२२ ॥ सच्छ्रुत्वाऽहं तदा भद्रे!, कल्याणवचन शुभा । न मामि स्वे नो गेहे, न पुरे न जगत्त्रये ॥ २२३ ॥ ततोऽ

कमलमुक, यस्मै संतुष्टचेतसा । वीनाराणां मया छम, रक्षित प्रियभाविन ॥ २२४ ॥ [illegible]
निर्गतो नगरान्ते' सूरीणां पादपल्लव ॥ २२५ ॥ अपामरत्व दिव्य, मत्कामनरमागर । [illegible]
वेभ ॥ २२६ ॥ वन्दिता मुनिचन्द्रेण, देवदानवखेचरै । तेभ्या मयापमाद्य, [illegible] ॥ २२७ ॥ [illegible]
मामभूपित सह राज्ञे । नह मत्पा विहायेव, मारुन्द्र [illegible] ॥ २२८ ॥ यथा—[illegible]
मरम् । ततः कठोरतरम, प्रविष्ट सूर्यवमह ॥ २२९ ॥ ततो भगवतः सम्यग् [illegible]
चम्य मुनिपुङ्गवान् ॥ २३० ॥ कन्याशीर्वाद्युष्टारमा, भूयो नत्वा मुनीश्वरम् । [illegible] ॥ २३१ ॥
मम कर्मविपोचारकारिणी मम्योहिनम् । ममृतभाविवास्पन, गुरुणाऽऽरम्पि [illegible] ॥ २३२ ॥ [illegible]
"नास्त्यम्यस्सततप्रसे । कष्टदुरन्तदुःखोपसङ्कुले भवचक्रके ॥ २३३ ॥ मरणाय भवे जन्म, [illegible] ।
मरणो हेतुर्वियोगाय समागमः ॥ २३४ ॥ निमित्त विपदा लोके, दहिनां सर्वसम्पदः । [illegible] दुःखाय, परन्तु
"सांसारिक जनाः ! ॥ २३५ ॥ एवं च [illegible]—अमूर्ताः सर्वभावज्ञा[illegible]परिवर्तिनः । [illegible] सुख
"मासते ॥ २३६ ॥ सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः, समोबाधाविवर्जिताः । सर्वसंसिद्धसारकाया, शुद्ध धपो [illegible] ॥ २३७ ॥ [illegible]—
"जन्माभावे जरामृत्योरभावो ह्यस्मामव । तदभावे च निःशेषदुःखाभावः सदैव हि ॥ २३८ ॥ [illegible]
"मतः । [illegible]संस्थितं, सिद्धानां सुखमिष्यते ॥ २३९ ॥ अथवा—[illegible] भवचारक । [illegible]
'गेन, प्रशमामृतपायिनः ॥ २४० ॥ निःसङ्गा निष्परिग्रहाः, निर्मलीभूतचेतसः । मुनिभिः कथ्यते लोके दहिनोऽपि सुखावहाः ॥ २४१ ॥

"सुखमेव च वाञ्छन्ति, सर्वे जगति जन्तवः । तच्च नास्त्येव संसारे, विहायैकां सुसाधुताम् ॥ २४२ ॥ ततश्च भो महासत्त्वा !, वि "निश्चित विधीयताम् । विमुच्यासारसंसारं, भवद्भिः सा सुसाधुता ॥ २४३ ॥" ततो भद्रे ! तदा मम, मलमूत्रकर्मणः । इव मग ततो वाक्य, चित्तेऽत्यन्त सुखायितम् ॥ २४४ ॥ चिन्तितं च मया—करोमीदं यथादिष्टं, भदन्तैः सुखकारणम् । यतः कृत मया भद्रे !, प्रव्रज्याभिमुखं मनः ॥ २४५ ॥ अत्रान्तरे विरतवचसि भगवति वचनसुधासेकवर्षिणि निर्मलसूरिकेवलिनि कन्दमुनिना चक्रकर कमलमुकुलं विधाय ललाटपट्टेऽभिहितमनेन—भगवन्निह जगति कस्य दुःखकः कालविलम्बः कर्त्तुं ?, भगवतोक्तं—जिज्ञासोर्गुरुमूले ससन्देहस्य, कन्दमुनिराह—यद्येवं ततो गुणधारणमहाराजस्येतानी संशयमपनेतुमर्हन्ति भगवन्तः, भगवतोक्तं—एवं क्रियते, मयोक्तं— महाप्रसादः, तदा कन्दमुनिं प्रत्यभिहितं—भवन्तानुगृहीतोऽहं भगवता भगवन्त प्रश्नयता सुतरामनेन वचनविन्यासेन, कन्दमुनिनोक्तं— महाराजानुग्राह्यो एव यूयं, साम्प्रतं भगवद्वचनमाकर्ण्यतां, स्थितोऽहं महत्तरो नवोत्तमाङ्ग , ततो भगवतोक्तं—महाराज ! गुणधारणाय ते सन्देह , यथा यानि कनकोदररायेन स्वप्ने दृष्टानि चत्वारि मानुषाणि यानि कुलन्धरेण पञ्चोपलब्धानि कतमानि तानि कथं वा मही यकार्यपरंपरानिर्वर्त्तकानि किमिति चैकेन चत्वारि अपरेण पञ्च तानि विलोकितानि तथा किं देवरूपाणि तानि किं वाऽर्थशून्यं स्वप्नमात्र यदयमपीति संशयः, मयोक्तं—भगवन्नेवमिदं यथादिष्टं भगवता, भगवानाह—महाराज ! यद्येवं ततो महतीयं कथा कथं निवेद्यतां कथ वा श्रूयते ?, मयोक्तं—तथापि ममानुग्रहेण कथयन्तु भगवन्त , ततः कथिता भगवताऽसंव्यवहारनगरादारभ्य सर्वा सर्वसविधानकोपेता सक्षेपेण मदीयवक्तव्यता, अभिहितं च—तदेवमस्ति ते महाराज ! त्वमित्थंभूतो विविधनगराकराणाङ्कमन्तरङ्गमहाराज्य, केवलमभि भूय तान् पुण्यादिककरणशीलांश्चारित्रधर्मराजादीन् यद्दिक्तस्य च भवन्त महामोहादिभिस्तदीयस्य कालमुदालितमासीत्, असावपि कर्म

परिणामो भवतः प्रतिकूलतया तदेव महामोहादिबलं पुष्णाति स्म, साम्प्रतं पुनरसौ भवतोऽनुकूलो वर्तते, तेनैव च भवन्तं प्रति मृदूभीकृताऽऽत्मीयमहादेवी कालपरिणतिः प्रसादिता ते भार्या भवितव्यता प्रगुणीकृतो निजमहत्तमस्तेऽद्भुतस्वभावः प्रोत्साहितस्तव सहचरः पुण्योदयः तथाऽपसारिताः किंचिन्महामोहादयः आप्यायिताश्चारित्रधर्मराजादयः दर्शिता ते पूर्वमत्यन्तसुखमालिका यत प्रभृति पुनस्ते लक्ष्मीभूतः सदागमोऽभीष्टीभूतः सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः तत आरभ्यानुकूलतरोऽसौ कर्मपरिणामो वर्तते ततो जनिता सपरिवारेण तेन विबुधालये निवसतस्ते विशिष्टतरा सुखपद्धतिः अधुना मधुवारणराजमन्दिरमवाप्तस्य ते सुखसन्दोहसिद्धये सुतरां सात्मीकृतोऽसौ तव वयस्यः पुण्योदयः ततस्तेन संपादितेयं तव बहिरङ्गभार्या मदनमञ्जरी तेनैव च महापुरुषतया [illegible] कोऽस्य कार्यसम्पादनस्य ? नूनमेतान्येव सकलकार्याणि घटयन्तीति मन्यमानेन कामरूपितया दर्शितानि स्वप्ने कनकोदरराजस्य, तान्येव कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतालक्षणानि, निरूपितोऽस्माभिरेव वरो मदनमञ्जर्याः ततोऽस्य भवतामन्यतरान्वेषणेनेति सुखान्येव चत्वार्यपि मानुषरूपतया, तेषु च विद्याधरेषु वैमुख्यमस्या मदनमञ्जर्यास्तेनैव तव वयस्येन पुण्योदयेन जनितं, किं तु महानुभावतया तदपि कर्मपरिणामादिभिर्विहितमिति स्वप्ने सम्मुखेनैवानेन प्रकाशितं, ततोऽभिहितः कर्मपरिणामेन पुण्योदयः—भद्रार्य ! न सुन्दरमाचरितं भवता यदेवं कृत्वा स्वयमेव प्रयोजनं तथापि स्वयाऽऽत्मा प्रच्छादितो वयं पुनरेव सत्कृततया प्रकाशितानि, पुण्योदयः प्राह—देव ! मा मैवमाज्ञापयत यूयं, आदेशकारी युष्माकं किङ्करजनो यूयमेवात्र परमार्थतः कर्तारः तान्येव च मया कनकोदरराजाय प्रदर्शितानि ततः किमत्रानुचितं ?, कर्मपरिणामेनोक्तं—आर्य ! सत्यमेवमिदं, तथापि त्वमेवात्र परमो हेतुः यतो न सुखसाधनानि सुन्दरकार्याणि भवद्विरहे वयमपि कर्तुं पारयामः अतः प्रकाशनीयः स्वात्माऽपि भवता नान्यथा मे चित्तनिर्वृतिरिति, पुण्योदयेनोक्तं—

यदाज्ञापयति देवः, ततः कुलन्धराय स्वप्ने प्रकाशितानि पुनरासम्पद्यमानि तान्येव पुण्योदयेन स्थापिता च सकलकार्यसाधकता, तदेव मेतानि महाराज! मानुषाणि यदैव तेषां चतुर्णां पञ्चानां च दर्शने कारणमेतान्येव या ते सम्बन्धीनि निःशेषप्रयोजनानि सम्पद्यन्ति मा कार्षीः सन्देहमिति, मयोक्तं—भगवन्निदानीं योऽयं मदनमञ्जरीलाभादारभ्य सम्पन्नो मम निरुपमः सुखामृतसागरावगाहः किमेषोऽपि ते नैव कर्मपरिणामादिभिरुत्साहितेन पुण्योदयेन जनितः?, भगवानाह—बाढं, अपि च—महाराज! न केवलमेष एव जनितस्तदानेन, किं तर्हि?, पूर्वमप्यमुना पुण्योदयेन विहितानि भवतो भूयांसि सुन्दरप्रयोजनानि, तथाहि—नन्दिवर्धनावस्थायां जनितस्तदानेन कनकमञ्जरीसम्बन्धः रिपुदारणकाले विहितो नरसुन्दरीसङ्गमो वामदेवतायां घटिता सद्गुणनिर्मलेन निर्भिन्नवत्सलेन विमलेन सह मैत्री धनशेखरावसरे सम्पादिता नानाविधविचित्रा रत्नराशयो घनवाहनभावे समुत्पादितो निर्व्याजविमुक्तकलङ्कस्य सदोपर्यकलङ्कस्य तादृशः स्नेहभावः भाविमोचित तवाद्य महाराज्यं तथा विरचिताः सर्वस्थानेषु सुखपद्धतयः, केवलं न विज्ञातं वयस्यपुण्योदयस्य तदा भवता माहात्म्यं, भवताऽऽरोपितो हिंसावैश्वानरमृषावादशैलराजस्तेयबहुलिकामैथुनसागरपरिग्रहमहामोहादिषु निःशेषदोषपुञ्जेष्वपि गुणसन्दोहः, मयोक्तं—भदन्त! यदि ममायं सुखपरंपराहेतुः पुण्योदयो वयस्यः प्रागप्यासीत् ततः किमिति मे तावन्ति दुःखकदम्बकानि सञ्जातानि किमिति वाऽनन्तकालमित्यमर्यादितं परिभ्रमणं मे सम्पन्नमिति?, भगवानाह महाराज! यदेव ततः समूलमेतत्ते कथयिष्ये येन समस्तस्ते सन्देहो विघटतीति, मयोक्तं भगवन्ननुग्रहो मे, भगवतोक्तं—महाराज! कथितं तावत्पूर्वमिदं यथा असंव्यवहारनगरे संसारिजीवाभिधानो वास्तव्यः कुटुम्बिकस्त्वमसि, तत्र चेदमनादिरूढमन्तरङ्गं चित्तवृत्तौ महाराज्यमिदं च चारित्रधर्मराजादिकं महामोहनरेन्द्रादिकं च, तत्र चैन्यद्वयं परस्परविरुद्धमपि सकलकालमवस्थितमेवाभूत्, स तु कर्मपरिणामो राजा तावकीनं वीर्यमुपलभ्य यमेव

परिणामो भवता प्रतिकूलतया तदेव महामोहादिबलं पुष्णाति स्म, साम्प्रतं पुनरसौ भवतोऽनुकूलो वर्तते, तेनैव च भवन्तं प्रति प्रगु
णीकृताऽस्मीयमहादेवी कालपरिणतिः प्रसाधिता ते भार्या भवितव्यता मद्धीकृतो निजमहत्तमस्तद्भूतं स्वभाव प्रोत्साहितस्तेन सद
गमः पुण्योदयः क्षमाऽपनीरिताः किंचिन्महामोहादयः भावासिताश्चारित्रधर्मराजादयः दर्शिता ते पूर्वमत्यन्तसुखमालिका एत प्रभृति
पुनस्ते वशीभूतः सदागमोऽभीष्टीभूतं सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः तव आरम्भात्तु पूर्वमारोऽसौ कर्मपरिणामो वर्तते ततो जनिता सप
रिवारेण तेन विबुधालये निवसतस्ते विशिष्टतरा सुखपरम्पराः अधुना मधुवारणपद्ममन्दिरमपास्य ते सुखमन्दोद्भसितस्य सुखद प्रो
त्साहितोऽसौ तव वयस्यः पुण्योदयः तदन्येन सपादितेयं तव मन्दिरप्रभावा मदनमञ्जरी तेनैव च महापुरुषतया प्रिंजाद योऽस्य
कार्यसम्पादनस्य ? मूलमेतान्येव सकलपर्वाणि पटयन्तीति मन्यमानेन कामरूपितया दर्शितानि स्वप्ने कनकोदरराजस्य, तान्येव कमप
रिपक्वसप्तपरिणतिसमाजसमाचितप्रस्तावानि, निरूपितोऽस्माभिरेव वरो मदनमञ्जर्याः ततोऽत्र भवतामन्यवराज्वेषणेनैव सुखाधान्येव
चसावपि मानुषरूपतया, तेषु च विद्याधरेषु वैमुख्यमस्या मदनमञ्जर्यास्तेनैव तव वयस्येन पुण्योदयेन जनितं, किं तु महानुभावतया
तदपि कर्मपरिणामादिनिर्विहितमिति स्वप्ने तन्मुखेनैवानेन प्रकाशितं, ततोऽभिहितं कर्मपरिणामेन पुण्योदय —प्रदुनाय ! न सुन्दरमा-
चरितं भवता यदेवं कृत्वा स्वयमेव प्रयोजनं तथापि ध्यायाऽऽत्मा प्रच्छादितो यदि पुनरेव तत्स्वरूपता प्रकाशितानि, पुण्योदयः प्राह—
देव ! मा मैवमाज्ञापयत यूयं, आदेशकारी खल्वयं किङ्करजनो यूयमेवात्र परमार्थतः कर्तारः तान्येव च मया कनकोदरराजाय प्रक-
टितानि ततः किमत्रानुचितं ?, कर्मपरिणामेनोक्तं—आर्य ! सत्यमेवमिदं, तथापि त्वमेवात्र परमो हेतुः यतो न सुखसाधनानि सुन्दर
कर्माणि भवितव्ये त्वममपि कर्तुं पारयामः ततः प्रकाशनीयः त्वत्स्वास्माऽपि भवता नान्यथा मे चित्तनिर्वृतिरिति, पुण्योदयेनोक्तं—

तेऽन्तराऽन्तरा । सपाप च सुखं भूप!, तस्माद्धास्येन किंचन ॥ २४७ ॥ कश्चित्पापोदयो भूयस्तैरेव निकटीकृतः । ततस्तु दुःखितो जातः, परित्यक्तः सदागमः ॥ २४८ ॥ एव च—मा भोक्ष्याऽऽलोच्य यत्कृत्यमेकवाक्यतया पुरा । अमीभिर्भूप! निःक्षेपमवत्कार्येषि चिन्तकैः ॥ २४९ ॥ अनन्तवारा संसारे, पुण्योदयसमन्वितः । पापोदय सिरोधाय, मीलितस्ते सदागमः ॥ २५० ॥ यदा तु गृहि धर्मेण, सम्यग्दर्शननामकः । युक्तः पार्श्वे तवानीतोऽमीभिरेव सतेजसा ॥ २५१ ॥ तदा पुनरसौ त्वत्तोऽमीभिर्दूरतरीकृतः । पापोदयः सैन्ययुतस्तव चोत्पादित सुखम् ॥ २५२ ॥ युग्मम् । यतः पुण्योदयोपेतो, नीतस्त्वं विबुधालये । आनीतो मानवावासे, कृता कल्या णमालिका ॥ २५३ ॥ पुनश्च सर्वैः संभूय, तैरेव निकटीकृतः । पापोदयः ससैन्यस्ते, त्याजिताश्च सुखा भवा ॥ २५४ ॥ एवं चास कृतवारास्ते, कृतौ विरहमीलकौ । अमीभिर्यावदानीतस्त्वमत्र नृपमन्दिरे ॥ २५५ ॥ ततोऽधुनाऽपि दूरस्थो, गाढं पापोदयस्तव । स सैन्यो वर्तते तेन, सूष्मीमास्ते नरोत्तम! ॥ २५६ ॥ तैः कर्मपरिणामाद्यैरेते तु निकटीकृताः । साम्प्रतं ते महाभागाः, सातपुण्योदया दयः ॥ २५७ ॥ किं च—न विघतेऽनुबन्धोऽस्य, तेन पापोदयेन भोः । तेनाय तेऽधुना भूप!, जातः पुण्योदयोऽनघः ॥ २५८ ॥ अमेन तेऽधुना सखा, क्षौत्यमिर्मुक्तमानसा । ईदृशीयं महाराज!, जनिता सुखमालिका ॥ २५९ ॥ किं बहुना?—चेष्टन्ते सर्वकार्येषु, सुन्दरासुन्दरेषु ते । तान्येव स्पष्टरूपाणि, मानुषापि न संशयः ॥ २६० ॥ यदा हि प्रतिकूलानि, वर्तन्ते तानि ते तदा । पापोदय पुर स्कृत्य, दुःखमुत्पादयन्त्यलम् ॥ २६१ ॥ अनुकूलानि तान्येव, कारणैरपरापरैः । पुण्योदयेन ते तात!, कारयन्ति सुखासिकाम् ॥२६२॥ यस्मात्त्र प्राप्स्यसे यच्च, भवताऽत्र शुभाशुभम् । निमित्त तत्रोपयुक्तानि, तान्येव ननु कारणम् ॥ २६३ ॥ मयोक्तं भगवन्नत्र, विचार्यत्वे शुभाशुभे । किमकिंचित्करो वर्ते, सर्वथाऽहं यथाऽऽत्मना ॥ २६४ ॥ सूरिराह महाराज!, नैव मस्याः कदाचन । परिवारस्तवामूनि,

निजवर्गतया महामोहादिबलस्थोऽपि भवतोऽत्र बन्धुरे साधारणमात्मानं दर्शयति, अयमुदितापकः स्वस्वेन स्वरूपेण यदा यदा तयो-
र्बलसैन्यमुपलभते तथा तदेवोपबृंहयति, तस्य च कर्मपरिणामस्य द्वौ सेनापती—एकः पापोदयो द्वितीयोऽयमेव पुण्योदय इति, स च
पापोदयस्ते गाढं प्रतिकूलः स्वरूपेण, यत एव कर्मपरिणामस्य सम्बन्धि यत्तव वैरिभूतमेकान्तेनासुन्दरं सैन्यं तदसावधिकुरुते, पुण्यो-
दयस्तु त्वदनुकूलः यत एव कर्मपरिणामस्य सत्कं यत्ते बन्धुभूतं सुन्दरमनीकं तदेवायमधिकुरुते, स च पापोदयबलानाधिरूढोऽस्य
महारनगरप्राकाराभिन्नकरूपः सदाऽभूत्तव, ततः शुभपरिणामस्य दर्शितस्ते कथिदप्यसौ विपाकतो भवितव्यतया, ततस्तस्यैव महा-
राज! गुणधारण समस्तं माहात्म्यं यत्ते सपक्षमनन्तकालमेव परिभ्रमणं समभूत् भूरिदुःखसन्ततयः परिकल्पिताः हिंसादिषु द्वितत्त्व न
क्षितोऽयं प्रियकरणशीलः पुण्योदयः, अन्यच्च—तेनैव पापोदयेन बहिष्कृतस्त्वं तस्माच्चित्तवृत्तिवर्तिनः स्वकीयान्तरङ्गमहाराज्यात्
तेनैव पापिभूत प्रभ्रष्टस्तत्र स्थानेकर्मैकान्तहितं पारिग्रहमेवत्वामधिकमन्तरङ्गमपठ तेनैव पालयतः पारितोषिकमेकान्ताहितमपि च बहु-
भूतं च दर्शितं महामोहादिसैन्यं तदा च प्रकटितस्ते पुरतो वत्सलमित्ररूपतयाऽऽत्मा, यथाऽयमपि पुण्योदयस्तदा तेन पापोदयेनानु
गतो यद्यपि ते सुखकारणमभूत् तथापि न कल्याणपरम्पराहेतुतां प्रतिपन्न इति, तस्मान्न वराकस्य दोषोऽसौ, किं तर्हि ?, तस्यैव दुरात्मनः
सर्वोऽप्ययं दोष इति, मयोक्तं—भगवन्निदानीं किमित्यसौ पापोदयस्तूष्णीमास्ते ?, भगवतोक्तं—महाराज! न स्वतन्त्रः खल्वसौ, किं
तर्हि ?, सोऽप्यमीषां कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनामायत्तो वर्तते, ततोऽमीभिरेव साम्प्रतं भवतः सकाशाद्दूरीकृतोऽसौ
दुरात्मा, तथाहि—यतः प्रभृति भवत्समीपममीभिरनुज्ञातः समागतः सदागमस्तत एवारभ्य निवर्तिता तस्यामीभिः प्रभवता, ततः—
दूरस्थितस्तेऽसौ, न जातो दुःखकारणम्। पापोदयोऽप्यकाण्डस्तु, स्वस्थः पुण्योदयेन च ॥ २४६ ॥ ततः सदागमे प्रीतिः, सञ्जाता

तेऽन्तराऽन्तरा । सपम च मुख भूप', तन्माहात्म्येन किंचन ॥ २४७ ॥ कथितपापोदयो भूयस्तैरेव निकटीकृतः । ततस्त्वं दुःखितो आतः, परित्यक्तः सदागमः ॥ २४८ ॥ एव च—आलोच्याऽऽलोच्य यत्कृतमेकवाक्यतया पुरा । अमीभिर्भूप! निःशेषभवत्कार्यचिन्तकैः ॥ २४९ ॥ अनन्तवाराः संसारे, पुण्योदयसमन्वितः । पापोदय विरोधाय, नीतस्त्वं सदागमः ॥ २५० ॥ यदा तु शुद्धिधर्मेण, सम्यग्दर्शननामकः । मुक्तः पार्श्वे तवानीतोऽमीभिरेव सतेजसा ॥ २५१ ॥ तदा पुनरसौ त्वत्तोऽमीभिर्दूरतरीकृतः । पापोदयः सैन्ययुक्तश्च चोत्पादित सुखम् ॥ २५२ ॥ सुगमम् । यतः पुण्योदयोपेतो, नीतस्त्वं विबुधालये । आनीतो मानवावासे, कृता कल्याणमालिका ॥ २५३ ॥ पुनश्च सर्वैः सम्भूय, तैरेव निकटीकृतः । पापोदय ससैन्यस्ते, त्वामिधाय सुधा यथा ॥ २५४ ॥ एव चास सुनवारास्ते, कृतौ विरहसीलकौ । अमीभिर्यावदानीतस्त्वमत्र नृपमन्दिरे ॥ २५५ ॥ ततोऽधुनाऽपि दूरस्थो, गाढं पापोदयस्तव । स सैन्यो वर्तते तेन, तूष्णीमास्ते नरोत्तम' ॥ २५६ ॥ तैः कर्मपरिणामाद्यैरेते तु निकटीकृताः । साम्प्रतं ते महाभागाः, सातपुण्योदया दयाः ॥ २५७ ॥ किं च—न विद्यतेऽनुबन्धोऽस्य, तेन पापोदयेन भोः । तेनाद्य तेऽधुना भूप!, जातः पुण्योदयोऽनघः ॥ २५८ ॥ अनेन तेऽधुना भद्रा, लोल्यनिर्मुक्तमानसा । ईदृशीयं महाराज!, जनिता सुखमालिका ॥ २५९ ॥ किं बहुना?—चेष्टन्ते सर्वकार्येषु, सुन्दरासुन्दरेषु ते । तान्येव सम्प्रदृष्टानि, भानुपानि न संशयः ॥ २६० ॥ यदा हि प्रतिकूलानि, वर्तन्ते तानि ते तदा । पापोदयं पुरस्कृत्य, दुःखमुत्पादयन्त्यलम् ॥ २६१ ॥ अनुकूलानि तान्येव, कारणैरपरापरैः । पुण्योदयेन ते तात!, कारयन्ति सुखासिकाम् ॥२६२॥ यस्मात् प्राप्यते यच्च, भवताऽत्र शुभाशुभम् । नित्यं तत्रोपयुक्तानि, तान्येव ननु कारणम् ॥ २६३ ॥ मयोक्तं भगवन्नत्र, विधातव्ये शुभाशुभे । किमकिंचित्करो वर्ते, सर्वथाऽहं भवताऽऽत्मना ॥ २६४ ॥ सूरिराह महाराज', नैव भद्राः कदाचन । परिवारस्तवामूनि,

निजवर्गवधा महामोहादिवस्तज्जोऽपि भवतोऽत्र भवप्रपञ्चे सामारण्यास्मानं दर्शयति, ज्वलद्वितापकः स्वस्य स्वरूपेण यदा यत्र तपोबेमत्तैस्मुपलभते तदा वदेवोपहृद्यति, तस्य च कर्मपरिणामस्य द्वौ सेनापती—एकः पापोदयो द्वितीयोऽयमेव पुण्योदय इति, स च पापोदयस्ते गाढ मतिकूलः स्वरूपेण, अत एव कर्मपरिणामस्य सम्बन्धि यदत्र वैरिभूतमेकान्तेनासुन्दरं सैन्यं तदेवासावधिकुरुते, पुण्योदयस्तु तवानुकूलः अत एव कर्मपरिणामस्य सत्कं भवतो बन्धुभूतं सुन्दरमनीकं तदेवायमधिकुरुते, स च पापोदयस्तवानादिरूढोऽस्य महारनगरबारम्भाभिव्यक्तरूपः सदाऽमूदेव, ततः सुप्रसिद्धत्वाम दर्शितस्ते कथंचिदप्यसौ विक्षेपतो भवितव्यतया, ततस्तवास्य महाराज! शुभभारण समस्त माहात्म्य यते संपन्नमनन्तकालमेव परिभ्रमण समूवा भूरिदुःखसन्ततयः परिकल्पित हिंसादिषु हितत्व म अभितोऽयं हितकरणशीलः पुण्योदयः, अन्यच—तेनैव पापोदयेन मंडिप्तस्त्व तस्माच्चिरपृष्ठिवर्तिनः सकीमारम्भरजमहापम्मात् तेनैव चाभिभूत प्रच्छादितं तव ज्ञानिक्रमेकान्तहित चारित्रधर्मराजादिकमन्तरङ्गपक्ष तेनैव चानन्तरं पारितोषिकमेकान्ताहितमपि च पुभूत च दर्शितं महामोहादिसैन्य तद्वचा च प्रकटितस्ते पुरतो वत्सलमित्ररूपतयाऽऽत्मा, यथाऽयमपि पुण्योदयस्तदा तेन पापोदयेनानुपक्तो यद्यपि ते सुखकारणमभूत् तथापि न कल्याणपरम्पराहेतुतां प्रतिपन्न इति, समाक्ष भराकस्य दोषोऽसौ, किं तर्हि?, तस्यैव दुरात्मनः सर्वोऽप्यय दोष इति, मयोक्तं—भगवन्निदानीं किमितसो पापोदयस्तूष्णीमास्ते?, भगवतोक्तं—महाराज! न स्वतः स्तम्भो, किं तर्हि?, सोऽप्यमीषां कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनामायत्तो वर्तते, ततोऽमीभिरेव साम्प्रतं भवतः सकाशाद्दूरीकृतोऽसौ दुरात्मा, तथाहि—यतः प्रभृति भवत्समीपममीभिरनुज्ञातः समागतः सदागमस्तत एवारभ्य निवर्तिता तस्यामीभिः प्रबलता, ततः—ईषदूनितस्तेऽसौ, न जातो दुःखकारणम्। पापोदयोऽवकाशस्तु, लब्धः पुण्योदयेन च ॥ २४६ ॥ यतः सदागमे प्रीतिः, संजाता

"सर्वलोकसमाश्रया । वर्तते नृपतेराज्ञा, विधातुर्हितकारिणी ॥ २८४ ॥ सपूजनेन ध्यानेन, स्तवेन प्रवचर्यया । इयमेव विधातव्या,
"तदाज्ञा तस्य सेवकैः ॥ २८५ ॥ निषिद्धाचरणे सर्वैरियमेव विराध्यते । तदुक्तत्यागशास्त्रार्थैः, सर्वोऽप्यस्यां व्यवस्थितः ॥ २८६ ॥ तां
"च यो यावतीं लोके, विदधाति नरः सदा । अज्ञानमपि तद्भूप, तस्य तावन्महत्सुखम् ॥ २८७ ॥ केवल—यस्तु तां लङ्घमानां,
"विपरीतं विचेष्टते । ज्ञानमपि च तद्भूप, स भवेद्दुःखभाजनम् ॥ २८८ ॥ यो यावल्लङ्घते मोहात्तदाज्ञामत्र जनः । तस्य तावन्महद्
"दुःख, यथा तत्करणे सुखम् ॥ २८९ ॥ एवं च स्थिते—तदाज्ञालङ्घनाद्दुःख, तदाज्ञाकरणात्सुखम् । यतः सम्पद्यते सर्व, सर्वे
"षामपि देहिनाम् ॥ २९० ॥ अणुमात्रमपि नास्ति, भुवनेऽत्र शुभाशुभम् । तदाज्ञानिरपेक्षं हि, यज्जायेत कदाचन ॥ २९१ ॥ तेने
"च्छारागविद्वेषरहितोऽपि स भूपतिः । निर्वृतिस्थोऽपि कार्याणां, ज्ञेयः परमकारणम् ॥ २९२ ॥ स एव परमो हेतुरस्ते गुणधारण ।
"सुन्दरेतरकार्याणां, सर्वेषां नात्र संशयः ॥ २९३ ॥ तदाज्ञालङ्घनात्पूर्वं, जाता ते दुःखमालिका । अधुना तत्करत्वेन, सुखलेशोऽप्यसौ
"दृष्टः ॥ २९४ ॥ यदा तु तस्य सम्पूर्णामाज्ञां त्वं करिष्यसि । तदा यः सुखसन्दोहस्तस्य विज्ञास्यसे रसम् ॥ २९५ ॥" तदेव पर
मार्थेन, सर्वेऽमी तत्र हेतवः । प्रधानगुणभावेन, विज्ञेयाः सर्वकर्मसु ॥ २९६ ॥ एकेनापि विना भूप!, कार्यसिद्धिर्न विद्यते । अमीषां
मोक्षहेतूनां, समाजः कार्यकारकः ॥ २९७ ॥ मयोक्त कारणग्रामः, किं पूर्णोऽयं निवेदितः? । एतावानेव किंवाऽस्ति, नाथान्यदपि
कारणम्? ॥ २९८ ॥ सूरिराह महाराज!, प्रायशः प्रतिपादितः । एतावानेव हेतूनां, सीलकः कार्यसाधकः ॥ २९९ ॥ अत्रैव लोपदे
तूनामन्तर्भावो हि विद्यते । यथा यच्छामियती, प्रविष्टे भवितव्यताम् ॥ ३०० ॥ ततो निर्नष्टसन्देहस्तस्मात्ज्ञ वरलोचने! । प्रतिपद्य
गुरोर्वाक्यं, तथेति कृताञ्जलिः ॥ ३०१ ॥ पृष्टवानपरं सूरिं, सन्देह मानसे स्थितम् । गाढमद्भुतहेतुत्वात्पूर्वकाले विचर्चितम् ॥ ३०२ ॥

भवानेवात्र नायकः ॥ २६५ ॥ तथाहि—भवतो योग्यताऽपेक्ष्य, चेष्टन्ते सर्वकर्मसु । ते कर्मपरिणामाद्यास्तच्छुभाशुभमेव च ॥ २६६ ॥
ततस्ते निजयोग्यत्वं, प्रधानं भूप ! कारणम् । सुन्दरेतरवस्तूनां, ते पुनः सहकारिणः ॥ २६७ ॥ तामभनानिरूढा सा, विद्यते तव
योग्यता । यया सनाथिताः सर्वे, प्रपञ्चोऽयममूदृशः ॥ २६८ ॥ यया विना पुनः सर्वे, सुन्दरेतरवस्तुषु । ते कर्मपरिणामाद्याः, किं
कुर्वन्तु वराककाः ? ॥ २६९ ॥ ततस्त्वमत्र प्राधान्यात्कारणत्वेन गीयसे । सुन्दरेतरकार्याणां, सर्वेषामात्मभाविनाम् ॥ २७० ॥ यद्योक्त
नाथ ! यद्येवं, मम कार्यप्रसाधनम् । ततः किमियदेवात्र, कारणानां कदम्बकम् ? ॥ २७१ ॥ किंचान्यदपि विद्येत, मम कार्यप्रसाधकम् ? ।
सूरिराह महाराज !, समाकर्णय साम्प्रतम् ॥ २७२ ॥ "याऽस्त्यसौ निर्वृतिर्नाम, नगरी सुमनोहरा । निरस्तानन्दसन्दोहपरिपूर्णा निरा-
"बाधा ॥ २७३ ॥ तस्यामनन्तवीर्याढ्यः, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । अनन्तानन्दसम्पूर्णः, सुस्थितः परमेश्वर ॥ २७४ ॥ यो विद्यते महा
"राज !, सर्वस्य जगतः प्रभुः । सुन्दरेतरकार्याणां, स चै परमकारणम् ॥ २७५ ॥ अनेकोऽप्येकरूपोऽसौ, गीयते वरसूरिभिः । अपि
"त्वपीवंमुखात्मा, परमात्मा स गद्यते ॥ २७६ ॥ स बुद्धः स विरिञ्चाख्यः, स विष्णुः स महेश्वरः । निष्कलः स जिनः प्रोक्तो,
"तत्त्वदर्शिभिरात्मभिः ॥ २७७ ॥ न चेच्छया करोत्येष, तव कार्यपरम्पराम् । वीतरागो गतद्वेषो, निरिच्छोऽयं यतो मत ॥ २७८ ॥
"यथा तु कुरुते तात !, तथाद सुन्दरेतरम् । कार्यजातं तथा वच्मि, साम्प्रतं विशदाक्षरैः ॥ २७९ ॥ स्थिता भगवतस्तस्य, निश्चला
"सुप्रतिष्ठिता । अस्त्याज्ञा सर्वलोकानामाश्चर्यं करणोचिता ॥ २८० ॥ यदुत—निरन्धकारा कर्तव्या, चित्तवृत्तिः प्रभास्वरा । गोक्षी
"रनीहारकुन्देन्दुविशदा सदा ॥ २८१ ॥ गृहीत्वा रिपुवर्गश्च, महामोहादिकं परम् । अनुक्षणं निहन्तव्यं, घोरसंसारकारणम्
"॥ २८२ ॥ बन्धुवर्गश्चापार्येव, पोषणीयं च सर्वदा । चारित्रधर्मराजाद्य, क्षेम्यं कल्याणकारणम् ॥ २८३ ॥ इयमेवावती वत्स,

यदा तदनन्तबाह्याभ्यासिकवस्तुसम्बोधनमुखेनैव सम्पादयन्ति, तदेषां 'सामग्री जनिका न पुनरेकं किञ्चित्कस्यचिज्जनकमस्ती'ति, केवलं यदादिष्टं भगवद्भिर्यथाऽयं तवामुना पुण्योदयेनेदानीमीदृशः सुखलेशः सम्पादित इत्यनेन वाक्येन जनितो मे कुतूहलातिरेकः, यत-श्चिन्तितं मया—अये यस्मिन्नहनि मया लब्धा मदनमञ्जरी तथाऽवाप्ता अनर्घेया भूरिरत्नराशयः प्राप्तमिव चिन्तितमात्रेण खेचराणां राज्यमिदं समुत्पन्नस्तेषां परस्परं च प्रभावः गताः सर्वेऽपि मम भृत्यतां जनितस्ताताम्बादिपरितोषः प्रादुर्भूतो महोत्सवः समुत्पादितो नागरकानन्दः प्राप्ता मङ्गलेऽम्बरचराः विहितं तातेन सत्सम्मानादिकं श्लाघितोऽहं सर्वैः उद्भासितो यशःपटहः तदहर्मम सुखनिर्भरत-याऽमृतमयमिव प्रतिभासितमासीत्, तथा वर्धमाने मदनमञ्जर्या सह प्रेमानुबन्धे जाते कन्दमुनिदर्शने मित्रतामुपगतेषु सातसदागमस-म्यग्दर्शनगृहिधर्मेषु परिणते महाराज्ये विलसतो यथेच्छया सुखसन्दोहपरिपूर्णतया सञ्जाता मम देवलोकसुखेऽप्यवज्ञा, तथाऽधुना दृष्टे भगवति वन्दिते सविनयं नष्टे सन्देहे पश्यतो भगवद्वदनकमलमाकर्णयतो वचनामृतं मम सुखातिरेको वाग्गोचरातीतो वर्तते तत्कथं भगवद्भिरादिष्टं यथाऽधुना सम्पादितस्तवानेन पुण्योदयेनायं सुखलेश इति?, यतोऽहि—यद्ययमपि सुखलवस्तर्हि कीदृशं पुनस्तत्सम्पूर्णं सुखं स्यादिति सञ्जातो मे मनसि वितर्कः, ततः कथयन्तु भगवन्तः कीदृशं पुनः शरीरिणस्तत्सम्पूर्णं सुखमिति?, निर्मलसूरिणोक्तं—महाराज! गुणधारण स्वानुभवेनैव विज्ञास्यसि त्वं तत्स्वरूपं किं तस्य कथनेन?, मयोक्तं—भदन्त! कथं?, भगवानाह—महाराज! यदा परिणे-ष्यसि त्वं दश कन्यकाः भविष्यति ताभिः सह सम्बन्धसारस्ते प्रेमानुबन्धः तदक्षयोद्दामलीलया विलसतस्ते तन्मध्ये यत्सुखं संजनिष्यते तदपेक्षया सुखलवः एवायमधुनातनो वर्तते, मयोक्तं—भगवन्नवधारितमिदानीं मया यथाऽहमेतामपि मदनमञ्जरीं परित्यज्य भगवत्पाद-मूले प्रव्रजितको भविष्यामि तत्कथमहं कन्यकादशकं परिणेष्ये?, भगवतोक्तं—अवश्यं त्वया परिणेतव्यास्ताः कन्यकाः, किं च—युक्तमेव

प्रभुत भगवन्!—एक भूमौ यथाऽऽकाशे, वर्तमान द्वितीयकम्। यदाऽस्मदपरं सैन्यं, स्थापितं केन हेतुना ? ॥ २०३ ॥ सूरिराह न-राधिप!, यद्यपि परस्परम्। सैव पुण्योदयो ज्ञेयः, ज्ञेयकारणपोषितः ॥ २०४ ॥ केवलं तस्य दर्पेण, प्रसभा यनरपवा। सर्वोऽपि तथा सव, स्थापितं तत्कारणम् ॥२०५॥ रक्षितं मरणं तेषां, तदपरागां तवच्छया। विमुक्तास्त्वदभिप्रेता, अनिता या भवोपमाः ॥२०६॥ यथाऽपि न कृत कार्यं, कृत तेनाभिधीयते। यतः प्रयोदकक्षसाः, सैव पुण्योदयोऽनघः ॥ २०७ ॥ अथ हि काय सुखान्यः, सुन्दरं त नरोत्तम!। सर्वेषां कारणमन्यैर्हेतुभिर्न पुनः स्वयम् ॥ २०८ ॥ पापोदयोऽपि दुःखानां कायमसुन्दरम्। प्रयोपकारणमन्यैर्हेतुभिर्न पुनः स्वयम् ॥ २०९ ॥ तदन्य हेतवो भूप!, सुन्दरेतरवस्तुषु। अप्रधानास्त्वया ज्ञेयास्तावेव परमौ यत ॥ २१० ॥ तथाहि—पूर्वं पापोदयेनैव, कारणैरपरापरैः। कारितानि विचित्राणि, दुःखानि बहुशस्तव ॥ २११ ॥ इदानीं कारणतया, स्वसामर्थ्येन ते सुखम्। निमित्तमात्रं भावानि, वस्तूनि शुभधारम! ॥ २१२ ॥ अयोप—भगवन्नद्य मेऽधुना समस्तसन्देहः, अवधारितमिदं मया समयद्वचनेन प्रभुत—यदाऽहमज्ञानाच्छिन्नामि निर्वृतिनगरीपरमेश्वरमहाराजसुस्थिताज्ञाने करोमि मायान्धकारमलिनो विपन्नार्ति पोषयामि महामोहाधिपतेः तदा तदादेशं मदीयस्वरूपमालोच्य प्रतिकूलतां गच्छति कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनि तेन कर्मपरिणामसेनापतिना पापोदयेन मत्प्रतिकूलात्मीयानीकसहितेन मम विविधदुःखपरंपरां तत्सम्पादकपरापरबाह्याभ्यन्तरवस्तुभेदप्रयोग्य जन यन्ति, यदा पुनरहं स्वयोग्यतामपेक्ष्य तस्यैव भगवतः सुस्थितमहानृपतेः प्रसादेनापास्तप्रज्ञानो भवामि तदाज्ञायां वर्ते विधामि माद समप्रज्ञानेन निर्मलं विदधामि भीषयामि चारित्रधर्मराजादिकं सैन्यं तदा तदादेशं मदीयपरिणामस्यानुकूलतां गच्छति कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनि अनेन द्वितीयेन कर्मपरिणामसेनापतिना पुण्योदयेन मदनुकूलात्मीयसैन्यसहितेन मम सुखपरं

परा तज्जनकान्यवाणाभ्यासिकवसुमबोधनमुखेनैव सपादयन्ति, तदेवां 'सामग्री अनेका न पुनरेकं किंचित्कस्यचिज्जनकमस्ती'ति, केवल मयाविष्ट भगवद्भिर्यथाऽत्र तदधुना पुण्योदयेनेदानीमीदृशः सुखलेशः सपादित इत्यनेन वाक्येन जनितो मे कुतूहलातिरेकः, यत चिन्तित मया—अये यस्मिन्नहनि मया लब्धा मदनमञ्जरी यथाऽऽयाता अनर्घेया भूरिरत्नराशयः प्रसममिव चिन्तितमात्रेण खेचराणां रणविधुरं समुत्पन्नस्तेषां परस्परं बन्धुभावः गताः सर्वेऽपि मम भृत्यतां अनितरसाधारणपरितोषः प्रादुर्भूतो महोत्सवः समुत्पादितो नागरकानन्दः प्राप्ता मङ्गलनेऽम्बरचराः विहित तातेन तत्सन्मानादिकं श्लाघितोऽहं सर्वैः प्रकाशितो यशःपटहः तदहमेव सुखनिर्भरत साऽमृतमयमिव प्रतिभासितमासीत्, यथा वर्धमाने मदनमञ्जर्या सह प्रेमाबन्धे जाते कन्दमुनिदर्शने मित्रतामुपगतेषु सावसरागमस न्यग्दर्शनगृद्धिधर्मेषु परिणते महाराज्ये विलसतो यथेच्छया सुखसन्दोहपरिपूर्णतया सजाता मम देवलोकसुखेऽप्यवज्ञा, यथाऽधुना दृष्टे भगवति वन्दिते सविनय नष्टे सन्देहे पश्यतो भगवद्वदनकमलमाकर्णयतो वचनामृत मम सुखातिरेको वाग्गोचरातीतो वर्तते तत्कथं भगवद्भिरादिष्ट यथाऽधुना सपादितसन्धानेन पुण्योदयेनाय सुखलेश इति ?, तथाहि—यद्ययमपि सुखलवस्तर्हि कीदृशं पुनस्तत्सपूर्णं सुख स्यादिति सजातो मे मनसि वितर्कः, ततः कथयन्तु भगवन्तः कीदृशं पुनः शरीरिणस्तत्सपूर्णं सुखमिति ?, निर्मलसूरिणोक्त—महाराज ! गुणधारण स्वानुभवेनैव विज्ञास्यसि त्वं तत्स्वरूप किं तस्य कथनेन ?, मयोक्त—भदन्त ! कथं ?, भगवानाह—महाराज ! यदा परिणे ष्यसि त्व दश कन्यकाः भविष्यति ताभिः सह सद्भावसारस्ते प्रेमाबन्धः ततस्तदोद्दामलीलया विलसतस्ते तन्मध्ये यत्सुख सजनिष्यते तदपेक्षया सुखलव एवायमधुनातनो वर्तते, मयोक्त—भगवन्नवधारितमिदानीं मया यथाऽहमेनामपि मदनमञ्जरीं परित्यज्य भगवत्पाद मूले प्रव्रजितो भविष्यामि तत्कथमहं कन्यकादशकं परिणेष्ये ?, भगवतोक्त—अवश्य त्वया परिणेतव्यास्ताः कन्यकाः, किं च—पुण्यमेव

मनुज भगवन्!—एकं भूमौ यथाऽऽकाशे, वर्तमान द्वितीयकम् । यथाऽम्बरपरं सैन्य, ख्यापित कन दृशना? ॥ २०३ ॥ सूरिराह म
हाराज!, तथापि परकारणम् । सैव पुण्योदयो नाम, लोपकारमपोदितः ॥ २०४ ॥ केवल तस्य वीर्येण, प्रसमा मनरवता । कवानपि
तथा सर्वं, सम्भिर्त सुखदायम् ॥२०५॥ रक्षितं मरणं तेषां, जयराजो यवप्ठया । विमुखास्तत्रभिमता, अनिता यान्भवापमाः॥२०६॥
तथाऽपि च इय कार्यं, इव तेनाभिधीयते । यत' प्रयोदकस्तस्या, सैव पुण्योदयोऽनघः ॥ २०७ ॥ भय दि काय कुमानः, सुन्दरं न
नरोत्तम! । संप्रेर्य कारणमन्यैर्दुमिर्न पुनः स्वयम् ॥ १०८ ॥ पापोदयोऽपि दुवाणस्तव कायमसुन्दरम् । मयोप कारणमन्यैर्दुभिन
पुनः स्वयम् ॥ १०९ ॥ ववन्त देवयो भूप', सुन्दरेतरवस्तुषु । अप्रधानास्तथा प्रेपास्त्वावेम परमौ यतः ॥ ११० ॥ तथाहि—पूर्वं
पापोदयेतैव, कारपैरपरपरै । कारितानि विचित्राणि, दुःखानि बहुशस्तव ॥ २११ ॥ इदानीं कारणतया, स्वसामर्थ्येन ते मुख्न् ।
निमित्तमात्र कायाणि, वस्तूनि गुणभारत! ॥ २१२ ॥ मयोक्त—भगवन्नष्टो मेऽधुना समस्तसन्देहः, यथपारितमिद मया भगवन्
मनेन मनुज—यदाऽममानाचिरामि निर्मृतिनगरीपरमेश्वरमहाराजसुस्थितमाणहने करोमि भावान्धकारमलिनो चित्तवृत्ति पोषयामि
महामोहादिवर्ग तदा तदात्म भवीयकरूपमालोक्य प्रतिकूलतां गतामि कर्मपरिणामकालपरिमतिस्वभावभवितव्यतादीनि तेन कर्मपरि
णामसेनापतिना पापोदयेन महाविकूलसमीपानीकसहितेन मम विविधदुःखपरंपरा तस्सम्पादकपरमपरमाप्याम्यन्तरवस्तुमेरमहारेण अम-
यन्ति, यदा पुनरत्र स्वयोग्यतामपेक्ष्य तस्यैव भगवत सुस्थितमहानृपतेः प्रसादेनाभासलाभो भवामि ततस्तवायां वर्तं विदधामि भाव
तमप्रकाशनेन निर्मलो चित्तवृत्ति नीयामि चारित्रधर्मराजादिकं सैन्यं तदा तदात्म मदीयपरिणामकल्याणानुकूलतां गतानि कर्मपरि
णामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनि अनेन द्वितीयेन कर्मपरिणामसेनापतिना पुण्योदयेन मधनुरूपकारमीयसैन्यसहितेन मम सुखपरं

यतो तज्जनकान्यथाशाभ्यासिकवस्तुप्रबोधनमुखेनैव सम्पादयन्ति, तदेषां 'सामग्री जनिका न पुनरेकं किञ्चित्कार्यस्य जनकमस्ती'ति, केवलं यदादिष्टं भगवद्भिर्यथाऽद्य तवामुना पुण्योदयेनेदानीमीदृशः सुखलेशः सम्पादित इत्यनेन वाक्येन जनितो मे कुतूहलातिरेकः, यत-श्चिन्तितं मया—अये यस्मिन्नहनि मया लब्धा मदनमञ्जरी तदाऽऽप्ता अनर्घेया भूरिरत्नराशयः प्रशमित चिन्तितमात्रेण खेचराणां रणविमर्दे समुत्पन्नस्तेषां परस्परं बन्धुभावः गताः सर्वेऽपि मम भृत्यतां जनितस्तातस्याम्बायाश्च परितोषः प्रादुर्भूतो महोत्सवः समुत्पादितो नागरकानन्दः प्राप्ता मन्त्रिवनेऽम्बरचराः विहितं तातेन तत्सन्मानादिकं प्रविष्टोऽहं सर्वैः समासितो यशःपटहः तदहमेवं सुखनिर्भरतयाऽमृतमयमिव प्रतिभासितमासीत्, तथा वर्तमाने मदनमञ्जर्या सह प्रेमानन्दे जाते कन्दमुनिदर्शने मित्रतामुपगतेषु तावत्सदागमसम्यग्दर्शनगृहिधर्मेषु परिणते महाराज्ये विलसतो यथेच्छया सुखसन्तोषपरिपूर्णतया सञ्जाता मम देवलोकसुखेऽप्यवज्ञा, यदाऽधुना दृष्टे भगवति वन्दिते सविनयं नष्टे सन्देहे पश्यतो भगवद्वदनकमलमाकर्णयतो वचनामृतं मम सुखातिरेको वाग्गोचरातीतो वर्तते तत्कथं भगवद्भिरादिष्टं यथाऽधुना सम्पादितस्तवानेन पुण्योदयेनायं सुखलेश इति?, यतोऽद्य—यद्यमपि सुखलवस्तर्हि कीदृशं पुनस्तत्सम्पूर्णं सुखमितीति सञ्जातो मे मनसि वितर्कः, ततः कथयन्तु भगवन्तः कीदृशं पुनः शरीरिणस्तत्सम्पूर्णं सुखमिति?, निर्मलसूरिणोक्तं—महाराज! गुणधारण स्वानुभवेनैव विज्ञास्यसि त्वं तत्स्वरूपं किं तस्य कथनेन?, मयोक्तं—भदन्त! कथं?, भगवानाह—महाराज! यदा परिणेष्यसि त्वं दश कन्यकाः भविष्यति ताभिः सह सङ्गमसारस्ते प्रेमानुबन्धः तदवस्थोद्दामलीलया विलसतस्ते तन्मध्ये यत्सुखं सञ्जनिष्यते तदपेक्षया सुखलव एवायमधुनातनो वर्तते, मयोक्तं—भगवन्नवधारितमिदानीं मया यथाऽहमेनामपि मदनमञ्जरीं परित्यज्य भगवत्पादमूले प्रव्रजितो भविष्यामि तत्कथमहं कन्यकादशकं परिणेष्ये?, भगवतोक्तं—अवश्यं त्वया परिणेतव्यास्ताः कन्यकाः, किं च—युक्तमेव

ताभिः प्रमोदयिष्यामो भवन्त, न विरंस्यते यामि सार्धं प्रव्रज्या किं वा सद्गृहस्य ते प्रव्रजितेन?, न घटते हि प्रव्रजितो विरहि तस्मात्सकुटुम्बिनीभिः, ततस्ताः परिणीय निश्चयमाश्रितः प्रव्रजिष्यामीति, एतदाकर्ण्य क्षणमेव भगवान् मौन इति विमर्शेन स्थितोऽत्र विस्मितः, कन्दमुनिनोक्तं—भदन्त! कतमास्ताः कन्यकाः याः परिणेतव्या महाराजेन?, भगवानाह—यास्ताः पूर्वं निवेदिता मयाऽस्यैव चिरन्तनवृत्तान्तकथनावसरे एव ताः कन्यका मान्या, कन्दमुनिराह—भदन्त! विस्मृतास्ता मेऽधुना भवतो ममानुग्रहेण यत्र ता वर्तन्ते यस्य वा सम्बन्धिन्यो यन्नामिका वा सर्वमिदं निवेदयितुमर्हन्ति भगवन्तः, भगवतोक्तं—आकर्णय, अस्ति चित्तसौन्दर्यं नाम नगरं तत्र शुभपरिणामो राजा तस्य निष्प्रकम्पताचारुते द्वे भार्ये तयोर्यथाक्रमं क्षान्तिदये कन्यके विद्येते, तथाऽपरमस्ति शुभ्रमानसं नाम नगरं तत्र शुभाभिसन्धिर्नरेन्द्रः तस्य वरतावर्यते देव्यौ तयोर्मृदुतासत्यते कन्यके सञ्जाते इति, तथाऽन्यदस्ति विशदमानसं नगरं तत्र शुद्धाभिसन्धिर्नरेश्वरः तस्य शुद्धतापापभीरुते गृहिण्यौ तयोश्च ऋजुताऽचौर्यते नाम द्वे कन्यके सम्भूते इति, तथा शुभ्रचित्तपुरेऽस्ति सदाशयो नरपतिः तस्य वरेण्यता देवी तस्या द्वे कन्यके, तद्यथा—ब्रह्मरतिर्मुक्तता चेति, तथाऽन्याऽस्ति तेनैव सम्यग्दर्शनेन सवीर्येण निर्वर्तिता मानसीविद्या नाम कन्यका, तथाऽपरा चारित्रधर्मराजस्य विरतेर्महादेव्याः कुक्षौ सम्भूताऽस्ति निरीहता नाम कन्येति, तदेतानि तान्यार्य! कन्दमुने तासां दशानामपि कन्यकानां तासामभिजननामानि ते निवेदितानि, कन्दमुनिनोक्तं—नाथ! महाप्रसादः, केवलं कथं पुनरेताः कन्यकाः प्राप्तव्या महाराजेन?, भगवतोक्तं—आलोच्य सह कालपरिणत्यादिभिर्गृहीत्वा तदनुमतिं कृत्वा पुरतः पुण्योदयं गत्वा तेषु पुरेषु अनुकूल्य तज्जननीजनकान् स एव कर्मपरिणामो दापयिष्यति समस्ता अपि ताः कन्यका महाराजायेति, केवलमनेनाप्यभ्यसनीयाः सद्गुणाः करणीयाऽऽत्मयोग्यता येनानुकूलतरो भवत्येनं प्रति स कर्मपरिणामः महा-

नाभिमुखा जायन्ते स्वयमेव तासां पितर ताश्च स्वत एवानुरक्तास्तेऽस्य ततो भवति निष्कृत्रिमः प्रेमाबन्धः, न खलु राजाक्रान्त्या
प्रेमाबन्धो घटित सुघटितो भवति, न च घटयितुं शक्यत इति, कन्दमुनिराह—भदन्त! किमत्र वक्तव्यमधुनैवायं भगवद्वचन-
करणेन यथार्थो भविष्यति गुणधारण, तत्करोत्येवैष यदाज्ञापयन्ति भगवन्तः, केवलमादिशन्तु विशेषेण नाथाः के पुनरनेन तासां
कन्यकानां लाभाय सद्गुणाः सततमनुशीलनीया ?, भगवतोक्त—"आर्य! क्षान्तिमभिलषता तावदनेन भावनीया समस्तजन्तुषु मैत्री
"सहनीयः परविहितः परिभवः अनुमोदनीयस्तद्द्वारेण परप्रीतियोगः चिन्तनीयस्तत्सम्पादनेनात्मानुग्रहः निन्दनीयः परिभावकदुर्गतिहे-
"तुतयाऽऽत्मा भावनीयाः परकोपकारणभावरहिता अन्यथा भगवन्तो मुक्तात्मानः ग्रहीतव्याः कर्मनिर्जरणहेतुतया न्यक्कारकर्तारो हित-
"बुद्ध्या प्रतिपत्तव्याः संसारासारत्वदर्शितया त एव गुरुभावेन सर्वथा विधेयं निष्प्रकम्पमन्तःकरणमिति ॥ तथा पुनः परिणिनीषता
"ऽनेन सर्वथा वर्जनीयः स्तोकोऽपि परोपतापः दर्शनीयं सर्वदेहिनां च सुभावः प्रवर्तितव्यं परोपकारकरणे नोदासितव्यं परव्यसनेषु
"सर्वथा भवितव्यं समस्तजगदाह्लादकरामृतासमधारिणेति ॥ मृदुतां पुनरार्य! विवाहयिषता महाराजेन मोक्तव्यो जातिमदः परित्याज्य
"कुलाभिमानः वर्जनीयो बलोद्रेकः रक्षितव्यः रूपोत्सेकः परिहर्तव्यस्तपोऽवष्टम्भः निराकरणीयो धनगर्वः निर्वासनीयः श्रुताहङ्कारः
"अपनेतव्यो लाभमदः शिथिलयितव्यो वाल्लभ्यकानुबन्धः सेवनीया नम्रता अभ्यसनीयो विनयः सर्वथा कर्तव्यं नवनीतपिण्डोपमं हृद-
"यमिति ॥ तथा परिहरतः परेषां मर्मोद्घट्टनं वर्जयतः पैशुन्यं विमुञ्चतोऽवर्णवादं शिथिलयतो वाक्पारुष्यं गर्हयतो वक्रोक्तिमनाचरत
"परिहासं भवतोऽलीकवचनं त्यजतो वाचाटतां विदधतो भूतार्थोद्भावनं प्रगुणीभविष्यति गुणानुरक्ता महाराजस्य स्वयमेव सा सत्य-
"तेति । तथा निर्मत्सरतया कौटिल्यं वर्जयता सर्वत्र सरलभावं परित्यजता परवञ्चनं विमलयता मानसं समनुशीलयता प्रकटाचारतां

“अनुवर्तयता सन्मार्गमानतो सर्वथा कुर्वता प्रगुणमभ्योपगमात्मान्तःकरणं महाराजेन सा भगवती वशीकृता भवति । तथा धारयन्ति पर-
“पीडाभीरुतां निराकुर्वन्ति पराङ्मुखं वर्धयन्ति परधनहरणं शमयन्ति तदपायहेतुत्वं गृह्णन्ति दुर्गतिमय महाराज सजातानुरागा ऽरानि
“व्यन्ति सपदा सा नूतनभीरुतेति । मुक्त्वां पुनरभिमतताऽऽर्ये महाराजेन सात्मीभावमानतव्यो विषयः द्रष्टव्यो पापाम्नयतदन्या
“भिमः तस्मात् गमनीया मन्यपिपासा धारणीय भावतो बहिरन्त्यभावममन्तःकरणं सर्वथा पङ्कजकाम्यामितायकामान्यामभिरुः
“पराभवनवितव्यो नियमाय इति । भवति पुनः पापो विपुरुषता कम्प्रमुनं ! महाराजेन प्रविपक्षम्याः समस्ता अपि मातर इव सुरतरतिरामो
“नार्यो न वक्तव्यं तद्वसतौ न कार्या तत्कथा न गमनीया तमिपथा न विलोकनीयानि तदिन्द्रियाणि न स्थातव्यं रतिसंनिपुनकुड्या
“न्तरे न स्मरणीयं पूर्वक्रीडितं नाहरणीयः प्रणीताहारः रमणीया तदतिमात्रा न करणीया शरीरशोभा सर्वथोपेक्षणीया रताभिलाषितेति ।
“तथा सर्वपुद्गलम्नायां देहधनविषयादीनां भावयते सततमनित्यतां चिन्तयते गात्रमशुचिरूपतां ध्यायते दुःखरूपतां सम्भवते पारम
“मिसकमापतां विराजते सकलं कुवितर्कजालं विमुक्तते समस्तवस्तुतत्त्वमस्मै महाराजाय गुणधारणाय स सन्तोषः समानीय दास्यति
“तां सम्यग्दर्शनात्मजां विद्याकन्यकामिति । तथा चित्तसन्तापायेच्छा मनोदुःखाय भोगाभिलाषो मरणाय जन्म वियोगाय प्रियसङ्गमः
“कोशकारकीटस्येव तन्तुसन्तानरचना निबिडात्मबन्धनाय जीवस्य सङ्ग्रहपरता क्लेशायासाय सकलं सङ्ग्रहे मधुलिदुःख निवृत्तिः
“सुखमित्येवमनवरतं भावयतो महाराजस्य भविष्यति गाढमुत्कण्ठा सा निरीहतेति ।।” तदेते समुपायास्तासां द्वयानामपि कन्यकानामता
स्मे महाराजेनाभ्यसनीयाः, अन्यच—एष कर्मसोऽप्यागुकूलत्वमेवापसरं विधाय दर्शयिष्यति समस्त पारिपन्थराजारिरके नियतक स
कर्मपरिणामः, ततः प्रत्येकमनुरूपगुणाभ्यासेनैवासम्पनुरागमानेतव्यास्ते महाराजेन सुभटाः, ततः सामर्थ्यमुपलास्ते निराकरिष्यन्ति

तन्महामोहारिसैन्य, ततोऽयमवाप्तभावराज्यः स्वबलकलितो विनिर्जितभावशत्रुभिः प्रियकामिनीभिः सार्धं रममानोऽत्यन्तसुखितो भविष्यति महाराजा, तदिदमेवानेन तावदनुष्ठेयमिति । कन्दमुनिराह—भदन्त ! कियता पुनः कालेन महाराजस्यैव सेत्स्यति प्रयोजन ?, भगवतोक्तं—मार्ये ! षण्मासमात्रेण, ततो मयोक्तं—नाथ ! त्वरयति मामतीव प्रव्रज्याग्रहणायान्तःकरण भूयांश्चेष कालविलम्बः तत्कि-मिद ?, भगवानाह—राजन्नलमत्र त्वरया प्रयमेव हि परमार्थतः प्रव्रज्या यदस्य मदुपदिष्टस्यानुष्ठान, द्रव्यलिङ्ग हि भवता गृहीत पूर्वं मप्यनन्तवाराः न चैतद्व्यतिकरव्यतिरेकेण भवतस्तेन द्रव्यलिङ्गेन कश्चिद्विशिष्टतरः सम्पादितो गुणः, तदलं साम्प्रतं तदर्थमुत्सुकितेनेदमेव मदुपदिष्ट कुर्वाणस्तिष्ठेति, कन्दमुनिनोक्तं—भदन्त ! केन पुनः क्रमेण महाराजेन ताः कन्यकाः परिणेतव्याः ?, भगवतोक्तं—आर्य ! मदुपदेशमनुतिष्ठतोऽस्य समीपमागमिष्यत्यसौ विद्यामादाय सद्बोधो मन्त्री विवाहयिष्यत्यनेन तां कन्यकां स्वास्थ्यस्य समीपस्थः, ततः किमनेन बहुना ?, यदसौ किमपि ब्रूते तदेवानेनानुष्ठेय, जानात्येवासौ प्राप्तकालं सर्वं कारयितु, तस्यागमने हि समाप्यतेऽस्मादृशामुप-देशावकाशः, यस्मात्स एव सद्बोधः सर्वत्र महाराजेन प्रमाणीकर्तव्य इति, मयोक्तं—नाथ ! महाप्रसाद इच्छामोऽनुशास्ति, ततोऽभि-वन्द्य सपरिवारः सपरिकरं भगवन्तं प्रविष्टोऽहं नगरे प्रारब्धोऽनुष्ठातु भगवदुपदेशं गच्छन्ति दिनानि भगवत्पर्युपासनया च । अन्यदा भावयतो भगवदुपदिष्टाख्या भावना रात्रौ समागता मे निद्रा प्रबुद्धस्यैव वासनया ततः प्रबुद्धा गाढतरं भावनाः, ततो रात्रिशेषे संजातो मे प्रमोदातिरेकः, ततः किमेतदिति विस्मितोऽहं यावत्समागतो मत्समीपं सद्बोधो मन्त्री विलोकितोऽसौ मया, तदभ्यर्णे च—आनन्द दायिका दृष्टेः, सर्वावयवसुन्दरा । मासितस्वपारवदना, नवकमलखोचना ॥ २१३ ॥ तत्त्वावगमसंवेगनामकं स्तनमण्डलम् । धारयन्ती नितम्बं च, प्रशमाख्यं मनोहरम् ॥ २१४ ॥ सर्वथा—सल्लक्षणगुणोपेता, चित्तनिर्वाणकारिका । सा चिरं स्तिमिताक्षेण, मया विद्या

"मनुवर्तयता सद्भावप्रधानतां सवया कृपया गुणपरदोषममास्मान्तःकरणे महाराजेन सा कथंचन वशीकर्तव्येति । यथा च स्पर्शो दूर
"पीडामीरुतां मिराकुर्वति परोक्षेऽपि बध्नाति परधनहरणे प्रवर्तति तदपायेऽपि गृह्णाति दुर्गतिमय महाराज सज्जनानुरागेऽपि
"प्यपि समयता सा नूनमपौरुषेति । मुक्त्वा पुनरभिलपताऽऽय महाराजेन सार्वभौमायमानतया विरक्ताः कृत्स्नो यस्मात्कामतन्त्रा
"क्रिमः यस्यास्मा क्षमनीया मन्नापिपासा धारणीय भावतो यद्दिरम्वमाछमयमन्तःकरणे सवया यद्रक्षाप्यानिवाधरामात्मापभिद्दः
"पयवजनयितव्यो मिलमाव इति । प्रवर्ति पुनः पाप्मो जिपृक्षया क्रम्मुने' महाराजेन प्रविवयन्त्याः यमता अपि मावर इव मुरलर्षिरुपो
"नार्यः न वयस्य वहसतौ न कार्यो वतकथा न समनीया वशिपपा म विलापर्नायानि वरिम्रियाणि म स्मातव्य रविमनिपुनकृपा-
"मर्षो न स्मरणीय पूर्वकलित नाट्रमणीयः यणीवाहार रमणीया वदविमात्रा न करणीया दारिरवला समपोदन्नीया रवाविकारविधि ।
"यथा सर्वपुरुष्कृत्यानां देहनवविपयादीनां भाषयते सततमनित्यतां चिन्तयते गाढमशुचिरूपतां ध्यायते दुःखागमरूपतां समप्यते पातय
"मिम्मसमावतां निरूपते सकल कुवितर्कमाल विमृषते समस्तवस्तुवस्यमस्मै महाराजाय गुणधारणाय स सन्तोषः सामान्याय दास्ये
"तो सम्यग्वर्जनासमर्थां विपाकन्यकामिति । यथा चित्तसन्तापायेच्छा मनोदुःखाय भोगाभिलापो मरणाय जन्म वियोगाय प्रियसङ्गमः
"कोशकारकीटस्येव वस्तुसन्धानरचना निबिडारमबन्धनाय जीवस्य सद्वृपरता कुशलपावाय सकलं समुज्वलं मधुविदुःखं निवृतिः
"सुखमिलेयमनवरत भावयतो महाराजस्य भविष्यति गाढमनुरक्ता सा निरीहतेति ॥" तदेवं सम्भाषतासां दशानामपि कन्यकानामस्या
तये महाराजेनाम्यसनीयाः, अन्यच्च—एवं कुर्वतोऽस्मात्कृत्स्नयैवावसरं विकाय दशयिष्यति समस्त पारिषपर्यन्तमान्तरिकं निकर्षक स
कर्मपरिणामः, ततः प्रत्येकमनुरूपगुणाभ्यासेनैवाऽसम्यनुरागमानतस्त्वास्ते महाराजेन सुभटाः, ततः स्वाम्यनुरूपास्ते निराकरिष्यन्ति

रिणा ? ॥ २३३ ॥ नूनं हि यात मा यात, भयेन त्रपसम्भ्रमः । मया यावत्समेवास्य, प्रतिस्खलनकाम्यया ॥ २३४ ॥ चलिते चा-
मिधायैस्य, महासम्बरणे नृपे । क्षमया चलितास्तेऽपि, सर्वे पापोदयादयः ॥ २३५ ॥ स्वस्थानागत्य तैर्निर्गस्तदा सङ्क्षोभमक्षिपः । ता
सन्नाः केवलं सर्वे, मोः किमत्र भविष्यति ? ॥ २३६ ॥ इतश्च—चारित्रधर्मराजीय, सैन्यं सङ्क्षोभमक्षिपः । तदाऽनुप्रवर्तं कुर्वदागत
तावदीं भुवम् ॥ २३७ ॥ ततः परस्पराह्वानबद्धविर्योद्धभीषणम् । आयोधनं द्वयसमर्थमालम्बं बलयोस्तयोः ॥ २३८ ॥ अपि च—
विस्तृतस्फुटसमप्रभभेदयो, मधुकरच्छविसितसमन्ततः । त्रिपथगायमुनाजलसङ्गवत्तदाऽभिष्ठवर्णं प्रविभाति बलद्वयम् ॥ २३९ ॥ रणमिलनस
रोषमहारव, गजघटापतितापरवारणम् । हयनिरस्तसमुद्धरसाधन, वरपदातिनिपातितपत्तिकम् ॥ २४० ॥ अथ विपाटितयोधभटोत्कट,
प्रकटविस्मयकार्यपि योगिनाम् । समरतुमुलघोरपराक्रमिणोरवनिरिशङ्कुलकुसुमनीकयोः ॥ २४१ ॥ ततश्च तादृशं वीक्ष्य, सम्परायस्तु
चक्रे । स कर्मपरिणामाख्योऽचिन्त्यपञ्चयोजनम् ॥ २४२ ॥ अथो—मया तावत् कर्तव्यमित्थमेव विधायकः । प्रकटः पक्षपातोऽत्र,
सर्वसाधारणो ह्ययम् ॥ २४३ ॥ यतः—कृत मयो विरम्यन्ते, पक्षपाते सबान्धवाः । महामोहादयोऽमी मे, पुष्ट नाकाण्डविड्वरम्
॥ २४४ ॥ तथाहि—अपि चारित्रधर्मोऽपि, परमं मे महाबलम् । गुणाः संसारिजीवस्य, सुंदरं प्रतिभासते ॥ २४५ ॥ मम दोषेषु वर्तेत,
भूयोऽप्येषु यथा पुरा । तदभिरञ्जनसिद्धा, गतिर्मे निजबान्धवाः ॥ २४६ ॥ तस्मात् प्रच्छन्नरूपेण, तस्यैव हितकारकम् । चक्रं चारित्र
धर्मीयमहं पुष्यामि साम्प्रतम् ॥२४७॥ येनेदं जीवतेऽनेन, चक्रं पापोदयादिकम् । न च मत्तो विरज्यन्ते, महामोहादिबान्धवाः ॥२४८॥
ततः सम्यग् विनिश्चित्य, येनोपायं महात्मना । यथा मदुपविष्टास्ते, वर्द्धिता वरभावनाः ॥ २४९ ॥ तावच्च भावनास्तस्य, स्थितस्त्वं गुण-
धारय ! । तावत्त्वयकीभूतं, सङ्क्षोभसहितं बलम् ॥ २५० ॥ यतः—अणिमयौगपद्यानां, भावनानां विशेषतः । अचिन्त्यमिह वीर्यं,

ऽवलोकिता ॥ ३१५ ॥ ततश्च—सा सद्बोधेन मे दत्ता, परिणीता मयाऽनघा । जातः सदागमादीनामानन्दो सहिता निशा ॥ ३१६ ॥
प्रभाते तु समुत्थाय, परिवारविवेष्टितः । गतोऽहं भगवन्मूलं, वन्दिताः सर्वसाधवः ॥ ३१७ ॥ ततो विनयनम्रेण, विहिताञ्जलिना
मया । समस्तं रात्रिवृत्तान्तं, पृष्टा निर्मलसूरयः ॥ ३१८ ॥ यदुत—सा किं मे सादृशी नाथ!, प्रवृत्ता वरभावना । किं वा सादृशस्त
सुभूतो, दर्शोऽस्मोऽतिसुन्दरः ॥ ३१९ ॥ सूरिराह महाराज!, समाकर्णय कथ्यते । स कर्मपरिणामाख्यस्तुभ्यस्तं साधुकर्मणा ॥ ३२० ॥
ततस्तेन स्वयं गत्वा, सद्बोधोऽयं समर्पितः । प्रोत्साहितो यथा गच्छ, भजस्व गुणधारणम् ॥ ३२१ ॥ अथ चारित्रधर्मेण, साधमालोच्य
पण्डितः । ततः प्रचलितोऽयं ते, समीपागमनेच्छया ॥ ३२२ ॥ विज्ञाय तु च वृत्तान्तं, महामोहादिसत्तमः । पापोदय पुरस्कृत्य, पर्या-
लोचमुपागताः ॥ ३२३ ॥ विषयाभिलाषेणोक्तं—विनष्टाः साम्प्रतं भूप, सद्बोधो ह्यको यदि । तस्य संसारिजीवस्य, पार्श्वे यायात्
सुबन्धकः ॥ ३२४ ॥ तत्साम्प्रतं यथाशक्त्या, कुरुध्वं यत्नमुत्तमम् । मार्गे विघ्नत सर्वेऽपि, तस्य स्खलनतत्पराः ॥ ३२५ ॥ तत पापो-
दयेनोक्तमार्य! किं क्रियतेऽधुना? । यदा देवोऽपि नः स्वामी, तेषां पक्षे व्यवस्थितः ॥ ३२६ ॥ तथाहि—स कर्मपरिणामाख्यो, देवो
ऽस्मत्पक्षपूरकः । यदाऽऽसीत्तेः पुराऽभूम, बलवन्तस्तदा वयम् ॥ ३२७ ॥ उदासीनोऽपि यद्येष, स्यादेषोऽत्र पक्षद्वये । तथापि युध्यत
ऽस्माकं, योद्धुं तैः सार्धमञ्जसा ॥३२८॥ इदानीं देवनिर्दिष्टो, यः पुनर्याति सत्वरम् । सोऽयं सद्बोधसचिवो, नैव स्खलनमर्हति ॥३२९॥
न चाधुना ममादेशो, देवकीयोऽत्र विद्यते । योद्धव्ये सर्वथा यस्मात्तेन दूरीकृता वयम् ॥ ३३० ॥ सदैव सस्थिता एव, प्रस्ताव कम्युम
देव । यावत् मावस्य तस्य, पार्श्वे सद्बोधनामकः ॥ ३३१ ॥ एतदाकर्ण्य वचन, रोषेण स्फुरिताधरः । रणाय चलितः शीघ्रं, ज्ञानसंव
रणो नृपः ॥ ३३२ ॥ उक्तं च तेन—यद्ययं प्रतिपक्षो मे, तत्पार्श्वे याति लीलया । मया किं जीवितेनेह, जननीक्लेशकाः

रिणा ? ॥ २२३ ॥ भूय हि यात मा यात, भयेन क्षयस भयः । मया यावत्प्रमेवास्य, प्रविस्तक्षनकाम्यया ॥ २२४ ॥ चलिते चा-
भिधायेत्थं, ज्ञानसवरणे नृपे । समस्ता चलितास्तेऽपि, सर्वे पापोदयादयः ॥ २२५ ॥ ततश्चागम वैमोर्गस्तदा सङ्क्षोभमभिणः । ता
स्तदाः केवलं सर्वे, भोः किमत्र भविष्यति ? ॥ २२६ ॥ इतश्च—चारित्रधर्मराजीय, सैन्य सङ्क्षोभमभिणः । तदाऽनुमननं कुर्वदागत
तावती भुवम् ॥ २२७ ॥ ततः परस्पराह्वानघण्टानिर्घोषभीषणम् । आयोधन तदस्पर्धमालम बलयोस्तयोः ॥ २२८ ॥ अपि च—
विशदसमुसममममेकस्तो, मधुकरस्तवविसभिमन्यतः । भिपयगायमुनाजलवत्तदाऽमिलत्तं प्रविभाति बलद्वयम् ॥ २२९ ॥ रथविलसस
पोधमहारथ, गजघटापसितापरवारणम् । हयनिवस्तकसकरिसाधनं, वरपदातिनिपातितपत्तिकम् ॥ २४० ॥ अथ विपाटितयोधस्ततोत्कट,
प्रकटविस्मयकार्यपि योगिनाम् । अभवदुग्रमृधं पौरुषशालिनोस्त्वरितसङ्कुलमुग्रमनीकयोः ॥ २४१ ॥ ततश्च तादृशं वीक्ष्य, सम्यगास्थाय
चकैः । स कर्मपरिणामाख्योऽचिन्तयत्तत्प्रबोधनम् ॥ २४२ ॥ अये !—मया तावत्र कर्तव्यमिति समेवविधायकः । प्रकटः पक्षपातोऽत्र,
सर्वसाधारणो ह्ययम् ॥ २४३ ॥ यतः—कृत मत्तो विरज्यन्ते, पक्षपाते सबांधवाः । महामोहादयोऽप्यो मे, पुत्र नाकाण्डविड्वरम्
॥ २४४ ॥ तथाहि—अयं चारित्रधर्मीय, वल्लभ मे महाबलम् । गुणाः संसारिजीवस्य, सुतरं प्रतिभासते ॥ २४५ ॥ अथ दोषेषु वर्तेत,
भूयोऽप्येषु मया पुरा । तदभिरंजनसिता, गर्विमे निजमान्यथाः ॥ २४६ ॥ तस्मात् प्रच्छन्नरूपेण, तस्यैव हितकारकम् । बल चारित्र
धर्मीयमहं पुष्णामि साम्प्रतम् ॥२४७॥ येनेदं जीयतेऽनेन, बलं पापोदयादिकम् । न च मत्तो विरज्यन्ते, महामोहादिबान्धवाः ॥२४८॥
ततः सम्यग् विनिश्चित्य, तेनोपाय महात्मना । तया मनुपविष्टास्ते, वर्धिता वरभावनाः ॥ २४९ ॥ तावच्च भावनास्तवः, स्थितस्य गुण
धारण ! । तावदप्रवलीभूतं, सङ्क्षोभसहितं बलम् ॥ २५० ॥ यतः—भणिमसौपपादीनां, भावनानां विशेषतः । अचिन्त्यमिह विज्ञेयं,

ऽभवोक्षिता ॥ ३१५ ॥ तथा—सा सद्बोधेन मे दत्ता, परिणीता मयाऽनघा । भावः सदागमादीनामानन्दो लक्षितो निशा ॥ ३१६ ॥
प्रभाते तु समुत्थाय, परिवारविभूषितः । गतोऽहं भगवन्मूल, वन्दिताः सकलास्तथा ॥ ३१७ ॥ ततो विनयनम्रेण, निर्दिष्टाञ्जलिना
मया । समस्त शिष्यमुखान्त, पृष्ठा निर्मलसूरयः ॥ ३१८ ॥ यदुत—सा किं मे तादृशी नाथ!, मद्भार्या वरमालना । किं वा तादृश
सुहृत्तो, दर्पोल्लासोऽतिसुन्दरः ॥ ३१९ ॥ सूरिराह महाराज!, समाकर्णय कथ्यते । स कर्मपरिणामाख्यस्तुभ्यं साधुकर्मणा ॥ ३२० ॥
तत्स्नेन सह गत्वा, सद्बोधोऽयं सविस्मयः । प्रोत्साहितो यथा गच्छ, भगिनीं गुणधारणाम् ॥ ३२१ ॥ अथ चारित्रधर्मेण, साधमाकोऽप्य
पञ्चितः । तव भक्तिवोऽयं ते, मत्सीपागमनेच्छया ॥ ३२२ ॥ मिथ्यायासु च कृत्वान्त, महामोहादिदानवः । पापोदय पुरस्कृत्य, यथा
क्षोभमुपागताः ॥ ३२३ ॥ विषयाभिलापयोक्त—विनष्टाः साम्प्रत नृप, सद्बोधो दृश्यते यदि । तस्य संसारिजीवस्य, पार्श्वे यायान्
सुबोधकः ॥ ३२४ ॥ तत्साम्प्रत यथाश्रय्या, कुरुध्व यत्नमुत्तमम् । मार्गे स्थित सर्वेऽपि, तस्य स्वजनतत्पराः ॥ ३२५ ॥ ततः पापो
दयेनोक्तमार्य! किं क्रियतेऽधुना? । यथा देवोऽपि नः स्वामी, तपो यत्ने व्यवस्थितः ॥ ३२६ ॥ तथाहि—स कर्मपरिणामाख्यो, देवो
ऽस्मत्पक्षपूरकः । यथाऽऽसीन्नोः पुराऽभूत्, वञ्चनवत्सला वयम् ॥ ३२७ ॥ उदासीनोऽपि यद्येष, स्याद्देवोऽत्र सद्बुद्धे । तथापि युध्यते
ऽस्माक, येषु वैः सार्धमधसा ॥३२८॥ इदानीं धननिर्दिष्टो, यः पुनर्यासि सत्वरम् । सोऽयं सद्बोधसचिवो, नैव स्वजनमर्हति ॥३२९॥
न चाधुना ममारोक्षो, देवकीयोऽत्र विद्यते । योऽस्मै सर्वथा प्रसादेन दूरीकृता वयम् ॥ ३३० ॥ सदैव सचिवा एव, प्रस्तावं सम्मुख
देव । यासु पापदय तस्य, पार्श्वे सद्बोधनामकः ॥ ३३१ ॥ एतदाकर्ण्य वचन, रोषेण स्फुरिताधरः । रणाय चलितः शीघ्रं, ज्ञानसंव
रणो नृपः ॥ ३३२ ॥ उक्त च तेन—यद्ययं प्रतिपक्षो मे, तत्सार्थे याति लीलया । मया किं जीवितेनेह, जननीक्लेशकारा

तदेतासु सम्यगवर्तितव्यं देवेन, न वर्तेते खल्वासामभावे तव परमोपकारिणाविमौ पुरुषौ, अनयोश्च बलेन भवता तद्राज्यमासादनीयं ततः सम्यक् पोषणीया देवेनेमा भार्या इति, मयोक्तं—एवं करिष्ये, ततः प्रभृत्यहं तदुपदेशकरणे प्रविशामि पुनः पुनश्चित्तवृत्तौ वि लसामि सह विद्यया भजयामि मुहुर्मुहुः सन्तोषेण सार्धं सम्मानयामि सदागमसम्यग्दर्शनगृहिधर्मान्, एवं च कुर्वतो मे गते भगवति कतिचित् किञ्चिन्न्यून पञ्चमासमात्रे सञ्जातो मदनुगुणैः समावर्जितहृदयः कर्मपरिणामः ततो गतस्तथैव तेषु नगरेषु गमितास्ते राजानः कृताः सर्वे मे निजनिजकन्यकादानाभिमुखाः ततः समागतो मम्भूत प्रवेशितोऽहं तेन पुरस्कृतपुण्योदयेन काञ्चनपरिणतादिपरिवारोपेतेन कर्म परिणामेन तासां कन्यकानां विवाहार्थं सपरिकरश्चित्तवृत्तौ, ततस्तस्मिन् सात्त्विकमानसवर्तिविवेकगिरिशिखरनिविष्टे जैनसपुरे समाहू तास्ते समस्ताः शुभपरिणामादयः समागताः सपरिवाराः कृतस्तेषां समुचितोपचारः गणितं विवाहदिनं । अत्रान्तरे सञ्जातो महा- मोहादिबले सर्वसमाजः प्रवृत्तः पर्यालोचः अभिहितं विषयाभिलाषेण—देव ! यदनेन संसारिजीवेनेमाः क्षान्त्यादिकाः कन्यकाः प- रिणीताः सुव्यक्तः प्रलीना एव वयमिति मन्तव्यं अतो नास्माभिरुपेक्षाऽत्र विधेया कर्तव्यः सर्वथा यत्नोऽसम्भावनीयं साहसं मोक्तव्यो विषादः—भयं हि तावत्कर्तव्यं, यावदन्तो न दृश्यते । प्रयोजनस्य तत्प्राप्तौ, प्रहर्तव्यं सुनिर्भयैः ॥१६४॥ ततोऽनुमतं तन्म न्त्रिणो वचनं महामोहेन समर्पितं क्षेपसुभटैः विहिता सामग्री संनद्धं बलं समागतास्ते समूह रणोत्साहेन केवलं दृष्टभयतया कर्मप रिणामप्रतिकूलतामीरुतया च पर्यालोचाभिप्रायेन, ततः पृष्टाऽसौमि सविनयं मतिलव्यथा—यथा भगवति ! किमस्माकमधुना प्राप्तकाल- मिति ?, तयोक्तं—भद्र ! न युक्तस्तावद्भवतां रणारम्भः यतः समारब्धोऽयमधुनाऽऽर्यपुत्रः कर्मपरिणामेन मिलिता विशेषतः शुभपरिणा- मादयः समाजमार्यपुत्रस्याधुना विशेषतो मिथ्याबलदर्शनौत्सुक्यं दर्शयिष्यति तदपि कर्मपरिणामः करिष्यत्यार्यपुत्रस्य पोषणं ततोऽधुना

वीर्यमाम्प्रवैकारणम् ॥ १५१ ॥ ततो यथा यथा भूयः, मद्भावस्य भावनाः । तथा तथा परिक्षीणा, महामोहादयः स्वयम् ॥ १५२ ॥
ततः प्रवर्ज्यां प्राप्य, क्षणादेव विनिर्जितम् । तेन सद्बोधसैन्येन, यच्च पापोदयादिकम् ॥ १५३ ॥ सर्वे महारिता प्रापो, महामोहादिरा
जयः । भूपितः स विक्षेपेण, ज्ञानसंवरणो भूपः ॥ १५४ ॥ स्थिता निस्स्पन्दमन्दास्ते, सर्वे पापोदयादयः । निर्वाहित स्वसैन्येन, स-
द्बोधः सह विद्यया ॥ १५५ ॥ गते चाम्यर्णतां भूप!, तत्र सद्बोधमन्त्रिणि । स तादृशस्तदा जातो, हर्षोल्लासोऽतिसुन्दरः ॥ १५६ ॥
सद्बोधसचिवो दृष्टः, परिणीता च कन्यका । राजन्! पुनस्त्वया सर्वं, ज्ञातमेव ततः परम् ॥ १५७ ॥ तदिदं कारणं भूप!, भावनानां
विवृद्धये । हर्षोल्लासाय चोत्पन्न, रात्रौ ते नात्र संशयः ॥ १५८ ॥ मयोक्तं—अधुना किं प्रकुर्वन्ति, ते ममान्तरशत्रवः ? । सूरिराह महा-
राज!, कुर्वते कालयापनाम् ॥ १५९ ॥ क्षीणोस्ते गता नाशमुपशान्तास्तथा परे । सर्वेऽपि चिन्तयन्तो ते, लीनलीनतया स्थिताः
॥ १६० ॥ पुनः प्रस्तावमासाद्य, कृत्वा ते सर्वमीलकम् । संग्रामाय लगिष्यन्ति, मत्सराध्मातचेतसः ॥ १६१ ॥ ततस्त्वया महाराज!,
सद्बोधवचनात्तदा । चारित्रधर्मसुभटैर्योद्धव्यास्ते पृथक् पृथक् ॥ १६२ ॥ मयोक्तं—यदाज्ञापयति नाथः, इत्थं सपूर्णो मासकल्पः
ततो गतास्तेऽन्यत्र भगवन्तो निर्मलसूरयः विशेषतोऽनुष्ठिता मया तदुपदेशाः प्रसादितमन्तःकरणं परिकर्मितं शरीरं विहितश्चित्तपुष्टो
मे सद्बोधेन प्रवेशः दर्शितौ सामान्यतः समाधिनामानौ द्वौ पुरुषौ धवलौ वर्णेन चारू दर्शनेन सुभगौ सरूपेण, ततोऽभिहितं सद्बोधेन
—देव! विशेषतो धर्मशुक्लाभिधानाविमौ पुरुषौ प्रवेशकौ भवतोऽन्तरङ्गराज्ये तदनयोर्महानादरो विधेयः, मयोक्तं—यथाविशसार्यः, ततो
दर्शिताः सद्बोधेन विपुलधवलस्फटिकवर्णाः शुभ्राकारधारिण्यः सुसत्त्वरूपा लेश्या इति गोत्रेण पीतपद्मशुक्ला इति नाम्ना प्रसिद्धास्तिस्रो
भार्याः, अभिहितं च तेन—तदा देव!—प्रथमस्य नरस्येमास्तिस्रोऽपि परिचारिकाः । शुक्लैका द्वितीयस्य, भायते परिपोषिका ॥१६३॥

दर्शितामात्रिचर्मराजादयः विहिता तैर्मे प्रतिपत्तिः सन्मानिताः प्रत्येकं मया गताः पदातिभाव निर्मुक्तं रिपुनिराकरणे सह चतुरङ्गसे
नया ॥ ततस्तेषां समुल्लसमाटोपं रणशालिनाम् । प्रत्येकं प्रभुणा राज्ञा, कृतं सन्मानतोषणम् ॥ २६५ ॥ दूरादेव भयोद्भ्रान्ता, महा
मोहादयस्त्वरा । पापोदय पुरस्कृत्य, नष्टास्ते मृत्युभीरवः ॥ २६६ ॥ तैस्तु भग्नाखवाधासाः, शोधिता सा महाटवी । रिपुनाम्नेन कम्पा
च, लोके जयपताकिका ॥ २६७ ॥ केवलं ते दुरात्मानः, किंचित्क्षयमुपागताः । किंचित्प्रशान्ततां भूत्वा, संस्थिता चकचर्यया ॥ २६८ ॥
ततो महाविमर्देन, विवाहोऽतिमनोरमः । प्रारब्धो मे तदा कर्तुं, मुनिताम्बरबान्धवैः ॥ २६९ ॥ स्थापिताः प्रथमं तावत्त्वष्टौ मात
मातरः । तासां च विहिता पूजा, प्रयत्नेन यथोचिता ॥ २७० ॥ निवेदितं च मे तीर्थं, सद्बोधेन पृथक् पृथक् । मातृणां चरितं तासां,
तच्चे भद्रे! निवेदये ॥ २७१ ॥ "माता हि कुरुते माता, पुरमात्रप्रलोकिनम् । मुनिलोकं पुरे जैने, मार्गे व्याक्षेपवर्जितम् ॥ २७२ ॥
"सद्बुद्धिपूर्ववाक्येन, तथ्यं पथ्यं मिताक्षरम् । द्वितीया भाषयत्येवं, माता यतिजनं सदा ॥ २७३ ॥ तृतीयमाता निःशेषदोषनिर्मुक्तम
"न्नता । आहारमेषयत्येव, यतिलोकेन कारणे ॥ २७४ ॥ चतुर्थमाता मुनिभिः, सुदृष्टं सुप्रमार्जितम् । पात्राद्यादाननिक्षेपं, कारयन्ती
"विजृम्भते ॥ २७५ ॥ यत्किंचित्त्याज्यपरित्याज्यं, देहाहारमलादिकम् । स्थण्डिले पञ्चमी माता, समीत्या त्याजयत्यलम् ॥ २७६ ॥ षष्ठी
"माता पुनर्नित्यं, साधुचित्तमनाकुला । रक्षन्ती क्षपयत्येव, दोषसङ्घातमञ्जसा ॥ २७७ ॥ सप्तमी कारणाभावे, माता मौनविधायिका ।
"साधूनां कारणे वाक्यदोपरक्षणतत्परा ॥२७८॥ अष्टमी कूर्मवल्लीन, मुनिलोकमकारणे । कारणे कायदोषविमुक्तचारिका ॥२७९॥"
तदिमा मातरस्तत्र, स्थापिताः प्रथमे दिने । पूजिताश्च विधानेन, जैनसत्पुरसारिकाः ॥ २८० ॥ ततश्चित्तसमाधाने, सत्रैव परमण्डपे ।
सैव निःस्पृहता वेदिर्विहितेषा समारिता ॥ २८१ ॥ विनिर्मितं च धर्मेण, प्रदीप्तं निजतेजसा । तत्राग्निकुण्डं विस्तीर्णं, कृत सर्व यथो-

रमेन भगवतां भवतां सर्वमस्य संपत्स्यते तस्मात्कालमापन्नो कुर्वन्तस्तावदस्मत्सेवया तिष्ठत यूयं, यदा तु भवतां प्रस्तावो भविष्यति तदा-ऽहमेव निवेदयिष्ये, इत्यादयो हि मम तत्प्रयोजने सकलकालमहं वर्ते, का भवतां चिन्ता ?, ततस्तदनुरोधेनोपसहृतवद्भिः प्रकटसद्भामावम्भः, केवलं तथापि तदवया प्रयुक्ता एव तैः प्रच्छन्नमभिरेरपि निजनिजा योगशक्तयः, ततस्तन्माहात्म्येन संजाता मम चेतसि कल्लोला—यथेयमादिष्टा भगवता चतुर परिणीतासु तासु कन्यकासु भवत्तमहं प्रमादयिष्ये "अतिदुष्करा च प्रव्रज्या तुल्या बाहुभ्यां समुद्र' प्रवरस्येन नैष्ठिकं मत्सनुष्ठानं सुकुमारं च मे शरीरं समर्थितो रोगावहाः तत्र क्षमिष्यते मायो दीर्घकालं मे रूपसुपिता कायत्वरया "च वराकी मदनमञ्जरी भाविष्यते प्राणीसता यावज्जीविकमदीयवियोगेन इत्यादि चिन्तयतश्च मे संजातो मनाक् मनोभङ्गः, ततश्चि"न्तितं मया—यत् किं न परिणयामि तावदेताः तिष्ठामि यथासुखासिकया गमयामि यौवनं स्वाधीनाश्च ममैताः ततः पश्चात्काले परि' पीय प्रव्रजिष्यामीति," अयं च सर्वोऽपि दूरवर्तिनि सद्बोधे मम स्वगतः पर्यालोचः, अत्रान्तरे समागतः सद्बोधः निवेदितो मयाऽस्मै निजाभिप्रायः, सद्बोधः प्राह—देव ! न सुन्दरमिदं मन्त्रितं देवेन अविकलमिदमात्मविद्रसम विषम्पर्क सुखसन्दोहानां चिह्नमेतत्प्रव्रज्या न च स्वाभाविकमेवस्वरूपं देवस्य, किं तर्हि ?, विलसितमिदं तेषां पापात्मनां महामोहादीनां, ते हि निधिग्रहणकाले इव वेतालाः पश्चुपस्थिताः साम्प्रतं कन्यानार्मीना विघ्नकरणाय देवस्य तत्र वचनीयमेवेत्थमा देवेन, ततो हर्षं सद्बोधमापितं मयिते, अभिहितं च मया—आर्य ! कथं पुनरमी निराकर्तव्याः, सद्बोधेनोक्तं—देव ! निर्मलेन, मयोक्तं—दर्शय मे निमर्कं, सद्बोधेनोक्तं—एष समोऽस्मि केवलं तद्दर्शने कर्मपरिणामस्याधिकारः, कर्मपरिणामेनोक्तं—आर्य ! मयाऽऽदिष्टेन त्वयाऽमी वर्णिताः परमार्थतो मयैव ते दर्शिता न सन्ति तस्मा कन्येषु विकल्पं दर्शयतार्थ, सद्बोधेनोक्तं—यथादिशति महाराजः, ततः प्रवेशितोऽहं सद्बोधेन चित्तसमाधानमण्डपे

सूचितो मम । भगवद्भिर्मया हन्त, साक्षादेवानुभूयते ॥ ३९५ ॥ मासबैवं प्रमोदाढ्यः, सप्रमोदे तदा पुरे । स्थितोऽहं तत्र संप्राप्तास्ता-वन्निर्मलसूरयः ॥ ३९६ ॥ स्थिताः सपरिवारास्ते, तत्रैवाह्लादमन्दिरे । गत्वा समस्तसामग्र्या, वन्दिताः सादरं मया ॥ ३९७ ॥ ततो विधाय नम्रेण, छ्लाटे करकुड्मलम् । भद्रे! भगवतामग्रे, मयेदं भाषितं तदा ॥ ३९८ ॥ सर्वो भगवतादेशः, संपन्नः साम्प्रतं यथि । नाथ! तदीयतां दीक्षा, प्रसादः क्रियतामिति ॥ ३९९ ॥ सूरिराह महाराज!, सपन्ना तव भावतः । सतो भागवती दीक्षा, तस्याः किं दीयतेऽधुना? ॥ ४०० ॥ तथाहि—यदेतत्तव सपन्न, गृहेऽपि वसतोऽधुना । द्रव्यमेव विधातव्यं, यतिस्तेऽपि विशेषतः ॥ ४०१ ॥ त-थापि व्यवहारोऽत्र, लङ्घनीयो न पण्डितैः । मतस्ते साम्प्रतं भूप!, द्रव्यलिङ्गं विधीयते ॥ ४०२ ॥ किं च—भावलिङ्गबहिर्भिन्नमिद हेतुरपीष्यते । तदीयते महाराज!, लिङ्गं ते द्रव्यतोऽधुना ॥ ४०३ ॥ मयोक्तं—नाथ! महाप्रसादः, ततो "विधायाष्ट दिनानि जिन "भुमिपूजां समुत्पाद्य नागरकानन्दं संमान्य बन्धुवर्गं पूरयित्वाऽर्थिसङ्घातं स्थापयित्वा निजसुतं जनतारणाभिधानं राज्ये समाप्य सत्का "लोचितं निःशेषं कृत्यविधिं सह मदनमञ्जर्या गुरु कुलंभरेण प्रधानपरिजनेन च निष्क्रान्तो निर्मलसूरिपादमूले विधानेनाहमिति, "ततोऽभ्यस्तः समस्तः साधुक्रियाकलापः एकीभूतो गाढतरं सदागमः शिक्षितानि बहुविधान्येकावशाङ्गानि कालिकोत्कालिकश्रुतानि च "तथाऽभीष्टतरीभूतः सम्यग्दर्शनः सञ्जातश्चारित्रधर्मे चित्ताबन्धः विधात विशेषतश्चास्तैन्यं पालितौ निसर्गं संयमतपोयोगौ ममानि सुचरां "प्रमत्ततानदादीनि रिपुकीलस्थानानि निर्मलीकृत्वा चित्तवृत्तिः, तदेवं गुरुचरणशुश्रूषारतो विहृतोऽहं भूरिकालं मुनिपर्याये"ति, पर्यन्ते वि हिता संलेखना कृतमनशनविधानं सद्दर्शनानुष्ठाने मे भवितव्यता तथाऽपरा गुटिका तत्तेजसा नीतोऽहं विबुधालये कल्पातीतेषु विबुधेषु स्थापितः प्रथमग्रैवेयके, तत्र च—मनोहारिणि पर्यङ्के, दिव्ये दिव्यांशुकावृते । शुभ्रातिनिर्मलाकारः, स्थितोऽहममृतोपमे ॥ ४०४ ॥ त

षिकम् ॥ २८२ ॥ वैवसीपपद्मप्रभिर्जननीमिव सादरम् । सानाङ्गरागभूषादि, कभूत्म विनिर्मितम् ॥ २८३ ॥ वादित्र तथाऽऽरे,
सर्वैः सामन्वपार्थिवैः । स्थापितोऽहं विविष्टम, भूषितो वासितोऽशुकैः ॥ २८४ ॥ ततः प्रभूता विवाहानन्द स्थितः सद्राव पर पुप
दिवः हूयन्ते कर्मनामिकाः समिधः क्षिप्यन्ते सन्मार्गनाहुतयः विषीयन्ते कुवासनाभिधाना लाजाञ्जलयः, ततः कारितोऽहं सरागमहेर
सांसारिकां मण्डपाऽविसुन्दरे कूपकारो पाणिग्रहण भ्रान्तिवारिकायाः, भयान्तरेऽतिदर्पेण विजृम्भिताः शुभपरिणामादयः विलसिता
निष्प्रकम्पतादयः प्रवृत्तो महामोहः भ्रान्तानि मण्डलानि, एव च क्रमेण तस्मिन्नेव दूरलग्ने परिणीताः शेषा मयि मयाऽन्यो दर्पादिक-
न्यकाः, उपविष्टः सविपत्ताभिस्तस्मिन्नेव जीववीर्यनामके विस्तीर्णे वरासने, ततः समानन्दिताः शरीरप्रभवराजादयः प्रभूता विविपाक-
हिंसाः, एवम्—यथैव विपा सा कन्या, परिणीता मया पुरा । तथैवासौ महामोहः, प्रवीनः परमाधवः ॥ २८५ ॥ किं तु—स
मेषां समुदायात्मा, सारभूतः स वर्तते । दुष्परमुसमाकारस्तेन पार्श्वे स मे स्थितः ॥ २८६ ॥ यदा तु परिणीतास्ताः, क्षान्त्यादिकदम्ब-
न्यकाः । सर्वा वैश्वानराद्दीनां, प्रतिपक्षतया स्थिताः ॥ २८७ ॥ तदा सोऽन्तीकसहितः, पापोदयसमन्वितः । चारित्रधर्मराजादिनाशितो-
ऽपि तथा पुरा ॥ २८८ ॥ हीनोऽपि हीनतरतां, हिंसावैश्वानरादिभिः । सार्धं तेनधभिव्यासादूरदूरतरं गतः ॥ २८९ ॥ त्रिविर्विशिपकम् ।
तथाभिवेषु तेषूचैः, सान्त्वापायः प्रमोदितः । चारित्रो वरनारीभिः, ससैन्यपरिवारितः ॥२९०॥ अन्यदा विलासेन, समधुरामतीतया ।
ससंवरनवो नेत्र, तदा सत्वं मुनेर्बन्धः ॥ २९१ ॥ तथा शुभपरिणामस्य, मयाऽन्या अपि कन्यकाः । तन्निष्प्रकम्पताजातास्ता बहवो
विवाहिताः ॥ २९२ ॥ पचाश्च ता धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादिकाः ॥ २९३ ॥ ततस्तेन सुधा-
र्णवां, शन्तेन सह क्रीडया । भवर्ग निर्भरीभूता, सखवो मे सुवासिता ॥ २९४ ॥ चिन्तितं च मया—रा एष सुखसन्दोहो, यः पूर्वं

सूचितो मम । भगवन्निर्मया हन्त, साक्षादेवानुभूयते ॥ ३९५ ॥ यावच्चैव प्रमोदाढ्यः, सम्प्रमोदे तदा पुरे । स्थितोऽहं तत्र संमाताख्या-
वसिर्मलसूरयः ॥ ३९६ ॥ स्थिताः सपरिवारास्ते, तत्रैवाह्लादमन्दिरे । गत्वा समस्तसामग्र्या, वन्दिताः सादरं मया ॥ ३९७ ॥ ततो
विधाय नम्रेण, ललाटे करकुड्मलम् । भद्रे! भगवतामग्रे, मयेदं भाषितं तदा ॥ ३९८ ॥ सर्वो भगवदादेशः, संपन्नः साम्प्रतं यदि ।
नाथ! तदीयतां दीक्षा, प्रसादः क्रियतामिति ॥ ३९९ ॥ सूरिराह महाराज!, संपन्ना तव भावतः । स्वतो भागवती दीक्षा, तस्याः किं
दीयतेऽधुना? ॥ ४०० ॥ तथाहि—यदेतत्तव संपन्नं, गृहेऽपि वसतोऽधुना । इदमेव विधातव्यं, यतित्वेऽपि विशेषतः ॥ ४०१ ॥ त
थापि व्यवहारोऽयं, लङ्घनीयो न पण्डितैः । भवस्ते साम्प्रतं भूप!, द्रव्यलिङ्गं विधीयते ॥ ४०२ ॥ किं च—भावलिङ्गवहिर्मिलमिदं
देहेऽपरीप्यते । तदीयते महाराज!, लिङ्गं ते द्रव्यतोऽधुना ॥ ४०३ ॥ मयोक्तं—नाथ! महाप्रसादः, ततो "विधायाष्ट दिनानि जिन-
"मुनिपूजां समुत्पाद्य नागरकानन्दं संभाष्य बन्धुवर्गं पूरयित्वाऽर्थिसङ्घातं स्नापयित्वा निजसुतं जनतारणाभिधानं राज्ये समाप्य तत्का
"लोचितं निःशेषं कृत्यविधिं सह मदनमञ्जर्या युक्तः कुलन्धरेण प्रधानपरिजनेन च निष्क्रान्तो निर्मलसूरिपादमूले विधानेनाहमिति,
"ततोऽभ्यस्तः समस्तः साधुक्रियाकलापः पश्चीभूतो गाढतरं सदागमः शिक्षितानि तदुपदिष्टान्येकादशाङ्गानि कालिकोत्कालिकश्रुतानि च
"तथाऽभीष्टतरीभूतः सम्यग्दर्शनः सञ्जातश्चारित्रधर्मे भिलाभन्धः विज्ञात विशेषतस्तत्सैन्यं पालितौ नितरां संयमतपोयोगौ मथानि सुतरां
"प्रमत्ततानदादीनि रिपुञ्जीवस्थानानि निर्मलीकृता चित्तवृत्तिः, तदेव गुरुचरणशुश्रूषारतो विहृतोऽहं सूरिकालं मुनिपर्यये"ति, ततन्ते वि
हिता संलेखना कृतमनशनविधानं तद्दर्शनानुष्ठ्य मे भवितव्यता तथाऽपरा गुटिका ततेजसा नीतोऽहं विबुधालये कल्पातीतेषु विबुधेषु
भाषितः प्रथममैवेयके, तत्र च—मनोहारिणि पर्यङ्के, दिव्ये दिव्यांशुकावृते । शुभ्रातिनिर्मलाकारः, स्थितोऽहममृतोपमे ॥ ४०४ ॥ त-

स्सागरोपमाण्युच्चैस्तपोविंशतिमुत्तमम् । शान्तात्मा विगताबाधमनुभूय सुखामृतम् ॥ ४०५ ॥ ततो मनुजगत्यन्तःपातुक वरपारम् । त-
दैरवतमासाद्यो, भद्रे¹ मार्गानियोगतः ॥ ४०६ ॥ तत्र सिंहपुरे जातः, सुतो वीणामहे नृपो । भद्र गङ्गाधरो नाम, क्षत्रियः
क्षात्रपौरुषः ॥ ४०७ ॥ जातिस्मरणसंपन्नो, दीक्षामादाय सुन्दराम् । कृत्वा च पूर्ववत्कल्पं, सुघोषायामभिधो ॥ ४०८ ॥ तदन्ते च
विधानेन, पूर्वस्मादधिकक्रमात् । ग्रैवेयके द्वितीयेऽहं, गतो मार्गानियोगतः ॥ ४०९ ॥ परिपाट्याऽनया भद्र¹, कृताः पञ्च गमागमाः ।
मायातीर्थं समाराध्य, ग्रैवेयकनिवासिषु ॥ ४१० ॥ एकैकपृष्ठा सञ्जाता, स्थितिस्तत्र ममानघे¹ । सागरोपमतो यावत्सप्तम सप्तविंशतिः
॥ ४११ ॥ शरीरचित्तनिर्वाणी, शर्मसन्दोहदायिका । इह तत्र च जाता मे, वार्ता कल्याणमालिका ॥ ४१२ ॥ ततश्च चम्पावासो,
भरते धातुनामके । पुरे मनुजगत्यन्तर्वर्तिकीडम्बमण्डले ॥ ४१३ ॥ पुत्रो भद्रामहागिर्योर्जातोऽहं सिंहनामकः । नरेन्द्रवंशे सद्भोगः,
सुन्दराम्बरधारकः ॥ ४१४ ॥ अथ यौवनसंरम्भेन, धर्मबन्धुमहामुनिम् । प्राप्य भागवती दीक्षा, मयाऽऽत्ता वरलोचने¹ ॥ ४१५ ॥ ततः
क्रियाकलापेन, साधूनां चारगामिनि¹ । विहितोऽत्र उपसद्भावः, सूत्रार्थग्रहणोद्यतः ॥ ४१६ ॥ अथ स्वल्पेन कालेन, द्वादशाङ्गः सदा-
गमः । सपूर्वः सविवेको मे, सर्वथा सम्मुखं गतः ॥ ४१७ ॥ पुराऽप्यस्य मया ज्ञात, विज्ञानं बहुशो बहु । किं तु संपूर्णपूर्वाणि, न
ज्ञातानि कदाचन ॥ ४१८ ॥ तदा तु लोककालेन, विज्ञान लीलया मया । निःशेषमस्य विज्ञातं, सर्वं पूर्वैः समन्वितम् ॥ ४१९ ॥
ततोऽधिगतसूत्रार्थो, गुरुणा धर्मबन्धुना । स्थापितोऽहं निजस्थाने, स(सू)रिधाम्न पायतः ॥ ४२० ॥ ततश्च शरदानन्दो, देवदानव
मानवैः । आचार्यस्थापनायां मे, उपमस्कारकारकः ॥ ४२१ ॥ गुरुणा क्षेपलोकैश्च, स्थापितोऽहं महोत्सवः । धन्यस्त्वं कृतकृत्योऽसि,
मेव जातः सदागमः ॥४२२॥ तथा—यथाकथाहारमात्स्यैश्च, पूजिता लोकता यदा । विहिता सत्पूजा च, विधिना वसनासनैः ॥४२३॥

किं च—ते देवास्ते महाभागा, मुनयस्ते च सज्जनाः । समाकृष्टा गुणैः सर्वैर्नम्राः किङ्करतां गताः ॥ ४२४ ॥ तथाऽन्येवासिनोऽनेके,
पण्डिता विनयोद्यताः । स्वीया गच्छान्तरेभ्यश्च, मम पार्श्वमुपागताः ॥ ४२५ ॥ ततो विचरतश्चित्रमासाकरपुरादिषु । कुर्वतश्च प्रबन्धेन,
व्याख्यानमतिसुन्दरम् ॥ ४२६ ॥ अनेकवादसङ्घट्टलब्धो वाक्सङ्घयष्टिना । कुतीर्थिमत्तमातङ्गकुम्भनिर्भेदकारिणः ॥ ४२७ ॥ स्वशास्त्रपर
शास्त्राणां, स्फुटगर्भार्थदर्शिनः । पूजितस्य महाराजसामन्तपरमेश्वरैः ॥ ४२८ ॥ उद्दामवर्णसत्कीर्तिशब्दश्लाघापुरःसरः । धवलितो यशो
रूपो, जनैर्मे पटहोऽनघ ॥ ४२९ ॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥ तथा—धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि, भूषिता नाथ! मेदिनी । त्वयाऽवतरता मर्त्ये,
परमब्रह्मरूपिणा ॥ ४३० ॥ निर्भिद्य सत्पाण्डित्यमित्येवं नतमस्तकाः । तीर्थिका अपि मां सर्वे, स्तुवन्तः पर्युपासते ॥ ४३१ ॥ युग्मम् ।
एवमाचार्यके जाते, सर्वलोकमनोहरे । भद्रेऽगृहीतसङ्केते', यज्जातं तन्निबोध मे ॥ ४३२ ॥ तां तादृशीं समुद्वीक्ष्य, समृद्धिं शुभनाभु
ताम् । ईर्ष्ययेव महापापा, स्फुटा मे भवितव्यता ॥ ४३३ ॥ चिन्तितं च तया हन्त, प्रक्षिप्ताः पुरा मया । योऽसावयसरस्तेषां, महामो
हादिभूभुजाम् ॥ ४३४ ॥ स एष वर्तते कालः, साम्प्रतं कार्यसाधकः । आशाभृतो वराकास्ते, पुरा मद्वाक्यतः स्थिताः ॥ ४३५ ॥ तदेषां
लब्धयाम्येन, भक्षावमधुनातनम् । येन ते लब्धमाहात्म्या, आयन्ते सुखभाजनम् ॥ ४३६ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । एवं निश्चित्य ते सर्वे, भद्रे!
पापोदयादयः । ज्ञापिताः कार्यगर्भार्थं, भवितव्यतया तया ॥ ४३७ ॥ किं च—ते कर्मपरिणामाद्यास्ते च मे बान्धवोऽनघाः । विमूढा नष्ट
चेष्टाकाः, स्वस्वचर्या विविधाख्यया ॥ ४३८ ॥ ततश्च—पापोदय पुरस्कृत्य, महामोहादयस्तथा । पुनः सस्थापनां कृत्वा, मद्भृता मम स-
म्मुखम् ॥ ४३९ ॥ केवलं व्याधसङ्कैस्तैर्दृष्टात्मस्वभयैः पुरा । कः स्यान्नो विजयोपाय, इति प्रारब्धि मन्त्रणम् ॥ ४४० ॥ "विपयाभिला
"षेणोक्त—इदमत्र प्राप्तकालं—अभ्यर्णीभवतु तावदस्य समीप्यावर्षनो ज्ञानसवरणः निकटीभवन्तु चौडरामसहितानि गौरवाभिधानानि

सागरोपमाण्युच्चैर्यावद्भावसुत्तमम् । भ्रान्त्वाऽस्मा विगताबाधमनुभूय सुधामृतम् ॥ ४०५ ॥ ततो मनुजगत्यन्त पाटुक वरपाटकम् । ऊ-
ढेरावतमायातो, भद्रे¹ मार्गानियोगतः ॥ ४०६ ॥ तत्र सिंहपुरे जातः, सुतो वीणामहेन्द्रयोः । भद्रं गङ्गाधरो नाम, क्षत्रियः
क्यातपौरुषः ॥ ४०७ ॥ जातिस्मरत्वसम्पन्नो, दीक्षाभावाय सुन्दरम् । कृत्वा च पूर्ववत्कृत्य, सुघोषापायसन्निधौ ॥ ४०८ ॥ तदन्त च
विधानेन, पूर्वम्यायर्पितक्रमात् । ग्रैवेयके द्वितीयेऽहं, गतो मायानियोगतः ॥ ४०९ ॥ परिपाट्याऽनया भद्र¹, कृताः पञ्च गमागमाः ।
मानवीयां समुत्ताय, ग्रैवेयकनिवासिषु ॥ ४१० ॥ एकैकस्मा सजाता, स्थितिश्च ममानघ¹ । सागरोपमतो यावत्सप्तम सप्तविंशतिः
॥ ४११ ॥ सदीर्घचित्तनिर्वाणी, सर्वसन्तोषदायिका । इह यत्र च जाता मे, भार्या कल्याणमालिका ॥ ४१२ ॥ ततश्च पञ्चमायातो,
भरते भानुनामके । पुरे मनुजगम्यत्पाँशकीर्ण्यमण्डले ॥ ४१३ ॥ पुत्रो भद्रामहागिर्योर्जातोऽहं सिंहनामकः । नरेन्द्रवंशे सद्भोगः,
सुन्दराकारधारकः ॥ ४१४ ॥ अथ यौवनसत्त्वेन, धर्मबन्धुमहामुनिम् । प्राप्य भागवती दीक्षा, मयाऽऽप्ता वरलोचने¹ ॥ ४१५ ॥ ततः
क्रियाक्रमयोगेन, साधूनां भारुगामिमि¹ । विद्वतोऽहं सतस्वभावः, सूत्रार्थमहदपोमतः ॥ ४१६ ॥ अथ सत्येन कालेन, द्वादशाङ्गः सदा-
गमः । सपूर्वः साविक्षेपो मे, सर्वेमा सम्पूर्णो गतः ॥ ४१७ ॥ पुराऽभ्यस्य मया सार्थ, विज्ञान पटुशो बहु । किं तु सपूर्वपूर्वाणि, न
माशानि क्यापन ॥ ४१८ ॥ तदा तु स्तोककालेन, विज्ञान लीलया मया । निःक्षेपमस्य विज्ञार्थ, सव पूर्वैः समन्वितम् ॥ ४१९ ॥
ततोऽधिगतसूत्रार्थो, गुरुणा धर्मबन्धुना । स्थापितोऽहं निजस्थाने, स(भ)रिसङ्घस्य पश्यतः ॥ ४२० ॥ ततश्च शशाननो, देवदानव
मानवैः । आचार्यस्थापनायां मे, सनमस्कारकारकः ॥ ४२१ ॥ गुरुणा क्षेपलोकेन, स्थापितोऽहं महर्षिभिः । धन्यस्त्व कृतकृत्योऽसि,
येन प्राप्तः सदागमः ॥४२२॥ तथा—वमास्करारत्वास्तैश्च, पूजिता लोकबान्धवाः । विहिता महापूजा च, विधिना वसनादनैः ॥४२३॥

"पात्राद्यपत्रपा । अहं पूज्यो जने मां हि, वन्दन्ते देवदानवाः ॥ ४५५ ॥ ममाभिमानतः सर्वा, विद्यन्ते मानभूतयः । इत्युत्सेकपरो
"भूत्वा, मार्दयामि च मानिनीः ॥४५६॥ युग्मम् । तथा—आस्वादितेषु भक्ष्येषु, रसेषु परमा रतिः । आविर्भूताऽतिलौल्यात्मे, प्रार्थनाऽ-
"नागतेषु च ॥ ४५७ ॥ शय्यासनादिसंपाद्ये, वस्त्राहारादिगोचरे । सुखे शारीरिके बोधः, प्राप्ते लौल्यं च भाविनि ॥ ४५८ ॥ जाता मे
"त्रितयस्यापि, तदानीं वक्त्रवर्तिनः । विहायोभयविहारं च, जातोऽहं शिथिलस्तथा ॥ ४५९ ॥ गौरवत्रितयेनापि, ततो मे हतचेतसः ।
"आर्तोत्थयोऽपि सपत्नो, दुष्टसङ्गस्य कारकः ॥ ४६० ॥ स च रौद्राभिसन्धिर्मे, न जातो बाधकस्तदा । आर्तोत्थयसमीपस्थः, केवलं सोऽ-
"प्यवस्थितः ॥ ४६१ ॥ ततस्ता अपि संपन्नाः क्लिष्टलेश्यापरिचारिकाः । तस्यैव धर्मनोयुक्ता, मम दौःशील्यकारिकाः ॥ ४६२ ॥ इत्थं
"चित्तविक्षेपो, मण्डपो वेदिका च सा । चित्तवृत्तौ कृता सज्जा, विष्टरं च समारितम् ॥ ४६३ ॥ चारित्रधर्मराजायाश्चिरपृथ्वौ विरो
'द्विताः । जातः श्रमणवेषोऽपि, मिथ्यादृष्टिरहं तदा ॥ ४६४ ॥ ततो लब्धावकाशैस्तैरेव सर्वैररातिभिः । आयुर्नाम्ना च संविष्टः, स राजा
"मम भार्यया ॥ ४६५ ॥ यदुत—निरूपयाऽस्यपुत्रस्य, भद्र! स्थानं मनोहरम् । साम्प्रतं चारुवासार्थं, योग्यमीदृक्षकर्मणाम् ॥ ४६६ ॥
"तेनोक्तं—भगवति! निरूपितमेवास्य निवासस्थानं, यतो मिलितः साम्प्रतं महामोहबलेऽमुष्य चरितेन विरचितहृदयः कर्मपरिणामः
"पुरस्कृतस्तेन पापोदयः प्रस्थापितोऽहमेकाक्षनिवासनगरे आकारितौ च ततस्तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधौ महत्तमबलाधिकृतौ तदत्र केनचि-
"त्कारणेन वेदनीयस्योपरि कर्मपरिणामः ततः सर्वस्वमपहृत्य कृतोऽसावकिंचित्करः ततस्ताभ्यां तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधाभ्यां सहानेन स
"परिवारेण मया भगवत्या च तस्मिन्नेवैकाक्षनिवासनगरेऽधुना निवस्तव्य," किमत्र निरूपणीयं?, जानाति चेदं सर्वं स्वयमेव भगवती,
केवलं मयि दयां कुर्वती मामेवमुल्लापयसि, भवितव्यतयोक्तं—भद्राभुक्त! सत्यमेवमिदं, यथाहि—नियोगो यत्र ते आसन्नागमसंस्थया

"त्रीणि मानुषाणि तत्र प्रत्येकमावयोरुपरोधाभिसम्भिनामानौ द्वौ पुरुषौ तयोश्च परिपालिका मात्रन्ति सन्त एव इन्दनीलकपोर्षम
"माना लेश्या इति गोत्रेण प्रसिद्धाविमौ नार्ये यय तु तावत्प्रमत्तानदी पुनः सत्याप्य प्रवाहयामो मण्डपानपि च भूयः समारचय्य,
'एष च कुर्वो भविष्यत्येषेनैवास्माकं प्रमाद इति," ततः प्रतिभात तन्मयिमो वचनं सर्वेषामपि महामोहादिभूभुजां, तदचोरा सामर्थेन
वाल्येन मारब्धं क्रियता—ततो मे निकटस्थेषु, तेषु जातेषु सुन्दरि । पूर्वोदितेषु सर्वेषु, यस्मात तदभिरामय ॥ ४४१ ॥ सामग्रदरूपता
गुर्वी, जनसन्मानपूजनाम् । आत्मनश्चित्तकल्लोलाः, समुत्पन्ना ममेदृशाः ॥४४२॥ यदुत—"अहो ममातुलं तेजश्छायाद्यो मम गौरवम् ।
"अहो जगति पाण्डित्यमभ्यासाधारणं मम ॥ ४४३ ॥ अहो युगप्रधानोऽहं, यथाऽतिशान्तभाषिणोः । अतयोरपि मादृशो, न भूतो न
"भविष्यति ॥ ४४४ ॥ सर्वा विद्या कलाः सर्वाः, सर्वे चातिशयाः परम् । अहो विमुच्य भुवन, मय्येव ननु संस्थिताः ॥ ४४५ ॥
"नरेन्द्राः पूर्वपर्याये, सुरूपो भोगलालितः । अधुना त्वीदृशः सूरिरहो माहं कपु पुमान् ॥ ४४६ ॥ महत्कुलं महत्तेजो, महती श्रीम
"दर्पः । महती च मम प्रज्ञा, सर्वं हि महतां महत् ॥ ४४७ ॥ एवंविधविकल्पेन, सादृङ्कारस्य च तदा । मम तेनानुबन्धेन, चेत-
"सो विजृम्भितः ॥ ४४८ ॥ तथा—यत्रासौ तत्र विषमान्मिथ्याहंकारनवश्यता । ज्ञानसंपरमस्यापि, विलासो विषये भृशः ॥ ४४९ ॥
"शास्त्रां वशीकृत्यमर्ह, मलिनीभूतचेतनः । जानन्नपि न जानामि, शास्त्रगर्भोपमस्तदा ॥ ४५० ॥ पठामि पाठयाम्यन्यं, व्याचक्षे शा-
"स्त्रसन्ततिम् । भावार्थं न च बुध्येऽहं, वशीभूतमानसः ॥ ४५१ ॥ केवलं मे परिभ्रष्ट, सार्धं पूर्वचतुष्टयम् । पाश्चात्यं हन्त तत्काले,
"शेषमानं न विस्मृतम् ॥ ४५२ ॥ अत्रान्तरे प्रयत्नेन, चित्तवृत्तौ ममालये । प्रवाहिता नदी तूर्ण, रिपुभिः सा प्रमत्तता ॥ ४५३ ॥
"ततो विजृम्भितान्युच्चैर्निजवीर्येण सुन्दरि ! । तानि गौरवसञ्ज्ञानि, मानुषाणि विशेषतः ॥ ४५४ ॥ कथं ?—ईदृशः शिष्यवर्गो मे, वस्त्र

"पात्रापयत्वया । अहं पूज्यो जने मां हि, वन्दन्ते देवदानवाः ॥ ४५५ ॥ ममापिमातयः सर्वा, विपन्ते भावभूतय । इत्युक्त्वैकपरो
"भूत्वा, मार्गयामि च भाविनी ॥४५६॥ युग्मम् । यथा—आस्वादितेषु लभ्येषु, रसेषु परमा रतिः । आविर्भूताऽखिलौत्स्यान्मे, मार्गनाऽ-
"नागतेषु च ॥ ४५७ ॥ सम्यासनाभिसपाये, वस्त्राहाराभिगोचरे । सुखे शारीरिके तोषः, प्राप्ते लौल्यं च भाविनि ॥ ४५८ ॥ जात मे
"त्रितयस्यापि, तदानीं वशवर्तिनः । निद्रायोगमविहारं च, जातोऽहं शिथिलस्तदा ॥ ४५९ ॥ गौरवत्रितयेनापि, ततो मे हृतचेतसः ।
"भावोपशमोऽपि सपक्षो, दुःखसङ्कल्पकारकः ॥ ४६० ॥ स च रौद्राभिसन्निर्मे, न जातो बाधकस्तदा । भावोपशमसमीपस्थः, केवल सोऽ-
"प्यवस्थितः ॥ ४६१ ॥ ततस्ता अपि संपन्नाखिलस्वल्पपरिचारिकाः । तस्यैव वर्धनोद्युक्ता, मम दौःशील्यकारिकाः ॥ ४६२ ॥ इतश्च
"चित्तविक्षेपो, मण्डपो वेदिका च सा । चित्तवृत्तौ कृता सख्या, विष्टरं च समाश्रितम् ॥ ४६३ ॥ चारित्रधर्मराजाद्यामिसवृत्तौ स्थिरो
"स्थिताः । जातः प्रमत्ततेपोऽपि, मिथ्यादृष्टिरहं तदा ॥ ४६४ ॥ ततो छद्मावकाशैरेवं सर्वैररातिभिः । आयुर्नामा च सविष्टः, स राजा
"मम भार्यया ॥ ४६५ ॥ प्रयुत—निरूपयाऽर्यपुत्रस्य, भद्र! स्थान मनोहरम् । साम्प्रत चारुमासार्थं, योग्यमीदृशकर्मणाम् ॥ ४६६ ॥
"तेनोक्त—भगवति! निरूपितमेवास्य निवासस्थानं, यतो मिलितः साम्प्रत महामोहबलेऽमुष्य परितेन विरचितहृदयः कर्मपरिणामः
"पुरस्कृतस्तेन पापोदयः प्रस्थापितोऽप्रमेकाक्षनिवासनगरे आकारितौ च तत्स्त्रीमममोहोदयात्यन्ताबोधौ महत्तमबलाधिकृतौ दृष्टश्च केनचि
"त्कारणेन वेदनीयस्योपरि कर्मपरिणामः ततः सर्वस्वमपहृत्य कृतोऽसावकिंचित्करः ततस्ताभ्यां तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधाभ्यां सहानेन स
"परिवारेण मया भगवत्या च तस्मिन्नेकैकाक्षनिवासनगरेऽधुना मितव्य," किमत्र निरूपणीयं?, जानाति चेद् सर्वं स्वयमेव भगवती,
केवलं मयि दयां कुर्वती मामेवमुक्तवती, भवितव्यतयोक्तं—भद्रामुक! सत्यमेवमिद, तथाहि—नियोगो यत्र ते जातस्तत्रावश्यतया

"त्रीणि मानुषाणि क्लु प्रत्येकमाचार्योत्तमपौत्रामिसन्धिनामानौ द्वौ पुरुषौ यथोक्त परिचारिका यासन्ति एत एव कुम्भनीलकपोताधि
"पाना छेत्या इति गोत्रेण प्रसिद्धाश्चिन्तो नार्यः अथ तु याचत्प्रमत्तानदी पुनः ससाप्य प्रकाद्यामो मण्डपारीनि च भूयः समारयामः,
"एव च कुर्वतो भविष्यत्कालेशेनैवास्माकं प्रभाव इति," ततः प्रतिमात कन्यभिषो अपन सर्वेषामपि महामोहाद्विमुखुमां, ततस्तत्समर्पित
"चान्येन प्रारब्धं क्रियया—ततो मे निकटस्थेषु, तेषु मावेषु सुन्दरि' । पूर्वोक्तिवेषु सर्वेषु, यज्जात तमिस्तामय ॥ ४४१ ॥ तामातोकयतो
"गुर्वी, ममस्सन्मानपूजनाम् । मात्मनश्चित्तकल्लोला , समुत्पमा ममेदृशाः ॥४४२॥ यदुत—"अहो ममातुलं तेजस्तथाऽहो मम गौरवम् ।
"अहो भगति पाण्डित्यमन्यासाधारणं मम ॥ ४४३ ॥ अहो पुण्यप्रधानोऽहं, यथाऽत्रिमन्यभाषिनोः । कालयोरपि मादृशो, न भूतो न
"भविष्यति ॥ ४४४ ॥ सर्वा विद्याः कलाः सर्वाः, सर्वे चातिशयाः परम् । अहो विमुच्य भुवनं, मय्येव ननु संस्थिताः ॥ ४४५ ॥
"नरेन्द्रः पूर्वपर्याये, सुरूपो भोगलालितः । अधुना त्वीदृशः सूरिरहो माद्दृक् पुमान् ॥ ४४६ ॥ महत्कुलं महत्तेजो, महती भीम
"रूपता । महती च मम प्रज्ञा, सर्वं हि महतां महत् ॥ ४४७ ॥ पञ्चविधविकल्पैश्च, साहङ्कारस्य मे तदा । सम तेनानुभावेन, चेत-
"सो विजृम्भितः ॥ ४४८ ॥ तथा—यत्रासौ तत्र निवसाम्यिष्यापर्णनतत्परता । ज्ञानस्वरूपस्यापि, विलासो विपते भुवः ॥ ४४९ ॥
"ताम्यो वशीकृतमहं, मलिनीभूतचेतनः । ज्ञानमपि न जानामि, ज्ञानगर्भार्पणमत्तता ॥ ४५० ॥ पठामि पाठयाम्यन्य, व्याचक्षे ज्ञा-
"नसहस्रिम् । भावार्थं न च बुध्येऽहं, पक्वीभूतमानसः ॥ ४५१ ॥ केवलं मे परिभ्रष्टं, सार्धं पूर्वचतुष्टयम् । पाञ्चालं हन्त तत्काले,
"भेषजानं च विस्मृतम् ॥ ४५२ ॥ भवान्तरे प्रयत्नेन, चित्तदृष्टे समानघे ! । प्रसाद्धिता मयी सूर्ये, रिपुभिः सा प्रमत्तता ॥ ४५३ ॥
"ततो विजृम्भितान्युच्चैर्निबवीर्येण सुन्दरि ! । तानि गौरवसंज्ञानि, मानुषाणि विशेषतः ॥ ४५४ ॥ कथं ?—ईदृशः शिष्यवर्गो मे, यस

"पात्रावस्थया । अहं पूज्यो जने मां हि, वन्दन्ते देवदानवाः ॥ ४५५ ॥ ममाभिमावयः सर्वो, विघन्ते भावभूतयः । इत्युत्सेकपरो
"भूत्वा, प्रार्थयामि च भाविनीः ॥४५६॥ युग्मम् । तथा—आस्वादितेषु सम्येषु, रसेषु परमा रतिः । आविर्भूताऽतिलौल्यात्मे, प्रार्थनाऽ-
"नागतेषु च ॥ ४५७ ॥ शय्यासनादिसंपाद्ये, वस्त्राहारादिगोचरे । सुखे शारीरिके लोभः, प्राप्ते लौल्यं च भाविनि ॥ ४५८ ॥ जात मे
"त्रितयस्यापि, सदानीं वशवर्तिनः । विहायोपमविहारं च, जातोऽहं शिथिलस्तदा ॥ ४५९ ॥ गौरवत्रितयेनापि, यतो मे हतचेतसः ।
"जातोभयोऽपि सपत्नो, दुष्टसङ्गस्यकारक ॥ ४६० ॥ स च रौद्राभिसन्निभे, न जातो बाधकस्तदा । आर्तोभयसमीपस्थः, केवलं सोऽ-
"प्यवस्थितः ॥ ४६१ ॥ तस्या अपि सपत्नास्तिस्रस्तत्परिचारिकाः । तस्यैव सर्वनोपुक्ता, मम दौःशील्यकारिकाः ॥ ४६२ ॥ इतश्च
"चित्तविक्षेपो, मण्डपो वेदिका च सा । चित्तवृत्तौ कृता सम्या, विष्टरं च समारितम् ॥ ४६३ ॥ चारित्रधर्मराजापाभिघृतौ स्थितो
"स्थिताः । जातः श्रमणवेषोऽपि, मिथ्यादृष्टिरहं तदा ॥ ४६४ ॥ ततो सम्यावकाशैस्तैरेव सर्वैरपतिभिः । आयुर्नामा च सद्दिष्टः, स राजा
"मम भार्यया ॥ ४६५ ॥ युतं—निरूपयाऽऽर्यपुत्रस्य, भद्र[1] स्थानं मनोहरम् । साम्प्रतं पालनासार्थं, योग्यमीदृशकर्मणाम् ॥ ४६६ ॥
"तेनोक्त—भगवति[1] निरूपितमेवास्य निवासस्थानं, यतो मिलितः साम्प्रतं महामोहदलेऽमुष्य चरितेन विरचितहृदयः कर्मपरिणामः
"पुरस्कृतस्तेन पापोदयः अस्यापितोऽहमेकाक्षनिवासनगरे आकारितौ च तदस्तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधौ महत्तमबलाधिकृतौ दृष्टश्च केनचि-
"त्कारणेन वेदनीयस्योपरि कर्मपरिणामः ततः सर्वसमपहृत्य कृतोऽसावकिंचित्करः तदस्ताभ्यां तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधाभ्यां सहानेन स
"परिवारेण मया भगवत्या च तस्मिन्नेवैकाक्षनिवासनगरेऽधुना निवस्तव्य," किमत्र निरूपणीयं ?, जानाति चेद् सर्वं स्वयमेव भगवती,
केवलं मयि दयां कुर्वती मामेवमुत्पादयति, भवितव्यतयोक्त—भद्रामुष्क[1] सत्यमेवमिद, यताहि—नियोगो यत्र ते जातस्तत्रावश्यतया

मया । काले सहार्यपुत्रेण, यशाम्य क्षेपकैरपि ॥ ४६७ ॥ केवलं—त्रिभागमात्रमथापि, आवश्यकेह तिष्ठति । ततोऽतिवाहिते तत्र, सम्भावितो भद्र ! कीदृशा ॥ ४६८ ॥ तेनोक्तं भगवत्येव, भावीते केऽत्र मादृशाः ? । किं च—सम्पूर्णा कायतां सिद्धः, सामग्री गमनोचि ताम् ॥४६९॥ ततस्तैः प्रवलीसूत्रैः, संवेष्य वरानने ! । चलन्त्वशिथिलो मार्गे, कृतोऽहं सुखसम्पदः ॥४७०॥ गोप्य मे मा च दीर्घं मे, मा सम्त्वन्ये परीषहाः । पश्य सुखासिकादीक्षस्मकमार्गेस्तदाऽभवम् ॥ ४७१ ॥ ततस्तदन्ते रक्षितो विधानेन समूलया चेतनया प्रवर्धे दा रितोपैरपक्षमात्मान जीर्णायां प्राचीनगुटिकायामासाद्य तामपरां नीतोऽहं तत्रैकाक्षनिवासनगरे स्थापितो वनस्पतिपाटके तेन पूर्वो दितेन प्रासादापवरकन्यायेन, स्थितः कियन्तमपि कालं भक्षयमपरापरगुटिकां, ततोऽन्यदा नीतोऽहं क्षेपपाटकेषु तदन्यनगरेषु च, क्वापि मानीतः पञ्चाक्षपशुसंस्थाने—ततो मिथ्यात्वमावत्सामीतोऽहं विबुधालये । कृताश्च बहवस्तस्मान्मूपयत्र गमागमाः ॥ ४७२ ॥ तथाहि —पञ्चाक्षपशुसमानाद्भूरिशो व्यन्तरादिषु । अकामनिर्जरां प्राप्य, गतोऽहं शुभभावतः ॥ ४७३ ॥ तथा—विशिष्टपरिणामेन, कचि ज्ज्योतिष्कपादिषु । सौधर्मादिषु संपन्नो, विबुधाकारधारकः ॥ ४७४ ॥ किं बहुना ?—गृहिधर्मसमेतेन, सम्यग्दर्शनसंयुजा । उत्कृष्टस्तत्र स्थानादष्टौ कल्पा मयेक्षिताः ॥४७५॥ तथा—बहुशो मानवावासमवाप्तोऽहं सुलोचने ! । कर्माकर्मान्तरद्वीपभूमिजेषु नृषु स्थित ॥४७६॥ तत्र—अकर्मभूमिजातोऽनेक द्वे त्रीणि वा सुरा । स्थितः पल्योपमान्युच्चैः, कल्पपादपलालितः ॥ ४७७ ॥ तावन्त्यून्यमानश्च, सत्का न्तभोगमोहितः । सुखाहारविहारश्च, विशुद्धाशयबन्धुरः ॥४७८॥ तदन्ते मार्यया युक्तो, गतोऽहं विबुधालये । आसाद्य गुटिकां चार्वी, पूर्वोक्तविधिना तथा ॥ ४७९ ॥ भूरिवाराः प्रजातोऽहमन्तरद्वीपवासिषु । असङ्ख्यवर्षायुष्को (ष्केषु), गतश्च विबुधालये ॥ ४८० ॥ तथा —कर्मभूमिषु जातेन, पद्मानान्मया कृतम् । बालमरणसैन्यरिपवन विषभक्षणम् ॥ ४८१ ॥ पञ्चाग्नितपनाय वा, रज्ज्वापुद्भ पनादि

वा । कर्मप्रयुक्तेन भावेन, धर्मबुद्ध्याऽन्यथापि वा ॥ ४८२ ॥ मात्र तथापि वत्से !, सम्पूर्णं विबुधाख्यम् । किं तु किल्बिषिकावासे, जातो
व्यन्तरपाटके ॥ ४८३ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥ तथा—कृत्वा बालतपो घोरं, सरोषो वैरतत्परः । तपोगौरवयुक्तोऽहं, गतो भवनवासिषु
॥ ४८४ ॥ तथा—श्रावकत्वमथासाद्य, तदनुष्ठानमाचरन् । ज्योतिश्चारिषु नीतोऽहं, चतुष्को निजभार्यया ॥ ४८५ ॥ तथा—प्राप्य भा-
गवतीं दीक्षां, तपोनिष्टप्तदेहकः । युक्तः क्रियाकलापेन, ध्यानाभ्यासपरायणः ॥४८६॥ केवलं—सर्वज्ञभाषितं किंचित्पदं चाश्रद्दधदक्षरम् ।
अभद्रभावो भूतस्मात्सम्यग्दर्शनवर्जितः ॥ ४८७ ॥ गतोऽहं भूरिशो भद्रे !, सर्वग्रैवेयकेष्वपि । आगतो मानवावासं, भूयो भूयोऽन्तराऽन्तरा
॥ ४८८ ॥ युग्मम् । तत्र च भ्रमतश्चैव, भद्रे ! जानीहि कारणम् । यस्मिन्नाचार्यताकाले, शैथिल्यं मन्मया कृतम् ॥ ४८९ ॥ इतरथा
—सदैव निर्मलीकृत्य, चित्तवृत्तिं निजां च । त्रिपुवर्गं स्थितो राज्ये, गतः स्यां निर्वृतावहम् ॥ ४९० ॥ तदेवमविवेकात, भूयो भ्रम
पक्षपमम् । निजाया दुष्टचेष्टायाः, फलं नान्यस्य कस्यचित् ॥ ४९१ ॥ अगृहीतसङ्केतयोक्तम्—न केवलमिदं तात !, समस्तं सन्निवेशि
तम् । त्वयेह यत्त तत्सर्वं, निजचेष्टाविजृम्भितम् ॥ ४९२ ॥ तथाहि—यत्त्वं वर्षिष्यथाख्यात !, सर्वदा त्वं निरापणि । तस्य सुस्थितराजस्य,
सदाज्ञायां स्थिरासकः ॥ ४९३ ॥ नाभविष्यत्ततो दीर्घा, सर्वेयमतिदारुणा । भीषणा भूयमायाऽपि, तीव्राऽनर्थपरंपरा ॥ ४९४ ॥ युग्मम् ।
संसारिजीवेनोक्तम्—बाढं चारुमिदं सुभ्रु !, सम्यक् त्वं हि वर्तसे । नाम्नाऽगृहीतसङ्केता, भावतस्तु विचक्षणा ॥ ४९५ ॥ तदाकर्णय
चार्वङ्गि !, साम्प्रतं येन हेतुना । जातोऽस्मीदृशावस्थस्तस्कररूपकारकः ॥ ४९६ ॥ अगृहीतसङ्केतयोक्तम्—निवेदयतु भद्रः, संसारिजी
वेनोक्तम्—तस्माद्ग्रैवेयकादन्त्यात्तानीतोऽहं भवेच्छया । पुरीं मनुजगत्यन्तःपातिनीं क्षेमनामिकाम् ॥ ४९७ ॥ इतश्च जानात्येव भवती यथा
अनेकापण्यमाकाम्ये, भूरिविस्तारसुन्दरे । महाविदेहरूपेऽत्र, हट्टमार्गेऽतिविस्तृते ॥ ४९८ ॥ वसन्ति चित्ररूपाणि, वस्तुराण्यप्सराऽन्तरा ।

मया । स्थाने सार्थपुत्रेण, वर्त्म क्षेपकैरपि ॥ ४६७ ॥ केवल—त्रिभागमात्रमपापि, स्थातव्यमेव तिष्ठति । ततोऽवतिष्ठिते तत्र, तस्माभो भद्र! जीवस्व ॥ ४६८ ॥ तेनोक्तं भगवन्नेव, ज्ञातीते केऽत्र मादृशाः ? । किं च—सम्पूर्णा कार्यता सिद्धा, सामग्री गमनोचि ताम् ॥४६९॥ ततस्तैः प्रबलीभूतैः, सैवेयं वरानने! । भवन्त्यविषिद्धो मार्गो, कृतोऽहं सुपकम्पटा ॥४७०॥ मोष्य मे मा च क्षीव मे, मा सन्त्वन्ये परीषहाः । एष मुक्तासिकाक्षीमक्षयमार्गस्वराऽभवम् ॥ ४७१ ॥ ततस्तन्ते रक्षितो विधानेन समृद्धया पवनया प्रबद्धे शा- रीरयोपेरक्षतमात्मान जीर्णाया प्राचीनगुटिकायामास्वाद्य तामपरां नीतोऽहं तत्रैकाक्षनिवासनगरे स्थापितो वनस्पतिपाटके तेन पूर्वो दितेन प्रासादापवरकन्यायेन, स्थितः कियन्तमपि कालं ममापरापरगुटिकां, ततोऽन्यदा नीतोऽहं शेषपाटकेषु तदन्यनगरेषु च, ज्ञापितानीतः पञ्चाक्षपशुसंस्थाने—ततो विलुब्धमावसानीतोऽहं विबुधालये । कृताश्च पदवत्समानुपखाच गमागमाः ॥ ४७२ ॥ तथापि —पञ्चाक्षपशुसंस्थानान्नरिको म्लेच्छयतिषु । अकामनिर्जरां प्राप्य, गतोऽहं सुभमानवः ॥ ४७३ ॥ तथा—विशिष्टपरिणामेन, कचि त्कस्योपपातिषु । सौधर्मादिषु सम्भूतो, विबुधाकारधारकः ॥ ४७४ ॥ किं बहुना ?—एभिधर्मैकमेकेन, सम्यग्दर्शनसंयुता । तत्कारकस्तव स्थानसङ्घे कस्या ममेक्षिताः ॥४७५॥ तथा—बहुशो मानवावासमवाप्तोऽहं सुलोचने! । कर्माकर्मान्तरद्वीपभूमिकेषु नृषु स्थितः ॥४७६॥ तत्र—अकर्मभूमिजातोऽहमेके द्वे त्रीणि वा मुधा । स्थितः पल्योपमान्युच्चैः, कल्पपादपलालित ॥ ४७७ ॥ तावद्रम्भ्युतमानश्च, सत्का म्यामोगमोदितः । सुखाहारविहारश्च, विबुधाश्रयम पुनः ॥४७८॥ तदन्ते भार्यया युक्तो, गतोऽहं विबुधालये । भास्वाद गुटिकां पार्श्वी, पूर्वोक्तविधिना तथा ॥ ४७९ ॥ भूरिवाराः मनाप्तोऽहमन्तरद्वीपवासिषु । असंख्यवर्षायुष्को (ष्केषु), गतश्च विबुधालये ॥ ४८० ॥ तथा —कर्मभूमिषु जातेन, पद्मानान्मया कृतम् । अज्ञानकृतसंयमविपयतन विपमक्षणम् ॥ ४८१ ॥ पश्चाभिलपनाय वा, रज्जुबन्धनाश्रि

अथासौ भास्कराकारस्ततोऽत्र समुपागतः । नलिनी च गता तेन, सार्धं माता ममाम्बा ॥ ५१८ ॥ ततो यावत्करिष्यन्ति, किल राज्येऽभिषेचनम् । सामन्तास्तावदुत्पन्नं, चक्ररत्नं ममायुधम् ॥ ५१९ ॥ तथा—जातानि शेखरत्नानि, सुन्दराणि त्रयोदश । निधयश्च समायाता, नव यक्षैः सुरक्षिताः ॥ ५२० ॥ ततोऽयं चक्रवर्तीति, मत्वा सर्वे नराधिपाः । गताः किङ्करतां मेऽत्र, सुकच्छविजये तदा ॥ ५२१ ॥ ततो निर्जित्य निःशेषं, षट्खण्डं भूमिमण्डलम् । क्षेमपुर्यां स्थितेनैव, प्रतापेन ममार्जितम् ॥ ५२२ ॥ ततो द्वादश च वर्षाणि, द्वात्रिंशद्भिर्महीभुजाम् । सहस्रैरभिषेको मे, किरीटाटोपराजिनाम् ॥ ५२३ ॥ ततो देवीसहस्राणां, चतुःषष्ट्या सदाश्रिताम् । कुवलीकाञ्जनेत्राणां, भुञ्जानो भोगसंहतिम् ॥ ५२४ ॥ कुर्वाणो जनतानन्दं, प्रधानप्रकर्षवर्तिताम् । महाभूतिविमर्देन, भूरिकालमहं स्थितः ॥ ५२५ ॥ युग्मम् । किं बहुना?—चतुर्भिरधिकाशीतिपूर्वलक्षाणि लीलया । महाराज्यसम्भोगं, कृत्वाऽहं चारुलोचने[1] ॥ ५२६ ॥ निर्गतः पश्चिमे काले, स्वपुर्यां राजलीलया । षट्खण्डविजयस्यापि, तस्य दर्शनकाम्यया ॥५२७॥ पुराकरादिसंकीर्णां, तां पर्यन्य वसुन्धराम् । अहमत्र समायातः, तत्पुरे शङ्खनामके ॥ ५२८ ॥ ततश्च—पश्चात्कृत्वा बलं शेषं, राजकसमवेष्टितः । प्राप्तश्चित्तरमं चेदमुद्याननन्दनोपमम् ॥ ५२९ ॥ इतश्च—यानि गुणधारणावस्थायाममूर्बन्धयथा प्रथमो मे धर्मदेशकः कन्दमुनिः तथा वयस्यः कुलंधरो भार्या च मदनमञ्जरी, तान्यप्यासेटितानि भवितव्यतया भ्रमितानि भवचक्रे दर्शितानि सुन्दरासुन्दररूपेण, ततः स कन्दमुनिः कथितकलत्रलिकासम्पर्कं समानीतोऽस्यैव सुकच्छविजयस्यान्तर्भूते हरिपुरे तत्र च भीमरथो राजा तस्य च सुभद्रा नाम महादेवी तयोश्चास्ति समन्तभद्रो नाम तनयः ततः प्रवेशितोऽसौ कन्दः सुभद्राकुक्षौ निर्गतः क्रमेण जाता दारिका मलिविलिखं तस्या नाम महाभद्रेति । इतश्च समन्तभद्रः संप्राप्य सुघोषमाचार्यं सञ्जातवैराग्यः संभाष्य पितरौ निष्क्रान्तः तपसः संपूर्णद्वादशाङ्गधरः स्थापितो गुरुभिः सूरि

ततः क्षेमपुरी साऽस्ति, सन्मार्गस्य सम्पदा ॥ ४९९ ॥ सुकच्छविजयस्थानमिदं भद्र! निगद्यते । यत्र स्थिता त्वं भूप, पुरी सा च
मनोहरा ॥ ५०० ॥ तस्यां च क्षेमपुर्याम्—अभूद्रासितारिसर्वस्वस्तेजसां निधिः । राजा युगंधरो नाम, भास्कराकारधारकः ॥५०१॥
तस्य दर्शनमात्रेण, प्रोत्फुल्लमुखपङ्कजा । आसीदिष्टा महादेवी, नलिनी नाम विश्रुता ॥ ५०२ ॥ अथाऽगृहीतसङ्केते!, भवितव्यतया
तया । तस्याः प्रवेशितः कुक्षावहं पुण्योदयान्वितः ॥ ५०३ ॥ दृष्टश्च—तस्यां रात्रौ सुखाय्यायां, सा सुप्ता कमलेक्षणा । चतुर्दन्तं महा
प्रमाणवशोभं समुत्थिता ॥ ५०४ ॥ ततः प्रहृष्टयाऽऽख्यातस्ते युगंधरभूभुजे । तथा फलोपलम्भाय, महास्वप्ना गजादय ॥ ५०५ ॥
तेनाप्युक्तं यथा देवि!, देवदानवपूजितः । कुलप्रदीपस्ते पुत्रश्चक्रवर्ती भविष्यति ॥ ५०६ ॥ ततः प्रोत्फुल्लनेत्रा सा, मधुरास्यमनोहरैः ।
अभिनन्द्य तदालापैर्गर्भं धारयतेऽनघा ॥५०७॥ ततः सम्पूर्णकालेन, सुन्दराकारधारकः । पुण्योदययुतो जातस्तोपाहूतोऽहमम्बया ॥५०८॥
अथ गत्वा प्रियङ्कर्या, हर्षगद्गदया गिरा । प्रोत्फुल्लनेत्रयाऽऽस्थाने, तातायाहं निवेदितः ॥ ५०९ ॥ ततः पुलकपाशाङ्गः, स दत्त्वा पारि
तोषिकम् । दानं तस्यै यथाकाममादिदेश महोत्सवम् ॥ ५१० ॥ अथ विलासविभूषणबन्धुरः, सरसनर्तनवादनसुन्दरः । मदविघूर्णित
लोकमनोहरः, प्रवृत्ते मम जन्ममहोत्सवः ॥ ५११ ॥ गानपानभरदानसमन्वितो, मानदानमदनादरमन्थः । तातवाक्यवशतो विलसन्त
स्तत्र गात्रमुदिता ननु सन्तः ॥ ५१२ ॥ षष्ठेऽथ दिने भद्रे!, तथाऽन्यदिनपञ्चकम् । गतमुद्दामलीलाभिर्हृष्टतुष्टजनसुन्दरम् ॥ ५१३ ॥
ततः प्रयत्नतः सर्वैस्तातमातामहादिभिः । पञ्चिकाजागरो रम्यः, कृतो मे नाकविभ्रमः ॥ ५१४ ॥ ततो महाप्रमोदेन, द्वादशे मास
मासके । प्रतिष्ठितं च मे नाम, यथाऽयमनुसुन्दरः ॥ ५१५ ॥ अथ संवर्धमानोऽहं, धात्रीपञ्चकलालितः । कुमारभावमापन्नो, गृ
हीताः सकलाः कलाः ॥ ५१६ ॥ ततश्च यौवनस्थोऽहं, यौवराज्येऽभिषेचितः । तातेन महता भद्रे!, विमर्देन मनोरमे ॥ ५१७ ॥

तदर्थं दत्तान्युपयाचितशतानि पितृलोपमभूतानि, ततो भवितव्यतया स कुलंधरो सूरिषु भवेषु कृतकुशलाभ्यासः प्रवेशितस्तस्याः कुक्षौ, दृष्टोऽनया स्वप्नो यथा सुन्दराकारधरः पुरुषो वदनेन मे प्रविश्य शरीरे हृदयेन निर्गत्य गतः केनचिन्नरेण सार्धं, ततः कथितोऽनया भर्त्रे स स्वप्नः, तेनोक्तं—भविष्यति ते पुत्रः केवलमचिरेण कञ्चन गुरुं प्राप्य प्रव्रजिष्यति, तदाकर्ण्य हृष्टा कमलिनी, ततस्तृतीये मासि सञ्जातोऽस्याः कुशलकर्मकरणमनोरथः सम्पादितः श्रीगर्भराजेन सम्पूर्णकाले च जातो दारकः परिपुष्टो राज्ञा कारितस्तज्जन्मानन्दः, इतश्च समुत्पन्नविमलकेवलालोकः समागतोऽसौ समन्तभद्राचार्यः स्थितोऽत्रैव चित्तरमे कानने निर्गता तद्वन्दनार्थं महाभद्रा कथञ्चिच्च विज्ञातः सुललितया, सञ्जातः कथंचिद्राजदारकजन्मः, भगवतोक्तं—एष बहुशोऽभ्यस्तकुशलकर्मा राजपुत्रो न स्थास्यति भवने ग्रहीष्यति प्रव्रज्यां भविष्यति सर्वागमधारकः, तदाकर्ण्यागता निजोपाश्रये महाभद्रा, इतश्च तस्य नरेन्द्रतनयस्य पौण्डरीक इति प्रतिष्ठितमभिधानं विहितो नामकरणप्रमोदः, इतश्च सा सुललिता कुतूहलपरतया विचरन्ती प्राप्ता तत्र चित्तरमे कानने दृष्टः सहमध्यस्थोऽनया स समन्तभद्रसूरिर्नृपतिसुतगुणसन्दोहं वर्णयमानः, उक्तं च भगवता—यतोऽस्य शुभेन कर्मपरिणामेन अनुकूलीभूतया कालपरिणत्या अस्यां मनुजगतौ जनितस्तस्मादेवंविधगुण एवायं भविष्यति, भव्यपुरुषो हि सुमतिः सभिचिह्नैर्गुणैर्युक्तस्य एव कोऽत्र सन्देहः ?, ततस्तदाकर्ण्य हृष्टाः सर्वे लोकाः, सुललितया चिन्तितं—कथं कालपरिणतिकर्मपरिणामयोर्जनकत्वं कथं चैव भाविगुणभावं जानाति ?, ततो गत्वा प्रवर्तिनी पृष्टाऽनया महाभद्रा, तया चिन्तितं—अत्यन्तमुग्धेयं सुललिता, ततोऽयमेवास्याः प्रतिबोधनोपाय इति संचिन्त्य युक्तितः समर्थितं महाभद्रया कालपरिणतिकर्मपरिणामयोर्जनकत्वं, तस्यागमात्तु सदागमगोचरतामस्याः प्रीतिरिति चिन्तयन्त्याऽभिहितमनया—भद्रे ! स यदा लोकमध्ये व्याचक्षाणः सदागमस्तदाऽवलोकितः स हि भगवान् भूतभवद्भविष्यद्भावातिशयोपतापविभासयतीति नास्त्यत्र सन्देहः

पदे, सापि च महाभद्रा समाता यौवनं परिणीता गन्धपुराधिपतिना पद्मावतीरविभ्रमपुत्रेण दिवाकरेण गतोऽसौ कालधर्मनामस्य प्रति बोधिता समन्तभद्रसूरिणा महाभद्रा गृहीताऽनया भागवती दीक्षा सञ्जातैकादशाङ्गधारिणी गीतार्था स्थापिता गुरुभिः प्रवर्तिनीपदे ततः सा सुसाध्वीभिः परिवारिता विहरन्ती समायाता रत्नपुरे, तत्र च मगधसेनो राजा तस्य च सुमङ्गला नाम महादेवी, इतश्च सा मद नमञ्जरी च्यविता तत्सुतात्वेन भवितव्यतया तथा कृत तस्याः सुलक्षितेति नाम जाता क्रमेण यौवनं संपन्ना पुरुषद्वेषिणी सञ्जातो भूरि कालः नेष्टो वरगन्धोऽप्यनया ततः कथमिव वरिष्यत इति सञ्जाता जननीजनकयोश्चिन्ता ततो महाभद्रां समागतामाकर्ण्य गृहीत्वा तां सुलक्षितां पितृपुत्रिकां गतौ तदुपाश्रये वन्दनार्थं देवीनरेन्द्रौ वन्दिता सपरिकरा भगवती दत्तोऽनया परमपदुरूपपादपनिरुपद्रवबीज भूतो धर्मलाभः विहितास्तत्प्रत्यासन्ना सद्धर्मदेशना ततः सा सुलक्षिता परिस्फुटमबुध्यमानापि भगवतीवचनभावार्थमसम्बुध्यतया पूर्वपरिचयाद्गुरुभक्तिरागा भगवतीवदनकमलावलोकनाभिलाषेण कथिदन्यत्र नेतुमपारयन्ती पितरं प्रसाद—तात! मया भगवत्या चरणयुगलं पर्युपासितव्यं तदनुज्ञानात् मां तातो येनाहमनयैव सार्धं सर्वत्र विचरामीति, तदाकर्ण्य प्रहसिता सुमङ्गला, नृपतिराह— देवि! अलमत्र वचनेन करोतु वत्सा समीहितं अयमेवास्या विनोदनोपायो भविष्यति, केवलं भगवतीपार्श्वस्थयाऽनया सामग्रीयुक्तया गृहस्थयैव सदा पर्यटितव्यं न चाभरणच्छयाऽनया प्रव्रज्यामत्तोऽपि विधेय, सुलक्षितयोक्तं—तात! महाप्रसादः, ततः सा सुलक्षि ता तथा महाभद्रया प्रवर्तिन्या सह तथैव नानादेशेषु विचरितुं प्रवृत्ता, केवलं कर्मोदयात् प्रवर्तते तस्याः पाठः न जाति सामाचारी क्रमः न बुध्यते च सा परिस्फुटमपि कथ्यमानमागमार्थं, अन्यदा समायाता भगवती महाभद्राऽत्र शङ्खपुरे स्थिता नन्दस्य श्रेष्ठिनो यच शालायां, इतश्चात्र शङ्खपुरे मम मातुलः श्रीगर्भो नाम राजा तस्य च महाभद्रामातृष्वसा कमलिनी नाम महादेवी सा च निरपत्या

श्रीगर्भराजाय च सञ्जातस्तयोः प्रमोदः ततो गत्वा महानन्देन समर्पितस्ताभ्यां भगवतो निजतनयः ततः कुरुते स प्रतिदिनमागमाधिगमं पौण्डरीकः, ततोऽन्यदा चित्तरमे कानने मनोनन्दने चैत्यभवने सहस्रसुधनसमभ्यस्थिते भगवति समन्तभद्रसूरौ धर्मं व्याचक्षाणे स्थितायां महाभद्रायां निकटवर्तिनि पौण्डरीके समागतायां सुललितायां धर्मकथाऽऽक्षिप्तहृदये भव्यलोके समुल्लसितो महीयानव्यक्तकलकलः, तच्छ्रवणात्सुकर्णिता परिषत्, ततः सुललितया महाभद्रा प्रश्नुक्ता—भगवति! किमेतत्?, सा प्राह—नाहं जाने, ततो भगवता तयोः सुललितापौण्डरीकयोः प्रतिबोधार्थमुक्तं—यथा महाभद्रे! किं न जानीषे त्वं प्रसिद्धैव तावदियं मनुजगतिर्नगरी प्रख्यातोऽयं महाविदेहरूपो हट्टमार्गो यत्राधुना सर्वेऽपि वयमास्महे, ततोऽत्र संसारिजीवो नाम तस्करो गृहीतः सलोप्त्रको दुर्गन्धयादिभिर्दण्डपाशिकैः दर्शितः कर्मपरिणाममहाराजाय, ततस्तेन दृष्ट्वा कालपरिणतिं समालोच्यादापितोऽसौ वध्यतया, ततः सोऽयं संसारिजीवः तस्करो मे छिद्यते राजपुरुषैर्महाकलकलेन हट्टमार्गमध्येन नगर्या निःसार्य नीत्वा च पापिपञ्जरनामके वध्यस्थाने दुःखमारेण मारयिष्यते, तदेष तस्मिन्नीयमाने कोलाहलः श्रूयते, सुललितयोक्तं—भगवति! ननु क्षत्रपुरमिदं न मनुजगतिः चित्तरमं चेदं काननं न हट्टमार्गः श्रीगर्भश्चात्र राजा न कर्मपरिणामः तत्किमित्येवं भगवन्तो जल्पन्ति?, भगवानाह—धर्मशीलेऽगृहीतसङ्केता त्वमसि न जानीषे परमार्थं, सुललितया चिन्तितं—ही ममाप्यपरं नाम कृतं भगवता, ततः स्थिता विस्मितवदना, महाभद्रया बुद्धो भगवद्वाक्यार्थः, चिन्तितमनया—कश्चिदेष क्लिष्टभूरिपापो नरकगामी भगवता जीवो निर्दिष्टः, ततः संजाता महाभद्रायाः करुणा, अभिहितमनया—भगवन्! किमेष कथंचिन्मोचयितुं पार्यते तस्करो न वेति, भगवानाह—आर्ये! तव दर्शनेनास्मत्समीपागमनेन च भविष्यत्यस्य मोक्षः, महाभद्रयोक्तं—भदन्त! गच्छाम्यहमस्याभिमुखं, भगवतोक्तं—गच्छ, ततः करुणापरिगतहृदयाऽऽगता महाभद्रा मदभ्यर्णे, अभिहितोऽहं—

तत्प्रसादादेव मयाऽपीह समस्तं विज्ञातं चिरपरिचितः स मे भगवान्महाप्रभावश्चेत्यादि वर्णितं सदागममाहात्म्यं कथितं च तस्य तथा परितोषकारणं, सुललितयाऽभिहितं—भगवति! ममापि विधेहि तेन भगवता सह परिचयं, महाभद्राऽऽह—बाढं, ततो गताऽनया समन्तभद्रसूरिसमीपे सुललिता, तद्दर्शनाच्च सुललितायाः प्रमोदः संपन्नः कथितगुणेषु समत्ययः, अभिहितमनया—भगवति! यदि वाऽस्मिन्नेव काले भगवता मयेप न दर्शितो मे महाभागः सदागमः अहो वै स्वार्थपरता तदतः परं भगवति! दर्शनीयो मे दिने दिने भगवान् येनाहमपि भगवता सदृशी पण्डिता भवामि, महाभद्रयोक्तं—एवं करिष्ये, ततः प्रारब्धा ताभ्यां प्रतिदिनं भगवदुपासना अतिक्रान्तो मासकल्पः, ततो भगवानाह—महाभद्रे! क्षीणजङ्घाबलाऽसि त्वमधुना न शक्नोषि विहर्तुं भवत्विह त्वमत्रैव शङ्खपुरे वयं तु विहृत्यस्तावत् पुनरागमिष्यामः, गुणकलशिगुरुनीरप्रमेवेदस्माकं मासकल्पकरणे कारणं, अन्यथा हि न कल्पते साध्वीसमभ्यासितम् अत्र साधूनां कर्तुं मासकल्पः, ज्ञानप्रतिजागरणं तु युष्माभिः कार्यं, प्रतिचरणीयश्च भवत्या पौण्डरीकोऽयं राजदारकः भविष्यत्येव वर्धमानो मे शिष्यः, तथेति प्रतिपन्नं सूरिवचनं महाभद्रया विहृता भगवन्तः, गताः क्रमेण पौण्डरीकः कुमारभावं प्रादुर्भूतोऽस्य यथानिर्दिष्टो गुणकलापः जातोऽयं स्नेहभक्तिविषयस्तयो महाभद्रायां, समागता भूयो भगवन्तः समन्तभद्रसूरयः नीतस्तदभ्यर्णे महाभद्रया पौण्डरीकः, स च भाविभद्रतया तन्मूर्तिदर्शनेन रचितसत्त्वगुणकलापेन प्रीतिविस्तारपानाकर्णनेन, सुवर्णपुष्पितया च महाभद्रां प्रसाद्—भगवति! किंनामायं महाभागः?, तया चिन्तितं—तरलमनोऽयं राजपुत्रो रक्षितश्च भगवद्गुणैरिति लक्ष्यते, तदस्यापि जनयाम्येतदाकार नैव सर्वागमविषयो भक्तिमिति संचिन्त्याभिहितमनया—भद्र! सदागमोऽयमभिधीयते, पौण्डरीकेणोक्तं—भगवति! यद्यप्याततयोः प्रतिभाति तत्तोऽहमनेन भगवतः सकाशे गृहाण्यागमार्थ, महाभद्रयोक्तं—युक्तमिदं, ततो निवेदितस्तदभिप्रायो महाभद्रया कमलिन्यै

पृष्टास्तत्रात्र जानासि भवान्? इत्येतत्सर्वं निवेदयितुमर्हसि भद्र, अनुसुन्दरेणोक्तं—अस्ति तावदागतोऽहमत्यमेयकालात् समुत्पन्नोऽत्र सुकच्छविजये क्षेमपुर्यां युगन्धरनलिनीपुत्रतयाऽनुसुन्दराभिधानः, अत्रान्तरे प्रोत्साहितास्ते भवितव्यतया महामोहादयः, कथं?—त न्मया दर्शनक्रूरस्तो, मामवेपोऽनुसुन्दरः । भवद्भिः तावदेवात्र, भूय भोः स्वार्थसिद्धये ॥ ५२० ॥ इतरथा—कथमिव समासाद्य, परिपोष्य निज बलम् । भवतां मार्गवेधार्थं, बाधाकारी भविष्यति ॥ ५२१ ॥ अन्यच्च—अक्लेशेन वशं याति, साम्प्रतं भवतामयम् । सद्बोधापेक्षितो भूयो, दुर्ग्रहोऽयं भविष्यति ॥ ५२२ ॥ ततोऽधुना यथाशक्त्या, कुरुध्वं पक्षवर्तिनम् । चित्तवृत्तिमहाराज्ये, तत यूयं निराकुलाः ॥ ५२३ ॥ ततस्तथेति तैर्भद्रे', वल्गमानैर्निरङ्कुशैः । बालकालात्समारभ्य, वेष्टय परिक्षिप्तिः ॥ ५२४ ॥ अहं तु तेषां मध्यस्थो, ध्यान्ध्यान्धीभूतचेतनः । विस्मृतक्षेपसद्बन्धुः, पुनरुन्मत्ततां गतः ॥ ५२५ ॥ ततः समस्तैस्तैः पापैः, संप्रयुज्य निजं निजम् । वीर्यं कृतोऽहं भूयोऽपि, पापार्जनपरायणः ॥ ५२६ ॥ कथं?—कौमारे वर्तमानोऽहं, प्रवृत्तो मांसभक्षणे । मद्यपाने रतो द्यूते, जन्तुसङ्घातपीडने ॥ ५२७ ॥ यौवने वर्तमानेन, पारदार्यादिपद्धतिः । लोके प्रभवताऽत्यर्थं, प्रसभं विहिता मया ॥ ५२८ ॥ तथा—स्थितेन चक्रवर्तित्वे, महारम्भपरिग्रहाः । पापर्द्धयोऽन्यदोषाश्च निरपेक्षेण सेविताः ॥ ५२९ ॥ सर्वत्र मूर्च्छितो गृद्धो, विमूढो विषयेषु च । एतावन्तमहं कालं, स्थितोऽत्यन्तसुखी किल ॥५४०॥ एवं च वर्तमानेन, मया ते भावशत्रवः । विस्मृत्य पूर्ववृत्तान्तं, बन्धुबुद्ध्याऽवधारिताः ॥५४१॥ ततस्तैर्लब्धप्रसरैर्मे मलिनतरीकृता चित्तवृत्तिः निर्दयमभिभूतं चारित्रधर्मराजबलं धारितं (दूरे) निरुद्धमभ्यन्तरे तिरोहितं तत्सान्त्वादिकं सुन्दरमन्तःपुरं जनितोऽविवेकोऽहं ममानुभावात् प्रकाशितं कर्मपरिणामराज्यं प्रबलीभूतः पापोदयः स्थितासमुदायतया महामोहसैन्यं संस्थापितानि निजनगरादीनि मद्भृत्या वोढुं महापूरेण प्रवृत्तवान्वी विस्तीर्णीभूता तत्क्षितौ प्रत्यनीकवर्गविशेषमण्डपः समारिता तृष्णा-

यथा भद्रे! भगवन्त्वं सदागम शरणं प्रतिपद्यस्वेति, ततः समानीतोऽहमनया भगवत्समीपं, दृष्टोऽहमथ तस्कराकारधारकः स महापरिषदा, ममापि भगवन्मुखकमलावलोकनतोऽमाप्येयसुखरसनिर्भरतया समागता मूर्च्छा तथा चेतना प्रविष्टः शरणतया भगवान् मा भैषीरिति वचनेन समाश्वासितोऽहं भगवता दूरीभूता भगवद्भयेन किङ्करा राजपुरुषाः ततो विगतभीभूतोऽहं पृष्टस्तया व्यतिकरं कथितश्च मया यथासद्वृत्तान्तो विस्तरेण, अथ च भद्रे! भगवतः समन्तभद्रसूरेर्महाभद्रायाः पौण्डरीकस्य भवत्याश्च सम्बन्धी वृत्तान्तः प्रतीतोऽपि तव सुसंविस्तरं मया निवेदितः येन ते मदीयकथिते सुनिर्णीतमनाय कथयतीति तत्र सम्प्रत्ययो भवति, तज्जातस्तेऽधुना सम्प्रत्ययः?, सा प्राह—बाढमस्मगोचरः सेमाया, केवलं भवि त्वमनुसुन्दरनामा चक्रवर्ती ततः किमिति तस्कराकारधारको दृश्यसे?, अथ मेऽधुना सन्देहः, स प्राह—भद्रे! युवयोः प्रतिबोधनार्थं मयेदं बहिरपि तस्कररूपं विरचितं यतोऽहमन्तरङ्गं चौर्यमुद्दिश्य भवतोः पुरतो भगवता सधारिपीको नामायं तस्करः कर्मठेनेत्थं चक्षु नीपठे मम इत्याख्यातः, ततो गतायां मम सम्मुखं महाभद्रायां तद्दर्शनानुभावात्संजाते प्रबोधे मया चिन्तितं—यद्यप्येषा महाविशाला महाभद्रा मामात्मीयं भगवत्यासीद् मदीयमन्तरङ्गं चौर्यं ततो लक्षयति भावतो मम त स्करतां तथाप्यगृहीतसङ्केताऽद्यापि सा सुललिता न जानीते गन्धमप्यस्य व्यतिकरस्य, तच्चक्रवर्तिरूपधारिणं मामुपलभ्य भवेदस्याः सदागमवचने विस्मयो न जानीते किंचिदयं सदागमो यदयं चक्रवर्त्यप्यनेन तस्करोऽभिहित इति भावनया, किं च—असावपि पौण्डरी कोऽनेनैव द्वारेण प्रतिबोधितो भविष्यति, अल्पपुरुषो ह्यसौ सुमतिश्च वर्तते जिज्ञासति भावकीनवृत्तान्तभवगोचरकालमयं सर्वस्य परि स्फुटमेवंरूपं भविष्यतस्य प्रबोध इत्येवं विचिन्त्य विरचितमिदमन्तरङ्गासरूपसूचकं वैक्रियकरणलब्ध्या मया बहिरपि सर्वमेतदपि रूप मिति, सुललितयोक्तं—कीदृशं पुनस्तदन्तरङ्गं चौर्यं यद्भवता विहितं कथं वा तदेतादृशी विडम्बना कृता माऽभगवं परागत च निःशेष

पात् । आलोक्य काननं दिव्यं, सस्मितस्फारितदृशया ॥ ५४६ ॥ राजपुत्राश्च मे यावन्निनीवाच्चादुकारिणः । वदन्तो देव देवेति, दर्शयन्ति
वनाभियम् ॥ ५४७ ॥ तावदेषा महाभागा, सुसाध्वीपरिवारिता । आगच्छन्ती महाभद्रे !, महाभद्रा विलोकिता ॥ ५४८ ॥ चतुर्भिः
कलापकम् । अथ निःशेषरूपेभ्यो व्यावृत्ता कीलितेव मे । अस्यां निपतिता दृष्टिः, समाधाऽत्यन्तनिश्चला ॥ ५४९ ॥ एषापि मां प्रप
श्यन्ती, सपत्ना स्नेहपरवशा । निःस्पृहापि महाभागा, पूर्वाभ्यासेन सुन्दरि ! ॥ ५५० ॥ अथ प्राप्ता ममाभ्यर्णे, चिन्तयन्ती गुरोर्वचः ।
अथ नरकगामीति, करुणाऽऽगतचेतना ॥ ५५१ ॥ ततः कन्दमुनिकाले गुणधारणेन सता मया चिरमेवष्ठोत्तरसाम्यस्थतया बहुमान
स्यानुशीलिततया विनयस्य प्रतिपन्नतया हृदयस्य भावितया गौरवस्यानुष्ठिततया वत्सलभावस्य प्रादुर्भूतमेवासि मे विमर्शः यदुत—
कैषा पुनर्भगवती या दृष्टमात्रापि मे हृदयमेवमाह्लादयति नयने शीतलयति शरीरं निर्वापयति अमृतकुण्ड इव मां सिञ्चतीति, ततः कृतो
मया भगवत्याः शिरःप्रणामः दत्तोऽनया धर्मलाभाशीर्वादः, अभिहितं च—भो भो महाराज—मोक्षसम्प्रापके प्राप्ते, मानुष्ये ते नरो
त्तम ! । उन्मार्गगमनाभैर्व, गन्तुमत्यन्त युज्यते ॥ ५५२ ॥ निजकर्मोपराधेन, सत्कार्यकारधारिणः । चम्यस्य नीयमानस्य, कृत्वा भावयि
तव्यनाम् ॥ ५५३ ॥ किं राज्यं सुविज्ञाताः के, के भोगाः का विभूतयः । किं वा स्वास्थ्यं ? महाराज !, चिन्त्यतेदं स्वचेतसा ॥ ५५४ ॥
युगमम् । किं च—मद्दर्शनाच्चतत्र समुत्पन्नविमर्शायाः सञ्जातमस्या भगवत्या महाभद्राया जातिस्मरणं स्मृतस्तेन कन्दमुनिकालादारभ्य
समस्तो वृत्तान्तः प्रादुर्भूतं तदनुसारेण शुभाध्यवसायादवधिज्ञानं दृष्टं तेन मदीयमपि विचरणं, ततोऽभिहितमनया—किं न स्मरसि रा
जेन्द्र !, यत्तदा गुणधारण । भवतुरामलीलाभिर्लालितस्त्वं ममामतः ॥ ५५५ ॥ क्षान्त्याधन्तःपुरं प्राप्य, सुखसम्भारपूरितः । स्थितो
यन्मयारम्भे त्वं, तत्किं ते विस्मृतं किल ? ॥ ५५६ ॥ किं न निर्मलसूरीणां, वचनानि स्मरन्ति ते । भवप्रपञ्चो यैस्तुभ्यमनन्तोऽपि

वेसिका संस्कृत विपर्यासविष्टरं परिपोषिता महामोहेन निजाऽविद्यागात्रयष्टिः सर्वथा पुनर्नवीभूता समस्ता सामग्री, ततः प्रभूताऽमर्षापूर्णः पर्यालोचः—अभिहित विषयाभिलाषेण—भो भो सर्वे महीपालाः!, सचिन्तयत भद्रकाः । दृष्टश्चायं पुरा भूप, किं वा वः परिकथ्यते ? ॥ ५४२ ॥ मन्त्रान्तरेण निर्नाशं, तातस्य नीतस्य पूर्वकम् । मन्त्रान्तरो न मुक्तो नः, साम्प्रतं कतमत्र भोः! ॥ ५४३ ॥ तथा यतध्वम धुना, भूयं निष्कण्टकं हि नः । यथा संपद्यते राज्यमाकाक्ष सुप्रतिष्ठितम् ॥ ५४४ ॥ ततः प्रतिभात तद्वचो मदिरयन, अभिहितमतैः—किं पुनरत्र क्रियत इति ?, मदिमोक्तं—इदमिद न कुरुतेति, सद्धर्मपदेशेन मोत्साहितोऽहं मादितम्म स्वयमेव तैः क्षेत्रस्थितं कर्म परिणामसत्कं वर्गमाविरचितं प्रभूतमकुशलनामकं द्रव्यजातं, मातापित्रा च वैरेव ज्ञापितश्चौरतयाऽहं कर्मपरिणामराजस्य, ततस्तेनादिष्टं—यथा विडम्बनापुरःसरं पापिपञ्जरे नीत्वेमं दुःखमारेण मारयत, तथाकर्ण्य हृष्टास्ते दुरात्मानः, ततो पिन्तितोऽहं कर्ममलभस्मना चर्चितो राजसैर्गैरिकहस्तकैः कचित्तामसैस्तृणमषीपुण्ड्रकैर्विनाटितः प्रबलरागकल्लोलपरंपरानामिकया लम्बमानया कणवीरमुण्डमालया विडम्बितो हृदये घूर्णमानया कुविकल्पसन्ततिरूपया शरावमालया भ्रियमाणेनोपरि पापातिरेकनामकेन जरत्पिटकखण्डेन पश्चोऽकुशलनामकोलसरूपकेन आरोपितो महत्यसदाचाराभिधाने रासभे वेष्टितः कृतान्तसमभैर्दुष्टाशयादिभि समन्तात्प्रमुखपैर्निन्द्यमानो विवेकिलोकेन समुत्सता कषायाभिधानडिम्भककलेन भूयमाणेन शब्दादिसम्भोगनामकेन विरसविषमडिण्डिमध्वनिना विजृम्भमाणेन बहिरङ्गलोकसमुदयविलसरूपेण दुर्दान्तजनाट्टहासेन निःसारितोऽहमेवं धर्मभूमेरभिमुखं तैर्महामोहादिभिर्मदाविरेदरूपदक्षमार्गे निज देशदर्शनलीलयाऽयासेनेति, ततश्चैरानीतोऽहमत्र प्रवेश इतो युष्माभिर्मदीयपदकलकलः गता मम सम्मुखं सपा महाभद्रा, इत्थाद् सदा—निःशेष दुःखस्वरूपा, ससैन्य राजलीलया । समागमेषदुपान, राजवदभवेष्टितः ॥ ५४५ ॥ रक्ताशोकतले यावदुचीय परकार

पात् । आलोक्य कानन दिव्यं, सश्रितस्वादिदम्भया ॥ ५४६ ॥ रामपुत्राश्च मे यावद्विनीतामादुकारिणः । वदन्तो देव देवेति, दर्शयन्ति
वनभियम् ॥ ५४७ ॥ तावदेषा महाभागा, सुसाध्वीपरिवारिता । आगच्छन्ती महाभद्रे', महाभद्रा विलोकिता ॥ ५४८ ॥ चक्षुर्भिः
कलापकम् । अथ निःशेषरूपेभ्यो, व्यावृत्ता कीलितेव मे । अस्यां निपतिता दृष्टिः, स्वभावादत्यन्तनिर्मला ॥ ५४९ ॥ एषापि मां मप-
श्यन्ती, सपद्मा स्नेहनिर्भरा । निःस्पृहापि महाभागा, पूर्वाभ्यासेन सुन्दरि ! ॥ ५५० ॥ अथ प्राप्ता ममाभ्यर्णे, चिन्तयन्ती गुरोर्वचः ।
मयं नरकगामीति, करुणाऽऽगतचेतना ॥ ५५१ ॥ ततः कन्दमुनिकाले गुणधारणेन सदा मया निरन्तरमेवाभोगरस्याभ्यस्ततया बहुमान
स्यानुशीलिततया विनयस्य प्रतिपन्नतया हृदयस्य भावितवया गौरवस्यानुष्ठिततया वत्सलभावस्य प्रादुर्भूतस्तावदस्ति मे विमर्शः यदुत—
केया पुनर्भगवती या दृष्टमात्रापि मे हृदयमेवमाह्लादयति नयने शीतलयति शरीरं निर्वापयति अमृतकुम्भ इव मां सिञ्चतीति, ततः कृतो
मया भगवत्याः शिरःप्रणामः दत्तोऽनया धर्मलाभाशीर्वादः, अभिहितं च—भो भो महाराज—मोक्षसम्प्रापके प्राप्ते, मानुष्ये हे नरो
त्तम ! । उन्मार्गगमनाद्वैव, गन्तुमन्यत्र युज्यते ॥ ५५२ ॥ निजकर्मोपरोधेन, तस्कराकारधारिणः । वध्यस्य नीयमानस्य, कृत्वा माधवि
स्मर्यताम् ॥ ५५३ ॥ किं राज्यं सुविलासाः के, के भोगाः का विभूतयः । किं वा स्वास्थ्यं ? महाराज', चिन्तयेदं सचेतसा ॥ ५५४ ॥
युग्मम् । किं च—मद्दर्शनात्तदा समुत्पन्नविमर्शायाः संजातमस्या भगवत्या महाभद्राया जातिस्मरणं स्मृतस्तेन कन्दमुनिकालादारभ्य
समस्तो वृत्तान्तः प्रादुर्भूतं तदनुसारेण शुभाध्यवसायादवधिज्ञानं दृष्टं तेन मदीयमपि विचरणं, ततोऽभिहितमनया—किं न स्मरसि रा-
जेन्द्र !, यत्तदा गुणधारणः । भवानुद्दामलीलाभिर्ललितस्त्वं ममाश्रयः ॥ ५५५ ॥ कान्त्यायन्तःपुरं प्राप्य, सुखसम्भारपूरितः । स्थितो
पद्मावराज्ये त्वं, तत्किं ते विस्मृतं किल ? ॥ ५५६ ॥ किं न निर्मलसूरीणां, वचनानि स्मरन्ति ते । भवप्रपञ्चो यैस्तुभ्यमनन्तोऽपि

निवेदितः ॥ ५५७ ॥ यत्तत्सदागमस्वामि, त्वया मे वेयकारिपु । सुखानि शरणं तेऽसौ, केवलं हि सदागमः ॥ ५५८ ॥ तद्युष्मत्स महा-
राज[1], तूर्णं मा मुञ्च साम्प्रतम् । मह्यं हि ते समायाता, मोचार्थं करुणापरा ॥ ५५९ ॥ अत्रान्तरे च विज्ञाय, प्रस्ताव मम सम्मुखम् ।
पुनः प्रवृत्तः सद्बोधः, सम्यग्दर्शनसंयुतः ॥ ५६० ॥ स चान्तरारिवर्गेण, बद्धस्तेन दुरात्मना । न शक्नोति ममाभ्यर्णमागन्तुं समसा
पथि ॥ ५६१ ॥ ततो भगवतीवाक्यं, सूर्यांशुनिकरैरिव । सूर्यकान्तसमं दीप्तं, जीववीर्यं वराननम् ॥ ५६२ ॥ ततस्तस्य प्रकाशेन,
तत्तमः प्रकम्प गतम् । सममायोधनं रम्यं, चित्तवृत्तौ च सैन्ययोः ॥ ५६३ ॥ ततो बलेन निर्भिद्य, रिपुबलं विपक्षकम् । समागतौ च
मे पार्श्वे, तौ सद्बोधमहत्तमौ ॥ ५६४ ॥ ततः प्रवृत्तो मे विमर्शः यदुत—क्वचिदेषा भगवती मत्सर्वार्थिनी, तदसौ तदपोहमार्गणपरायणमतया श्रुत्वा
मे समुत्पन्नं जातिस्मरणं, स्मृता पूर्वपारम्पर्यावस्था, तदवनुसारेण वर्धमानशुभाध्यवसायस्य मे समागतः सद्बोधवयस्यो विनिर्जितात्मप्र-
तिपक्षमवधिः, तद्बलेन दृष्टा मयाऽसङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः विलोकितोऽसङ्ख्येय एव भवप्रपञ्चः प्रादुर्भूत सिंहाचार्यकालाभ्यस्त पूर्वपर्यन्त
सदाशिक्षायैः समस्त श्रुत आकलितः परिस्फुट इव निर्मलसूरिनिवेदितः समस्तोऽप्यात्मसंसारविस्तारः तदायत् पुनरसाङ्क्लेशसया दृष्टः सा-
क्षादेव निजः परिभ्रमणवृत्तान्तः, ततः पूर्वोक्तेन कारणेन विरचय्येत तस्करूपतया मद्विरपि विडम्ब्यमानभासमान समागतोऽहमिह सम
महामद्या, तथाऽप्यतीव एव ते मदीयव्यतिकरः, ततो भद्रे! मुक्तिवे भवनम वरीयमिति प्रसर्पितश्चेदमुना भतम्यमुपेयमद्दपरयाथा
वराकीति सभावककथातिरेकेण सर्वागमगोचरबहुमानेन क्लिष्टकर्मविलयतो भवसत्पाक्षपरिणत्याः प्रविशोष इति भगवतोऽस्य सदागमस्य
पारमसारावार्थं भवेदमवधारितमिति सदागमे बहुमानमुत्पादयता सक्षेपेणाप्यनन्तया पञ्चासकथनीयो भगवन्माहात्म्यादेव महत्त्रये
मेव निवेदितोऽयमगृहीतसङ्केते इत्युपमता मया प्रसूतकपरार्थे भवत्यै स्वयमपि संवेगापन्नेन समस्तोऽप्यात्मभवभ्रमणप्रपञ्चः, यदीदृश भद्र!

तदन्तरङ्गं चौर्यं यन्मयाऽधुना विहितं ईदृशी च तत्र विडम्बना एवं चाह स्वगतं परगतं च वृत्तान्तमात्मानामीति, एतदाकर्ण्य वि
स्मिता सुललिता भाविता हृदये, पौण्डरीकेणापि गृहीतो मनाग्भावार्थः, ततोऽभिहितमनेन—आर्य! किं पुनरधुना ते चित्तवृत्तो वर्तते ?,
अनुसुन्दरेणोक्तं—आकर्णय—यावत्संवेगमापन्नः, प्रारब्धो निजचेष्टितम् । निवेदयितुमित्थं भोः, पुरतो भवतामहम् ॥ ५६५ ॥ तावच्चा
रित्रधर्मोऽसौ, स्वसैन्यपरिवारितः । प्रस्ताव इति विज्ञाय, चलितो मम सम्मुखम् ॥ ५६६ ॥ तेन चागच्छता—मानम्बित स्ववीर्येण,
पुरं सात्त्विकमानसम् । अत्यन्तशुभ्रतां नीतो, विवेकवरपर्वतः ॥ ५६७ ॥ शिखरं चाप्रमत्तत्वं, कृतमुच्चैस्तरं वरम् । उद्भासितं च भूयो
ऽपि, पुरं जैनं प्रतिष्ठितम् ॥ ५६८ ॥ स च चित्तसमाधानो, मण्डपोऽपि समारितः । सा च निःस्पृहतावेदिः, पुनः सम्यक् विनिर्मिता
॥ ५६९ ॥ तथोत्सर्गप्रभाभासि, जीववीर्यं वरासनम् । कृतं तेन स्वसैन्यं च, सर्वथा परितोषितम् ॥ ५७० ॥ ततश्चागच्छतस्तस्य, परि
पूर्णतयाऽध्वनि । सर्वमाणेन ततत्र, महामोहमहाबलम् ॥ ५७१ ॥ दृष्टं प्रत्यक्षतः सर्वं, तच्च युद्धं मयाऽद्भुतम् । ततः परिसरे रम्ये, चि
त्तवृत्तेरनीकयोः ॥ ५७२ ॥ ततः सद्बोधमुख्येन, सम्यग्दर्शनमुख्यया । मयाऽवष्टम्भितो भ्रात , स राजा जयभाजनम् ॥ ५७३ ॥ ततो
विघटिताशेषपरपक्षः स्वलीलया । महात्मजयपताकीकः, प्रभुराज्यं निपीड्य च ॥ ५७४ ॥ गृहीत्वाऽन्तःपुरं सर्वं, मामकीनं चिरन्तनम् ।
राजा चारित्रधर्मोऽसौ, मत्समीपमुपागतः ॥ ५७५ ॥ युग्मम् । ते च निर्नष्टसर्वस्वाः, किंचिच्छेषस्वजीविताः । दीनाः क्षीणा इव क्लीना,
महामोहादयः स्थिताः ॥५७६॥ चित्तवृत्ताविह भद्र!, वर्तते मम साम्प्रतम् । पञ्चत्रयः प्रलीनास्ते, प्राप्ता वरबान्धवाः ॥५७७॥ युग्मम् ।
अन्यच्च—अपथ्य त्रिजगन्मन्य, लिङ्ग सर्वप्रभाषितम् । अधुना पोषणीयोऽसौ, य पुण्यवर्गो मयाऽऽन्तरः ॥ ५७८ ॥ एवं च वदता तेनानु
सुन्दरराजेनोपसंहृत्य तदिङ्गितं तस्कररूपमाविर्भावितं स्वाभाविकं चक्रवर्तिस्वरूपं कृतसंहृतस्य निःशेषा तस्करविडम्बनासामग्री समायाता

निवेशितः ॥ ५५७ ॥ यत्नसारमपास्यामि, त्वया नैवेयकादिषु । सुखानि प्राप्य तेऽसौ, केवलं हि सदागमः ॥ ५५८ ॥ तदुत्पन्नस्य महा-
राज!, पूर्वं मा मुञ्च साम्प्रतम् । यतः हि ते समायाता, बोधार्थं करुणापरा ॥ ५५९ ॥ अत्रान्तरे च विज्ञाय, प्रस्ताव मम सम्मुखम् ।
पुनः महाः सद्बोधः, सम्यग्दर्शनसंयुतः ॥ ५६० ॥ स चान्तरारिवर्गोऽपि, रूढस्तेन सुदात्मना । न शक्नोति ममाभ्यर्णमागन्तुं तमसा
पथि ॥ ५६१ ॥ ततो भगवतीवाक्यं, सूर्यांशुनिकरेरितम् । सूर्यकान्तसमं दीप्तं, जीववीर्यं वरासनम् ॥ १६२ ॥ ततस्तस्य प्रकाशेन,
ततमः भग्नं गतम् । प्रमत्ताद्योत्तमं रम्यं, चित्तवृत्तौ च तेऽम्भसोः ॥ ५६३ ॥ ततो चलेन निर्भिद्य, रिपुवर्गं विजृम्भकम् । समागतौ च
मे पार्श्वं, तौ सद्बोधमहत्तमौ ॥ ५६४ ॥ ततः महात्तो मे निमर्शः प्रवृत्त—किमपा भगवती अस्पर्शादि, ततस्तोहापोहमार्गणगवेषणं कुर्वता
मे समुत्पन्नं जातिस्मरणं, स्मृता गुणधारणावस्था, ततस्तदनुसारेण वर्धमानशुभाध्यवसायस्य मे समागतः सद्बोधपरमो विनिर्मितास्मम
सिपञ्चमवधिः, तद्बलेन दृष्टा मयाऽसङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः विलोकितोऽसङ्ख्येय एव भवप्रपञ्चः प्रादुर्भूत सिद्धाचार्यकालादस्य पूर्वपर्यन्त
सदाशिवे समस्तं इव माकलितः परिस्फुट इव निर्मलबुद्धिनिवेशितः समस्तोऽप्यासंसारविस्तारः तदा च पुनरसङ्ख्येयतया दृष्टः सा-
क्षात् निजः परिभ्रमवृत्तान्तः, ततः पूर्वोक्तेन कारणेन विरचयन्नस्य तस्कररूपतया बहिरपि विडम्ब्यमानमात्मानं समागतोऽहमिह सम
महामद्रया, तदात्प्रभृतीव एव ते मदीयाभ्यधिकरा, ततो भद्रे! मुक्तिके भवनम् अपरीयमिति प्रसर्पितदेहवस्तुना अत्यन्तमुपेयमपरपरमार्थो
ययकीर्ति सदाक्सन्ताविरेचेम सर्वज्ञागमगोचरतानुमानेन क्लिष्टकर्मविलयतो भवत्वसावस्तयस्विन्याः प्रतिबोध इति भगवतोऽस्य सदागमस्य
पादमसादादसिद्ध भवेदमवमारितमिति सदागमे बहुमानमुत्पादयता संक्षेपेणाप्यनन्ततया षण्मासकथनीयो भगवन्माहात्म्यावेद महदत्रये
वैव निवेशितोऽप्रगृहीतसङ्केते इत्युपम्यया मया कुतूहलपराये भवत्यै स्वयमपि स्वेगाचमेन समस्तोऽप्यात्मभवप्रपञ्चः, तदीदृशं भद्रे!

यदह प्रविलम्बितः ॥ ५९३ ॥ तदप्याकर्ण्य हे मुग्धे!, मयि मो भ्रामित मनः । कालकूट यतो मन्ये, हन्त तद्वचनिर्मितम् ॥ ५९४ ॥
पुग्मम् । तथा—अनर्थसार्थहेतू तौ, महामोहपरिग्रही । मया निवेदितौ तुभ्यं, सर्वदोषसमाश्रयौ ॥ ५९५ ॥ यत्तदेव न बुध्यसि,
सिता त्व विक्षिप्तेक्षणा । तेनागृहीतसङ्केता, मया प्रोक्ता पुनः पुनः ॥ ५९६ ॥ युग्मम् । किं च—बाले बद्धे तथा मन्ये, अभसे बालि
तेऽपि च । यः मोक्ष स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां सुदारुणः ॥ ५९७ ॥ विपाकः सोऽपि चैवात्र, समस्ता नावधारितः । मवैधिका यतो
मन्ये, काष्ठमूताऽसि सुन्दरि! ॥ ५९८ ॥ युग्मम् । तथा—तत्समनीषिणो भूप, यच्च वैचक्षण्यं तथा । या चेष्टा सुधर्मोवैर्यबोधमयि
चेष्टितम् ॥ ५९९ ॥ यच्च कोविदविज्ञानमिन्द्रियाणां निवर्हणे । तदाकर्ण्य को नाम, संसारान्न विरज्यते? ॥ ६०० ॥ युग्मम् । अ
न्यच्च—अतिमन्भूपमं यत्ते, मया मुग्धे! निवेदितम् । चित्तवृत्तिस्थितं साक्षात्स्वरूपं मकरध्वजम् ॥ ६०१ ॥ तथाप्याकर्ण्य वृत्तान्तं, यदि न
प्रतिबुध्यसे । तत्र बोधे विधातव्ये, नास्त्युपायस्ततोऽपरः ॥ ६०२ ॥ तथा—तदाकर्ण्य तादृशं, वृत्तं कानककेसरम् । तच्च तादृशमा-
लोक्य, सौवर्णं नारनाहनम् ॥६०३॥ विमर्शं मकरध्वजम्, विमलस्य च चेष्टितम् । त्याग हरिनरेन्द्रस्य, संक्लिष्टं कृतविस्मयम् ॥६०४॥
विवेकप्रकल्पतम, समाकर्ण्य च तादृशम् । मुनीनां भूरिरूप च, श्रुत्वा वैराग्यकारणम् ॥ ६०५ ॥ तथापि यदि ते चित्तं, बालिके! न
विरक्तिवम् । हन्त कौतुकमात्मा, ततस्त्वं नात्र संशयः ॥ ६०६ ॥ चतुर्भिः कलापकम् । ततोऽगृहीतसङ्केतेत्युच्यमाना मुहुर्मुहुः । मा
प्राज्ञ्येन वा मुग्धे!, न रोष गन्तुमर्हसि ॥ ६०७ ॥ तथा—किं न स्मरसि तन्वङ्गि!, यत्त्वं मदनमञ्जरी । सती सती समानीता, तथा
पुष्पोद्यानभिमिः ॥ ६०८ ॥ तस्मुख तादृशः लोकस्ते विलासा मनोहराः । तत्राप्यं ते च वृत्तान्ताः, सर्वं किं विस्मृतं तव! ॥ ६०९ ॥
कम्यसाधु समासाद्य, प्रबुद्धा जिनशासने । सम कुर्म्परेभ्योवैर्यन्तदा तम बुध्यसे ॥ ६१० ॥ प्रमास्वमतिर्मलाचार्यः, केवलालोकभास्कराः ।

मत्रिमहत्तमसामन्ता मिवेशितस्तेभ्यो मिजोऽभिप्रायः प्राप्तकाम्यया च प्रतिभावोऽभीप्सो, यतः पुरन्दराय निजसुताय समर्पिताम्यनुसुन्दरेण राज्यविहाणि सर्वं भवतां चानेति ज्ञापिता राजसमूहाः सविनय प्रतिपन्नमेवैः निर्वर्तित भगवदभिषेकपूजादिक नि शेषकरणीयं निर्गतः सपौरान्तःपुरः श्रीसमंतभद्राः कृताऽनेन सर्वेषामुचिता प्रतिपत्तिः पुनर्मीलिता परिषत् प्रवृत्तो महानन्दः,—यतः सर्वेण तादृशं, दृष्टाऽस्य सुस्मुत्तमम् । श्रुत्वा सुलक्ष्मिवाऽस्मर्त्तं, जाता चित्ते चमत्कृता ॥ ५७९ ॥ संजाता पौण्डरीकोऽपि, सतोषो विस्मितेक्षणः । दृष्टा यथा-र्थं साधामनुसुन्दरचेष्टितम् ॥ ५८० ॥ अथ विज्ञापनापूर्वमनुसुन्दरमनुजा । वस्त्राद्दिवे यदा सूरौ, प्रणम्यां तामुपस्तवे ॥ ५८१ ॥ सोऽनुसुन्दरराजेन्द्रः, कल्याणमवेदनः । तां राजपुत्री भूयोऽपि, प्रत्युवाच ससंभ्रमम् ॥५८२॥ कथम् ?—भद्र सुलक्षिते ! बोधकारणापि न मानसे । संजातो यदि से सुगे !, येनैवं त्वमिवेक्षणा ॥ ५८३ ॥ बोधायमावचिता त्वमीपद्मभावर्णबोधिता । संजाता सामन्त किं सु, वेत्सि मो वस्तनिर्णयम् ? ॥ ५८४ ॥ त्वद्रोषार्थं मया प्रोक्त, गाढनिर्वेदकारकः । भवप्रपञ्चो निःशेषः, सकीयः परिकीर्तितः ॥ ५८५ ॥ वरमेन भूतेनेत्थं, किं ते मावापि जायते ? । अनन्तदुःखविस्तारे, निर्वेदो भवचारके ॥ ५८६ ॥ किं च—यते पुरोपमामेन, कर्णाक्षण विजम्भसम् । मयाऽसंभ्यवहारेषु, यीवेषु प्रतिपादितम् ॥५८७॥ तत्किं मो क्षपितं सुगे', किं वा मो भावित हरि ? । भवता येन निर्भया, संसारे कृपे रतिम् ॥५८८॥ सुस्मम् । एकेन्द्रियादिभेदेषु, यत्र चिरेषु चित्तता । अनुभूतं मया दुःखं, स्फुटं च तत्र कीर्तितम् ॥५८९॥ न श्रुतवत्स सावर्त्यो, किं त्वयाऽप्यापि मायसे ? । यत्र निरन्तरं सुगे !, येनापापि विलम्बसे ॥ ५९० ॥ युगमम् । मोक्षलाभनयो-म्येऽपि, कल्पे मानुष्यकेऽतुले । हिंसाकोपादुरे घोर्च, भासोऽहं दुःखभाजिकाम् ॥ ५९१ ॥ तत्किं विभाविता भद्रे !, सचापापा हरि त्वया ? । किं वा कामिकामां, भवता मरिचिन्मितम् ॥५९२॥ युगमम् । यथा भावयपापादस्तेनकालापरायमः । लोभमैथुनरोधान्यो,

मयाहं प्रविडम्बितः ॥ ५९३ ॥ यदप्याकर्ण्य ते मुग्धे!, यदि नो द्रावितं मनः । काष्ठवत्तं ततो मन्ये, हन्त वज्रनिर्मितम् ॥ ५९४ ॥
युग्मम् । तथा—अनर्थसार्थहेतू यौ, महामोहपरिग्रहौ । मया निवेदितौ मुग्धा, सर्वदोषसमाश्रयौ ॥ ५९५ ॥ यच्चरैव न बुद्धाऽसि,
स्थिता त्वं विस्मितेक्षणा । येनागृहीतसङ्केता, मया प्रोक्ता पुनः पुनः ॥ ५९६ ॥ युग्मम् । किं च—बाले सखे तथा मन्ये, अधमे बालि-
शेऽपि च । यः प्रोक्तः स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां सुदारुणः ॥ ५९७ ॥ विपाकः सोऽपि चेदत्र, भवत्या नावधारितः । अचेतिका ततो
मन्ये, काष्ठभूताऽसि सुन्दरि! ॥ ५९८ ॥ युग्मम् । यथा—यत्तन्मनीषिणो वृत्तं, यच्च वैचक्षणं वचः । या देशना बुधस्योच्चैर्यच्चोत्तमवि
चेष्टितम् ॥ ५९९ ॥ यच्च कोविदविज्ञानमिन्द्रियाणां निवर्हणे । तदाकर्ण्य को नाम, संसाराच्च विरज्यते? ॥ ६०० ॥ युग्मम् । अ
न्यच्च—अरिदमनभूपस्य, मया मुग्धे! निवेदितम् । विचक्षणसूरिणा साक्षादन्तरङ्गकथानकम् ॥ ६०१ ॥ तदप्याकर्ण्य वृत्तान्तं, यदि न
प्रतिबुध्यसे । तत्र बोधे विधातव्ये, नास्त्युपायस्ततोऽपरः ॥ ६०२ ॥ तथा—तदाकर्ण्य तारक्षं, वृत्तं कनकशेखरम् । यच्च तारक्षमा-
ख्येयं, सौधर्म्ये नारवाहनम् ॥ ६०३ ॥ विमर्शं मत्स्यहीनस्य, विमलस्य च चेष्टितम् । त्यागं हरिनरेन्द्रस्य, संचिन्त्य कृतविस्मयम् ॥ ६०४ ॥
विवेकमकलङ्कस्य, समाकर्ण्य च तारक्षम् । मुनीनां भूरिरूपं च, श्रुत्वा वैराग्यकारणम् ॥ ६०५ ॥ तथापि यदि ते चित्तं, बालिके! न
विरञ्जितम् । हन्त कङ्कटुकप्राया, ततस्त्वं नात्र संशयः ॥ ६०६ ॥ चतुर्भिः कलापकम् । ततोऽगृहीतसङ्केतेत्युच्यमाना मुहुर्मुहुः । भाट
प्राऽन्येन वा मुग्धे!, न रोषं गन्तुमर्हसि ॥ ६०७ ॥ तथा—किं न स्मरसि यद्बाले!, यत्त्वं मदनमञ्जरी । सती सती समामीता, यथा
पुण्योदयादिभिः ॥ ६०८ ॥ वसुधां तादृशः कोऽस्ते विलासो मनोहरः । तत्राम्य ते च वृत्तान्ताः, सर्वं किं विस्मृतं तव! ॥ ६०९ ॥
कन्दसाधुं समासाद्य, प्रबुद्धा जिनशासने । समं कुलंधरेणोच्चैस्तदा तव मुग्धसे ॥ ६१० ॥ यमात्माभिर्महाचार्यैः, केवलालोकभास्करः ।

मखिमहत्वमसामन्वाः निवेमिवस्वेभ्यो निजोऽभिमायः मासकाव्यया च मतिमावोऽमीषां, ततः पुरन्दराय निजसुताय समर्पितास्यसुमुन्दरेण
राज्यभिमानि मम भवतां राजेति ज्ञापिता राजसमूहाः सविनय मतिपन्नमेवैः निर्वर्तित भगवदभिषेकपूजादिकं नि शेषकरणीयं निर्गताः
समीपस्थापुरः श्रीगर्भराजः कृताऽनेन सर्वेषामुचिता प्रतिपत्तिः पुनर्मीलिता परिषत् मगधो महामन्त्रः,—ततः क्षणेन तादृश, 'दृष्ट्वाऽस्य
सुरसुन्दरम् । सुग्धा मुकुलिताऽमन्दं, जाता चित्ते चमत्कृता ॥ ५७९ ॥ संजातः पौण्डरीकोऽपि, सतोषो विस्मितेक्षणः । दृष्टा तथा-
ऽस्य छायायुगसुन्दरभेक्षितम् ॥ ५८० ॥ अथ विज्ञापनपूर्वमग्रसुन्दरमुद्रा । वत्साहिते तदा सूते, प्रथम्यां ताहुसुपते ॥ ५८१ ॥
सोऽग्रसुन्दरपमेन्द्रः, कृतप्रागल्भ्यचेतनः । तां राजपुत्रीं भूयोऽपि, प्रसुवाच ससंभ्रमम् ॥५८२॥ कथम् ?—भद्र मुकुलिते ! कोपस्त्वायापि
त मानसे । संजातो वर्तसे मुग्धे !, येनैव चकितेक्षणा ॥ ५८३ ॥ दोलायमानचित्त समीपकार्यकोविदा ५ संजाता सम्प्रत किं मु,
वेत्सि नो वस्त्रनिर्णयम् ? ॥ ५८४ ॥ अप्रोपायं मया देवं, गाढनिर्वेदकारकः । भवप्रपञ्चो निःशोषः, स्वकीयः परिकीर्तितः ॥ ५८५ ॥
ममैतेन श्रुतेनेत्थ, किं ते नाद्यापि जायते ? । अनन्तदुःखविस्तारे, निर्वेदो भवचारके ॥ ५८६ ॥ किं च—मते पुरोपमात्रेण, कर्जीवक
विडम्बनम् । मयाऽसंख्यवारेषु, धीरेषु प्रतिपादितम् ॥५८७॥ तत्किं नो रुचितं मुग्धे !, किं वा नो भावितं हृदि ? । भवता चेव निर्मलमा,
संसारे कृपे रतिम् ॥५८८॥ युग्मम् । एकेन्द्रियादिभेदेषु, पञ्च सर्वेषु तिष्ठता । अनुभूत मया दुःखं, स्फुटं च तव कीर्तितम् ॥५८९॥
न भवत्यस सावात्यो, किं त्वयाऽद्यापि मानसे ? । एवं विरक्तास्य मुग्धे !, येनाद्यापि विलम्बसे ॥ ५९० ॥ युग्मम् । मोक्षकाननतो-
ऽप्यसि, कम्पे मानुष्यकेऽस्तु । विंशाकोपदुरो वांच, मासोऽयं दुःखमालिकाम् ॥ ५९१ ॥ वा किं विमाविता भद्रे !, समस्तापा
इति त्वया ? । किं वा कथामिकल्पार्य, मयका मरिचिन्तितम् ॥५९२॥ युग्मम् । यथा मानवपयादसौख्यमायापरायणः । कोभमेदुपरोत्सन्नो,

यदहं प्रविडम्बितः ॥ ५९३ ॥ अद्याप्याकर्ण्य ते मुग्धे!, यदि नो द्रवितं मनः । काष्ठवद् यदि मन्ये, हन्त वज्रविनिर्मितम् ॥ ५९४ ॥
युग्मम् । तथा—मलयसार्थस्य तौ, महामोहपरिग्रही । मया निवेदितौ मुग्धे, सर्वेषोपसमागमौ ॥ ५९५ ॥ तत्त्वेन न बुद्धाऽसि,
स्निग्धा त्वं विस्मितेक्षणा । तेनागृहीतसङ्केता, यथा मोक्ष पुनः पुनः ॥ ५९६ ॥ युग्मम् । किं च—बाले जडे तथा मन्ये, अधमे बालि-
शोऽपि च । यः मोक्षः स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां सुदारुणः ॥ ५९७ ॥ विपाकः सोऽपि चैतत्र, मयका नाममात्रितः । अवैधिका ततो
मन्ये, काष्ठभूताऽसि सुन्दरि! ॥ ५९८ ॥ युग्मम् । तथा—यच्चाममीयितो भूप, यच्च वैषम्यं वचः । या देशना मुनेस्तोवैर्यश्चोपमति-
चेष्टितम् ॥ ५९९ ॥ यच्च कोविदविज्ञानमिन्द्रियाणां विवर्धने । तदाकर्ण्य को नाम, संसाराद्म विरज्यते? ॥ ६०० ॥ युग्मम् । अ-
न्यच्च—अरिदमनभूपस्य, यथा मुग्धे! निवेदितम् । चित्तवृत्तिमिदं साक्षादन्तरङ्गपरूपणम् ॥ ६०१ ॥ तथाप्याकर्ण्य वृत्तान्तं, यदि न
प्रतिबुध्यसे । तव बोधे विधातव्ये, नास्त्युपायस्ततोऽपरः ॥ ६०२ ॥ तथा—तदाकर्ण्य नाटकं, भूप कानककेसरम् । तच्च नाटकसमा-
लोक्य, दौर्मनस्यं नारकादृतम् ॥ ६०३ ॥ विमल मज्जीनस्य, विमलस्य च चेष्टितम् । त्याग हरिनरेन्द्रस्य, संचिन्त्य कृतविस्मयम् ॥ ६०४ ॥
विवेकमहाद्रेस्य, समाकर्ण्य च नाटकम् । मुनीनां भूरिरूपं च, श्रुत्वा वैराग्यकारणम् ॥ ६०५ ॥ तथापि यदि ते चित्त, बालिके! न
विरञ्जितम् । हन्त कर्कशकायाया, तवत्वं नात्र संशयः ॥ ६०६ ॥ चतुर्भिःकलापकम् । ततोऽगृहीतसङ्केतेत्युच्यमाना मुहुर्मुहुः । मात
माऽन्येन वा मुग्धे!, न रोषं गन्तुमर्हसि ॥ ६०७ ॥ तथा—किं न स्मरसि भद्राक्षि!, यत्सा प्रज्ञाचरी । सखी सदा ममानीता, यथा
पुण्योदयासिभिः ॥ ६०८ ॥ वसन्तं नाटकः कोऽस्ते विकासा मनोहरः । तत्रास्य ते च वृत्तान्ताः, सर्वे किं विस्मृता तव! ॥ ६०९ ॥
कल्पसाधु समासाद्य, मनुष्या जिनशासने । सर्वं कुर्वन्त्येभ्योऽवैर्यपरा यत्र पुण्यसे ॥ ६१० ॥ ययाभ्यामिर्मलाचार्यः, केवलालोकभास्करः ।

भवप्रपञ्च मेऽनन्त, समर्थं ते स्फुटाक्षरैः ॥ ६११ ॥ किं न बुद्धस्त्वया सोऽप, किं वा नैवावधारितः । यनैव कीर्त्यमानेऽपि, तत्र धू
म्येव विहसि ? ॥ ६१२ ॥ विम्पासेनामुना बाले !, यत्र बोधविधित्सया । मया संसारविस्तारः, स एव प्रतिपादितः ॥ ६१३ ॥ यथा
मे पथिकस्येव, सर्वेऽमी नाटकोपमाः । एकरूपस्य भूयांसः, सपत्ना विविधा भवाः ॥६१४॥ तत्र संसारिजीवोऽहमेकरूपोऽपि भावतः ।
संसारे नाटकाकारे, नानाकारैर्विनाटितः ॥ ६१५ ॥ तदेनमपि चेच्छ्रुत्वा, निर्वेदस्ते न जायते । संसारचारकात्तस्मात्तदा किं करवामहे ?
॥ ६१६ ॥ किं च—नगराण्यन्तरङ्गाणि, यानि मे तेषु सूचिताः । राजानस्तन्महादेव्यस्तासां या वत्स कन्यकाः ॥ ६१७ ॥ मत्तस्य त
थुपा शिम्पा, विवाहः स च तादृशः । यत्राष्टौ भावतो भार्या, प्युत्पत्स्यर्थं निवेदिताः ॥६१८॥ तदिदं सर्वमाकर्ण्य, न बुद्धा यदि बालिके !।
हन्त पापाम्भूतास्तवस्ते किं निवेद्यताम् ? ॥ ६१९ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । तथा—किं न स्मरसि तन्मुग्धे !, यन्मयि स्नेहतत्परा । प्रमत्तो
प्रतिपन्नाऽसि, निर्मलाचार्यसन्निधौ ॥ ६२० ॥ कृत्वा तपस्ततः स्वर्गे, प्राप्ताऽसि सुखमालिकाम् । भवचक्रे पुनर्भ्रान्त्वा, पुनरत्र समागता
॥ ६२१ ॥ किं च—संवेगार्थं यदाऽस्माकं, सम्यग्दर्शनरूपिणीम् । आज्ञासनां तथा कृत्वा, जिनादीनां सुदुःखितः ॥ ६२२ ॥ यथार्थपुद्
गलावर्तं, यत्राऽसमदितो भवे । एतावन्तं पुनः कालं, किं त्वया तन्न वीक्षितम् ? ॥६२३॥ युग्मम् । तथा—चतुर्दशापि विज्ञाय, पूर्वाणि यदहं
गत । भूयोऽप्यनन्तकायादौ, भवगोचरतोपतः ॥ ६२४ ॥ तदप्याकर्ण्य संजाता, किं न चित्ते चमत्कृतिः ? । तावकेऽत्रापि येनेत्थं,
निःसंवेगेव लक्ष्यसे ॥६२५॥ युग्मम् । भवेद्धि सूक्ष्मबोधेन, पूर्वं तस्मामके वचः । विचारय निजे चित्ते, समाधार्थं पुनः पुनः ॥६२६॥
मा मुञ्च सारं मुग्धस्व, मा विलम्बस्व बालिके ! । येन संपद्यते सर्वः, सफलो मे परिश्रमः ॥ ६२७ ॥ एवं च वदति तत्रानुसुन्दरराजे स
भागवसूर्योऽसौ विपश्चितः पौण्डरीकः, किमेतदिति संजाता ससंभ्रमा परिषत्, समाकुलीभूतः श्रीगर्भराजः, हा पुत्र किमिदं किमिदमिति

भवन्ती तरलिता कमलिनी समाश्वासितोऽसौ बाहुदानेन, ततः प्रोत्फुल्ललोचनः स पितरं प्रत्याह—तातानेनानुगुणवर्णनेन वैचित्र्यं समुप-
रूप धारयताऽस्मत्प्रियतममिवात्मभक्षणमास्थाय तदागमनात्पूर्वमासीत्, ततो ममाकुष्यमाणस्य संजातस्तदा विकल्पः यथाऽनया महा
विशालया महामुद्रया भगवता सार्धं विचार्येव समाचार्यं मोत्स्ये, यावताऽधुनेमा मुकुलितामनुक्षिप्यमाणामाकर्णयतो मे संजातः कश्चित्
नास्त्येयः प्रमोदः तद्वशेन संपन्नेय चैतन्यनिःसहता ततः प्रादुर्भूत मे जातिस्मरणं भूतपूर्वोऽहमस्य कुलधरो नाम वयस्यकः श्रुतो मया
तदा निर्मलसूरिणा निवेद्यमानोऽस्य भवप्रपञ्चः ततः स प्रायमनेनेत्यमास्थाय इति त्रुटितो मेऽधुना सन्देह इति, विरक्त च मे भवचा-
रकात्तित ततोऽनुजानीत यूयं येनाहमनेनैव सह दीक्षां गृह्णामीति, तदाकर्ण्य प्रहसिता कमलिनी, श्रीगर्भराजेनोक्तं—देवि ! मा रोदीः,
यतः—सम्प्रसूचित पञ्चाय, पौण्डरीको नरोत्तमः । जातस्ते भावुकोऽवश्य, शुद्धधर्मप्रसाधकः ॥ ६२८ ॥ तदास्य धारणं युक्तमावयोः
किं तु युज्यते । अनुमननमेवास्य, निर्विघ्नपरिसूचकम् ॥ ६२९ ॥ तथाहि—बाल्येऽस्य कुरुते धर्ममेष भोगसुखोचितः । ततः किं युज्यते
स्वातुमावयोर्भवचारके ? ॥ ६३० ॥ ततः कमलिनी प्राह, हर्षगद्गदया गिरा । चारु चारु महाराज !, प्रतिभातमिदं मम ॥ ६३१ ॥ त
तोऽनुज्ञाय त पुत्र, यावत्तौ कृतनिश्चयौ । प्रव्रज्याग्रहणे जातौ, स्वयं देवीनरेश्वरौ ॥ ६३२ ॥ तावत्तैर्भ्रीविताल्पर्मनुगुणस्वरभाषितैः । समं
भ्रमा च सद्वीक्ष्य, पौण्डरीकाविचेष्टितम् ॥ ६३३ ॥ तामुद्दिश्य महाभद्रां, प्रबद्धाञ्जलिन पुरा । सा रामपुत्री संवेगात्सानुक्रोशमचोचत
॥६३४॥ त्रिभिर्विशेषकं । निवेदय महाभागे !, किं मया पापया कृतम् । पुरा कुमतिर्यं येन, जाताऽहमियमीदृशी ? ॥६३५॥ विज्ञातसर्व
भावार्थो, धन्योऽयं राजदारकः । सजातः क्षणमात्रेण, प्रसङ्गश्रवणादपि ॥ ६३६ ॥ मम पुनरयं साक्षान्मामेवोद्दिश्य सादरम् । एव
निवेदयत्सुचैर्महाभागः सविस्तरम् ॥ ६३७ ॥ तथापि मन्दभाग्याऽहं, नोत्सुकामापि चेतसा । स्फुटं वचनभावार्थं, न बुध्ये पशुसन्निभा

भवप्रपञ्च मेऽनन्त, समस्त ते स्फुटाक्षरैः ॥ ६११ ॥ किं न बुद्धस्त्वया सोऽयं, किं वा नैवावधारितः । यनैव कीर्त्यमानेऽपि, तत्र दू
न्येव तिष्ठसि ? ॥ ६१२ ॥ निभ्यासेनामुना बाले!, तव बोधविधित्सया । मया संसारविस्तारः, स एव प्रतिपादितः ॥ ६१३ ॥ यथा
मे पथिकस्येव, सर्वेऽमी बालकोपमाः । एकरूपस्य भूयांसः, सपक्षा विविधा भवाः ॥६१४॥ ततः संसारिजीवोऽहमेकरूपोऽपि भावत ।
संसारे नाटकाकारे, नानाकारैर्विनाटितः ॥ ६१५ ॥ तदेनमपि चेच्छ्रुत्वा, निर्वेदस्ते न जायते । संसारचारकात्तस्मात्तदा किं कुर्महे ?
॥ ६१६ ॥ किं च—नगराण्यन्तरङ्गाणि, यानि मे तेषु सूचिताः । राजानस्तन्महादेव्यस्तासां या दश कन्यकाः ॥ ६१७ ॥ प्रत्येक त
तुषा निम्बा, विवाहः स च यादृशः । तत्राष्टौ मातरो याश्च, स्फुटरूपं निवेदिताः ॥६१८॥ सर्वेदं सर्वमाकर्ण्य, न बुद्धा यदि बालिके!,
हन्त पाषाणभूतायास्तवस्ते किं निवेदनाम् ? ॥ ६१९ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । तथा—किं न स्मरसि सन्मुग्धे!, यन्मयि स्नेहतत्परा । भवान्मो
प्रतिपन्नाऽसि, निर्मलाचार्यसन्निधौ ॥ ६२० ॥ कृत्वा तपस्ततः स्वर्गे, प्राप्ताऽसि सुखमालिकाम् । भवपङ्के पुनर्भ्रान्त्वा, पुनरत्र समागता
॥ ६२१ ॥ किं च—संवेगार्थं भवाख्यानं, सम्यग्दर्शनरूपणीम् । आलोचनां तथा कृत्वा, जिनादीनां मुहुःस्तुताः ॥ ६२२ ॥ तपार्थपुत्र
सर्वं, ममाऽसमहितो भवे । एतावन्तं पुनः कालं, किं त्वया तत्र वीक्षितम् ? ॥६२३॥ युग्मम् । तथा—चतुर्दशापि विज्ञाय, पूर्वाणि यदह
गत । भूयोऽप्यनन्तकालं तौ, भवगोचरतोऽपत ॥ ६२४ ॥ तदप्याकर्ण्य सजाता, किं न चित्ते चमत्कृतिः ? । तावकेऽद्यापि येनेत्थं,
निःसंवेगेव लक्ष्यसे ॥६२५॥ युग्मम् । अवेहि सूक्ष्मबोधेन, पूर्वं तस्मात्कं वचः । विचारय निजे चित्ते, सभावार्थं पुनः पुनः ॥६२६॥
मा मुग्ध सारं मुञ्चस्व, मा विलम्बस्व बालिके! । येन संपद्यते सर्वः, सफलो मे परिश्रमः ॥ ६२७॥ एवं च वदति तथानुसुन्दरराजे स
मागतमूर्च्छोऽसौ निपतितः पौण्डरीकः, किमेतदिति संजाता ससम्भ्रमा परिषत्, समाकुलीभूतः श्रीगर्भराजः, हा पुत्र किमिदं किमिदमिति

बदन्ती तदलिता कमलिनी समाश्वासितोऽसौ तातुदानेन, ततः प्रोत्फुल्ललोचनः स पितरं प्रत्याह—तातानेनानुसुन्दरराजेन चौरैष्य वस्क-रूप धारयताऽत्यन्तविरुद्धमिवारमभ्रमणमाख्यात तवागमनात्पूर्वमासीत्, ततो ममाक्षुभ्यमानस्य संजातबुद्धा विकल्पः यथाऽन्यया महा-विशाख्या महाभद्रया भगवत्या सार्धं विचार्येदं समाचार्थं मोक्ष्ये, यावताऽधुनेमां सुलक्षितामनुशिष्यमाणामाकर्णयतो मे संजातः कश्चित् नाश्चेयः प्रमोदः तदूर्णेन संपन्नेयं चैतन्यमिःसद्दशा ततः प्रादुर्भूत मे जातिस्मरणं भूतपूर्वोऽहमस्य कुम्भरो नाम वयस्यकः सुतो मया तदा निर्मलसूरिणा निवेद्यमानोऽस्य भवप्रपञ्चः ततः स एवायमनेनेत्थमाख्यात इति मुदितो मेऽधुना सन्देह इति, विरक्त च मे भवचा रकाविव ततोऽनुशानीत यूयं येनाहमनेनैव सह दीक्षां गृह्णामीति, तदाकर्ण्य प्रहसिता कमलिनी, भीगर्भेराजेनोक्त—देवि ! मा रोदीः, यतः—स्वप्नसूचित एवायं, पौण्डरीको नरोत्तमः । आवस्थे भावुकोऽत्यन्त, शुद्धधर्मप्रसाधकः ॥ ६२८ ॥ तदास्य धारणं युक्तमावयोः किं तु युज्यते । अनुव्रजनमेवास्य, निर्विघ्नश्रेयसूचकम् ॥ ६२९ ॥ तथाहि—बाल्येऽस्कुरुते धर्ममेष भोगसुखोचितः । सदा किं युज्यते साधुमावयोर्मवचारके ? ॥ ६३० ॥ ततः कमलिनी प्राह, हर्षगद्गदया गिरा । चारु चारु महाराज !, प्रतिभातमिदं मम ॥ ६३१ ॥ स तोऽनुज्ञाय त पुत्रं, यावत्तौ कृतनिश्चयौ । प्रमव्यामहर्षे जातौ, स्वयं देवीनरेश्वरौ ॥ ६३२ ॥ तावच्चैर्गोविदात्यर्थमनुसुन्दरमापितैः । सर्व भ्रमा च वदीक्ष्य, पौण्डरीकादिचेष्टितम् ॥ ६३३ ॥ तातुदित्य महाभद्रां, प्रबद्धाञ्जलि पुरा । सा राजपुत्री संवेगात्सानुक्रोशमबोचत ॥६३४॥ त्रिभिर्विशेषकं । निवेदय महाभागे !, किं मया पापया कृतम् । पुरा सुस्मरित येन, जाताऽहमियमीदृशी ? ॥६३५॥ विज्ञातसर्व भावार्थो, धन्योऽयं राजदारकः । सजातः क्षणमात्रेण, प्रसन्नमनपावपि ॥ ६३६ ॥ मम पुनरयं साक्षान्मामेवोद्दिश्य सादरम् । एवं निवेदयत्सुर्वेमहाभागः सविस्तरम् ॥ ६३७ ॥ तथापि मन्दभाग्याऽहं, बोधुकामापि चेतसा । स्फुटं वचनभावार्थं, न बुध्ये पश्यसमिमा

भपमपर्भ मेऽनम्य, समम वे सद्धाघरैः ॥ ६११ ॥ किं न शुतस्त्वया सोऽय, किं वा नैवावधारितः । येनैव कीसमानेऽपि, वत्र धू
म्येव विश्वसि ? ॥ ६१२ ॥ विन्यासेनामुना बाले!, वन बोधविधिस्तया । मया संसारविस्तारः, स एव मतिपादितः ॥ ६१३ ॥ पथा
मे पथिकस्येव, सर्वेऽमी बासकोपमाः । एकरूपस्म भूयांसः, सपक्षा विविधा भयाः ॥६१४॥ ततः ससारिजीवोऽहमेकरूपोऽपि मावतः ।
ससारे नाटकाकारे, नानाकारैर्विनाटितः ॥ ६१५ ॥ तदेनमपि येष्वुत्वा, निर्वेदस्ते न जायते । ससारचारकात्तस्मात्ततः किं करवामहे ?
॥ ६१६ ॥ किं च—नगराण्यसरण्यापि, यानि ये तेषु सुखिताः । राजानस्तन्महादेम्यस्तासां या वस्त्र कन्यकाः ॥ ६१७ ॥ प्रत्येक स
हुणा मिम्मा, विवाहः स च तादृशः । तत्राष्टौ मातरो पात्र, प्युसपस्त्वर्य निवेदिताः ॥६१८॥ तदिदं सवमाकर्ण्य, न शुद्धा यदि बालिके!
हस्त पापायमूतामास्ततस्ते किं निवेदताम् ? ॥ ६१९ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । तथा—किं न स्मरसि तन्मुग्धे!, यन्मयि स्नेहतत्परा । मव्रम्यां
प्रतिपमाऽसि, निर्मलाचार्यसन्निधौ ॥ ६२० ॥ कृत्वा तपस्ततः स्वर्गे, प्राप्ताऽसि सुखमालिकाम् । भवचक्रे पुनर्भ्रान्त्वा, पुनरत्र समागता
॥ ६२१ ॥ किं च—संवेगार्थं पदाभ्यासं, सम्यग्दर्शनदूषणीम् । भाशातना तथा कृत्वा, जिनादीनां सुदुःखितः ॥ ६२२ ॥ तपार्यपुत्र
समर्थं, यथाऽत्मविदो भव । यवानन्त पुनः काल, किं त्वया सम भीषितम् ? ॥६२३॥ युग्मम् । तथा—चतुर्दशापि विज्ञाय, पूर्वाणि यदह
गत' । भूयोऽप्यनन्तकालाचो, मयगोचरतोपतः ॥ ६२४ ॥ तदप्याकर्ण्य संजाता, किं न चित्ते चमत्कृतिः ? । वाचकेऽस्यापि येमेत्र्यं,
निःसंवेगेव श्रूयसे ॥६२५॥ युग्मम् । अवेहि सूक्ष्मबोधेन, पूर्वं सम्मामक तपः । विचारय निजे चित्ते, सभावार्थं पुनः पुनः ॥६२६॥
मा मुख सारं मुग्धत्व, मा विलम्बस्व बालिके ! । येन संपद्यसे सर्वैः, सफलो मे परिश्रमः ॥ ६२७ ॥ एवं च वदति वत्रामुसुन्दरराजे स
मागतमूर्च्छोऽसौ निपतितः पौण्डरीकः, किमेतदिति सजाता ससंभ्रमा परिषत्, समाकुलीभूतः भीगर्भराजः, हा पुत्र किमिदं किमिदमिति

वदन्ती तरलिता कमलिनी समाश्वासिताऽसौ मातुलानेन, ततः प्रोत्फुल्ललोचनः स पितरं प्रत्याह—तातानेनानुसुन्दरचरेण चैक्रियं तस्क-
रस्य भाषताऽस्मत्तिरश्चमिवारमभप्रणमाख्यात तदागमनात्पूर्वमासीत्, ततो ममाघ्रुष्यमाणस्य संजातस्तदा विकल्पः यथाऽनया प्रज्ञा-
विशालया महाभद्रया भगवत्या सार्धं विचार्येदं समासार्थं प्रोक्तम्, यावताऽधुनेमां सुललितामनुशिष्यमाणामाकर्णयतो मे संजातः कश्चित्
नाख्येयः प्रमोदः तत्क्षणेन संपन्नेयं चेतस्यभिःसहसा ततः प्रादुर्भूतं मे जातिस्मरणं भूतपूर्वोऽहमस्य कुलधरो नाम वयस्यकः श्रुतो मया
तदा निर्मलसूरिणा निवेद्यमानोऽस्य भवप्रपञ्चः ततः स एवायमनेनेत्थमाख्यात इति स्फुटितो मेऽधुना सन्देह इति, विरक्तं च मे भवचा-
रकाच्चित्तं ततोऽनुजानीत यूयं येनाहमनेनैव सह दीक्षां गृह्णामीति, तदाकर्ण्य प्रस्खलिता कमलिनी, भीगर्भरचनेनोक्ता—देवि! मा रोदीः,
यतः—अप्रसूतेव यथासि, पौण्डरीको नरोत्तमः। जातस्ते भावुकोऽवश्यं, शुद्धधर्मप्रसाधकः ॥ ६२८ ॥ तदास्य धारणं युक्तमावयोः
किं तु युज्यते। अनुव्रजनमेवास्य, निर्मिथ्यमेकरूपकम् ॥ ६२९ ॥ यथाहि—बालस्येकतके धर्मेऽप भोगसुखोचितः। ततः किं युज्यते
स्थातुमावयोर्भववारके? ॥ ६३० ॥ ततः कमलिनी प्राह, हर्षगद्गदया गिरा। चारु चारु महाराज!, प्रतिभातमिदं मम ॥ ६३१ ॥ त
तोऽनुज्ञाय तं पुत्रं, यावत्तौ कृतनिश्चयौ। प्रव्रज्याभिमुखे जातौ, स्वयं देवीनरेश्वरौ ॥ ६३२ ॥ तावच्चैत्र्योतिनाम्यपर्यमनुसुन्दरभाषितैः। सुसं
भ्रमा च तदीयस्य, पौण्डरीकादिचेष्टितम् ॥ ६३३ ॥ तामुद्दिश्य महाभद्रां, प्रवर्त्तिनीव पुरः। सा राजपुत्री संवेगात्सानुक्रोशमभाषत
॥६३४॥ त्रिभिर्विशेषकं। निवेदय महाभागे!, किं मया पापया कृतम्। पुरा दुश्चरितं येन, जाताऽहमियमीदृशी? ॥६३५॥ विज्ञाततत्त्व
भावार्थो, धन्योऽयं राजदारकः। सकाशः क्षणमात्रेण, प्रसङ्गश्रवणादपि ॥ ६३६ ॥ मम पुनरस्य साक्षान्मामेवोद्दिश्य सादरम्। एव
निवेदयत्सुघोर्महाभागः सविस्तरम् ॥ ६३७ ॥ तथापि मन्दभाग्याऽहं, नोत्सुकामापि चेतसा। स्फुटं वचनभावार्थं, न बुध्ये पशुसन्निभा

॥ ६३८ ॥ अन्यच्च—एवमेव परिक्लेशः, संजातो ज्ञानपूर्वकः । अयामामपि धन्यानामनुसुन्दरवाक्यतः ॥ ६३९ ॥ अहं पुनर्न जाने ऽत्र, किं कर्तव्यमकल्पिका ? । मूढ्या ममेयमकाया, स्पष्टसङ्ग्रोपवर्णिता ॥ ६४० ॥ तदिदं मे महाभागे !, सर्वं श्रुत्वा सदागमम् । पृच्छ क्षत्र मिक्षेयं, कस्य पापस्य जृम्भितम् ? ॥ ६४१ ॥ ततस्तां वादृशीं वीक्ष्य, बाष्पप्लुतविलोचनाम् । राजपुत्रीं कृपावेशादवदीत्सु सुन्दरः ॥ ६४२ ॥ उक्तं च तेन यथा—मुग्धे ! सुललिते यदि तवास्ति स्वसुचरितजिज्ञासा ततोऽहमेव तवे निवेदयामि अर्थ भगवताऽत्र प्रयोजने प्रयासितया, सुललितयोक्तं—अनुग्रहो मे, निवेदयत्वार्यः, अगृहीतसङ्केतेनोक्तं—भद्रे तावदनुपचारमेव सता मया सार्धं मदनमञ्जरी सती समागतैरागता मन्नमिताऽसि सर्वं अन्यतः किंवाक्तमपः कृतामि भूरितपमरणामि, केवलं महत्या तदा ते दुर्बुद्धिः—पतुत यदत्र कर्तव्य तदेव क्रियतां किमनेन बहुना रोदनेन ?, ततो न मुक्तापितस्ते स्वाध्यायकोलाहलः न दर्शिता वाचना न प्रतिभाता प्रच्छना मा मिश्रता परावर्तना नानुष्ठिता स्वसाऽनुप्रेक्षा नासुखीलिता धर्मदेशना, किं तर्हि ?, प्रतिभासिता ते प्रथमा अभीष्टा स्वाध्यायोद्वेगेन मौनव्रत धारिता त्र च संज्ञावतस्तव तीव्रोऽभिनिवेशः ततो न विहिता ज्ञानवतां प्रतिपत्तिः न कृतमान्तरायिकं च अनितरत्नसुपघातः मावरित स्वल्पोऽपि मासेवितत्वमिदवः न संपादिता महाशातना, किं तु तथा प्रदुष्टा तेन ज्ञानप्रद्वेषिस्तेन तथा च प्रमादपरतया कृता महता कपीयसी ज्ञानाशातना, ततः समुपार्जितमिदमीदृशं कर्म तत्प्रभावादसह्लेपकाल भान्ताऽसि भवचक्रे जाताऽसि चैवविधा त्वं जडबुद्धि रिति, किं च—सुललिते ! पूर्वभवाभ्यासादेव प्रायशः !, प्राणिनां भूयांसोऽनुवर्तन्ते भावाः, तथाहि—यथा तदा त्वं मदनमञ्जरी सती पुरुषद्वेषिणी संजाता तथेदापि, अत एव सखीभिर्भर्तृपर्यनिरतया भाग्यमी स्वमाकारिता, वर्तिक मिथ्येव ते मतयः ?, सुललि तयोक्तं—आर्य ! किं चात्र मदवचने न मिलति ?, केवलमहमत्र धन्यभाग्या येवमपि कथ्यमाने भास्करोपमे कौशिकवत्सम्पूरितैव ति

द्रामीति वदन्ती स्थूलमुक्ताफलनिकरमिव नयनसलिलबिन्दुवर्षं मोक्तुं प्रवृत्ता, ततोऽभिहिता साऽनुसुन्दरराजेन—राजपुत्रि! मुञ्च विषादं
क्षीणप्रायं तेऽधुना तत्कर्म कुरुष्व सदागमे भगवति भक्तिं गच्छेमं शरणं, एतदाराधनमूलं हि देहिनां कल्याणजालं, अयमेव अज्ञानतमोदलने
भास्करभूतो भगवान्, धन्यासि त्वं याऽस्य पादमूलं प्राप्ता, ततोऽमीभिर्वचनैः पवनैरिव समुच्छलिततीव्रसंवेगानला सा सुललिता सदागमोऽ-
पमितिगुरुत्ता पतिता भगवत्समन्तभद्रसूरिचरणयोः, अभिहितं च—अज्ञानपङ्कमग्नाया, जगन्नाथ सदागम! । त्वमेव मन्दभाग्याया,
ममोद्धारणवत्सलः ॥ ६४३ ॥ शरणं त्वं महाभाग!, त्वं स्वामी त्वं च मे पिता । सदैव विमलो नाथ!, क्रियतां किङ्करो जनः ॥६४४॥
ततो महाप्रभावतया सदागमबहुमानस्य गुरुतया संवेगस्य सरलतया हृदयस्य कल्याणहेतुतया भगवत्सन्निधानस्य प्रत्यासन्नतया मोक्षस्य
विघटिते भूरि कर्मजाले, पादपतिताया एव समजातं जातिस्मरणं, दृष्टः साक्षादिव भवनमञ्चर्योदितो वृत्तान्तः, ततः समुल्लसितः प्रमोदः,
समुत्थाय च निपतितानुसुन्दरचरणयोः, तेनोक्तं—सुललिते! किमेतत्?, सा प्राह—अनुभगवतः प्रसादाद्भवति तत्संपन्नमधुना मे, यतः
समजातं जातिस्मरणं तपश्चैतावकथनमिर्णयः विरतं संसारचारकाचित्तं, तदनुगृहीताऽहं मन्दभाग्या भगवता भवता च, अनुसुन्दरे
णोक्तं—आर्ये! त्वमनुगृहीतैवाय भगवान्! नास्त्यत्र सन्देहः, यथाहि—अहं भगवताऽनेन, नरकं प्रति गामुकः । आत्मवीर्येण बद्धो
ऽपि, सावद्येभ्यः विमोचितः ॥ ६४५ ॥ पापिष्ठा अपि ये सत्त्वाः, समासाद्य सदागमम् । एनं भक्तिं प्रकुर्वन्ति, मुच्यन्ते ते न संशयः
॥ ६४६ ॥ अन्यच्च—कष्टेन क्लिष्ट दुःखाऽहं, मन्दभाग्येति चिन्तया । न चापमावना कार्या, त्वया भद्रे! स्वगोचरे ॥ ६४७ ॥ यतो
ऽहमपि तैः पूर्वमकलङ्कादिभिस्तदा । न बोधितो यदाऽऽसीन्मे, प्रबलं भूरिपातकम् ॥ ६४८ ॥ स्वयोग्यतां पुनः प्राप्य, विलीने पापक
र्मणि । त्वत्तः कष्टतरेणाहं, प्रबुद्धो जैनशासने ॥ ६४९ ॥ यदा यस्य विलीयेत, पापं कालादिहेतुभिः । जीवस्तदा प्रबुध्येत, गुरवः

॥ ६३८ ॥ मन्मथ—एषमेव परीक्षेयं, संजातो ज्ञानपूर्वकः । ममापि धन्यानामनुसुन्दरवाक्यतः ॥ ६३९ ॥ अहं पुनर्न जाने ऽत्र, किं करोम्यन्यकल्पिका ? । श्रुत्वा मामेवमब्रवीत्, स्वच्छहृद्योपवर्जिता ॥ ६४० ॥ दयित मे महाभागे', स्वयं कुरु सदागमम् । यथा कथय निःशेषं, मम पापस्य जृम्भितम् ? ॥ ६४१ ॥ ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य, वाष्पप्लुतविलोचनाम् । राजपुत्रीं कृपाविष्टाऽब्रवीदनुसुन्दरः ॥ ६४२ ॥ उक्तं च तेन यथा—मुग्धे! सुललिते यदि तवास्ति अनुभवितुमिच्छा ततोऽहमेव तवे निवेदयामि अत्र भगवत्याऽत्र भवोऽनने मयाऽसितया, सुललितयोक्तं—अनुग्रहो मे, निवेद्यतामार्यैः, अनुसुन्दरेणोक्तं—अस्ति तावदनुभवारम्भेन सता मया सार्धं मदनमञ्जरी सखी संजातवैराग्या प्रव्रजिताऽसि त्वं भवत्याः क्रियाकलापः कृतानि भूरितपश्चरणानि, केवलं मदृष्ट्या तदा ते दुर्बुद्धिः—पठेत पदमर्थयं तवैव किमतो कियानेन बहुना रोदनेन ?, ततो न सुखायितस्ते स्वाध्यायकोलाहलः न रुचिता वाचना न प्रतिभाता प्रच्छना नाभिमता परावर्तना नानुचिन्त्य त्वयाऽनुप्रेक्षा नानुशीलिता धर्मदेशना, किं तर्हि ?, मतिमास्थिता ते प्रथमा अभीष्टा स्वाध्यायोद्वेगेन मौनव्रतधारिता न च समस्तवस्तु तीव्रोऽभिनिवेशः ततो न विहिता ज्ञानवर्ता प्रत्यभीक्ष्या न ज्ञानमान्तरायिक न अनित्यमनुपपातः नाचरितस्वाध्यायः नासेवितज्ञानिप्रायः न सपारिता महाभावना, किं तु तया कुदुष्टा तेन ज्ञानदौर्बल्येन तया च प्रमादपरतया कृत्य भवत्या उपार्जितं ज्ञानावरणं, ततः समुपार्जितमिदमीदृशं कर्म ततस्तमसारसंख्येयकाल भ्रान्ताऽसि भवचक्रे जाताऽसि पेचकिया त्वं चतुरिन्द्रियेति, किं च—सुललिते! पूर्वभवाभ्यासादेव प्रायशः !, प्राणिनां भूयांसोऽनुवर्तन्ते भावाः, तथाहि—यथा यदा त्वं मदनमञ्जरी सखी पुरुषद्वेषिणी संजाता तदेहापि, अत एव सखीभिर्योवनपर्यन्तेऽपि त्वया मामपि त्वमाकारिता, तत्कि निःस्नेह ते प्रमयाः ?, सुललितयोक्त—आर्य! किं चात्र भवान्ते न मिलति ?, केवलमहमत्र मन्दभाग्या पेचमपि कथ्यमाने भास्करोदये कौशिकवचनःपूरितेव सि

सुमनकामगयसेनयोर्वं श्रुत्वा तोषातिरेकः प्रादुर्भूतो मानवोऽपि चरणपरिणामः याचितः सूरिः प्रव्रज्यां, उपबृंहितौ गुरुणा,—अतः सम्
स्सचोपगृहयुसमसुन्दरम् । निपसदेवसद्भावमुपोषितसिगम्बरम् ॥ ६५८ ॥ विकसत्पूर्वमिर्मोपसम्भुम्मभुवनोदरम् । अनन्तभूरिविस्तारपू
आसत्कारबन्धुरम् ॥ ६५९ ॥ दानसन्मानसद्गानविधानकरणोद्यतैः । भूरिभव्यैः समापूर्णं, मुनिवृन्दैश्च चारुभिः ॥ ६६० ॥ तदाऽनुसु-
न्तरादीनां, सदीक्षामहणक्षणे । क्षणमात्रेण संजातं, मनोनन्दनकाननम् ॥ ६६१ ॥ चतुर्भिः कलापकम् । ततो मगधसेनेन, श्रीगर्भेण
च भूभुजा । स्वीय पुरंदरायेव, राज्य पाल्यतयाऽर्पितम् ॥ ६६२ ॥ ततो निर्वर्त्य निःशेषकर्तव्यं सूरिभिस्तदा । दीक्षितानि क्षणेनैव,
सर्वाणि विधिपूर्वकम् ॥ ६६३ ॥ अथ संवेगसंजननमस्तास्वादसन्निभा । सद्धर्मदेशनाऽकारि, गुरुभिः कलया गिरा ॥ ६६४ ॥ ततन्ते ते
क्षतपापाः, क्षेपशोकाः कथचन । यथायथं गताः स्थानं, देवाश्च हर्षि भाविताः ॥ ६६५ ॥ प्रशिक्षाश्च महामन्त्रासहिता गुरुभिस्तदा ।
साध्व्यः सर्वा निजस्थानमुपविश्य यथोचितम् ॥ ६६६ ॥ अथाविम्बोऽपि तद्दृष्ट्वा, गुरोः श्रुत्वा च देशनाम् । शक्रोऽद्य नेमि मत्त्वैव, गतो
द्वीपान्तरे तदा ॥ ६६७ ॥ कृतावश्यककर्तव्ये, स्वाध्यायध्यानतत्परे । ततः साधुगणे जाते, प्रदोषे चास्तिकप्रिये ॥ ६६८ ॥ भव्यन्तपरि
शुद्धात्मा, कृतकृत्यतयाऽव्ययनः । विविक्ते ध्यानतापसो, राजर्षिरनुसुन्दरः ॥६६९॥ युग्मम् ॥ ततो विशुध्यमानाभिर्लेश्याभिः संप्राप्योपशम
श्रेणी तपकः क्रमेणासाद्युपशान्तमोहः, भगवदुपदेशाच्च विज्ञाय सन्निभेव क्षणे तभियोगकाल स्थिताः समाधिकारिणस्तदभ्यर्णे मुनयः,
अत्रान्तरे समाप्तमायुष्क, ततो विमुच्य देहपञ्जरं गतः सर्वार्थसिद्धिविमान, सञ्जातस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमो महर्द्धिर्देवः, प्रभाते विज्ञाय तम
नुसुन्दरमुनिम्यतिकरं मीलितप्रशुचिर्योऽपि श्रीश्रमणसङ्घः विधिना परित्यक्त मुनिभिस्तच्छरीरं कृता नरामरैस्तत्पूजेति ।—अथ सद्धर्मदा
यीति ममासाविति चिन्तया । पूर्वाभ्यस्तदरस्नेहतन्तुबन्धनेन च ॥ ६७० ॥ मनुसुन्दरराजान्ते, तपसे त्वरया तया । चित्ते सुलक्षिता

सहकारिणा ॥ ६५० ॥ सुललितयोक्तं—आर्य! सत्यमेवमिदं, विनष्टा मेऽधुना मनस्यभावना, केवलं मतिपमं मया निजजननीजन-
कयोर्वधाऽनुज्ञातया प्रव्रज्यामासापि न मार्य, तत्कथं भविष्यति', अनुसुन्दरेणोक्तं—आर्ये! मा भैषीः समागतावेव ते जननीजनकौ;
अत्रान्तरे समुल्लसितो महतो कलकलरवः, लोकवेलायां च प्रविष्टावेव मनोनन्दने जिनभवने सपरिकरो मगधसेनराजः सह सुमङ्ग
लया, ततः प्रणिपत्य जिनेश्वरमभिवन्द्य सूरिं साधुवर्गं च कृताभ्युत्थानप्रणामः सुललितया प्रणम्य चानुसुन्दरराजमुपविष्टस्तत्समीपे,
सुमङ्गलापि विहितविधिःक्षेपमतिपत्तिर्विधाय सुललितामालिङ्गनमाघ्राय मूर्धदेशे उपविष्टा तदन्तिके, आनन्दभराद् गद्गदवागाह—वत्स! समु
त्सुकत्वेन, तव दर्शनलालसौ। आवां राज्यं परित्यज्य, त्वत्समीपमुपागतौ ॥ ६५१ ॥ जनकस्ते रतिं वत्से!, न प्राप्नोति त्वया विना।
मन्दभाग्यतया सोऽहमेव दन्दह्यते जनः ॥ ६५२ ॥ कठोरहृदयत्वेन, निर्दयत्वेन वा पुनः। त्वया निरन्तरं वत्से!, हता वार्तापि ना-
वयोः ॥ ६५३ ॥ सुललितयोक्तं—अम्ब! किं बहुनोक्तेन, मा भवत यथास्थितः। युवयोः स्नेहसद्भावो, नूनं व्यक्तीभविष्यति ॥ ६५४ ॥
यतः—अत्र युष्मदनुज्ञाता, प्रव्रज्यां पारमेश्वरीम्। अधुनैव ग्रहीष्यामि, संसारोत्तारकारिणीम् ॥ ६५५ ॥ ततो यदि युवां मेऽद्य, वारणं
न करिष्यथः। प्रव्रज्यां च मया सार्धं, निर्विकल्पं ग्रहीष्यथः ॥ ६५६ ॥ ततो मम यथाभीष्टां, जनानामुपरि स्फुटम्। भवतः स्नेहस
द्भावो, योऽस्माकीनो भविष्यति ॥ ६५७ ॥ त्रिभिर्विशेषकम्। एतदाकर्ण्य मगधसेननरेन्द्रः सुमङ्गलां प्रत्याह—देवि! दृष्टो वत्सयाऽऽवयो-
र्मुखबन्धः विहिताऽऽश्रित एव निरुत्तरता सुदृष्टपरमार्थेयमधुना वर्तते कथमन्यथाऽसौ वचनविन्यासः?, ततो न भवत्येवेयमुपकारिणी,
साधु चोक्तमनया युक्तमेवावयोरनया सह प्रव्रज्यां निर्मिथ्य स्नेहसारस्वरूपकमिव विशेषतः प्राप्तकालमावयोः, सुमङ्गलयोक्तं—यथाज्ञापयति
देवः, ततो हृष्टा सुललिता पतिता महाप्रसाद इति वदन्ती द्वयोरपि चरणयोः, कथितमनया संक्षेपतस्तयोरनुसुन्दरचरितवृत्तान्तः संजातः

सुन्दरेतरलोकानां, तेषामाकालभाविनाम् । विपर्यासो पुनरत्र, को दृष्टान्तो भविष्यति ? ॥ ६९० ॥ गुरुभिरुक्तं, भाकर्णय—गृहीतभा-
गवतीदीक्षस्य, नरकसंकुलस्य तस्य भोः । साधोरमृतसारस्य, सतस्तत्र भवे पुनः ॥ ६९१ ॥ क्षान्तिर्दया च ते भार्ये, मृदुतासत्यते च ते ।
ऋजुताचौरते ये च, ते भवतस्विमुक्ते ॥ ६९२ ॥ तथा—विद्यानिरीहते यच, स्थितं लीमतया पुरा । सैन्यं चारित्रधर्मस्य, सर्वमाविर्भ-
विष्यति ॥ ६९३ ॥ तथाऽन्याश्च धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादयः ॥ ६९४ ॥ तस्यान्तरङ्गसम्प्राप्ताभिव-
र्धितो महात्मनः । सुखसन्दोहदायिन्यो, भविष्यन्ति यथा पुरा ॥ ६९५ ॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥ ततस्तत्पादस्य राज्यमनन्ताक्षयसुन्दरम् । पालयभि
स्थिरानुबे, रिपुसुन्मूलयिष्यति ॥ ६९६ ॥ भास्वः क्षपकश्रेण्यां, पुनरेव महाबलः । चतुरो घातिसंघातान्, सर्वथा चूर्णयिष्यति ॥ ६९७ ॥
संप्राप्य केवलालोकं, कृत्वा जगदनुग्रहम् । विधाय च समुद्घातं, सर्वयोगानिरुध्य च ॥ ६९८ ॥ अथ पर्यन्तकालेऽसौ, शैलेशीं प्राप्य
सत्क्रियाम् । निःशेषं रिपुसङ्घातं, सर्वथा दलयिष्यति ॥ ६९९ ॥ युग्मम् । ततो विच्छिन्नमृत्योऽसौ, संपूर्णो निजबान्धवैः । संप्राप्तो निर्वृतो पुर्या,
भोक्ष्यते राज्यसत्फलम् ॥ ७०० ॥ अनन्तानन्दसंज्ञानवीर्यदर्शनपूरितः । निर्नष्टसकलाबाधः, सर्वकालं भविष्यति ॥ ७०१ ॥ इतश्च येन
सा भद्र, त्वमार्या भवितव्यता । महामोहबले क्षीणे, तदा शोकं करिष्यति ॥ ७०२ ॥ कथ ?—गुर्वंशा बत आर्वैकमद्य ममममनोरथा- ।
महामोहादिसैन्ये या, संजाता पक्षपातिनी ॥ ७०३ ॥ समस्तमपि जानत्या, न विज्ञातमिदं मया । प्रसिद्धं निखिले लोके, पशुपालैरपि
गीयते ॥ ७०४ ॥ किं तत्—ध्रुवाणि यः परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते । ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ॥ ७०५ ॥
यद्य ममापि को दोषो ?, स्त्रैणमपि वर्तिनी । मुग्धस्येव जनो ह्येष, समस्तः स्वप्रयोजने ॥ ७०६ ॥ एवं विभिन्न सा सेवमनका-
र्यपरायणा । स्थिताऽप्रमावनो तूष्णीं, संस्थिता भवितव्यता ॥ ७०७ ॥ तदिदं ते समासेन, पौण्डरीकमुने ! मया । भाद्रसुन्दरमाख्या-

साध्वी, शिविकोक्तेन पीडिता ॥ ६७१ ॥ ततः शोकपनोदार्थं, तस्मास्ते नरसूरयः । सर्वेषामेव पुरतस्तेषामित्थं प्रभाषिता ॥ ६७२ ॥
"आर्ये! न शोचनीयोऽसौ, महात्मा नरसत्तमः । येनैकदिनमात्रेण, साधितं स्वप्रयोजनम् ॥ ६७३ ॥ यथा पापभरं हत्वा, प्रभुतो न
"र्के मति । यदि गच्छेत्स्वैवाद्य, ततः शोच्यो भवोत्तमौ ॥ ६७४ ॥ यः पुनः प्राप्य सद्धर्मं, निर्धूय निजकल्मषम् । सर्वार्थसिद्धिं स
"प्तो, नासौ शोकस्य गोचरः ॥६७५॥ शोचनीयः सतामिष्टो, नरः संयमदुर्बलः । स हि सर्वत्र संसारे, भ्रमेद्दुःखभरेरितः ॥६७६॥
"न शोचनीयः शिष्येस, मृतः संयमवान् नरः । स हि संसारचक्रेऽपि, तिष्ठेदानन्दपूरितः ॥ ६७७ ॥ स एव च पिबेत्सुधर्मं मरणे स-
"मुपस्थिते । येन मार्यरितो धर्मः, परलोकसुखावहः ६७८ ॥ सद्धर्मपथ्यपाथेये, पस्त्वाराय प्रतीक्षते । मरणं तस्य सम्प्राप्तौ, न
"भीः किं तु महोत्सवः ॥ ६७९ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपाऽघनाशिनी । आराधना चतुःस्कन्धा, यस्य स्यात्तस्य किं
"मृतम्? ॥ ६८० ॥ मानन्दोत्पादकास्तेऽत्र, भगवन्तो मुनीश्वराः । ये प्राप्य सिद्धा पार्श्वे, सद्यः पण्डितमृत्युना ॥ ६८१ ॥" इत्या
येऽन्यार्यकार्येभ्यो, मिष्टो योऽनुमुनारः । पुत्रः स शोचनीयस्ते, कथं सिद्धप्रयोजनः? ॥ ६८२ ॥ किं च—श्रितविधयात्यवसुरत्ना, पु
ण्यधर्मस भारते । धर्मोद्यामां स गान्धारजनपदसुमेविष्यति ॥ ६८३ ॥ नाम्ना चामृतसारोऽसौ, पद्मिनीचित्तनन्दनः । भविष्यति
श्रेष्ठश्रेष्ठिवरिति ख्यातः ॥ ६८४ ॥ क्रमेण यौवनं प्राप्तः, कलाकोशल्यकोविदः । विपुलाख्यनामानमाचार्यं प्राप्य सुन्दरम् ॥ ६८५ ॥
संसारस्य विरक्तो पुण्यः, स दीक्षां पारमेश्वरीम् । महीष्यति विशुद्धात्मा, चरिष्यति चिरं तपः ॥ ६८६ ॥ ततो निर्धूय निःशेषं, कर्मजालं
समाधिना । भवप्रपञ्चं निर्मुच्य, यास्यत्येव शिवालये ॥ ६८७ ॥ एवं च स्थिते—सर्वथा स भवोत्तमः, कारणं भव्यरेखिनाम् । आर्ये!
न शोकसम्पादकार्यं स भवोत्तमः ॥६८८॥ यथाऽवदरे भगवतः, पौण्डरीकमहामुनिः । इदं निवेदितं पार्श्वेऽपि नाभि महात्मनः ॥६८९॥

सुन्दरेतरयोरुक्तौ, तेषामाकाङ्क्षमाविनाम् । विपाकतो पुनस्तत्र, को वृत्तान्तो भविष्यति ? ॥ ६९० ॥ गुरुरुवाच, आकर्णय—गृहीतमा-
नरीशस्य, मध्यमबुद्धेश्च यो । सामोरभूतसारस्य, सततत्र भवे पुनः ॥ ६९१ ॥ क्षान्तिर्दया च ते भार्ये, मृदुतासत्यते च ते ।
ऋजुताचौरते ये च, ते नगरविश्रुते ॥ ६९२ ॥ तथा—विद्यानिरीहते यत्र, स्थितं लीनतया पुरा । सैन्यं चारित्रधर्मस्य, सर्वमाविर्भ-
विष्यति ॥ ६९३ ॥ तथाऽन्याश्च धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादयः ॥ ६९४ ॥ वसान्तरालसद्भावोऽभिप
धृतो महात्मनः । सुखसन्दोहदायिन्यो, भविष्यन्ति यथा पुरा ॥६९५॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥ ततश्चाऽपरं राज्यमनन्ताकारसुन्दरम् । पालयिष्य
सिंहानुगे, रिपून्निर्मूलयिष्यति ॥६९६॥ भास्वरः क्षपकश्रेण्यां, पुनरेव महाबलः । चतुर्थे घातिसंघातान्, सर्वथा चूर्णयिष्यति ॥६९७॥
संप्राप्य केवलालोकं, कृत्वा जगदनुग्रहम् । विधाय च समुद्घातं, सर्वयोगनिरोधं च ॥ ६९८ ॥ अथ पर्यन्तकालेऽसौ, शैलेशीं प्राप्य
सत्क्रियाम् । निःशेषं रिपुसङ्घं, सर्वथा दलयिष्यति ॥६९९॥ युग्मम् । ततो विक्षिप्तकर्मोऽसौ, संपूर्णो निजमात्मना । संप्राप्तो निर्वृतो पुर्यां,
मोक्ष्यते राज्यसत्फलम् ॥ ७०० ॥ अनन्तज्ञानसंज्ञातवीर्यदर्शनपूरितः । निर्लेपसकलाबाधः, सर्वकालं भविष्यति ॥ ७०१ ॥ इदम तेन
सा अथम, कुमार्या भवितव्यता । महामोहस्थे जीवे, तथा शोकं करिष्यति ॥ ७०२ ॥ कथं ?—दुर्दुःखा यत आदीयमह मममनोरथा ।
महामोहासिसैन्ये या, संजाता पक्षपातिनी ॥ ७०३ ॥ समस्तमपि जानता, न विज्ञातमिदं मया । भवितव्यं निखिले लोके, यथार्थमपि
गीयते ॥ ७०४ ॥ किं तत्—सुखानि यः परित्यज्य, असुखानि निषेवते । सुखानि तस्य नश्यन्ति, असुखं नष्टमेव च ॥७०५॥
यद्वा ममापि को दोषो ?, स्वल्पमपि वर्तिनी । सुखस्यैव जनो भेष, समस्तः स्वप्रयोजने ॥ ७०६ ॥ एवं भिन्नित सा क्षेपमनका
चैतन्यमना । स्थित्वाऽप्यभावनो तूष्णीं, सखिता भवितव्यता ॥ ७०७ ॥ तदिदं ते समासेन, पौण्डरीकमुने ! मया । भावसुन्दरमाख्या-

तमन्तरङ्गं विवेकिनम् ॥ ७०८ ॥ एतदाकर्ण्य ते शुद्धाः, पौण्डरीकाश्रिसाधवः । चिरे मुकुलिता जाता, त्रपया शोकवर्जिताः ॥ ७०९ ॥ ततः सा चिन्तयामास, गाढं संविग्नमानसा । पूर्वोक्तमनुस्मृत्य, यथार्थं गुरुकर्मिका ॥ ७१० ॥ तदिदं मामकं नूनं, जीवरत्नं न शुध्यति । संवेगानिलसारेण, विना तीव्रतपोऽग्निना ॥ ७११ ॥ एवं विचिन्त्य सा धन्या, सद्गुरूणामनुज्ञया । कष्टैस्तपोभिरात्मानं, निस्तताप क्वोपमा ॥ ७१२ ॥ कथं?—चतुर्थषष्ठाष्टमद्वादशादिविचित्रया । रराज रागनिर्मुक्ता, रत्नावल्या विराजिता ॥ ७१३ ॥ चित्रधर्मसुवर्णेन, निर्मिताऽसामगुर्वेता । शरीरे संस्थिता रम्या, शुभे कनकावली ॥ ७१४ ॥ चतुष्पादितपःक्रमसन्मौक्तिकविशुद्धया । रुचे सा महाभागा, मुक्तावल्या विभूषिता ॥ ७१५ ॥ लघुसिंह महत्सिंह, सिंहनिष्क्रीडितैस्तथा । क्रीडानिपुणपुत्रापि, क्रीडित सिंहलीलया ॥ ७१६ ॥ तथा भद्रमहाभद्रे, सर्वतोभद्रया सह । भद्रोत्तरा च प्रतिमा, चकार तनुभूषणम् ॥ ७१७ ॥ आचाम्लवर्धमानेन, वर्धमाना प्रतिक्षणम् । क्लिष्टमाप्तेन सा चक्रे, ज्ञानेन गतकल्मषा ॥ ७१८ ॥ चान्द्रायण परन्त्या च, निज कुलनभस्तलम् । तथैवोद्योतित मन्ये, चन्द्रलेखासमानया ॥ ७१९ ॥ मासैश्च पक्षमध्यानि, दशमध्यानि चानघा । साऽत्र मुकुलिता जाता, निःस्पृहा भवचारके ॥७२०॥ एवमादिभिर्धन्या, तपोभिर्निर्मलकल्मषम् । सा तदा कर्मसङ्घातो, ज्ञानपन्थी व्यवस्थिता ॥ ७२१ ॥ इतश्च पौण्डरीकोऽपि, ज्ञानाभ्यासपरायणः । कालक्रमेण संपन्नो, गीतार्थो विजितेन्द्रियः ॥ ७२२ ॥ ततोऽसावागमार्थस्य, सर्वसारं मुनिर्मतम् । जिज्ञासुर्विनयेनेत्थं, गुरु पप्रच्छ भावतः ॥ ७२३ ॥ भदन्त! द्वादशाङ्गस्य, विस्तीर्णस्योदधेरिव । भगवद्भाषितस्यास्य, किं सारमिति कथ्यताम् ॥ ७२४ ॥ समस्तमग्रगुणमित्थतः प्रोक्तमिदं यतः । आर्य! सारोऽत्र विज्ञेयो, ध्यानयोगः सुनिर्मलः ॥ ७२५ ॥ यतः—मूलोत्तरगुणाः सर्वे, सर्वा चेयं बहिष्क्रिया । मुनीनां श्रावकाणां च, ध्यानयोगार्थमीरिता ॥ ७२६ ॥ तथाहि—मनःप्रसादः साध्योऽत्र, मुक्त्यर्थं ज्ञानसिद्धये ।

॥ ७२७ ॥ मतः सर्वमनुष्ठानं, श्रेयःशुद्धमेमिष्यते । विशुद्ध च यथेकामं, चित्तं तन्मानमुत्त
अहिंसादिविशुद्धेन, सोऽनुष्ठानेन साध्यते ॥ ७२७ ॥ मतः सर्वमनुष्ठानं, ध्यानयोगः परं शुद्धः, स हि साध्यो मुमुक्षुणा ॥ ७२९ ॥ मेपरतुष्टा
मम् ॥ ७२८ ॥ तस्मात्सर्वस्य सारोऽस्य, धर्मशास्त्रस्य सुन्दर ! । ध्यानयोगः परं शुद्धः, स हि साध्यो मुमुक्षुणा ॥ ७२९ ॥ मेपरतुष्टा
नमस्येव, पवन्नतथा स्थितम् । मूलोत्तरगुणाख्य तत्सर्वं सारमुदाहृतम् ॥ ७३० ॥ अथाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं, पौण्डरीकमहामुनिः । पुनः
प्रोवाच शान्तात्मा, सम्पादे कृतकृत्यकः ॥ ७३१ ॥ भदन्त! बालकालेऽपि, ममासीदतिकौतुकम् । मोक्षमार्गे ततः पृष्टा, मया भूरि
कुतीर्थिकाः ॥ ७३२ ॥ यथा भो भो महाभागाः!, किं तत्त्वं परं मतम् । निःश्रेयसकरं सारं, रहस्यं परमाक्षरम् ? ॥ ७३३ ॥ ततो
यथास्वं सर्वैस्तमाभिस्त तैर्मम । निवेदितं परं तत्त्वं, तीर्थिकैस्तच कीदृशम् ? ॥ ७३४ ॥ "एके प्राहुर्यथा सर्वं, हिंसादि क्रियतामिति ।
"केवल बुद्धिलेपोऽत्र, रक्षणीयो मुमुक्षुणा ॥ ७३५ ॥ यतः—यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् । आकाशमिव पङ्केन, नासौ
"पापेन लिप्यते ॥ ७३६ ॥ अन्ये प्राहुर्यथा सर्वं, पापं कृत्वा हि मानवाः । मुच्यन्ते क्षणमात्रेण, ये स्मरन्ति महेश्वरम् ॥ ७३७ ॥
"यतः—छित्त्वा भित्त्वा च भूतानि, कृत्वा पापशतानि च । स्मरन् देवं विरूपाक्षं, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७३८ ॥ अन्यैस्तु पापशुद्ध्यर्थं,
"विष्णुध्यानमुदाहृतम् । तत्क्षणेपमश्लाघि, यतः प्रोक्तमिदं बुधैः ॥ ७३९ ॥ अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा । यः स्मरे
"त्पुण्डरीकाक्षं, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ ७४० ॥ अन्ये पापाशनं मन्त्र, प्राहुः पापनिबर्हणम् । अन्ये मायुक्तयं प्राज्ञाः, प्राहुर्मोक्षस्य
"साधनम् ॥ ७४१ ॥ ध्यानेनोद्धर्वते यत्पौण्डरीक इति स्थितम् । बिभाटिवतलं रम्यं, मनोऽलिसुखदं परम् ॥ ७४२ ॥ सहारेण निकी-
"येव, मनोऽलिः परमे पदे । तस्य यो लभ्यते नावश्यपरस्तमपरे जगुः ॥ ७४३ ॥ युग्मम् । तथाऽन्ये पूरकं प्राहुः, कुम्भकं रेचकं तथा ।
"तस्यैव पुण्डरीकस्य, पवन मविघाटकम् ॥ ७४४ ॥ अन्ये प्राहुः पुनर्बिन्दुं, कुन्देन्दुस्फटिकप्रभम् । तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव, सर्वन्तं ध्यान-

"कारणम् ॥ ७४५ ॥ अन्ये परां शिवां प्राहुरन्योपि व्यापिकां किल । परमाक्षरमात्रा सा, सैवामृतकलोच्यते ॥ ७४६ ॥ नासाग्रे भ्रू-
"मध्ये, बिन्दुं देवमथापरे । शुषारधारधवलं, ध्येयमाहुरथाक्षिरम् ॥ ७४७ ॥ आग्नेयमण्डले स स्यान्नीलितो रक्तवर्णकः । माहेन्द्र
"पीतकः कृष्णो, वायव्ये वारुणे सितः ॥ ७४८ ॥ तत्र—पीतः मुन्दरचिंतेन, रक्तस्तापेषु चिन्त्यते । कृष्णोऽभिचारिके कार्ये, पुष्टिदो
"धवलो मतः ॥ ७४९ ॥ अन्येऽप्याहुर्यथा सोम्यो, नादमार्गो मुमुक्षुणा । इहार्पितकपोलेयं, नाड्योः सञ्चारकम च ॥ ७५० ॥ ना-
"डीचक्रस्य विज्ञेयः, प्रचारो दक्षिणेतरः । तद्वारेण च मन्तव्यं, बहिः कालकलादिकम् ॥ ७५१ ॥ यथासम विधायोर्ध्वमन्तानादावर्त क-
"मम् । ॐकारोच्चारणं प्राहुरपरे शान्तिदायकम् ॥ ७५२ ॥ तथाऽन्ये प्राहुर्यथा—आ नाभेः सरन्ध्र प्राण, बिसतन्तुसमं शनैः । मूर्धा-
"न्तराद्यन्तमेव, निर्गच्छन्तं विचिन्तयेत् ॥ ७५३ ॥ मार्तण्डमण्डलस्थं वा, वक्षोराजीवसंस्थितम् । भाव्यं पुमांसमपरे, तथा ध्येयतया
"विदुः ॥ ७५४ ॥ इत्योमिति सविशेषं निर्मं, पुमांसं परमं तथा । ससर्वज्ञसताकीर्णं, ध्येयमाहुर्मनीषिणः ॥ ७५५ ॥ आकाशमात्रमपरे,
"विश्वमन्ये परात्परम् । आसमर्थं चिन्मयमिताहुरपरे मत शाश्वतम् ॥ ७५६ ॥" एवं च स्थिते—यथा नानाविधमार्गाणां, प्राप्यत्वाद्गम सा
एका । ध्यानयोगस्तथा तीर्थैः, स एव प्रतिपादितः ॥ ७५७ ॥ तस्मिन् सर्वेऽपि ते तीर्थ्या, भवेयुर्मोक्षसाधकाः ? । ध्यानयोगबलेनैव,
सारो यथेष वर्तते ॥ ७५८ ॥ किं चेदं ध्येयनानात्वमपरापरयोगिनाम् । एकत्र मोक्षे सत्साध्ये ?, एतन्मम संशयः ॥ ७५९ ॥ तदम
मधुना नाथ !, सर्वं सन्देहवारणम् । कथाम्यहं निःसामर्थ्यादिशुम्भूषयितुमर्हसि ॥ ७६० ॥ सूरिणोक्तं—मार्ये ! सामान्यगीतायस्तमेव तेन
मार्यसे । विक्षेपतो न विज्ञातमेतन्नदं चिन्तासमं ॥ ७६१ ॥ "एते हि तीर्थ्याः सर्वेऽपि, कृत्स्नैषसमानकाः । भिनसद्वेपाशावस्य, पक्षधा-
"रिणो भवाः ॥ ७६२ ॥" तथा चात्र कथानकं—एकस्मिन्नगरे भूरिरोगमस्तसमस्तलोके विपत्ते कश्चिदेक एव महावैद्यः, स चोत्पत्तिस्य

“ज्ञातः सद्वैद्यः समस्तरोगसंहितानां नाशको निःशेषरोगाणामुपकारनिरतो लोकानां तथापि ते लोका अधन्यतया न प्रतिपद्यन्ते तस्य वचनं ते-
“ऽपि तु धन्यतमाः प्रतिपद्यन्ते, स चानवरतं तेषां सन्निधौ व्याख्याति, ततोऽपश्रुत्यावस्थानागतैरस्य पार्श्वे समुत्था कियद्भिर्भव्यभूतैः,
“ततस्ते धन्यमात्रगृहीता अपूर्वं वैद्यकशास्त्रं सुमारब्धाः, तेषां तु लोकानामधन्यतयैव ते नितरां प्रतिभासन्ते, ततो पश्चिमं मन्दतया
“विरचिता नियमनिवर्सीहिताः प्रथिताभि केषांचिदभ्युपगत्यावस्थापितानि सद्वैद्यवचनान्यनुसरन्ति अनिर्णीतासौ मध्ये वचनानि अन्यो
“पुनरेषामन्तर्विपरीतसद्वैद्यवचनानामतिपाण्डित्याभिमानेन संहिता विहिता, विविधपदचयाश्च ते रोगिणो नागरकाः, ततस्तेषामपि कुष्टवैद्यानां
“मध्ये कश्चिदेव केषांचिच्चित्ते प्रतिभाति मायया, ततः प्रसिद्धिं गताः सर्वेषां सम्बन्धिन्यो वैद्यशालाः, व्याख्यातारः सर्वविनेयेभ्यो निवसन्ति
“प्रसंहिताः तथापि तथा प्रसिद्धास्तेऽपि महार्घतया जनपीडिता इव मूर्खलोकैरसौ मोक्षमहावैद्यः । एवं च स्थिते—ये ते मोक्षमहावैद्यस
“त्कियां विधिपूर्वकम् । कुर्वन्ति रोगिणस्तावत्ते भवन्त्येव नीरुजाः ॥ ७६३ ॥ किं च—यत्र जीवन्ति सर्वेऽपि, रोगमुक्ता यथा जनाः । तस्यां
“सुवैद्यशालायां, भूयांसो विहितक्रियाः ॥ ७६४ ॥ यथा सूतेऽपि सा शाला, सद्विनेया ससंहिता । संजाता सर्वलोकानां, रोगक्लेशविघा-
“तिनी ॥ ७६५ ॥ युग्मम् । ये पुनः कुष्टवैद्यानां, रोगिणो गोचरं गताः । तेषां ते रोगजालेन, नितरां परिपीडिताः ॥ ७६६ ॥ किं च
“—यथा दीपस्तु तच्छाला, लोकानामपकारिकाः । मृतेष्वपि यथा ख्याताः, सद्विनेयाः ससंहिताः ॥ ७६७ ॥ यस्तु तास्वपि दृश्येत,
“कैवल्याच्च कथन । विशेषो रोगिणां हन्त, रोगतानवलक्षणः ॥ ७६८ ॥ सर्वरोगविमोक्षो वा, कस्यचिद्दैवयोगतः । सा तु शिष्यानां सा
“शास्तु, यदि चार्येव देहिनाम् ॥ ७६९ ॥ सोऽपि तेषां गुणो नूनं, सर्वज्ञविधिनिर्मितम् । यानि सद्वैद्यशास्त्रस्य, गृहीतानि पदानि तैः
“॥७७०॥ त्रिभिर्विशेषकम् । यथाहि—नैवामी न गृहीतानि, सर्वथा कुमतुम्भिः । एकान्तेनैव ते ज्ञाता, व्याधिवृद्धेर्विधायकाः ॥७७१॥

“कारणम् ॥ ७४५ ॥ मन्ये परां शिवां मातुरूर्मीर्मौ ध्यायिको शिव । परमाक्षरमाला सा, सैवामृतकल्लोल्यसे ॥ ७४६ ॥ नाभौ मे मूल-
“वामध्ये, बिन्दुं देवमथापरे । सुपाण्डुरपयश्चं, ध्येयमातुष्मसितिरम् ॥ ७४७ ॥ आग्नेयमण्डले स सान्मीस्थिते रक्तवर्णकः । माहेन्द्रे
“पीतकः कृष्णो, वायव्ये वारुणे सितः ॥ ७४८ ॥ तत्र—पीतः सुस्तम्भनेषु, रक्तश्चावेषु चिन्त्यते । कृष्णोऽभिचारिके कार्ये, पुष्टिदो
“धवले मतः ॥ ७४९ ॥ अन्येऽप्याहुर्यथा शोभ्यौ, नाडीमार्गौ मुमुक्षुणा । इडापिङ्गलयोर्ध्येयं, नाड्योः सञ्चारकर्म च ॥ ७५० ॥ ना-
“डीचक्रस विशेषः, मनागौ दक्षिणेतरः । वहारेण च मध्यस्थं, बहिः कालमपरिक्षम् ॥ ७५१ ॥ पद्मासनं विधायोच्चैर्मध्यानात्तव क-
“म्म् । ओङ्कारोच्चारणं मातुरपरे सान्त्विदायकम् ॥ ७५२ ॥ यथाऽन्ये प्राहुर्यथा—आ नाभेः सरन्ध्र प्राण, विसतन्तुसमं शनैः । मूर्धा-
“न्तव्याप्तरन्ध्रेण, निर्गच्छन्तं विचिन्तयेत् ॥ ७५३ ॥ मार्जिसमण्डलस्थं वा, पञ्चोपाधीवसंस्थितम् । मार्घं पुमांसमपरे, तथा ध्येयतया
“विदुः ॥ ७५४ ॥ इन्द्रौमि सस्थिवं नित्यं, पुमांसं परमं तथा । स्वर्णसमवायीर्य, ध्येयमाहुर्मनीषिणः ॥ ७५५ ॥ आकाशमात्रमपरे,
“विश्वमन्ये चराचरम् । नासाग्रं बिन्दुमित्याहुरपरे मुक्तिदायकम् ॥ ७५६ ॥” एवं च स्थिते—यथा नाभेर्मैमाख्यातो, ध्यायताक्षस्य सा-
रका । ध्यानयोगस्तथा तीर्थ्या, स एव मतिपादितः ॥ ७५७ ॥ तत्किं सर्वेऽपि ते तीर्थ्याः, भवेयुर्मोक्षसाधकाः ? । ध्यानयोगबलेनैव,
सारे चयेण वर्तते ॥ ७५८ ॥ किं चेदं ध्येयनानात्वमपरापरयोगिनाम् । एकत्र मोक्षे संसाध्ये ?, चकवान्मम संशयः ॥ ७५९ ॥ तदन
मपुना नाथा !, सर्वं सन्देहपादपम् । कृपाम्बुदन्तिसामर्थ्यादुन्मूलयितुमर्हसि ॥ ७६० ॥ सूरिणोक्तं—आर्य ! सामान्यगीतार्थस्त्वमेवं वेत्
मापसे । विशेषतो न विज्ञातमैदम्पर्यं जिनागमे ॥ ७६१ ॥ “एते हि तीर्थ्याः सर्वेऽपि, कूपदेवसमानकाः । जिनसद्दीपनाशस्य, पदक्रमा-
“भिगो मताः ॥ ७६२ ॥ यथा चात्र कथानकं—एकस्मिन्नगरे भूरिरोगमस्तसमस्तलोके विषये कश्चिदेक एव महावैद्यः, स चोत्पन्नरिम्म

"ज्ञानः सद्य समस्तरोगसंक्लिष्टानां नाशको निःशेषरोगाणामुपकारनिरतो लोकानां तथापि ते लोका अधन्यतया न प्रतिपद्यन्ते तस्य वचनं के-
"चित्तु धन्यतमाः प्रतिपद्यन्ते, स चानवरत निजैः शिष्यैभ्यो व्याख्यानं, तथोपदेशमसङ्गागतैरवधारित सुदृढा क्रियमन्त्रपूर्वैः,
"ततस्ते ज्ञानमात्रतुष्टाः सपूजार्थं वैद्यकमापरिशुभारम्भाः, तेषां तु लोकानामपथ्यतयैव ते नितरां प्रतिभासन्ते, ततश्च पण्डितंमन्यतया
"विरचिता निजमतिसंस्थिताः प्रचिताश्च केषांचिदुपदेशात्सावधारितानि सद्वैद्यवचनान्यनुसरद्भिः कानिचिच्छास्त्राणि मध्ये कल्पानि मन्दैः
"पुनरेकान्तविपरीतसद्वैद्यवचनानामभिप्रायमजानानैः संहिता विहिताः, विविधवचनाश्च ते रोगिणो नाशकाः, ततस्तेषामपि क्षुद्रवैद्यानां
"मध्ये कश्चिदेव केषांचिदिवे प्रतिभाति नापरः, ततः प्रसिद्धिं गताः सर्वेषां सम्बन्धिन्यो वैद्यशालाः, व्याख्यातारः संनिहितेभ्यो निजनि-
"जसंहिताः नानाकथया प्रसिद्धास्तेऽपि महावैद्यतया अधमीरिव इव भूरिलोकैस्ते मोक्षमहावैद्याः । एवं च स्थिते—ये ते मोक्षमहावैद्यस
"ज्ञिकाः विधिपूर्वकम् । कुर्वन्ति रोगिणां तत्र अचलस्यैव नीरुजः ॥७६३॥ किं च—तत्र दीव्यति सद्वैद्ये, रोगोन्मुक्ता यथा जनाः । तस्यां
"सुवैद्यशालायां, मूलासौ निर्मितक्रियाः ॥ ७६४ ॥ तथा मृतेऽपि सा शाला, स्वशिष्यैश्च समंहिता । संजाता सर्वलोकानां, रोगक्षेदविधा-
"यिनी ॥ ७६५ ॥ युग्मम् । ये पुनः क्षुद्रवैद्यानां, रोगिणो गोचरं गताः । तेषां ते रोगजालेन, नितरां परिपीडिताः ॥ ७६६ ॥ किं च
"—यथा जीवत्सु तच्छाला, लोकानामपकारिकाः । मृतेष्वपि तथा जाताः, स्वशिष्यैश्च समंहिताः ॥ ७६७ ॥ यस्तु तास्वपि दृश्येत,
"वैद्यशालासु कश्चन । विशेषो रोगिणां हन्त, रोगतानवलक्षणः ॥ ७६८ ॥ सर्वरोगविमोक्षो वा, कर्मविवरयोगतः । तासु स्थितानां सा
"ज्ञासु, यदि जायेत देहिनाम् ॥ ७६९ ॥ सोऽपि तेषां गुणो नूनं, सर्वव्याधिनिवर्हिणाम् । यानि सद्वैद्यशास्त्रस्य, गृहीतानि पदानि तैः
"॥७७०॥ त्रिभिर्विशेषकम् । यतो हि—पैशाचानि न गृहीतानि, सर्वथा क्षुद्रबुद्धिभिः । एकान्तेनैव ते जाता, व्याधिवृद्धिविधायकाः ॥७७१॥

“कारणम् ॥ ७४५ ॥ मन्ये परं स्थितो मातुरूर्ध्वभागे व्यापिको स्थितः । परमाक्षरमात्रा सा, सैवामृतकलोच्यते ॥ ७४६ ॥ नासाग्रे भ्रूल-
“तामध्ये, बिन्दुं देवमथापरे । तुषारहारधवलं, ध्येयमाधुभकस्थिरम् ॥ ७४७ ॥ माहेयमण्डले स स्यान्नीलिते रक्तवर्णकः । माहेन्द्रे
“पीतकः कृष्णो, वायव्ये वारुणे सितः ॥ ७४८ ॥ तत्र—पीतः सुन्दरर्षिचेन, रक्तश्चारेषु चिन्त्यते । कृष्णोऽभिचारिके कार्ये, पुष्टिदो
“धवलो मतः ॥ ७४९ ॥ अन्येऽप्याहुर्यथा घोष्यौ, नादीभागौ मुमुक्षुणा । इडापिङ्गलयोर्मध्ये, मार्गो सञ्चारकश्च च ॥ ७५० ॥ ना-
“डीपक्ष्म विज्ञेयः, प्रचारौ दक्षिणेतरः । तद्वारेण च मन्तव्यं, बहिः कालवशस्थितम् ॥ ७५१ ॥ पद्मासन विधायोर्ध्वपर्यस्तानात्सापर्वं च-
“क्रम् । ॐकारोच्चारणं मातुरपरे शान्तिदायकम् ॥ ७५२ ॥ तथाऽन्ये प्राहुर्यथा—आ नाभेः सरन्ध्र प्राप्य, बिसतन्तुसमं शनैः । मूर्धो-
“न्तवामूरन्ध्रेण, निर्गच्छन्तं विचिन्तयेत् ॥ ७५३ ॥ मार्तण्डमण्डलस्थं वा, वह्नोरग्नीवसक्षितम् । मार्गं पुमांसमपरे, तथा ध्येयतया
“विदुः ॥ ७५४ ॥ इमौकोऽसि सस्थितं नित्यं, पुमांसं परमं तथा । सर्वसत्त्वसमाकीर्णं, ध्येयमाहुर्मनीषिणः ॥ ७५५ ॥ आकाशमात्रमपर,
“विश्वमन्ये चराचरम् । मासमं चिन्तमित्याहुरपरे मया शाम्यतम् ॥ ७५६ ॥” एवं च स्थिते—यथा नाधैर्मेमाम्नायौ, उत्पादस्य सा
रुकः । ध्यानयोगस्तथा तीर्थ्यैः, स एव मतिपार्थितः ॥ ७५७ ॥ तस्मिन् सर्वेऽपि ते तीर्थ्याः, भवेयुर्मोक्षसाधकाः ? । ध्यानयोगबलेनैव,
सारो यथेष्ट कल्पिते ॥ ७५८ ॥ किं चैवं ध्येयनामात्मपरापरयोगिनाम् । एकत्र मोक्षे ससाध्ये ?, वक्तव्यान्मम संशयः ॥ ७५९ ॥ तदेन
मधुना नाथ !, स्वयं सन्देहपातम् । तथाभ्यस्यन्तिसामर्थ्यात्तुम्मूलयितुमर्हसि ॥ ७६० ॥ सूरिणोक्तं—आर्य ! सामान्यगीतार्थस्त्वमेवं येन
मायसे । “विशेषतो न विज्ञातमेवम्भवं विभागशः” ॥ ७६१ ॥ “एते हि तीर्थ्याः सर्वेऽपि, तुल्यपेयसमानकाः । जिनसर्वज्ञशासन, पञ्चमा-
“र्गो मताः ॥ ७६२ ॥” तथा पात्र कथानकं—एकस्मिन्नगरे सूरयोऽमलसमवलोके विषये कश्चिदेक एव महावैद्यः, स चोत्पन्नरिग्य

"तीर्थ्याः, केचिदेव न चापरे ॥ ७९० ॥ अन्यच्च—कुमतशास्त्रपाठाया, ये तीर्थ्याः शास्त्रकारिणः । तैरुक्तानि निजशास्त्राणि, शिष्येभ्यः
"कथितानि भोः ! ॥ ७९१ ॥ प्रवर्तितानि तीर्थानि, शिष्टानुष्ठानमात्रिका । यदिदं वैद्यशास्त्राणामुत्थानमभिधीयते ॥७९२॥ एवं च स्थिते
"—ये सर्वज्ञमहावैद्यशास्त्रयां कर्मरोगिणः । चिकित्सां कुर्वते यन्यास्ते भवन्त्येव नीरुजः ॥ ७९३ ॥ नास्तिकेषु च तीर्थ्येषु, कर्मरोगस्य
"नाशनम् । मङ्गलपठे तथा सर्वसोख्यो वा भूयते कचित् ॥ ७९४ ॥ सोऽपि सर्वज्ञवाक्यानां, तेषामेव गुणो मतः । यानि तैर्निजशास्त्रेषु,
"प्रथितानि कर्मचन ॥ ७९५ ॥ युग्मम् । यद्ध आदिमपदीनां, तेषां सर्वज्ञभाषितम् । इति स्थित भवत्येव, कर्मरोगनिबर्हणम् ॥ ७९६ ॥
"यथा दोषचयं वैद्यः, शारीरमधिचिकित्सति । रागद्वेषमहामोहांस्तथा सर्वज्ञ एव हि ॥ ७९७ ॥ यस्मान्मात्स्येन सर्वज्ञवैद्यशास्त्रबहिःस्थिता ।
"चिकित्सा कर्मरोगाणां, भूतमेवेन हेतुना ॥ ७९८ ॥ तथाहि—एकान्तविपरीता ये, जैनशास्त्रस्य नास्तिकाः । एकान्तेनैव ते पापा, दी
"र्घसंसारकारकाः ॥ ७९९ ॥ तथापि क्षुद्रजन्तूनां, गृद्धानामर्थकामयोः । त एव प्रतिभान्त्युच्चैर्नास्तिकाः साम्प्रतेक्षिणाम् ॥ ८०० ॥ तवे
"वमार्य ! क्षेपाणि, तीर्थानि जिनभाषितात् । विनिर्गतानि तेनेदं, व्यापकं जिनदर्शनम् ॥ ८०१ ॥ एवं च स्थिते—यद्रागद्वेषमोहानां, प्र
"तिपक्षतया स्थितम् । सत्यं भूततया भद्र, सोपमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ८०२ ॥ औदार्यं सुन्दरं वीर्यमाकिञ्चन्यमलोभता । गुरुभक्तिस्तपो
"ज्ञान, ध्यानमन्यच्च तादृशम् ॥८०३॥ नास्तिकेष्वपि तीर्थेषु, तत्स्वरूपेण सुन्दरम् । किंतु नो राजते तेषु, यथा चाचितभूषणम् ? ॥८०४॥
"निर्मिश्रितयकम् । यद्धि स्वकल्पितैः क्षेपैः, सर्वज्ञवचनादितैः । यागहोमादिभिः सार्धं, मीलितं न विराजते ॥ ८०५ ॥ समस्तोपाधिशु
"द्धानां, गुणानां प्रतिपादकम् । तदेवं सर्वतीर्थेषु, स्थित सर्वज्ञदर्शनम् ॥ ८०६ ॥ तच्च सत्त्वाधिकं जैन, तीर्थं सर्वगुणात्मकम् । सर्वत्र
"संस्थित ज्ञेय, न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥८०७॥ अतो मद्युक्तमार्गेण, यथा ते तीर्थिकास्तथा । ध्यानयोगबलेनैव, किं स्युर्मोक्षस्य साधकाः ?

"किं बहुना ?—सा महावैद्याष्टिका, ज्ञेया रोगनिबर्हणी । तत्संहितानुसारेण, शेषा अपि कदाचन ॥ ७७२ ॥ यतः—वातः पित्त कफ-
"श्लेति, सर्वरोगविधायकम् । दोषत्रय विजानीते, सुवैद्यस्तस्य भेषजम् ॥ ७७३ ॥ कूटवैद्या न जानन्ति, सर्वं तत्सविशेषतः । तेभ्यो
"योऽपि विशेषः स्यात्तन्मात्रो रोगिणां क्वचित् ॥७७४॥ सोऽयं घुणाक्षरन्यायः, स्याद्दोषत्रयहानितः । तस्मात्स एव सद्वैद्योऽत्र रोगपिष्टि-
"रसकः ॥ ७७५ ॥ युग्मम् । तदिदं ते समासेन, मया वैद्यकथानकम् । पौण्डरीक ! समाख्यातं, सन्देहच्छेदनं परम् ॥ ७७६ ॥ अथोऽत्र
"जगत् ज्ञेयाः, सर्वरोगप्रपीडितः । एकश्च महावैद्यः, सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ७७७ ॥ संजातकेवलज्ञानः, शिष्टसिद्धान्तसंहितः । सकलोऽसौ
"पकारी च, कर्मरोगनिबर्हणः ॥ ७७८ ॥ तथापि गुरुकर्माणः, संसारोदरचारिणः । भूयांसो न प्रपद्यन्ते, जीवास्तं परमेश्वरम् ॥ ७७९ ॥
"ये भव्या लघुकर्माणो, जीवा धन्यतमाः परम् । त एव तं प्रपद्यन्ते, सौम्यं परमेश्वरम् ॥ ७८० ॥ सर्वज्ञमनुजायां च, स सभायां यदा
"उक्तम् । शिष्येभ्यो देशयत्सुवैद्योपमार्गं आगतः ॥ ७८१ ॥ तदा देशा मनुष्याश्च, केचित्तां कलुषाशकाः । प्रसङ्गेनागमास्तत्र, शृण्वन्ति
"जिनदेशनाम् ॥ ७८२ ॥ अनेकनयगम्भीरां, तां श्रुत्वा मन्दबुद्धयः । अन्यथा कल्पयन्त्येते, मिथ्यात्वाध्मातचेतसः ॥ ७८३ ॥ ततस्ते
"जिनसौधाद्युपन्यस्त बहिर्गताः । शास्त्राणि प्रकुर्वन्ति, कूटवैद्यसमानकाः ॥७८४॥ तत्र च—ये तावदास्तिकाः केचित्तीर्थ्याः सांख्यादयो
"मताः । जिनवाक्यानुसारेण, तैर्मन्त्रेषु किमप्यमी ॥ ७८५ ॥ स्थानानि चाववाख्यामि, क्षेपमभ्यूहित क्वचम् । स्वपाण्डित्याभिमानेन, कूट
"वैद्यैरिवाखिलम् ॥ ७८६ ॥ युग्मम् । ततः सर्वज्ञसद्वाक्यभूषितानि महीतले । तच्छास्त्राण्यपि राजन्ते, प्रसिद्धिं प्रगतानि च ॥ ७८७ ॥
"ये पुनर्नास्तिकाः पापा, बृहस्पतिसुतादयः । सर्वं तैर्जिनशास्त्रस्य, विपरीतं विकल्पितम् ॥ ७८८ ॥ तेऽपि बाधाद्व्यसाराख्यापिवजने
"गताः । प्रसिद्धिं तस्करस्येह, प्रागल्भ्यं हि महत्तरम् ॥७८९॥ तथा—नानारूपिताक्षेपकानां, प्रतिभान्ति यथाशयम् । केषांचिदेव ते

"॥ ८२६ ॥ चित्तजालोपसंहारि, मनुष्यानभीष्टम् । औदासीन्यं मतं तद्धि, निर्वाणमात्रकारणम् ॥ ८२७॥ तस्य तन्निरोधस्य, चित्त
"ध्यानं मुमुक्षुणा । तत्र नानाविधोपायै, रागद्वेषादिसूदनैः ॥ ८२८ ॥ ध्यातो मतीर्थिकैः मोक्षो, यः मोक्षो जिनशासने । मावतीर्थे स्थितः
"सोऽयं, ध्येयमात्रो न दुष्यति ॥ ८२९ ॥ यतः—बहिर्विषुवदर्थ्याः, साधयन्ति मुमुक्षवः । मोक्षं नानाविधैर्ध्येयैर्माध्यस्थ्यं तत्र कार
"णम् ॥ ८३० ॥ किं तु—परमात्मादयो ध्येया, यथा संवेगकारिणः । जीवस्य चेतसोऽस्थैर्ये, न हि विश्वासकथा ॥ ८३१ ॥ माध्य-
"स्थ्यनविक्षेपेण, चेतसः सुन्दरेतरम् । स्वरूपं भायते स्थिरं, स्वसंवेदनतो यदा ॥ ८३२ ॥ किं तु—मानातथ्यित्वाशीयानां, कस्यचित्स्वा-
"स्थ्ययन । चेतःशुद्धिरवभिन्ना, मौनीन्द्री मार्गदेशना ॥ ८३३ ॥ ततो विशुद्धचित्तानां, शुद्धमाध्यस्थ्यशालिनाम् । केषांचित्तेऽपि चि
"न्तया, स्वविशुद्धेर्विधायका ॥ ८३४ ॥ इतरथा—तत्त्वं विहाय ये मूढाः, प्रवर्तन्तेऽर्थकामयोः । तद्रूढेनैव निर्भिन्ना, योगिनोऽत्र
"वयं किल ॥८३५॥ तेषां ज्ञानमुलूकानां, यादृक् सूर्योदयेऽमले । कोटरान्तःप्रविष्टानां, तादृग् ज्ञेयं महात्मभिः ॥८३६॥ युग्मम् । ये ज्ञान
"तमोलिप्ताः, सुदृष्टिप्रसरं विना । कौशिका इव तीव्रर्थे, भिवर्त्त भवकोटरे ॥ ८३७ ॥ योगे ज्ञानांशुदीप्ताङ्गे, परिस्फुरति भास्करे । इत्थे
"हि कुवादितेऽर्थकामस्याद्गमः ? ॥ ८३८ ॥ तस्मान्निर्मलचित्तानां, वैराग्याभ्यासशालिनाम् । चित्रमालम्बनं प्राप्य, माध्यस्थ्यं संप्रवर्तते
"॥ ८३९ ॥ यतोऽमी ये पुरा प्रोक्ता, ध्येयभेदाः कुतीर्थिकैः । विष्यन्दबिन्दुभूतास्ते, सुजैनमतवारिधेः ॥ ८४० ॥ तत्स्फुटध्येयशालाकाय
"म्यदर्शनमालिका । स्वरूपेण सदा ज्ञेया, कर्मरोगनिवर्तनी ॥ ८४१ ॥ तत्रस्थानां पुनर्यः स्यात्कर्मरोगक्षयः क्वचित् । विक्षेपो वा स वि
"ज्ञेयः, सर्वज्ञवचनाद्गुणः ॥ ८४२ ॥ इयं सद्ध्यानशालाकावत्काल तन्मतात्मिका । कर्मरोगहरी ज्ञेया, प्रत्यक्षादी सुसंस्थिता ॥ ८४३ ॥ यतो
"पोष्येऽत्र लोके, किंचित्स्यात्सुन्दरं वचः । तद्गुणाकररूपायां, सर्वमस्यां प्रतिष्ठितम् ॥ ८४४ ॥ मत्पुनर्बुद्धिलेपेन, विना हिंसादि सुन्दरम् ।

"५॥ ८०८ ॥ तत्र—शुद्धानुष्ठानविकलं, ध्यानं यदुष्टशीलिनः । ध्यायन्ति तद्धोमात्रं, नास्याकारि विवेकिनाम् ॥ ८०९ ॥
"यतोऽत्र तण्डुलस्येव, जीवस्य तुषसन्निभे । शुद्धे मले सदाचारध्यानाभ्यां क्षयमेतरः ॥ ८१० ॥ यः पुनर्मलिनारम्भी, बहिर्ध्यानपरो
"भवेत् । नासौ ध्यानात्मवेन्मुक्तः, सतुषस्तण्डुलो यथा ॥ ८११ ॥ युग्मम् । सर्वोपाधिविशुद्धेन, वृत्तो जीवन साध्यते । ध्यान-
"योगः परः श्रेष्ठो, यः सम्यक्स्य साधकः ॥ ८१२ ॥ यस्य स्याचादृशो जीवो, निर्मलात्मा कथंचन । स तीर्थिकोऽपि मावेन, वर्तते
"जिनशासने ॥ ८१३ ॥ यस्माज्जैनेन्द्रमेवैकं, शासनं भवनाशनम् । तीर्थिका अपि तत्रस्था, भवन्त्येव भवच्छिदः ॥ ८१४ ॥ किं बहुना ?
"—सर्वपित्तकफानां मो, निःशेषगदकारिणाम् । शमात्तारोग्यजननं, यथा लोके सुभेषजम् ॥ ८१५ ॥ तद्दृष्टभिषजाऽपीह, प्रयुक्तं पर
"मार्थतः । कश्चिद् पुण्यमरन्यायाद्यथा सौख्यसम्भवम् ॥ ८१६ ॥ तथा सर्वमनुष्ठानं, पङ्कलेपासकारणम् । सरागद्वेषमोहानां, मिथ्याभिमान-
"जात्मनाम् ॥ ८१७ ॥ यतोऽर्के सर्वतीर्थेषु, साधारणेनेऽपि वा भवे । यथा तथा कृतं हन्त, ज्ञेयं सर्वज्ञसम्मतम् ॥ ८१८ ॥ चतुर्भिः कलम्
"पकम् । वस्तुनश्चित्तमालिन्यकारकं मोक्षवारकम् । यदिमावकरूपेण, कुर्युः कर्म प्रवादिनः ॥ ८१९ ॥ यज्जैनेन्द्रमतादू बाह्य, बहिर्भूत न
"संशयः । किं पुनर्लौकिकतीर्थानां, कर्तव्य बहुदोषकम् ? ॥ ८२० ॥ युग्मम् । वदिदं भावसत्तीर्थमवतीर्य तरन्ति भोः । संसारसागरं
"जीवाः, पर्याप्तं वेषविप्लवात् ॥ ८२१ ॥ बद्ध ते बन्धनानात्यमत्र सन्देहकारणम् । समाक्ष्यैव तत्रापि, परमार्थो निवेद्यते ॥ ८२२ ॥
"पापं हि शुल्कलोकैः, पुण्यं यद्धाति सुन्दरैः । विवेरसा द्वयोमाभ्यामौदासीन्येन मुच्यते ॥ ८२३ ॥ स्वभाव एव जीवस्य, यत्तथापरि
"णामभाग् । भव्यते पुण्यपापाभ्यां, माध्यस्थात्तु विमुच्यते ॥ ८२४ ॥ ते च हिंसाद्यनुष्ठानात्, भ्रमकाद्भुष्यकारकात् । जायन्ते विपक्ष-
"मेभ्य, यथाऽपथ्यादृवासवी ॥ ८२५ ॥ तथाऽहिंसाद्यनुष्ठानात्, स्थैर्यनैर्मल्यकारकात् । जायन्ते शुभकर्मौघाः, पथ्यादिव सुखासिकाः

"परमात्माख्यः, शुद्धबोधस्वभावकः । अशरीरोऽप्यनन्तेन, वीर्येण भवमोचकः ॥ ८६४ ॥ विज्ञातो यैर्महाभागैः, प्रतिपन्नश्च भावतः । तेषां
"निर्जीवरूपाणां, विवादः कुत्र कारणे ? ॥ ८६५ ॥ केवलं—ये कल्पयन्ति तं मूढा, रागद्वेषमलाविलम् । ते ज्ञायतस्वरूपैस्तैर्योऽमीस्ते कृत
"मायरैः ॥ ८६६ ॥ तदेवं तात्त्विकस्तावद्देवस्तुभ्यं निवेदितः । यः प्रमाणप्रसिद्धत्वादेकः सर्वप्रवादिनाम् ॥ ८६७ ॥ धर्मोऽप्येको जगत्यत्र,
"विज्ञेयः पारमार्थिकः । कल्याणमालिकाहेतुः, शुद्धः शुद्धगुणात्मकः ॥ ८६८ ॥ क्षमामार्दवसन्तोषतपःसंयमपुरुषः । सत्यशौचार्जवत्यागा,
"एते धर्मगुणा दश ॥ ८६९ ॥ दशलक्षणकं धर्ममेनं विज्ञाय पण्डिताः । स्वर्गापवर्गदातारं, विवदन्ते न केनचित् ॥ ८७० ॥ यस्त्वस्य
"वैपरीत्येन, कल्प्यते मूढमानवैः । धर्मस्य नास्त्यसौ धर्मे, करुणाऽऽक्रान्तबुद्धयः ॥ ८७१ ॥ तदेव धर्मः सर्वत्र, यः प्रमाणप्रतिष्ठितः । एकः
"स धर्मिवस्तुभ्यं, पौण्डरीकमुने ! मया ॥ ८७२ ॥ तथाऽत्र मोक्षमार्गो यः, संगीतस्तत्त्वसाधकः । सोऽप्येक एव विज्ञातः, पण्डितैः पर
"मार्थतः ॥८७३॥ तथाहि—सत्त्व कैश्चिदवास्मात्, लेश्याशुद्धिस्तथाऽपरैः । शक्तिस्तथाऽऽत्मनो वीर्यं, यत्कर्म्म योगिभिः परम् ॥८७४॥
"तदिह प्रयभेदेन, भिद्यते नार्थतो ध्रुवम् । तथाऽस्मात्परमेऽप्यत्र, ध्यानतो भेदिनः परम् ॥ ८७५ ॥ यतः—मदष्टकर्मसत्कायं, पुण्या
"पुण्ये शुभाशुभे । धर्माधर्मौ तथा पाशाः, पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥ ८७६ ॥ एवञ्च सत्त्ववीर्यादिसन्तत्याख्यं परिच्यते । इदं सद्भानिष्ठ
"क्लिष्टां, कारणं भवमोक्षयोः ॥ ८७७ ॥ हीयमाने भवत्यस्मिन्, भवे सर्वो विपर्ययः । वर्धमाने पुनः सर्वाः, सम्भवन्ति विभूतयः
"॥ ८७८ ॥ इदमेव चतुष्कोटिविशुद्धमपरे विदुः । ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यधर्मरूपास्तु कोटयः ॥ ८७९ ॥ रजस्तमोभ्यां तत्सत्त्वमाद्यं न प्रका-
"शते । विपरीताश्च जायन्ते, तस्यैश्वर्यादयो गुणाः ॥ ८८० ॥ तत्र—रजोवशादवैराग्यमनैश्वर्यं तमोवशात् । तमसश्चैव माहात्म्यादज्ञानाध
"र्मसम्भवः ॥ ८८१ ॥ यत्रैकं तत्र नियमाद्द्वितीयमपि विद्यते । रजस्तमोभ्यामेव हि, मषिवच्च सदा सह ॥ ८८२ ॥ तयोर्या मलिन

"समस्तपापनाशम, स्वशिमात्रेण देवयोः ॥ ८४५ ॥ मोक्षमिमारिकं पूर्वं, तीर्थैस्तस्यमहिमरैः । निमुक्तिकं बपोमात्र, वद्गु दास्य दिव
"क्तिनाम् ॥ ८४६ ॥ सुमम् । तदमेवं गुरोर्वाक्यमाकर्ण्य पुनरब्रवीत् । पौण्डरीकमुनिस्तस्यविसष्टकरमेच्छया ॥ ८४७ ॥ यथा नाथ
"बय भूमो, व्यापकं जिनदर्शनम् । तथा तीर्थ्यो यदि क्षीयं, प्रयुक्तत्र किमुत्तरम् ? ॥८४८॥ तथाहि निजया युक्त्या, सर्वे सवज्ञवादिन ।
"परतीर्थतिरस्कराः, क्षीयदर्शनगर्विताः ॥ ८४९ ॥ देवे धर्मे निजे तत्त्वे, मोक्षे चाविरुपुद्धयः। तेऽन्यदर्शनमस्तीति, स्वप्नान्तेऽपि न जा-
"नते ॥ ८५० ॥ एवं च स्थिते—यथा ते दर्पितास्तीर्थ्यों, दर्शनेन यथायथम् । तथा नाथ ! वयं स्तेन, को विशेषः परस्परम् ? ॥८५१॥
"ततो विनिर्णयं नाथाः !, सुन्दरं कर्तुमर्हथ । मतिश्च जायते येन, सुमेरुशिखरोपमम् ॥ ८५२ ॥ ततो विमलसद्दन्तदीधितिस्फुरिताधरः ।
"तन्निर्णयविधानाय, गुरुरित्थमभाषत ॥ ८५३ ॥ यतश्चिवमिदं व्यापि, मया वस्तुविनिश्चितम् । यत्सम्यग्दृष्टिभिर्दृष्टं, भाविकं जैनदर्शनम्
"॥ ८५४ ॥ तत्रोपलभ्यते जीवानां, स्वयमेव मनोभूताः । यतो हि विनिवर्तन्ते, मोहिन्यो भेदबुद्धयः ॥ ८५५ ॥ एकः प्रभासते देवः,
"सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । वीतरागो गतद्वेषो, महामोहारिसूदनः ॥ ८५६ ॥ सकलो भुवनमर्वोऽसौ, सशरीरो निगद्यते । निष्कलो मोक्षमा-
"पन्नः, स एव भुवनप्रभुः ॥८५७॥ इदं स्वरूपं निश्चित्य, यैः स देवोऽवधारितः । तेषां मानाविधाः शब्दा, भेदबुद्धिं न कुर्वते ॥८५८॥
"तथाहि—स बुद्धः प्रोच्यते लोके, ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः । जिनेश्वरोऽपि वा हन्त, नार्थभेदस्तथापि च ॥ ८५९ ॥ य एव तं परिज्ञाय,
"भजेद्यस्यैव स प्रभुः । ममास्ति तव नास्तीति, सर्वो मत्सरविभ्रमः ॥ ८६० ॥ यस्यैव भावतोऽभीष्टस्तस्यासौ कुरुते श्रियम् । न
"घटकेन पानीयं, चण्डालस्यापि वार्यते ॥ ८६१ ॥ निःशेषक्लेशनिर्मुक्तः, स समः सर्वदेहिनाम् । विज्ञातः कुरुते मोक्ष, ताटीया
"कस्य जाह्नवी ॥ ८६२ ॥ संसारिणां हि नानात्वमात्मनां कर्मनिर्मितम् । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्तः, परमात्मा न भिद्यते ॥ ८६३ ॥ स देवः

"तस्मापाये पुनः पुंसां, सघुखेर्गोचरं गते । अत्र सद्दर्शने नूनं, भेदबुद्धिर्निवर्तते ॥१०२॥ आत्मा साधारणो ह्येष, सर्वेषामपि वादिनाम् ।
"समको न विजानीते, मोक्षमार्गं यथास्थितम् ॥ १०३ ॥ मलक्षये पुनस्तस्य, मोक्षमार्गो यथास्थितः । यत्र तत्र स्थितस्यापि, हठादेव प्र-
"काशते ॥ १०४ ॥ ततश्चेदं विनिश्चित्य, दर्शनं पारमार्थिकम् । स गृह्णीयादिदं स्वीयं, यथा प्रोक्तं मनीषिभिः ॥ १०५ ॥ रिक्तस्य चान्यो
"क्षोतस्य, गुणदोषानपश्यतः । विलब्धा न केनासौ, सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥ १०६ ॥ अर्हं भास्करचारुस्य, मदीयं चारु दर्शनम् । न
"त्वदीयमिति स्पष्टं, मत्सरस्य विजृम्भितम् ॥ १०७ ॥ किं बहुना ?—यावन्तो देहिनो लोके, यथावस्थितदृष्टयः । ते सर्वेऽप्यत्र वर्तन्ते,
"तात्त्विके सुदर्शने ॥ १०८ ॥ निर्नष्टममकारास्ते, विवादं नैव कुर्वते । अथ कुर्युस्ततस्तेभ्यो, तासमैवैक्यवाक्यता ॥ १०९ ॥ ये त्वमी
"असमत्वेन, विपरीतविलोकिनः । स्वतीर्थं व्यापकत्वेन, सगिरन्ते समत्सराः ॥ ११० ॥ तेषां चात्मन्यकस्मानामपकर्षेणमुत्तरम् । अथवा
"तत्त्वमार्गं ते, बोधनीयाः प्रयत्नतः ॥ १११ ॥ युग्मम् । न मोहदलनादन्यो, ह्युपकारो महत्तमः । अतो मयुक्तं भवता यदुत—
"स्वतीर्थं व्यापि चेत्तीर्थ्यो, मयुक्तत्र किमुत्तरम् ? । तदिदं ते मयाऽऽख्यातं, मतिभावविवर्जितम् ॥ ११२ ॥ यावद्दृष्टिविवादाजे, निःक्षेप-
"नवसागरे । कुदृष्टिसरितः सर्वाः, पतन्तीत्यभ्यासि स्फुटम् ॥ ११३ ॥ यावन्ते सर्वसन्देहा, यास्यन्ति प्रलयं तदा । ज्ञास्यसि त्वं यथा
"नास्ति, सर्वज्ञवचनात्परम् ॥ ११४ ॥ युग्मम् ।" ततो निर्नष्टसन्देहः, प्रपद्य गुरुभाषितम् । संजातः पौण्डरीकोऽसौ, विशेषागमतत्परः
॥ ११५ ॥ कालक्रमेण सपन्नो, द्वादशाङ्गस्य पारगः । समन्तभद्रसूरीणामसौ पादप्रसादतः ॥ ११६ ॥ अनन्तगमपर्यायः, सातिशेषः
सविस्तरः । सर्वज्ञागमसद्भावः, सर्वोऽस्य मनसि स्थितः ॥ ११७ ॥ ततोऽनुयोगोऽनुज्ञातः, सगच्छस्तस्य सूरिभिः । पदमाचार्यकं स्वीयं,
कृतमानृण्यमात्मनः ॥ ११८ ॥ आचार्यस्थापनायां च, तदामरनरैर्मुदा । कृता विधानतो देवसङ्घपूजा दिनाष्टकम् ॥ ११९ ॥ ततः स

“सत्त्वं, हेतुः संसारदुःखयोः । तदेव विमलं वीर्यं, कारणं सुखमोक्षयोः ॥ ८८३ ॥ महामार्गमिमे सर्वे, तपोध्यानप्रवाहयः । विविक्ता
“देशो लोके, तत्त्वं पारमेश्वरम् ॥ ८८४ ॥ ज्ञानं चारित्रं तस्याप्युत्थानं च तदाश्रयम् । क्रिया च धर्मो तस्य, मोक्षमार्गः स की
“र्तितः ॥ ८८५ ॥ पवन तत्त्वं यैः सर्वोपकारं शुद्धबुद्धिभिः । मेरुनिष्कम्पचित्तानां, तेषां प्रान्तिः दुर्लभिका ? ॥ ८८६ ॥ केवल
“मरुस्थलीमे, मूढलोकं कृपापरः । तत्त्वमार्गात्परिभ्रष्टं, पाण्डवर्गविवर्धकम् ॥ ८८७ ॥ तदिदं वे समासेन, तत्त्वं सारप्रतिपक्ष यथा ।
“आत्मार्थं भक्तिभिश्रिता, पठ्यते पारयोगिनः ॥ ८८८ ॥ इदं चाविचलं लोके, पर्यैक मानवः शिवम् । यथा योगोऽप्यनेनैव, साध्यः
“महाप्रसुन्दरः ॥ ८८९ ॥ आत्मनोऽनन्तसद्बोधदर्शनानन्दवीर्यिणः । अमूर्तस्यातिरूपस्य, स्वरूपस्थितिलक्षणः ॥ ८९० ॥ सर्वसिद्धिर्निवृत्तिः
“शान्तिः, शिवमक्षयमव्ययम् । अपूर्वं ब्रह्म निर्वाणं, पर्यायास्तस्य वाचकाः ॥ ८९१ ॥ समस्तमिति निर्वर्त्य, हेतुरस्यानुसारेण मीरितम् । केवला-
“धिरिह मोक्षाय, स वीर्यविकल्पनः ॥ ८९२ ॥ षड्विधावश्यकेन, योऽयमनुजातिषु । अनुपमास्तुले यत्र, देवपथे प्रतिष्ठितम् ॥८९३॥
“सर्वविषयरेकमेतत्त्वमिदमुत्तमम् । सम्यग्ज्ञानमीदृक्षमेव, मोक्षस्य प्रतिपादकम् ॥ ८९४ ॥ दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धं सार्वं, प्रमाणेन प्रतिष्ठितम् । तदेत-
“मिह सर्वत्र, व्यापकं परिकीर्तितम् ॥ ८९५ ॥ युग्मम् । अमुं च तस्य भावार्थं, परिज्ञाय विशेषतः । नामभेदैर्विविधैः समर्थैरपीहाभिधीयते
“॥ ८९६ ॥ वैष्णवं वा बुद्धमेव, माहेशं वा निगद्यताम् । माहेश्वरं वा गीयेत, बौद्धं वाऽप्यभिधीयताम् ॥ ८९७ ॥ जैनेन्द्रं वा भिधे
“येव, शाक्तमिह मानवैः । अविनष्टे हि भावार्थे, शब्दभेदो न दुष्यति ॥ ८९८ ॥ अर्थेन हि प्रतीयन्ते, शब्दमात्रेण नो बुधाः ।
“संदुग्धेन स्तुतो, मूलं एव निरर्थकम् ॥ ८९९ ॥ एवं च स्थिते—सर्वविनाशं चेचेऽपि, परेषुधीर्विकाः स्वकम् । दर्शने व्यापकत्वेन,
“न विवादोऽस्ति तैः सह ॥ ९०० ॥ मात्सर्यविवादं मोहेन, पौनःपुन्यमहामुने । बहूनि दर्शनानीति, मोक्षोऽयं सेमवर्तते ॥ ९०१ ॥

शुद्ध्यष्टकस्यार्थ भावकायविनयेर्यापथभिक्षाप्रतिष्ठापनशयनासनवाक्यशुद्धयोऽष्टौ, दशलक्षणो धर्मश्च॥ त एते पच बन्धहेतव समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति ॥ तद्यथा—मिथ्यादृष्टे पचापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति ॥ सासादनसम्यग्दृष्टिसमग्मिथ्यादृष्टयसंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वार, ॥ संयतासयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा, प्रमादकषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगा । अप्रमत्तादीनां चतुर्णां योगकषायौ ।

शुद्ध्यष्टकस्य "अर्थ" "अष्टौ" भाव-काय-विनय-ईर्यापथ-भिक्षा-प्रतिष्ठापन-शयनासन-वाक्यशुद्धय: = शुद्धि अष्टकका अभिप्राय है कि आठ परिणामकी पवित्रता, शरीरकी शुद्धि वा मार्जन =नम्रताकी निर्मलता, देखकर चलनेकी शुद्धि, भिक्षाकी पवित्रता, =प्रतिष्ठापनकी शुद्धिता, साने और बैठनेकी शुचाई, वचनकी शुद्धता।

दशलक्षण "धर्म" "च" "ते" "एते" "पंच" =और (=च) दशलक्षण धर्म है ये इतने पांच

बन्धहेतव "समस्ता" "व्यस्ता" "च" "भवन्ति" तद्यथा =बन्धके कारण (कहीं कहीं) सब और (=च) (कहीं कहीं) न्यारे होते हैं जैसे

मिथ्यादृष्टे "पच" "अपि" "समुदिता" "बन्धहेतव" "भवन्ति" =मिथ्यादृष्टि (प्रथम गुण स्थानवर्ती) के पांचों ही (=अपि) इकट्ठे बन्धके कारण होते हैं

सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टीनाम् "अविरति-आदय:" "चत्वार:"; संयतासंयतस्य =सासादन सम्यग्दृष्टि (=दूसरे गुणस्थानवर्ती) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र गुणस्थानवर्ती) =तथा असंयतसम्यग्दृष्टि (चौथा वा असंयतगुणस्थानवर्ती) नि के अविरति, प्रमाद, कषाय, योग =चार (बन्धके कारण) होते हैं। संयतासंयत (अणुव्रतगुणस्थान वा पांचवे गुणस्थान वर्तीके)

अविरति: "(१) विरति-मिश्रा" "प्रमाद-कषाय-योगा:" "च" = अविरति (बन्धका कारण) है सो विरति करि मिली हुई है प्रमाद, कषाय, योगभी बन्धके (कारण होते हैं) अर्थात् अणुव्रत गुणस्थानवर्तीके विरति करि मिश्रित अविरति और प्रमाद कषाय-योग ये चार बन्धके कारण होते हैं ।

प्रमत्तसंयतस्य "प्रमाद-कषाय-योगा:" =प्रमत्तसंयमी (छठ्ठे गुणस्थानवर्ती) मुनिके प्रमाद, कषाय योग होते हैं ।

अप्रमत्तादीनाम् "चतुर्णाम्" =अप्रमत्तसंयमी (सातवे गुणस्थानवर्ती मुनि) आदिक चार (अप्रमत्त संयमी)

[illegible] =[illegible] (ये दो बन्धके कारण होते हैं) ।

उक्ता बन्धहेतवः । इदानीं बन्धो वक्तव्य इत्यत आह —

॥ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

उपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगकेवलिनाम् एकः एव योगः, अयोगकेवलिनः न बन्धहेतुः ; बन्धहेतवः उक्ताः इदानीम् बन्धः वक्तव्यः इति अतः आह = उपशान्तकषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीयों के एक ही योग (बन्धका कारण) है । अयोगकेवली के बन्धका कारण नहीं है बन्धके कारण कहे गये । इस समय बन्ध कहना चाहिये, इसलिये कहते हैं कि

(१)सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

(२)सकषायत्वात् (३) जीवः (४) (५) कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् (६) आदत्ते सः बन्धः (भवति)

सूत्रार्थ —सकषायत्वात् जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः भवति = कषायसहित होनेसे प्राणी या संसारी कर्मके (उत्पन्न होने) योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है सो बन्ध होता है (दूसरे प्रकार से अर्थ)

कर्मणः जीवः सकषायत्वात् योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः = कर्मकेहेतुसे जीव कषाय सहित होकरि (=सकषायत्वात्) उचित पुद्गलों को ग्रहण करता है सो बन्ध होता है । अतः भावकर्मका अनादि [संबंध है

(१) इस सूत्रका दोनों सम्प्रदायोंमें एक पाठ तथा एकसा अर्थ है । अध्याय छठवें में "कायवाङ्मनःकर्मयोग" प्रथमसूत्र स आस्रव द्वितीय सूत्र जिस प्रकार दोनों सम्प्रदायों में एकको दो सूत्र माने हैं । वैसे ही श्वेताम्बर सम्प्रदायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्र में इस सूत्रके भी दो सूत्र इस प्रकार माने हैं कि सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥१॥ "स बन्धः ॥२॥ परन्तु हमारे यहाँ एक ही सूत्र माना है । (२) सकषायत्वात् + जीव = सकषायत्वाद् + जीव = सकषायत्वाज् + जीव अर्थात् द् यदि च, छ, ज, झ, ञ इनमें से किसी एक के साथ आवे तब ज् में बदल जाता है । (३) जीवसे यहाँ पर शुद्ध जीवसे प्रयोजन नहीं है । प्राणों द्वारा जीने वाले या प्राणधारी जीवसे प्रयोजन है अर्थात् संसार में परिभ्रमण करने वाले से अभिप्राय है (४) यहाँपर छठवीं विभक्ति सम्बन्धके अर्थमें है "कर्मणः" सम्बन्ध है योग्यपुद्गलान् सम्बन्धवान् है और कर्मणः का अर्थ कर्म के ऐसा है अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठ कर्म प्रकृतियों के (परिणमने) योग्य पुद्गलस्कन्धको । (५) यहाँपर कर्मणः अपादान कारक अर्थात् पञ्चमी विभक्ति में आये हैं हेतुके अर्थ में । अर्थ-कर्म से अर्थात् कर्मके हेतुसे जीव कषाय सहित होता है । कर्म रहित (जीव) के कषाय का लगाव नहीं है जिस हेतुसे जीव कर्म का अनादि संयोग है ऐसा अभिप्राय है इसलिये कर्म के निमित्त से जीव कषाय सहित होकर ऐसा अर्थ किया है । (६) आदत्ते यह रूप दा धातु में आङ् उपसर्ग लगाने के बना है परन्तु जब आङ् (=आ) उपसर्ग क्रिया के पहिले लगाया जाता है तब क्रिया के अर्थ को उलट देता है । जैसे दा = देना परन्तु आदा = लेना या ग्रहण करना है ॥

भावार्थ इस सूत्रका इस प्रकार है कि समस्त लोक ऊपर नीचे इधर उधर सब ओर पुद्गलोंकरि गाढा गाढ भराहुआ है। ते पुद्गल अनेक प्रकार परिणमन की योग्यता को प्राप्त हो रहे हैं। तिनमें अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु कर्म होने योग्य भी समस्त लोक में भरे हैं जहां आत्माके प्रदेश हैं, वहां भी विद्यमान हैं अथवा छिपे हुए हैं। जब यह आत्मा मन वचन, काय योगों द्वारा सकम्प होकर कषाय सहित होता है, तब सब ओरसे समस्त आत्माके प्रदेशोंकरि कर्म के उत्पन्न होने योग्य पुद्गलस्कन्धों का ग्रहण करता है सोही बन्ध है अथवा यों कहिये कि कर्म के हेतुसे (=कर्मण ?) यह आत्मा कषाय सहित होता है। मन वचन काय योगों द्वारा सकम्प होता है, तब सब ओरसे समस्त आत्म प्रदेशोंकरि उचित (योग्य) पुद्गल-

'दा' प्रथम गणादि [दाय प्रभादि तृतीय जुहोत्यादि चतुर्थ दिवादि गणका धातु है। इस सूत्र में तृतीयगण का दा है जो परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में आता है। प्रथम पुरुष (= अन्य पुरुष भिन्न पुरुष) एक वचन वर्तमान कालकी क्रिया का चिन्ह परस्मैपद में 'ति' और आत्मनेपदमें "त" है। जुहोत्यादिगणमें यदि धातुमें एकस्वर हो तो उस धातु के प्रथम स्वर को दुहरा कर देते हैं। जैसे हु धातुमें हुको दोहरा कर देनेसे हुहु हो जाता है अथवा धातुके प्रथम व्यञ्जनको और उसके लगता ही या अत्यन्त समीप स्वर दोनोंको दोहरा देते हैं। जैसे दाको 'दादा' कर देते हैं। यह दादरा हुआ दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है इसलिये दादा का ददा होगया। परस्मैपदी पूर्वोक्त क्रिया का "ति" चिन्ह लगानेसे 'ददाति' बनाया॥ ददाति=वह देता है परन्तु आददाति - वह ग्रहण करता है। अब प्रश्न यह है कि आददाति को सूत्रमें न लगाकर आदत्ते क्यों लाये? उत्तरमें कहते हैं कि आदत्ते आत्मनेपदी है। आत्मनेपदी क्रिया से यह अभिप्राय है कि क्रियाका फल अपने पर पड़ता है और परस्मैपदमें दूसरे पर क्रिया का फल होता है। जैसे पचति=वह पकाता है परस्मैपद में यह क्रिया है और अर्थ यह है कि वह रसोई करता है जिसको अन्य पुरुष खायेगा परन्तु पचते आत्मनेपदी है उसका अर्थ यह है कि वह रसोई पकाता है और स्वयम् खायेगा अर्थात् अपने खाने के वास्ते रसोई करता है। इसी प्रकार आदत्ते का अर्थ है कि जीव कर्म के योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और उन का शुभ अशुभ फल जो कुछ भी होगा उसका भोक्ता वही जीव होगा अर्थात् अपने ही वास्ते ग्रहण करता है। इस लिये आददाति न लाकर आदत्ते लाये हैं। आदत्ते वाक्य आददाति से लघु भी है परन्तु हमारी समझ में अर्थ की यथार्थता प्रकाश करना ही यहां पर आदत्ते लाने का विशेष कारण जान पड़ता है। 'आदत्ते' वाक्य और अग्रिम कथित 'धत्ते' वाक्य (देखो सं० सर्वार्थसिद्धि अध्याय ८ सूत्र २ पृष्ठ ४१० प्रथमा (सि 'दधे स्थाने धत्ते इति धर्म') इस प्रकार बने हैं कि दा और धा के अन्त का आ क्रिया (जैसे ते, से त इत्यादिक) के पहिले गिर कर दद् और दध् क्रम से बन जाते हैं। दध् के पश्चात् यदि स्, त्, थ् क्रियाप्रत्यय आवें तो दध् का धत् हो जाता है इस लिय दद्+ते और धत्+ते=धत्ते [देखो व्याकरण (भण्डारकर) अष्टाध्यायी ८। ४। ५५।] + ते दत्ते और धत्ते रूप क्रमसे हुवे दत्ते में आङ् (=आ) लगाने से आदत्ते (ग्रहण करता है)। दा के चारों गणों में प्रथम पुरुष एक वचन वर्तमानकाल क्रियाके रूप -

[क] दा प्रथम गणमें यच्छ् होजाता है अ [प्रथम गणका विकरण] और पूर्वोक्त ति-प्र यय लगाकर यच्छति [=वह देता है] हो जाता है।

[ख] दा, दूसरे गणमें विकरण नहीं होता है। ति पूर्वोक्त क्रिया का चिन्ह लगाने से दाति (=वह काटता है] हो जाता है।

[ग] ददाति [परस्मैपदमें होता है] - इस दा का ददाति और दत्ते रूपों के बननेके नियम ऊपर आ चुके हैं। इस शब्दके इस तीसरे गणमें यह आत्मने-पद में होता है अर्थ है देता है और आदत्ते = लेता है ग्रहण करता है। दा के और भी कई अर्थ हैं परन्तु ...

[घ] दा [चतुर्थ गण परस्मैपदमें] ...

सह कषायेण वर्तत इति सकषायः । सकषायस्य भावः सकषायत्वम् । तस्मात्सकषायत्वादिति ॥ पुनर्हेतुनिर्देश किमर्थम् । जठराग्न्याशयानुरूपाहारग्रहणवत्तीव्रमन्दमध्यमकषायाशयानुरूपस्थित्यनुभवविशेष

स्कन्धों का ग्रहण करता है वही बन्ध है । यह ही एक बन्ध है । अन्यप्रकार के बन्धसे यहां प्रयोजन नहीं है । जैसे गुण और गुणीके भी बन्ध है सो बन्ध यहां न मानना । कर्मके निमित्तसे आत्मामें कषाय उत्पन्न होती है इस बातका ज्ञापक है कि आत्मा और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है ॥ पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद है । अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सांतरनिरतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा । तेईस प्रकारकी वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणा में जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । शेष बाईस जातिकी वर्गणाओं में जघन्य उत्कृष्ट भेद हैं । तथा इन बाईस जातिकी वर्गणाओंमें भी आहारवर्गणा, भाषावर्गणा (=वचनवर्गणा) मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा, कार्मणवर्गणा ये पांच ग्राह्यवर्गणा हैं अर्थात् येही आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा विषय में जीव के साथ सम्बन्ध रखती हैं और ज्ञानावर्णादिक कर्मरूप में परिवर्तित होती रहती हैं । आहार वर्गणाओं के द्वारा औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं । तथा तैजोवर्गणारूप स्कन्धके द्वारा तैजस शरीर बनता है ॥

ग्रन्थानुवाद —सह * कषायेण[1] वर्तते T इति * सकषाय[1]	=कषायकरि सहित (=सह) वर्तता है ऐसा सकषाय है ।
सकषायस्य[1] भाव[1] सकषायत्वम्[1]''', तस्मात्[1]'''	=सकषायका सत्ता या होना सो सकषायपना है तिस
सकषायत्वात्[1]''' इति * ॥ पुनः * हेतुनिर्देश[1]'''	=कषाय सहितपना (के हेतु) से ऐसा (सकषायत्वात्) है (प्रश्न) बहुरि हेतुकानिर्देश
किम्[1]''' अर्थम्[1]''' ।	=क्यों किया अर्थात् सूत्रमें सकषायत्व शब्दकी पञ्चमी विभक्ति (सकषायत्वात्) करि हेतु कहा सो इस हेतु के कहने का क्या अभिप्राय है ? ।
जठर-अग्नि-आशय-अनुरूप-	=(उत्तर) उदर वा पेट में (=जठर) अग्नि के आश्रय अथवा पचने के स्थानके अनुसार
आहार-ग्रहणवत् * तीव्र-मन्द-मध्यम-कषाय-	=आहार ग्रहण कियेजाने के सदृश तीव्र, मन्द, मध्यम कषायके
आशय-अनुरूप-स्थिति-अनुभव-विशेष-	=स्थानके अनुकूल (कर्मो की) स्थिति (बन्ध) की और अनुभाग बन्ध की विशेषता

प्रतिपत्त्यर्थम् ॥ अमूर्तिरहस्त आत्मा कथ कर्मादत्त इति चोदितः सन् जोव इत्याह ॥

जीवनाज्जीवः प्राणधारणादायुः सम्बन्धान्नायुर्विरहादिति ॥

प्रतिपत्ति–अर्थम् ॥ =बतलानेके लिये (हेतुका निर्देश पंचमी विभक्तिकरि किया) है अर्थात् अग्रिम सूत्रमें प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभवबन्ध और प्रदेशबन्ध कहेंगे। उनमें प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योग द्वारा होते हैं ॥ सो यहां पर कहते हैं कि जैसे उदर पचनेके स्थानकी तीव्र, मन्द, मध्यम अग्निके अनुसार अहारका रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि (=हड्डी) मज्जा, शुक्र (वीर्य) और त्वच (=खाल) भाव आदि रूप परिणमन होता है। तैसे ही कषायके आशय वा स्थानों की तीव्र, मन्द, मध्यम अवस्थाके अनुकूल कर्मोंकी स्थितिबन्धकी तथा अनुभागबन्धकी विशेषता होती है।

(१) अमूर्तिः अहस्तः आत्मा कथम् कर्माणि आदत्ते इति चोदितः सन् जीव इति आह ॥ =आत्मा अमूर्तिक है, हाथ रहित है कैसे कर्मको (=कर्माणि) ग्रहण करता है =ऐसा प्रश्न(=चोदित) होनेपर (=सन्) जीव ऐसे कहते हैं अर्थात् इस सूत्र में वर्णित जीवकी परिभाषा आचार्य आगे कहते हैं।

जीवनात् जीवः प्राणधारणात् आयुस् सम्बन्धात् न आयुस्-विरहात् इति =जीनेसे जीव है प्राणके धारणसे आयु (नामाप्राण के) सम्बन्धसे (जीव) है =न कि आयु (नामा प्राणके) विरहसे अथवा पृथकतासे (जीव) है। =ऐसा (जीव कर्मको ग्रहण करता) है

(१) मूर्ति शब्द स्त्रीलिंग होता है यहां पर अमूर्ति शब्द आत्मा शब्दका जो सदा पुल्लिंग होता है विशेषण है। इस लिये अमूर्ति शब्द भी पुल्लिंग है अर्थ यह है आत्मा नहीं है मूर्ति जिसकी सो अमूर्तिक है। (२) प्राणके मूल भेद चार हैं और विशेष भेद निम्नलिखित कवितामें दस हैं तथा परिभाषा भी व्यवहार तथा निश्चय जीवकी बहुत भेद इकतीसा (मन्हर) में है—

इन्द्री पांच बल तीन स्वास आव दस प्राण मूल चार इन्द्री बल स्वास आव मानिये।
पूरब जीवे था अब जीवे आगे जु जीविगा येही प्राण सेती विवहार जीव जानिये॥
सुख सत्ता बोध और चेतन निहचै प्राण सास्वत स्वभाव तीन कालमें बखानिये।
विवहार निहचै स्वरूप ज्ञान सरधान ऐसे जीव वस्तु जानके सुखी पिछानिये॥ १॥ (द्यानतरायजी कृत [illegible])

कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात्सिद्धेः। कर्मणो योग्यानिति। पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरज्ञाप नार्थम्॥ किं पुनस्तद्वाक्यान्तरम्। कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकं वाक्यम्। एतदुक्तं भवति- कर्मण इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतोर्जीवः सकषायो भवति नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति ततो जीव कर्मणोरनादिसम्बन्ध इत्युक्तं भवति॥ तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इति चोद्यमपाकृतं भवति॥ इतरथा हि

कर्मयोग्यान् इति • लघु-निर्देशात् सिद्धेः ;	=(प्रश्न) कर्मयोग्यान् ऐसी सिद्धि योग्य कथन (कर्मयोग्यान्) से हो जाती अर्थात् सूत्रमें कर्मणोयोग्यान् वाक्यके स्थानमें कर्मयोग्यान् लघुवाक्य ठीक होता।
कर्मणः योग्यान् इति, पृथक्-विभक्ति-उच्चारणम्	=(उत्तर)कर्मण और योग्यान् ऐसे (दो) न्यारे कारकोंका वर्णन या कथन
वाक्य-अन्तर-ज्ञापन अर्थम् किम् • पुनः तत्	=अन्य वाक्यके जतावनेके लिये है (प्रश्न) बहुरि वह अन्य
वाक्य-अन्तरम् कर्मणः जीवः सकषायः	=वाक्य क्या है। कर्मसे जीव कषाय सहित
भवति इति • एकम् वाक्यम् एतत् उक्तम्	=होता है ऐसा एक वाक्य हुआ अर्थ यह
भवति कर्मण इति • हेतु-निर्देशः	=होता है किकर्मणः (कर्मसे) ऐसे (कर्म शब्द के पंचमी विभक्ति करि) हेतुका उपदेशहै कि
कर्मणः हेतोः जीवः सकषायः भवति	=कर्मके निमित्तसे जीव कषा सहित होता है।
अकर्मकस्य न • कषाय-लेपः अस्ति ततः •	=कर्म रहित (जीव) के कषाय का लगाव नहीं है, तिस (हेतुनिर्देश) से
जीवकर्मणः अनादि-सम्बन्धः इति • उक्तम् भवति	=जीव कर्म का अनादि संयोग है ऐसा अर्थ या आशय या कथन होता है
तेन अमूर्तः जीवः मूर्तेन कर्मणा कथम् •	=तिस (जीव कर्मके अनादि सम्बन्धहोने) से अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्मकरि कैसे
बध्यते इति • चोद्यम् अपाकृतम् भवति ॥	=बांधा जाय है ऐसी तर्कणा या प्रश्न (=चोद्य) निराकृत होता है।
इतरथा • हि •	=क्योंकि (=हि) अन्यथा अर्थात् जीव कर्मका अनादि सम्बन्ध न मान करि अन्य नवीन माना जाय तो

पांच (स्पर्शन = त्वचा रसन = रसना, जीभ – जिह्वा, घ्राण = नाक = नासिका चक्षु = आंख = नेत्र = अक्षि श्रोत्र = कान) इन्द्रियें, मनोबल वचनबल कायबल तीन योग श्वासोच्छ्वास आयु केवल चार हैं।

बन्धस्यादिमत्त्वे आत्यन्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभाव प्रसज्येत ॥ द्वितीयं वाक्यं कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति पूर्व हेतुसम्बन्धं त्यक्त्वा षष्ठीसम्बन्धमुपैति कर्मणो योग्यानिति ॥ पुद्गलवचनं कर्मणस्तादात्म्यख्यापनार्थम्

बन्धस्य आदिमत्त्वे आत्यन्तिकीम् शुद्धिम् ॥ =बन्धका आदिमान् या आदिवाले होनेमें आतिशयजात अथवा सर्वथा शुद्धताको
दधतः सिद्धस्य इव बन्ध-अभाव प्रसज्येत =धारण करनेसे सिद्धके समान (जीवके) बन्धका अभाव ठहरे भावार्थ इसका यह है कि जीवके यदि कर्मोंका बन्ध नवीन मानलें तो उस समयसे पहिले जब जीवके बन्ध होना प्रारम्भ हुआ है सर्वथा जीव शुद्ध ठहरे जब जीवको सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तो मुक्त जीवोंके समान अर्थात् सिद्धोंके तुल्य इन जीवोंके भी बन्धका अभाव हुआ माना है।

द्वितीयम् वाक्यम् कर्मणः योग्यान् =दूसरा वाक्य कर्मके (उत्पन्न होने) योग्य
पुद्गलान् आदत्ते =पुद्गलोंको ग्रहण करता है
इति। अर्थ-वशात् विभक्ति-परिणामः इति =ऐसा है। तात्पर्यके वशसे विभक्तिके पश्चात् इस प्रकार होता है कि
पूर्वम् हेतुसम्बन्धम् त्यक्त्वा षष्ठीसम्बन्धम् =पहिले हेतुका संसर्ग या लगाव छोड़कर षष्ठी विभक्तिके संयोगको
(२)उपैति कर्मणः योग्यान् इति =कर्मणो योग्यान वाक्य प्राप्त होता है अर्थात् कर्मणो शब्दका पहिले हेतुनिर्देश कियाथा, अब सम्बन्ध निर्देश किया है। पहिले कर्मणो शब्दका अर्थ होता था कि कर्म (के हेतु) से (जीव कषाय सहित होजाता है) अब कर्मणो शब्दका अर्थ होता है कि कर्मके (योग्य)
पुद्गल-वचनम् कर्मणः तादात्म्य-ख्यापन-अर्थम्, =(सूत्रमें) पुद्गलका कथन [=वचन] कर्मका उसी (पुद्गल) स्वरूपमय होनेके (=तादात्म्य) =प्रकाश करनेके लिये है

(१) यह वाक्य प्रथम पदके संज् धातुमें प्र उपसर्ग लगाने से बना है, कर्मणि प्रयोग प्रथम पुरुष एक वचन विधिलिङ् (क्रिया) है। (२)
(२) यह उपैति शब्द द्वितीय गणके इ धातुसे बना है इ का गुण होने से 'ए' हो जाता है पश्चात् प्रथम पुरुष एक वचन वर्तमान क्रिया का ति प्रत्यय लगानेसे एति हो जाताहै पश्चात् उप उपसर्ग जोड़नेसे उप+एति)=उपैति बन जाताहै ताप भोजाता है ऐसा जान है।

तेनआत्मगुणोऽदृष्टो निराकृतो भवति तस्य संसारहेतुत्वानुपपत्तेः॥आदत्त इति हेतुहेतुमद्भाव ख्यापनार्थम्। अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मन सर्वतो योगविशेषात्तेषांसूक्ष्मैकक्षेत्रा वगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानाम्॥

तेन ॥	=तिस (कर्मके पुद्गल स्वरूप मय होने अथवा कर्मको पुद्गल परमाणु का स्कन्ध होने) से
आत्म-गुण ॥ अदृष्ट ॥ निराकृत ॥ भवति ॥	=आत्माका अदृष्ट गुण (कर्मको माननेका सिद्धान्त) अपाकृत अथवा दूर होता है।
तस्य ॥ संसार-हेतुत्व-	=क्योंकि तिस (कर्म) के (यदि कर्म आत्माका गुण होय तो) संसारके कारणपनाका
अनुपपत्ते ॥,	=साधन (=उपपत्ति) नहीं (=अन्) हो सकता है भावार्थ सूत्रमें पुद्गलशब्द इसलिये लाये हैं कि कर्म पुद्गल स्वरूपही हैं वा पुद्गल परमाणुका स्कन्धही है। कर्मको पुद्गलका स्कन्ध होनेसे वैशेषिक मती आदिकके इस सिद्धान्तका निराकरण होता है कि कर्म आत्माका अदृष्टगुण है और कर्मको यदि आत्मोका अदृष्टगुण माने तो कर्म संसारका हेतु नहीं होता है। कर्म पुद्गलमयी है आत्माका गुण नहीं है इसलिये इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है कि कर्म संसारका कारण है
[१]आदत्त(वाक्यम्)॥ इति॥ हेतु-[२]हेतुमत्	=आदत्ते ऐसा (वाक्य) हेतुके और हेतुमानके
भाव-ख्यापन-अर्थम्॥	=भाव (=अर्थके) प्रगट करनेके लिये है अर्थात् मिथ्यादर्श-अविरति-प्रमाद-कषाय-योग ये हेतु हैं और हेतुमान अथवा कार्य (पुद्गल कर्मका) बन्ध है।
अत॥ मिथ्यादर्शनादि-आवेशात्॥	=इसलिये (ऐसा अर्थ सिद्ध होता है कि) मिथ्यादर्शन आदि के आश्रयसे
आर्द्रीकृतस्य॥ आत्मन॥	=गीलाभया (=आर्द्रीकृत) वा सीले हुए (=आर्द्रीकृत) आत्माके
सर्वत॥ योग-विशेषात्॥ तेषाम्॥ सूक्ष्म-	=सब ओरसे अथवा सब क्रमसे योगके विशेषसे तिन सूक्ष्म
एक-क्षेत्र-अवगाहिनाम्॥ अनन्तानन्त-	=एक क्षेत्रमें स्थिति करनेवाले(=अवगाहिनाम्) अथवा रहनेवाले[=अवगाहिनाम्]अनन्तानन्त
प्रदेशानाम्॥ पुद्गलानाम्॥ कर्मभावयोग्यानाम्॥	=कर्म होने [=भाव] योग्य पुद्गलके प्रदेशोंका

"आदत्ते" का यहां पर कर्ताकी भांति प्रयोग हुआ है और वाक्यम् वा वचनम् इसके पश्चात् वाक्यशेष है और ख्यापनार्थम् वाक्य नपुंसक-लिंगमें है इसलिये आदत्तेका लिंगभी नपुंसक है। हेतुमत्-[हेतु अस्ति अस्य] हेतुवाला कार्य [शब्दकल्पद्रुम कोश पृष्ठ ५५१]

अभिमागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते ॥ यथा भाजनविशेषे क्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्य ॥ सवचनमन्यनिवृत्त्यर्थम् । स एष बन्धो नान्योऽस्तीति । तेन गुणगुणिबन्धो निवर्तितो भवति ॥ कर्मादिसाधनो बन्धशब्दो व्याख्येय ॥

अभिमावेन उपश्लेष बन्धः इति •
(१) आख्यायते। यथा-भाजन विशेषे-
क्षिप्तानाम् विविधरस-बीज-पुष्प-फलानाम् ॥
मदिरा-भावेन परिणामः तथा • आत्मनि अपि •
स्थितानाम् पुद्गलानाम् योगकषाय-वशात्
कर्मभावेन परिणामः वेदितव्यः, (२) सवचनम्
अन्य-निवृत्ति-अर्थम्; सः एषः बन्धः
न • अन्यः अस्ति । इति, तेन गुणगुणिबन्धः
निवर्तितः भवति ।
कर्म-आदि-साधनः
बन्ध-शब्दः व्याख्येयः

=विभाग रहित परस्परमिलना (=उपश्लेष)(सो) बन्ध है ऐसा
=कहा है। जैसे भाजन विशेष (अर्थात् भाजनके विशेष मे हांडी आदिक) में
=क्षेपेहुए नाना प्रकार (=विविध) के रस वा प्रववस्तु बीज (=बिया)फूल फलों के
=मदिरा स्वभावकरि (=भावेन) परिणमना होता है तैसे आत्मामें भी
=टिकेहुये पुद्गलोंके योगकषायके आश्रय वा वशसे
=कर्म रूपकरि (=भावेन) परिणमन मानना योग्य है। (सूत्रमें) 'स' का कथन(=वचन)
=अन्यके निराकरण वा निवारण के लिये है सो यह बन्ध है।
=दूसरा बन्ध नहीं है (तिस वचन वा कथन) करि गुण और गुणीका बन्ध
=निराकृत होता है अर्थात् गुण गुणीके बन्ध होताहै सो बंध इस सूत्रमें न मानना।
=कर्म आदिक है साधन जिसका ऐसा अथवा कर्म आदिक साधनवाला
=बन्ध शब्द व्याख्यान योग्य है अर्थात् बन्ध शब्द है सो कर्म साधन है, कर्तृ साधन
है, करणसाधन है भावसाधन भी है जिनका विशेष कथन ऐसे हैकि
(क) जो आत्मा बांध्या सो बंध ऐसे कर्म साधन है।

(१) पद्मचन्द्र कोष पृष्ठ ५३ में जहां 'भाग्य' शब्द लिखा है। वहां आख्यायते का अर्थ वा अनुवाद 'प्रसिद्ध' ऐसा किया है (२)[प्रश्न]सकषाय त्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः" इस सूत्रमें स शब्द का ग्रहण न करना चाहिये। और प्रश्न कर्ता का अभिप्राय है कि 'सः' शब्द नहीं देते तो भी बन्धका लक्षण हो ही जाता तो भी काम चल जाता फिर 'सः' शब्द सूत्रमें क्यों लिखा। (उत्तर) संसारमें अनेक प्रकारके बन्ध जैसे गुण गुणीका बन्ध धनबन्ध, शरीरबन्ध, गुणबन्ध व इत्यादि अन्य निषेधके लिये सः शब्द है कि सूत्रमें वर्णित लक्षण वाले बन्धसे यहां प्रयोजन है अन्यसे नहीं। सवचनम् यहां पर कर्ता का प्रथम कारक में मेरी समझसे प्रयोग हुआ है और नपुंसक लिंगमें है। पद्मचन्द्र कोष पृष्ठ

आह किमयं बन्ध एकरूप एव, आहोस्वित्प्रकारा अप्यस्य सन्तीत्यत इदमुच्यते —

॥ प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३॥

[ख] आत्मा बन्धरूप आपही परिणमें है तिससे बन्धको कर्ता कहिये। यहां कर्तसाधन है।
[ग] पाहिले बन्धकी अपेक्षासे आत्माबन्धकरि नवीन बन्ध करे है तिससे बन्ध करणसाधन है
[घ] बहुरि बन्धन रूप क्रिया सोही भाव ऐसे क्रिया रूपमी बन्ध है यहां भाव साधन है।

आह=कहा इयम्=यह बन्ध=बन्ध एकरूप=एकरूप एव=ही आहोस्वित्=अथवा =वह प्रश्न करता है कि यह बन्ध एकरूपही है। अथवा [=आहोस्वित्]
प्रकारा=प्रकार अपि=भी अस्य=इसके सन्ति=हैं इति=इस अतः=इससे इदम्=यह उच्यते=कहते हैं =इसके भेद [=प्रकारा] भी हैं। इसलिये यह [अग्रिमसूत्र] कहा जाता है कि

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधय =प्रकति स्थिति अनुभव-प्रदेशाःतद्(बन्ध य) विधय ॥३॥

=प्रकृतिबन्ध-स्थितिबन्ध-अनुभवबन्ध-प्रदेशबन्ध तद्(बन्धस्य) विधय भवन्ति ॥

सत्रार्थ—प्रकृतिब च स्थितिबन्ध अनुभवबन्ध प्रदेशबन्धः तद्-बन्धस्य भेदा भवति

=प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध, अनुभवबन्ध
प्रदेशबन्ध-उसब धके भेद हैं अर्थात् कर्मोंय वर्गनाओंमें आठ प्रकार (ज्ञानके ढकने वाले, दर्शनके आच्छादन करने वाले, सुख दु खका अनुभव करने वाले, मोह उत्पन्न करनेवाले, शरीरमें कालकी मर्यादा किये हुये आत्माको अटकानेके आत्माके लिये नाना प्रकारके शरीर सांगोपांग आदि रचनेके, जीवको ऊंच नीच कुलमें उत्पन्न करनेके आत्माकेदान, लाभ, भोग उपभोग, वीर्यमेंबाधा डालने के स्वभावका रसका पड़ना सो प्रकृति बंध हैं। कर्म (अपने स्वभाव को छोड़कर) जितने कालतक आत्मासे भिन्न न हो सो स्थिति बन्ध है। कर्मों में तीव्र, मध्यम, मन्द, रस (फल) देने की शक्ति होनेको अनुभव बन्ध अथवा अनुभाव बन्ध या अनुभाग बन्ध कहते हैं। आठ प्रकारके कर्मों का आत्माके सर्व प्रदेशोंमें एक क्षेत्रमें आत्मा के साथ अवगाह करि स्थिर रूपसे रहते हुए नीर क्षीरवत् संबन्धका होना सो प्रदेश बन्ध है।

[१] हमारी आम्नायमें सूत्रका कहीं अनुभव और कहीं अनुभाग पाठ हैं। श्वेताम्बर आम्नायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें तथा भाष्यानुसारणी तत्वार्थटीकामें अनुभाव पाठ है और उक्तदोनों भाष्योंमें विपाकोविपाकोनुभाव (अनुभाव क्रमसे (हमारे यहांके २१वां सूत्रका पाठ है समर्थ एक है।

प्रकृतिः स्वभाव । निंबस्य का प्रकृतिः ? तिक्तता। गुडस्य का प्रकृति ? मधुरता । तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः ?। अर्थानवगमः। दर्शनावरणस्य का प्रकृति ? अर्थानालोच (क) नम् ॥ वेद्यस्यसदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम् ॥ दर्शनमोहस्यतत्त्वार्थाश्रद्धानम् ॥ चारित्रमोहस्यासंयमः॥ आयुषो भवधारणम्॥ नाम्नो नारकादिनामकरणम्॥गोत्रस्योच्चैर्नीचै स्थान संशब्दनम्॥अन्तरायस्य दानादि विघ्नकरणम्॥ तदेवं लक्षण कार्यम्—प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृति ॥ तत्स्वभावादप्रच्युति स्थितिः ।

शब्दानुसार —प्रकृति है 'स्वभावः', निम्बस्य	=प्रकृति है सो बान या शील वा लक्षण [=स्वभाव] है, नीमका
का 'प्रकृति' ? तिक्तता, गुडस्य का	=क्या स्वभाव है ? कडवापन या कटुकता, गुडका क्या
प्रकृतिः ? मधुरता, तथा ज्ञान आवरणस्य	=स्वभाव है, मीठापन, मिठास, मिष्टता, वैसे ही ज्ञानावरण (कर्म) का
का प्रकृति ? अर्थ—अन्—अवगम ;	=क्या स्वभाव है । पदार्थ वा वस्तुका न जानने देना है ।
दर्शनावरणस्य का प्रकृति ? अर्थ—अन्	=दर्शनावरण (कर्म) की क्या बान है अथवा क्या लक्षण है । पदार्थ का न
आलोच (क) नम्;	=देखना है अर्थात् वस्तुके ज्ञानके सामान्य अवलोकन रूप अंशको आच्छादन करदेनेका है ।
वेद्यस्य सत्—असत्—लक्षणस्य	=वेदनीयका प्रशस्त(सत्=सराहनेयोग्य) अप्रशस्त (असत्=असराहनेयोग्य) स्वभाव(=लक्षण)
सुखदुःखसंवेदनम्,	=सुख दुःख रूप अनुभव होना (=संवेदन) है ।
दर्शन—मोहस्य तत्त्वार्थ—अश्रद्धानम् ;	=दर्शनमोहका (लक्षण) तत्त्वार्थका अविश्वास है अथवा अतत्त्वार्थका विश्वास है ।
चारित्रमोहस्य असंयमः; आयुषः भवधारणम्,	=चारित्र मोहका (लक्षण) संयम रूप न होने देना है । आयुका (लक्षण) भवमें स्थिर करनेका है ।
नाम्नः नारक-आदि-नाम-करणम्, गोत्रस्य	=नामकी (प्रकृति) नारकादिक नामका कारण[=करण] है या हेतु है । गोत्रका लक्षण)
उच्चैः नीचैः स्थान—संशब्दनम्, अन्तरायस्य	=ऊंचे नीचे स्थानके कथन का है । अन्तरायका (लक्षण)
दान-आदि-विघ्नकरणम्, तत्-एवम् लक्षणम्	=दान आदिकमें बाधा करनेका है, उस प्रकृति का इस प्रकार लक्षण हुआकि
कार्यम्, प्रक्रियते प्रभवति अस्याः	=जिससे[=अस्याः] कार्य प्रकर्षकरि किया जाता है, जिससे[=अस्याः] कार्य प्रगट होता है
इति प्रकृतिः, तत्-स्वभावात्, अप्रच्युति स्थितिः	=ऐसी प्रकृति है । उस स्वभावसे (जब तक) छूटे नहीं या च्युत नहीं सो स्थिति है अर्थात्

यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तथा ज्ञानावरणादीनाम्...

...माादिस्वभावादप्रच्युति स्थितिः। तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथा–अजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमंदादिभावेनरसविशेषः। तथा कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः॥ इयत्तावधारणं प्रदेशः।

	उक्त आठ प्रकारकी कर्म प्रकृति जो आत्माके प्रदेशोंसे बंध रूप हुई है वे जितने काल तक रहेगी वा जितने कालतक अपने स्वभावको नहीं छोडेगीं, उसको स्थिति कहते हैं
यथा अजा–गो–महिषी–आदि–क्षीराणाम्	=जैसे बकरी छेरी गाय, भैंस (=महिषा आदिकके दूधके
माधुर्य–स्वभावात् अप्रच्युतिः स्थितिः, तथा	=मींठे स्वभावसे चीव न होना (=अप्रच्युति) स्थिति है सैसे
ज्ञानावरणादीनाम् अर्थ–अन् अवगमादि–स्वभावात्	=ज्ञानावरणादिकनिके पदार्थका न अ नने देना आदिक स्वभावसे [जब तक]
अप्रच्युतिः स्थिति	=न छूटना सो स्थिति है। संक्षेपतः कर्म (अपने स्वभावको लिये हुये) जितने कालतक आत्मासे जुदा न हों वह स्थिति बन्ध है।
तद्–रस–विशेषः अनुभवः; यथा अजा–गो–महिषी–आदि क्षीराणाम्, तीव्र–मन्दादिभावेन रस-विशेषः;	=तिस (कर्म) केरसका (तीव्र-मन्द मध्यम) विशेषसे अनुभाग है जैसे बकरीगाय भैंस (=महिषी) आदिक दुग्धका तीव्र मन्दादिक स्वरूप करि (=भावेन) रस (स्वाद का विशेष है,
तथा कर्मपुद्गलानाम् स्वगत–सामर्थ्य–विशेषः	=तैसे कर्मके (उत्पन्न होने) योग्यपुद्गलोंकी अपने विषैं प्राप्त हुई शक्तिकी विशेष सो
अनुभवः; (१)इयत्ता–अवधारणम्	=अनुभव वा अनुभाग है। गिनती (=इयत्ता) वा संख्या[=इयत्ता]का निश्चयकरना सो
प्रदेशः।	=प्रदेश है(कि इतने हैं)अर्थात् परमाणुओंकी गिनतीरूप अवधारण वा निश्चयसो प्रदेश है

(१)' इयत्तावधारणंप्रदेशः॥७॥ '"कर्म भाव परिणत पुद्गल स्कन्धानां परमाणु परिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते। तत्त्वार्थ राज वार्तिक पृष्ठ २९९। पूज्यपाद स्वामीके उपर्युक्त दोनों वाक्योंमें से पहिलेको तत्त्वार्थ राजवार्तिकके कर्त्ताने सातवां वार्तिक बनाया माना है और दूसरेको सातवीं वार्तिककी स्पष्ट व्याख्याके रूपमें ग्रहण किया है। इति व्यपदिश्यते (=ऐसा विशेषतासे उपदेश दिया गया है) अधिक वाक्य है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें "इयत्तावधारणं प्रदेश" है उक्त दोनों वाक्योंका पं० जयचन्द्रजीने अपनी वचनिकामें निम्न प्रकारक्रमसे अनुवाद कियाहै

इयत्तावधारणं प्रदेशः (=इयत्ता-अवधारणम् प्रदेशः)	'बहुरि परमाणुनिका गणतिरूप अवधारण जो एते है सो प्रदेश है,
कर्म भाव-परिणत-पुद्गल-स्कन्धानाम्	=जो पुद्गल परमाणु के स्कन्ध कर्म भावकू परिणये
परमाणु-परिच्छेदेन अवधारणम् प्रदेशः	=तिनका गणनारूप परिमाण यामें करिये है सोप्रदेश है। तिनका = परिमाणुनिका

कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश ॥ विधिशब्द प्रकारवचनः। त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारस्तस्य बन्धस्य प्रकाराः ॥ तत्र योगनिमित्तौ प्रकृतिप्रदेशौ कषाय निमित्तौ स्थित्यनुभवौ। तत्प्रकर्षाप्रकर्षभेदात्तद्बन्धविचित्रभावः । तथा चोक्तम्–जोगा पयडि पएसा ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि । अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधठिदिकारण णत्थि॥१॥

कर्म-भाव-परिणत-पुद्गल-स्कन्धानाम् परमाणु-परिच्छेदेन अवधारणम् प्रदेशः	=कर्मस्वरूपको परिणये पुद्गलस्कन्धोंके परमाणुओंकी =गणनाकरि (=परिच्छेदन) निश्चय करना (=अवधारण) सो प्रदेश है । अर्थात् परमाणुओंके ये स्कन्ध जो ज्ञानावरणादि कर्म स्वरूपमें परिणमन वा परिवर्तन करगये हैं उनपरमाणुओंके स्कन्धोंकी गणना जिसमें की जावे वह प्रदेश है ॥
विधि-शब्दः प्रकार-वचनः ते एते प्रकृति-आदयः	=इस सूत्रमें) विधिशब्द प्रकारवाची है । ते इतने प्रकृति–स्थिति–अनुभव–प्रदेश
चत्वारः तस्य बन्धस्य प्रकाराः; तत्र योग-	=चार तिस बन्धके विकल्प वा भेद हैं । तहां (मनो, वचन, काय) योगके
निमित्तौ प्रकृति-प्रदेशौ कषाय-निमित्तौ स्थिति-	=कारण प्रकृति (बन्ध) और प्रदेश (बन्ध) हैं । कषाय के निमित्त स्थिति (बन्ध)
अनुभवौ; तत्-प्रकर्ष-अप्रकर्ष-भेदात् तद्-बन्ध-	=अनुभाग(बन्ध)हैं । तिन(योग कषाय)के हीनाधिक भेदसे उस बन्धका
विचित्रभावः; यथा च उक्तम्	=विचित्रस्वरूप है अथवा नाना प्रकारका रूप है । उसी प्रकार कथन भी है कि
जोगा पयडिपएसा (योगात् प्रकृतिप्रदेशौ)	=योगसे प्रकृति (बन्ध) और प्रदेश(बन्ध) को
ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि (स्थित्यनुभागौ कषायतः करोति)	=कषाय से स्थिति (बन्ध) अनुभाग(बन्ध) को जीव करता है।
अपरिणदुच्छिण्णसु (अपरिणतोच्छिन्नेषु)	=कषायके उपशान्त होने पर(=अपरिणतेषु)तथा कषायके निर्मीण होनेपर (=उच्छिन्नेषु) अथवा कषायके क्षीण होनेपर (=उच्छिन्नेषु)
य बन्धठिदि कारणं णत्थि	=च ,स्थितिबन्धका कारण नहीं है,और(=च)(बन्ध भी नहीं है)भावार्थ जिस के ब-
च बन्ध-स्थितिकारणम् न अस्ति	=न्धएक समयतथाउत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण कषायस्थान अपरिणत अर्थात्उदय रूप

(१) मात्र्ग [मार्ग], में विसर्ग चतुर्थी विभक्ति [जिसके अर्थमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है] और दो वचन नहीं होते हैं । दो वचनके अर्थमें बहु वचनका प्रयोग होता है । अतः 'पयडि पएसा' और 'ठिदिअणुभागा' बहु वचनमें हैं परन्तु संस्कृत में प्रकृति प्रदेशौ और स्थिति अनुभागौ दो वचन

॥ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः॥ ८॥

नहीं ऐसे उपशान्त कषाय, कषायस्थान जिसके क्षीण होगये हैं ऐसे क्षीणकषाय, सयोगकेवलीके एक समयका बन्ध, स्थितिका कारण नहीं अर्थात् जिससमय बन्ध हो उसी समय झड़जावे और "अ—च" अयोगकेवलीके चारों बन्ध (प्रकृति—प्रदेश स्थिति—अनुभाग) के कारण योग और कषाय ये दोनों ही नहीं हैं ।

तत्र=आद्यस्य=प्रकृतिबन्धस्य=भेद-प्रदर्शन-अर्थम्=आह=वहां आदिके प्रकृतिबन्ध के भेद प्रगट करने के लिये (आचार्य अग्रिम सूत्रमें) कहते हैं

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तराया ॥ ४ ॥

=आद्य (प्रकृतिबन्ध) ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीय-मोहनीय-आयु -नाम—गोत्र—अन्तराया (अष्टविधय)

सूत्रार्थः—आद्य=प्रकृतिबन्ध=ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयु -नाम-गोत्र-अन्तराया= अष्टविधः= =आदिका प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीय—मोहनीय—आयु —नाम—गोत्र-अन्तराय =आठ प्रकार है अर्थात्—(१) ज्ञानको आच्छादन करनेवाला या ढकनेवाला सो ज्ञानावरण है (२)पदार्थके सामान्य अवलोकनको आच्छादन या ढकनेवाला दर्शनावरण है (३) वेदना या सुख दु ख रूप अनुभव करानेवाली वेदनीय है (४) जो मोहित करती है अथवा जिसकरि आत्मा मोहको प्राप्त होता है सो मोहनीय है । (५) जिसकरि (नारकादिक के) भव को प्राप्त होता है वह आयु है (६) अनेक प्रकार उत्पत्तिस्थानोंमें नारकादिक पर्यायोंकरि आत्माको नाम करावे है वा प्रसिद्ध करावे सो नाम है (७)ऊ चापन तथा नीचापन प्राप्त कराव वह गोत्र है(८)दातार,देनेयोग वस्तु,पात्रके मध्य विघ्न डाले बाधाकरे सोअन्तराय है।

म है । गोम्मटसार म कुणदि के स्थान में होंति [भवन्ति] है दोनों पाठ ठीक हैं क्योंकि ययपि पपसा और ठिदिअणुभागा के रूप प्राकृत में प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के एक है इसलिये जब दोनों वाक्य जब द्वितीया विभक्ति में हैं तब करोति के साथ अन्वय होजाता है और जब प्रथमा विभक्ति म हैं, तब भवन्ति के साथ अन्वय हो जाता है । दो हस्त लिखित प्रतियोंमें कुणदि शब्द है पर तीसरी हस्त लिखित प्रतिमें होंति शब्द है । गोम्मटसार में पपसा शब्द के स्थानमें पदेसा शब्द है । दोनों को सरल बनाया प्रदेशा है

श्वेताम्बर सम्प्रदायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें तथा भाष्यानुसारितत्त्वार्थ टीकामें " आयु " के स्थानमें आयुष्क शब्द है । आयु और आयुष्क म अर्थ भेद नहीं है । अर्थात् स्व अर्थ म [= अपनेअर्थ में आयुस् शब्दमें] कन् [= क] प्रत्यय लगाकर आयुष्क शब्द बनाया है सूत्रका शेष पाठ दोनों आचार्योंमें एकसा है और अर्थ भी एक है । कन् प्रत्यय न लाकर सूत्र लघु होना ही अच्छा है ॥

आद्यः प्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणाद्यष्टविकल्पो वेदितव्यः॥ आवृणोत्याव्रियतेऽनेनेति वा आवरणम् । तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते—ज्ञानावरणं, दर्शनावरण मिति ॥ वेदयति

सूत्रानुवाद — आद्यः — प्रकृतिबन्धः — ज्ञानावरणादि—अष्ट—आदिका वा पहिला प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरणादिक आठ
विकल्पः — वेदितव्यः — (१)आवृणोति T अनेन — वा — प्रकार मानना चाहिये । जो आवरण वा आच्छादन करताहै, अथवा जिसकरि
आव्रियते T इति — आवरणम् — ; तत् — आवरण वा आच्छादन किया जाता है[—आव्रियते]ऐसा आवरण है। यह(आवरण) —
प्रत्येकम् — (२)अभिसम्बध्यते T इति — ज्ञानावरणम् — पृथक्पृथक् (ज्ञानतथादर्शन) का लगाया जाताहै वा जोड़ा जाता है ऐसे ज्ञानावरण
दर्शनावरणम् — ॥ (३) वेदयति T — दर्शनावरण हुये । जो वेदती है अर्थात् जो वेदना वा सुख दु खका अनुभव कराती है

(१) यह शब्द वृ (आच्छादन करना ढकना) स्वादि पांचवां गणका उभय (परस्मैपदी और आत्मनेपदी) सकर्मक धातु है। पांचवें गणके धातुमें 'नु' विकरण लगाया जाता है इस लिये वृ + नु हुआ । इसी शब्दमें यदि ऋ—र् अथवा ष् के पश्चात् आवे तो ण् में पलट जाता है और पित्संज्ञक प्रत्ययके पहिले अंगका अन्तिम स्वर और उपान्तिम हलके गुणका आदेश हो जाता है इसलिये वृणो हुआ 'ति पित्संज्ञक प्रथम पुरुष एक वचन वर्तमान कालकी क्रियाका चिन्ह है । अतः वृणोति हुआ । आ अव्ययका अर्थ यहां पर असर्व वा थोड़े का है इसलिये आवृणोति बन गया । भावार्थ आत्माके ज्ञानको सर्वथा नहीं ढंकता है एक देश ढकता है ।

(२) बन्ध क्रयादि नवमें गणका परस्मैपदी सकर्मक धातु है। इस गणके धातुओंका उपान्तिम (एक छोड़कर अन्तका) न् गिरजाता है इसलिये बन्ध — बध कर्मणि प्रधानका य जोड़कर प्रथम पुरुष एक वचन वर्तमानकाल क्रियाका 'ते लगानेसे बध्यते बना पश्चात् अभि और सम् उपसर्गोंके लगानेसे अभिसम्बध्यते धातु रूप बना । (३) यह शब्द विद् धातुके पश्चात् णिच् (—इ) प्रत्यय हेतु अर्थमें लगानेसे और विद्के स्वरका गुण करनेसे तथा प्रथम पुरुष एक वचन कर्तृ प्रधान लट् वर्तमान कालकी द्योतक क्रियाका 'ति चिन्ह लगानेसे इस प्रकार बना है कि—विद् + णिच् = वेद् + इ = वेद् + य = वेद् + अय अब पूर्वोक्त "ति" जोड़ दो = वेदयति = अनुभव कराता है बन गया, परन्तु ध्यान रहेकि वेदयते जोविद्का दसवें गणमें रूप है उस का अर्थ = अनुभव करता है ऐसा है ।

धातु	गण	अर्थ	पद	प्रथम पुरुष एक वचन कर्तृ प्रधान	किस प्रकार से बना है
(क) विद्	दूसरा जानना अनुभवकरना		परस्मै	लट् वर्तमानकाल द्योतक क्रियाका चिन्ह ति	()ति पित् संज्ञक है विद् के स्वरका गुणहोकरऔरद्कात् होकरवेत्तिरूपबना ()इस विद् में ल परोक्षावृत्ति विद् का ल(प्रथम पु० वर्त०)आदेशसे विदभी बना
(ख) विद्	चौथा होना(अकर्मक)		आत्मने	ते	()इस चौथे गणके धातुमें य विकरण जोड़कर ते लगानेसे विद् + य + ते = विद्यते

वेद्यत इति वा वेदनीयम्॥ मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्

[१]वेद्यतेऽइति-वा[२]वेदनीयम्[३] "=अथवा [जिसकरि] वेदना की जाती है (=वेद्यते) अर्थात् जिससे अनुभव सुख दुःखका किया जाता है सो वेदनीय है

मोहयति अनेन वा — =जो मोहको उत्पन्न करती है, जो मूढ़ करती है, जो मुझाती है, अथवा जिसकरि [आत्मा]

मुह्यते इति [२]मोहनीयम्[३] — =मोही जाती है, मुझाई जाती है, अथवा मूढ़ की जाती है सो मोहनीय है

धातु	गण अर्थ	पद	प्रथम पुरुष एक वचन कर्तृ प्रधान	किस प्रकारसे बना है
(घ) विद्	छठवां गण [सकर्मक]	उभयपदी	ति (परस्मैपदका) ते (आत्मनेपदका)	अनुनासिक न्-वि और द् के मध्यमें आता है पुन विकरण श तथा ति अथवा ते लाकर विंदति, विन्दति और विन्दते, विन्दते बना जिसका अर्थ पाना है
[ख] विद्	सातवां गण [सकर्मक] आत्मनेपदी		ते (आत्मनेपदका चिन्ह है)	न विकरण मूलीय स्वर और अन्त के व्यंजनके मध्यमें लाकर इस न का अ ङित् संज्ञक प्रत्यय होनेसे लोप रहता है विनद् = विन्द् + ते = विन्द् + ते = विन्ते रूप बन गया
[ड] विद्	दसवां कहना अनुभव करना आत्मनेपदी		ते (आत्मनेपदका चिन्ह है)	दसवां गणका अय विकरण लगानेसे और विद्को गुणकरनेसे वेद् + अय + ते = वेदयते बना ।

(१) यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि 'विद्यते' का अर्थ वही नहीं है जो 'वेद्यते' का है क्योंकि 'विद्यते' चतुर्थ गणका विद् धातु है उसमें य विकरण लगानेसे तथा ते चिन्ह आत्मनेपदीका लगानेसे विद्यते बना है इसका अर्थ है होता है परन्तु विद् धातुमें य कर्तरिप्रधान का चिन्ह लानेसे और त आत्मनेपदी क्रियाका प्रत्यय लगानेसे और विद् धातुकी इ को गुण करनेसे बनता है। जैसे विद् + य + ते = वेद्यते अर्थ है जाना जाता है अर्थात् (जिससे सुख दुःखका अनुभव किया जाता है।(२)'वेदनीयम्' यह शब्द विद् धातुमें अनीयर् प्रत्यय लगानेसे और विद् के इ का गुण करनेसे और नपुंसकलिंग एक वचनका म् लानेसे बना है। जैसे विद् + अनीयर् + म् = वेद् + अनीय + म् = वेदनीयम् = जो वेदती है

(३) मोहनीयम्–यह शब्द मुह् धातुमें अनीयर् प्रत्यय लगानेसे मुह् के उ को गुण (ओ का) करनेसे बना है तव्यत्तव्यानीयरः ॥३।१।९६॥ तव्यत्, तव्य अनीयर्, (धातु)अर्थ धातुके पश्चात् तव्यत् तव्य अनीयर् प्रत्यय आते हैं। तव्यत्का त् और अनीयर का र् केवल उच्चारणके लिये है इसलिये तव्य-तव्य-अनीय ऐसे तीन प्रत्यय हुये। जैसे कृ + तव्यत् = कर्तव्यम् (= अवश्य किया जाना चाहिये) और कृ + तव्य = कर्तव्यम् कृ + अनीयर् = करणीयम् (अवश्य किया जाय किया जाना चाहिये) इसी प्रकार–

(क) विद् + अनीयर् = वेद् + अनीय नपुंसकलिंग एकवचनका चिन्ह म् लगानेसे वेदनीयम् हुआ। [जिससे सुख दुःखका अनुभव किया जाता है]

(ख) मुह् अनीयर् = मोह् + अनीय नपुंसकलिंग एकवचनका चिन्ह म् लगानेसे मोहनीयम् हुआ। अथ–कर्तृप्रधान और कर्मप्रधान वाक्योंमें इन दोनों शब्दोंका व्याख्यान किया है। जैसे–

(क) वेदनीयम् = जो वेदता है [कर्तृप्रधान हुई] जिस करि वेदना की जाय अथवा जिसकरि वेदा जाय [कर्मप्रधान हुई] [ख]मोहनीयम् = जो मूढ़ करती है–जो मुझाती है। जो मोह लेती है [कर्तृप्रधान हुई] जिसकरि मोही जाती है [आत्मा] जिसकरि मुझाई जाती है–जिस

एत्यनेन नारकादिभवमित्यायु ॥ नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम ॥ उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम् ॥ दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेतीत्यन्तरायः ॥ एकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः पुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते

एति T अनेन' नारकादि–भवम्''' इति*आयुः;	=जिसकरि नारक आदि भवको वा जन्मको जाता है, प्राप्त करता है ऐसी आयु है।
(१)नमयति T आत्मानम्'	=जो आत्माको नम्र करती है(=नमयति), नमाती है (=नमयति)
नम्यते T अनेन'''वा*	=अथवा जिसकरि(आत्मा)नम्र कीजाती है (=नम्यते) (आत्मा) नवाई जाती है [=नम्यते] "जो आत्माका नाम करै" 'जाकरि नाम कीजिये" जयचन्द्रजी वचनिका से उद्धृत
इति*नाम्न'''उच्चैः*नीचैः *च*(२)गूयते T	=ऐसा नाम है जिससे ऊंचा वा नीचा [=च] कहा जाता है (=गूयते)
शब्द्यते T इति*वा*गोत्रम्'' दातृ-देय-आदीनाम्'	=अथवा प्रसिद्ध किया जाता है सो गोत्र है। दाता तथा देने योग्य वस्तु आदिक[=पात्र]के
अन्तरम्'। मध्यम्' एति T	=मध्य अन्तरको (भेद वा दूरी को) करता है अर्थात् विघ्न बाधाओं को करता है
इति* अन्तरायः'; एकेन' आत्म–परिणामेन'	=ऐसा अन्तराय है। एक जीवके परिणाम अथवा भावकरि
आदीयमानाः' पुद्गलाः' अनेक–भेदम्'	=ग्रहण किये पुद्गल परमाणु (वे) अनेक भेदको
ज्ञानावरणादि'' प्रतिपद्यते T	=ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय,नाम,गोत्र,अंतराय (रूपसे वे से हो)प्राप्त होते हैं

करि मूर्च्छा आती है [ब्रा १] यहां पर कमविभाग हुई। मोहयति–यह शब्द मुह् दिवादि चतुथ गणके उभय [परस्मैपदी और आत्मनपदी] धातुके आगे णिच् [=अय] प्रत्यय हेतु अर्थ में लगाने से और मुह् के स्वरको गुण करनेसे और प्रथम पुरुष एक व न कत प्रधान लट् वर्तमान क धोतक क्रियाका ति चिह्न लगानेसे इस प्रकार बना है कि मुह् + णिच् + ति = मुह् + अय + ति = मोह + अय + ति = मोहयति । [५] मह्–मुह्यते पूर्वोक्त चतुर्थ गणके धातुमें य लगानेसे और प्रथमपुरुष एकवचन कर्म विधान लट् वर्तमानकाल घातक क्रियाका ते चिह्न लगानेसे इस प्रकार बना है कि मुह् + य + ते मुह्यते [जिसकरि आत्मा मूर्च्छा आती है वा मुरझाई जाती है] परन्तु ध्यान रहे कि मुह् धातुका य विकरण लगाकर चौथे गणमें मुह्यति आते हैं अय–रेमुच होता है वेभित्त होता है। यह भी ध्यान रहे कि मोहयते भी आत्मनपदमें होता है, मेरी समझमें मोहयति और मोहयते दोनोंके अर्थमें यह अन्तर है कि जो दूसरे को जैसे अन्य जीव अथवा अन्य आत्माको मोह उपजावे वा मुरझावे सो मोहयति कहा जाता है इसीलिये श्री आचार्य ने यहां पर सर्वार्थसिद्धिवृत्तिमें मोहयति लाये हैं और जो अपने को मोह उपजावे तब मोहयते ऐसा आत्मन पदमें लाते हैं यदि इनके पहिले परि उपसर्ग आवै तो परिमोहयति और परिमोहयते ऐसे रूप बनेंगे। परिका अर्थ बहुत वा अधिक का है।

[१] नसे गु यहां पर] इत्यादि प्रथम गणका था मतप ? धातु है। क्यमवि प्रयोग में कर्मार्थ हो जाता है जैसे गू + य + ते = गूयते = कहा जाता है

[२]नमति-नमयति नम् इत्यादि प्रथमगण परस्मैपद धातु प्रणाम करने और शब्दकरने [मह वे सम्बन्ध] अर्थ में आता है नम् धातु में अय प्रत्यय लगानेसे

आद्योक्तो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः । इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धो वक्तव्य इत्यत आह—

॥ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

द्वितीयग्रहणमिह कर्तव्य द्वितीय उत्तरप्रकृतिबन्ध एव विकल्प इति ॥ न कर्तव्य

सद्द–उपभुक्त–अन्न–परिणाम–रस–रुधिर–आदिवत्	=जैसे एकबारके खाये हुए अन्नके परिणमनरूप [एकानेकरूप] रस रुधिर =मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा, शुक्र [=वीर्य] [हो जाते है]
आद्य–उक्तः मूलप्रकृतिबन्धः अष्ट–विधः ।	=प्रथम कहा है कि मूलप्रकृतिबन्ध आठ प्रकार कहा गया है।
इदानीम् उत्तर प्रकृति–बन्धः वक्तव्यः इति अत आह	=अब उत्तर प्रकृतिबन्ध अर्थात् प्रकृतिबन्धके भेद कहना चाहिये इसलिये कहते है कि

(१) पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

=[आद्यो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः पुनरेकशः]पञ्चभेद, नवभेद, द्विभेदः, अष्टाविंशतिभेद, चतुर्भेद, द्विचत्वारिंशद्भेद, द्विभेदःपञ्चभेदः यथाक्रमम्

सूत्रार्थ—आद्यः मूलप्रकृतिबन्धः अष्टविधः = आदिका मूलप्रकृतिबन्ध आठ प्रकार है

पुनः एकशः पञ्चभेदः नवभेदः द्विभेदः	= फिर प्रत्येकके (=एकशः) या एकएकके [=एकशः] पांचभेद, नौभेद, दोभेद,
अष्टाविंशतिभेदः चतुर्भेदः द्विचत्वारिंशद्भेदः	= अट्ठाईस भेद, चारभेद, ब्यालीसभेद
द्वि–भेदः पञ्च–भेदः यथाक्रमम्	= दो भेद [और] पांचभेद क्रमानुसार है अर्थात् ज्ञानावरणके पांचभेद, दर्शनावरणके नौभेद, वेदनीयके दो भेद, मोहनीयके अट्ठाईस भेद, आयुके चार भेद, नामकर्मके बियालीस भेद, गोत्रकर्मके दो भेद, अन्तरायकर्मके पांच भेद है
द्वितीय–ग्रहणम् इह कर्तव्यम् द्वितीय–	= द्वितीय शब्दका आदान इस स्थानमें अर्थात् इस सूत्रमें करना चाहिये ॥
उत्तर–प्रकृति–बन्धः एव विकल्पः इति	= क्योंकि दूसरा उत्तर–प्रकृतिबन्ध इस प्रकार भेद वाला है ॥
न कर्तव्यम् ...	=(उत्तर) (इस सूत्रमें द्वितीयशब्दका ग्रहण) न करना चाहिये (क्योंकि)–

[illegible] (१) इस सूत्रका पाठ और अर्थ दोनों सम्प्रदायोंमें एकसा है—(२) एकशः—जिन शब्दों के अन्तमें शस् प्रत्यय आता है व अव्यय होते हैं

पारिशेष्यात्सिद्धे ॥ आद्यो मूल प्रकृतिबन्धोऽष्टविकल्प उक्त । ततः पारिशेष्यादयमुत्तरप्रकृतिविकल्पविधिर्भवति ॥ भेदशब्द पञ्चादिभिर्यथाक्रममभिसम्बध्यते—पंचभेदं ज्ञानावरणीय, नवभेदं दर्शनावरणीयं, द्विभेदं वेदनीयं, अष्टाविंशतिभेदं मोहनीय, चतुर्भेदमायुः, द्विचत्वारिंशद्भेद नाम, द्विभेद गोत्रं, पंचभेदोऽन्तराय इति ॥

पारिशेष्यात् सिद्धेः — अवशेषताके नियमसे या शेषमात्र बच रहनेकी रीतिसे (द्वितीय शब्दका ग्रहण) सिद्ध है अर्थात् मूलप्रकृतिबन्ध, उत्तर प्रकृतिबन्ध यह दोही भेद हैं। और एक भेद (मूलप्रकृतिबन्ध) का कथन कर दिया तब स्वत बिना ग्रहण किये हुये ही या बिना कथन किये ही दूसरा भेद जाना जाता है। इसलिये सूत्रमें द्वितीय शब्दका आदान नहीं कियागया है।

आद्यः मूलः प्रकृतिबन्धः अष्टविकल्प उक्तः ततः — आदिका मूलप्रकृतिबन्ध आठ प्रकार कहा गया है, तिस (निरूपण या वर्णन) से

पारिशेष्यात् अयम् उत्तर-प्रकृति-विकल्प-विधिः — अवशेषमात्र रही हुई यह उत्तर प्रकृति के भेदोंका क्रम अर्थात् आठ भेदोंके प्रभेद

भवति, भेदशब्द पञ्चादिभिः यथाक्रमम् — है (=भवति)। भेद शब्द पच आदि (गणना) करि क्रमानुसार (चौथे सूत्रके ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिक पर अर्थात् पहिलेको पहिला, दूसरेको दूसरा, तीसरेको तीसरा, चौथेको चौथा, पांचमेको पांचमा छठेको छठवां सातवेंको सातवां आठवेंको आठवां)

अभिसम्बध्यते पञ्चभेदम् — जोड़ाजाता है, सम्बन्ध कियाजाता है अथवा मिलाया जाता है कि पांच प्रकार

ज्ञानावरणीयम्, नवभेदम् दर्शनावरणीयम्, — ज्ञानावरणीय (कर्म) है। नौ प्रकार दर्शनावरणीय (कर्म) है।

द्विभेदम् वेदनीयम्, अष्टाविंशतिभेदम् मोहनीयम्, — दो प्रकार (साता असाता रूप) वेदनीय (कर्म) है। अट्ठाईस प्रकार मोहनीय (कर्म) है

चतुर्भेदम् आयुः, द्विचत्वारिंशद्भेदम् नाम, — चार प्रकार आयु (कर्म) है। ब्यालीस प्रकार नाम (कर्म) है

द्विभेदम् गोत्रम् पञ्चभेदः अन्तराय इति — दो प्रकार गोत्र (कर्म) है। पांच प्रकार अन्तराय (कर्म) है।

(१) आयुस् शब्द नपु सकलिंगी है। नियम यह है कि शब्दके अन्त में जब एक व्यञ्जनसे अधिक हो तो प्रथम व्यञ्जनको रहने देते हैं और शेष व्यञ्जनों को गिरादेते हैं। जैसे मरुत् (पुंलिंग) वाच् (स्त्रीलिंग) आयुस् (नपुंसकलिंग) के प्रथमा विभक्ति बनानेमें स् जोड़ाजाता है इसलिये मरुत् साथ स् के और वाच साथ स् के आयुस् साथ स् के मरुत्स्–वाच्स्–आयुस्स बनजाते हैं। इन सबोंका स् गिरजाने से मरुत् वाक् (च् बदल जाता है क् में) और आयुस् होजाते हैं। [illegible]

यदि ज्ञानावरणं पञ्चभेदं तत्प्रतिपत्तिरुच्यतामित्यत आह

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

७

यदि ज्ञानावरणम् पञ्चभेदम् तत् =जो ज्ञानावरण [कर्म] पांच प्रकार है तो उस [ज्ञानावरण] का

प्रतिपत्ति (१) उच्यताम् इति अतः आह = निरूपण या कथन किया जाय अथवा परिभाषण किया जाय इसलिये ऐसा कहते हैं कि

(२) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

(१) यह शब्द वच् कहना-परिभाषण करना अदादि द्वितीयगणका क्रियक परस्मैपदधातुसे इस प्रकार बना है कि व इसका उ में पलट कर उच् हो जाता है पश्चात् य कर्मणि प्रयोगका प्रत्यय लगानेसे उच्य हो गया। पश्चात् अन्य पुरुष एकवचन आज्ञार्थकी आज्ञाद्योतक (=लोट्) क्रियाका चिन्ह ताम् लगानेसे उच्य+ताम् हुआ। पुनः, उच्यताम् = कहा जाय ऐसा हुआ।

(२) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमे तथा भाष्यानुसारितत्त्वार्थ टीकामें यह सूत्र नहीं है वरन् इस सूत्रके स्थानमें 'मत्यादीनाम्' ऐसा सूत्र है और इस सूत्र का यद्यपि अपने यहांका नवमां सूत्र प्रथम अध्यायके (मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्) का सम्बन्ध लेकर ऐसे अर्थ किया है कि

"ज्ञानावरणम् पञ्चविधम् भवति। मत्यादीनां ज्ञानानामावरणानि पञ्चविकल्पाश्चैकशः इति सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृष्ठ १७५

ज्ञानावरणम् पञ्चविधम् भवति च" = ज्ञानावरण (जो प्रकृतिबन्धका प्रथम भेद है) पांच प्रकार होता है और (= च)

एकशः "मत्यादीनाम् ज्ञानानाम् आवरणानि पञ्चविकल्पा इति" = प्रत्येक बा एक २ (= एकशः) मति आदिक ज्ञानोंके आवरण अथवा ढकने पाँच प्रकारके हैं

जैसे १ मतिज्ञानावरण २ श्रुतज्ञानावरण ३ अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण

५ केवलज्ञानावरण अर्थात् उनके यहां 'मत्यादीनाम्' में आदीनाम् शब्दको श्रुत-अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञानोंका द्योतक माना है।

हमारे यहां भी प्रथम अध्यायका नवमां सूत्र वही है जो उनके यहां है। मनःपर्याय शब्द के स्थानमें हमारे यहां मनःपर्यय ऐसा शब्द है। हमारे यहां भी इस सूत्र का वही अर्थ किया है जो उनके यहां अर्थात् ऐसा अर्थ किया है कि मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण में पाँच भेद ज्ञानावरण प्रकृतिबन्ध के हैं परन्तु तत्त्वार्थ राजवार्तिक और तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इस मत्यादीनाम् सूत्रको इस कारण अस्वीकार किया है कि इन पांच ज्ञानोंका मत्यादीनाम् सूत्रके निर्देशमें पाँच आवरण नहीं ठहरेंगे। केवल एक आवरण पांचों मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञानों का ठहरेगा।

=मति-श्रुत-अवधि-मन पर्यय-केवलानाम् ज्ञानावरणानि (=ज्ञानानामावरणानि) एते ज्ञानावरणप्रकृतिबन्धस्य पंचभेदा भवन्ति

सूत्रार्थ —मति-श्रुत-अवधि-मन पर्यय-केवलानाम् "ज्ञानानाम्" =मति श्रुत अवधि मन पर्यय केवल ज्ञानोंके आवरणानि "एते" ज्ञानावरणप्रकृतिबन्धस्य "पंचभेदा" भवन्ति =आवरण अथवा ढकन ये ज्ञानावरण प्रकृतिबन्धके पांच भेद होते हैं अर्थात् मतिज्ञानावरण (मतिज्ञानको ढकनेवाला) श्रुतज्ञानावरण (जो श्रुतज्ञानका आच्छादक है) अवधिज्ञानावरण (अवधिज्ञानका आवरक) मनः पर्ययज्ञानावरण (मन पर्ययज्ञानका आवरण करने वाला) केवलज्ञानावरण (केवलज्ञानका आवरण करने वाला) ये सब ज्ञानावरण प्रकृतिबन्धके भेद हैं भावार्थ आवरण नाम आढ़का अथवा ढकने का है जैसे किसी मूर्तिपर कपड़ेसे आढ़ करी जाय तो उसका आकार नहीं दीखता है उसी प्रकार आत्मामें केवलज्ञान रूप होने की शक्ति है परन्तु इस

मत्यादीनामिति पाठः लघुत्वादितिचेन्न प्रत्येकमभि संबन्धार्थत्वात्। तेन पंच ज्ञानावरणानि सिद्धानि भवन्ति। तत्वार्थ श्लोकवार्तिक मुद्रित पृष्ठ ४५७

मत्यादीनाम् इति पाठः लघु स्यात् इति चेत् न	=मत्यादीनाम् ऐसा पाठ छोटा होता ऐसा प्रश्न या संदेह (=चेत्) है (उत्तर) नहीं होता
प्रत्येकम्	=(क्योंकि) प्रत्येक (मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान केवलज्ञान) के
अभिसम्बन्ध-अर्थत्वात्। तेन	=सम्बन्धके लिये =अर्थ) ऐसा सूत्र है। तिस मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानां (सूत्र) करि
पञ्च-ज्ञान आवरणानि सिद्धानि भवन्ति।	=पांचों ज्ञानों के ढकने या आवरण सिद्ध होते हैं (तत्वार्थ श्लोकवार्तिक पृष्ठ ४५७)

तत्वार्थ राजवार्तिक में इसी "मत्यादीनामिति पाठो लघु त्वादिति चेन्न प्रत्येकमभिसम्बन्धार्थत्वात्" वार्तिकको दूसरी वार्तिक नियतकर विशेष वचन का भाष्य इसप्रकार किया है

स्यान्मतं मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तानि तेषामिहादिशब्दोपलक्षितानां पाठोऽयुक्तो लघुत्वादिति ? तन्न किं कारणं ? प्रत्येकमभिसंबन्धार्थ इह प्रतिपदं पाठः क्रियते। मतेरावरणं श्रुतस्यावरण मित्यादि। इतरथा हि मत्यादीनामित्युच्यमाने तेषामेकमावरणमिति संप्रत्ययः स्यात् पृष्ठ ३०१ ३०२

स्यात् मतम् मत्यादीनि ज्ञानानि उक्तानि	=(ऐसा) अभिप्राय या आशय =मत) हो कि (प्रथमअध्यायके नवमे सूत्रमें) कथित मत्यादिकज्ञान
तेषाम् इह आदिशब्द-उपलक्षितानाम् पाठः अपि उक्त	=तिन ज्ञानोंका इसस्थानमें (=इह) आदिशब्दकरि उपलक्षित या संयुक्त कहा हुआ (=उक्त) पाठभी
लघुत्वात् इति तत् न किम् कारणम्	=छोटा होगा। सो (आदिशब्दकरि उपलक्षित पाठ ठीक) नहीं है क्या कारण भावार्थ मत्यादीनाम् ऐसा सूत्र कहकर लघु (पाठ) क्यों न किया सो नहीं क्योंकि (आवरण शब्दको)
प्रत्येकम् अभिसम्बन्ध-अर्थम् इह	=प्रत्येक (ज्ञान) को लगानेकेलिये इस स्थान (सूत्र) में
प्रतिपदम् पाठः क्रियते।	=पदपदप्रति या प्रत्येक शब्द पर अर्थात् प्रत्येक ज्ञानका न्यारा न्यारा पाठ किया है जैसे
मतेः आवरणम् श्रुतस्य आवरणम्	=मतिका आवरण श्रुतका आवरण
इत्यादि इतरथा हि	=अवधिका आवरण मन पर्ययका आवरण केवलज्ञानका आवरण क्योंकि (=हि) अन्य प्रकार
मत्यादीनां इत्युच्यमाने तेषां एकं आवरणं इति संप्रत्ययः स्यात्	=मत्यादीनाम् ऐसे सूत्रके निर्देश किये जानेमें तिन मत्यादिकका एक आवरण प्रतीत होता नकि पाँच मतिज्ञानका आवरण, श्रुतज्ञानका आवरण अवधिज्ञानका आवरण मन पर्ययज्ञानका आवरण केवलज्ञानका आवरण प्रतीत होते

॥ आवारक द्वयकल्पना ॥ तदभावादुत्तरावरणभङ्गो भवतीति पर्यायरूपतया यदि
॥ २७ तच्च ॥ आह चोद्यते—अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्ति केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा ?।
यदि स्यात्–तस्याभव्यत्वाभाव । अथ नास्ति तत्रावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति ॥ उच्यते आदे
शवचनान्न दोष —द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसम्भवः । पर्यायार्थादेशात्तच्छ
क्त्यभाव ॥ यद्येवं, भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते ।

ज्ञानावरण कर्मने सब ज्ञानोंको ढक रखा है मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणके किंचित् क्षयोपशमसे थोड़ा बहुत ज्ञान सब जीवोंमें है। इस सब प्रकारका ज्ञान उक्त पांचो प्रकारके ज्ञानावरणकर्माने ढक रखा है ॥

शब्दार्थ—मति-आदीनि; ज्ञानानि; व्याख्यातानि; =मति आदिक ज्ञान व्याख्यान किये गये (अध्याय १ सूत्र ६)

तेषाम्; । आवृत ;	=तिन(मति श्रुत,अवधि,मन पर्यय केवलज्ञान) के आवरणसे वा आच्छादनसे
आवरण-भेद ; भवन्ति इति एवम् उत्तर-प्रकृतय वेदितव्या ;	=आवरणका भेद होता है,एस पाच(ज्ञानावरणकी)उत्तर प्रकृति जानना चाहिये ।
अत्र,(?) चोद्यते ; अभव्यस्य; मन पर्ययज्ञान-शक्ति ; च	=यहाँ प्रश्न किया जाता है(=चोद्यते) कि अभव्य के मन पर्यय ज्ञानकी शक्ति और
केवलज्ञान-शक्ति ; स्यात् वा न वा ? यदि स्यात् तस्य;	=केवल ज्ञानकी सामर्थ्य है वा नहीं ? जो है तिस (जीव) के
अभव्यत्व-अभाव ; अथ न अस्ति तत्र	=अभव्यपनाकी विद्यमानता नहीं है जो (–अथ) नहीं है तो वहां (प्रश्नमें)
आवरण-द्वय-कल्पना; व्यर्था ;	=दो[मन पर्यय केवल] ज्ञानके आवरणका मानना निष्प्रयोजन है [उत्तरमें]
उच्यते । आदेश-वचनात् ; न दोष ;	=कहा जाता है कि [अपेक्षारूप वचनमें] नियमरूप वचनमें दूषण नहीं है
द्रव्यार्थादेशात् ;' मन पर्यय–केवलज्ञान–	=द्रव्यार्थिक नयके नियमसे वा अपेक्षासे मन पर्ययज्ञान केवलज्ञानका(अभव्यके)
शक्ति-सम्भव ; पर्यायार्थ-आदेशात्; तत्–	=सामर्थ्य सम्भव है पर्यायार्थिक नयके आदेशसे उन [मन पर्यय केवलज्ञान]की
शक्ति-अभाव ; यदि एवम्	=शक्ति का सामर्थ्यका अभाव है, जो ऐसे है, अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे जिस तरह अभव्यमें भी मन पर्ययज्ञानकी शक्ति और केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान है तो
भव्य-अभव्य-विकल्प ;न उपपद्यते ।	=भव्य अभव्यका भेद नहीं होता है [–न उपपद्यते]

१ यह सब प्रकृतियां … (अभिप्रायसे वा उस अवस्था)… गुण … कर्मोंसे गया।

उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात् ॥ न शक्तिभावाभावापेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते ॥ कुतस्तर्हि ? व्यक्तिसद्भावासद्भावापेक्षया ॥ सम्यग्दर्शनादिभिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यति स भव्यः । यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्यः । कनकेतरपाषाणवत् ॥

आह, उक्तो ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतिविकल्प । इदानीं दर्शनावरणस्य वक्तव्य इत्यत आह—

उभयत्र=तत्–शक्ति–सद्भावात् ; =क्योंकि दोनों (भव्य-अभव्य) में उस (मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान) की शक्तिकी विद्यमानतासे

न=शक्तिभाव–अभाव–अपेक्षया ; भव्य–अभव्य–विकल्पः ; इति=उच्यते ; =[उत्तर] शक्तिकी विद्यमानता और अविद्यमानताकी अपेक्षासे भव्य अभव्यका =भेद नहीं है (पुनः प्रश्न) तो क्योंकर है ? उत्तर प्रगटताके होने और

कुतः तर्हि=व्यक्ति–सद्भाव–असद्भाव–अपेक्षया ; =न होनेकी अपेक्षासे (भव्य अभव्यमें) भेद है अर्थात् जिन भावोंके मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रगट होजाय वे भव्य हैं और जिनके प्रगट न होवें प्रगट न हो सके वे अभव्य हैं

सम्यग्दर्शनादिभिः ; व्यक्तिः ; यस्य ; भविष्यति =जिस (जीव) के सम्यग्दर्शन आदि सहित प्रगटता होगी

सः ; भव्यः ; यस्य ; तु=न=भविष्यति सः ; अभव्यः ; =सो भव्य है और (=तु) जिस (आत्मा) के (व्यक्ति) न होयगी सो अभव्य है ।

कनक–इतर–पाषाणवत् =जैसे (भव्य) सुवर्ण पाषाण सदृश और (अभव्य) अन्य पाषाणवत् अर्थात् जैसे कनकपाषाण अथवा सुवर्णपाषाणको किसी कालमें अग्नि, मन्त्र सोहर इत्यादि परिपूर्ण सामग्री मिलनेपर उसमें से स्वच्छ सुवर्ण न्यारा हो जाता है और किट्टिका तथा मैल पृथक् होजाता है तैसे जिस भव्यके गुरु शास्त्र इत्यादिकका संयोग मिलनेपर अथवा और प्रकार से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी प्रगटता होजावैगी सो भव्य है और जैसे अन्य पाषाणमेंसे अग्नि मन्त्र सोहर इत्यादिक सामग्री मिलने पर भी सुवर्ण नहीं निकलता है तैसे ही गुरु आचार्य मुनि शास्त्र इत्यादिकके उपदेश अथवा भिन्न प्रकारसे जिस जीवको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी व्यक्ति प्राप्त न हो सो अभव्य है ।

आह ; उक्तः ; ज्ञानावरण–उत्तरप्रकृति–विकल्पः ; =प्रश्न करता है कि ज्ञानावरणकी उत्तरप्रकृतिका भेद कहा गया है

इदानीम्=दर्शनावरणस्य ; वक्तव्यः ; इति=अतः=आह =अब दर्शनावरणका (उत्तरप्रकृतिरूपका भेद) कहे जाने योग्य है इसलिये [सूत्रमें] कहते हैं कि

ओरूपसे पीछे से प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद रूप् वर्तमानकालवाचीतक क्रियाका 'सिद्ध करानेस बनाई जैसे ...

(१) ... [illegible]

॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

पाषाण जिससे सुवर्ण निकसता है कनक अन्य दो भेदका होता है जब कनक पाषाण कहदिया तब इतर दूसरा पाष व अन्य पाषाण शेष रहगया। (१) हम रे यहां इस सूत्रका सबका एक पाठ है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम सूत्रमें तथा भाष्यानुसारिणी तत्त्वार्थटीका में "स्त्यानगृद्धयश्च" वाक्यके स्थानमें "स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च" ऐसा वाक्य है अर्थात् उनके यहां पांचों निद्राओंमें वेदनीय शब्दको जोड़कर दर्शनावरणके नव भेदों में ही गर्भित ऐसे कर दिया है कि "भाष्यम् —चक्षुर्दर्शनावरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम् अवधिदर्शनावरणम् केवलदर्शनावरणम् निद्रावेदनीयम् निद्रानिद्रावेदनीयम् प्रचलावेदनीयम् प्रचलाप्रचलावेदनीयम् स्त्यानगृद्धिवेदनीयमिति दर्शनावरणं नवभेदं भवति। वेदन यमिति = वेदनीयम् इति। इस भाष्यका अर्थ स्पष्ट है। पं० जयचन्द्रजीने सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ मुद्रित ६१० में निद्राओंको साताका अनुभव करानेवाला इस प्रकार कहा है कि यहां कोई पूछे जो निद्रा तो पाप प्रकृति है अर सोवनेमें प्राणिनिके सुख दीखे है सो कैसे है? ताका समाधान—जो निद्रा आवे है सो तो पाप ही का उदय है। जातैं दर्शन ज्ञान वीर्य आत्मा का स्वभाव है ताका घात होय है। बहुरि सोवनेतैं खेद ग्लानि मिटै भी है सो याके साथ साता वेदनीय का उदय है तथा असाताका उदय मंद परै है ताकू यह निद्रा सहकारी मात्र होय है तातैं यह प्राणी सुख भी मानै है॥ परमार्थतैं किछु सुख है नाहीं ॥ (२) केवलानाम् षष्ठी विभक्ति बहुवचन नपुंसकलिंगमें है और "स्त्यानगृद्धय प्रथमा विभक्ति बहुवचन स्त्रीलिंगमें है। इन दोनों विभक्तियोंको मिलाकर नीचे लिखा हुआ प्रभुसत्र क्यों नहीं किया?

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलनिद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः॥

(उत्तर) चक्षुरादिकका दर्शनावरणके साथ भेद अपेक्षासे सम्बन्ध है निद्रादिकके साथ अभेद रूपसे। इसलिये षष्ठी प्रथमा दोहरी विभक्तियें है। चक्षुरादीनां दर्शनावरणसम्बन्धात् भेद निर्देश (तत्त्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ ३०२ तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृष्ठ ४७८) चक्षुरादिकका दर्शनावरणके सम्बन्धसे भेदरूप सम्बन्ध का कथन है अर्थात् चक्षु, अचक्षु, अवधि केवलका भेदकी अपेक्षासे दर्शनावरणके साथ सम्बन्ध किया गया है। (परन्तु) निद्रादीनाम् अभेदेन अभिसम्बन्ध तत्त्वार्थराजवार्तिक पृष्ठ ३०२ = निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धय अनुभव मानम दर्शनावरण- अभेदेन अभिसम्बन्ध क्रियते (राजवार्तिक पृष्ठ ३०२) निद्रादिकोंका अभेदकरि सम्बन्ध होता है अर्थात् निद्रा निद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिका अनुभव मात्र दर्शनावरणकरि अभेद (विवक्षा) से संबन्ध कियाजाता है। स्त्यानगृद्धयश्च स्त्यानगृद्धय' च यह स्त्यानगृद्धयः रूप स्त्यानगृद्धि शब्दकी प्रथमा विभक्ति बहुवचन स्त्रीलिंग है॥ (१) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां॥ इस वाक्यका विग्रह (= समासके अर्थको बतानेवाला वाक्य सामासार्थ बोधक वाक्य विग्रह) तत्त्वार्थराजवार्तिकके अनुसार निम्न पदच्छेद है चक्षुश्च अचक्षुश्च अवधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तेषाम् चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां दर्शनावरणानि भेद निर्देश दर्शनावरणसंबन्धात् षष्ठ्यन्त इति = बहुरि (= च) चक्षु और अचक्षु और अवधि और केवल मिलकर चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि (ऐसा वाक्य हुआ)

सूत्रार्थ —चक्षुः ³'' दर्शनावरणम् ³'''=नेत्र के अवलोकनका आच्छादन करे भावार्थ जिसके उदयसे आत्मा चक्षु इन्द्रिय रहित हो

अचक्षुः ³''' दर्शनावरणम् ³'''=नेत्र [इन्द्रिय] के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिय [स्पर्शन—रसन—नासिका—कान के विषयों] के दर्शन [=सामान्यज्ञान—सामान्य ग्रहण] को ढांके वा आवरण करे अर्थात् जो चक्षु बिना अन्य इन्द्रिय द्वारें अर्थके सामान्य ग्रहणको नहीं होने दे सो अचक्षुर्दर्शनावरण प्रकृति है

अवधेः ³''' दर्शनावरणम् ³''' =अवधि दर्शन वा सामान्यग्रहणको रोके वा आच्छादन करे अर्थात् अवधि दर्शनसे जो वस्तुका सामान्य ग्रहण वा अवलोकन होता है उसका आच्छादन करे सो अवधि दर्शनावरण प्रकृति है

केवलस्य ³''' दर्शनावरणम् ³''' =केवल दर्शनको जो रोके वा आच्छादन करे सो केवल दर्शनावरण प्रकृति है

च॰निद्रा-दर्शनावरणम् ³'' =और (=च) आलस, दुःख, वा शोक, थकावटको दूर करने के लिये सोना अथवा शयनकरना सो निद्रादर्शनावरण प्रकृति है

निद्रा—निद्रा—दर्शनावरणम् ³''' =जिस निद्राका फिर फिर प्रवृत्ति अथवा स्थिति सो निद्रा निद्रा दर्शनावरणप्रकृति है अर्थात् निद्रा निद्रादर्शनावरण कर्म प्रकृतिके उदयसे जीवनेत्रोंका उघाड़ नहीं सकता है ऐसी गाढ़ निद्रा होता है

प्रचलादर्शनावरणम् ³''' =जो क्रिया आत्माको चलाता है अथवा चलायमान करती है सो प्रचला है शोक खेद मद आदि की उपजावन हारी है बैठे हुये के भी नेत्रमें शरीरमें विकार उत्पन्न करने वाली है भावार्थ प्रचला दर्शनावरण कर्म प्रकृति के उदय से जीवनेत्रों को कुछ उघाड़े हुये हो सो जाता है [अर्थात् सोता सोता भी कुछ जानता है] बैठा बैठा घूमने लग जाता है नेत्र गात्र चलायमान रहता है देखते हुये भी कुछ नहीं देखता है

तिन चक्षुरचक्षुरवधि केवलके दर्शनावरण या दर्शनके ढकन ऐसे दर्शनावरणके संयोगसे भेदरूप कथन जानना चाहिये अर्थात् तेषां चक्षुरचक्षुरवधि केवलानाम् इन दो षष्ठी बहुवचनोंसे और अवधि दर्शनावरणानि से स्पष्ट है कि प्रत्येक शब्द-चक्षु-अचक्षु अवधि केवल को षष्ठीमें लेना चाहिये और दर्शनावरण शब्दके साथ संबन्ध करना चाहिये, इसलिये चक्षुष दर्शनावरणम् अचक्षुष दर्शनावरणम् अवधेर्दर्शनावरणम्-केवल दर्शनावरणम् ऐसे पद छेद किया है और संस्कृत सर्वार्थसिद्धि के पृष्ठ ३८५ पंक्ति ९-१० में 'चक्षुर्दर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधि दर्शनावरण केवलदर्शनावरण मिति" ऐसा वाक्य है इसमें चक्षुष और दर्शनावरणम् के बीचमें विभक्ति षष्ठी (अस्) का लोप करके चक्षु दर्शनावरणम् समास कर दिया है इसी प्रकार अचक्षु में भी जानो और अवधि और दर्शनावरणके मध्यमें भी षष्ठी विभक्ति का लोप करके अवधिदर्शनावरणम् ऐसा समास किया है इसी प्रकार केवल और दर्शनावरणम् शब्दों के बीच में स्य प्रत्यके विभक्ति का लोप करके केवल-दर्शनावरणम् समास किया है मैंने विभक्तियों को लोप न करके पृथक् पृथक् पदच्छेद कर दिया है।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानामिति दर्शनावरणापेक्षया भेदनिर्देशः चक्षुर्दर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरण मवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति ॥ मदखेद क्रमविनोदनार्थः स्वापो निद्रा । तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा । या क्रियाऽऽत्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकश्रममदादि प्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका ।

प्रचलाप्रचलादर्शनावरणम् ।''' =जो प्रचलाही फिर फिर प्रवर्ते सो प्रचला प्रचला है भावार्थ प्रचलाप्रचलादर्शनावरणकर्म प्रकृतिके उदयसे अत्यन्त घूमताहै अत्यन्त ऊंघता है मुंहसे लार बहने लगती है अङ्ग उपांग चलायमान होतेहै कोई शरीरमें शलाका आदि चुभावे तो भी चेतना नहीं होती है

स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणम् ।''' जिसकरि सोवनेमें विशेष बल वा सामर्थ्यका प्रकटपना सो स्त्यानगृद्धि है भावार्थ जिस निद्राके आने पर चेतन्यसा होकर अनेक रौद्रकर्म करने लगता है बहुत पराक्रमकर ऐसा है और फिर अचेत हो जाता है फिर निद्रा छूटने पर वह नहीं जानताहै कि मैने क्या क्या काम कर डाले उस निद्राको स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण कर्मप्रकृति कहते है

एते।'दर्शनावरणप्रकृतिबन्धस्य।'नवभेदा ।'भवन्ति =ये दर्शनावरण प्रकृतिके नवभेद होते है

शब्दार्थ —चक्षुर्—अचक्षुर्—अवधि—केवलानाम्=चक्षुका, अचक्षुका—अवधिका, केवलका

दर्शन—आवरण—अपेक्षया ।'' भेदनिर्देशः ।' =दर्शनावरणकी अपेक्षासे भेद निर्देश है ।

चक्षुर्दर्शनावरणम्।'' अचक्षुर्दर्शनावरणं ।'''अवधि=चक्षुर्दर्शनावरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम्-अवधि

दर्शनावरणम्।'''केवलदर्शनावरणम्।'''इतिश्च१—=दर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ऐसे हुये । मत्तता (=मद) चित्तकी उद्रेकता (=मद)

खेद्—क्लम्—विनोदन—अर्थ ।' स्वाप ।' निद्रा ।''=दुःख वा शोक (=खेद) थकावट(=क्लम)दूर(=विनोदन) केलिये शयन वा सोवना सोनिद्रा है

तस्याः ।'' उपर्युपरि•वृत्तिः ।'' निद्रानिद्रा ।'' =तिस निद्राकी पुनि पुनि (=उपर्युपरि) सो निद्रानिद्रा है (=नींदपेनींद है)

या।' क्रिया।'आत्मनं।'प्रचलयतिसा।' प्रचला।''=जो क्रिया चेतनको चलाती है वा चलायमान करतीहै सो प्रचला है

शोक—श्रम—मदादि—प्रभवा।'' =शोक-खेद-मद आदिकको उत्पादक अथवा उपजाने वाली है (=प्रभवा।'')

आसीनस्य ।' अपि•नेत्र-गात्र-विक्रिया-सूचिका।'' =बैठे हुये के भी नेत्रमें शरीरमें विकार (=विक्रिया) की छेदनेवाली है

(१) प्रचलयति—यह वाक्य 'चल्' ग्वादि प्रथम गण परस्मैपदी अकर्मक धातुसे स्वहेतुक सकर्मक धातु ऐसे बनाया गया है कि 'चल (—चलना)मेंअय

सैव पुन पुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचला। स्वप्नेऽपि यया वीर्यविशेषाविर्भाव सा स्त्यानगृद्धि। स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते। गृद्धिरभिदीप्ति। स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्र बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धि ॥ इह निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसम्बध्यते—निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि ॥

तृतीयस्या प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह—

सदसद्वेद्ये ॥८॥

सा 'एव पुन पुन आवर्तमाना' प्रचलाप्रचला — सो ही फिर फिर आवते या लौट लौटकर आवे सो प्रचला प्रचला है।
स्वप्ने अपि यया वीर्य-विशेष-आविर्भाव सा — सोवनेमें भी जिसकरि बल या सामर्थ्यकी अधिक प्रगटता हो सो
(१)स्त्यानगृद्धि, स्त्यायते अनेक-अर्थत्वात् — स्त्यानगृद्धि है, । स्त्यायति (धातु) के विविध अर्थ होनसे
स्वप्न-अर्थ इह गृह्यते, गृद्धि — इस स्थान अर्थात् इस सूत्र) में स्वप्न अर्थ लियागया है। गृद्धि है सो
अभिदीप्ति ; — अभिदीप्ति है अर्थात् प्रशस्त या विशेष (=अभि) कान्ति (=दीप्ति) को कहते हैं।
स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति-दीप्यते । — सोवनमें (=स्त्याने) स्वप्नमें जो प्रकाश होता है, दिपता है (सो स्त्याने गृद्ध्यति है)
यत्-उदयात् आत्मा रौद्रम् बहुकर्म करोति सा — जिसके उदयसे जीव डरावने (=रौद्र) अनेक काय करता है सो
स्त्यानगृद्धि। इह दर्शनावरणम् निद्रा- — स्त्यानगृद्धि है। यहांपर (=इह) दर्शनावरण निद्रा-
आदिभि समानअधिकरण्येन अभिसम्बध्यते — निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिसे समानअधिकरणरूपमें जोड़ाजाता है।
निद्रादर्शनावरणम् निद्रानिद्रादर्शनावरणम् इति आदि — जैसे निद्रा दर्शनावरण—निद्रानिद्रादर्शनावरण—प्रचलादर्शनावरण प्रचलाप्रचला दर्शनावरण—स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण ऐसे होते हैं
तृतीयस्या प्रकृते उत्तर-प्रकृति-प्रतिपादन अर्थम् आह — तीसरी (वेदनीय) प्रकृतिके उत्तर प्रकृति (भेद) कहनेकेलिये कहते हैं कि

सदसद्वेद्ये = सद्वेद्यम् असद्वेद्यम् च वेदनीयम् द्विभेद भवति। दोनों समाजमें सूत्रका एकपाठ है

हेतुक प्रत्यय लगाकर फिर प्र उपसर्ग के कम से प्र+चल्+अय रूप हुआ पश्चात् प्रथम पुरुष एक वचन कर्तरि प्रयोग लट् वर्तमान काल बोधक क्रियाका ते चिन्ह लगाने से प्रचलयति बनाया। चल धातुके अकारको वृद्धिकरनसे चाल् होजाता है प्र+चाल्+अय+ति = प्रचालयति बना धातु जो सकर्मक नहीं है [illegible] अकर्मकसे सकर्मक बनजाता है यह सहेतुक सकर्मक कहलाता [illegible]

यदुदयाद् देवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति । यत्फलं दुःखम-
नेकविधं तदसद्वेद्यमप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति ॥ चतुर्थ्याः प्रकृतेरुत्तरप्रकृतिविकल्पनिर्देशनार्थमाह

॥ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडश-
भेदाःसम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशो-
कभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्या-
ख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ –सद्वेद्यम् ॥ असद्वेद्यम् ॥ च वेदनीयम् ॥ द्विभेदम् ॥ =प्रशस्तवेदने योग्य और (=च) अप्रशस्त वेदनेयोग्य दो भेद वेदनीय (कर्म) के =होते हैं अर्थात् सातावेदनीय और असातावेदनीय ऐसे दो प्रकारका वेदनीय है
भवति ।

वृत्त्यनुवाद –यद्–उदयात् देवादिगतिषु शारीर–मानस– =जिसके उदयसे देवादि गतियों में शारीरिक और मन सम्बन्धी या मानसिक
सुखप्राप्तिः तत् सद्वेद्यम् प्रशस्तम् =सुखकी प्राप्ति या लब्धि होती है वह सातावेदनीय है, सो वेदनेयोग्य (=प्रशस्त)
वेद्यम् सद्वेद्यम् इति यत्फलम् दुःखम् अनेकविधम् =वेदनीय है सो सद्वेद्य है । जिसका फल नाना प्रकार दुःख हो
तत्–असद्वेद्यम् अप्रशस्तम् वेद्यम् असत्–वेद्यम् इति =वह असाता वेदनीय है अप्रशस्त वेदने योग्य वेदनीय है, ऐसा असद्वेद्य है ॥
चतुर्थ्याः प्रकृतेः उत्तर–प्रकृति विकल्प–निर्देशन अर्थम् आह =चौथा (मोहनीय) प्रकृतिके उत्तर प्रकृतिभेद दिखानेके लिये कहते हैं कि

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदा सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभ-
यान्यकषायकषायौहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसक वेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-
प्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकश क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

सूत्रका पदच्छेद-दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय-अकषायवेदनीय-कषायवेदनीय आख्याः त्रि-द्वि-नव-षोडश भेदा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि-अकषाय-कषायौ-हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्-नपुंसक-वेदा-अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान संज्वलन-विकल्पा' च एकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः (एते मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदा भवन्ति) ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय-अकषाय=दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय-अकषाय

वेदनीय कषायवेदनीय-आख्या ॥ त्रिद्वि-नव-षोडश-भेदाः=वेदनीय-कषाय वेदनीय नामवाले (मोहनीय कर्म) के (क्रमसे) तीन-दो-नौ-सोलह-भेद हैं अर्थात् दर्शनमोहनीयके तीन [भेद हैं-चारित्रमोहनीयके दो भेद हैं अकषायवेदनीयके नौभेद हैं और कषाय वेदनीयके सोलह भेद हैं

सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि ॥ =सम्यक्त्व, मिथ्यात्व-सम्यक् मिथ्यात्व-(तदु-उभय-वेदोंनों) (दर्शनमोहनीयके) हैं

अकषाय-कषायौ ॥ हास्य-रति-अरति =नोकषाय(=अकषाय=ईषत् कषाय) कषाय(चारित्र मोहनीयके) हैं हास्य-रति-अरति

शोक-भय-जुगुप्सा ॥ स्त्री-पुन्-नपुंसक वेदाः ॥ =शोक भय, जुगुप्सा-स्त्रीवेद पुरुषवेद-नपुंसकवेद (नोकषाय) है

च अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान- =(और)=च अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान

संज्वलन-विकल्पा ॥ एकशः क्रोध-मान-मायालोभाः ॥ =संज्वलन (तिन) एक एक के क्रोध, मान, माया, लोभ [१६ कषाय के] भेद है

एते ॥ मोहनीयस्य ॥ अष्टाविंशतिभेदाः ॥ भवन्ति T =इतने मोहनीय [कर्म]के अट्ठाईस भेद होते है अर्थात् (१) अनन्तानुबन्धी क्रोधकषाय (२) अनन्तानुबन्धीमानकषाय (३) अनन्तानुबन्धीमायाकषाय (४) अनन्तानुबन्धीलोभ कषाय (५) अप्रत्याख्यान क्रोधकषाय (६) अप्रत्याख्यान मानकषाय (७) अप्रत्याख्यानमाया कषाय (८)अप्रत्याख्यान लोभ कषाय (९) प्रत्याख्यान क्रोध कषाय(१०)प्रत्याख्यानमान कषाय(११) प्रत्याख्यानमाया कषाय १२-प्रत्याख्यान लोभ कषाय (१३) संज्वलन क्रोध कषाय (१४) संज्वलनमानकषाय (१५) संज्वलन माया कषाय- १६) संज्वलन लोभ कषाय भावार्थ मो ^य कर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय मे दो तो मूल भेद हैं और दर्शन मोहनीय-, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व और सम्यग मिथ्यात्व अर्थात् मिश्रमोहनीय ऐसे तीन प्रकार का है और चारित्र मोहनीयके अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय दो भेद है।

श्वेताम्बर आम्नायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रमे अकषाय कषायके स्थानमें कषायनोकषाय है अकषायका वाही अर्थ है जो नो कषाय का है क्योंकि सभाष्यमें कषायको प्रथम रखकर पश्चात् नो कषाय रक्खा है इसी हेतु से क्रमानुसार अथवा यथासंख्यके नियमानुसार षोडश नव भेदा वाक्य रख पाठका भेदा। वाक्यके स्थानमें लाये हैं आगे रख कर अर्थात् तदुभयानि के पीछे अकषाय कषायौ वाक्यके स्थानमें ...

दर्शनादिचत्वारः। त्र्यादिभेदाः

त्रिभेद, चारित्रमोहनीय द्विभेद,

जिनमें से अकषायवेदनीय, हास्य, रति–अरति–शोक–भय–जुगुप्सा–स्त्रीवेद–पुरुषवेद–और नपुंसकवेद–ऐसे नव प्रकार का है और
(१) अनन्तानुबन्धी क्रोधकषाय (२) अनन्तानुबन्धी मानकषाय (३) अनन्तानुबन्धी मायाकषाय (४) अनन्तानुबन्धी लोभकषाय
(५) अप्रत्याख्यान क्रोधकषाय (६) अप्रत्याख्यान मानकषाय (७) अप्रत्याख्यान मायाकषाय (८) अप्रत्याख्यान लोभकषाय
(९) प्रत्याख्यान क्रोधकषाय– (१०) प्रत्याख्यान मानकषाय (११) प्रत्याख्यान मायाकषाय (१२) प्रत्याख्यान लोभकषाय
(१३ संज्वलन क्रोधकषाय (१४) संज्वलन मानकषाय (१५ संज्वलन मायाकषाय (१६) संज्वलन लोभकषाय–ऐसे सोलह प्रकार का
कषायवेदनीय है ऐसे ३ दर्शनमोहनीयकी, ९ अकषायवेदनीयकी, १६ कषायवेदनीयकी सर्व मिलकर २८ मोहनीय कर्म की प्रकृतियें हुई

वृत्त्यनुवाद –दर्शन–आदय ¹ चत्वार ¹;=दर्शनादिक चारों अर्थात् दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय-अकषाय वेदनीय-औरकषायवेदनीय,
त्रि–आदय ¹ अपि॰ चत्वार ¹;तत्र॰ =तीन आदिक (गणनामें) भी चारों अर्थात् (सूत्रमें) तीन दो-नो-सोलह हैं तहां (इससूत्रमें)
यथासंख्येन ¹ सम्बन्ध ¹ भवति T =अनुक्रमसे अभिसम्बन्ध होता है अर्थात् दर्शनमोहनीयको तीनके साथ चारित्र मोहनीयको दोके साथ,अकषाय वेदनीको नोकेसाथ और कषाय वेदनीयको सोलहके साथ साथ जोड़ना चाहिये
दर्शनमोहनीय ¹ त्रिभेद ¹;चारित्रमोहनीय ¹ द्विभेद ¹=(तब) दर्शनमोहनीय तीन प्रकार चारित्रमोहनीय दो प्रकार

पुनिहमारे यहां अकषाय के नव भेद हास्य रत्यरति इत्यादि कहके अनन्तानुबन्ध्य इत्यादि सोलह भेद कहकर सूत्र पूर्ण किया है समाप्य० में (चूं कि प्रथम कषाय साथ हैं उसी के अनुसार) प्रथम अनन्तानुबन्ध्य सोलह भेद कहे फिर हास्यरत्यरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुं नपुंसक वेदा ऐसा कहा क्योंकि वेदा शब्द अन्तमें है इसलिये विसर्गका लाना समाप्य०में आवश्यक हुआ समाप्यतत्त्वार्थ धिगमसूत्रमें प्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण है हमारे यहां केवल प्रत्याख्यानप्रत्याख्यान है अर्थात् समाप्य॰ में आवरण शब्द अधिक है वह हमारे यहां नहीं है हमारे यहां सूत्रम केवल १०० ही अक्षर हैं समाप्य०में १०६ अक्षर हैं अर्थ में भेद दोनों सम्प्रदायोंमें से किसीमें नहीं है तब अर्थ भेद नहीं है और एक अक्षर भी न्यून होतई तो सूत्रका पाठ लघु होना चाहिये समाप्य० का पाठ हम नीचे लिखते हैं जिसको हमारे यहां के पाठ से अवश्य मिलाना चाहिये । दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदा सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषाय नोकषायावनन्तानुबन्ध्य प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः हास्यरत्यरतिशोक,भय जुगुप्सास्त्रीपु नपुंसकवेदाः ॥ १० ॥ समाप्य०में यह दशवां सूत्र है क्योंकि प्रथम सूत्र मिथ्या दर्शनादिक जो हमारे यहां एक सूत्र है समा प० में दो हैं इसलिये हमने भी इसे १० वाँही लिखा है यहां पर किंचित् कषायको ईषत्कषाय नोकषाय तथा अकषाय वेदनीय कहते हैं आत्माको कषैरूपसेपितरूप करे उसको कषाय कहते हैं यहां अकषाय शब्द का अर्थ कषाय रहित नहीं है किन्तु ईषत्कषाय है ।

अकषायवेदनीय नवविध, कषायवेदनीय षोडशविधिमिति ॥ तत्र दर्शनमोहनीय त्रिभेदं सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, तदुभयमिति । तद् बन्धंप्रत्येकं भूत्वा सत्कर्मापेक्षया त्रिधा व्यवतिष्ठते॥ तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम् । तदेव सम्यक्त्वम्

अकषायवेदनीयम् १।। नवविधम् १।।। कषायवेदनीयम् १।।।	=अकषाय वेदनीय नौ प्रकार,कषाय वेदनीय
षोडशविधम् १।।। इति॰। तत्रदर्शनमोहनीयम् १।।।त्रिभेदम् १।।।	=सोलह प्रकार ऐसे हैं वहां दर्शनमोहनीय तीन प्रकार है,
सम्यक्त्वम् १।।। मिथ्यात्वम् १।।।, तद्–उभयम्१।।।इति॰।	=सम्यक्त्व,मिथ्यात्व, दोनों(सम्यक्त्व मिथ्यात्व)अर्थात् मिश्रमोहनीयऐसे (तीन)है
तद्–बन्धम् १। प्रति॰ एकम् १।।। भूत्वा ॰ सत्कर्म–	=वो (दर्शनमोहनीय)बन्ध अपेक्षासे एक(मिथ्यात्वरूप)होते हुये(उदय)सत्ताकर्मकी
अपेक्षया १।। त्रिधा॰ (१) व्यवतिष्ठते T ॥	=विवक्षासे तीन प्रकार विशेष रूपसे तिष्ठता है या रहता है (=व्यवतिष्ठते)
तत्र॰यस्य १। उदयात् १। सर्वज्ञ–प्रणीत–मार्ग–पराङ्मुख १।	=वहां जिसके उदयसे (=उदयात्) सर्वज्ञकृत वा सर्वज्ञभाषित (मोक्ष) पथसे विमुख
तत्त्वार्थ–श्रद्धान–निरुत्सुक१।हित–अहित–विचार–असमर्थः१	=तत्त्वार्थकेविश्वासमेंउत्साह रहित हित–अहितके निर्णयमें(=विचार)असमर्थहो
मिथ्यादृष्टिः १ भवति T तद्–मिथ्यात्वम्१।।।,	=सो मिथ्यादृष्टि होता है, उस (उपर्युक्त) मिथ्यादृष्टीका भाव सो मिथ्यात्व प्रकृति है अर्थात् जिसके उदयकरि सर्वज्ञके कहेहुए मोक्षमार्गसे विमुखपना तत्त्वार्थके विश्वासमें निरुत्सुकपना वा उद्यमरहितपना और हित अहित की परीक्षासेरहितपना सो मिथ्यात्व है।
तद्१।।। एव ॰	=(दर्शनमोहनीय कर्मकी (मिथ्यात्व प्रकृति है) वह (=तद्=मिथ्यात्व) ही (=एव)
(२) सम्यक्त्वम् १।।।	=सम्यक्त्व है अर्थात् तिसही मिथ्यात्वके भेदको सम्यक्त्व मिथ्यात्व संज्ञा है ॥

(१)यह शब्दवि(=विशेषतासे)+अव+स्थ+तेकरि बनाहै स्था का लिङ्ग विनाकिसी नियमके होजाता है। वि+अव+तिष्ठ+अ+ते=व्यवतिष्ठते

(२)अंतेषु कोद्रवं वा पद्मुपसमसम्यमावअतेव पंचेव कोद्रवं वा प्रथमोपशमसम्यक्त्वमावयन्तेव	(मिथ्यात्व के ये तीन भेद गोम्मटसारके कर्मकाण्डकी इस २६वीं गाथा में कहे गये हैं) – कतकरि (–घरटीकरि) कोदों सदृश प्रथमोपशमसम्यक्त्वभाव वा परिणामरूप कतसे
मिथ्यं द्रव्यं तु त्रिधा असंख्यगुणहीनद्रव्यक्रमा मिथ्या वम् द्रव्यम् तु त्रिधा असंख्यगुणहीनद्र यक्रमात्	– मिथ्या व (रूपी) कर्मद्रव्य–क्रमसेअसंख्यातगुणा हीन होताहुआ तीनप्रकार होजाताहै भावार्थ जैसे कोदों–धान्य विशेष दलने पर, भुसी तन्दुल और कण ऐसे तीन रूप हो जाताहै उसी प्रकार मिथ्या त्वरूप कर्मद्रव्य औपशम–सम्यक्त्वरूपी चक्कीद्वारा मिथ्यात्व

शुभ–परिणाम–निरुद्ध–स्वरसम्	=शुभ परिणाम या विशुद्धता (के बल) से मिथ्यात्वकाविपाकरस रुक जाय
(१) यत् औदासीन्येन अवस्थितम् (२) आत्मनः	=जिससे उदासीनता सहित ठहरे हुये या स्थितशील आत्माके
श्रद्धानम् न (३) निरुणद्धि	=विश्वास को (यह सम्यक् प्रकृतिरूप मिथ्यात्व) रोक नहीं सकता है अर्थात् उदासीनरूपसे स्थित आत्माके श्रद्धानको यह (सम्यक् प्रकृतिरूप मिथ्यात्व) बिगाड़ नहीं सकता है वरन् मल सहित करदेता है ।
तद् वेद्यमानः पुरुषः	=जिस (दर्शनमोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय)को वेदताहुआ पुरुष

(ख) सम्यक्त्व (=सम्यग्मिथ्यात्व) और (ग) सम्यक्त्वप्रकृति अथवा सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व=तदुभयानि) तीनरूप परिणमन करता है। अत एक मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीयकर्मके तीनभेद कहैं। सम्यक्त्वके भेदोंमेंसे उपशमसम्यक्त्व दोप्रकार है प्रथमोपशमसम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व

(१) यद्–यहां अव्यय है (पाथवग्र कोश पृष्ठ १०७) जिससे (नकि 'जो' के) अर्थमें आया है जिससे अर्थात् जिस शुभ परिणामके कारणसे ।

(२) सर्वार्थसिद्धि पृतिकी प्रथमा तथा द्वितीयावृत्तिमें और तीन हस्तलिखित प्रतियोंमें भी "अवस्थितमात्मनः श्रद्धानं" पाठ है परन्तु तत्त्वार्थ राजवार्तिक मुद्रित पृष्ठ ३०४ में "अवस्थितमात्मानं श्रद्धानं" ऐसा पाठ है अर्थात् आत्मानः एक वचन षष्ठी विभक्ति के स्थानमें द्वितीया विभक्ति एक वचन 'आत्मानम्' राजवार्तिकमें है। दोनों पाठ ठीक हैं और दोनोंका एकसा ला अर्थ भी है॥

(३) निरुणद्धि यह शब्द रुधादि सातवां गणके परस्मैपदी सकर्मकधातु रुध् (=रोकना बन्दकरना, आच्छादन करना, दबाना) धातुमें न (=न) जो सातवां गणका विकरण है, उसका रु और ध के मध्यमें लाने से और ति प्रथम पुरुष एकवचन कर्तृप्रधान परस्मैपदी लट् वर्तमानकाल वाचक क्रिया का चिन्ह लगाने से पश्चात् निअव्यय आदिमें लगानेसे इस प्रकार बनता है कि –

रुध विकरण ण जोड़नेसे रुणध् हुआ पूर्वोक्त ति क्रिया का चिन्ह लगानेसे "रुणध्+ति' ऐसा हुआ इस 'ति"का धि नीचे लिखे हुये नियमसे हुआ झषस्तथोर्धोऽधः। अष्टाध्यायी ८ २ ४० पदच्छेद करनेसे झष त–थो ध अधः ॥ झष् पाणिनि मुनिके चौदह प्रसिद्ध सूत्रोंमें से एक है इसमें झ, भ घ ढ ध गर्भित हैं त, थका, ध हो जाता है यदि इस त–थ के पहिले झ, भ घ, ढ, ध आवे परन्तु धा धातुके पश्चात् नहीं । इसलिये रुणध्+धिरूप हो गया इस रुणध् का ध नीचे लिखित नियमसे द् में पलट जाता है ङ्, ञ्, ण् न् म् और य्, र् ल व् को छोड़कर कोई व्यञ्जन जिसके पीछे किसी वर्गका तीसरा वा चौथा अक्षर आवे तो यह व्यञ्जन अपने वर्गके तीसरे अक्षरमें पलट जाता है इसलिये रुणध+धि, इस ध् के पीछे चौथा अक्षर धि है ध् पलट गया द् में रुणद्धि हुआ इस रुणद्धि के आदिमें नि अव्यय लगानेसे निरुणद्धि सिद्ध हुआ मरीभरि सवर्णे सूत्रसे (८–४–६५) ध् गिरजाता है "निरुणधि' भी ठीक है।

वेद्यमान–विद्–यहां पर दशवां चुरादि गणका धातु वेदना अर्थमें है दशवां गणका विकरण 'अय' लगानेसे और विद्को गुण करनेसे वेद+अय=वेदय बना 'मान्' आत्मने पदके वर्तमान कृदन्तके प्रत्ययके लगानेसे वेदयमान् हुआ इसका प्रथमाविभक्ति एक वचन पुल्लिंग वेदयमान्+अस्=वेदयमानः हुआ। विद् धातुकी पूर्ण टिप्पणी पृष्ठ १०,२१ में दीगई है वहां देखलीजिये ॥

प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधामानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते। संयमेन सहवस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलना क्रोधमानमायालोभा। त एते समुदिताः सन्त षोडशकषाया भवन्ति॥ मोहनीयानन्तरोद्देशभाज आयुष उत्तरप्रकृति–निर्ज्ञापनार्थमाह—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

प्रत्याख्यानावरणाः क्रोध-मान-माया-लोभाः; सम्	=प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान माया-लोभ हैं। (संयमशब्दमें) सम् (उपसर्ग)
एकीभावे वर्तते संयमेन सह अवस्थानात्	=एकपन या एकतामें प्रवर्तता है संयमके साथ स्थिति होनेसे (=सह अवस्थानात्)
एकीभूय ज्वलन्ति वा येषु सत्सु अपि	=एक होकर देदीप्यमान होते हैं, दिपते हैं, या जिनके (=येषु) होनेपर (=सत्सु) भी (=अपि)
संयमः ज्वलति इति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः;	=संयम देदीप्यमान रहता है ऐसे संज्वलन क्रोध–मान–माया–लोभ हैं
ते एते समुदिताः सन्तः षोडश–कषायाः भवन्ति	=वे इतने समुदित होकर सोलह कषाय होते हैं।
मोहनीय–अनन्तर–उद्देश–भाजः आयुषः	=मोहनीय (कर्म प्रकृति) के निकट या समवाई इच्छित विभाग आयु (कर्म) की
उत्तर–प्रकृति–निर्ज्ञापन–अर्थम् आह	=उत्तर–प्रकृति प्रकाशनेकेलिये अथवा बतावनेकेलिये (अग्रिम सूत्र) कहते है कि

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि = नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ता एता आयुष चतुरुत्तर प्रकृतय

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ता एता आयुषः	=नारक–तैर्यग्योन, मानुष और देव ये आयु (कर्म) की
चतुर्–उत्तर–प्रकृतयः	=चार उत्तर प्रकृतियें है अर्थात् नरक आयु–तिर्यचआयु–मनुष्यआयु–देवायु

ये आयुकर्मकी चार उत्तर प्रकृतियें है भावार्थ (क) जिसके सद्भावसे आत्मा नरकगतिमें जीवे और जिसके अभावसे मरणको प्राप्त होजाय उसे नारक आयुकर्म कहते है (ख) जिसकी विद्यमानतासे तिर्यचगतिमें आत्मा जीता है और जिसके अन्तहोनेपर मृत्युको प्राप्त होता है वह तिर्यग्योनि आयुकर्म है॥ (ग) जिसके सद्भावसे मनुष्यगतिमें जीव जीता है और जिसके अभाव होते पर मरजाता है वह मनुष्य आयुकर्म है और (घ) जिसके होने पर जीव देवगतिमें जीता है जिसके अभाव होने पर जीव मृत्यु को प्राप्तहोता है वह देव आयु कर्म है—

(१) [illegible]

नारकादिषु भवसम्बन्धेनायुषो व्यपदेशः क्रियते । नरकेषुभवं नारकमायुः । तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योन । मानुषेषुभव मानुषं । देवेषु भव दैवमिति ॥ नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवन तन्नारकम् ॥ एव शेषेष्वपि ॥

आयुश्चतुर्विधं व्याख्यात तदनन्तरमुद्दिष्ट यन्नामकर्म तदुत्तरप्रकृतिनिर्णयार्थमाह—

पदच्छेद और विभक्त्यर्थ सहित इसदशवां सुत्रपर सर्वार्थसिद्धिवृत्तिका शब्दश हिंदी अनुवाद

नरक-आदिषु॥ भवसम्बन्धेन॥ आयुषः॥ व्यपदेशः॥ क्रियता, नरकेषु॥ भवं॥ नारकं॥ आयुः॥ तिर्यग्-योनिषु॥ भवं॥ तैर्यग्योनं॥ मानुषेषु॥ भवम्॥ मानुषम्॥ देवेषु॥ भवम्॥ दैवम्॥ इति ॥ नरकेषु॥ तीव्र-शीत-उष्ण-वेदनेषु॥ यत्-निमित्तं॥ दीर्घ-जीवन॥ तत्-नारकम्॥ एव शेषेषु॥ अपि॥

=नरकादिकोंमें जन्मके प्रसंगकरि आयुका कथन किया गया है; नरकमें उत्पत्तिका कारण (कर्म) सो नारक आयु है; तिर्यंच योनियोंमें उपजनेका कारण (कर्म) सो तैर्यग्योन है; मनुष्योंमें जन्मका कारण (कर्म) सो मानुष है; देवनिमें उपजने को कारण (कर्म) सो दैव है ॥ =नरकोंमें अतिशय ठंड और उसके (दुखरूप) अनुभव करने पर जिसके निमित्तसे बहुत(कालतक)जीवन हो सो नारक (आयुकर्म) है । ऐसे बचेहुए तीनआयुकर्म भी है अर्थात् जिसके उदयसे क्षुधा-तृषा शीत उष्णादिकृत प्रचुर उपद्रव सहित तिर्यंगयोनिमें बसनाहोय सो तिर्यंगायु है बहुरि जिसके उदयसे शरीर मनः सम्बन्धी सुख दुःख करि व्याप्त मनुष्य पर्यायमें जन्महोय सो मनुष्य आयु है और जिसके उदयसे शारीरिक मानसिक सुखादिसहित देवोंमें उत्पत्तिहोय सो देवायु है ॥

आयुः॥ चतुर्-विधम्॥ व्याख्यातम्॥ तत्-अनन्तरम्॥ उद्दिष्टम्॥ यत्-नामकर्म॥ तत्-उत्तर-प्रकृति-निर्णय-अर्थम्-आह॥ =आयु चार प्रकार वर्णन की गई है । उस (आयु) के समीप कहाहुआ जो नामकर्म उस(नामकर्म)की उत्तर प्रकृतियोंके निश्चयको कहतेहैंकि

नरक (पु० नृ+वुन । पापियोंके दुःख भोगनेको एक स्थान । नारक निरय और दुर्गति नरकके नाम हैं ॥ स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम् । स्यात् नारकः निरय दुर्गति स्त्रियाम् (अमरकोष नरकवर्ग) – नारक, नरक निरय (पुल्लिंगमें) और (–तु) दुर्गति स्त्रीलिंगमें नरकके नाम हैं ॥ नारक(पु०)नृ+वुन् (अक)नरक नरके भव अस्य नरकका । नरकनिवासीको नारकिक, नारकीय और नारकिन् कहते हैं ये तीनों शब्द पुल्लिंग हैं । इनमेंसे नारकिन् शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है नारके भोग्यत्वेन अस्ति अस्य इनि –नरककी पीड़ाओंका भागनेहारा जीव ॥

(१) शेषेषु बचे हुये तीन मनुष्य आयु कर्म तियग् आयु कर्म देव आयु कर्म, के लिये आयाहै इसलिये नपुंसक लिंग यहां पर है ।

इति ब्रूमहे ॥ कुत यत — ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥

ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावो दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थ संज्ञानिर्देशात्सर्वासां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानामनुभवसम्प्रत्यो जायते ॥

इति(१) ब्रूमहे । (२) कुतः ? यत	=ऐसा (=इति) हम कहते हैं (प्रश्न) कैसे ? (=कुत) (उत्तर) क्योंकि (=यत)
स यथानाम ॥ २२ ॥	=सोऽनुभवो ज्ञानावरणादीनां यथानाम विपच्यते॥२२॥
सूत्रार्थः—(३)सः अनुभवः ज्ञानावरणादीनाम्	=वह (अनुभव, विपाक उदय अथवा परिपाक) ज्ञानावरणादिक आठ कर्मों के
यथानाम विपच्यते	=नामके अनुकूल (=जैसा नाम वैसे) विपाकको प्राप्त होता है। अर्थात् जैसा कर्मकी प्रकृतिका नाम है वैसा ही वाका विपाक अथवा उदय है
वृत्त्यनुवाद —ज्ञान आवरणस्य फलम् ज्ञान	=ज्ञानावरण (कर्मकी प्रकृति) का परिणाम (=फल) ज्ञानका
अभावः दर्शनावरणस्य फलं दर्शन-शक्ति-उपरोधः	=न होना है दर्शनावरण (कर्म प्रकृति)का फल दर्शनकी सामर्थ्यका अवरोध या रुकाव है
इत्येवम् आदि अनुअर्थ-संज्ञा-निर्देशात्	=इत्येव आदि सार्थक संज्ञाके कथनसे या नामके अनुकूल अर्थवाली संज्ञाके उपदेशसे अर्थात् जैसा जिसकर्म प्रकृतिका नाम है वैसाही उस प्रकृतिका विपयरूप कथनसे
सर्वासाम् कर्मप्रकृतीनाम् सविकल्पानाम् अनुभव-	=सब कर्म प्रकृतियोंके भेद सहित अनुभवकी
सम्प्रत्ययः (४) जायते	=प्रतीति उत्पन्न होती है।

(१) ब्रूमहे-ब्रू अदादि दूसरे गणका उभय (परस्मै और आत्मने) पदी धातु द्विकर्मक (जैसे माणवकं धर्मं ब्रूते—छोकरों को वह धर्म को कहता है) कहना अर्थ में आता है। इस गणमें विकरण कोई नहीं लगाया जाता है। महे उत्तम पुरुष बहुवचन आत्मनेपदी वर्तमान कालकी क्रियाका द्योतक चिन्ह ब्रू में जोड़नेसे ब्रूमहे (=हम कहते हैं) बनता है।

(२) कुतस् (=कुत) (क) कहांसे (ख) जहां कहां कहीं (ग) कैसे (घ) बहुत अधिक, बहुत न्यून अर्थों में आता है, यहां पर 'कैसे' अर्थ में आया है (पैवकोष पृष्ठ १६४ देखो) (३) दोनों श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायोंमें इस सूत्रका पाठ तथा अर्थ एकसा है।

(४) 'जन्' (=जन्म उत्पन्न होना) यह दिवादि चतुर्थ गण का आत्मनेपदी अकर्मक धातु है इस जन् के स्थान में 'जा' आदेश हो जाता है और क्योंकि यह चतुर्थ गण का धातु है इस का विकरण 'य' है इस लिए जा+य=जाय अब इस 'जाय' से परे अन्यपुरुष एक वचन, वर्तमान वर्तमान क्रिया का द्योतक आत्मने पदी चिन्ह 'ते' ...

प्रच्यवते? इत्यत्रोच्यते—

पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात्

आह । यदि विपाकः अनुभवः प्रतिज्ञायते, =प्रश्न करता है कि जो "विपाकोऽनुभव" (देखो सूत्र २१) पहिले कहागया है (=प्रतिज्ञायते)

तत्कर्म अनुभूतम् किम् आभरणवत् =सो (=तत्) कर्म क्या बीतगये (=भूत) पीछे (=अनु) अर्थात् भोगे पीछे, आभूषण के सदृश

अवतिष्ठते, आहोस्वित् निष्पीतसारम्[1] प्रच्यवते[2] =लगा रहता है अथवा (=आहोस्वित्) सार रहित होकर गिरपड़ता है या झड़जाता है

इति अत्र उच्यते ।— =ऐसा [प्रश्न होनेपर] यहां [अग्रिम सूत्र] कहा जाता है कि

[3]ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ = [5]ततश्चानुभवात्कर्मनिर्जरा भवति ॥ २३ ॥

सूत्रार्थः—ततः च[4] अनुभवात् कर्मनिर्जरा भवति । =जिस विपाक अनुभव उदय-परिपाक या कर्मके फल प्राप्तिके पीछे भी कर्मकी निर्जरा =होती है [संक्षेपतः] उदयकेपश्चात् कर्म झड़जाते हैं अर्थात् किसी और कारणसे निर्जरा होती है और अनुभव या उदयसे निर्जरा होती है। भावार्थ नवमें अध्यायका तीसरा सूत्र कि 'तपसा निर्जरा च'=तप से निर्जरा भी होती है, और विपाक या उदयसे भी निर्जरा होती है।

वृत्त्यनुवादः—पीडा-अनुग्रहौ आत्मने प्रदाय— =आत्माके लिये दुःख [पीड़ा] सुख प्रदानकर या देकर

अभ्यवहृत-ओदन-आदि- =खायेहुए या भक्षित [=अभ्यवहृत] अनाज (=ओदन) आदिके [पचकर]

विकारवत् पूर्वस्थितिक्षयात् अवस्थान अभावात् =परिणमनके सदृश पहली स्थितिके नाशसे ठहराव (=अवस्थान) के न रहनेसे

(१) निष्पीतसारम्—जिसका सार पीलियागया हो सार रहित अर्थ है (२) प्रच्यवते-च्यु भ्वादिगणका आत्मनेपदी धातु झड़जाना अर्थ में है च्यु का गुण करने से च्यो हुआ व विकरण आनसे च्यो + अ = च्यव प्र और ते लगानेसे प्रच्यवते हुआ (३) सूत्रका पाठ तथा अर्थ दोनों सम्प्रदायों में एक है (४) सूत्रमें 'च' शब्द है सो नवमें अध्यायके तीसरे सूत्र (तपसा निर्जरा च=तपसे भी निर्जरा होती है) के अर्थ को समझ करने के लिये है। (५) विशेषरूपसे सूत्रको ऐसे लिख सकते हैं "ततःविपाकात् अन्यथा च निर्जरा भवति" =जिस विपाकसे और अन्य प्रकारसे भी (=च) निर्जरा होता है अर्थात् विपाकसे और तपसे (दोनों से) निर्जरा होती है ॥ 'ततश्च निर्जरा' सूत्र २३ 'तपसा निर्जरा च" (अध्याय ९ सूत्र ३) इन दोनों सूत्रोंके भेद ध्यान में रखना चाहिये उस (विपाक) से भी निर्जरा होतीहै अर्थात् किसी अन्य हेतुसे भी निर्जरा होती है। तप से निर्जरा भी होती है-अर्थात् तपसे निर्जरा होती है और कुछ औरभी होता है (संवर भी होता है) अन्तर यह है कि निर्जरा होने के दो कारण हैं

कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा ॥ सा द्विप्रकारा-विपाकजा इतरा च ॥ तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा॥ यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं वलादुदीर्योदयावलिं

कर्मणः 'निवृत्ति' निर्जरा' सा' द्वि-प्रकारा' =कर्मका झड़जाना निर्जरा है। वह (निर्जरा) दो प्रकार है

विपाकजा' =विपाकजनित वा विपाकसे उपजी (अर्थात् फल देकर जो निर्जरा उत्पन्न हो)

इतरा' च । =और (=च)भिन्न अर्थात् अविपाक जनित । (दोनों का स्वरूप निम्न लेख में है)

तत्र चतुर्गतौ' अनेक-जाति-विशेष-अवघूर्णिते' =वहां चार गतियोंमें बहुत जातिके विशेषोंकरि संयुक्त शब्दरूप ऐसे

संसार-महा-अर्णवे' चिरम्' परिभ्रमत' =संसाररूपी दीर्घ समुद्रमें सदा काल बार बार भ्रमणकरतेहुए(जीव)निके(=परिभ्रमतः)

शुभ अशुभस्यकर्मण' क्रमेण' परिपाककालप्राप्तस्य' =भले बुरे कर्मके क्रमकरि परिपाक समयको प्राप्त हुआ

अनुभव-उदय-आवलि स्रोतः' =भोगनेके उदया वलिरूप (=नालामें उदय-आवलि-स्रोत)

अनुप्रविष्टस्य' आरब्ध-फलस्य' =पैठकर वा प्रवेश होकर(=प्रविष्टस्य) फलको देय (=आरब्ध-फलस्य)

या' निवृत्ति' सा' विपाकजा' निर्जरा' ॥ =जो झड़ना है सो विपाकजा निर्जरा है अर्थात् एकेन्द्रियादिक जाति विशेषसे फिरया रूप चतुर्गति मय संसार समुद्रमें चिरकालसे भ्रमते हुए जीवोंके अनेक प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंका उदयकाल प्राप्त होने पर जिस प्रकारके परिणामोंसे तीव्र मंद रूप बन्ध किया था उसी प्रकार भोगते हुये जीवका उदयावली रूप नाली द्वारा जो कर्म रस फल देकर झड़ जाते हैं उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं संक्षेपत —
कर्मोंका उदयकाल आने पर रस देकर अपने आप झड़ जाना सो सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा चारों गतिमें रहने वाले सर्व संसारी जीवों के हुआ करती है

यत्' कर्म-अप्राप्त-विपाक-कालम्' =जो कर्म (अपनी स्थिति पूर्ण करि) उदय (=विपाक)काल को प्राप्त न होते हुए

औपक्रमिक-क्रिया-विशेष-सामर्थ्यात्' =उपचार क्रिया (जैसे तपश्चरणादि) की विशेष शक्तिसे

अनुदीर्णम्' बलात्' उदीर्य उदयावलिम्' =बिना उदय आयेहुए [कर्म] बलात् करीसे उदयावली [...]

प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा ॥ चशब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थः । तपसा निर्जरेति वक्ष्यते ततश्च भवति अन्यतश्चेति ॥ किमर्थमिह निर्जरानिर्देश क्रियते संवरात्परा निर्देष्टव्या ॥ उद्देशवल्लघ्वर्थमिह वचनम्

प्रवेश्य–आम्र–पनस–आदि–	=प्रवेश किया जाकर आमके फल तथा कटहर आदिकके (भूसा आदिमें रखकर)
पाकवत् वेद्यते	=पकाय लेनेके तुल्य वेदा जाता है या उदयमें लाया जाता है,
सा अविपाकजा निर्जरा ॥	=सो अविपाक निर्जरा है (अर्थात्) कर्मोंका उदयकाल तो आया नहीं और तपश्चरणादि करके अनुदय अवस्थामें ही कर्मों को खपा देना सो अविपाक निर्जरा है ॥
चशब्द निमित्त-अन्तर-समुच्चय-अर्थः ;	=(इस सूत्रमें) चशब्द (निर्जराके) अन्यहेतुके समझके लिये है,
तपसा निर्जरा इति	=तपकरि निर्जरा होती है (=तपसा निर्जरा) ऐसा (नवम अध्यायके तीसरे सूत्रमें)
वक्ष्यते ततः च भवति	=कहेंगे, तिस (विपाक=अनुभव=उदय) से भी (=च) निर्जरा होती है
अन्यतः च इति; किम् अर्थम्	=और (=च) अन्य (=तप) करि (निर्जरा)होती है किसलिये
इह निर्जरा–निर्देश	=यहां (इस अध्यायमें या इस स्थानमें] निर्जराका कथन (=निर्देश)
क्रियते संवरात् परा निर्देष्टव्या ॥	=किया गया है (=क्रियते) संवरसे पश्चात् (निर्जरा) कहना चाहिये

भावार्थ–प्रथम अध्यायका चौथा सूत्र "जीव–अजीव–आस्रव–बन्ध–संवर–निर्जरा–मोक्षाः तत्त्वम्" में निर्जराका संवर (तत्त्व) के पश्चात् उपदेश किया है इसलिये क्रमानुसार संवरके कथनके पश्चात् निर्जरा का कथन करना योग्य था ॥ इस अध्यायमें तो बंध तत्त्वका प्रकरण और विषय है और निर्जरा तत्त्वके कथनका अभी तक अवसर नहीं आया है, फिर किसलिए इस बंध तत्त्वके अध्यायमें निर्जराका सूत्र क्रमको उल्लंघन करके कहा है ?

उद्देश–वत् लघु–अर्थम्	=[उत्तर] प्रयोजनके अनुसार (=वत्) लघु (करने) के लिए
इह वचनम्	=यहां (अर्थात् इस अध्यायमें) (इह) सूत्र [=वचनम्] है, ।

अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रके रचनाका उद्देश है कि थोड़े लेखमें बहुत आशय गर्भित हो जावें इसतरह इसके अनुकूल कि सूत्र पाठ लघु हो जाय इस सूत्रको इस अध्यायमें (अन्तर्गत वा गर्भित) किया ॥

तत्र हि पाठे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवाद कर्तव्य स्यात्॥आह अभिहितोऽनुभवबन्ध। इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्य।तस्मिंश्च वक्तव्ये सति,इमे निर्देष्टव्या ,किं हेतव?कदा?कुत ?किंस्वभावा ? कस्मिन् ? किं परिमाणाश्चेति ॥ तदर्थमिदं क्रमेण परिगृहीतप्रश्नापेक्षभेदं सूत्रं प्रणीयते—

॥ नामप्रत्यया· सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्राव-गाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ॥२४॥

तत्र॰हि॰पाठे 'विपाकोऽनुभव '। =क्योंकि (=हि) वहां (अर्थात् सप्तर के पश्चात्) पाठ करने में "विपाकोऽनुभव"

इति॰पुन॰अनुवाद । कर्तव्य । स्यात् । =ऐसा(सूत्र) फिर व्याख्यान, कथन किये जाने योग्य होता ॥

आह अभिहित।अनुभवबन्ध।इदानीं॰प्रदेशबन्ध। =पूछता है कि(१) अनुभवबन्ध कहागया अब प्रदेशबन्ध

वक्तव्य ।,च॰तस्मिन्।वक्तव्ये।सति,इमे।(२)=कहना चाहिये और (=च) तिस (प्रदेशबन्ध) के कथन (=वक्तव्ये) होनेमें ये (=इमे)

निर्देष्टव्या।, किं ।हेतव:। ? कदा॰ ? =कहेजाने चाहिये कि-(प्रदेशबन्ध का)क्या कारण है ? किस कालमें,अथवा कब होताहै ?

कुत॰ ? किम् ।स्वभावा।?कस्मिन् । ? =कहां से होताहै?क्या स्वभावहै?किस में होताहै?किस निमित्त करि होताहै?क्योंकरहोताहै?

किम्।परिमाणा।?च॰इति॰॥ =और(=च)क्या परिमाण वा सीमा है ? अर्थात् प्रदेशबन्धके कितने प्रमाण परमाणु हैं।

तद्-अर्थम्।इदम्।क्रमेण। =उस (अर्थ) के लिए अनुक्रमसे

परिगृहीत प्रश्न अपेक्ष-भेदं।। सूत्रम्।प्रणीयते । =प्रश्नके भेदकीअपेक्षा लेकर (=परिगृहीत)(अगिम) सूत्र कहाजाता है कि

नामप्रत्यया सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा २४

(१) अथानुभव: किं ग्रहण" ? तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धिवृत्ति सूत्र २० अनुभवबन्धो व्याख्यात: राजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि वृत्तिसूत्र २१ ये दोनों वाक्य तात्पर्य्य में उस समय मेल खासके हैं जब हम 'विपाकोऽनुभव' सूत्रको शक्तिमें व्यक्तिका उपचार मानलें नहीं तो वृत्तिकारोंकेदोनों वाक्यों में विरोध आता है। विद्वान् प्रकाश डालकर सूचितकरें [२] इमम् शब्दका रूप प्रथमा विभक्ति बहुवचन पुल्लिङ्ग में इमे बनता है। इस सूत्रका हमारी आम्नायमें सर्वत्र एक पाठहै। श्वेताम्बर सम्प्रदायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में 'एकक्षेत्रावगाह स्थिता' के स्थान में "एकक्षेत्रावगाढस्थिता:" है उसकी भविष्यानुसारिणीतत्त्वार्थ टीका के पत्र १५८ "एकक्षेत्रावगाढा: स्थिता .... पाठ है दोनपाठ दोनों समान में एक है।

सूत्रार्थ (१) नामप्रत्ययाः = कर्म रूप होनेका (=नाम) कारणभूत (=प्रत्ययाः) जो ज्ञानावरणादिक कर्मों की प्रकृतियाँ के . .

अवगाहका अर्थ व्याप्त है और 'अवगाढ' का अर्थ व्याप्त हुआ। अब 'एकक्षेत्र अवगाढ' और 'एकक्षेत्र अवगाढ, स्थिताः शब्दके साथ समास रूप होकर 'एकक्षेत्रावगाहस्थिताः' और 'एकक्षेत्रावगाढस्थिताः' हो जाते हैं, तब आपसमें तात्पर्य दोनोंका एकसा होता है। जैसे
एकक्षेत्रावगाहस्थिता = 'एकक्षेत्रावगाही' = (एक क्षेत्रमें व्याप्त हुए तथा स्थितिशील पुद्गल बन्धको प्राप्त होते हैं) (सभाष्य० पृष्ठ १८०)
'एकक्षेत्रावगाहस्थिता = "एक क्षेत्रावगाहकरि तिष्ठै" (सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ ६३१ ६३४) अर्थात् अन्यक्षेत्र [illegible]
"एकक्षेत्रावगाहस्थिता = "एक क्षेत्रमें अवगाहकर तिष्ठते' आत्माके प्रदेश अर कर्म के प्रदेश क्षीर नीरकी ज्यों एक क्षेत्रमें अवगाहकरि तिष्ठैं हैं। सदासुखजीकृत तत्त्वार्थसूत्र टीका मुद्रित पत्र ६६ और सदासुखजी कृत अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ५८७)

'अवगाढ' शब्द—'गाह' धातुमें 'अव' उपसर्ग लगानेसे और घञ् (=अ) प्रत्यय लगानेसे (अव + गाह + घञ् = अवगाह) बनाया जाता है और पुल्लिङ्ग है। यहाँपर व्याप्ति अर्थमें है। 'अवगाढ' भूत कृदन्त है—तीनों लिङ्गोंमें इसका प्रयोग होता है, अव उपसर्ग 'गाह्' धातुमें लगानेसे तथा "क्त" (=त) लगानेसे (अव + गाह + क्त = अवगाढ) व्याप्त हुआ यहाँ पर अर्थ है॥ शेष पाठ दोनों सम्प्रदायोंमें एकही 'एकक्षेत्रावगाढ (एकक्षेत्र अवगाढ एकक्षेत्रम अवगाहनरूप) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा १८५॥ हमारे यहाँ कहीं कहीं पर 'अनन्तानन्त' ऐसा पाठ है—देखोटिप्पणी अध्याय १ पृष्ठ ५३६, ५४० ॥ इस सूत्रका अर्थ समझने के लिए ध्यान में रखना चाहिए "अनन्तानन्त प्रदेश" से अभिप्राय "अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश" से है। और इसके विशेषण—गुण वाचक (क) नाम प्रत्ययाः (ख) सूक्ष्म (ग) एकक्षेत्रावगाढ (घ) स्थिताः ऐसे चार वाक्य हैं अर्थात् आत्माके समस्त प्रदेशोंमें या सम्पूर्ण आत्म प्रदेशोंमें बन्धरूप होनेवाले अनन्तानन्त पुद्गलके प्रदेश कैसे है या किन किन गुणोंकरि संयुक्त है उत्तर में कहते हैं कि (१) कर्म प्रकृतियोंरूपपरिणमन योग्य है (२) सूक्ष्म हैं इन्द्रिय गोचर नहीं हैं (३) आत्माके प्रदेशोंके साथ दूध पानीके समान एक क्षेत्रमें व्याप्त हो जाते हैं (४) बहुरि स्थितिशील हैं अर्थात् समस्त आत्माके प्रदेशोंमें तिष्ठेहीं हैं—चलत नहीं हैं, अब प्रदेशोंको प्र सत किये हुए हैं॥

(१) इस वाक्यको समझानेके लिये निम्न टिप्पणी लिखते हैं॥ पुद्गलद्रव्य (=जिसमें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण पाया जाय) के दो भेद हैं एक 'परमाणु' दूसरा 'स्कन्ध'। सबसे छोटे पुद्गलको 'परमाणु' कहते हैं और अनेक परमाणुओंके बन्ध (=अनेक वस्तुओंमें एकपनेका ज्ञान कराने वाला सम्बन्ध विशेष) को स्कन्ध कहते हैं स्कन्ध (क) आहार वर्गणा (ख) तैजस वर्गणा (ग) भाषा वर्गणा (घ) मनोवर्गणा (ङ) कार्माण वर्गणा आदि २२ प्रकारके होते हैं। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्म परमाणुको 'वर्ग' कहते हैं और वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं, (वर्गणाओंका समूह = स्पर्धक है) ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का समूह है सो कार्माण शरीर है। गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा२४१देखो॥ जो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोंके समूह रूप (कार्माण शरीर रूप) परिणमैं या परिणमन करे वे कार्माण वर्गणा हैं अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मों का समूह कार्माण वर्गणाओंका कार्य है और कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि कर्म के समूह के होनेको कारण है। ये ही कार्माण वर्गणा यहाँ पर "नाम प्रत्ययाः" कहीगई हैं नामप्रत्यय नामहेतुक नामनिमित्तक नामकारणक एकार्थवाची वाक्य है॥

नामप्रत्ययाः = समस्त ज्ञानावरणादि मूल प्रकृति रूप उत्तरप्रकृतिरूप उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप होनेको कारण है ऐसे अनन्तानन्त पुद्गलके प्रदेश हैं जो बन्धको प्राप्त होते है॥ नामप्रत्ययाः = इस वाक्यका अर्थ श्वेताम्बरसम्प्रदायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रके निम्न वाक्य से भी यही अर्थ निकलता है ॥ "नामप्रत्ययाः पुद्गला बध्यन्ते। नाम प्रत्यय एषां ते इमे नामप्रत्ययाः। नामनिमित्ता नामहेतुका नामकारणा इत्यर्थः" ।
नाम प्रत्ययाः पुद्गला बध्यन्ते = नाम या कर्म (प्रकृति) होनेको जो कारण हैं वे पुद्गल बन्धको प्राप्त होते है।
नाम प्रत्ययः एषाम् ते इमे नामप्रत्ययाः। = नाम या कर्म (प्रकृति) होने को (=नाम) निमित्त जिनके है वे ये नाम 'प्रत्यय' (या नाम हेतुकहैं)

तत्र हि पाठे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवाद कर्तव्य स्यात्॥आह अभिहितोऽनुभवबन्ध। इदानीं प्रदेशबन्धो वक्तव्य। तस्मिश्च वक्तव्ये सति, इमे निर्देष्टव्या, किं हेतव? कदा? कुत? किंस्वभावा? कस्मिन्? किं परिमाणाश्चेति॥ तदर्थमिद क्रमेण परिगृहीतप्रश्नापेक्षभेदं सूत्रं प्रणीयते—

॥ नामप्रत्यया· सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्राव-गाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ॥२४॥

तत्र॰हि॰पाठे॰विपाकोऽनुभव॰ =क्योंकि (=हि) वहां (अर्थात् सबर के पश्चात्) पाठ करने में "विपाकोऽनुभव"
इति॰पुन॰अनुवाद॰ कर्तव्य॰ स्यात् =ऐसा (सूत्र) फिर व्याख्यान, कथन किये जाने योग्य होता॥
आह॰अभिहित॰अनुभवबन्ध॰इदानीं॰प्रदेशबंध॰ =पूछता है कि(१) अनुभवबन्ध कहागया अब प्रदेशबन्ध
वक्तव्य॰,च॰तस्मिन्॰वक्तव्ये॰सति॰,इमे॰(२)=कहना चाहिये और (=च) तिस (प्रदेशबन्ध) के कथन (=वक्तव्ये) होनेमें ये (=इमे)
निर्देष्टव्या॰, किं॰ हेतव॰? कदा॰? =कहेजाने चाहिये कि-(प्रदेशबन्ध का)क्या कारण है? किस कालमें, अथवा कब होताहै?
कुत॰? किम्॰स्वभावा॰?कस्मिन्॰? =कहां से होताहै?क्या स्वभावहै?किस में होताहै?किस निमित्त करि होताहै?क्योंकरहोताहै?
किम्॰परिमाणा॰?च॰इति॰॥ =और(=च)क्या परिमाण वा सीमा है? अर्थात् प्रदेशबन्धके कितने प्रमाण परमाणु हैं।
तद्-अर्थम्॰इदम्॰क्रमेण॰ =उस (प्रश्न) के लिए अनुक्रमसे
परिगृहीत-प्रश्न अपेक्ष-भेदं॰ सूत्रम्॰प्रणीयते =प्रश्नके भेदकी अपेक्षा लेकर (=परिगृहीत) (अग्रिम) सूत्र कहाजाता है कि

नामप्रत्यया सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा २४

(१) अथानुभव किं कथ्य"? तत्त्वार्थराजवार्तिक सर्वार्थसिद्धिवृत्ति सूत्र २० अनुभवबन्धो व्याख्यात: राजवार्तिक,सर्वार्थसिद्धि वृत्तिसूत्र २१ ये दोनों वाक्य तात्पर्य्य में उस समय मेल खासके हैं जब हम 'विपाकोऽनुभव:'सूत्रको शक्तिमें व्यक्तिका उपचार मानलें नहीं तो वृत्तिकारोंकेदोनों वाक्यों में विरोध आता है। विद्वान् प्रकाश डालकर सुचितकरें [२] इदम् शब्दका रूप प्रथमा विभक्ति बहुवचन पुल्लिङ्ग में इमे बनता है। इस सूत्रका हमारी आम्नायम सर्वत्र एक पाठहै। श्वेताम्बर सम्प्रदायके सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र में 'एकक्षेत्रावगाढ स्थिता' के स्थान में' एकक्षेत्रावगाढस्थिता' है,उसकी भविष्यानुसारिणीतत्त्वार्थ टीका ...

नामेति सर्वाः कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते,स यथानामेति वचनात्। अनेन हेतुभाव उक्तः। सर्वेषु भवेषु सर्वतो दृश्यते अन्यतोऽपीति तसि कृते सर्वत। अनेन कालोपादानं कृतम्। एकैकस्य हि जीवस्यातिक्रान्ता अनन्तानन्ता भवा।

सः यथानाम	=स यथानाम (=सो विपाक कर्मकी प्रकृतिके नामके अनुकूल होता है)
इति वचनात् नाम इति	=ऐसे (=इति) सूत्र (के हेतु) से "नाम" इस प्रकार (के शब्द) से (=इति)
सर्वाः कर्मप्रकृतयः (१)अभिधीयन्ते। अनेन	=सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियां ग्रहणकी गई हैं (=अभिधीयन्ते)इस(नामप्रत्ययवचन)करि
(२)हेतुभाव उक्त सर्वेषु भवेषु सर्वतस्	=(प्रदेश बन्धका)कारणपना कहा गया। सकल वा सम्पूर्णभवो में हो सो सर्वतः है ॥
(३) दृश्यते—अन्यत अपि इति (४) तसि	=ऐसा जाता है कि अन्य अथवा भिन्न (विभक्ति अर्थात् सप्तमी विभक्ति)से भी'तस्'(प्रत्यय)
कृते सर्वतस्।	=करनेमें 'सर्वतस् (शब्द) होता है अर्थात् 'तस्' प्रत्यय पंचमी अपादान विभक्ति से-ओरसे इत्यादि अर्थोंमें(जैसे एकतस्=एक ओरसे, सर्वतस्=समस्त ओरसे)बहुधा आया करता है। इस सूत्रमें विशेष प्रकारसे सप्तमी विभक्ति या अधिकरण विभक्ति में भी 'भवमें'ऐसे अर्थमें 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ऐसे व्याकरणके सूत्रकरि (तस् प्रत्यय)आया है
अनेन (४)काल-उपादानं कृतम् एकैकस्य	=इस(सर्वेषु भवेषु वाक्य)करि समयका ग्रहण कियागया है। यहां'कदा?'दूसरे प्रश्नका उत्तर हुआ
हि जीवस्य अतिक्रान्ताः अनन्तानन्ता भवाः	=एक एककी जीवके अनन्तानन्त जन्म(=भवा)पार होगये या बीत गये

की गाथा सोमके अर्थ से विदित है कि आत्मा योग सहित होकर सब ओरसे कर्म वर्गणा तथा नोकर्म वर्गणाओंको प्रत्येक समय ग्रहण करता है॥ (१) 'अभिधीयन्ते'—यह वाक्य 'धा (=धारण करना-पकड़ना ग्रहण करना) जुहोत्यादि तृतीयगणके कर्म पदी सकर्मक धातुसे ऐसे बना है कि 'धा का कर्मणि प्रयोगमें 'धी' हो जाती है धीमें अभि उपसर्ग तथा कर्मणि प्रयोगका 'य चिन्ह लगाकर 'अभिधीय ऐसा अंग बना लेते हैं। पश्चात् अन्य पुरुष बहु वचन आत्मनेपदी वर्तमान कालकी क्रियाद्योतकका 'अन्ते चिन्ह लगाकर अभिधीय+अन्ते ऐसा बना लेते हैं॥ क्रिया प्रत्ययके यदि आरम्भमें 'अ हो और क्रिया प्रत्ययके पहले वाले शब्द अर्थात् अङ्गके अन्तमें अकार हो तो यह अकार गिर जाता है। अतः 'अभिधीय+अन्ते =अभिधीय्+अन्ते=अभिधीयन्ते बनाया (२) प्रदेश बन्धके सम्बन्धमें छह प्रश्नोंमेंसे पहला प्रश्न कि प्रदेशबन्ध "किं हेतव "का उत्तर हुआ॥ (३) सूत्र दृश्यतेऽन्यतोऽपि"—दृश्यतेऽन्यतोऽपि (=सप्तम्यर्थे) तसिकृते=देखा जाता है कि भिन्न (विभक्ति) से भी तस् प्रत्यय किया जाता है (सप्तमी अधिकरण विभक्तिमें) जैसे सर्वत। 'सर्वत में तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके अनुसार 'तस्' प्रत्यय पंचमी अपादान विभक्तिमें प्रयोग हुआ है जैसा कि निम्न अनुवादसे प्रगट है 'सर्वतः=सर्वतस्तिर्यगूर्ध्व मधश्च बध्यन्ते=सर्वत अर्थात् तिर्यक् इधर उधर चारों ओरसे ऊर्ध्वभागसे तथा अधो भागसे सब ओरसे पुद्गलबन्धको प्राप्त होते हैं पृष्ठ १८६, १९० ॥ सूत्रमें 'दृश्यते' शब्द इसबात का ज्ञापक है कि तस् (=तसिल्) प्रत्ययके सम्बन्धमें अन्य सूत्र लागू है और यह भी देखा गया है (=दृश्यते)॥

नाम्न प्रत्यया नामप्रत्ययाः ।

(२) सर्वत॰ योग-विशेषात्॥	=समस्त भवोंमें (मन वचन कायके) योगोंके निमित्तसे(=विशेषात्)
सूक्ष्म-एकक्षेत्र-	=सूक्ष्म (जो इन्द्रिय गोचर न हों) जिस क्षेत्रमें आत्मा ठहरा हो उसी क्षेत्रमें (नीरक्षीरवत्)
अवगाह-स्थिता ॥ सर्वआत्मप्रदेशेषु॥	=अवगाहकरि या व्याप्त होकर स्थितिरूप रहनेवाले आत्माके संपूर्ण प्रदेशोंमें
अनन्तानन्त-प्रदेशाः॥	=(ऐसे गुणों वाले) अनन्तानन्त पुद्गलके प्रदेश हैं ॥ भावार्थ—अनन्तानन्त पुद्गलके प्रदेश जो आत्माके साथ बन्धको प्राप्त होते हैं किन किन गुणोंकरि संयुक्त हैं ? सो कहते हैं (क)सर्व ज्ञानावरणादिकमूल प्रकृतिरूप उत्तरप्रकृतिरूप उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होनेके कारण हैं , [ख] समस्तत्रिकालवर्ती भवोंमें वा जन्मोंमें मन-वचन-कायके योगोंके निमित्तसे आते हैं , [ग] सूक्ष्म हैं-इन्द्रियगोचर नहीं है ,[घ] आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंके साथ दूध-पानीके समान एक क्षेत्रमें व्याप्त होजाते हैं अथवा दूध पानीके समान एकमेक होकर आत्माके प्रदेशोंमें ही व्याप्त हो जाते हैं ये पुद्गल प्रदेश एक क्षेत्रमें अवगाह रूपसे तिष्ठे हैं न कि एक क्षेत्रमें भिन्न भिन्न रूपसे अर्थात् एकमेक होकर तिष्ठते हैं, [ङ] आत्माके सकल प्रदेशोंमें उक्तअनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश तिष्ठे हैं अर्थात् आत्माके सर्व प्रदेशोंको ग्रसित किये हुये स्थिर रूपसे रहते हैं , [च]एक आत्माके असंख्य प्रदेश हैं सो प्रत्येक प्रदेशमें अथवा एक एक प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गलके स्कन्ध विद्यमान हैं ॥ सारांश—ज्ञानावरणादि कर्मरूप होनेके कारण, सूक्ष्म कर्मरूप अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेशोंका और आत्माके सर्व प्रदेशों का सब भवोंमें योगोंकी प्रवृत्तिसे दूध पानीके सम एकमेक होना है सो "प्रदेशबन्ध" है
वृत्त्यनुवाद नाम्नः॥ प्रत्ययाः॥	=नामके(होनेको) कारण हो अथवा नाम निमित्तक,नाम हेतुक हों
नामप्रत्ययाः॥	=सो नामप्रत्ययाः है अर्थात् कर्मप्रकृति (=नाम) होनेको कारणभूत (ऐसे पुद्गलके स्कन्ध) या कर्म प्रकृतिके रूप परिणमने योग्य(पुद्गलके स्कन्ध)हों वे नाम प्रत्ययाः हैं-भावार्थ-कर्मरूपमें होनेको कारणहैं ॥
नामनिमित्ता नामहेतुका	=नाम या कर्म प्रकृति होने का निमित्त हैं प्रकृति होनेको हेतु है
नामकारणाः इति अर्थ	=कर्म रूप होने का कारण है ऐसा अर्थ (नाम प्रत्ययका) है ॥

(२) सर्वत - इस शब्दका अर्थ हमारे यहां "सब भावोंमें या सब जन्मोंमें" ऐसा किया है यह शब्द 'सर्व और 'तस् प्रत्यय से बना है सर्वार्थ सिद्धिके कर्त्ताने इस तस् प्रत्यय को सप्तमी अर्थ (अधिकरण)में लिया है परन्तु तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें इस 'तस् प्रत्यय को पञ्चमी विभक्तिमें लेकर "सर्वत्र रसे" अर्थात् तिर्यक् (इधर उधर चारों ओरसे) ऊर्ध्व भागसे अधोभागसे आय का प्राप्त होते है, हमारे अनुसार अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश जीवके सब जन्मोंमें बन्धको प्राप्त होते है दोनों ही अर्थ हो सकते है और ठीक है क्योंकि 'गो म्मटसार कर्मकांड'

नामेति सर्वाः कर्मप्रकृतयोऽभिधीयन्ते, स यथानामेति वचनात्। अनेन हेतुभाव उक्तः। सर्वेषु भवेषु सर्वतो दृश्यते अन्यतोऽपीति तसि कृते सर्वत। अनेन कालोपादान कृतम्। एकैकस्य हि जीवस्यातिक्रान्ता अनन्तानन्ता भवा।

स" यथानाम॰	=स यथानाम (=सो विपाक कर्मकी प्रकृतिके नामके अनुकूल होता है)
इति॰वचनात्" नाम" इति॰	=ऐसे (=इति) सूत्र (के हेतु) से "नाम" इस प्रकार (के शब्द) से (=इति)
सर्वाः" कर्मप्रकृतयः"(१)अभिधीयन्ते। अनेन"	=सम्पूर्ण कर्म प्रकृतियां ग्रहणकी गई हैं (=अभिधीयन्ते)इस(नामप्रत्ययवचन)करि
(२)हेतुभावः" उक्तः" सर्वेषु" भवेषु" सर्वतस्॰	=(मदस बन्धका)कारणपना कहा गया। सकल वा सम्पूर्णभवो में हो सो सर्वत है ॥
(३) दृश्यते–अन्यत॰ अपि॰ इति॰(४) तसि"	=ऐसा जाता है कि अन्य अथवा भिन्न (विभक्ति अर्थात् सप्तमी विभक्ति)से भी 'तस्'(प्रत्यय)
कृते" सर्वतस्॰।	=करनेमें 'सर्वतस्'(शब्द) होता है अर्थात् 'तस्' प्रत्यय पंचमी अपादान विभक्ति से-ओरसे इत्यादि अर्थोमें(जैसे एकतस्=एक ओरसे, सर्वतस्=समस्त ओरसे)बहुधा आया करता है। इस सूत्रमें विशेष प्रकारसे सप्तमी विभक्ति या अधिकरण विभक्ति में भी 'भवमें'ऐसे अर्थमें 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ऐसे व्याकरणके सूत्रकरि (तस् प्रत्यय)आया है
अनेन"(४)काल-उपादान" कृतम्" एकैकस्य"	=इस(सर्वेषु भवेषु वाक्य)करि समयका ग्रहण कियागया है। यहां'कदा'दूसरे प्रश्नका उत्तरहुआ
हि॰जीवस्य" अतिक्रान्ताः" अनन्तानन्ता" भवा"	=एक एककी जीवके अनन्तानन्त जन्म(=भवा)पार होगये वा बीत गये

की गाथा तोमके अथ से विदित है कि आत्मा योग सहित होकर सब ओरसे कर्म वर्गणा तथा नोक म वर्गणाओंको प्रत्येक समय ग्रहण करता है॥ (१) 'अभिधीयन्ते'–यह वाक्य 'धा' (=धारण करना–पकड़ना ग्रहण करना) जुहोत्यादि तृतीयगणके उभय पदी सकर्मक धातुसे ऐसे बना है कि'धा का कर्मणि प्रयोगमें'धी' हो जाती है धीमेंअभि'उपसर्ग तथा कर्मणि प्रयोगका'य'चिन्ह लगाकर'अभिधीय ऐसा अ ग बना लेते हैं। पश्चात् अन्य पुरुष बहु वचन आत्मनेपदी वर्तमान कालकी क्रियाद्योतकका'अन्ते चिन्ह लगाकर अभिधीय+अन्ते ऐसा बना लेते हैं॥ क्रिया प्रत्ययके यदि आरम्भमें'अ हो और क्रिया प्रत्ययके पहले वाले शब्द अर्थात् अङ्गके अन्तमें अकार हो तो यह अकार गिर जाता है। अतः अभिधीय+अन्ते =अभिधीय्+अन्ते=अभिधीयन्ते बनाया (२) प्रदेश बन्धके सम्बन्धमें पर प्रश्नोंमेंसे पहला प्रश्न कि प्रदेशबन्ध "किं हेतव"का उत्तर हुआ॥ (३) सूत्र "दृश्यतेऽन्यतोऽपि" =दृश्यतेऽन्यतोऽपि (=सप्तम्यर्थे) तसिकृते=देखा जाता है कि भिन्न (विभक्ति) से भी तस् प्रत्यय किया जाता है (सप्तमी अधिकरण विभक्तिमें) जैसे सर्वत॥ 'सर्वत' में समाप्यतस्त्वापीधिगमसूत्रके अनुसार 'तस्' प्रत्यय पंचमी अपादान विभक्तिमें प्रयोग हुआ है जैसा कि निम्न अनुवादसे प्रगट है "सर्वतः=सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधस्च यथ्यन्ते=सर्वत अर्थात् तिर्यक् इधर उधर चारों ओरसे ऊर्ध्वभागसे तथा अधो भागसे सब ओरसे पुद्गलबन्धको प्राप्त होते हैं पृष्ठ १८६, १६० ॥ सूत्रमें 'दृश्यते' शब्द इसबात का ज्ञापक है कि तस् (=तसिल्) प्रत्ययके सम्बन्धमें अन्य सूत्र लागू है और यह भी देखा गया है (=दृश्यते)॥

आगामिन;सख्येया असख्येया अनन्ता वा भवन्तीति॥योगविशेषान्निमित्तात्कर्मभावेन पुद्गला आदीयन्त इति निमित्तविशेषनिर्देश कृतो भवति। सूक्ष्मादिग्रहण कर्मग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवतनार्थ ग्रहणयोग्याः पुद्गलाःसूक्ष्मा न स्थूला इति ॥ एकक्षेत्रावगाहवचन,क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम्।

आगामिन ॥ संख्येयाः ॥ असख्येया ॥ अनन्ता ॥ वा भवन्ति	=भविष्यत् (काल)के सख्यात असख्यात अथवा (=वा) अनन्त (भव)होते जाते हैं
इति योगविशेषात् ॥ निमित्तात् ॥ कर्मभावेन ॥	=ऐसे (मन—वचन—कायके) योगके विशेषसे (अर्थात्) कारणसे,कर्म भावकरि—
पुद्गलाः ॥ आदीयन्ते [1]	=(अर्थात् जीव द्वारा कर्म रूप परिणामकरि) पुद्गल स्कन्ध ग्रहण किये जाते हैं।
इति (१)निमित्त-विशेष-निर्देश ॥ (२)कृत ॥ भवति	=इस प्रकार हेतु विशेषका कथन पूरा (कृत) होता है।
सूक्ष्म—आदि—ग्रहणम् ॥ कर्म—	=(सूत्रमें)सूक्ष्म एकक्षेत्रअवगाह औरस्थितका आदान या लाना (ज्ञानावरणादि)कर्मके
ग्रहण—योग्य— पुद्गल-स्वभाव—(३)अनुवर्तन—अर्थम् ॥	=ग्रहण योग्य पुद्गल (स्कन्ध) जि के स्वरूपके पूरा करनेके (=अनुवर्तन) लिये है
ग्रहण—योग्याः ॥ पुद्गलाः ॥	=(ज्ञानावरणादिकर्मके) ग्रहणयोग्यपुद्गल अर्थात् ज्ञानावरणादिकर्मकीप्रकृतियो में परिणमन करने योग्य जो पुद्गलके स्कन्ध है वे—
सूक्ष्मा ॥ न स्थूला ॥ इति ;एक-क्षेत्र-अवगाह-वचनम् ॥	=सूक्ष्म है (इन्द्रियों द्वारा गोचर नहीं है)बादर नहीं है। एकक्षेत्रमें व्याप्त ऐसा वाक्य
क्षेत्र—अन्तर—निवृत्ति—अर्थम् ॥ ॥	=अन्य क्षेत्रके अभाव, वा निषेधके लिए है। अर्थात् कर्मरूप पुद्गलोंकि स्कन्ध नीर क्षीर के सदृश एकमेक होकर आत्माके प्रदेशोंमेंही विद्यमानहैं न्यारे न्यारे स्थानोंमें नहीहै

(१) पृष्ठ ४०२में तीसरा प्रश्न यह है "कुत —क्योंकर ? अर्थात् किसकरि प्रदेशबन्ध) होता है, प्रथम प्रश्न यह है "कि हेतवः इन दोनोंमें अन्तर या भेद यह है कि पहले प्रश्नके उत्तरमें तो प्रदेशबन्धका उपादान कारण बतलाया है कि नामप्रत्ययाः हैं और तीसरे प्रश्नके उत्तरमें यह दर्शाया है कि 'योगोका निमित्त' प्रदेशबन्ध का निमित्त कारण है। निमित्तकारण उपादान कारण, द्रव्यके बन्धका निमित्त कारण और द्रव्य बन्धका उपादान कारण क्या है सो कहते हैं ? (क) जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमै किन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक हैं। उनको निमित्त कारण कहते है जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दंड चाक आदिक (ख) जो पदार्थ स्वय कार्यरूप परिणमै उसको उपादान कारण कहते हैं जैसे घट के बननेमें मिट्टी (ग) आत्माके योग कषाय रूप परिणाम द्रव्यबन्धके निमित्त कारण हैं (घ) बंध होनेके पूर्व-क्षणमें बन्ध होनेको उन्मुख कार्माण स्कन्धका द्रव्यबंधका 'उपादान कारण' कहते हैं। इसलिये यह उत्तर हुआः तीसरे प्रश्नका हुआ कि योगोंके निमित्तसे पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं। (२) इस शब्दका अर्थ पद्मचन्द्रकोष पृष्ठ ११७में 'पूरा' ऐसा लिखा है। (३) अनुवर्तन—पूरा करना (पद्म० कोष पृष्ठ २७)

स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता न गच्छन्ति इति । सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमाधारनिर्देशार्थं नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते, क्व तर्हि ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति ॥ अनन्तानन्तप्रदेशवचनं परिमाणान्तरव्यपोहार्थं न संख्येया न चासंख्येया नाप्यनन्ता इति ॥ ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणा

स्थिता: इति वच: क्रिया-अन्तर-निवृत्ति-अर्थम: स्थिता: न (१)गच्छन्ति इति।	=(इस सूत्रमें) स्थित ऐसा वाक्य अन्य स्थानमें चलन फिरनके अभावके लिये है। =अटल है चलते नहीं। अर्थात् कर्मभाव योग्य पुद्गल स्थितिशील हैं। सम्पूर्ण आत्माके प्रदेशोंमें स्थित ही हैं आत्माके सब प्रदेशोंको ग्रसित किये हुये स्थिररूपसे रहते हैं
(२)सर्व आत्म-प्रदेशेषु इति वचनम् आधार-निर्देश-अर्थम्	=सम्पूर्ण आत्म प्रदेशोंमें अथवा आत्माके सकल प्रदेशोंमें ऐसा वाक्य =(कर्मप्रदेशों या कर्मयोग्य पुद्गल स्कन्धोंके) आश्रयके कथनके लिये है।
न एकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा: वर्तन्ते तर्हि	=कर्म प्रदेश, न (आत्माके केवल) एक आदिक प्रदेशों में तिष्ठते हैं—तब
क्व ? ऊर्ध्वम् अधस् तिर्यक् च	=कहां (=क्व) (तिष्ठते हैं) ? (उत्तर-) ऊपर नीचे और (=च) इधर उधर (=तिर्यक्)
सर्वेषु आत्मप्रदेशेषु व्याप्य—	=सम्पूर्ण आत्म प्रदेशोंमें व्याप्त होकर वा सर्वत्र प्रदेशोंमें प्रवेश होकर (स्थिररूप से)
स्थिता इति ॥ (३)अनन्तानन्त-प्रदेश-वचनम्	=रहते हैं (=स्थिता)। (इस सूत्रमें) अनन्तानन्त प्रदेश (यह) वाक्य
परिमाण-अन्तर-व्यपोह-अर्थम् न संख्येया	=अन्य परिमाण वा गणनाके त्याग (=व्यपोह) के लिये है। (वे प्रदेश) संख्यात नहीं हैं
न च असंख्येया न अपि अनन्ता इति। ते	=और (=च) असंख्यात नहीं हैं अनन्त भी नहीं हैं वे (पुद्गल-प्रदेश)
खलु पुद्गल-स्कन्धा: अभव्य-अनन्तगुणा:	=निश्चय करके (=खलु) पुद्गलके स्कन्ध अभव्यराशिसे अनन्तगुणे

(१) "सूक्ष्मादि ग्रहण कम ग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्तनार्थं ग्रहणयोग्या पुद्गला: सूक्ष्मा न स्थूला इति ॥ एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तर निवृत्त्यर्थ स्थिता इति वचनं क्रिया न्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता न गच्छन्ति इति। 'स्वभाव" ? क्या स्वभाव उन प्रदेशोंका है जो बन्धको प्राप्त होते हैं इस चौथे प्रश्नका उत्तर दिया है कि वे अनन्तानन्त पुद्गलके प्रदेश वा स्कन्ध जो बंधको प्राप्त होते है तीन गुणोंके धारक हैं कि (क) सूक्ष्म हैं, इन्द्रिय गोचर नहीं है (ख) एक क्षेत्रमें व्याप्त हैं (ग) और आत्म प्रदेशोंके साथ एकमेक होकर दूधजलके समान स्थितिशील हैं ॥

(२) इसी पृष्ठमें 'सर्वात्म' व्याप्यस्थिता इति पद। तक 'कस्मिन्' ? किस विषे (प्रदेश बन्ध) होता है ? इस पांचवें प्रश्नका उत्तर सम्पूर्ण हुआ। (३) 'अनंतानन्त प्रदेश वचन से—योग्या तक इस पृष्ठ और पृष्ठ ९८में छठा प्रश्न कि परिमाणश्चेति" ? और (उस प्रदेशबन्ध का) परिमाण (परमाणुओं का) है पूर्ण हुआ ॥

सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशा घनांगुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिन एकद्वित्रिचतु संख्येयासंख्येयसमयस्थितिका पञ्चवर्णपञ्चरसद्विगन्धचतुःस्पर्शस्वभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या । योगवशादात्मसात्क्रियन्त इति प्रदेशबन्धः समासतो वेदितव्यः ॥ आह बन्धपदार्थानन्तरं पुण्यपापोपसंख्यानं चोदितं तद्बन्धेऽन्तर्भूतमिति प्रत्याख्यातं तत्रेदं वक्तव्यं कोऽत्र पुण्यबन्धः कः पापबन्ध इति ॥ तत्र पुण्यबन्धप्रकृतिपरिगणनार्थमिदमारभ्यते—

सिद्ध अनन्तभाग-प्रमितप्रदेशाः॥ घन-अंगुलस्य ॥	=सिद्धराशिके अनन्तवां भाग प्रमाण प्रदेश लियेहुए घनाङ्गुलके
असंख्येय-भागक्षेत्र-अवगाहिनः॥ एक-द्वि-त्रि-चतुर्,	=असंख्यातवां भाग क्षेत्रमें रहनेवाले एक, दो, तीन, चार,
संख्येय-असंख्येय-समय-स्थितिकाः ॥	=संख्यात, असंख्यात, समय (पर्यन्त) की स्थिति या मर्यादा वाले
पञ्चवर्ण-पञ्चरस-द्विगन्ध-चतुःस्पर्शस्वभावाः॥	=पांच वर्ण, पांचरस, दोगंध, चार स्पर्श स्वभाव वाले या गुण वाले (अर्थात् ये सोलह गुण रूप स्वभावको लियेहुये आने वाले)
अष्ट-विधि-कर्म-प्रकृति-योग्याः॥ । योगवशात् ॥	=आठ प्रकारकी कर्मप्रकृतिके योग्य हैं । योगके वशसे (उक्त अनंतानंत प्रदेश)
(१) आत्मसात् क्रियन्ते	=अपने आधीनमें (=आत्मसात्) अपने ग्रहणमें (आत्मसात्) किये जाते हैं ।
इति प्रदेशबन्धः॥ समासतः वेदितव्यः॥ ॥आह	=ऐसे प्रदेशबन्ध संक्षेपसे जानना चाहिये । पूछता है कि
बन्ध-पदार्थ-अनन्तर ॥ "पुण्यपाप-उपसंख्यानं ॥''' चोदितं॥'''	=बन्धपदार्थके समीप पुण्यपापकी गणना प्रेरित या उपदेशित
तद्-बन्धे॥ "अन्तर्भूतम्॥ "इति	=उस बन्ध (पदार्थ) में गर्भित वो अन्तर्गत ऐसे (यहां ही=बन्धे) अर्थात् प्रथम अध्यायके चौथे सूत्र 'जीवाजीवास्रव" इत्यादिमें यहां ही
प्रत्याख्यातम्॥''' तत्र इदम्॥''' वक्तव्यम्॥'''	=गूथ जाती है वा रहजाती है तहां यह कहना चाहिये ॥
कः॥ अत्र पुण्यबन्धः॥ कः॥ पापबन्धः॥ इति	=यहां क्या पुण्यबन्ध है ? क्या पाप बन्ध है ?
तत्र पुण्यबन्ध-प्रकृति-परिगणन-अर्थम्॥''' इदम्॥''' आरभ्यते	=वहां पुण्यबन्ध प्रकृतियोंके संख्या करनेके लिये यह सूत्र प्रारम्भ किया जाता है

(१) आत्मसात्-अव्यय है पद्मचन्द्र कोष पृष्ठ ५५ में अपने आधीन किसीका अपना ऐसा अर्थ दिया है ॥

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

शुभं प्रशस्तमिति यावत्। तदुत्तरैं प्रत्येकमभिसम्बध्यते-शुभमायुः शुभं नाम शुभं गोत्रमिति ॥ शुभमायुस्त्रितयं तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति ॥ शुभं नाम सप्तत्रिंशद्विकल्पं तद्यथा-मनुष्यगतिर्देवगतिः पञ्चेन्द्रियजाति

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।=सद्वेद्य-शुभआयुः शुभनाम शुभगोत्राणि कर्मप्रकृतयः पुण्यम्

सूत्रार्थः- "सद्वेद्य-शुभ आयुः-शुभनाम-गोत्राणि" =साता वेदनीय शुभ आयु, शुभनाम, शुभगोत्र

पुण्यम् "कर्म-प्रकृतय" भवन्ति ॥ =पुण्यकर्मकी प्रकृतिये हैं।(इनके नाम आगे वृत्त्यनुवादमें दियेगये हैं)

वृत्त्यनुवाद -शुभम् "प्रशस्तम्" "इति" यावत् =जो (=आयुत) सराहने योग्य हैं, ऐसा प्रशस्त है।

तद् "उत्तरैः" प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते- =वह (शुभ) अगले का प्रत्येक (शब्द) को लगाया जाता है

शुभम् "आयुः" "शुभं" "नाम" "शुभं" "गोत्रम्" "इति" =ऐसे शुभ आयु शुभ नाम, शुभ गोत्र, हुये ॥

शुभआयुः त्रितयं "।तिर्यग् आयु" "मनुष्यआयुः" =शुभ आयु के तीन भेद, तिर्यञ्च आयु, नर आयु,

देवआयु "इति"। शुभनाम "सप्त-त्रिंशद्-विकल्पम्" =देवआयु ऐसे है। शुभ नाम सैंतीस प्रकार है। अर्थात् नाम कर्म की प्रकृतियों मेंसे सैंतीस प्रकृतियें शुभ है या पुण्य रूप है।

तद्यथा--मनुष्यगति "देवगति" "पञ्चेन्द्रियजातिः" =जैसे (क) मनुष्यगति (ख) देवगति (ग) पञ्चेन्द्रियजाति-

(१) श्वेताम्बर सम्प्रदायके तत्त्वार्थाधिगम सूत्रमें "सद्वेद्य" शब्दके पश्चात् 'सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद' य चार अधिक हैं। शेष पाठ वही है जो हमारे यहां है अर्थात् सद्वेद्य सम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्' ऐसा पाठ है। इसके पश्चात् संस्कृत भाष्यका भ तक्ता वाक्य ऐसे है "इत्यष्टविध कर्म पुण्यम् अतोऽन्यत् पापम्' ऐसे यह आठ प्रकार कर्म पुण्य है और इससे भिन्न पाप है अर्थात् उनके यहां "अतोऽन्यत्पापम् इसको न्यारा सूत्र नहीं माना है हमारे यहां यह अलग सूत्र है ॥ 'सम्यक्त्व वेदनीय 'दर्शन मोहनीय' की प्रकृति होनेके निमित्तसे तथा हास्यवेदनीय रतिवेदनीय पुरुषवेदनीय 'चारित्र मोहनीय' की प्रकृति होनेसे और य घातिया कर्म की चारों प्रकृतिये हैं। आत्माके गुणको घात करनेवाली हैं हमारे यहां इनको पाप (प्रकृतियों) में जो १०० हैं स्थान दिया है श्वेताम्बर समाजमें इनको पुण्य रूप माना है। यही दोनों आम्नायोंमें इस सूत्रके सम्बन्धमें भेद है ॥

पंच शरीराणि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं प्रशस्तवर्णरस गन्धस्पर्शाः, मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यद्वयमगुरुलघुपरघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगतयस्त्रसबादरपर्याप्तिप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तयो निर्माणं तीर्थंकरनाम चेति । शुभमेकमुच्चैर्गोत्रं सद्वेद्यमिति ॥ एता द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यसंज्ञाः ॥

पञ्च'''शरीराणि'''	=पांच (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण) शरीर
त्रीणि'''अङ्गोपाङ्गानि'''	=तीन (औदारिक शरीर, वैक्रियिकशरीर और आहारक शरीर) अंगोपांग
समचतुरस्रसंस्थानम्'' 'वज्रर्षभनाराचसंहननम्''	=(ठ) समचतुरस्रसंस्थान (ड) वज्रर्षभनाराचसंहनन,
प्रशस्तवर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः''	=ढ) शुभवर्ण (ण) शुभरस (त) शुभगन्ध (थ) शुभस्पर्श
मनुष्यदेव-गत्यानुपूर्व्यद्वयम्'''अगुरुलघु-परघात-	=(द) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (ध) देवगत्यानुपूर्वी (ये दोनों)(न) अगुरुलघु(प)परघात
उच्छ्वास-आतप-उद्योत-प्रशस्तविहायोगतय''	=(फ) उच्छ्वास (ब) आतप (भ) उद्योत (म)प्रशस्तविहायोगति
त्रस-बादर-पर्याप्ति-प्रत्येक शरीर-स्थिर-	=(य) त्रस (र) बादर (ल)पर्याप्ति (व) प्रत्येक शरीर (श) स्थिर
शुभ-सुभग-सुस्वर-आदेय-यशः-कीर्तय''	=(ष) शुभ (स)सुभग (ह) सुस्वर (क्ष) आदेय (त्र) यशःकीर्ति
निर्माणम्'''तीर्थकरनाम'''च इति	=(ज्ञ)निर्माण और (क)तीर्थंकर नाम कर्मकी प्रकृति ऐसे हैं
शुभम्'''एकम्'''उच्चैः गोत्रम्'''सद्वेद्यम्'''इति	=(ख) एक शुभ (प्रकृति) ऊंच गोत्र है (गा)साता वेदनीय ऐसे
एता''द्वाचत्वारिंशत्प्रकृतय''पुण्यसंज्ञा''	=ये ब्यालीस प्रकृतियें पुण्य संज्ञक हैं=आयु ३+नाम३७+गोत्र१+वेदनीय१=४२

(१) यहां पर पुण्य प्रकृतियें ब्यालीस कही गई हैं, उत्तर सूत्रमें पाप प्रकृतियें ब्यासी कहेंगे इस प्रकार सब मिलकर एकसौ चौबीस(१२४) हुई सो यह कथन बन्धकी अपेक्षा जानना चाहिये। बन्ध प्रकृतियें एकसौ बीस (१२०) कही हैं वहां दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियोंमें बन्ध एक मिथ्यात्व ही का है। पश्चात् तीन हमने हैं तिससे दो तो यह घटी। बहुरि पांच बन्धन पांच संघात शरीरोंसे अविनाभावी हैं। तिससे शरीर ही में गर्भित की गई हैं। इसलिये दश यह घटी॥ बहुरि वर्णादिक बीस हैं तिनको संक्षेप करि चारही कहीं तिससे सोलह ये घटी॥ इस प्रकार एकसौ अड़तालीस प्रकृतियोंमें से उपर्युक्त २८ प्रकृतियों के घटने से एकसौ बीस (१२०) शेष रही सो स्पर्श रस गन्ध, और वर्ण पुण्यरूप भी हैं पाप रूपभी हैं प्रशस्त भी हैं अप्रशस्त भी हैं। दो बार सत्यामें ये चारों आने से चार बढ गई अर्थात् एकसौ चौबीस हो गई इसलिये ४२ पुण्य प्रकृतियें और ८० पाप प्रकृतियें सब मिलकर हुई॥ बहुरि आठ कर्म प्रकृतियोंका सत्ताकी अपेक्षा कथन करनेसे १४८के स्थान में १६८ हो जाती हैं क्योंकि स्पर्श ८ रस ५, गन्ध २ वर्ण ५ ये प्रशस्त भी हैं और अप्रशस्त भी होती हैं किसी जीवके ये बीसो शुभ भी होवे हैं किसी किसी जीवके अशुभ भी होवे हैं इसलिये १६८ प्रकृति का सत्तामाना है इनमें से१०० प्रकृतियें पाप रूप हैं और शेष ६८ पुण्यरूप हैं।

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अस्मात्पुण्यसंज्ञककर्मप्रकृतिसमूहादन्यत्कर्म पापमित्युच्यते। तत् द्र्यशीतिविध तद्यथा ज्ञानावरणस्यप्रकृतय पच, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशति, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतितिर्यग्गती,

सूत्रम्–अतोऽन्यत्पापम् = अस्मादन्यत्कर्मपाप भवति = अस्मात् अ यत् कर्म पाप भवति।२६।

सूत्रार्थ–अस्मात्''' अन्यत्'' कर्म''' पापम्''' भवति। =इस(पुन्यकर्म)से भिन्न कर्म पाप है अर्थात् पचीसवां सूत्रमें वर्णित ब्यालीस पुन्य प्रकृतियोंमें शेष रही जो कर्म प्रकृतियें वे पापरूप हैं ॥

वृत्यनुवादः अस्मात्'' "पुण्य-संज्ञक-कर्म-प्रकृति-समूहात्'' अन्यत्''=इस पुन्य नामा (=संज्ञक) कर्म प्रकृतिके समूहसे अन्य–

कर्म''' पापम्''' इति उच्यते। तद्-द्व्यशीति-विधम्'' ।	=कर्म पाप है ऐसा कहा जाता है यह (पापकर्म) बयासी भांति है
तद्यथा–ज्ञानावरणस्य''' प्रकृतय''' पञ्च'' ।	=जैसे ज्ञानावरणकी प्रकृति पांच
दर्शनावरणस्य''' नव'', मोहनीयस्य''' षड् विंशति''॥	=दर्शनावरण की (प्रकृति) नौ, मोहनीयकी (प्रकृति) छब्बीस
पञ्च-अन्तरायस्य'' नरकगति''। तिर्यग्-गति''।	=पांच अन्तरायकी (प्रकृतिये) नरक गति, तिर्यग्गति

पुण्य प्रकृति ६८=ब्यालीस पूर्वोक्त प्रकृतिये 'पांच शरीरोंके ब्यारे २ पांच बन्धन और पांच ही भिन्न भिन्न संघातमत ४२+१०=५२

स्पर्श की आठ प्रकृतियोंमें से ४२ की गणनामें केवल एक आई है इसलिये अवशिष्ट अधिक	=७
रस के गुणोंम ५ हैं ४२ की गणनामें केवल एक ग्रहण हुई है इसलिये अवशिष्ट अधिक	=४
गंधके गुणोंम २। है ब्यालीस की संख्यामें केवल एक आई है इसलिये अवशिष्ट अधिक	=१
वर्ण प्रकृतियों ५ में से ४२की संख्यामें सामान्य करि एक आईहै इसलिये अवशिष्ट अधिक चार सबयोग अड़सठ=४=६८	

पाप प्रकृति १००=८२ वे ही प्रकृतियें हैं जो छब्बीसवें सूत्रमें कहेंगे

१६ स्पर्श–रस–गन्ध–वर्णके ८+५+२+५=२०क्रमसे भेद मानने पर, ४के स्थानमें २० हो जाती हैं १६अधिक हैं

२,सम्यक्त्व मिथ्यात्व सम्यग् प्रकृति मिथ्यात्व मोह कर्म को तीन प्रकृतियोंमेंसे एक मिथ्या लीयी=८२+१६+२=१००

(१)श्वेताम्बर आम्नायके तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें इसको सूत्र नहीं माना है। वरन सूत्र२५के अन्तमें 'अतोऽन्यत् पापम्" भाष्यरूपमें लिखा है॥

चतस्रो जातय, पंच संस्थानानि, पंच संहननान्यप्रशस्तवर्णरसस्पर्शा नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयमुपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्मपर्याप्तिसाधारणशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् । असद्वेद्य नरकायुर्नीचैर्गोत्रमिति एव व्याख्यातो बन्धपदार्थ सप्रपंच ॥ अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेय ॥ ॥ इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञिकायामष्टमोऽध्याय ॥

चतस्र ।आतय । =चार (एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय) जाति,

पंच। संस्थानानि।, =पांच (न्यग्रोधपरिमंडल–स्वाति–कुब्जक–वामन और हुंडक) संस्थान,

पंच। संहननानि। =पांच (वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका) संहनन

अप्रशस्त–वर्ण–गंध–रस–स्पर्शा । =अशुभ वर्ण, अशुभ गंध, अशुभ रस, अशुभ स्पर्श

नरकगति-तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम्।उपघात-अप्रशस्त- =नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी दो, उपघात, अप्रशस्त

विहायोगति-स्थावर-सूक्ष्म–अपर्याप्ति-साधारणशरीर =विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति साधारण शरीर,

अस्थिर अशुभ-दुर्भग-दुस्वर-अनादेयच-अयश कीर्तय । =अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और (=च) अयश कीर्ति

इति नाम प्रकृतय ।चतुस्त्रिंशत्। । असद्वेद्यम्। =इस प्रकार नाम कर्मकी प्रकृतियें चौंतीस हुई ॥ असाता वेदनीय

नरकआयु ।नीचै गोत्रम्।इति एवम् =नरकआयु नीच गोत्र हुई । इस प्रकार

व्याख्यात ।बन्ध-पदार्थ ।सप्रपंच । =बंध पदार्थ विस्तार सहित वर्णन किया गया

अवधि मनःपर्यय-केवलज्ञान- =अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, और केवल ज्ञानकरि (ये सब कर्म)

प्रत्यक्ष-प्रमाण-गम्य ।तत्–उपदिष्ट- =प्रत्यक्ष जाना जाता है । (उस प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा) उपदेश (किये हुये)

आगम–अनुमेय । =आगमकरि अन्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान करिके (पदलमय रूप कर्म) जानाजाता है ॥

इति तत्त्वार्थ वृत्तौ, सर्वार्थ सिद्धि- = इस प्रकार तत्त्वार्थ के विवरणमें सर्वार्थ सिद्धि

संज्ञिकायाम्, अष्टम ।अध्याय ।॥८॥ = नामा ग्रन्थमें आठवा अध्याय हुआ ॥८